—मुद्रक—

पूर्णचन्द्र शर्मा प्रभाकर ने गौतम एजन्सी, मोचपुरा बाजार से कम्पोज़ करके सरदार सरूप सिंह प्रिंटर श्री गुरुदशमेश प्रिंटिंग प्रैस लुधियाना के प्रबन्ध मे छपवाई ।

तं सच्चं भगवं—

सत्य ही भगवान है।

एवं खु नाणिणो सारं,

ज्ञानी होने का सार यह है कि—

जं न हिंसइ किंचणं।

किसी की भी हिंसा न करे।

नाणं नरस्स सारं,

ज्ञान-मानवता का सार है।

सारोवि नाणस्स होइ सम्मत्तं।

ज्ञान का सार है—सम्यक्त्व।

—भगवान महावीर

❀ गुर्वावली ❀

अणुत्तरेहिं गुणसहस्सेहिं जुत्तो, सागरो व्व गम्भीरो दीहदसी महप्पा ।
नाहस्स सण्णा सिरिमोत्तीरामो, आयरिओ आसी विसालकित्ती ॥१॥

तस्सतेवासी पुण्णपुञ्जस्सामो, कुम्मोव दंतो ससीव सोमो ।
थेरे मुणी गणवई य नामेण, गणावच्छेइअपयालकिओ ॥२॥

तस्स सीसे य महाणुभावो, गुरुभत्तिकारओ पण्णालधीरो ।
विक्खायकित्ती जयरामो नाम, रत्ती वएसु सया अपमत्तो ॥३॥

तस्स दिक्खिओ इंगियागारसम्पन्नो, सुहुमनाणेसु आसी विसारओ ।
नामत्थि जस्स सिरिसालिग्गामो, तस्स पसाएण लिहिओ एस गंथो ॥४॥

आयारधम्मदप्पणमिव संतिकर, आयारसुयं अघतिमिरविणासयं ।
साहु आयार बोहयं वीरेण पण्णत्त, चारित्तविवड्ढण मोक्खमग्गपयासयं ॥५॥

इम्मस्स सुयस्स 'हिंदी' पयत्थो, छाया आदि विभूसिओ य ।
लिहिओ मया गुरुपसाएण आइरिएण अप्पारामेण ॥६॥

आचाराङ्ग का परिज्ञाता है, तो उसे उपाध्याय पद से अलंकृत किया जा सकता है*।

इसके अतिरिक्त साधु साध्वी के लिए यह आवश्यक है कि वह सर्व प्रथम आचाराङ्ग का अध्ययन करे। निशीथ सूत्र मे स्पष्ट शब्दो मे लिखा है कि जो साधु आचाराङ्ग का अध्ययन किए बिना ही अन्य आगमों का अनुशीलन-परिशीलन करता है, तो उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित आता है† ।

उक्त पाठों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रुत-साहित्य मे आचाराङ्ग सूत्र का कितना महत्त्व है। आचाराङ्ग* सूत्र का परिज्ञाता मुनि ही आचार्य आदि पद को प्राप्त करने का अधिकारी होता है। जिस साधु को आचाराङ्ग का बोध नहीं उसे कोई पद नहीं दिया जा सकता। इससे आचाराङ्ग का गौरव स्वय ही स्पष्ट हो जाता है। उसके लिए विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है।

आचाराङ्ग सूत्र जितना सरल है, उतना ही गम्भीर है। छोटे-छोटे सूत्रों मे इतने गहन भाव समाविष्ट कर दिए है कि मानों गागर मे सागर भर दिया हो। अत उसके अर्थ एव भावों को स्पष्ट करने के लिए आचार्यों ने इस पर विशद टीकाए लिखी हैं सर्व प्रथम आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने इस पर निर्युक्ति लिखी थी। इसके पश्चात् सिद्ध-सेनाचार्य ने गन्धहस्ति भाष्य नामक टीका की रचना की। विद्वानो का अभिमत है कि यह टीका बहुत विशाल एव आध्यात्मिक अर्थ को प्रकट करने वाली थी। प्रस्तुत आगम के टीकाकार श्री शीलाकाचार्य ने अपनी टीका उसी के आधार पर लिखी है। श्री गन्ध-हस्ति टीका की गहनता को स्पष्ट करते हुए श्री शीलाकाचार्य आचाराङ्ग टीका की उत्थानिका मे लिखते है कि गन्धहस्ति कृत आचाराङ्ग सूत्र के शस्त्र परिज्ञा अध्ययन का वर्णन अत्यन्त गहन-गम्भीर है। जिज्ञासु सज्जनों को उसका सुगमता से बोध हो सके, इसके

---

* व्यवहार सूत्र, ३, ३।

† जे भिक्खू णव बम्भचेराइ अवाएत्ता उवरिमसुय वाएइ वायन्त वा साइज्जइ।

— निशीथ सूत्र, १९, २०।

* प्रस्तुत पाठो मे प्रयुक्त 'आयारप्पकप्पे' का तात्पर्य आचार प्रकल्प अर्थात् निशीथ सहित आचाराङ्ग सूत्र से है। निशीथ आचाराङ्ग का एक अध्ययन है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पांच चूलाओ में पाचवी चूला का नाम आयारप्पकप्पे या निशीथ है और यह आचाराङ्ग सवद्ध थी। परन्तु, बाद में यह आचाराग मे पृथक् कर दी गई और इसे निशीथ सूत्र के नाम से छेद सूत्रो म स्थान दे दिया गया। अत यहाँ आचाराग के अध्ययन का अर्थ है— आचारप्रकल्प या निशीथ नामक अध्ययन सहित पूरे आचाराग का परिज्ञान करना।

आचारांग—प्रथम श्रुतस्कन्ध

गाथा विषय सूचि (Index)

मे द्वितीय श्रुतस्कन्ध को स्थविर कृत माना है‡ । स्थविर शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य शीलांक ने चतुर्दश पूर्वधर को स्थविर माना है*। परन्तु, चूर्णिकार ने स्थविर का अर्थ गणधर किया है† । इससे यह स्पष्ट होता है कि कुछ विचारक आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को गणधर कृत और द्वितीय श्रुतस्कन्ध को स्थविर (चतुर्दश पूर्वधर) कृत मानते हैं और कुछ विचारक दोनों श्रुतस्कन्धों को गणधर कृत मानते हैं।

वर्तमान मे भारतीय एवं पाश्चात्य ऐतिहासिक एवं दार्शनिक विद्वान प्रथम-श्रुतस्कन्ध को ही गणधर कृत मानते हैं । परन्तु, आज के कुछ विद्वान एवं आगमवेत्ता द्वितीय श्रुतस्कन्ध को भी गणधर कृत स्वीकार करते हैं । प्रस्तुत आगम के व्याख्याकार श्रद्धेय स्व० आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज द्वितीय श्रुतस्कन्ध को गणधर कृत मानने के पक्ष मे है। और इस सम्बन्ध मे उनके विचार द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भूमिका मे दिए हैं। आचार्य श्री के द्वारा किया गया अन्वेषण (research) और दिए गए तर्क (Arguments) अपना विशेष महत्व रखते है । उन्होंने शोध करने वाले विद्वानो (Research scholors) के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

आचार्य श्री ने अपनी खोजपूर्ण भूमिका में उसे भाषा, भाव, शैली आदि सब दृष्टियों से गणधरकृत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका प्रयत्न कितना सफल रहा है, यह तो विज्ञ पाठक ही बता सकते हैं। परन्तु इस दिशा में जो उन्होंने प्रयत्न किया है वह स्तुत्य है और उनका श्रम हमे चिन्तन के लिए नई प्रेरणा देगा, इसमे कोई सन्देह नहीं है ।

यह तो हम ऊपर देख चुके हैं कि भाषा, भाव एवं शैली की दृष्टि से द्वितीय-श्रुतस्कन्ध प्रथम से सर्वथा भिन्न है। दोनों की भाषा, भाव और शैली मे आकाश-पाताल जितना अन्तर है। प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा गम्भीर और प्राञ्जल है, उसके भावों में भी गहनता है और उसकी शैली सूत्र थोड़े शब्दों में बहुत कुछ या सब कुछ कह देने की, शैली

---

‡ थेरेहिऽणुग्गहट्ठा सीसहिअं होउ पगडत्थं च ।
आयाराओ अत्थो आयारग्गेसु पविभत्तो ॥

— आचा० नि०, २८७ ।

* तत्र इदानीं वाच्य-केनैतानि निर्यूढानि, किमथ, कुतो वेति ? अत आह—'स्थविरैः' श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भिर्निर्यूढानि —इति ।

—आचार्य शीलांक ।

† एयाणि पुण आयारग्गाणि आयारा चेव निज्जूढाणि केण णिज्जूढाणि ? थेरेहिं, थेरा—गणधरा ॥

—आचा० चूर्णि, ३२६ ।

जाता है और उसके आधार पर किया गया निर्णय अधिक प्रामाणिक एवं सतोषप्रद होता है।

जैनागमों मे यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि तीर्थंकर अर्द्धमागधी भाषा मे उपदेश देते हैं*। केवल तीर्थंकर ही नहीं, प्रत्युत देव एव आर्य पुरुष भी अर्द्धमागधी भाषा मे बोलते हैं। भगवती एव प्रज्ञापना सूत्र मे इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि देवों एव आर्यों की अर्द्धमागधी भाषा है†। इससे यह स्पष्ट होता है कि अर्द्धमागधी भाषा गहन-गम्भीर एव श्रेष्ठ मानी गई है। ऐतिहासिक अन्वेषण से भी यह स्पष्ट होता है कि यह भारत की अति प्राचीन भाषा रही है। संस्कृत का उद्गम भी इसी भाषा से हुआ है।

प्रस्तुत आगम भी अर्द्धमागधी भाषा मे रचा गया है। प्रस्तुत आगम की भाषा एव शैली अधिक प्राचीन है। इसमे आर्ष अर्द्धमागधी के अधिक प्रयोग मिलते है। इसका प्रत्येक पद अर्थ गाम्भीर्य, पद लालित्य एव भाषा सौष्ठव को लिए हुए है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आचाराङ्ग सूत्र सबसे प्राचीन है और इसी कारण इसकी अत्यधिक महत्ता है।

सूत्र शब्द का विश्लेषण

जैन परम्परा मे आगमों का सूत्र के नाम से भी उल्लेख किया गया है। आचाराङ्ग श्रुत-आगम साहित्य का सर्व प्रथम सूत्र ग्रंथ है। सूत्र शब्द के भेद एव उसकी व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु बृहत्कल्प सूत्र की निर्युक्ति मे लिखते हैं— १-सूत्र अर्थ से अबोधित होता है, २-सुप्त है, ३-श्लेष है, ४-सूक्त है, ५-सूचक हैं, ६-सूचिका-सूई हैं, ७-उत्पादक है, ८-अनुसरण कर्ता है।

---

* भगवयण अद्धमागहिए भासाए धम्ममाइक्खइ। — समवायाङ्ग सूत्र, ३४।

अद्धमागहाए भासाए भासइ अरिहा धम्म परिकहेइ। — औपपातिक सूत्र।

† से किं त भासारिया ? भासारिया जे ण अद्धमागहए भासाए भासेंति तत्थवि य ण जत्थ बभी लिवी पवत्तइ। बभिए ण लिविए अट्ठारस्स विहे लेक्ख विहाणे प० त० बभी१ जवणाणिया२ दोसाउरिया३ खरोट्टी४- पुक्खरसारिया५ भोगवइया६ पहराइया७ अतक्खरिया८ अक्खरपुट्ठिया९ वेणइया१० निण्हइया११ अकलिवी१२ गणियलिवी१३, गन्धव्वलिवी१४ आयमलिवी१५ माहेसरी१६ दामिलिवी१७ पोलिंदी१८ सेत भासारिया।

— (प्रज्ञापना १ पद)

देवाण भते ! कयराए भासाए भासति ? कयरा वा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति? गोयमा ! देवाण अद्धमागहाए भासाए भासति सावियण अद्धमागहाभासा भासिज्जमाणी विसिस्सति।

— भगवती० श० ५ उ० ४, सू० १९१।

किया है। और शिष्य को प्रेरित किया है कि वह विनम्र भाव से गुरु चरणों में बैठ कर ही शास्त्र का श्रवण करे। ऐसो विनम्र वृत्ति वाले शिष्य के लिए ही 'आयुष्मन्' पद का प्रयोग किया है।

"आउसं! तेण" इस पाठ के स्थान पर कुछ प्रतियों में 'आमुसंतेणं' तथा 'आवसंतेण' ये दो पाठान्तर भी मिलते हैं। इनके अर्थ पर भी विचार कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा। 'आमुसंतेणं' इस पद की संस्कृत छाया "आमृशता" और 'आवसंतेण' पद की संस्कृत छाया 'आवसता' होती है। इन उभय शब्दों का संबन्ध "मे" पद से है। या यों कहिए कि ये दोनों पद आर्यसुधर्मा स्वामी के विशेषण हैं। टीकाकार श्री शीलाकाचार्य ने दोनों पदों का अर्थ इस प्रकार किया है—"मया आमुसंतेणं" आमृशता (स्पृशता) भगवन्-पादारविन्दम्, आवसन्तेणं—आवसता वा तदन्तिके।"

अर्थात्—भगवान महावीर के चरणों का स्पर्श करते हुए मैंने या भगवान महावीर के पास निरन्तर निवास करते हुए मैंने।

उक्त दोनों पाठान्तरों से श्रुत ज्ञान की प्राप्ति एवं उसकी सफलता के लिए शिष्य के जीवन में जिन गुणों एवं संस्कारों का सद्भाव होना चाहिए, उनका भली-भांति बोध हो जाता है। सब से पहले श्रुतग्राही शिष्य के जीवन में विनम्रता एवं गुरु के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिए। यदि शिष्य का जीवन-दीप विनय एवं श्रद्धा के स्नेह-तेल से खाली है, तो उसमें श्रुत ज्ञान की प्रकाशमान ज्योति जग नहीं सकती, उसके जीवन को सम्यक् ज्ञान के प्रकाश से आलोकित नहीं कर सकती। अत श्रुत ज्ञान को पाने के लिए गुरु के प्रति आस्था एवं सर्वस्व समर्पण की भावना तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा मे सलग्न रहने की वृत्ति होनी चाहिए। 'आमुसतेणं' यह इन्हीं आदर्श एवं समुज्ज्वल भावों का संसूचक है।

श्रुतज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु चरण सेवा ही पर्याप्त नहीं है, परन्तु उनके निकट मे रहना भी आवश्यक है। गुरु के निकट मे स्थित रहना दो अर्थों मे प्रयुक्त होता है—(१) सदा गुरु के पास या उनके सामने ही रहना, अत. समय पर उनकी सेवा कर सके, उन्हे किसी काम के लिए इधर-उधर से आवाज़ देकर न बुलाना पड़े। (२) उनकी आज्ञा मे विचरण करना। अपनी प्रवृत्ति उनके विचारानुसार रखना। क्षेत्र से दूर रहते हुए सदा उनके पथ का अनुगमन करना भी उनके निकट में बसना है। इसी भावना को ध्यान में रखकर शिष्य को अन्तेवासी भी कहा है। अन्तेवासी का यह अर्थ नहीं है कि वह सदा उनके साथ या पास मे ही रहे। आवश्यकता पड़ने पर वह क्षेत्र से दूर भी जा सकता है, परन्तु उनके विचारों एवं आज्ञा से दूर नहीं जाता। अत श्रुत ज्ञान प्राप्ति के इच्छुक साधक को द्रव्य और भाव दोनों तरह से गुरु के निकट रहना चाहिए।

विरोध जैसी कोई बात नहीं है। हम प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं, अनुभव करते हैं कि स्वर्ण को गला कर उसका कंगन बना लेते है, फिर कंगन को तुड़वाकर बटन या अंगूठी या और कुछ आभूषण बना लेते हैं। इस तरह प्रत्येक बार वस्तु के स्वरूप मे परिवर्तन हो जाता है। एक स्वरूप का विनाश होता है तो दूसरे स्वरूप का निर्माण होता है, परन्तु पूर्व एवं उत्तर की दोनों अवस्थाओं मे स्वर्ण अपने रूप मे सदा स्थित रहता है। यही स्थिति प्रत्येक वस्तु की है। द्रव्य रूप से प्रत्येक वस्तु सदा स्थित रहती है तो पर्याय रूप से उसमें सदा परिवर्तन होता रहता है। इसलिए जब किसी वस्तु को नित्य कहा जाता है, तो उस का अभिप्राय यह है कि वह परिणामी नित्य है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है। यही बात आगम के संबंध में समझनी चाहिए। द्रव्य रूप से आगम नित्य है, ध्रुव है, अनादि से विद्यमान हैं। परन्तु पर्याय रूप से अनित्य है। क्योंकि उस त्रैकालिक सत्य को अभिव्यक्त करने वाले अनन्त समय मे अनन्त तीर्थंकर हो चुके है और भविष्य काल में अनन्त तीर्थंकर होते रहेंगे और अपने समय में सभी तीर्थंकर उस त्रैकालिक सत्य का अर्थ रूप से उपदेश देते हैं। अतः उपदेष्टा की अपेक्षा से उस समय के तीर्थंकर आगम के प्ररूपक कहे जाते हैं। जैसे वर्तमान मे उपलब्ध आगम के उपदेष्टा भगवान महावीर हैं। इस दृष्टि से आगम नित्य हैं, सादि हैं। इस तरह आगम नित्य भी हैं और अनित्य भी।

प्रस्तुत सूत्र मे आर्य सुधर्मा स्वामी, जम्बू अनगार से बोले—हे आयुष्मन् जम्बू। मैने सुना है कि उस भगवान् ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है। इस सूत्र को सुन-पढ़ कर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि भगवान् ने क्या प्रतिपादन किया था? किस बात को अभिव्यक्त किया? प्रस्तुत प्रश्न का समाधान देते हुए सूत्रकार ने कहा—

मूलम्—इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ ॥ २ ॥

छाया—इहैकेषां नो संज्ञा भवति।

पदार्थ—इह=इस ससार मे। एगेसिं=किन्ही जीवो को। णो=नही। सण्णा=स ज्ञा-ज्ञान। भवइ=होता है।

मूलार्थ—इस ससार में किन्ही जीवो को अथवा अनेक जीवो को ज्ञान नही होता है।

हिन्दी विवेचन—आचारांग को प्रारम्भ करते हुए आर्य सुधर्मा स्वामी ने यह कहा

साओ आगओ अहमंसि, जाव-अण्णयरीओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि। एवमेगसिं जं णायं भवति अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ सोऽहं ॥५॥

छाया—स यत् पुनर्जानीयात् सह सन्मत्या (स्वमत्या), परव्याकरणेन अन्येषामन्तिके वा श्रुत्वा तद्यथा-पूर्वस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि यावत् अन्यतरस्या दिशोऽनुदिशो वा आगतो अमहस्मि। एवमेकेषां यदि ज्ञातं भवति—अस्ति मे आत्मा औपपातिकः, योऽस्या दिशाऽनुदिशो वा अनुसंचरति, सर्वस्या दिशोऽनुदिशः सोऽहम्।

पदार्थ—से—वह ज्ञाता। पुण—यह पद वाक्य सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त किया गया है। समइयाए—सन्मति या स्वमति। परवागरणेण—तीर्थंकर के उपदेश के। सह—साथ। वा—अथवा। अण्णेसि अन्तिए सोच्चा—तीर्थंकरों से अतिरिक्त अन्य उपदेष्टाओं से सुनकर। ज—जो जाणेज्जा—जानता है। तजहा—वह इस प्रकार है। पुरत्थिमाओ वा दिसाओ—पूर्व दिशा से। आगओ अहमंसि—मैं आया हूँ। जाव—यावत्—यह पद यह अपठित अवशिष्ट पदों का संसूचक अव्यय है। अणण्यरीओ—विदिशा से। आगओ अहमंसि—मैं आया हूँ। एवमेगेसि—इसी प्रकार किन्ही जीवो को। ज—जो। णाय—ज्ञात। भवति—होता है, वह यह है कि मे—मेरा। आया आत्मा। उववाइए—औपपातिक—जन्मान्तर में संक्रमण करने वाला। अत्थि—है। जो इमाओ दिसाओ—जो अमुक दिशा। वा—अथवा। अणुदिसाओ—विदिशा में। एव सव्वाओ दिसाओ-सभी दिशाओ। वा—अथवा। अणुदिसाओ—विदिशो में। अणुसचरइ—भ्रमण करता है। सोऽह—मैं वही हूँ।

मूलार्थ—वह ज्ञाता स्वमति या सन्मति से, तीर्थंकर के उपदेश से अथवा किसी अन्य अतिशय ज्ञानी से सुनकर यह जान लेता है कि मैं पूर्व दिशा से आया हू यावत् किसी भी दिशा-विदिशा से आया हू। और वह यह भी परिज्ञात कर लेता है कि मेरी आत्मा औपपातिक है। इस के अतिरिक्त वह इस बात को भी भली-भांति समझ लेता है कि अमुक दिशा-विदिशाओ में भ्रमणशील जो आत्मा है, वह मैं ही हू।

के बन्धते है। कर्म और क्रिया का संबन्ध तो स्पष्ट ही है। इसलिए जो व्यक्ति आत्मा के स्वरूप को भलीभांति जान लेता है, तो फिर उससे लोक का स्परूप, कर्म का स्वरूप एवं क्रिया का स्वरूप अज्ञात नहीं रहता। इसी आचाराग सूत्र में आगे बताया है कि 'जो व्यक्ति एक को जानता है वह सब को जानता है और जो सब को जानता है वह एक को जानता है —

"जे एग जाणइ से सव्व जाणइ, जे सव्व जाणइ से एग जाणइ"

वस्तु का विवेचन करने के लिए सब से पहले ज्ञान की आवश्यकता है। जब तक जिस वस्तु के स्वरूप का परिज्ञान नहीं है, तब तक उसके संबन्ध मे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसी कारण सूत्रकार ने पहले ज्ञान प्राप्ति के साधन का विवेचन किया और उसके पश्चात् आत्मा, लोक, कर्म एवं क्रिया के स्वरूप को स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने वाली आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी आदि वक्ताओं का विवेचन किया। ज्ञान का जितना अधिक विकास होता है, व्यक्ति उतना ही अधिक आत्मा आदि द्रव्यों को स्पष्ट एवं असंदिग्ध रूप से जानता-समझता एवं परिज्ञान विषय का विवेचन एव प्रतिपादन कर सकता है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा शुभाशुभ कर्म का कर्ता एवं कर्म जन्य अच्छे-बुरे फलों का भोक्ता, असख्यात प्रदेशी, शरीरव्यापी, अखण्ड, चैतन्य रूप एक स्वतन्त्र द्रव्य है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। वह पर्यायों की अपेक्षा प्रतिक्षण परिवर्तन शील है, तो द्रव्य की अपेक्षा से सदा अपने रूप में स्थित रहने से नित्य भी है। वास्तव में देखा जाए तो वह न सांख्य मत के अनुसार एकांत-कूटस्थ नित्य है, और न बौद्धों द्वारा मान्य एकान्त अनित्य — क्षणिक ही है। जैन दर्शन के अनुसार दुनिया का कोई पदार्थ न एकान्त नित्य है और न एकान्त अनित्य है। प्रत्येक पदार्थ में नित्यता और अनित्यता दोनों धर्म युगपत् स्थित हैं। किसी भी द्रव्य में एकान्तता को अवकाश ही नहीं है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अनेक गुण-युक्त है। अत: जैन दर्शन ने अनुभव सिद्ध परिणामी नित्यता को स्वीकार किया है। क्योंकि ज्ञान-दर्शन आत्मा का गुण है और उसमे प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, ज्ञान-दर्शन की पर्यायें बदलती रहती है तथा कर्म से बद्ध आत्मा के शरीर में, मानसिक चिन्तन में, विचारों की परिणति में, परिणामों तथा नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आदि गतियों की अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है, परन्तु इन सब पर्यायिक परिवर्तनों में आत्मा अपने स्वरूप में सदा स्थित रहता है, उसके असंख्यात प्रदेशों तथा शुद्ध स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आता, इस दृष्टि से आत्मा नित्य

भी और अनित्य भी अर्थात्—परिणामी नित्य— नित्यानित्य है।

यही सापेक्ष दृष्टि आत्मा को एक और अनेक मानने तथा उसके आकार परिणाम के संबन्ध में भी रही हुई है। जैन दर्शन वेदान्त सम्मत एक आत्मा तथा नैयायिकों द्वारा मान्य अनेक आत्मा के एकान्त पथ को न स्वीकार कर वह दोनों के आंशिक सत्य को स्वीकार करता है। आत्म द्रव्य की अपेक्षा से लोक में स्थित अनन्त-अनन्त आत्माएं समानगुण वाली हैं, सत्ता की दृष्टि से सब में समानता है, क्योंकि सभी आत्माएं असंख्यात प्रदेशी हैं, उपयोग गुण से युक्त हैं, परिणामी नित्य हैं। इसी अपेक्षा से स्थानांग सूत्र में कहा गया है— "एगे आया" अर्थात् आत्मा एक है। यह हुई समष्टि की अपेक्षा, परन्तु व्यष्टि की अपेक्षा सभी आत्माएं अलग-अलग हैं, सब का ज्ञान-दर्शन एवं उसकी अनुभूति अलग-अलग है सब का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। और संसार में परिभ्रमणशील अनन्त-अनन्त आत्माओं का सुख-दुःख का संवेदन अलग-अलग है, सबका उपयोग भी विभिन्न प्रकार का है-किसी में ज्ञान का उत्कर्ष है, तो कसी में अपकर्ष है। इस अपेक्षा को सामने रख कर आगम में कहा गया हैकि आत्माएं अनन्त हैं† । और दोनों अपेक्षाएं सत्य हैं, अनुभव गम्य है। अस्तु, निष्कर्ष यह रहा कि आत्मा एक भी है और अनेक भी है। उसे एकान्ततः एक या अनेक न कह कर 'एकानेक' कहना मानना चाहिए।

आत्मा के परिमाण के सम्बन्ध में भी सभी दर्शनों में एकरूपता नहीं है। कुछ आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं, तो कुछ विचारक -अणुपरिमाण वाला मानते हैं। जैनों को दोनों मान्यताएं स्वीकार नहीं हैं, वे आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानते हैं। अर्थात् अनियत परिमाण वाला। क्योंकि शुद्ध आत्मा का कोई परिमाण है नहीं, परिमाण- आकार रूपी पदार्थों के होते हैं और आत्मा अरूपी है। फिर भी आत्म प्रदेशों को स्थित होने के लिए कुछ स्थान अवश्य चाहिए। इस अपेक्षा से आत्म प्रदेश जितने स्थान को घेरते हैं। वह आत्मा का परिमाण कहा जाता है। आत्माएं अनन्त हैं और प्रत्येक आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं अर्थात् प्रदेशों की दृष्टि से सब आत्माएं तुल्य प्रदेश वाली हैं। और आत्मप्रदेश स्वभाव से संकोच विस्तार वाले हैं। जैसा छोटा या बड़ा साधन मिलता है, उसी के अनुरूप वे अपने आत्मप्रदेशों को संकोच भी कर लेती हैं। और फैला भी देती हैं। जैसे— विशाल कमरे को अपने प्रकाश से जगमगाने वाला दीपक, जब छोटे से कमरे में रख दिया जाता है तो वह उसे ही प्रकाशित कर पाता है अथवा उसका विराट

† अणन्ताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गलजंतवो।

—उत्तराध्ययन सूत्र, २८, ८।

जैसे अनुभूति एवं स्मृति का आधार एक ही है । उसी तरह कर्तृत्व और भोक्तृत्व का आधार भी एक है । अनुभव करने वाला और अपने कृत अनुभवों को स्मृति में संजोए रखने वाला भिन्न नहीं है । ऐसा कभी नहीं होता कि अनुभव कोई करे और उन अनुभूतियों को स्मृति में कोई और ही रखे । उसी तरह कर्म का कर्त्ता एवं कृत कर्म का भोक्ता एक ही होता है । या यों कहना चाहिए कि जो कर्म करता है, वह उसका फल भी भोगता है और जो फल भोगता है वह अपने कृत कर्म का ही फल भोगता है । अत. कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों एक व्यक्ति-आत्मा में घटित होते हैं । सांख्य का यह मानना कि आत्मा स्वयंकर्म नहीं करता है, कर्म प्रकृति करती है और प्रकृति द्वारा कृत-कर्म का फल पुरुष- आत्मा भोगती है तथा बौद्ध दर्शन का यह मानना कि कर्म करने वाली आत्मा नष्ट हो जाती है, उस विनष्ट आत्मा द्वारा कृत कर्म का फल उसके स्थान में उत्पन्न दूसरी आत्मा या उक्त आत्मा की सन्तति भोगती है, किसी भी तरह युक्ति संगत नहीं कहे जा सकते । व्यवहार में भी हम सदा देखते हैं कि जो कर्म करता है उसका फल दूसरे को या उसकी सन्तान को नहीं मिलता यदि कोई व्यक्ति आम खाता है तो उसका स्वाद उसे ही आता है, न कि उसके किसी दूसरे साथी या उसकी सन्तान को आम का स्वाद आता हो । अस्तु, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व दोनों आत्मा में ही घटित होते हैं । प्रकृति में कर्तृत्व नहीं कर्तृत्व आत्मा मे ही है और उसका फल भी उसकी सन्तान को न मिल कर उसी आत्मा को मिलता है । इस से आत्मा की परिणामी नित्यता भी सिद्ध एवं परिपुष्ट होती है ।

जो साधक आत्मा के यथार्थ स्वरूप को अभिव्यक्त कर सकता है, वह लोक के स्वरूप का भी भली-भांति विवेचन कर सकता है । क्योंकि आत्मा की गति लोक मे ही है और वह लोक मे ही स्थित है । धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य इसे गति देने एवं ठहरने मे सहायक होते हैं अर्थात् जहां धर्मास्ति और अधर्मास्ति काय का अस्तित्व है, वहीं आत्मा गति कर सकती है एवं वहीं ठहर भी सकती है । और एक गति से दूसरी गति में परिभ्रमणशील आत्मा कर्म पुद्गलों से आवद्ध है । इससे पुद्गलों के साथ भी उसका संबन्ध जुड़ा हुआ है । अत: यों कह सकते हैं कि धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल चारों द्रव्य लोकाकाश पर स्थित हैं या उक्त चारों द्रव्यों का जहा अस्तित्व है, उसे लोक कहते हैं । इस तरह लोक के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने से आत्मज्ञान के साथ लोक के स्वरूप का परिबोध हो जाता है और जिसे लोक के स्वरूप का परिज्ञान होता है, वह उसका

करके तीन का ही उल्लेख क्यों किया ?

इस का समाधान यह है कि प्रस्तुत सूत्र मे तीन चकार और एक अपि शब्द का प्रयोग किया गया है। इन चकार एवं अपि शब्दों से तीनों कालों की प्रयुक्त क्रिया मे अवशिष्ट क्रियाओं का बोध हो जाता है। सूत्र को अधिक लम्बा एवं शब्दों से अधिक बोझिल न बनाने के लिए क्रिया के मुख्य तीन—कृत, कारित और अनुमोदित भेदों का उल्लेख करके, शेष भेदों को च एवं अपि शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया है। यह हम पहले बता चुके है कि आचाराग सूत्र का प्रथम श्रुतस्कन्ध सूत्र रूप रचा गया है, थोडे शब्दों मे अधिक भाव एवं अर्थ व्यक्त किया गया है। वस्तुत· सूत्र का तात्पर्य ही यह है कि थोडे से थोडे शब्दों मे अधिक बात कही जाए। आवश्यकता से अधिक शब्दों का प्रयोग न किया जाए। इसी दृष्टि को सामने रखकर सूत्रकार ने च एवं अपि शब्द से स्पष्ट होने वाले ६ क्रिया भेदों के लिए शब्द रचना न करके उसे तीन भेदों के द्वारा अभिव्यक्त किया है। हां, यह समझ लेना आवश्यक है कि किस चकार से किस क्रिया का ग्रहण करना चाहिए।

"अकरिस्सं चऽहं" में प्रयुक्त 'चकार' भूतकालीन 'कारित और अनुमोदित' क्रिया का परिबोधक है। "कारवेसु चऽहं" यहां व्यवहृत 'चकार' वर्तमान कालिक "कृत और अनुमोदित' क्रिया का परिचायक है। और "करओ आवि (चापि)" इस पद में प्रयोग किया गया 'चकार' भविष्यत कालीन 'कृत और कारित' क्रिया का ससूचक है। और प्रस्तुत सूत्र मे दिये गये 'अपि' शब्द से मन, वचन और काय शरीर इन तीन योगों के साथ क्रिया के नव भेदों के सम्बन्ध का परिबोध होता है। इस तरह थोड़े से शब्दों मे सूत्रकार ने क्रिया के २७ भेदों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है और इसी आधार पर क्रिया के २७ भेद माने गए है।

प्रस्तुत सूत्र मे भूत, वर्तमान एवं भविष्य काल सम्बन्धी क्रमश कृत, कारित और अनुमोदित एक-एक क्रिया का वर्णन करके चकार एवं अपि शब्द से अन्य क्रियाओं का निर्देश कर दिया है। परन्तु आचार्य शीलांक का अभिमत है कि प्रस्तुत सूत्र मे भूत और भविष्यत् दो कालों की ओर निर्देश किया है। उन्होंने प्रस्तुत सूत्र की सस्कृत छाया इस प्रकार बनाई है—

"आकर्षं चऽहं, अचीकर चऽहं, कुर्वंतश्चापि समनुज्ञो भविष्यामि"

आचार्य शीलांक के विचार से "अकरिस्सं-अकार्षम्" यह भूतकालिक कृत क्रिया है और 'कारवेसुं-अचीकरम्' यह भूतकालीन कारित क्रिया है। और 'करओ-आवि समणुन्ने भविष्यत्' यह भविष्यत् कालीन अनुमोदित क्रिया है। इस तरह

प्रकाशकीय

आज हम पाठकों के हाथ में जैन धर्म दिवाकर, जैनागम-रत्नाकर, साहित्यरत्न स्व० आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा चिर-अनूदित इस शास्त्र-रत्न का प्रथम भाग समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। इस ग्रन्थ का नाम श्री आचाराङ्ग सूत्र है, जो साधना—जगत में प्रविष्ट होने वाले प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आत्मोत्थान की प्रथम श्रेणी है। जिस प्रकार शारीरिक अङ्गों में मस्तिष्क का सर्वोपरि स्थान है, तथैव जैनागमों में अंग शास्त्र और अङ्ग शास्त्रों में आचाराङ्ग सूत्र सर्व-प्रथम स्थान लिए हुए है। इसमें साधु जीवन से सम्बन्धित आचार-विचार का विशद वर्णन है। आचार धर्म की प्रधानता होने से ही इसका नाम आचाराङ्ग है।

स्व० आचार्य श्री ने तो कई वर्ष पूर्व ही इस शास्त्र के अनुवाद कार्य को समाप्त कर दिया था, परन्तु समिति कई कारणों से चाहती हुई भी इसका प्रकाशन न कर सकी, इसके लिए पाठक क्षमा करें।

स्व० आचार्य श्री के नाम से कौन अपरिचित है, वह दिव्य दिवाकर जब तक इस भूतल पर रहा, तब तक उसके जीवन का कण-कण अनन्त-अनन्त ज्ञान-रश्मियों का प्रादुर्भाव कर जन-मानस के अज्ञानान्धकार को दूर करने का सत्प्रयास करता रहा। और यह उन्हीं की सत्कृपा का मधुर फल है, जो आज हमारे पाठकों के समक्ष है।

आचार्य श्री द्वारा अनूदित एवं लिखित अन्य भी कई ग्रन्थ-रत्न समिति के पास है, जिनमे से कुछ तो समय-समय पर प्रकाशित होकर भूले-भटके भ्रान्त मानवों का मार्ग-दर्शन करते रहे हैं और कुछ अभी अप्रकाशित ही है, जिन्हें समिति यथाशीघ्र प्रकाश में लाने का भरसक प्रयास कर रही है। आशा है, प्रस्तुत सूत्र का द्वितीय श्रुतस्कन्ध तो शीघ्र ही पाठकों के कर कमलों को सुशोभित करेगा।

इस बात को प्रकट करते हुए भी हम हर्ष अनुभव करते हैं कि प्रकाशन-समिति के स्थायी सदस्यों की संख्या ८० के लगभग पहुंच गई है। समिति का स्थायी सदस्य ६२५ रुपए देने से बनता है; इन रुपयों द्वारा शास्त्रों का प्रकाशन होता है शास्त्र विक्रय से भी जो धन प्राप्त होता है उससे पुनः शास्त्रों का प्रकाशन किया जाता है।

दूसरी ओर हम उन ५८ दानी महानुभावों के नाम की सूचि प्रकाशित करते हैं जिनके चित्र श्री दशवैकालिक सूत्र और श्री विपाक सूत्र में छप चुके हैं। और जो नए सदस्य है उन के चित्र अग्रिम पृष्ठों पर दिए जा रहे हैं।

विभिन्न समयवर्ती विभिन्न क्रियाओं मे जो एक शृंखला-बद्ध संबंध परिलक्षित हो रहा है, वह आत्मा की एक रूपता के आधार पर ही अवलम्बित है। क्योंकि प्रत्येक क्रिया एक काल-स्पर्शी है, जब कि आत्मा तीनों काल को स्पर्श करती है। यदि आत्मा को त्रिकाल-स्पर्शी न माना जाए तो उस मे त्रिकाल में होने वाली पृथक्-पृथक् क्रियाओं की अनुभूति घटित नहीं हो सकती। और न उसमे भूत काल की स्मृति एव भविष्य के लिए सोचने-विचारने की शक्ति ही रह जाएगी। अतीत की स्मृति एव अनागत काल के लिए एक रूपरेखा तैय्यार करने की चिन्तन-शक्ति आत्मा मे देखी जाती है। इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि आत्मा परिणामी नित्य है, त्रिकाल को स्पर्श करती है।

यह स्पष्ट देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति शक्ति और धन के मद मे आसक्त होकर यौवनकाल मे दुष्कृत्य एवं अपने से दुर्बल व्यक्तियों के साथ दुर्व्यवहार करते है। परन्तु वृद्ध अवस्था मे शक्ति का ह्रास हो जाने के कारण वे अपने द्वारा कृत दुष्कृत्यों का स्मरण करके दु खी होते हैं और पश्चात्ताप करते हुए एवं आसू बहाते हुये भी नज़र आते हैं। और उनकी दुर्दशा को देखकर आस-पास में निवसित लोग भी कहने से नही चूकते कि इस भले आदमी ने धन, यौवन और अधिकार के नशे में कभी नहीं सोचा कि मुझे इन दुष्कृत्यों का फल भी चखना पडेगा, उसने यह भी कभी नहीं विचारा कि यह क्षणिक शक्तिया नष्ट हो जाएंगी, तब मेरी क्या दशा होगी, उसी का यह परिणाम है। इस से विभिन्न समय मे होने वाली त्रिकाल-वर्ती क्रियाओं का एक-दूसरे काल के साथ स्पष्ट सबन्ध दिखाई देता है। प्रथम समय मे वर्तने वाला वर्तमान दूसरे समय मे अतीत की स्मृति मे बदल जाता है और भविष्य के क्षण धीरे-धीरे क्रमश वर्तमान के रूप मे वर्त कर अतीत की स्मृति में विलीन हो जाते हैं। इसी कारण वर्तमान में अतीत की मधुर एवं दु खद स्मृतियें तथा अनागत काल की योजनाए बनती है, और इन त्रिकालवर्ती क्रियाओं की शृङ्खला को जोडने वाली आत्मा सदा एक रूप रहती है। वह पर्यायों की दृष्टि से प्रत्येक काल में परिवर्तित होती हुई भी द्रव्य की दृष्टि से एक रूप है। उसकी एक रूपता प्रत्येक काल मे स्पष्ट प्रतीत होती है, इससे यह सिद्ध होता है कि त्रिकाल वर्ती क्रियाओं मे एकीकरण स्थापित करने वाली आत्मा है और वह परिणामी नित्य है। जैसे एक भव मे अतीत, वर्तमान एवं अनागत की क्रियाओं के साथ आत्मा का संबन्ध है, उसी तरह अनन्त भवों की क्रियाओं के साथ भी आत्मा का एवं वर्तमान भव से संबन्धित क्रियाओं का सबन्ध है। क्योंकि वर्तमान काल एक समय का है, दूसरे समय ही वह भूत काल हो जाता है, इस तरह अनन्त-अनन्त काल वर्तमान काल पर्याय में से अतीत काल की संज्ञा में परिवर्तित हो चुका है और अनागत काल

१ श्री खजाञ्ची राम जी जैन, देहली।
२ स्व० श्री आशाराम जी जैन, कसूर वाले।
३ स्व० श्री सन्त लाल जी जैन, लुधियाना।
४ श्री सोहन लाल जी जैन, लुधियाना।
५ स्व० बाबू परमानन्द जी वकील, जैन, कसूर वाले।
६ श्री गोपीराम जी जैन, होश्यारपुर।
७ स्व० श्री रोची शाह जी जैन, रावलपिंडी वाले।
८ स्व० श्री तेजे शाह जी रावलपिडीवाले।
९ श्री शालिग्राम जी जैन, जम्मू।
१० श्री बख्शीराम चिमन लाल जी लुधियाना
११ श्री नन्दलाल जी जैन, लुधियाना।
१२ श्री धूमीराम ऐण्ड सन्ज़, जालन्धर छावनी
१३ श्री मंगलसेन रोशन लाल जी जैन,
१४ श्री तेलू राम जी जैन, जालन्धर छावनी
१५ श्री लद्धे शाह जी जैन, देहली।
१६ श्री हुकमचन्द जी जैन, लुधियाना।
१७ श्री रामजी दास जी जैन, मालेरकोटला।
१८ बहिन देवकी देवी जी जैन, लुधियाना।
१९ श्री विलायती राम जी जैन, न्यूदेहली
२० बहिन सावित्री देवी जी जैन, जीरा।
२१ श्री विलायती राम जी सुपुत्र श्री गेन्दामल जी जैन, न्यू देहली।
२२ श्री सावन मल जी नाहर लुधियाना।
२३ श्री चरणदास जी जैन, पटियाला।
२४ श्री अमरनाथ जी लाहौर वाले, देहली
२५ श्री हसराज जी जैन, लुधियाना।
२६ बहिन महेन्द्र कुमारी जी जैन, गुडगांवा
२७ श्री देशराज जी जैन, सुलतानपुरलोधी।
२८ श्री मुन्शीराम जी जैन, लुधियाना।
२९ ,, शिवप्रसाद जी जैन, अम्बाला शहर।
३० ,, बनारसीदास जी जैन, कपूरथला।
३१ ,, चूनीलाल जी जैन, कपूरथला।
३२ ,, दौलतराम जी जैन, समराला।
३३ ,, बालकराम जी जैन, लुधियाना।
३४ ,, धनीराम जी जैन, सुलतानपुर लोधी
३५ ,, कुंजलाल जी जैन, सदर बाजार देहली
३६ ,, प्यारेलाल जी जैन, लुधियाना।
३७ स्वर्गीय श्री मुशीराम जी जैन, फरीदकोट
३८ ,, ,, खूबचन्द जी जैन जौहरी, देहली।
३९ ,, ,, बाकेराय जी जैन, लुधियाना
४० श्री अच्छरूमल जी जैन, पटियाला।
४१ ,, चूनीशाह जी जैन, स्यालकोट वाले।
४२ ,, कुन्दनलाल जी जैन, रामा मण्डी।
४३ स्व० श्री राधूशाह जी जैन, रावलपिण्डी।
४४ बहिन चन्द्रापति जी जैन देहली।
४५ स्व० श्री नत्थूशाह जी जैन, स्यालकोट।
४६ श्री जयदयाल शाह जी जैन, स्यालकोट।
४७ स्व० श्री हसराज जी जैन, होश्यारपुर।
४८ श्री मोहनलाल जी बैंकर, बनूड़।
४९ श्री हरिराम जी थापर, लुधियाना।
५० स्व० श्री वैरागी दास जी अमृतसर।
५१ श्री मोतीलाल जी जैन जौहरी, देहली।
५२ श्रीमति हुकमदेवी जी जैन, फरीद कोट
५३ श्री सत्यप्रकाश जी जैन, फगवाड़ा।
५४ श्री सन्तराम जी जैन, अमृतसर।
५५ श्रीमति भाग्यवती जी जैन, लुधियाना
५६ श्रीमति उत्तमदेवी जी जैन, जम्मू।
५७ श्रीमति द्रौपदी देवी जी जैन कपूरथला
५८ श्रीमती विष्णु देवी जैन, जैतों मण्डी।

आते हैं और तुरन्त झड़ जाते हैं, आत्मा के साथ बन्ध नहीं पाते। अस्तु, हम यों कह सकते हैं कि राग-द्वेष की परिणति से युक्त क्रियाएं कर्म-बन्ध की कारण-भूत हैं और वे २७ ही है, इस बात को भली-भांति जान-समझ लेना चाहिए।

यह सत्य है कि क्रियाओं से शुभ एवं अशुभ दोनों तरह के कर्म पुद्गलों का आगमन होता है। शुभ कर्म पुद्गल आत्म विकास में सहायक होते हैं, फिर भी हैं तो त्याज्य ही। क्योंकि उनका सहयोग विकास अवस्था मे या यों कहिए कि साधना काल में उपयोगी होने से साधक अवस्था में आदरणीय भी है, परन्तु सिद्ध अवस्था में उनकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, अतः उस अवस्था में क्रिया मात्र ही त्याज्य है। और इस निश्चयनय की दृष्टि से शुभ क्रिया भी कर्म-बन्ध का एवं संसार में — भले ही स्वर्ग में ही ले जाए फिर भी है तो संसार ही, बंधन ही —परिभ्रमण कराने का कारण होने से निश्चय दृष्टि से सदोष एवं त्याज्य है।

निश्चय दृष्टि से क्रिया सदोष है, फिर भी आत्म-विकास के लिए उस का ज्ञान करना आवश्यक है। दोष को दोष कहकर उस की सर्वथा उपेक्षा कर देना या उसके स्वरूप को समझना ही नहीं, यह जैन धर्म को मान्य नहीं है। वह दोषों का परिज्ञान करने की बात भी कहता है। क्योंकि जब तक दोषों का एवं उन के कार्य का परिज्ञान नहीं होगा, तब तक साधक उससे बच नहीं सकता। इसलिए कर्मबन्ध की कारण भूत क्रियाओं के स्वरूप एवं उनसे होने वाले संसार-परिभ्रमण के चक्र को समझना - जानना भी जरूरी है। यही बात सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में बताई है कि मुमुक्षु को इनके स्वरूप को जानना चाहिए। क्योंकि जीवन में ज्ञान का विशेष महत्त्व है, उसके बिना जीवन का विकास होना कठिन ही नहीं असंभव है। ज्ञान के महत्त्व को बताते हुए भगवान महावीर ने यह कहकर ज्ञान की उपयोगिता एवं महत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ज्ञान-सम्पन्न आत्मा जीवादि नव तत्त्वों को जान लेता है और वह चार गति रूप संसार में विनाश को प्राप्त नहीं होता*। वस्तुत. ज्ञान के बिना हेय-उपादेय का बोध नहीं होता। इसलिए सबसे पहले ज्ञान की आवश्यकता है, उसके बाद अन्य

---

*नाणसपन्नयाए ण जीवे सव्वभावाहिगम जणयइ,
नाणसपन्ने ण जीवे चाउरन्ते ससार-कन्तारे न विणस्सइ।

—उत्तराध्ययन, २६, ५६.



स्वर्गीया बहिन देवकी देवी जैन
प्रिसीपल, जैन गर्ल्ज हायर सैकेडरी स्कूल,
लुधियाना ।

इस तप, त्याग तथा ब्रह्मचर्य की सजीव प्रतिमा का जन्म १२-३-१९०६ मे पिता श्री भक्त प्रेम चन्द जी और माता श्री भानी देवी के घर हुआ। आप अपने जीवन मे अनेक दीन, हीन, दलित और अनाथ विधवाओ का सहारा बनी। आपने अपने द्वारा सस्थापित जैन गर्ल्ज हायर सैकेन्डरी स्कूल की तन, मन और सहस्रो की सम्पत्ति मे सहायता की। शास्त्रो के प्रकाशन मे भी समय २ पर आप अपना योग-दान देती रही है। प्रस्तुत शास्त्र के प्रकाशन मे भी आपने पॉच हजार की राशि प्रदान की है। ७-४-१९६२ को आप की पुनीत आत्मा इस ससार से प्रस्थान कर गई।

संसार में परिभ्रमण कराने की कारणभूत क्रिया के स्वरूप को जान-समझ की प्रेरणा दी गई है।

'इतिब्रवीमि' का अर्थ है—इस प्रकार मै तुम से कहता हूँ। इस स्पष्ट रूप से यह है कि आर्य सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वाम रहे हैं कि—हे जम्बू! मैने जो कुछ तुम्हें कहा है, वह जैसा भगवान के मुख से सुना है वैसा ही कहा है, मैं अपनी तरफ से कुछ नहीं कह रहा ब्रवीमि' के अन्तर में यही रहस्य अन्तर्निहित है। और इस बात को हम पहले चुके है कि आगम के अर्थ रूप से उपदेष्टा तीर्थंकर ही होते है, गणधर के उपदेश को सूत्र रूप में ग्रथित करते है। यही बात सूत्रकार ने 'त्तिबेमि' शब्द व्यक्त की है।

॥ शस्त्रपरिज्ञा प्रथम उद्देशक समाप्त ॥



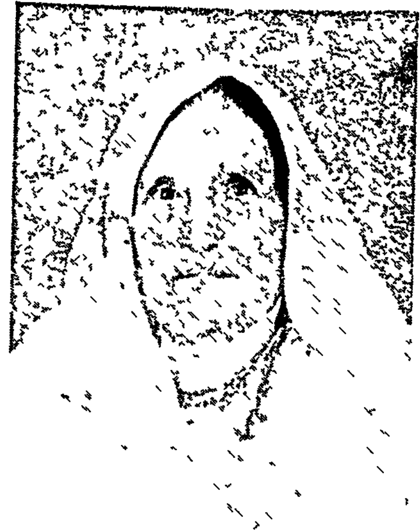
बहिन शीला देवी जैन
सुपुत्री-स्वर्गीय सेठ कुन्दन लाल
जी लोहटिया, लुधियाना ।



श्रीमती अनारबाई जैन
मातेश्वरी-श्री जगन्नाथ जी जैन
लोहा मण्डी, आगरा ।



श्रीमति मलावी देवी जी
सुपुत्री-नन्दशाह, रली देवी जैन
कसूर ।



श्रीमति खेमी बाई जैन
धर्मपत्नि-ला० ठाकुर शाह जैन
गुजरावाला वाले, बम्बई ।

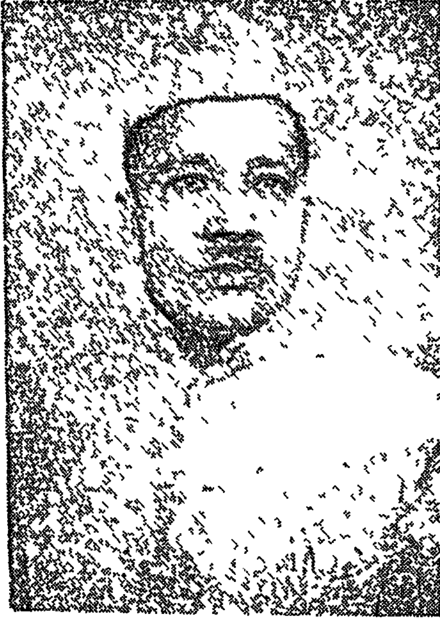
आत्मा, पृथ्वीकाय, अप्काय का वर्णन किया है, वह मैं तुम से कहता हूं-मुमुक्षु पुरुष अपनी आत्मा से अग्निकाय रूपलोक का निषेध-अपलाप न करे-और अपनी आत्मा के अस्तित्व का भी अपलाप न करे। जो व्यक्ति अग्नि-काय लोक का अप [ला]प करता है, वह आत्मा का अपलाप करता है और जो आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है, वह अग्निकाय का निषेध करता है।

हिन्दी विवेचन

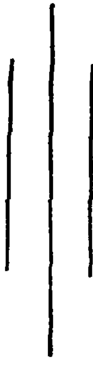
प्रस्तुत सूत्र में पृथ्वी और पानी की तरह अग्नि को भी सचित्त-सजीव बताया है। अग्निकाय के जीव भी पृथ्वी-पानी की तरह प्रत्येक शरीरी, असंख्यात जीवों का पिण्ड रूप और अंगुल के असंख्यातवें भाग अवगाहना वाले हैं। उनकी चेतना भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। क्योंकि उसमें प्रकाश और गर्मी है और ये दोनों गुण चेतनता के प्रतीक है। जैसे जुगनू में जीवित अवस्था में प्रकाश पाया जाता है, परन्तु मृत अवस्था में उसके शरीर में प्रकाश का अस्तित्व नहीं रहता। अत. प्रकाश जिस प्रकार जुगनू के प्राणवान होने का प्रतीक है, उसी प्रकार अग्नि की सजीवता का भी सम्सूचक है।

हम सदा देखते है कि जीवित अवस्था में हमारा शरीर गर्म रहता है, मृत्यु के बाद शरीर में उष्णता नहीं रहती। और ज्वर के समय जो शरीर का ताप बढ़ता है, वह भी जीवित व्यक्ति का बढ़ता है। अस्तु शरीर में परिलक्षित होने वाली उष्णता सजीवता की परिसूचक है। इसी तरह अग्नि में प्रतिभासित होने वाली उष्णता भी उसकी सजीवता को स्पष्ट प्रदर्शित करती है।

उष्णता और प्रकाश ये दोनों गुण अग्नि की सजीवता के परिचायक है इसके अतिरिक्त अग्नि वायु के बिना जीवित नहीं रह सकती। जिस प्रकार हमें यदि एक क्षण के लिए हवा न मिले तो हमारे प्राण-पंखेरू उड़ जाते है, उसी तरह अग्नि भी वायु के अभाव में अपनी जीवन लीला समाप्त कर लेती है। आप देखते है कि यदि प्रज्वलित दीपक या अगारों को किसी बर्तन से ढक दिया जाए और बाहर से हवा को अंदर प्रवेश न करने दिया जाए, तो वे तुरन्त बुझ जाएंगे। किसी व्यक्ति के पहने हुए वस्त्र आदि में आग लगने पर डाक्टर पानी डालने के स्थान में उस शरीर को मोटे कपड़े या कम्बल से ढक देने की सलाह देते है। क्योंकि शरीर कम्बल से आवृत्त होते ही, आग को बाहर की वायु नहीं मिलेगी और वह तुरन्त बुझ जायगी।

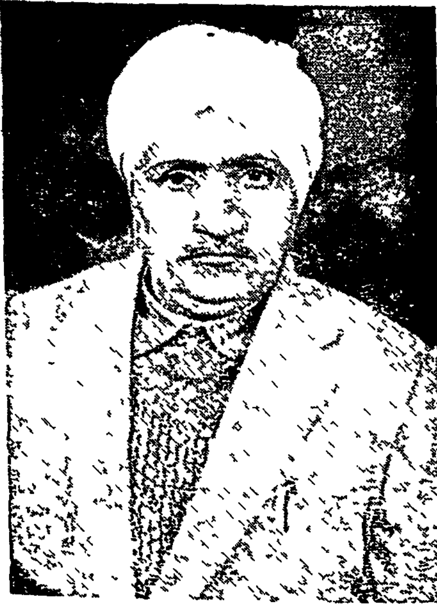


श्री बरखाराम जी जैन
पटियाला।

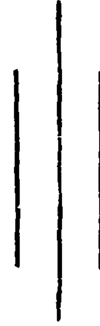


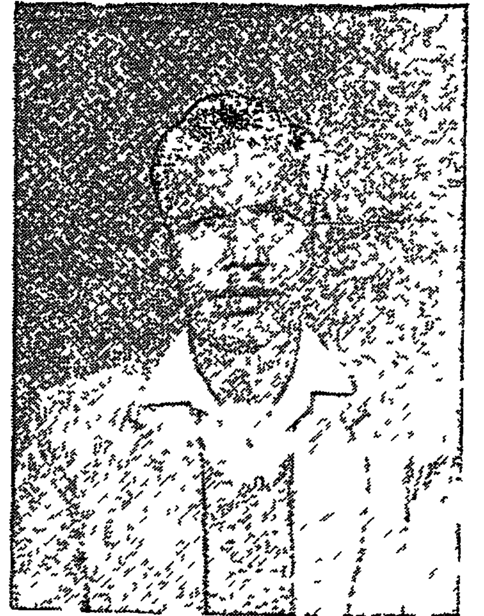


श्री तेलूराम जी जैन
प्रो० सी एल. जैन हौज़री,
लुधियाना।



श्री अमृतसरियामल जी जैन
सराफ, समाना मंडी।





श्री शिवजीराम जैन
सुपुत्र-श्री धनी राम जैन,
बुलाढा वाले, माणसा मण्डी।

प्रथम अध्ययन-शस्त्रपरिज्ञा

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में साधुत्व का परिपालन करने के लिए अप्काय-पानी के जीवों की रक्षा करने का आदेश दिया गया है और उसके स्वरूप का सम्यक्तया बोध कराया गया है। चतुर्थ उद्देशक में तेजस्काय के आरम्भ-समारम्भ का त्याग करने का विधान किया गया है। और यह बताया गया है कि अप्काय की तरह तेजस्काय भी सजीव है। उसके आरम्भ-समारम्भ से कर्मों का बन्ध होता है, इत्यादि बातों का चतुर्थ उद्देशक में वर्णन किया है। प्रस्तुत उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार है—

मूलम्— से बेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ॥३२॥

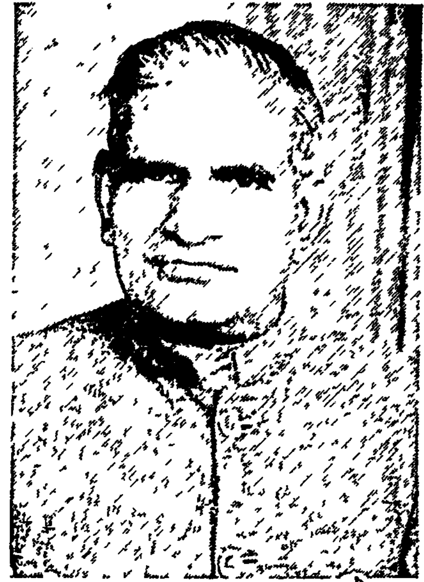
छाया—सः (अहं) ब्रवीमि नैवस्वयं लोकम् अभ्याख्यायेत्, नैवात्मान मभ्याख्यायेत्, यः लोकं अभ्याख्याति सः आत्मानम् अभ्याख्याति यः आत्मानमभ्याख्याति सः लोकमभ्याख्याति।

पदार्थ—से—वह-जिसने सामान्य रूप से आत्म तत्त्व, पृथ्वीकाय और अप्काय के जीवो का वर्णन किया है, वही मैं। बेमि—कहता हूँ। सयं—अपनी आत्मा के द्वारा। लोगं—अग्निकाय रूप लोक का। णेव अब्भाइक्खेज्जा—अपलाप न करे। अत्ताण—आत्मा का। णेव अब्भाइक्खेज्जा—निषेध या अपलाप न करे। जे—जो व्यक्ति। लोयं—अग्निकाय रूप लोक का अब्भाइक्खइ—निषेध करता है। से—वह। अत्ताण—आत्मा का। अब्भाइक्खइ—निषेध करता है। जे—जो। अत्ताण—आत्मा का। अब्भाइक्खइ—निषेध करता है। से—वह। लोय—अग्निकाय रूप लोक का। अब्भाइक्खइ—निषेध करता है।

मूलार्थ—हे जम्बू! जिस ने पहले तीन उद्देशको मे सामान्य रूप से



श्री भान चन्द जी जैन
सुपुत्र श्री केहरूमल जैन
मानसा मण्डी ।



स्वर्गीय-श्री रामजी दास जी जैन
मालेरकोटला वाले
(आपने शास्त्र प्रकाशन के लिये ५००० रु०
की पू जी प्रदान की है)

कुछ नये सदस्यो के चित्र प्रयास करने पर भी हमे उपलब्ध नही हो सके। जिनके नाम देने पर ही हमे मन्तुष्ट होना पड रहा है। श्री कुलयश राय जी जैन स्यालकोट वाले, श्री अमोलक सिह जी, हासी वाले, श्रीमति केसर बाई जैन धर्मपत्नी श्री कुन्दन लाल जैन,देहली, श्री अमर नाथ जी जैन, प्रो० रामा जैन हौजरी, लुधियाना, श्री ज्ञान चन्द जैन, यूनाईटिड हौजरी, लुधियाना, श्री हरि राम बजाज, घनौर (पटियाला), श्री लद्धाशाह जी मुनीलाल जी जैन, लाहौर वाले, देहली ।

पाच बहने गुप्तदान देकर स्थायी सदस्य बनी है उन्होने जिस विशाल हृदय का परिचय दिया है हम उसकी सराहना करते है ।

इसके अतिरिक्त कुछ बहनो ने सौ-सौ रु० दिया है उनके नाम इस प्रकार है -
शान्ति देवी धर्मपत्नि मनोहर लाल, गुजरावाला वाले, रत्नी बाई धर्मपत्नि जगीरी लाल, स्यालकोट वाले, मुमित्रा देवी जैन धर्म० डा जैन लुधियाना, श्री दयावती जी धर्म० शिवशरण जैन, जम्मू ।

जिन बहन भाईयो के उदार सहयोग से समिति का कार्य सफलता पूर्वक चल रहा है हम उनका हार्दिक धन्यवाद करते है और भविष्य के लिए इससे भी अधिक सहयोग की आशा रखते है।

मन्त्री –
आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति,
जैन स्थानक, लुधियाना ।

कर्म रहित का संसार चक्र मे। ववहारो—व्यवहार। न विज्जइ—नही है। उवाही—ससार भ्रमण रूप उपाधि। कम्मुणा—कर्म से। जायइ—उत्पन्न होती है अत। च—फिर। कम्म—कर्म को। पडिलेहाए—विचार कर-भाव निद्रा को छोड जाग्रत अवस्था मे ही सदा रहना चाहिए।

मूलार्थ—दुःखित प्राणियो को देखकर सदा अप्रमत्त भाव से ही सयम मार्ग मे विचरे, हे बुद्धिमान्! आरम्भ--हिंसा से यह दुःख उत्पन्न हुआ है इस प्रकार मानकर फिर छल-कपट करने वाला प्रमादी जीव गर्भ मे पुन पुन आता है। अपिच जो शब्दादि विषयो मे राग और द्वेष न करता हुआ ऋजुमति और मरण जन्य दुख से उद्विग्न चित्तवाला है वह मरण के दुःख से छूट जाता है तथा जो काम-भोगो मे अप्रमत्त-प्रमाद रहित एव पापकर्मो से उपरत रहित है वह वीर आत्मगुप्त और खेदज्ञ है, निपुण है, तथा जो हिंसादि क्रियाओ का खेदज्ञ-जानकार है वह सयम का खेदज्ञ जानने वाला है और जो सयम का जानकार है अर्थात् सयम के स्वरूप को जानता है वह हिसादि क्रियाओ के स्वरूप को जानता है। किन्तु कर्म रहित आत्मा का ससारचक्र मे व्यवहार-परिभ्रमण नही होता ससार चक्र को उपाधि कर्म जन्य है, कर्म से उत्पन्न होती है, अतः कर्म के यथार्थ स्वरूप का पर्यालोचन करके मुमुक्षु पुरुष को सयम मार्ग मे ही यतना पूर्वक विचरना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

ससार परिभ्रमण का मूल कारण राग-द्वेष जन्य प्रवृत्ति है। प्रमादी व्यक्ति कषायों के वश होकर आरम्भ—हिसा करता है और परिणाम स्वरूप अशुभ कर्मों का वन्ध करके नरक, तिर्यंच आदि गतियों मे अनेक प्रकार के दुखों का सवेदन करता है। इस प्रकार व्यक्ति शब्दादि विषयों मे आसक्त होकर हिंसा आदि दोषों मे प्रवृत्त होकर जन्म, जरा और मृत्यु के प्रवाह मे प्रवाह वहता रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिसा जन्य प्रवृत्ति मे प्रवर्त्तमान व्यक्ति दुखों के महागर्त मे जा गिरता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समस्त दुखों का मूल स्रोत हिंसाजन्य प्रवृत्ति

हम यों भी कह सकते हैं कि जो व्यक्ति संयम से विमुख है, शब्दादि विषयों मे आसक्त है, वह आरम्भ-समारम्भ मे प्रवृत्त होकर पाप कर्मों का वन्ध करता

प्रस्तावना

श्रुतज्ञान का महत्व

प्रत्येक साधक का— चाहे वह श्रमण-श्रमणी हो या श्रावक-श्राविका, लक्ष्य मोक्ष है। उसका प्रत्येक पग अपने साध्य पथ पर बढ़ता है। परन्तु, पथ पर कदम रखने के पूर्व उस पथ का ज्ञान होना भी आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। इसलिए जैनागमों में क्रिया के पहले ज्ञान का होना आवश्यक माना गया है। आगम मे यहां तक उल्लेख मिलता है कि सम्यक् चारित्र क अभाव मे ज्ञान सम्यक् रह सकता है, परन्तु सम्यग् ज्ञान के अभाव मे चारित्र सम्यक् नही रह सकता। इसलिए क्रिया के पहले ज्ञान का महत्व स्वीकार किया गया है। साधक को यह उपदेश दिया गया है कि ज्ञान पूर्वक की गई क्रिया ही आत्मा को कर्म बन्धन से मुक्त करने में सहायक हो सकती है और सम्यगज्ञान पूर्वक क्रिया करने वाला साधक ही मोक्ष मार्ग का आराधक हो सकता है।

ज्ञान के ५ भेद हैं— १-मतिज्ञान, २-श्रुतज्ञान, ३-अवधिज्ञान, ४-मन पर्यवज्ञान और ५-केवलज्ञान। इनमे प्रथम के दो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होते हैं और शेष तीन ज्ञान अपनी अपनी शक्ति के अनुसार पदार्थों का ज्ञान करने मे इन्द्रिय एव मन के सहयोग की अपेक्षा नहीं रखते। तीसरा और चौथा ज्ञान सीमित क्षेत्र में स्थित सीमित पदार्थों को जानता-देखता है, परन्तु, केवल ज्ञान असीम होता है। वह समस्त पदार्थों के समस्त भावों को जानता-देखता है। उससे लोकालोक का कोई पदार्थ एव भाव छुपा हुआ नही रहता है। अत वह पूर्णत· अनावृत्त होता है।

इन पांचों ज्ञानो में श्रुतज्ञान उपकारी माना गया है। क्योंकि, श्रुतज्ञान सर्वज्ञ पुरुषों की वाणी है। इसमे द्वादशांगी का समावेश हो जाता है। वस्तुत. तीर्थंकर तीर्थ की स्थापना करके द्वादशांगी का उपदेश देते है और इसी को श्रुतसाहित्य या श्रुतज्ञान कहते है। मतिज्ञान का अर्थ है— अपनी इन्द्रियो एव बुद्धि के द्वारा पदार्थों का बोध करना और श्रुतज्ञान का अभिप्राय है कि सर्वज्ञोपदिष्ट श्रुतसाहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करके पदार्थों का सही बोध करना। अत. अपनी बुद्धि को यथार्थ रूप मे सोचने-समझने की प्रेरणा श्रुतज्ञान से ही मिलती है। श्रुतज्ञान के आधार पर ही साधक पदार्थों की सही जानकारी कर सकता है। और वह अपने चिन्तन का विकास करके आगे बढ़ सकता है। आगम मे स्पष्ट शब्दो में कहा है कि साधक श्रुतज्ञान को सुनकर या पढ़कर ही कल्याणकारी एवं पापकारी अथवा हेय एवं उपादेय पथ को

द्वारा। मांस सोणिय—मास और शोणित को अलग कर देता है, अर्थात् समस्त कर्मों को नष्ट करके शरीर रहित हो जाता है। एस—यह। पुरिसे—पुरुष। दविए—जो मोक्षगामी है, वह। आयाणिज्जे—आदेय वचन वाला। वियाहिए—कहा गया है। जे—जो व्यक्ति। बमचेरसि—ब्रह्मचर्य मे। वसित्ता—निवास करके। समुस्सय—तप के द्वारा शरीर एवं कर्मोपचय को। धुणाइ—कृश करता है।

मूलार्थ—मुमुक्षु पुरुष पूर्व सयोग—असंयम का परित्याग एव सयम को स्वीकार करके तप साधना के द्वारा योगो का दमन करे, धीरे-धीरे योगों का निरोध करते हुए उनका सपूर्ण रूप से निरोध करे। इसके लिए वह वैमनस्य रहित, भली-भाति मर्यादा पूर्वक सयम मे सलग्न, समिति एव ज्ञान से युक्त होकर संयम का परिपालन करे। मोक्ष गामी वीर पुरुषों का मार्ग दुष्कर है। अतः हे शिष्य! तू तपश्चर्या के द्वारा मांस-शोणित को सुखा दे। जो साधक ब्रह्मचर्य में स्थित रहकर तप के द्वारा शरीर एवं कर्मोपचय को कृश करता है, वह सयमो, मोक्षगामी वीर और आदेय वचन वाला कहा गया है।

हिन्दी विवेचन

संयम—साधना का उद्देश्य कर्म क्षय करना है। और कर्म क्षय के लिए तपश्चर्या एक साधन है। इसलिए मुनि को तप के द्वारा कर्म क्षय करना चाहिए। वह तप-साधना दीक्षा ग्रहण करते ही प्रारम्भ करनी चाहिए। प्रारम्भ मे सामान्य रूप से तप करना चाहिए। इससे धीरे-धीरे आत्म शक्ति का विकास होगा। और संयम में तेजस्विता आएगी। अतः साधु को आगमों का अध्ययम करने तक थोड़ी-थोडी तपश्चर्या करनी चाहिए। आगम का भली-भांति अनुशीलन-परिशीलन करने के बाद, उसके परिणामों में परिपक्वता आ जाए तब उसे विशिष्ट तप करना चाहिए। और साधना के पथ पर चलते हुए उसे यह निश्चय हो जाए कि अब शरीर शिथिल हो गया। अब यह अधिक दिन रहने वाला नहीं है, तव पूर्णतया आहार-पानी त्याग करके जीवन पर्यन्त के लिए तप स्वीकार करके शान्तिभाव से समाधि मरण को प्राप्त करे। इस तप के साथ किसी भी प्रकार इस लोक या परलोक सम्बन्धी यश-प्रशंसा एवं भौतिक सुख की कामना नहीं होनी चाहिए। निष्काम भाव मे एकान्त निर्जरा की दृष्टि से किया गया तप ही कर्मक्षय करने में समर्थ होता है।

जान सकता है॥ उत्तराध्ययन सूत्र में एक स्थान पर पूछा गया है कि श्रुतज्ञान की आराधना से क्या फल मिलता है? भगवान फरमाते हैं कि श्रुतज्ञान की आराधना के द्वारा साधक ज्ञानावरणीय कर्म को क्षय करता है†। वह आत्मज्ञान की ज्योति पर आए हुए आवरण को अनावृत्त करते-करते एक दिन निरावरण केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। इस तरह श्रुत ज्ञान साध्य की सिद्धि मे विशेष सहायक होने के कारण उपकारी माना गया है‡। वर्तमान युग मे साधक श्रुत ज्ञान के आधार पर ही पदार्थों का यथार्थ ज्ञान करके आत्मा का विकास कर सकता है। मोक्ष मार्ग पर कदम बढ़ा सकता है। अत आत्मविकास के लिए श्रुतज्ञान महत्वपूर्ण है।

तीर्थंकर सर्वज्ञ होते ही तीर्थ-सघ की स्थापना करते हैं और भव्य प्राणियों को मोक्ष मार्ग का उपदेश देते हैं। उनके विस्तृत प्रवचनों को गणधर सूत्र रूप मे ग्रथित करते है अर्थात्—उस अर्थ रूप वाणी का सक्षिप्त सस्करण तैयार करते है। उसे द्वादशागी कहते हैं॥। इस द्वादशागी के निर्माता गणधर होते हैं, परन्तु इसका मूलाधार तीर्थंकरों की वाणी है। वे उन्हीं भावों को सक्षेप मे अभिव्यक्त करते है। परन्तु, वे उसमे अपनी ओर से कुछ नहीं मिलाते हैं। इसलिए द्वादशागी सर्वज्ञ (तीर्थंकर) प्रणीत कहलाती है।

द्वादशाङ्गी मे आचाराङ्ग का स्थान

द्वादशागी मे आचाराङ्ग सूत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। यह प्रथम अङ्ग सूत्र है। जितने तीर्थंकर हुए हैं, उन सबने सर्वप्रथम आचाराङ्ग का उपदेश दिया है। वर्तमान काल मे जो तीर्थंकर (विहरमान) महाविदेह क्षेत्र मे विद्यमान है, वे भी अपने शासनकाल मे सर्वप्रथम आचाराङ्ग का उपदेश देते हैं और भविष्य मे होने वाले तीर्थंकर भी सर्वप्रथम इसका प्रवचन देंगे। और गणधर भी इसी क्रम से अग सूत्रों को ग्रथित करते है।

॥ सोच्चा जाणइ कल्लाण, सोच्चा जाणइ पावग।

—दशवैकालिक सूत्र, ४, ११।

† सुयस्स आराहणयाए ण भते! जीवे किं जाणयइ?
सुयस्स आराहणयाए णं अन्नाण खवेइ, न य सकिलिस्सई।

—उत्तराध्ययन सूत्र, २६, २४।

‡ अनुयोगद्वार सूत्र।

॥ अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गथति गणहरा निउणं। सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्त पवत्तई।

—अनुयोगद्वार सूत्र और आवश्यक निर्युक्ति।

मार्ग के देखने वाला। इह—इस संसार मे। मच्चिएहिं—मनुष्यो के मध्य मे। कम्माण—कर्मों के। सफलं—फल को। दट्ठूणं—देख कर। तओ—तत्पश्चात्। वेयवी—आगमो के जानने वाला। निज्जाइ—कर्मों के स्रोत से पृथक् हो जाता है। अर्थात् निष्कर्मदर्शी आत्मा कर्मों के स्रोत से निर्गच्छति-निकल जाता है। सकाम व अकाम निर्जरा से कर्मों को नष्ट कर देता है

मूलार्थ—जिस आत्मा को पूर्व काल मे सम्यक्त्व का लाभ नही हुआ आगामी काल में होने का नहीं तो फिर उसको मध्य काल मे सम्यक्त्व का लाभ किस प्रकार हो सकता है ?

हे शिष्यो ! तुम उन बुद्धिमानो तथा तत्त्वो को जानने वाले आरभ से निवृत्त और सम्यग् देखने वाले व्यक्तियो को देखो ! जिस कारण से वन्ध वध-घोर भयकर और दारुण परिताप को तथा बाह्य और आभ्यन्तरिक स्रोतो को दूर करके जो निष्कर्मदर्शी बने है वे इस लोक मे सबसे बढ कर है। आगमवेत्ता कर्मों के फल को देखकर तत्पश्चात् आश्रव स्रोत से निकल जाता है अर्थात् आस्रव का सर्वथा निरोध कर देता है।

हिन्दी विवेचन

कुछ जीव ऐसे है, जिन्होंने न अतीत काल मे सम्यक्त्व का स्पर्श किया है और न अनागत काल मे करेंगे। उन जीवों को आगमिक भाषा मे अभव्य जीव कहते है। वे कभी भी सम्यक्त्व का स्पर्श नहीं करते। आगम मे उनके लिए स्पष्ट शब्दों मे कहा गया है कि अतीत काल मे उन्होने सम्यक्त्व का स्पर्श किया और न अनागत मे करेंगे। और अतीत एवं अनागत इन दोनो काल मे अनन्त-अनन्त अवसर्पिणी—उत्सर्पिणी का समावेश हो जाता है। इनके मध्य का काल अर्थात् वर्तमान काल तो केवल एक समय का होता है। अत जब इन दोनो काल में वे सम्यक्त्व के प्रकाश को नही पा सकते तो मध्य काल मे पाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए ऐसे अभव्य जीव कभी भी मोक्ष मार्ग पर नहीं चल सकते।

कुछ जीव ऐसे है कि जिन्होंने अतीत काल मे सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया परन्तु मोह कर्म के उदय से वे फिर से मिथ्यात्व मे गिर गए। ऐसे जीव अनागत काल मे फिर से सम्यक्त्व को प्राप्त करके अपने साध्य को सिद्ध कर लेते हैं। एक बार सम्यक्त्व का स्पर्श करने के पश्चात् मिथ्यात्व मे चले जाने पर भी वह अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परावर्तन तक मिथ्यात्व मे रह सकता है। इसके बाद तो वह अवश्य ही

आचाराङ्ग सूत्र को सर्वप्रथम स्थान देने के रहस्य का उद्घाटन करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि मुक्ति का अव्याबाध सुख प्राप्त करने का मूल आचार है*। प्रश्नोत्तर के रूप में आचार के महत्व को बताते हुए निर्युक्तिकार प्रश्न उठाते हैं कि अङ्ग सूत्रों का सार क्या है? आचार। आचार का सार क्या है? अनुयोग—अर्थ। अनुयोग का सार क्या है? प्ररूपणा करना। प्ररूपणा का सार क्या है? सम्यक् चारित्र को स्वीकार करना। चारित्र का सार क्या है? निर्वाण पद की प्राप्ति, निर्वाण पद पाने का सार क्या है? अक्षय सुख को प्राप्त करना†। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुक्ति एवं अव्याबाध सुख का मूल आचार है। क्योंकि कर्म के आने का कारण भी क्रिया है और निर्जरा का कारण भी क्रिया है। सम्यग्ज्ञान पूर्वक की जाने वाली क्रिया निर्जरा का कारण है। अत. ज्ञान एव क्रिया की समन्वित साधना से मुक्ति मानने वाले जैनागमों मे सम्यग्दृष्टि को क्रियावादी भी कहा गया है। इसका कारण यही है कि क्रिया के बिना आत्मा अक्रिय अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता है। अस्तु मुक्ति के लिए सबसे पहली आवश्यकता चारित्र है। चारित्र शब्द का अर्थ है—कर्मजल को खाली करना या कर्म समूह का नाश करना‡। इसी कारण सभी तीर्थंकर भगवान तीर्थ की स्थापना करते समय सर्व प्रथम आचाराङ्ग का उपदेश देते हैं।

द्वादशाङ्गी का वर्गीकरण

समस्त जैनवाङ्मय को चार अनुयोगों मे विभक्त किया जा सकता है—१-धर्मकथानुयोग, २-गणितानुयोग, ३-द्रव्यानुयोग और ४-चरण-करणानुयोग। ज्ञाता-धर्मकथाङ्ग, अन्तकृतदशाङ्ग आदि सूत्र धर्म कथानुयोग का वर्णन करते है। गणितानुयोग का वर्णन भगवती सूत्र एवं सूर्यप्रज्ञप्ति आदि आगमो मे मिलता है। द्रव्यानुयोग का विवेचन स्थानाङ्ग, समवायाङ्गादि सूत्रों में उपलब्ध होता है। और आचाराङ्ग सूत्र

---

* सव्वेसिं आयारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए।
सेसाइ अगाइ एक्कारस आणुपुव्वीए॥
आयारो अंगाणं पढमं, अंग दुवालसण्हंपि।
इत्थ य मोक्खो वा ओ एस य सारो पवयणस्स॥ —आचाराग निर्युक्ति, ८,९

† अंगाण किं सारो? आयारो, तस्स हवइ किं सारो?
अणुओगत्थो सारो, तस्सवि य परूवणा सारो॥
सारो परूवणाए चरणं, तस्सवि य होइ निव्वाणं।
निव्वाणस्स उ सारो अव्वाबाहं जिणाविंति॥
—आचाराग निर्युक्ति, १६, १७।

‡ एय चयरित्तकरं, चारित्तं होइ आहियं। —उत्तराध्ययन, २८, ३३।

मन रुका रहता है। उसकी प्रक्रिया समाप्त हुई कि मन फिर इधर-उधर उछल-कूद मचाने लगता है। इसलिए जैन दर्शन ने हठयोग आदि की साधना पर जोर न देकर सहज योग की बात कही। सहज योग कोई आगमिक प्रक्रिया का नाम नहीं है। आगम में योगों को या मन को वश में करने के लिए ५ समिति बताई हैं। इसका तात्पर्य इतना ही है कि साधक जिस समय जो क्रिया करे उस समय तद्रूप बन जाए। यदि उसे चलना है तो उस समय अपने मन को चारों ओर के विचारों से हटाकर चलने में लगा दे, यहां तक कि चलते समय धार्मिक चिन्तन एवं स्वाध्याय आदि भी न करे। इस तरह अन्य क्रियाएं करते समय अपने योगों को उसमें लगा दे। जिस समय हलन-चलन की क्रिया नहीं कर रहा हो, उस समय अपने योगों को स्वाध्याय या ध्यान में लगा दे। इस तरह मन को प्रति समय किसी न किसी काम में लगाए रखे, तो फिर उसे इधर-उधर भागने का अवकाश नहीं मिलेगा। वह सहज ही चिन्तन में एकाग्र हो जाएगा। इसलिए इस साधना के लिए हमने सहज योग शब्द का प्रयोग किया है। क्योंकि इससे योगों को सहज रूप से एकाग्र किया जा सकता है।

इससे ये योग इतने सध जाते हैं कि निर्वाण के समय इनका निरोध करके आत्मा-सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेती है। संसार में रोक रखने के लिए आत्मा के साथ ६ पर्याप्त मानी गई हैं— १-आहार पर्याप्त, २-शरीर पर्याप्त, ३-इन्द्रिय पर्याप्त, ४-मन पर्याप्त, ५-भाषा पर्याप्त और ६-श्वासोच्छ्वास पर्याप्त। इनसे उन्मुक्त होकर ही आत्मा मुक्त हो सकता है। अतः निर्वाण के समय आत्मा इनका भी निरोध कर लेता है। परन्तु, यकायक तो निरोध हो नहीं जाता। इसलिए साधक के लिए बताया गया है कि वह निराहार होने के लिए तप के द्वारा आहार को कम करते हुए शरीर पर से ममत्व हटाते हुए, इन्द्रिय एवं मन को एकाग्र करते हुए मौन भाव को स्वीकार करके आत्म साधना में लीन रहे और समिति-गुप्ति के द्वारा योगों को अपने वश में रखने का प्रयत्न करे। यह प्रक्रिया आत्म विकास के लिए उपयुक्त है। इसमें योगों के साथ किसी तरह की जबरदस्ती न करके उन्हें सहज भाव से आत्म साधना में संलग्न किया जाता है।

भगवान महावीर ने इसी साधना के द्वारा योगों को अपने वश में किया था। या यों कहिए कि अपने योगों को धर्म एवं शुक्ल ध्यान में संलग्न किया था। और आत्म-स्वरूप को पूर्णतया जानने के लिए उन्होंने अपने योगों को लोक के स्वरूप का चिन्तन करने में लगा दिया था। क्योंकि, किसी पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानकर ही आत्मा लोकालोक के यथार्थ स्वरूप को जान सकता है। जो व्यक्ति एक पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ रूप से नहीं जानता, वह संपूर्ण लोक के स्वरूप को भी नहीं जान सकता। अतः लोक के स्वरूप को जानने के लिए एक पदार्थ का संपूर्ण ज्ञान आवश्यक है। प्रत्येक पदार्थ

मे चरण-करणानुयोग का वर्णन है।

प्रस्तुत वर्गीकरण मे प्रयुक्त अनुयोग शब्द का अर्थ है व्याख्या करना वृत्तिकार ने भी इसका यही अर्थ किया है कि "सूत्र के पश्चात् उसके अर्थ का वर्णन करना या सक्षिप्त सूत्र का विस्तृत विवेचन करना अनुयोग कहलाता है❀।" इससे स्पष्ट होता है कि तीर्थंकरो का प्रवचन चार अनुयोगों मे विभक्त होता है। या यो कहिए कि वे चार शैलियों मे मोक्षमार्ग का उपदेश देते है या वस्तु का तथा लोक का यथार्थ स्वरूप समझाते है। इस आचाराङ्ग मे चरण करणानुयोग की शैली का स्पष्ट दर्शन होता है। क्योंकि यह आगम आचार का निरूपण करता है।

आचार पचक

प्रस्तुत आगम मे पाच आचारो का वर्णन मिलता है—१-ज्ञानाचार, २-दर्शनाचार, ३ चारित्राचार, ४-तपाचार और ५-वीर्याचार। ज्ञानाचार का अर्थ है—ज्ञान की आराधना करना। आगम मे इसके आठ भेद बताए गए है—१ नियत समय पर शास्त्र का स्वाध्याय करना, २-विनय-भक्तिपूर्वक सूत्र का अनुशीलन करना, ३-बहुमानपूर्वक उसका अध्ययन करना, ४-उपधान—तप करते हुए शास्त्र का अध्ययन करना, ५-जिस से आगम का ज्ञान प्राप्त किया हो, उसके नाम को गुप्त नही रखना, ६-सूत्र का शुद्ध उच्चारण करना, ७-उसके शुद्ध एव यथार्थ अर्थ को ग्रहण करना और ८-सूत्र और अर्थ को बहुमान एव आदर पूर्वक स्वीकार करना†।

उसी तरह दर्शनाचार के आठ भेद हैं— १-जिनवाणी मे सशय नहीं करना, २-अन्य मत की प्रशसा नहीं करना, ३-स्वकृत कर्म के फल के विषय मे सन्देह नहीं करना, ४-अमूढ़ दृष्टि होना, ५-गुणिजनों के गुणों की प्रशसा करना, ६-धर्म से गिरते हुए व्यक्ति को धर्म मे स्थिर करना, ७-सधर्मी भाईयों मे वात्सल्य रखना और (धर्म की) प्रभावना करना‡।

आगम मे चारित्राचार भी आठ प्रकार बताया गया है— १-ईर्या समिति,

❀ आचारस्यानुयोग —अर्थकथनमाचारानुयोग, सूत्रादनुपश्चादर्थस्यानुयोगोऽनुयोग, सूत्राध्ययनात्पश्चादर्थकथनमिति भावना, अणोर्वा लघीयस सूत्रस्य महताऽर्थेन योगोऽनुयोगा इति।

—आचाराग वृत्ति।

† काले, विणए, बहुमाने, उवहाणे, तहा अणिण्हवणे।
वंजण, अत्थ, तदुभए, अट्ठविहो णाणमायारो॥

‡ निस्सकिय, निकंखिय, निव्वित्तिगिच्छा, अमूढदिट्ठी य।
उववूह, थिरीकरणे, वच्छल्ल, पभावणे अट्ठ॥

द्रव्य और पर्याय युक्त है और लोक भी द्रव्य और पर्याय युक्त है। अतः पदार्थ के सभी रूपों का ज्ञान करने का अर्थ है संपूर्ण लोक का ज्ञान करना और संपूर्ण लोक का ज्ञान करने का तात्पर्य है पदार्थ को पूरी तरह जानना। इस तरह एक के ज्ञान में समस्त लोक का परिज्ञान और समस्त लोक के ज्ञान में एक का परिबोध संबद्ध है। इसलिए भगवान महावीर सदा लोक एवं आत्मा के स्वरूप का परिज्ञान करने के लिए चिन्तन में संलग्न रहते थे❀।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अकसाई विगय गेही य सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाई।
छउमत्थोवि परक्कममाणो, न पमायं सइंपि कुव्वित्था।१५।

छाया—अकषायी विगत गृद्धिश्च शब्दरूपेषु अमूर्छितो ध्यायति।
छद्मस्थोपि पराक्रममाणः, न प्रमादं सकृदपि कृतवान्।

पदार्थ—अकसाई—भगवान कषायों से रहित। य—और। विगयगेही—गृद्धिपन से रहित तथा। सद्दरूवेसु—शब्द रूपादि में। अमुच्छिए—अमूर्छित होकर। झाई—ध्यान करते थे। छउमत्थोवि—छद्मस्थ होने पर भी। परक्कममाणो—सदनुष्ठान में पराक्रम करते हुए उन्होंने। सइंपि—एक बार भी। पमायं—प्रमाद। न कुव्वित्था—नहीं किया।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर, कषाय को छोड़कर, रस गृद्धि को त्यागकर, शब्दादि में अमूर्छित होकर ध्यान करते थे। छद्मस्थ होने पर भी सदनुष्ठान में पराक्रम करते हुए उन्होंने एक बार भी प्रमाद नहीं किया।

हिन्दी विवेचन

मन एवं चित्तवृत्ति को स्थिर करने के लिए राग-द्वेष एवं कषायों का परित्याग करना आवश्यक है। जब तक जीवन में कषायों का अंधड़ चलता रहता है, तब तक मन की वृत्तिएं चिन्तन में एकाग्र नहीं हो सकतीं। दीपक की लौ हवा के झोंकों से रहित स्थान में ही स्थिर रह सकती है। इसी तरह चिन्तन की ज्योति कषायों की उपशान्त स्थिति में ही स्थिर रहती है। इसके परिज्ञाता भगवान महावीर ने साधना काल में मन एवं चित्त वृत्ति को आत्म-चिन्तन में एकाग्र करने के लिए राग-द्वेष एवं कषायों का परित्याग कर दिया और प्रमाद का भी त्याग करके राग-द्वेष का समूलतः नाश करने के लिए प्रयत्नशील हो गए।

❀ विशेष जानकारी के लिए जिज्ञासु मेरा लिखा हुआ 'अष्टांग योग' अवश्य पढ़ें।

२-भाषा समिति, ३-एषणा समिति, ४-आदाणभंडनिक्षेपणा समिति, ५-उच्चार-प्रश्रवण-खेल-जल्लसिंघाण परिष्ठापना समिति, ६-मन गुप्ति, ७-वचन गुप्ति और ८-काय गुप्ति। इस तरह पाच समिति और तीन गुप्ति इस ८ प्रवचन माता को चारित्राचार कहते हैं॥।

तपाचार के बारह भेद बताए हैं— १-अनशन, २-औनोदर्य, ३- भिक्षाचारी, ४-रसत्याग, ५-काय क्लेश और ६-प्रतिसंलीनता, यह बाह्य तप के ६ भेद हैं। और १ प्रायश्चित, २ विनय, ३ वैयावृत्य, ४ स्वाध्याय ५ ध्यान और ६ कायोत्सर्ग यह ६ प्रकार का आभ्यन्तर तप होता है। इस तरह तपाचार के १२ भेद होते हैं†।

वीर्याचार का परिपालन अनेक तरह से किया जा सकता है। इसे किसी निश्चित सख्या में नहीं बांधा जा सकता। वीर्य का अर्थ शक्ति है। अत कर्म क्षय करने या सयम साधना में अपनी शक्ति का गोपन नहीं करना ही वीर्याचार है‡। इस तरह प्रस्तुत सूत्र मे पांचों आचारों का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध मे

आचाराङ्ग सूत्र दो श्रुतस्कन्धो मे विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के नव अध्ययन है। आगमो मे ब्रह्मचर्य के नाम से भी इसका उल्लेख किया गया है। स्थानाङ्ग सूत्र में लिखा है—'ब्रह्मचर्य के नव अध्ययन हैं—१-शस्त्र परिज्ञा, २-लोक विजय, ३-शीतोष्णीय, ४-सम्यक्त्व, ५-लोकसार, ६-धूत, ७-विमोह, ८-उपधान और ९-महापरिज्ञा॥।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है कुशल अनुष्ठान। अस्तु, जिस आगम में कुशल अनुष्ठान-संयम साधना का वर्णन है, उसे ब्रह्मचर्य अध्ययन कहते हैं। प्रस्तुत आगम में साध्वाचार का ही विशेष रूप से वर्णन होने से इसका ब्रह्मचर्य अध्ययन नाम दिया गया है।

॥ तिन्नव य गुत्तीओ पंच समिइओ अट्ठ मिलियाओ।
पवयण माईउ इमा तासु ठिओ चरण मपन्नो॥

† अणसणमूणोयरिया, वित्ति सखेवण रसच्चाओ।
कायकिलेसो सलीणया य वज्झो तवो होइ॥
पायच्छित्त विणओ, वेयावच्च तहेव सज्झाओ।
झाण उस्सग्गो विय, अब्भितरओ, तवो होइ॥

‡ अणिगूहिय वलविरिओ, परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो।
झाण उस्सग्गोविय, अब्भितरओ तवो होइ॥

॥ णव बभचेरा प० तंजहा—सत्थपरिन्ना, लोग विजओ जाव उवहाणसुय महापरिण्णा।
—स्थानाङ्गसूत्र, ९, ६६२।

अनाथी मुनि—भगवान महावीर के युग का एक श्रमण, जिसने मगधाधिपति श्रेणिक को जीवन का यथार्थ रहस्य बताया था, उसे प्रतिबोध दिया था।

अनादित्व—पदार्थ के अस्तित्व में आने की कोई आदि नहीं है। अर्थात् जो पदार्थ अनन्त काल से विद्यमान है, उस का कभी सर्वथा अभिनव निर्माण नहीं हुआ।

अनार्य देश—जहां के लोगों में आर्यत्व-अहिंसा, दया, प्रेम, स्नेह, सत्य आदि का अभाव था। जो कठोर हृदय वाले एवं निर्दयी तथा परपीड़न में आनन्द मनाने वाले थे।

अनावृत—खुला हुआ, नग्न, पर्दे से रहित।

अनुकम्पा—किसी भी दुःखी प्राणी को पीड़ित देखकर आत्मा में कम्पन होना। दया-भाव जागृत होना।

अनुपभुक्त—जो पदार्थ अभी भोगा नहीं गया है।

अनुभवन—अनुभूति या अनुभव होना।

अनुभाग बन्ध—बन्धने वाले कर्मों का अनुभाग रस कैसा है? शुभ है या अशुभ, मन्द है या तीव्र? इस तरह कर्म में रस के परिपाक को अनुभाग-बन्ध कहते हैं।

अनुमोदन—समर्थन।

अनुवर्तन—परिभ्रमण करना, घूमते रहना।

अनुष्ठान—क्रिया, साधना।

अनोघतर—संसार-प्रवाह को तैरने में असमर्थ व्यक्ति।

अप्काय—जिन जीवों ने पानी के शरीर को धारण कर रखा है।

अप्रतिज्ञ— इच्छा, वासना एवं कामना से रहित।

अप्रतिबन्ध-विहारी—वायु की तरह बिना किसी प्रतिबन्ध के विचरण करने वाला साधक।

अपरिज्ञात—अनजान, जिसे किसी पदार्थ के स्वरूप का बोध नहीं है।

अपरिमित—असीम (Boundless) जिसकी कोई सीमा या मर्यादा नहीं है।

अपवर्ग—मोक्ष या मुक्ति।

अपवाद—संयम-रक्षा के लिए विशेष परिस्थिति में जिस मार्ग का अवलम्ब लिया जाए।

अपारंगम — संसार-समुद्र को पार करने में असमर्थ व्यक्ति।

अपौरुषेय—जो पुरुष द्वारा निर्मित नहीं है अर्थात् ईश्वर द्वारा उपदिष्ट शास्त्र।

अभक्ष्य—जो पदार्थ खाने योग्य नहीं है।

अभ्याख्यान—अपलाप करना।

अभिग्रह—प्रतिज्ञा विशेष।

अमनोज्ञ— चारित्र से हीन शिथिलाचारी साधु या चारित्र एवं श्रद्धा से भ्रष्ट या रहित साधु-संन्यासी।

अयोगी गुणस्थान—आत्म-साधना का चरम विकास, इस गुणस्थान की आयु

प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्र-परिज्ञा है। शस्त्र दो प्रकार का होता है— १-द्रव्य शस्त्र और २-भाव शस्त्र। लाठी, तलवार, पिस्तौल, वस्त्रादि द्रव्य-शस्त्र हैं और राग-द्वेष, काम-क्रोधादि भाव शस्त्र हैं। 'परिज्ञा' का अर्थ है— शस्त्रों की भयकरता एव उनके द्वारा बढने वाले ससार परिभ्रमण के स्वरूप को जानकर उनका परित्याग करना। द्रव्य और भाव शस्त्रों का त्याग करना साधना का पहला कदम है। प्रस्तुत अध्ययन मे इसी का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है।

द्वितीय अध्ययन का नाम लोक विजय है। लोक-संसार भी दो प्रकार का है— १-द्रव्य और २-भाव। द्रव्य लोक ४ गति रूप है और राग-द्वेष भाव लोक है। राग-द्वेष के कारण ही आत्मा द्रव्य लोक में परिभ्रमण करती है। अत राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करना ही लोक—संसार पर विजय प्राप्त करना है। प्रस्तुत अध्ययन मे इसी का वर्णन किया गया है।

तृतीय अध्ययन का शीतोष्णीय नाम है। शीत का अर्थ है— अनुकूल परीषह और उष्ण का अभिप्राय है — प्रतिकूल परीषह। प्रस्तुत अध्ययन मे यही बताया गया है कि साधना के पथ पर गतिशील साधु को अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों के उत्पन्न होने पर समभाव रखना चाहिए।

चतुर्थ सम्यक्त्व अध्ययन है। प्रस्तुत अध्ययन मे समभाव की साधना का उपदेश दिया गया है। साधु को दृष्टि मोह का त्याग करके अचल भाव से साधना मे सलग्न रहने का वर्णन किया गया है।

पाचवा लोकसार अध्ययन है। रत्नत्रय— सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही लोक मे सार पदार्थ हैं। अत प्रस्तुत अध्ययन मे कषाय त्याग एवं रत्नत्रय की साधना करने का उल्लेख किया गया है।

षष्ठम धूत अध्ययन है। धूत का अर्थ है— परिजनों के सग —आसक्ति का का त्याग करना। क्योंकि, पारिवारिक स्नेह एवं मोह साधक को ससार से ऊपर नहीं उठने देता है। अत मुमुक्षु को उनके सग—साथ का त्याग करना चाहिए। प्रस्तुत अध्ययन मे इसी का उल्लेख किया गया है।

सातवा विमोह अध्ययन है। मोह एव राग-भाव उत्पन्न परीषहों पर विजय प्राप्त करना ही साधक की सच्ची विजय है। अत' मोह से उत्पन्न होने वाले कष्टों से घबराकर साधु को यन्त्र-मन्त्र का सहारा नहीं लेना चाहिए। प्रस्तुत अध्ययन में इसी का उपदेश दिया गया है। परन्तु, वर्तमान मे प्रस्तुत अध्ययन उपलब्ध नहीं है।

अष्टम अध्ययन का नाम उपधान या विमोक्ष है। उपधान का अर्थ तप होता

है। मुक्ति की प्राप्ति के लिए कर्म का नाश करना आवश्यक है। कर्म निर्जरा के लिए तप अनिवार्य है। इसलिए इसमे यह बताया गया है कि साधु को वस्त्र-पात्र में कमी करके परीषहों को सहन करना चाहिए और पण्डित मरण को प्राप्त करने के लिए संलेखना एवं अनशन व्रत को स्वीकार करके संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए।

नवम अध्ययन का नाम महापरिज्ञा है। इसमें भगवान महावीर की साधना का उल्लेख किया गया है। महा का अर्थ है— महान् और परिज्ञा का अर्थ है— संसार के स्वरूप को जानकर उसका परित्याग करना और परीषहों के उत्पन्न होने पर भी त्याग मार्ग से च्युत नहीं होना। भगवान महावीर की साधना सर्वोत्कृष्ट साधना थी। उसका अनुशीलन-परिशीलन करके मन में परीषहों को सहने की भावना जागृत होती है। अस्तु प्रस्तुत अध्ययन में भगवान महावीर की विशिष्ट साधना का उल्लेख करके साधु को अपने साधना पथ पर दृढ़ता से चलने का उपदेश दिया गया है। प्रस्तुत आगम के द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे प्रायः साध्वाचार का वर्णन किया गया है। वह पांच चूला रूप है और उसके १६ अध्ययन हैं।

निर्युक्तिकार का कहना है कि आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के १८ हज़ार पद हैं। पञ्चचूलात्मक द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पदों की संख्या इससे भिन्न है*। टीकाकार ने भी निर्युक्तिकार के विचारों का समर्थन किया है। आचाराङ्ग वृत्ति के रचयिता शीलांक आचार्य, नवाङ्गी वृत्तिकार आचार्य अभयदेव सूरि एवं आचार्य मलयगिरि प्रभृति टीकाकारों ने भी येन-केन प्रकारेण निर्युक्तिकार के मत को ही परिपुष्ट किया है।

परन्तु, जब हम आगमों का अनुशीलन-परिशीलन करते हैं, तो निर्युक्तिकार का मत उचित प्रतीत नहीं होता है। आगमों में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि "चूलिका सहित आचाराग भगवान के १८ हजार पद है।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही नहीं, अपितु उभय श्रुतस्कन्धों के १८ हजार पद हैं†। प्रस्तुत पाठ की टीका मे आचार्य अभय देव सूरि ने निर्युक्ति के मत को ही पुष्ट करने का असफल प्रयत्न किया है। वे लिखते हैं कि "प्रस्तुत में जो पद सख्या दी गई है वह समग्र आचाराङ्ग की नहीं, प्रत्युत नव अध्ययनात्मक प्रथम श्रुतस्कन्ध की समझनी चाहिए। क्योंकि निर्युक्ति-

---

* नव बभचेरमइयो अट्ठारस पयसहस्सियो वे ओ।
हवइ य सपच चूलो बहु-बहुत्तरओ पयग्गेण ॥
—आचारांग निर्युक्ति।

† आयारस्स ण भगवओ सचूलियागस्स अट्ठारस्स पय सहस्साइ पयग्गेण।
—समवायाङ्ग सूत्र १८।

कार ने केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही १८ हजार पद बताए है, चूलिका सहित सम्पूर्ण आचाराङ्ग के नहीं। मूल पाठ में जो 'चूलिका सहित (सचूलियागस्स) पद दिया है, उस का अभिप्राय केवल चूलिकाओं की सत्ता का प्रतिपादन करना है, न कि चूलिका सहित समग्र आचाराङ्ग की पद सख्या बतलाना। अत प्रथम श्रुतस्कन्ध के १८ हजार पद है और सूत्रों का अर्थ बहुत विचित्र है। इसलिए वह गुरु परम्परा से ही समझा जा सकता है*।

प्रस्तुत विवेचन मे आचार्य अभयदेव सूरी ने निर्युक्ति का अंधानुकरण किया है। आगम का मूल पाठ सम्पूर्ण आचाराङ्ग १८ हजार पदों का स्पष्ट उल्लेख कर रहा है, फिर भी टीकाकार उसे इसलिए नहीं मान रहे है कि निर्युक्तिकार उससे सम्मत नही है। वे निर्युक्ति को आगम से अधिक प्रामाणिक मानते है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी टीका में जो नन्दी सूत्र के टीकाकार का उल्लेख किया है, वह भी आगम के अनुकूल नहीं है। नन्दी सूत्र के मूल पाठ मे स्पष्ट शब्दों मे कहा गया है कि 'प्रथम अङ्ग (आचाराग सूत्र) के दो श्रुतस्कन्ध हैं, पच्चीस अध्ययन है, ८५ उद्देशन काल, ८५ समुद्देशन काल हैं और १८ हजार पद हैं†। प्रस्तुत पाठ मे आचाराग के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा गया है, वह स्पष्ट ही है। इसमे आचाराग के उभय श्रुतस्कन्धों के १८ हजार पद स्वीकार किए हैं, केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के नहीं। यदि सूत्रकार को प्रथम श्रुतस्कन्ध के १८ हजार पदों का उल्लेख करना होता तो वे सम्पूर्ण सूत्र के अग-प्रत्यगो का वर्णन करने से पूर्व ही उसका उल्लेख कर देते। परन्तु, ऐसा नहीं किया गया, इससे स्पष्ट होता है कि दोनों श्रुतस्कन्धों के १८ हजार पद हैं।

आचार्य मलयगिरि ने उक्त सूत्र की टीका करते समय अभयदेव सूरि का ही अनुकरण किया है। उन्होंने जिस रूप मे निर्युक्ति का समर्थन किया है, उससे उनकी परवशता ही झलकती है। पद प्रमाण के विषय में आप प्रश्नोत्तर के रूप मे लिखते हैं

---

* सच नव ब्रह्मचर्याभिधानाध्ययनात्मक प्रथमश्रुतस्कन्ध रूप तस्यैवचेदं पदप्रमाण न चूलानाम्, यदाह—"नव बभचेरमइओ अट्ठारसस पय सहस्सीओ वेओ, हवइ य सपच चूलो बहु बहुतरओ पयग्गेण ॥१॥ त्ति। यच्चसचूलिकाकस्येति विशेषण तत्तस्य चूलिकासत्ता प्रतिपादनार्थम् नतुपदप्रमाणाभिधानार्थम्। यतोऽवाचि नन्दी टीका कृता—'अट्ठारस पय सहस्साणि पुणपढमसुयखधस्स, नव बभचेरमइयस्स पमाण' विचित्तत्थाणिय सुत्ताणि गुरुवएसओ तेसिं अत्थो जाणिअव्वो। —समवायाग टीका।

† पढमे अगे दो सुयखधा, पणवीस अज्झयणा, पचासीई उद्देसणकाला पचासीईं समुद्देसणकाला, अट्ठा रस पय सहस्साणि पयग्गेण।

—नन्दी सूत्र, द्वादशागी वर्णन

कि यदि आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध, २५ अध्ययन और १८ हजार पद माने तो निर्युक्तिकार के कथन से विरोध होगा। क्योंकि वे प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही १८ हजार पद मानते है। जब कि नन्दी सूत्र के मूल पाठ मे दोनों श्रुतस्कन्धो के १८ हजार पद माने है? इस प्रश्न के समाधान मे वे लिखते है कि 'प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कन्ध और २५ अध्ययन है, परन्तु १८ हजार पद सम्पूर्ण आचाराग के नहीं, केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही है। इस सूत्र से यही अर्थ अभिप्रेत है। क्योंकि सूत्र अर्थ विलक्षण होता है। अत गुरुपरपरा से ही उसे समझा जा सकता है❀।

इससे यही स्पष्ट होता है कि टीकाकारों को निर्युक्ति के विचारों का मोह है। जबकि आचार्य मलयगिरि स्वयं मानते है कि मूल पाठ मे समग्र आचाराङ्ग के १८ हजार पद माने हैं। परन्तु, वे उसका इसलिए समर्थन नहीं कर पा रहे है कि निर्युक्तिकार इससे सहमत नही है। इससे ऐसा प्रतात होता है कि उन्होंने अपनी बुद्धि एव चिन्तन स्वातन्त्र्य को भी खो दिया।

हम यह नहीं समझ पाए कि प्रस्तुत पाठ मे अर्थ वैचित्र्य क्या है? और गुरु परम्परा क्या है? नन्दी सूत्र मे सूत्रकृताङ्ग के सम्बन्ध में भी ऐसा ही पाठ मिलता है कि "दूसरे अंग (सूत्रकृताङ्ग सूत्र) के दो श्रुतस्कन्ध, २३ अध्ययन, ३३ उद्देशनकाल, ३३ समुद्देशन काल और ३६ हजार पद हैं†। आचाराङ्ग सूत्र के जैसा वर्णन होने पर भी टीकाकार ने प्रस्तुत आगम के दोनों श्रुतस्कन्धो के ३६ हजार पद माने हैं। इससे स्पष्ट होता है कि टीकाकारो ने अपनी बुद्धि से विना सोचे-समझे ही निर्युक्ति का अनुकरण मात्र किया है। अत. यह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है और जब मूल पाठ सामने हो तब निर्युक्ति किसी भी तरह प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। क्योंकि मूल पाठ स्वत प्रमाण है और निर्युक्ति एवं टीका आदि परत प्रमाण है। अत. इससे यही सिद्ध होता है कि समग्र आचाराङ्ग के ही १८ हजार पद हैं।

आचाराङ्ग की भाषा

भाषा ग्रंथ का प्राण है। किसी भी ग्रंथ के आन्तरिक एवं बाह्य परिचय को प्राप्त करने के लिए भाषा एक महत्वपूर्ण साधन है। उससे ग्रन्थ का यथार्थ स्वरूप सामने आ

❀ समवायाङ्ग टीका।

† बिइए अगे दो सुयक्खधा, तेवीस अज्झयणा, तित्तीस उद्देसण काला, तित्तीस समुद्देसण काला, छत्तीस पयसहस्साणिपयग्गेण।

— नन्दी सूत्र, द्वादशांगी अधिकार।

जाता है और उसके आधार पर किया गया निर्णय अधिक प्रामाणिक एवं सतोषप्रद होता है ।

जैनागमों मे यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि तीर्थंकर अर्द्धमागधी भाषा मे उपदेश देते हैं❀ । केवल तीर्थकर ही नहीं, प्रत्युत देव एव आर्य पुरुप भी अर्द्धमागधी भाषा में बोलते है। भगवती एव प्रज्ञापना सूत्र मे इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि देवों एवं आर्यों की अर्द्धमागधी भाषा है† । इससे यह स्पष्ट होता है कि अर्द्धमागधी भाषा गहन-गम्भीर एव श्रेष्ठ मानी गई है । ऐतिहासिक अन्वेषण से भी यह स्पष्ट होता है कि यह भारत की अति प्राचीन भाषा रही है । सस्कृत का उद्गम भी इसी भाषा से हुआ है ।

प्रस्तुत आगम भी अर्द्धमागधी भाषा मे रचा गया है । प्रस्तुत आगम की भाषा एव शैली अधिक प्राचीन है । इसमे आर्ष अर्द्धमागधी के अधिक प्रयोग मिलते है । इसका प्रत्येक पद अर्थ गाम्भीर्य, पद लालित्य एव भाषा सौष्ठव को लिए हुए है । इससे यह स्पष्ट होता है कि आचाराङ्ग सूत्र सबसे प्राचीन है और इसी कारण इसकी अत्यधिक महत्ता है ।

सूत्र शब्द का विश्लेषण

जैन परम्परा मे आगमों का सूत्र के नाम से भी उल्लेख किया गया है । आचाराङ्ग श्रुत-आगम साहित्य का सर्व प्रथम सूत्र ग्रथ है । सूत्र शब्द के भेद एव उसकी व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु बृहत्कल्प सूत्र की निर्युक्ति मे लिखते हैं—१-सूत्र अर्थ से अबोधित होता है, २-सुप्त है, ३-श्लेष है, ४-सूक्त है, ५-सूचक हैं, ६—सूचिका-सूई है, ७-उत्पादक है, ८—अनुसरण कर्ता है ।

❀ भगवयण अद्धमागहिए भासाए धम्ममाइक्खइ । — समवायाङ्ग सूत्र, ३४ ।

अद्धमागहाए भासाए भासइ अरिहा धम्म परिकहेइ । — औपपातिक सूत्र ।

† से कि त भासारिया ? भासारिया जे ण अद्धमागहए भासाए भासेंति तत्थवि य ण जत्थ बभी लिवी पवत्तइ । बभिए ण लिविए अट्ठारस्स विहे लेक्ख विहाणे प० त० बभी१ जवणाणियार२ दोसाउरिया३ खरोट्टी४- पुक्खरसारिया५ भोगवइया६ पहराइया७ अतक्ख-रियाट८ अक्खरपुट्ठिया९ वेणइया१० निण्हइया११ अकलिवी१२ गणियलिवी१३, गन्धव्वलिवी१४ आयमलिवी१५ माहेसरी१६ दामिलिवी१७ पोलिंदी१८ सेत भासारिया ।

— (प्रज्ञापना १ पद)

देवाण भंते ! कयराए भासाए भासति ? कयरा वा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति? गोयमा ! देवाण अद्धमागहाए भासाए भासति सावि य ण अद्धमागहाभासा भासिज्जमाणी विसिस्सति ।

— भगवती० श० ५ उ० ४, सू० १९१ ।

१-अर्थ से अबोधित— सूत्र अर्थ रूप से विस्तृत शब्दों का संक्षिप्त रूप होता है। उसमें अर्थ अन्तर्निहित रहते हैं।

२-सुप्त— जैसे ७२ कलाओं में प्रवीण पुरुष जब सो जाता है, तब उसे अपनी कलाओं का कोई ज्ञान नहीं रहता है। परन्तु, जागृत होते ही उसका ज्ञान भी जागृत हो जाता है। इसी तरह जब तक सूत्र का अर्थ के द्वारा बोध नहीं कराया जाता, तब तक उसके अर्थ को नहीं जाना जा सकता। परन्तु, ज्यों ही उसके अर्थ का परिज्ञान करा दिया जाता है, त्यों ही वह अपने समस्त अर्थों को अभिव्यक्त करने लगता है।

३-श्लेष— जैसे श्लेष में अनेक तन्तु सुघटित–मिले हुए होते हैं, उसी तरह सूत्र में अनेक अर्थ सन्निहित रहते हैं।

४-सूक्त— सूत्र सुन्दर एवं शोभनीय लगता है। इसलिए इसे सूक्त कहा है।

५-सूचक— सूई खो जाने पर जल्दी नहीं मिलती। परन्तु, यदि वह सूत्र–धागे के साथ हो तो शीघ्र मिल जाती है। सूत्र सूई का सूचक है। इसी तरह सूत्र आगम के अर्थ का परिसूचक है। इससे भगवान के द्वारा उपदिष्ट अर्थ रूप वाणी की सूचना मिलती है।

६-सूचिका— जैसे सूचिका-सूई से वस्त्रों की सिलाई करके उन्हें एक जगह जोड़ लिया जाता है। उसी तरह सूत्र भी अनेक अर्थों को संकलित करता है।

७-उत्पादक— जैसे अग्नि में सूर्यकान्त मणि और जल में चन्द्रकांत मणि अपनी प्रभा को प्रकट करती है, उसी प्रकार सूत्र भी अर्थ का प्रसव-उत्पादन (पैदा) करता है, इसलिए इसे उत्पादक कहते हैं।

८-अनुसरण— अनुसरण द्रव्य और भाव से दो प्रकार का कहा गया है। इसे स्पष्ट करने के लिए एक अन्ध वणिक्पुत्र का दृष्टान्त दिया गया है। एक दिन वैश्य ने सोचा कि यह अन्धपुत्र निकम्मा बैठ कर खाएगा तो इसका तिरस्कार होगा। अतः उस वैश्य ने अपने घर के आगे पीछे दो स्तम्भ खड़े कर दिए और उसमें एक रस्सी बाध दी और उसे कहा कि इस रस्सी के सहारे तुम इस कचरे को बाहर फैंक दिया करो। इस तरह पिता के वचनों का अनुसरण करने से उस का जीवन सम्मान पूर्वक बीतने लगा। यहां आचार्य पिता के तुल्य हैं, साधु अन्धे पुत्र के समान है, सूत्र रस्सी के तुल्य है और अष्ट कर्म कचरे के समान हैं। साधक सूत्र का अनुसरण

करके अष्ट कर्ममल से रहित हो जाता है, अत. इसे अनुसरण कहा है* ।

इसके अतिरिक्त सूत्र के और भी भेद बताए गए है। इस सम्बंध मे निर्युक्तिकार कहते हैं कि सूत्र तीन प्रकार का होता है—१-सज्ञा सूत्र, २-कारक सूत्र और ३-प्रकरण सूत्र अथवा उत्सर्ग और अपवाद के भेद से भी सूत्र दो प्रकार का होता है। इसमे उत्सर्ग अल्प है या अपवाद ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि उभय सूत्र अपने अपने स्थान पर श्रेयस्कर और बलवान हैं† ।

सज्ञा सूत्र—जो सूत्र सामयिक संज्ञा के द्वारा किसी बात का निर्देश करता है, उसे सज्ञा सूत्र कहते है। जैसे—'जे छेए से सागारिय परियाहरे' आचाराग सूत्र के इस पाठ मे मैथुन के लिए 'सागारिय' शब्द का प्रयोग किया है । इसी तरह दोष के लिए 'आमगन्ध' ससार के लिए 'आर' और मोक्ष के लिए 'पार' शब्द का प्रयोग किया गया है । ये सब सज्ञा सूत्र है। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि सज्ञा सूत्र का प्रयोग करने से क्या लाभ है ? इससे सब से महत्वपूर्ण लाभ यह होता है कि पारस्परिक सभ्यता एव शिष्टता का पालन होता है। जैसे प्रवचन करते समय या कभी साध्वी को सूत्र का अध्ययन कराते समय मैथुन आदि अशिष्ट शब्दो के स्थान मे 'सागरिय' आदि सज्ञा शब्दों का प्रयोग करने से व्यवहारिक शिष्टता का भग नहीं होता है और साध्वी

---

* सुत्त तु सुत्तमेव उ, अहवा सुत्त त् त भवो लेसो।
अत्थस्स सूयणा वा, सुवृत्ताविइ वा भवे सुत्त ।।
नेरुत्तियाइ तस्स उ सूयइ सिव्वइ तहेव सुवइत्ति ।
अणुसरतित्तिय भेया, तस्स उ नामा इमा हुति ।।
पासुत्तसम सुत्त अत्थेणाबोहिय न त जाणे।
लेस सरिसेण तेण अत्था सघाइया वहवे ।।
सुइज्जइ सुत्तेण सूई नट्ठावि तह सुएणत्थो।
सिव्वइ अत्थ पयाणि व, जह सुत्त कचुगाईणि ।।
सूरमणी जलकतो व अत्थमेव तु पसवई सुत्त।
वणिय सुयव कयवरे तदणुसरतो रय एव ।।

— बृहत्कल्प निर्युक्ति, गाथा ३१०—३१४ ।

† सन्ना य, कारगे, पकरणे य सुत्त तु त भवे तिविह ।
उस्सग्गे, अववाए, अप्पे सेए य बलवते ।।

— बृहत्कल्प निर्युक्ति, ३१५।

एवं अन्य उपस्थित व्यक्तियों को लज्जित होने का प्रसंग भी उपस्थित नहीं होता है† ।

कुछ विचारक सज्ञा सूत्र का यह अर्थ करते है कि जिसमे किसी अर्थ का सामान्य रूप से निर्देश किया जाए । वस्तुत वस्तु के नाम निर्देश को सज्ञा कहते हैं। अत. नाम निर्देशक सूत्र सज्ञा सूत्र कहलाते है ।

कारक सूत्र—जिस सूत्र में विचार-चर्चा या शंका समाधान के द्वारा किसी विधान की परिपुष्टि की जाए उसे कारक सूत्र कहते हैं । जैसे—भगवती सूत्र मे यह उल्लेख किया गया है कि "आधाकर्मी आहार करने वाला साधु आयु कर्म के अतिरिक्त अन्य सात कर्मों की कर्म प्रकृतियो का बन्ध करता है‡ ।" इसके बाद गौतम स्वामी इसके सम्बन्ध मे विशेष जानकारी करने के लिए भगवान से प्रश्न पूछते हे और शका-समाधान के द्वारा वस्तु का निर्णय करते हैं। इस तरह विचार-चर्चा के द्वारा किए गए निर्णय को कारक सूत्र कहते है ।

प्रकरण सूत्र—जिन सूत्रों मे स्व समय की अपेक्षा से ही आक्षेप और निर्णय का वर्णन किया गया हो उसे प्रकरण सूत्र कहते हैं। नमिपवज्जा, गौतमकेसीय, नालन्दीयादि, उत्तराध्ययन और सूत्रकृताग आदि के अध्ययन प्रकरण सूत्र की शैली मे रचे गए हैं।

उत्सर्ग और अपवाद

निर्युक्तिकार ने सूत्र के उत्सर्ग और अपवाद दो भेद किए हैं तथा उत्सर्ग, अपवाद और उत्सर्ग-अपवाद ये तीन और उत्सर्ग, अपवाद, उत्सर्ग-अपवाद और अपवाद-उत्सर्ग ये चार भेद भी किए है। जो सूत्र निषेध प्रधान है, वह उत्सर्ग सूत्र है, जो विधि प्रधान है वह अपवाद सूत्र, जो निषेध और विधि प्रधान है वह उत्सर्ग-अपवाद सूत्र है और जो विधि और निषेध प्रधान है वह अपवाद-उत्सर्ग सूत्र है। जैसे—साधु साध्वी को अपक्व ताल फल अभिन्न (बिना काटा हुआ) लेना नहीं कल्पता, यह उत्सर्ग सूत्र है। साधु को पक्व (पका हुआ) ताल फल भिन्न या अभिन्न लेना कल्पता है, यह अपवाद सूत्र है। साधु-साध्वी को परस्पर एक दूसरे के प्रस्रवण को देना—लेना या उसका उपयोग करना नही कल्पता परन्तु असाध्य रोग एवं विशेष परिस्थिति मे एक दूसरे को लेना देना भी

---

† वृहत्कल्प निर्युक्ति, ३१६ ।

‡ आहाकम्मन्न भुजमाणे समणे निग्गथे कइ कम्म पगडीओ बधंति ? गोयमा ! आउ वज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ। से केणट्ठेण भंते ! एव वुच्चइ ?

— भगवती सूत्र, १, ६ ।

कल्पता है और साधु-साध्वी फल का गुद्दा तो ग्रहण करले, परन्तु गुठली को ग्रहण न करे❋।

पहला उदाहरण पूर्णत निपेध का है। साधु को कच्चा तालफल लेना नहीं कल्पता, यह उत्सर्ग मार्ग है। परन्तु वह फल पक्व हो तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है, यह अपवाद मार्ग है। शेप दो भेद क्रमश उत्सर्ग अपवाद और अपवाद-उन्सर्ग के है और वे इस विधि और निपेध को साथ लेकर ही वनाए गए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि निवृत्ति उत्सर्ग मार्ग है और प्रवृत्ति अपवाद मार्ग है।

परन्तु, हैं दोनों ही मार्ग। साधक सदा-सर्वदा उत्सर्ग मार्ग पर गति नहीं कर सकता है। जैसे पटना या कलकत्ता आदि शहरों को जाने वाला पथिक निरन्तर दौडता हुआ राह को तय नही कर सकता है। इतने लम्बे मार्ग को पार करने के लिए वह रास्ते मे बैठता भी है, शयन भी करता है, आहार-पानी भी करता है, मल-मूत्र का भी त्याग करता है, तब वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुचता है। इसी तरह साधक भी साधना पथ पर चलते २ विघ्न—बाधाएं या रोग आदि के उपस्थित होने पर अपवाद मार्ग का सहारा न ले तो वह शुद्ध सयम का पूर्णरूपेण परिपालन नहीं कर सकता। अत महा-पुरुपों ने उत्सर्ग और अपवाद दोनों को मार्ग कहा है और अपने अपने स्थान पर दोनों को श्रेयस्कर एव समान बल वाला कहा है। परन्तु पर-स्थान मे दोनों अश्रेयस्कर है। स्व-स्थान और पर स्थान साधक की अपेक्षा से हैं। समर्थ साधक के लिए उत्सर्ग स्व-स्थान एव अपवाद पर-स्थान है और असमर्थ साधक के लिए रोगादि अवस्था मे अपवाद स्व-स्थान और उत्सर्ग पर-स्थान है। जिस समय साधक स्वस्थ है, परीपहों को सहन करने मे सक्षम है, उस समय यदि वह अपवाद मार्ग का अवलम्बन लेता है, तो अपवाद मार्ग उसके लिए परस्थान है, अश्रेयस्कर है। इसी तरह अस्वस्थ एवं विकट परिस्थिति मे साधक परीषहों को सहने में सक्षम नही है, उसका मन डावा-डोल हो रहा है, उस समय अपवाद मार्ग उसके लिए स्वस्थान है, श्रेयस्कर है। यदि ऐसी स्थिति मे वह अपवाद मार्ग पर न चलकर उत्सर्ग पर चलने का ही हठ रखता है, तो उसकी साधना में पूर्ण विशुद्धता नहीं रह पाती। इसी अपेक्षा से यह कहा गया है कि साधक

❋ (१) नो कप्पइ निग्गथाण-निग्गथीण वा आमे तालपलवे अभिन्ने पडिगहितए। (२) कप्पइ निग्गथाण-निग्गंथीण पक्के तालपलवे भिन्नेऽभिन्ने वा पडिगहितए। (३) नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीणं वा अन्नमन्नस्स मोयं आदित्तए वा आयमित्तए वा अन्नत्था गाढेहिं रोगायकेहिं। (४) चम्ममस च दलाहि मा अट्ठियासि।

—बृहत्कल्प सूत्र, १, १, १, ३, ५, ४७-४८ आचाराग सूत्र।

को अपनी योग्यता के अनुसार परिस्थितिवश अपवाद मार्ग का अवलम्बन लेना पड़े तब भी वह साधना पथ से च्युत नही होता है, उसके महाव्रतों का भग नहीं होता है। क्योंकि उत्सर्ग की तरह अपवाद भी साध्य को सिद्ध करने का मार्ग है और उस मार्ग पर चलने की भी वीतराग (तीर्थंकर) भगवान की आज्ञा है। और आज्ञा मे प्रवृत्ति करना धर्म है❀।

निर्युक्तिकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि आगम में उत्सर्ग और अपवाद दोनो तरह के सूत्र मिलते हैं। साधक के लिए दोनों मार्गों का अवलम्बन लेने की आज्ञा दी गई है अत दोनो ही मार्ग अपने-अपने स्थान पर श्रेयस्कर है और दोनों मार्गों का अवलम्बन लेकर ही साधक अपने साध्य को सिद्ध करता है। अत उत्सर्ग के द्वारा अपवाद प्रसिद्ध है और अपवाद के द्वारा उत्सर्ग प्रसिद्ध है। दोनो ही समान वल वाले है, इन मे कोई छोटा-वडा नहीं है†।

सूत्र का लक्षण

सूत्र शब्द की परिभाषा करते हुए निर्युक्तिकार ने लिखा है कि "जो अक्षर संख्या मे अल्प और अर्थ से महान एव विराट हो तथा वत्तीस दोष से रहित एव आठ गुणों से सयुक्त हो उसे सूत्र कहते हैं‡।" प्रस्तुत गाथा में उल्लिखित "थोड़े शब्दों में विस्तृत अर्थ को व्यक्त करने वाला सूत्र कहलाता है।" यह सूत्र का लक्षण है और "वह ३२ दोषों से रहित एवं अष्ट गुणों से युक्त है" यह अंश उसकी विशेषता को प्रकट करता है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि निर्युक्ति मे सूत्र के जिन ३२ दोषों एवं अष्ट गुणों का उल्लेख मिलता है, वह निर्युक्तिकार का अपना अभिमत है, मूल आगमों में इस सवन्ध मे कोई उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु ऐसी वात नही है। आगमो मे भी सूत्र के गुण-दोषो का उल्लेख मिलता है। अनुयोग द्वार सूत्र मे भी सूत्र के आठ गुणो एवं ३२ दोषो का वर्णन मिलता है❀। निर्युक्तिकार ने ३२ दोषों का इस प्रकार

❀ आणाए धम्म। — आचाराङ्ग सूत्र।

† वृहत्कल्प निर्युक्ति गाथा ३१९-३२३।

‡ अप्पग्गन्थ महत्थ वत्तीसा दोस विरहिय ज च।
लक्खण जुत्त सुत्त, अट्ठगुणेहि उववेय॥
— वृहत्कल्प निर्युक्ति ३२४।

❀ वत्तीसे अट्ठगुणे तिण्णि विय वित्ताइ।
एए नव क्खरमा वत्तीसा दोस विहि समुप्पण्णा।
— अनुयोग द्वार सूत्र, ४६, ८२।

उल्लेख किया है—

१- अनृतदोष—सत्य का अपलाप करना एव असत्य की स्थापना करना अनृत दोष है। जैसे—अनादि काल से चले आ रहे जगत को ईश्वर कर्तृक बतलाना असत्य की स्थापना करना है और आत्मा, परलोकादि के अस्तित्व का निषेध करना सत्य का अपलाप करना है।

२-उपघात—हिसा का विधान करना उपाघात दोष है। जैसे-वेद विहित हिसा हिसा (पाप) नहीं, धर्म है।

३-निरर्थक—जिस सूत्र मे मात्र वर्णों का निर्देश हो, परन्तु उसका कोई अर्थ न निकलता हो, वह सूत्र का निरर्थक दोष है। जैसे-अ आ इ ई या डित्थ-डवित्थ आदि।

४-अपार्थक—जो सूत्र असम्बद्धार्थक हो या अर्थ के संबंध से शून्य हो, उसे अपार्थक कहते है। जैसे-दशदाडिमानि षडूपूया आदि।

५-छल- जहा विवक्षित अर्थ का अनिष्ट अर्थान्तर के द्वारा उपघात किया जाए, उसे छल कहते हैं। जैसे-किसी ने कहा-देवदत्त के पास नव (नया) कम्बल है। उसने 'नव' शब्द का नवीन के अर्थ में प्रयोग किया है। परन्तु कोई व्यक्ति यह कह कर उसका विरोध करे कि उसके पास नव (९) कम्बल कहां हैं? वह नवीन अर्थ मे प्रयुक्त नव शब्द को सख्यावाची बनाकर विरोध करे तो यह छल है।

६-द्रुहिल—जो सूत्र साधक को अहितकर उपदेश दे और पाप कार्य का परिपोषक हो उसे द्रुहिल कहते है।

७-निस्सार—जिस सूत्र मे कोई युक्ति या तर्क न हो, केवल शब्दाडम्बर हो उसे निस्सार कहते हैं।

८-अधिक—जिस सूत्र मे पद या अक्षर अधिक हों या एक हेतु या उदाहरण से अर्थ की सिद्धि होने पर भी कई हेतु एव उदाहरण दिए हों, उसे अधिक दोष कहते हैं।

९—ऊन—जिस में अक्षर, मात्रा, पद आदि कम हों, वह सूत्र ऊन दोष वाला कहा जाता है। जैसे— जैसे कृतक होने से शब्द अनित्य है। यहा उदाहरण की कमी है।

१०-पुनरुक्त—एक ही बात को पुन २ दोहराना पुनरुक्त दोष कहलाता है।

११-व्याहत—जिस सूत्र मे पूर्व कथन का पर वाक्य से खण्डन होता है उसे व्याहत दोष कहते हैं।

१२-अयुक्त—जो वाक्य उपपत्ति से युक्त न हो उसे अयुक्त दोप कहते हैं।

१३-क्रमाभन्न—जिस मे पदार्थों को क्रमश न रखा जाए उसे क्रमभिन्न दोप कहते हैं। जैसे—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्श इन्द्रिय न कहकर घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, स्पर्श और रसनेन्द्रिय कहना क्रमभिन्न दोष है।

१४-वचनभिन्न—जिस सूत्र मे विशेष्य और विशेषण मे वचन भिन्न हो, उसे वचनभिन्न दोप कहते हैं।

१५-विभक्ति मिन्न—जिस सूत्र मे विशेष्य और विशेषण में विभक्ति भिन्न हो उसे विभक्ति भिन्न दोप कहते हैं।

१६-लिग भिन्न—जिस सूत्र मे विशेष्य और विशेषण में लिंगभिन्न हो उसे लिगभिन्न दोप कहते हैं।

१७-अनभिहित—अपनी सैद्धान्तिक मान्यता के विरुद्ध पदार्थों का वर्णन करना अनभिहित दोप है।

१८-अपद—पद्य-छन्द के संबन्ध में अनुचित योजना करना अपद दोष है।

१९-स्वभावहीन—जिस सूत्र में वस्तु स्वभाव से विपरीत चित्रण किया जाए, उसे स्वभावहीन दोष कहते हैं।

२०-व्यवहित—प्रासगिक विपय को छोड़ कर अप्रासंगिक विषय का वर्णन करना और पुन प्रासंगिक विषय पर आ जाना व्यवहित दोष है।

२१-कालदोष—जिस सूत्र मे भूत, भविष्य और वर्तमान काल का ध्यान न रखा हो वह कालदोप कहलाता है।

२२-यतिदोष—पद्य या गद्य रचना में पूर्णविराम, अर्धविराम आदि का ध्यान न रखना यतिदोप है।

२३-छविदोष—जहा पर कोई विशेष अलकार उपयुक्त हो, फिर भी उसे वहां नहीं कहना छविदोष कहलाता है।

२४-समयविरुद्ध—किसी के मान्य सिद्धान्त के विरुद्ध मत की स्थापना करना समय विरुद्ध दोष है। जैसे—वेदान्त को द्वैतवादी और जैनदर्शन को अद्वैतवादी कहना समय विरुद्ध दोष है।

२५-निर्हेतुक—जिस सूत्र में युक्ति-हेतु आदि कुछ न हो, केवल शब्द मात्र हो उसे निर्हेतुक दोप कहते हैं।

२६-अर्थापत्ति—जिस वाक्य का अर्थापत्ति से अनिष्ट अर्थ निकलता हो उसे अर्थापत्ति दोष कहते हैं।

२७-असमास—जिस जगह समास होता हो वहा समास नहीं करना या विपरीत समास करना असमास दोष कहलाता है।

२८-उपमादोष—उपमा दोप दो प्रकार का है—१-हीनोपमा और २-अधिकोपमा। जैसे मेरु पर्वत को सरसों (राई) के दाने की उपमा देना हीनोपमा है और सरसों के दाने को मेरु बताना अधिकोपमा है और ये दोनों दोप हैं।

२९-रूपकदोप—पदार्थ के स्वरूप एव अवयवों का विपरीत रूपक के द्वारा वर्णन करना रूपक दोष है।

३०-निर्देशदोष—निर्दिष्ट पदों में एक रूपता नहीं रखना निर्देष दोष है।

३१-पदार्थदोष—पदार्थ के पर्याय को पदार्थान्तर से वर्णन करना पदार्थ दोप है।

३२-सन्धि दोप—जहा पर सन्धि होती हो वहा सन्धि नहीं करना या विपरीत सन्धि करना सन्धि दोष कहलाता है।

अष्ट गुण

१-निर्दोष—समस्त दोषों से रहित हो।

२-सारवत्—जो अनेक पर्यायों से युक्त हो।

३-हेतुयुक्त—अन्वय, व्यतिरेक आदि हेतुओं से सयुक्त हो।

४-अलकृत—उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलकारों से विभूषित हो।

५-उपनीत—उपनय के द्वारा जिसका उपसहार किया गया हो।

६-सोपचार—जो असभ्य कहावतों से नहीं, बल्कि सभ्य एवं शिष्ट कहावतों से युक्त हो।

७-मित—वर्णादि के नियत परिमाण से युक्त हो।

८-मधुर—जो सुनने मे मधुर हो।

आचाराग सूत्र में प्रयुक्त सूत्रों मे थोड़े शब्दों मे विस्तृत अर्थ समाविष्ट कर दिया गया है और ये सूत्र भी उक्त दोषों से रहित एव गुणों से युक्त है।

आचाराङ्ग का महत्व

यह हम पहले बता चुके हैं कि आचाराङ्ग द्वादशागी का सार है। क्योंकि द्वादशागी के उपदेश का उद्देश्य है—मोक्ष मार्ग को बताना और मोक्ष के लिए आचार का परिपालन करना अत्यावश्यक है। आचाराग मे आचार का ही उपदेश दिया गया है,

अतः यह तीर्थंकरों की वाणी का सार है। अत साधु जीवन के लिए इसका स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन करना तथा इसे आचरण में साकार रूप देना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। व्यवहार सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यदि नव दीक्षित साधु या साध्वी प्रमादवश या रोगादि के कारण आचारांग सूत्र को भूल गई हो तो उसे पूछे कि तू प्रमादवश भूल गई है या रोगादि के कारण यह सूत्र तेरी स्मृति मे नहीं रहा ? यदि वह कहे कि मैं प्रमादवश भूल गई हूं तो उसे कभी भी प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिका आदि पद प्रदान न करे। यदि वह कहे कि रोगादि के कारण यह शास्त्र मेरी स्मृति से ओझल हो गया है और अब मैं पुनः इसे याद कर लूंगी और वह अपनी की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार पुन याद कर ले तो उसे प्रवर्तिनी आदि पद से विभूपित किया जा सकता है। यदि वह अपनी की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार याद न करे तो वह किसी भी पद देने के योग्य नही है*। इसके आगे के पाठ मे यही बात तरुण साधु के लिए कही गई है कि यदि वह प्रमादवश आचाराग सूत्र को भूल जाए तो उसे आचार्य, गणावच्छेदकादि का पद नही देना चाहिए†। प्रस्तुत आगम मे आगे चलकर कहा है कि स्थविर को भी सदा आचारांग का स्वाध्याय करना चाहिए। स्थविर के लिए अनेक सुविधाए दी गई हैं, परन्तु उनके लिए भी आचाराग को स्वाध्याय अनिवार्य बनाया है। आगम मे कहा है कि जब कोई स्थविर रोग के कारण आचारांग को भूल गया हो या भूल रहा हो तो उसका कर्त्तव्य है कि वह बैठे-बैठे या लेटकर या अधिक अस्वस्थ हो तो करवट बदलते हुए आचारांग का स्वाध्याय करे। कहने का तात्पर्य यह है कि वह चाहे जिस स्थिति में क्यों न हो आचाराग का स्वाध्याय अवश्य करे‡। क्योंकि, साधना का मूल आचार ही है।

प्रस्तुत आगम मे एक जगह लिखा है कि यदि तीन वर्ष की पर्याय (दीक्षा) वाला साधु आचार कुशल है, संयम-निष्ठ है और प्रवचन मे पारङ्गत है और कम से कम

---

* निग्गथीए ण नव डहर तरुणियाए आयारप्पकप्पे नाम अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया, सा य पुच्छियव्वा 'केण भे कारणेण' अज्जो ! आयारप्पकप्पे नाम अज्झयणे परिब्भट्ठे, किं आवाहेण पमाएण ? सा य वएज्जा 'नो आवाहेण पमाएण' जावज्जीवाए तीसे तप्पत्तीय नो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, सा य वएज्जा 'आवाहेण नो पमाएणं' सा य सठवेस्सामीति सठवेज्जा, एव से कप्पइ पवत्तिणित्त वा गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा सा य सठवेस्सामीति नो सठवेज्जा एव से नो कप्पइ पवत्तिणित्त वा गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा। — व्यवहार सूत्र, ८, १५

† व्यवहारसूत्र, ८, १६।

‡ व्यवहार सूत्र, ५, १८।

लिए मैं अपनी टीका में उसमें से कुछ सार ग्रहण करता हूँ।

जब शीलाकाचार्य जैसे प्रौढ़ विद्वान गन्धहस्ति कृत टीका को महत्ता को स्वीकार करते हैं, तो उसकी गहनता एवं विशिष्टता को मानने मे किसी भी प्रकार के सन्देह को अवकाश नहीं रह जाता है। परन्तु, हमारे दुर्भाग्य से वह टीका आज उपलब्ध नहीं है, उसका नाम मात्र ही शेष रह गया है।

अत विचारशील पाठकों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे आचाराङ्ग के महत्व को समझने एवं उसके गम्भीर विषय पर तटस्थ मनोवृत्ति से चिन्तन-मनन करने का प्रयत्न करे। और उसके स्थूल शब्दार्थ मे ही न उलझकर, उसके आध्यात्मिक एव वास्तविक अर्थ को समझने का पुरुषार्थ करे। गन्धहस्ति टीका में प्राय आध्यात्मिक अर्थ को ही महत्व दिया गया था और आज भी जो टीकाएं उपलब्ध हैं, उनमें भी कई स्थलों पर आध्यात्मिक अर्थ करने की शैली अपनाई गई है। मैने भी प्रस्तुत विवेचन में उस शैली का अनुसरण किया है। यदि अन्य आगमों के विवेचन मे भी इस शैली का उपयोग किया जाए तो श्रुत साहित्य का गौरव अधिक बढ़ सकता है।

प्रस्तुत विवेचन की आवश्यकता

आचाराग सूत्र इतना गम्भीर एव महत्वपूर्ण है कि इस पर प्राचीन काल से ही निर्युक्ति, वृत्ति एव टीका आदि विवेचन लिखे जाते रहे हैं। फिर भी उसका अर्थ अभी तक पूर्णत स्पष्ट नहीं हो पाया है। और वे प्राचीन विवेचन प्राकृत एव सस्कृत में हैं, अत प्राकृत एवं संस्कृत के ज्ञान से रहित व्यक्तियो के लिए उनका कोई उपयोग नहीं रह जाता। कुछ विचारकों ने हिन्दी एवं गुजराती भाषा मे भी अनुवाद किया है। फिर भी यह विषय इतना गम्भीर है कि इसका जितना विवेचन किया जा सके, उतना ही कम है। इस दृष्टि से मैने दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध और अनुत्तरोपपातिक सूत्र के विवेचन एव अनुवादादि से अवकाश मिलते ही आचारांग का लेखन कार्य प्रारम्भ कर दिया। इसमे इस बात का पूरा ख्याल रखा गया कि विवेचन की भाषा सरल-सुगम हो और अर्थ पूरी तरह स्पष्ट हो, जिससे प्रत्येक हिन्दी भाषी लाभ उठा सके। अत मैंने मूल के साथ छाया पदार्थ और मूलार्थ देकर, उस पर विशद विवेचन भी कर दिया। विवेचन में सूत्र के मूल भावों को स्पष्ट करने का विशेष प्रयत्न किया गया है।

। शस्त्र-परिज्ञा विवरणमति बहुगहनञ्च गन्धहस्तिकृतम्। तस्मात् सुख बोधार्थं गृह्णाम्यहमञ्जसासारम्।

— आचाराग टीका (श्री शीलाकाचार्य)

सहायक ग्रन्थ

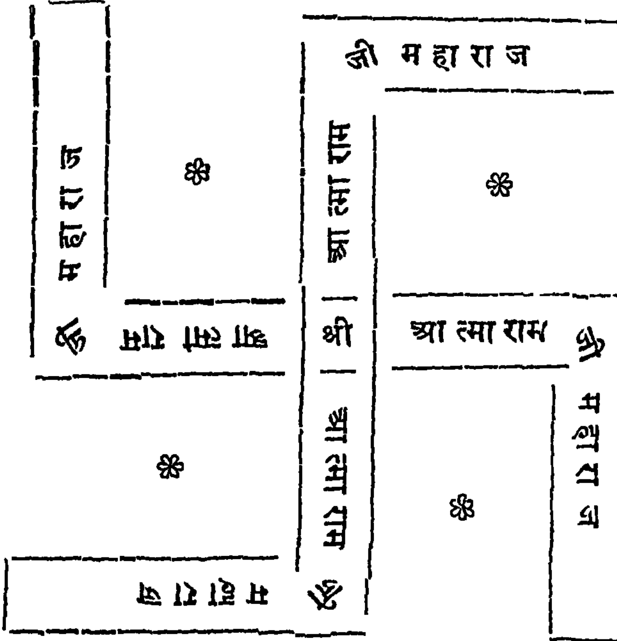
प्रस्तुत विवेचन करते समय मुझे जो सामग्री उपलब्ध हुई उसका मैंने उन्मुक्त हृदय से उपयोग किया। परन्तु, इसमें शीलाकाचार्य की टीका को प्रमुख स्थान दिया गया है। क्योंकि, वर्त्तमान में उपलब्ध टीकाओं मे यह सबसे विशद, प्रौढ़ एव प्राचीन है। इसके अतिरिक्त जिनसिंहसूरि कृत आचारांग प्रदीपिका, पार्श्वचन्द्रसूरि कृत आचाराग बालावबोध टीका (गुजराती), एक अज्ञात लेखक का आचाराग टब्बा और प्रो० रवजी-भाई देवराज का मूल सहित आचारांग अनुवाद का भी सहयोग लिया गया है। प्रस्तुत विवेचन के लेखन कार्य मे जिन ग्रंथों का सहयोग है, उनके लेखकों का आभारी हू।

इस तरह अनेक ग्रंथों का अवलोकन करके प्रस्तुत विवेचन को हर तरह से उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। और इसमे इस बात का पूरा ख्याल रखा गया है कि विवेचन में मूल पाठ के भावों के अनुरूप ही व्याख्या हो। फिर भी छद्मस्थ अवस्था के कारण भूल का हो जाना स्वाभाविक है। क्योंकि छद्मस्थ भूल का पात्र है। अत सावधानी रखते हुए भी कहीं त्रुटि रह गई हो तो विचारशील पाठक हमे सूचित कर जिससे उस पर विचार किया जा सके और आगामी सस्करण में सुधार किया जा सके।

शिवमस्तु सर्व जगत परहितनिरता भवन्तु भूतगणा।
दोषा' प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवतु लोक॥

—मुनि आत्माराम

वन्दे वीरम्



वन्दे वीरम्

वन्दे वीरम्

वन्दे वीरम्

आचारांग—एक अनुशीलन

भारतीय-सस्कृति

भारतीय-सस्कृति क्या है ? विभिन्न दिशाओं में प्रवहमान तीन स्वतन्त्र विचार-धाराओं का संगम। भारत मे तीन विचार धाराए प्रवहमान रही है— १-जैन, बौद्ध और ३-वैदिक। तीनो ही विचार-परम्पराएं अपने—आप मे स्वतन्त्र हैं। तीनों का अपना स्वतन्त्र एवं मौलिक चिन्तन है, स्वतन्त्र अस्तित्व है। परन्तु, फिर भी हम ऐसा नहीं कह सकते कि तीनों विचार-धाराएं एक-दूसरी से पूर्णतया असंबद्ध हैं। तीनों में कुछ हद तक या किसी अपेक्षा विशेष से विचार साम्य भी है। दृष्टि-भेद होने पर भी एक दर्शन दूसरे दर्शन से प्रभावित भी है। एक-दूसरे में शब्दों का, भावों का, शैली का आदान-प्रदान भी होता रहा है। अत. यह कहना उपयुक्त होगा कि तीनों सस्कृतियों का सगम-स्थल ही भारतीय-संस्कृति है। तीनों विचार-धाराओं का अनुशीलन-परिशीलन ही समग्र भारतीय-सस्कृति का अध्ययन है। यदि जैन विचारधारा या श्रमण-परम्परा का अध्ययन करना है, तो इसके लिए यह आवश्यक है कि बौद्ध और वैदिक-विचारधारा का भी गहन अध्ययन किया जाए। जब तक तीनों धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन नहीं करेंगे, तब तक हम उस दर्शन का या उस परम्परा का समग्र एवं निर्भ्रम अध्ययन नहीं कर सकते। क्योंकि, तीनों विचार परम्पराओं की शृंखला इतनी गहरी जुड़ी हुई है कि उसे हम एक-दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। इसलिए प्रबुद्ध जैन-विचारकों एव वरिष्ठ आचार्यों का यह अभिमत बुद्धि एव न्याय-सगत है कि प्रवचनकार एव चर्चावादी को स्व-दर्शन और पर-दर्शन का अथवा अपनी एव अन्य धर्म की परम्पराओं का, विचारधारा का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। जिससे वह अपनी संस्कृति का स्पष्ट चित्र जनता के सामने रख सके। अत. तीनों विचारधाराओं का समन्वित रूप ही भारतीय संस्कृति है। वह समन्वय की संस्कृति है, अनेकता में भी एकत्व को खोजने एवं पाने की संस्कृति है।

आगम—श्रुत-साहित्य

भारतीय विचारकों एवं चिन्तकों ने आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में गहरी खोज की है। और अपनी शोध (Research) मे जो कुछ पाया उसे शिष्य-प्रशिष्यों को सिखाकर सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। इस ज्ञान परम्परा को भारतीय-संस्कृति में 'श्रुत या श्रुति' कहते हैं। 'श्रुत' का अर्थ है— सुना हुआ और 'श्रुति' का तात्पर्य है— सुनी हुई।

जन परम्परा मे तीर्थंकरो द्वारा उपदिष्ट वाणी को श्रुत-साहित्य कहते है। जैनागमों मे पाच ज्ञान का उल्लेख मिलता है— १ मति ज्ञान, २ श्रुत-ज्ञान, ३ अवधि-ज्ञान, ४ मन-पर्यव ज्ञान और ५ केवल ज्ञान। इसमे मति और श्रुत ज्ञान को परोक्ष ज्ञान माना गया है। द्वादशाङ्गी का ज्ञान श्रुत-ज्ञान माना गया है। वर्त्तमान में उपलब्ध ११ अग, १२ उपांग, ४ छेद शास्त्र, ४ मूल-सूत्र और आवश्यक सूत्र श्रुत-साहित्य कहलाता है। श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक सम्प्रदाय मे ४५ आगम श्रुत-साहित्य के रूप में माने जाते है। क्योंकि, तीर्थंकर इनके उपदेष्टा होते हैं और उनके द्वारा श्रुत— सुनी हुई वाणी को गणधर अपने शिष्यों को सुनाते हैं और वह वाणी अनागत मे शिष्य-परम्परा से एक-दूसरे को सुनाई जाती है। आचाराङ्ग सूत्र के प्रारम्भ मे यह सूत्र आता है— "सुय मेआउस ! तेण भगवया एवमक्खाय" हे शिष्य ! मैंने सुना है कि उस —श्रमण भगवान महावीर ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है।

वैदिक साहित्य मे 'श्रुति' शब्द का प्रयोग होता है। श्रुति का अर्थ भी सुनी हुई बात होता है। वैदिक ऋषियों द्वारा रचित ऋचाओं एवं स्तुतियों को श्रुति कहते है। क्योंकि ऋषियों के मुख से प्रवहमान वेद-वाणी को सुनकर शिष्यों ने उसे स्मृति मे रखा और अपने शिष्य-प्रशिष्यों को सुनाकर उसके प्रवाह को सतत गतिमान रखने का प्रयत्न किया।

जैनागमो की तरह बौद्ध-ग्रथों में सुत' शब्द मिलता है। उसका अर्थ भी वही है, जो सुय शब्द का है अर्थात् सुना हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय-सस्कृति की तीनों परम्पराओ मे आगम के लिए प्रयुक्त श्रुति, श्रुत-सुयं और सुतं संज्ञा— नाम सर्वथा सार्थक है।

द्वादशागी वाणी

श्रुत-साहित्य— आगमों मे यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि प्रत्येक युग मे होने वाले तीर्थंकर द्वादशागी का उपदेश देते है। इस दृष्टि से द्वादशागी को अनादि-अनन्त भी मानते है। फिर भी वेदों की तरह अपौरुषेय नहीं है। यह एक विचार परम्परा है कि अनादि काल से होने वाले तीर्थंकर अपने शासनकाल मे द्वादशागी का उपदेश देते है और अनागत काल मे होने वाले तीर्थंकर इसी का उपदेश देंगे और वर्तमान में महा-विदेह क्षेत्र मे स्थित तीर्थंकर इसका उपदेश दे रहे हैं। इस तरह प्रवाह की दृष्टि से द्वादशागी-वाणी अनादि-अनन्त है। उसका प्रवाह न कभी विच्छिन्न हुआ है और न होगा। परन्तु, व्यक्ति की दृष्टि से विचार करते है, तो इसका दूसरा पक्ष भी है। वह यह कि प्रत्येक काल मे होने वाले तीर्थंकर इसका उपदेश देते है। अत उस शासन-काल मे विद्यमान द्वादशागी उनके द्वारा उपदिष्ट होती है। जैसे—वर्तमान में द्वादशागी के

उपदेष्टा श्रमण भगवान महावीर हैं। इस तरह द्वादशांगी प्रवाह रूप से अनादि-अनन्त होने पर भी अकृतक नहीं, कृतक है, अपौरुषेय नहीं, पौरुषेय है। क्योंकि, वह वाणी है, शब्दों एवं अक्षरों का समूह मात्र है। और वाणी, शब्द या अक्षर का निर्माता कोई व्यक्ति ही होता है, ईश्वर नहीं। अत: किसी शास्त्र, धर्म ग्रन्थ एवं वेद वाक्य या श्रुति-स्मृति और श्रुत-साहित्य को ईश्वर-वाणी मानना भ्रम है। क्योंकि ईश्वर शरीर रहित है और वाणी शरीर का धर्म है। अत: जब ईश्वर के शरीर ही नहीं है, तब वह वाणी का प्रयोग कैसे करेगा ? यह स्पष्ट समझ में आने वाली बात है।

भगवती सूत्र मे भगवान की वाणी को द्वादशांगी गणि-पिटक कहा है। वस्तुत वह ज्ञान का पिटारा अर्थात् ज्ञान-मञ्जूषा ही है, जिसमें आत्मा, परमात्मा एवं संपूर्ण विश्व के यथार्थ रूप ज्ञान-विज्ञान निहित हैं। वह द्वादशागी निम्न प्रकार है—१-आचाराङ्ग, २-सूत्रकृताङ्ग, ३-स्थानाङ्ग, ४-समवायाङ्ग, ५-विवाहपन्नत्ति-भगवती, ६-ज्ञाताधर्मकथाङ्ग, ७-उपासकदशाङ्ग, ८-अन्तकृतदशाङ्ग, ९-अनुत्तरोपपातिकदशाङ्ग, १०-प्रश्न-व्याकरण, ११-विपाक और १२-दृष्टिवाद। वर्तमान मे दृष्टिवाद उपलब्ध नहीं है, शेष ग्यारह अङ्ग उपलब्ध हैं।

प्रस्तुत आगम

द्वादशांग में आचारांग का सर्वप्रथम स्थान है। इसलिए आचार्य भद्रबाहु ने प्रस्तुत आगम को भगवान* और वेद† कहा है। क्योंकि तीर्थ प्रवर्तन मे आचार का सर्व प्रमुख स्थान है। शेष ग्यारह अंग उसके बाद हैं। इसका कारण यह है कि इसमे मुक्ति प्राप्त करने के साधन की चर्चा है और वस्तुतः देखा जाए तो समग्र प्रवचन एवं द्वादशागी सार भी मोक्ष है*। और आचाराग मे मोक्ष-साधना का ही उपदेश है। इसलिए आचारांग को द्वादशागी का सार कहा है†। और इसी कारण उसे इतना महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

आचारांग का उपदेश

आचार्य भद्रबाहु, चूर्णिकार और आचार्य शीलांक इस विषय में एकमत हैं कि

---

* आयारस्स 'भगवओ' निज्जुत्ति कित्तइस्सामि। — आचाराग नि० १।

† आचाराग, नि०, ११।

* आचा० नि० ८, ९।

† अगाणा किं सारो ? आयारो। —आचा०, नि०।

द्वादशागी का उपदेश और इसकी रचना सर्व प्रथम हुई है‡। परन्तु, आवश्यक चूर्णि मे इसके विपरीत मतों का उल्लेख भी मिलता है। कुछ विचारकों का अभिमत है कि तीर्थंकरों ने सर्व प्रथम अर्थ रूप से पूर्वों का उपदेश दिया, परन्तु गणधरों ने सूत्र रूप से सर्व प्रथम आचाराग की रचना की। किन्तु, कुछ आचार्यों का यह अभिमत है कि सर्व प्रथम उपदेश भी पूर्वों का दिया गया और ग्रन्थ रचना भी पूर्वों की ही की गई। उपदेश एव रचना की दृष्टि से पहले 'पूर्व' है, उसके बाद आचारागादि अग शास्त्र है, किन्तु, स्थापन की दृष्टि से आचाराग को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है*। इन विचार-भेदों के आधार पर हम इतना तो निस्सदेह कह सकते हैं कि समग्र श्रुत-साहित्य मे आचाराग का अपना विशिष्ट स्थान है। भले ही वह उपदेश की दृष्टि से प्रथम न रहा हो, रचना की दृष्टि से रहा हो या स्थापन्न की दृष्टि से प्रथम रहा हो, परन्तु इसमे किसी के दो मत नहीं हैं कि आचाराग का आगम-साहित्य मे मूर्धन्य स्थान है। वह जैन-साहित्य गगन का चमकता हुआ सूर्य है।

आचाराग का परिचय

आचाराग सूत्र का परिचय नन्दी† और समवायाग सूत्र‡ मे दिया गया है। नन्दी सूत्र की अपेक्षा समवायाग सूत्र में दिए गए परिचय में कुछ विशेषण अधिक है। परन्तु, इस बात मे उभय आगमों में एकरूपता है कि आचाराग सूत्र के दो श्रुतस्कन्ध है, उनके २५ अध्ययन ८५ उद्देशे और १८ हजार पद हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य 'धवला' ग्रथ मे भी आचाराग सूत्र के इतने ही पदों का उल्लेख मिलता है*। इसमे भी उभय आगमों मे एक वाक्यता है कि आचाराग मे प्रमुख रूप से साध्वाचार का वर्णन है। आचार्य अकलक कृत राजवार्तिक†, धवला‡ और जयधवला* मे भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि आचाराग सूत्र में मुनि धर्म का वर्णन हैं। इससे स्पष्ट होता है कि

---

‡ सव्वतित्थगरा वि आयारस्स अत्थ पढम आइक्खति ततो सेसगाण एक्कारसण्ह अगाणा ताए चेव परिवारिए गणहरा वि सुत्त गुथति। —आचाराग चूर्णि, पृ० ३।

* आवश्यक चूर्णि, पृ० ५६-५७।

† नन्दी सूत्र, पृ० ४५।

‡ समवायाग सूत्र, पृ० १३६।

* धवला भाग १, पृष्ठ ९९।

† राज वार्तिक, सूत्र १२०।

‡ धवला, भाग १, पृष्ठ ९९।

* जयधवला भाग १, पृ० १२२।

श्वेताम्बर-दिगम्बर मान्य आगमों में आचारांग का परिचय समान रूप से मिलता है। ग्रन्थ की पद संख्या एवं ग्रन्थ में वर्णित विषय में उभय परम्परा में कोई मतभेद नहीं है।

आचारांग का मौलिक रूप

परिचय में हम देख चुके हैं कि नन्दी सूत्र एवं समवायांग सूत्र में प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कन्ध बताए हैं। वर्तमान में उपलब्ध आचारांग सूत्र भी दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। परन्तु, यह एक प्रश्न है कि आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्ध मौलिक हैं या एक श्रुतस्कन्ध मौलिक है और दूसरा उसके साथ पीछे से जोड़ा गया है? इस प्रश्न का उत्तर दो तरह से दिया गया है– एक पक्ष प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही मौलिक मानता है। आचारांग निर्युक्ति एवं आचारांग चूर्णि से भी इस मत का समर्थन मिलता है। निर्युक्तिकार ने द्वितीय श्रुतस्कन्ध को स्थविर कृत माना है†। इससे स्पष्ट होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध पीछे से जोड़ा गया हो। चूर्णि में आदि, मध्य और अन्तिम मंगल के प्रकरण में प्रथम श्रुतस्कन्ध के अन्तिम वाक्य को अन्तिम मंगल कहा है‡। इससे भी उक्त पक्ष को समर्थन मिलता है। भारतीय एवं श्रुत-साहित्य के विचारक जर्मन विद्वान प्रो० हर्मन-जैकोबी भी प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही मौलिक मानते हैं※। आज के कुछ विचारक सन्त एवं विद्वान भी द्वितीय-श्रुतस्कन्ध को पीछे से संबद्ध किया हुआ मानते हैं। परन्तु, नन्दी-सूत्र एवं समवायांग सूत्र दोनों श्रुतस्कन्धों को मौलिक मानते हैं। प्रस्तुत आगम के व्याख्याकार श्रद्धेय स्व० आचार्य श्री आत्मा राम जी महाराज भी उभय आगमों के मत से सहमत हैं। परन्तु, भाषा एवं विषय की दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि नन्दी और समवायांग का संकलन होने के पूर्व द्वितीय श्रुतस्कन्ध को प्रथम के साथ सम्बद्ध कर दिया गया हो। इतना तो स्पष्ट है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध की विषय निरूपण पद्धति द्वितीय-श्रुतस्कन्ध से सर्वथा भिन्न है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में आचार का सैद्धान्तिक निरूपण किया गया है, उसकी भाषा भी गूढ़ है और सूत्र-संक्षिप्त शैली है। थोड़े शब्दों में बहुत कुछ या सब कुछ कहने का प्रयत्न किया गया है। द्वितीय-श्रुतस्कन्ध में ऐसी बात नहीं है। उसमें आचार के नियमों का परिगणन किया गया है, इसलिए उस की भाषा और शैली भी सरल है। और यह भी स्पष्ट है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध चूला रूप है, उसमें पांच चूलाएं हैं। वर्तमान में चार चूलाएं ही हैं, पांचवीं 'आयार पकप्प' चूला जिसे निशीथ

---

† आचाराङ्ग निर्युक्ति पृ० ३१-३२।

‡ आचाराङ्ग चूर्णि, पृ० १।

※ Sacrd Book of th Eas̄t, Vol 22, Introduction, P 47

— By Jacobi.

भी कहते हैं, इससे पृथक् कर दी गई और वह स्वतन्त्र रूप से छेद सूत्र के रूप में स्वीकार कर ली गई। चूलाए जोड़ने की परम्परा बहुत पुरानी रही है। मूल ग्रथ को स्पष्ट करने के लिए उसके साथ चूलाएं जोड़ दी जाती थीं। आचाराग का प्रथम श्रुतस्कन्ध भी विशिष्ट साधुओं के लिए उपयोगी था। सर्व साधारण उसका अनुशीलन करके उसे हृदयस्थ नहीं कर पाते थे। इस कठिनता को दूर करने के लिए द्वितीय श्रुतस्कन्ध को सर्व साधारण के लिए उसके साथ सलग्न कर दिया हो। विषय की दृष्टि से देखते हैं तो जो बात द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे कही गई है, वह सब प्रथम श्रुतस्कन्ध में आ ही गई है। अन्तर इतना ही है कि वह सक्षिप्त एवं गम्भीर शैली तथा प्रौढ़ भाषा मे कही गई है। इस से ऐसा लगता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम के साथ बाद मे जोड़ा गया हो। हो सकता है कि उसका ग्रन्थन सुधर्मा ने नहीं, बल्कि अन्य गणधर ने किया हो या स्थविर ने। परन्तु, वह है बाद का। फिर भी इस विषय में कुछ निश्चित नही कहा जा सकता। इस पर अभी काफी अनुसन्धान करने की आवश्यकता है और यह ऐतिहासिक विद्वानों के शोध (Research) का कार्य है।

आचाराग का समय और निर्माता

नन्दी सूत्र मे यह बताया गया है कि द्वादशागी के प्रणेता तीर्थंकर है*। आवश्यक निर्युक्ति मे भी यह अभिव्यक्त किया गया है कि अरिहन्त—तीर्थंकर भगवान द्वादशागी का अर्थ रूप से उपदेश देते हैं। अर्थ रूप से उपदिष्ट उस वाणी को गणधर सूत्र रूप में ग्रथित करते है। शासन के हित के लिए गणधर तीर्थंकर भगवान के अर्थ रूप प्रवचन को सूत्रबद्ध करते हैं†। इससे यह स्पष्ट होता है कि आचारांग का अर्थ रूप से उपदेश भगवान महावीर ने दिया था और गणधर सुधर्मा ने इसे सूत्रबद्ध किया था। अत गणधरों को सूत्र रचना का मूलाधार (Original source) तीर्थंकरों की अर्थ रूप वाणी होने से, तीर्थंकरों को आगम प्रणेता कहते हैं।

इस से सिद्ध होता है कि आचाराग के मूल निर्माता भगवान महावीर हैं और उसको सूत्र बद्ध करने वाले गणधर सुधर्मा हैं। इस तरह आचारांग का समय ईसा से छट्ठी शताब्दि पूर्व का सिद्ध होता है। परन्तु, इसमें एक प्रश्न उठता है कि दोनों श्रुतस्कन्ध गणधर प्रणीत है या प्रथम श्रुतस्कन्ध ? इसमे दो अभिमत हैं—आचाराग निर्युक्ति

---

* नन्दी सूत्र, ४०।

† अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गन्थन्ति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्त पवत्तेइ॥

— आवश्यक निर्युक्ति, १९२।

है। परन्तु, द्वितीय-श्रुतस्कन्ध में न तो भाषा की प्राञ्जलता है, न भावों की गम्भीरता है और न सूत्र शैली के ही दर्शन होते हैं। उसमे तो सरल भाषा एवं साधारण शैली में सीधे सादे भावों की—आचार के नियमों की परिगणना करा दी है। इस कथन में कुछ तथ्य हैं कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भाषा, भाव और शैली में सरलता लाने का कारण यह रहा है कि साधारण साधक भी आचार की महत्ता को सरलता से समझ सके और उसे आचरण में उतार सके। हम भी इस बात को मानते हैं कि इसी उद्देश्य से प्रथम-श्रुतस्कन्ध के साथ द्वितीय-श्रुतस्कन्ध को सबद्ध किया गया है। परन्तु, इसके लिए अभी खोज एवं चिन्तन करने की आवश्यकता है कि दोनों के कर्ता एक ही हैं या भिन्न व्यक्ति हैं। हमे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों के कर्ता दो भिन्न व्यक्ति होने चाहिएं। क्योकि, प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा एव भावों को समझने में जब कठिनाई उत्पन्न हुई होगी, तभी आचार्यों ने उसे दूर करने के लिए द्वितीय-श्रुतस्कध की रचना की होगी? आचाराङ्ग निर्युक्तिकार ने स्पष्ट शब्दों मे लिखा है कि आचारचूलिकाओं के विषय को स्थविरों ने आचार मे से ही लेकर शिष्यों के हितार्थ चूलिकाओं मे प्रविभक्त किया है॥।

भले ही द्वितीय-श्रुतस्कध को गणधर कृत मानें या स्थविरकृत, इतना तो स्पष्ट है कि उसका मूलाधार वीतराग वाणी है। स्थविरों ने जो कुछ रचना की है, वह भी गणधर कृत अंग सूत्रों एव पूर्वों में से लेकर की है और चतुर्दश पूर्वधर को भी सर्वज्ञ के समान माना है, उसे श्रुत—केवली सबोधन से सबोधित किया है। गणधर सुधर्मा भी आचार्य पद पर स्थापित करते समय सर्वज्ञ नहीं, चतुर्दश पूर्वधर ही थे और वे कई वर्षों तक छद्मस्थ रहे हैं। परन्तु, उनके ज्ञान की विशिष्टता के कारण उनकी वाणी को भी वीतराग-वाणी की तरह प्रामाणिक माना गया है। यही कारण है कि अंग बाह्य आगमों को—जो स्पष्टत स्थविर कृत हैं और अनेक आगमों के रचयिता स्थविरों के नाम भी उनके साथ सबद्ध हैं, भी प्रामाणिक माना है। परन्तु, मध्य काल मे स्थविर की अपेक्षा गणधर शब्द का अधिक महत्व माना जाने लगा। और इसके कारक अग बाह्य आगमों को भी गणधर कृत कहा जाने लगा। उस समय स्थविर शब्द का अर्थ भी गणधर किया जाने लगा। यही कारण है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध को भी गणधर कृत माना गया।

यह ठीक है कि नन्दी एवं समवायाङ्ग सूत्र में जो आचाराङ्ग के अध्ययनों, उद्देशों एव पदों की सख्या दी गई है, उसमे समग्र आचाराङ्ग का उल्लेख है, उसमें दोनों श्रुतस्कन्धों को विभक्त नहीं किया गया है। परन्तु, इतना तो मनना ही पडेगा कि उभय आगमों का यह वर्णन उस समय का है, जब आचाराग सूत्र से आचारांग के द्वितीय-

---

॥ आचा० नि० २८७।

कि यदि आचाराग के दो श्रुतस्कन्ध, २५ अध्ययन और १८ हजार पद मानें तो निर्युक्ति-कार के कथन से विरोध होगा। क्योंकि वे प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही १८ हजार पद मानते हैं। जब कि नन्दी सूत्र के मूल पाठ मे दोनों श्रुतस्कन्धों के १८ हजार पद माने हैं ? इस प्रश्न के समाधान मे वे लिखते है कि 'प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कन्ध और २५ अध्ययन हैं, परन्तु १८ हजार पद सम्पूर्ण आचारांग के नही, केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही हैं। इस सूत्र से यही अर्थ अभिप्रेत है। क्योंकि सूत्र अर्थ विलक्षण होता है। अत: गुरुपरंपरा से ही उसे समझा जा सकता है*।

इससे यही स्पष्ट होता है कि टीकाकारों को निर्युक्ति के विचारों का मोह है। जबकि आचार्य मलयगिरि स्वयं मानते है कि मूल पाठ में समग्र आचाराङ्ग के १८ हजार पद माने हैं। परन्तु, वे उसका इसलिए समर्थन नहीं कर पा रहे हैं कि निर्युक्तिकार इससे सहमत नहीं है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपनी बुद्धि एवं चिन्तन स्वातंत्र्य को भी खो दिया।

हम यह नही समझ पाए कि प्रस्तुत पाठ में अर्थ वैचित्र्य क्या है ? और गुरु परम्परा क्या है ? नन्दी सूत्र मे सूत्रकृताङ्ग के सम्बन्ध में भी ऐसा ही पाठ मिलता है कि "दूसरे अंग (सूत्रकृताङ्ग सूत्र) के दो श्रुतस्कन्ध, २३ अध्ययन, ३३ उद्देशनकाल, ३३ समुद्देशन काल और ३६ हजार पद हैं†। आचाराङ्ग सूत्र के जैसा वर्णन होने पर भी टीका-कार ने प्रस्तुत आगम के दोनों श्रुतस्कन्धों के ३६ हजार पद माने हैं। इससे स्पष्ट होता है कि टीकाकारों ने अपनी बुद्धि से बिना सोचे-समझे ही निर्युक्ति का अनुकरण मात्र किया है। अत. यह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है और जब मूल पाठ सामने हो तब निर्युक्ति किसी भी तरह प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। क्योंकि मूल पाठ स्वत: प्रमाण है और निर्युक्ति एवं टीका आदि परत प्रमाण हैं। अत. इससे यही सिद्ध होता है कि समग्र आचाराङ्ग के ही १८ हजार पद हैं।

आचाराङ्ग की भाषा

भाषा ग्रंथ का प्राण है। किसी भी ग्रंथ के आन्तरिक एवं बाह्य परिचय को प्राप्त करने के लिए भाषा एक महत्वपूर्ण साधन है। उससे ग्रन्थ का यथार्थ स्वरूप सामने आ

---

* समवायाङ्ग टीका।

† विइए अगे दो सुयखंधा, तेवीस अज्झयणा, तित्तीस उद्देसण काला,
तित्तीसं समुद्देसण काला, छत्तीस पयसहस्साणिपयग्गेण।
— नन्दी सूत्र, द्वादशागी अधिकार।

१-अर्थ से अबोधित— सूत्र अर्थ रूप से विस्तृत शब्दों का संक्षिप्त रूप होता है। उसमें अर्थ अन्तर्निहित रहते है।

२-सुप्त— जैसे ७२ कलाओं में प्रवीण पुरुष जब सो जाता है, तब उसे अपनी कलाओं का कोई ज्ञान नहीं रहता है। परन्तु, जागृत होने ही उसका ज्ञान भी जागृत हो जाता है। इसी तरह जब तक सूत्र का अर्थ के द्वारा बोध नहीं कराया जाता, तब तक उसके अर्थ को नहीं जाना जा सकता। परन्तु, ज्यों ही उसके अर्थ का परिज्ञान करा दिया जाता है, त्यों ही वह अपने समस्त अर्थों को अभिव्यक्त करने लगता है।

३-श्लेष— जैसे श्लेप में अनेक तन्तु सुघटित–मिले हुए होते है, उसी तरह सत्र में अनेक अर्थ सन्निहित रहते हैं।

४-सूक्त— सूत्र सुन्दर एवं शोभनीय लगता हैं। इसलिए इसे सूक्त कहा है।

५-सूचक— सूई खो जाने पर जल्दी नहीं मिलती। परन्तु, यदि वह सूत्र–धागे के साथ हो तो शीघ्र मिल जाती है। सूत्र सूई का सूचक है। इसी तरह सूत्र आगम के अर्थ का परिसूचक है। इससे भगवान के द्वारा उपदिष्ट अर्थ रूप वाणी की सूचना मिलती है।

६-सूचिका— जैसे सूचिका-सूई से वस्त्रों की सिलाई करके उन्हे एक जगह जोड़ लिया जाता है। उसी तरह सूत्र भी अनेक अर्थों को सकलित करता है।

७-उत्पादक— जैसे अग्नि में सूर्यकान्त मणि और जल में चन्द्रकांत मणि अपनी प्रभा को प्रकट करती है, उसी प्रकार सूत्र भी अर्थ का प्रसव-उत्पादन (पैदा) करता है, इसलिए इसे उत्पादक कहते हैं।

८-अनुसरण— अनुसरण द्रव्य और भाव से दो प्रकार का कहा गया है। इसे स्पष्ट करने के लिए एक अन्ध वणिक्पुत्र का दृष्टान्त दिया गया है। एक दिन वैश्य ने सोचा कि यह अन्धपुत्र निकम्मा बैठ कर खाएगा तो इसका तिरस्कार होगा। अत उस वैश्य ने अपने घर के आगे पीछे दो स्तम्भ खडे कर दिए और उसमे एक रस्सी बाध दी और उसे कहा कि इस रस्सी के सहारे तुम इस कचरे को बाहर फैंक दिया करो। इस तरह पिता के वचनों का अनुसरण करने से उस का जीवन सम्मान पूर्वक बीतने लगा। यहा आचार्य पिता के तुल्य हैं, साधु अन्धे पुत्र के समान है, सूत्र रस्सी के तुल्य है और अष्ट कर्म कचरे के समान हैं। साधक सूत्र का अनुसरण

करके अष्ट कर्ममल से रहित हो जाता है, अत. इसे अनुसरण कहा है❀।

इसके अतिरिक्त सूत्र के और भी भेद बताए गए हैं। इस सम्बध में निर्युक्तिकार कहते हैं कि सूत्र तीन प्रकार का होता है—१-सज्ञा सूत्र, २-कारक सूत्र और ३-प्रकरण सूत्र अथवा उत्सर्ग और अपवाद के भेद से भी सूत्र दो प्रकार का होता है। इसमे उत्सर्ग अल्प है या अपवाद ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि उभय सूत्र अपने अपने स्थान पर श्रेयस्कर और बलवान हैं†।

सज्ञा सूत्र—जो सूत्र सामयिक सज्ञा के द्वारा किसी बात का निर्देश करता है, उसे सज्ञा सूत्र कहते है। जैसे—'जे छेए से सागारिय परियाहरे' आचाराग सूत्र के इस पाठ मे मैथुन के लिए 'सागारिय' शब्द का प्रयोग किया है। इसी तरह दोष के लिए 'आमगन्ध' ससार के लिए 'आर' और मोक्ष के लिए 'पार' शब्द का प्रयोग किया गया है। ये सब सज्ञा सूत्र है। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि सज्ञा सूत्र का प्रयोग करने से क्या लाभ है ? इससे सब से महत्वपूर्ण लाभ यह होता है कि पारस्परिक सभ्यता एव शिष्टता का पालन होता है। जैसे प्रवचन करते समय या किसी साध्वी को सूत्र का अध्ययन कराते समय मैथुन आदि अशिष्ट शब्दों के स्थान मे 'सागरिय' आदि सज्ञा शब्दों का प्रयोग करने से व्यवहारिक शिष्टता का भग नहीं होता है और साध्वी

❀ सुत्त तु सुत्तमेव उ, अहवा सुत्त तु त भवो लेसो।
अत्थस्स सूयणा वा, सुवुत्तापिइ वा भवे सुत्त ॥
नेरुत्तियाइ तस्स उ सूयइ सिव्वइ तहेव सुवइत्ति।
अणुसरतित्तिय भेया, तस्स उ नामा इमा हुति ॥
पामुत्तसम सुत्त अत्थेणावोहिय न त जाणे।
लेस सरिसेण तेण अत्था सघाइया वहवे ॥
सुइज्जइ सुत्तेण सूई नट्ठावि तह सुएणत्थो।
सिव्वइ अत्थ पयाणि व, जह सुत्त कचुगाईणि ॥
सूरमणी जलकतो व अत्थमेव तु पसवई सुत्त।
वणिय सुयध कयवरे तदणुसरतो रय एव ॥
— वृहत्कल्प निर्युक्ति, गाथा ३१०—३१४।

† सन्ना य, कारगे, पकरणे य सुत्त तु त भवे तिविह।
उस्सगे, अववाए, अप्पे सेए य वलवते ॥
— वृहत्कल्प निर्युक्ति, ३१५।

एवं अन्य उपस्थित व्यक्तियों को लज्जित होने का प्रसंग भी उपस्थित नहीं होता है†।

कुछ विचारक संज्ञा सूत्र का यह अर्थ करते है कि जिसमें किसी अर्थ का सामान्य रूप से निर्देश किया जाए। वस्तुत: वस्तु के नाम निर्देश को संज्ञा कहते हैं। अत: नाम निर्देशक सूत्र संज्ञा सूत्र कहलाते है।

कारक सूत्र—जिस सूत्र में विचार-चर्चा या शंका समाधान के द्वारा किसी विधान की परिपुष्टि की जाए उसे कारक सूत्र कहते हैं। जैसे—भगवती सूत्र में यह उल्लेख किया गया है कि "आधाकर्मी आहार करने वाला साधु आयु कर्म के अतिरिक्त अन्य सात कर्मों की कर्म प्रकृतियों का बन्ध करता है‡।" इसके बाद गौतम स्वामी इसके सम्बन्ध मे विशेष जानकारी करने के लिए भगवान से प्रश्न पूछते हैं और शका-समाधान के द्वारा वस्तु का निर्णय करते हैं। इस तरह विचार-चर्चा के द्वारा किए गए निर्णय को कारक सूत्र कहते है।

प्रकरण सूत्र—जिन सूत्रों में स्व समय की अपेक्षा से ही आक्षेप और निर्णय का वर्णन किया गया हो उसे प्रकरण सूत्र कहते हैं। नमिपवज्जा, गौतमकेसीय, नालन्दीयादि, उत्तराध्ययन और सूत्रकृताग आदि के अध्ययन प्रकरण सूत्र की शैली में रचे गए हैं।

उत्सर्ग और अपवाद

निर्युक्तिकार ने सूत्र के उत्सर्ग और अपवाद दो भेद किए हैं तथा उत्सर्ग, अपवाद और उत्सर्ग-अपवाद ये तीन और उत्सर्ग, अपवाद, उत्सर्ग-अपवाद और अपवाद-उत्सर्ग ये चार भेद भी किए हैं। जो सूत्र निषेध प्रधान है, वह उत्सर्ग सूत्र है, जो विधि प्रधान है वह अपवाद सूत्र, जो निषेध और विधि प्रधान है वह उत्सर्ग-अपवाद सूत्र है और जो विधि और निषेध प्रधान है वह अपवाद-उत्सर्ग सूत्र है। जैसे—साधु साध्वी को अपक्व ताल फल अभिन्न (बिना काटा हुआ) लेना नहीं कल्पता, यह उत्सर्ग सूत्र है। साधु को पक्व (पका हुआ) ताल फल भिन्न या अभिन्न लेना कल्पता है, यह अपवाद सूत्र है। साधु-साध्वी को परस्पर एक दूसरे के प्रसवण को देना—लेना या उसका उपयोग करना नही कल्पता परन्तु असाध्य रोग एवं विशेष परिस्थिति मे एक दूसरे को लेना देना भी

† बृहत्कल्प निर्युक्ति, ३१६।

‡ आहाकम्मन्न भुजमाणे समणे निग्गथे कइ कम्म पगडीओ वधंति ? गोयमा ! आउ वज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ। से केणट्ठेण भंते ! एव वुच्चइ ?

— भगवती सूत्र, १, ९।

कल्पता है और साधु-साध्वी फल का गुदा तो ग्रहण करले, परन्तु गुठली को ग्रहण न करे* ।

पहला उदाहरण पूर्णत निषेध का है । साधु को कच्चा तालफल लेना नही कल्पता, यह उत्सर्ग मार्ग है । परन्तु वह फल पक्व हो तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है, यह अपवाद मार्ग है । शेष दो भेद क्रमश उत्सर्ग अपवाद और अपवाद-उत्सर्ग के हैं और वे इस विधि और निषेध को साथ लेकर ही बनाए गए हैं । इससे स्पष्ट होता है कि निवृत्ति उत्सर्ग मार्ग है और प्रवृत्ति अपवाद मार्ग है ।

परन्तु, हैं दोनों ही मार्ग । साधक सदा-सर्वदा उत्सर्ग मार्ग पर गति नहीं कर सकता है । जैसे पटना या कलकत्ता आदि शहरों को जाने वाला पथिक निरन्तर दौडता हुआ राह को तय नहीं कर सकता है । इतने लम्बे मार्ग को पार करने के लिए वह रास्ते मे बैठता भी है, शयन भी करता है, आहार-पानी भी करता है, मल-मूत्र का भी त्याग करता है, तब वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुचता है । इसी तरह साधक भी साधना पथ पर चलते २ विघ्न—बाधाएं या रोग आदि के उपस्थित होने पर अपवाद मार्ग का सहारा न ले तो वह शुद्ध संयम का पूर्णरूपेण परिपालन नहीं कर सकता । अत महा-पुरुषों ने उत्सर्ग और अपवाद दोनों को मार्ग कहा है और अपने अपने स्थान पर दोनों को श्रेयस्कर एव समान बल वाला कहा है । परन्तु पर-स्थान मे दोनों अश्रेयस्कर हैं । स्व-स्थान और पर स्थान साधक की अपेक्षा से हैं । समर्थ साधक के लिए उत्सर्ग स्व-स्थान एव अपवाद पर-स्थान है और असमर्थ साधक के लिए रोगादि अवस्था मे अपवाद स्व-स्थान और उत्सर्ग पर-स्थान है । जिस समय साधक स्वस्थ है, परीषहों को सहन करने मे सक्षम है, उस समय यदि वह अपवाद मार्ग का अवलम्बन लेता है, तो अपवाद मार्ग उसके लिए परस्थान है, अश्रेयस्कर है । इसी तरह अस्वस्थ एवं विकट परिस्थिति मे साधक परीषहों को सहने मे सक्षम नहीं है, उसका मन डावा-डोल हो रहा है, उस समय अपवाद मार्ग उसके लिए स्वस्थान है, श्रेयस्कर है । यदि ऐसी स्थिति मे वह अपवाद मार्ग पर न चलकर उत्सर्ग पर चलने का ही हठ रखता है, तो उसकी साधना मे पूर्ण विशुद्धता नहीं रह पाती । इसी अपेक्षा से यह कहा गया है कि साधक

---

* (१) नो कप्पइ निग्गथाण-निग्गथीण वा आमे तालपलबे अभिन्ने पडिगहित्तए । (२) कप्पइ निग्गथाण-निग्गथीण पक्के तालपलबे भिन्नेऽभिन्ने वा पडिगाहित्तए । (३) नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गंथीणं वा अन्नमन्नस्स मोय आदित्तए वा आयमित्तए वा अन्नत्था गाढेहि रोगायकेहि । (४) चम्ममस च दलाहि मा अट्ठियासि ।

— बृहत्कल्प सूत्र, १, १, १, ३, ५, ४७-४८ आचाराग सूत्र ।

को अपनी योग्यता के अनुसार परिस्थितिवश अपवाद मार्ग का अवलम्बन लेना पडे तब भी वह साधना पथ से च्युत नही होता है, उसके महाव्रतों का भग नहीं होता है। क्योंकि उत्सर्ग की तरह अपवाद भी साध्य को सिद्ध करने का मार्ग है और उस मार्ग पर चलने की भी वीतराग (तीर्थकर) भगवान की आज्ञा है। और आज्ञा में प्रवृत्ति करना धर्म है॥।

निर्युक्तिकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि आगम में उत्सर्ग और अपवाद दोनों तरह के सूत्र मिलते हैं। साधक के लिए दोनों मार्गों का अवलम्बन लेने की आज्ञा दी गई है' अत' दोनों ही मार्ग अपने-अपते स्थान पर श्रेयस्कर हैं और दोनों मार्गों का अवलम्बन लेकर ही साधक अपने साध्य को सिद्ध करता है। अत उत्सर्ग के द्वारा अपवाद प्रसिद्ध है और अपवाद के द्वारा उत्सर्ग प्रसिद्ध है। दोनों ही समान वल वाले हैं, इन में कोई छोटा-वड़ा नही है†।

सूत्र का लक्षण

सूत्र शब्द की परिभाषा करते हुए निर्युक्तिकार ने लिखा है कि "जो अक्षर संख्या में अल्प और अर्थ से महान एव विराट हो तथा वत्तीस दोप से रहित एवं आठ गुणों से सयुक्त हो उसे सूत्र कहते हैं‡।" प्रस्तुन गाथा में उल्लिखित "थोडे शब्दों मे विस्तृत अर्थ को व्यकन करने वाला सूत्र कहलाता है।" यह सूत्र का लक्षण है और "वह ३२ दोषों से रहित एव अष्ट गुणों से युक्त है" यह अश उसकी विशेषता को प्रकट करता है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि निर्युक्ति में सूत्र के जिन ३२ दोपों एव अष्ट गुणों का उल्लेख मिलता है, वह निर्युक्तिकार का अपना अभिमत है, मूल आगमों मे इस सवन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु ऐसी बात नहीं है। आगमों मे भी सूत्र के गुण-दोपो का उल्लेख मिलता है। अनुयोग द्वार सूत्र मे भी सूत्र के आठ गुणों एव ३२ दोपों का वर्णन मिलता है॥। निर्युक्तिकार ने ३२ दोपो का इस प्रकार

॥ आणाए धम्म। — आचाराङ्ग सूत्र।

† वृहत्कल्प निर्युक्ति गाथा ३१९-३२२।

‡ अप्पगन्थ महत्थ वत्तीसा दोस विरहिय जं च।
लक्खण जुत्त सुत्त, अट्ठगुणेहि उववेय॥
— वृहत्कल्प निर्युक्ति ३२४।

॥ छहोसे अट्ठगुणे तिण्णि विय वित्ताइ।
एए नव कव्वरसा वत्तीसा दोस विहि समुप्पण्णा।
— अनुयोग द्वार सूत्र, ८९, ८२।

उल्लेख किया है—

१- अनृतदोष—सत्य का अपलाप करना एव असत्य की स्थापना करना अनृत दोष है। जैसे—अनादि काल से चले आ रहे जगत को ईश्वर कर्तृक बतलाना असत्य की स्थापना करना है और आत्मा, परलोकादि के अस्तित्व का निषेध करना सत्य का अपलाप करना है।

२-उपघात—हिंसा का विधान करना उपाघात दोष है। जैसे-वेद विहित हिंसा हिंसा (पाप) नहीं, धर्म है।

३-निरर्थक—जिस सूत्र मे मात्र वर्णों का निर्देश हो, परन्तु उसका कोई अर्थ न निकलता हो, वह सूत्र का निरर्थक दोष है। जैसे-अ आ इ ई या डित्थ-डवित्थ आदि।

४-अपार्थक—जो सूत्र असम्बद्धार्थक हो या अर्थ के संबंध से शून्य हो, उसे अपार्थक कहते हैं। जैसे-दशदाडिमानि षडूपूया आदि।

५-छल- जहा विवक्षित अर्थ का अनिष्ट अर्थान्तर के द्वारा उपघात किया जाए, उसे छल कहते हैं। जैसे-किसी ने कहा-देवदत्त के पास नव (नया) कम्बल है। उसने 'नव' शब्द का नवीन के अर्थ मे प्रयोग किया है। परन्तु कोई व्यक्ति यह कह कर उसका विरोध करे कि उसके पास नव (९) कम्बल कहा हैं? वह नवीन अर्थ मे प्रयुक्त नव शब्द को सख्यावाची बनाकर विरोध करे तो यह छल है।

६-द्रुहिल—जो सूत्र साधक को अहितकर उपदेश दे और पाप कार्य का परिपोषक हो उसे द्रुहिल कहते हैं।

७-निस्सार—जिस सूत्र मे कोई युक्ति या तर्क न हो, केवल शब्दाडम्बर हो उसे निस्सार कहते हैं।

८-अधिक—जिस सूत्र मे पद या अक्षर अधिक हो या एक हेतु या उदाहरण से अर्थ की सिद्धि होने पर भी कई हेतु एव उदाहरण दिए हों, उसे अधिक दोष कहते हैं।

९—ऊन—जिस मे अक्षर, मात्रा, पद आदि कम हों, वह सूत्र ऊन दोष वाला कहा जाता है। जैसे— जैसे कृतक होने से शब्द अनित्य है। यहा उदाहरण की कमी है।

१०-पुनरुक्त—एक ही बात को पुन २ दोहराना पुनरुक्त दोष कहलाता है।

११-व्याहत—जिस सूत्र मे पूर्व कथन का पर वाक्य से खण्डन होता है उसे व्याहत दोष कहते हैं।

वस्तुत. संसार का आधार गुण है । और इन्हीं कारणों से व्यक्ति स्वजन-स्नेहियों की आसक्ति मे फसता है । इस लिए इस उद्देश में बताया गया है कि साधक को परिजनों की आसक्ति का परित्याग करके साधना मे सलग्न रहना चाहिए।

द्वितीय-उद्देशक में सयम पथ पर दृढ़ रहने का उपदेश दिया गया है । सयम-साधना की कठिनता के कारण उसमें अरति पैदा होना स्वाभाविक है। परन्तु परीषहों से घबरा कर साधना-पथ से भ्रष्ट होने वालों के लिए कहा गया है —"वे मद हैं, मोह से ग्रथित है। धीर, वीर और मेधावी पुरुष अलोभ से लोभ पर विजय प्राप्त करके प्राप्त भोगों का आसेवन नहीं करता। अत. वह संसार से मुक्त उन्मुक्त हो जाता है।"

तृतीय-उद्देशक मे मान का, अह-भाव का परित्याग करने के लिए उपदेश दिया गया है—"यह जीव अनेक बार उच्च और नीच गोत्र में उत्पन्न हो चुका है। इससे न तो उसका उत्कर्ष हुआ है और न अपकर्ष ही। अत. कर्म की विचित्रता को समझ कर साधक को उच्च-गोत्र एव ज्ञान तप आदि उच्च क्रिया-काण्डों के मान का परित्याग कर देना चाहिए।"

चतुर्थ उद्देशक मे भोगासक्त जीवों की दुर्दशा का चित्रण किया गया है। उस मे बताया गया है "भोगेच्छा की पूर्ति तो होगी तब होगी, किन्तु आशा एव तृष्णा के शल्य की चुभन तो उन्हें अनवरत परेशान करती ही रहेगी। अत साधक को अप्राप्त पदार्थों की तृष्णा से परे रहना चाहिए।

पञ्चम-उद्देशक मे बताया गया है कि मुनि शरीर का निर्वाह करने के लिए हिंसा न करे। किन्तु, जो गृहस्थ अपने एव अपने परिवार के लिए आहार, पानी, वस्त्र, मकान आदि बनाते या खरीदते हैं, उसमे वह निर्दोष आहार-पानी ग्रहण करे। साधु आर्य है, अत वह आमगन्ध* का त्याग करके निराम-गन्ध होकर विचरण करे।

छट्ठे उद्देश मे बताया गया है कि मुनि लोक-गृहस्थ के घरों से आहारादि की गवेषणा करके जीवन का निर्वाह करता है, फिर भी वह उनमे एव आहारादि पदार्थों

*आम शब्द का वैदिक अर्थ अपक्व या कच्चा मास या अन्न आदि था। वैद्यक ग्रथो में उसका अर्थ 'रोग' भी हुआ। पालि ग्रन्थ मे इसका अर्थ विस्तार होकर 'पाप' होने लगा, शारीरिक रोग की तरह पाप भी आध्यात्मिक रोग है। वहा निराम का अर्थ है—निष्पाप, क्लेश रहित। यहां आम-गन्ध का अर्थ होगा— 'पाप की गन्ध।' परन्तु टीकाकार यहा आमगन्ध का पारिभाषिक अर्थ करते हैं—आधाकर्मादि दोषो से दूषित अशुद्ध आहार। अतः निरामगन्ध का अर्थ हुआ—निर्दोष आहार।

—आचाराङ्ग टीका, पृ० ५०

कहा गया है—"हे पुरुष ! तू ही अपना मित्र है अत बाह्य मित्रों की खोज क्यों करता है ? तू आत्मा का ही आश्रय ले, उस का ही चिन्तन एव शोधन कर । वस्तुत यही दु ख-मुक्ति का मार्ग है ।" जो साधक आत्मा का चिन्तन करता है और रात-दिन इसी को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करता है, वह पूर्ण शान्ति को प्राप्त करता है।

चतुर्थ–उद्देशक मे कहा गया है—"मुनि, क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन करता है। यह त्याग-मार्ग ही उस पश्यक - तीर्थंकर का दर्शन है।" आगे कहा गया है कि "जो एक अपनी आत्मा को जान लेता है, वह सब को जान लेता है, और जो सब को जान लेता है, वह एक को जान लेता है ।" आगे चलकर एक और महत्व पूर्ण बात कही गई है कि " प्रमादी को सर्वत्र भय है और अप्रमादी को कहीं भी भय नहीं है ।" क्योंकि प्रमादी हिंसा का सहारा लेता है और हिसा के साधना भूत शस्त्र एक-दूसरे से अधिक तीक्ष्ण होते हैं इसलिए उसे रात दिन भय बना रहता है परन्तु अहिसा मे तीक्ष्णता नहीं है। उसमें समानता है । इस लिए श स्त्र का परित्याग करने वाला व्यक्ति कभी भी भय को प्राप्त नहीं होता । क्योंकि वह किसी भी प्राणी को भय नहीं देता है। उसके जीवन के किसी भी कोने मे विषमता नहीं है। उसके जीवन मे एकरूपता है, अखण्डता है अत. साधक को अपने आत्म स्वरूप का परिज्ञान करके भाव शस्त्रों—कषायों एवं द्रव्य-शस्त्रों-हिसा के साधनों का त्याग करके सयम साधना मे सलग्न रहना चाहिए।

चतुर्थ–अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन का नाम सम्यक्त्व है । इस के चार उद्देशक हैं । सम्यक्त्व का अर्थ है—श्रद्धा, निष्ठा, विश्वास । प्रश्न हो सकता है कि साधक किस पर श्रद्धा करे, निष्ठा रखे ? इस का उत्तर प्रथम-उद्देशक के प्रथम सूत्र मे दिया गया है। यह सूत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । इस एक सूत्र मे जैन दर्शन का सार समाविष्ट है । वह सूत्र यह है—"अतीत, अनागत एव वर्तमान काल के सभी तीर्थंकरों का कथन है कि सर्व प्राण, सर्व भूत, सर्व जीव और सर्व सत्त्व की हिंसा नहीं करनी चाहिए। उन्हें पीडा एव सताप नही देना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, ध्रुव है और शाश्वत है। अहिंसा की इस श्रद्धा को, निष्ठा को, विश्वास को प्राप्त करके साधक अपनी आचरण की शक्ति को गोपन न करे, उसे छिपाए नही और लोकैषणा एवं लोक प्रशसा की भी इच्छा न करे ।" समकित या सम्यक्त्व का अर्थ है—अहिसा, दया, सत्य आदि सिद्धात पर श्रद्धा रखना एव यथावसर उसे आचरण मे उतारने का प्रयत्न करना ।

द्वितीय उद्देश के प्रारम्भ मे इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि आस्रव एव सवर किसी स्थान विशेष मे आबद्ध नही है । "जो धर्म-स्थान सवर के कारण हैं, साधन

है, वहां आस्रव हो सकता है और जो स्थान आस्रव-कर्म के आने के द्वार हैं, वहा संवर की साधना भी हो सकती है।" कहने का तात्पर्य यह है कि आस्रव एव संवर का आधार एकान्त रूप से स्थान एवं क्रिया नहीं, वल्कि क्रिया के साथ साधक की शुभाशुभ या शुद्ध भावना है। यदि भावना में विशुद्धता है, राग-द्वेप से रहित परिणाम है, तो क्रिया मे वाह्य रूप से हिंसा होने पर भी उससे कर्म वन्ध नहीं होता और यदि भावना में अविशुद्धता है, कपायों की आग प्रज्वलित है, तो वह सामायिक भवन मे सामायिक करते हुए भी पाप कर्म का वन्ध कर लेता है। अत. साधक को आस्रव एवं सवर के मूल भूत साधन में विश्वास रखकर अपनी भावना को विशुद्ध एवं राग-द्वेष से रहित वनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

तृतीय उद्देशक में वताया गया है कि भाव-विशुद्धि से संवर होता है, कर्मों का आना रुकता है। परन्तु, मुक्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि जो पुरातन कर्म अवशेप हैं, उन्हें भी नष्ट किया जाए। उनका क्षय करने के लिए तप-साधना आवश्यक है। अत तप-साधना पर निष्ठा रखकर यथाशक्य उसे आचरण में लाना चाहिए।

चतुर्थ उद्देशक में बताया है कि साधना का मार्ग वीरों का मार्ग है। इस पर चलना कठिन है। इसके लिए साधक को शारीरिक ममत्व एव सुखों का त्याग करना पडता है।

अन्त में कहा गया है कि वस्तुत. तत्त्वज्ञ या श्रद्धा-निष्ठ वह है, जो कर्म को फल-प्रदाता समझता है, उसे ससार का कारण जानता है और उस पर विश्वास करके कर्म-वन्ध के कारणों से निवृत्त होने का प्रयत्न करता है।

वस्तुत श्रद्धा-निष्ठ या सम्यक्त्वी वह है, जो अहिंसा पर श्रद्धा रखता है, जो आस्रव एव संवर के मूल भूत कारण को जानता है, जो तप-साधना को निर्जरा का का कारण मानता है और जो कर्म-वन्ध के साधनों को त्याज्य समझता है। और साधक वह है, जो इस प्राणवन्त श्रद्धा को जीवन में, आचरण मे उतारने का प्रयत्न करता है।

पञ्चम-अध्ययन

इस लोकसार अध्ययन के ६ उद्देशक हैं। वस्तुत. धर्म ही लोक से सारभूत तत्त्व है। धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार संयम है और सयम का सार निर्वाण है। प्रस्तुत अध्ययन मे इसी का विस्तार से वर्णन किया गया है।

प्रथम-उद्देश के पहले सूत्र मे कहा गया है— "जो व्यक्ति प्रयोजन या निष्प्रयोजन से जीवों की हिंसा करते हैं, वे सदा उन्हीं जीवों मे घूमते हुए दुःखों का अनुभव करते हैं।'

क्योंकि, हिंसा से कर्म बन्ध होता है और कर्म बन्ध से संसार बढ़ता है। अत हिंसक प्राणी संसार को पार नहीं कर सकते। इसके आगे कहा गया है कि 'वे न भोगों के अन्दर हैं और न उनसे दूर हैं।' इसका अभिप्राय यह है कि जीव विषय-भोगों के मध्य में रहते हुए भी सभी भोगों को भोग नहीं सकता। इसलिए वह पूर्णत उनके मध्य मे भी नहीं है। और सब भोगों को भोगने की शक्ति न होने पर भी उसका मन सदा भोगों मे घूमता रहता है, अत वह भोगों से दूर भी नहीं है। अत संसार से वही दूर है, जो हिंसा एव भोगों का त्याग कर चुका है और जो मन में उत्पन्न संशय—जिज्ञासा का यथार्थ परिज्ञान कर चुका है। परन्तु, जिसने हिंसा एव भोगों का त्याग नहीं किया है और संशय का भी निवारण नहीं किया है, वह संसार से पार नहीं हो सकता है। ज्ञानी पुरुषों ने उसे मुक्ति से दूर कहा है।

द्वितीय-उद्देश में कहा गया है कि मुनि वही है, जो लोक के मध्य मे रहकर भी हिंसा जीवी नहीं है। उसने यह जान लिया है कि प्रत्येक जीव सुख चाहता है, जीवन चाहता है, मरण सब को अप्रिय है। अत वह किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता। वह हिंसा के पाप से सदा दूर रहता है।

तृतीय-उद्देश में अपरिग्रह की चर्चा की गई है। इसमे कहा गया है कि साधक को अपनी कामासक्त आत्मा से ही युद्ध करना चाहिए। क्योंकि आत्म-विजय ही सच्ची विजय है। अत साधक के लिए बाह्य विजय निष्प्रयोजन है। वस्तुतः "यह आर्य युद्ध ही सच्चा युद्ध है और यह युद्ध अति दुर्लभ एव कठिन है।" बाह्य युद्ध तो अनार्य युद्ध है। अत साधक को अनासक्त भाव से विकारों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

चतुर्थ-उद्देश में यह बताया है कि जो मुनि वय एवं ज्ञान से अपरिपक्व है, परीषहों को सहने मे अक्षम है, उसे एकाकी विचरण नहीं करना चाहिए।

पञ्चम-उद्देश में कहा गया है कि सदा संशयशील रहने वाले साधक को समाधि लाभ नहीं होता। उसे पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान करके हिंसादि दोषों से निवृत्त होना चाहिए। क्योंकि पर-प्राणी की हिंसा अपनी स्वय की हिंसा है। अत यह कहा गया है कि "जिसे तू हन्तव्य-मारने योग्य जानता है, वही तू है।" क्योंकि, उसे मारने के पूर्व तू अपने आत्म गुणों का नाश करता है, अपनी आत्मा का वध कर रहा है। अत साधक को चाहिए कि वह हिंसा-अहिंसा के यथार्थ स्वरूप को समझ कर हिंसा का सर्वथा परित्याग करे।

छठे-उद्देश मे कहा गया है कि कुछ लोग संयम-रत हैं, किन्तु आज्ञा-आराधक नहीं है। कुछ आज्ञा के आराधक हैं, किन्तु, संयम रत नहीं हैं। कुछ न आज्ञा-

आराधक है और न संयम-रत ही हैं। कुछ लोग आज्ञा-आराधक भी है और संयम-रत भी हैं। परन्तु, वस्तुत बुद्धिमान साधक वही है, जो आज्ञा के अनुरूप आचरण करता है और वही मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। मुक्ति या मुक्त जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया गया है कि "वह दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण, परिमण्डल, कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र, शुक्ल, सुरभिगन्ध, दुरभिगन्ध, तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, मधुर, कर्कश, मृदु, गुरु-लघु, उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, काय युक्त, रुह-पुनर्जन्म, सङ्ग, स्त्री, पुरुष और नपुंसक इनमें से कुछ भी नहीं है। मुक्तात्मा या परमात्मा का यही वर्णन उपनिषद् एवं अन्य वैदिक ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है।

छट्ठा—अध्ययन

षष्ठम-अध्ययन का नाम 'धुत' है। इसके पांच उद्देश हैं। धुत का अर्थ है—वस्तु पर लगे हुए मैल को दूर करके उसे साफ-स्वच्छ बना देना। यह द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। मैले-कुचेले वस्त्र को साबुन आदि क्षार पदार्थ लगाकर शुद्ध एवं उज्ज्वल बनाना द्रव्य धुत है और आत्मा पर चिपटे हुए कर्म मल को तप-स्वाध्याय आदि साधना के द्वारा दूर करके आत्मा को शुद्ध, निर्मल, उज्ज्वल, समुज्ज्वल, परमोज्ज्वल बनाना भाव धुत है। प्रस्तुत उद्देशक में भाव-धुत अर्थात् आत्मा को उज्ज्वल बनाने का उपदेश दिया गया है।

प्रथम-उद्देशक में कुछ उदाहरण देकर यह समझाया गया है कि मोह में आसक्त व्यक्ति कभी भी शान्ति को नहीं पा सकता। जैसे तालाब में निवसित कछुआ शैवाल से आच्छादित तालाब के बाहर क्या-कुछ है और बाहर जाने का मार्ग किस ओर है यह नहीं जान सकता। और वृक्ष भी दुःख एवं आपत्तियों से अपने बचाव करने के लिए अन्यत्र नहीं जा सकता है। इसी तरह मोह में आसक्त व्यक्ति सत्य-मार्ग को नहीं देख सकता और न उसे पा सकता है, जिससे उस पथ पर चल कर शान्त-प्रशान्त स्थान पर पहुच सके। वह ससार मे रहकर दु:खो की चक्की मे पिसता रहता है। अत साधक को मोह एव ससार की आसक्ति से सदा दूर रहना चाहिए।

द्वितीय-उद्देशक में बताया गया है कि कुछ साधक परीषहों से घबरा कर साधुत्व का परित्याग कर देते हैं। वे वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादपुंछनक रजोहरण आदि संयम-साधना के उपकरणों का त्याग करके गृहस्थ बन जाते हैं। इससे वे संसार मे परिभ्रमण करते-रहते है। इससे स्पष्ट होता है कि साधु उक्त वस्त्र आदि उपकरणों को रखते थे। आगे बताया है कि कुछ साधक दृढता के साथ संयम का पालन करके मुक्ति को प्राप्त कर लेते है।

तृतीय-उद्देशक में यह बताया है कि वस्त्र का त्याग करने वाला मुनि इस बात की चिन्ता न करे कि मेरा वस्त्र फट गया है, अत सूई-धागा लाकर इसे सीना है। परन्तु, वह इस बात का अनुभव करे कि मै हलका बन गया हू और मुझे सहज ही तप-साधना का अवसर मिल गया है। अत वस्त्र की चिन्ता न करके साधक उन महापुरुषो के जीवन का चिन्तन करे जिन्होंने निर्वस्त्र होकर भी समभाव पूर्वक साधना के द्वारा कर्मों का क्षय करके मुक्ति को प्राप्त कर लिया है।

चौथे-उद्देशक में बताया गया है कि कुछ साधु आचार से च्युत होकर भी लोगों को सम्यक् आचार का उपदेश देते हैं। परन्तु, कुछ साधक आचार के साथ ज्ञान से भी भ्रष्ट हो जाते है। सम्यग् ज्ञान और दर्शन से भ्रष्ट साधु अपने जीवन का अधःपतन कर लेते हैं। वे अनन्तकाल तक संसार मे भटकते रहते हैं। अत साधक को सदा ज्ञान एव आचार की साधना में संलग्न रहना चाहिए।

पञ्चम-उद्देशक में बताया गया है कि उपदेष्टा कैसा हो? उसे कब, किसको और कैसे उपदेश देना चाहिए? इसमें बताया गया है कि उपदेष्टा कष्ट सहिष्णु हो, समस्त प्राणियों की दया एव रक्षा करने वाला हो, वेदवित्—आगमो का ज्ञाता हो, सब के लिए शरणभूत हो और उसका उपदेश सबके लिए हो और सबका हित करने वाला हो। और उपदेशक को शान्ति-अहिंसा, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच, आर्जव, मार्दव और लाघव इन विषयों पर उपदेश देना चाहिए।

इस तरह की साधना के द्वारा ही साधक अपनी आत्मा पर लगे हुए कर्मों को दूर कर सकता है। कर्म-रज से मुक्त होने के लिए ज्ञाना और आचार (क्रिया) की समन्वित साधना आवश्यक है। प्रस्तुत उद्देशक मे 'वेदवित्' शब्द का प्रयोग किया किया है। यहा 'वेद' का अर्थ है— आत्मा, पदार्थ एव लोक के यथार्थ एवं सम्यक् स्वरूप का प्रतिपादक आगम। अत "वेदवित्' का अर्थ हुआ श्रुत–आगम-साहित्य या शास्त्रो का ज्ञाता।

सप्तम-अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन का नाम महापरिज्ञा है और यह सात उद्देशकों मे विभक्त है। वर्तमान मे यह अध्ययन उपलब्ध नही है। महापरिज्ञा का अर्थ है—विशिष्ट ज्ञान। आचार्य शीलाक लिखते हैं कि प्रस्तुत अध्ययन में मोह के कारण से होने वाले परीषहों और उपसर्गों का वर्णन है। इसके सम्बन्ध मे परम्परा से ऐसी मान्यता चली आ रही है कि इसमें मन्त्र–तन्त्र से बचने का उपदेश दिया गया था। क्योंकि, मन्त्र–तन्त्र की साधना से मोह का उदय होना सम्भव है। इसलिए आचार्यों ने साधु जीवन को मोह-

जन्य हानि से बचाने के लिए विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न साधकों के अतिरिक्त सर्व साधारण के लिए इसका अध्ययन करना बन्द कर दिया। इस प्रतिबन्ध के कारण इसका अध्ययन कम हो गया और एक दिन यह स्मृति से ही उतर गया। अस्तु, जो कुछ भी कारण रहा हो, इसके विच्छेद होने से एक बडी साहित्यिक क्षति अवश्य हुई, यह तो मानना ही पड़ेगा।

प्रस्तुत विमोक्ष अध्ययन आठ उद्देशों मे विभक्त है। प्रथम उद्देशक में असमान आचार वाले साधु के साथ नहीं रहने का उपदेश दिया गया है और उसे आहार-पानी वस्त्र-पात्र आदि देने एवं उसकी सेवा करने का भी निषेध किया है। द्वितीय उद्देशक मे अकल्प—जो वस्तु लेने योग्य नहीं है, उसको ग्रहण नहीं करने का उपदेश दिया गया है। तृतीय उद्देशक मे बताया गया है कि यदि उस अकल्पनीय वस्तु को ग्रहण न करने पर कोई गृहस्थ रुष्ट हो जाए तो उसे साध्वाचार समझाना चाहिए। इस पर भी यदि वह साधु को भला-बुरा कहे या कुछ कष्ट दे, तो उसे समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए, परन्तु अकल्पनीय वस्तु किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं करना चाहिए। चतुर्थ उद्देशक मे यह बताया है कि यदि साधु की अङ्ग-चेष्टा को देखकर किसी गृहस्थ के मन मे कुछ सन्देह उत्पन्न हो गया हो तो साधु उसका अवश्य ही निवारण कर दे। पञ्चम उद्देशक मे एक पात्र एवं तीन वस्त्र धारण करने वाले साधु के लिए कहा गया है कि वह इससे अधिक की अभिलाषा न रखे। छठे और सातवें उद्देशक मे क्रमश एक पात्र और दो एवं एक वस्त्र धारण करने वाले के सम्बन्ध में यही बात कही गई है। अष्टम उद्देशक में गद्य में वर्णित विषय का गाथाओं-पद्य में वर्णन किया गया है।

नवम-अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन का नाम उपधान है। यह चार उद्देशों मे विभक्त है। इसमे एक भी सूत्र नहीं है। गाथाओं-पद्य मे भगवान महावीर की साधना का वर्णन किया गया है।

प्रथम-उद्देशक के बताया गया है कि दीक्षा ग्रहण करने के बाद भगवान ने इन्द्र के द्वारा प्रदत्त देव-दूष्य वस्त्र के अतिरिक्त कोई वस्त्र नहीं लिया और इसके लिए भी उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि मैं हेमन्त ऋतु में इस वस्त्र को शरीर ढकने के लिए काम मे नहीं लूंगा। उन्होंने उस वस्त्र को शीत निवारण एवं डंस-मशक के कष्ट से बचने के लिए कभी भी काम में नही लिया। उन्होंने अनुधर्मिता-पूर्व तीर्थंकरों की परम्परा को निभाने के लिए ही इसे स्वीकार किया था।

चूर्णि मे अनुधर्मिता का अर्थ गतानुगत किया है। तात्पर्य यह है कि भगवान ने दीक्षा के समय एक वस्त्र ग्रहण करने की परम्परा का पालन किया था। इसका एक दूसरा अर्थ—अनुकूल धर्म्य भी किया है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान को आगे चलकर सोपधिक-वस्त्र-पात्र आदि उपधि सहित धर्म का उपदेश देना था, इसलिए भगवान ने एक वस्त्र को स्वीकार किया।

संस्कृत कोष मे यह शब्द नहीं मिलता है। परन्तु पालि ग्रन्थों मे यह शब्द 'अनुधम्मता' रूप मे मिलता है। कोष मे इसका अर्थ—Lawfullness, Conformity to Dhamma" दिया है। पालि मे 'अनुधम्म' शब्द भी मिलता है। इसका अर्थ है—Conformity or accordance with the law, Lawfullness, relation, essence consistansy truth यदि इन अर्थों पर ध्यान दिया जाए तो अनुधर्मिता शब्द का अर्थ होता है— भगवान महावीर ने धर्म के अनुकूल आचरण किया। और चूर्णिकार द्वारा किया गया अर्थ भी उपयुक्त है। क्योंकि यह प्रश्न उठेगा कि भगवान ने कौन से धर्म का आचरण किया? इसका समाधान यह होगा कि जो धर्म परम्परा से तीर्थंकरों द्वारा आचरित था और व्यवहार में रूढ हो रहा था। अत वह केवल धर्म ही नहीं, अनुधर्म —परम्परा से चला आ रहा धर्म था*।

इसके आगे बताया गया है कि दीक्षा के पूर्व उनके शरीर पर चन्दनादि सुवासित पदार्थों का लेपन किया गया था। उस सुवास का आस्वादन करने के लिए भ्रमर—मधुमक्षिका आदि जीव-जन्तु उनके शरीर पर बैठने एव डक मारने लगे। फिर भी भगवान अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए। वे समभाव पूर्वक इन परीषहों को तथा वैसे एव उनसे भी भयकर अन्य परीषहों को भी सहन करते रहे।

वे सदा ईर्यासमिति से मार्ग को देखकर चलते थे। स्त्री-संसर्ग एव विषय-वासनाओं से पूर्णत मुक्त थे। वे सदा अपने कर-पात्र (हाथ) मे ही भोजन करते थे। उन्होंने कभी गृहस्थ के पात्र मे भोजन नहीं किया।

द्वितीय-उद्देशक मे यह बताया गया है कि भगवान सदा शून्य-स्थानों मे एव गाव या शहर के बाहर ठहरते थे। और यह भी बताया गया है कि छद्मस्थ अवस्था में भगवान सदा प्रमाद (निद्रा) से दूर रहे हैं। यदि कभी निद्रा आने को होती तो वे खड़े होकर या चक्रमण—घूम-फिर करके उसे हटा देते थे। उन्हें शून्य एव निर्जन स्थानों मे

---

* श्रमण, वर्ष ६, अक ६, पृष्ठ २७।

प्रस्तुत-अनुवाद एव व्याख्या

प्रस्तुत अनुवाद एव व्याख्या स्व० आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने अपनी निजी पद्धति के अनुसार की है। इसमें मूल पाठ, संस्कृत-छाया, मूलार्थ, हिन्दी भावार्थ और हिन्दी-विवेचन दिया गया है। श्रद्धेय आचार्य श्री जी के उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि अन्य आगम भी इसी शैली में प्रकाशित हुए हैं। इससे आगम के साधारण पाठक को समझने में कठिनाई महसूस नहीं होती।

सम्पादन

प्रस्तुत–आगम का संपादन मैंने किया है। मैंने एक बार श्रद्धेय स्व० आचार्य-श्री जी से निवेदन किया था कि आज के व्यस्त जीवन में पाठकों के पास इतना समय नहीं रहता है कि वे एकाग्रचित से इतने लम्बे विवेचन का पारायण कर सके। अत आज की संक्षिप्त शैली मे भावानुवाद एवं कहीं-कहीं कठिन स्थलों को स्पष्ट करने के लिए यथा-प्रसंग टिप्पण दे दिया जाए। परन्तु, स्व० आचार्य श्री जी को मेरी योजना उपयुक्त नहीं लगी। मैंने भी अपने विचारों का न तो आग्रह रखा और न उन पर जोर ही दिया। क्योंकि, मेरा काम तो उन्हीं के विचारों को व्यवस्थित रूप देना था और भाषा को योजना था और वह मैंने यथाशक्य किया और स्व० आचार्य श्र के जीवन काल मे ही पूरा कर दिया। जिसे उन्होंने खूब पसन्द किया। मेरा दायित्व बस इतना ही था कि उनके विचारों के अनुरूप ग्रन्थ तैयार कर दू और यह पाठकों के हाथ में है।

मेरा यह विचार था कि आचाराङ्ग पर गवेषणात्मक विस्तृत भूमिका दी जाए। परन्तु समय की कमी ग्रन्थों का उचित सहयोग न मिल सकने के कारण मैं अपनी साधना को मूर्तरूप नहीं दे सका। इसके लिए मुझे हार्दिक खेद है।

प्रकाशन कार्य

प्रस्तुत-ग्रन्थ के प्रकाशन मे सौन्दर्य नहीं आ पाया, उसकी छपाई-सफाई भी इतनी साफ सुथरी एवं चमकती हुई नही है और प्रूफ की गलतियें भी काफी रह गई हैं। संभव है, प्रकाशन का पूरा अनुभव न होने के कारण ही ऐसा हुआ हो। अतः आशा रखनी चाहिए कि भविष्य मे इस ओर विशेष ध्यान दिया जाएगा और इसमे त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न किया जाएगा तथा द्वितीय-श्रुतस्कन्ध के प्रकाशन में विशेष ध्यान रखा जाएगा।

आभार-प्रदर्शन

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि आगम संपादन का पूर्ण अनुभव न होने पर

भी मै श्रद्धेय स्व० आचार्य श्री की सेवा में अपनी श्रद्धा के कुछ पुष्प चढा सका। मुझे इस कार्य में लेखनी का सहयोग किसी साथी से नहीं मिला। जो कुछ किया वह मेरा अपना श्रम है। परन्तु, संपादन कार्य करते समय वाह्य-सामग्री एव साधनों को जुटाने की व्यवस्था में श्रद्धेय स्व० आचार्य श्री जी के सेवा निष्ठ और अन्तिम-सास तक उनकी सेवा में संलग्न रहने वाले एवं मेरे परम स्नेही साथी श्री रत्नमुनि जी महाराज का सदा सहयोग मिलता रहा और स्व० आचार्य श्री का वरद हस्त भी सदा बना रहा। अत: मैं श्रद्धेय श्री का आभार एवं स्नेही साथी श्री रत्नमुनि जी की मधुर एवं स्नेहिल स्मृति को कभी नहीं भुला सकता।

—मुनि समदर्शी



आचार्यप्रवर

श्री आत्माराम जी महाराज की सक्षिप्त जीवनी

जन्मस्थान	—राहों, जिला जालन्धर।
जन्म	—भाद्रपद शुक्ला द्वादशी वि० सं० १९३९।
माता	—परमेश्वरी देवी।
पिता	—श्री मनसाराम ।
वर्ण	—क्षत्रिय।
वंश	—चोपडा।
दीक्षा	—१९५१ आषाढ मास।
दीक्षा-स्थान	—छत्त बनूड़ (पजाब)।
दीक्षा-गुरु	—स्वामी श्री शालिग्राम जी महाराज।
विद्या-गुरु	—आचार्य श्री मोतिराम जी महाराज।
उपाध्याय-पद	—वि० सं० १९६९, अमृतसर।
पजाब प्रान्तीय-आचार्यपद	—वि० स० २००३, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, लुधियाना।
श्रमणसंघीय-आचार्यपद	—वि० स० २००९ वैशाख शुक्ला तृतीया।
स्वर्गारोहण	—वि०स० २०१८ माघ वदी ९ मी, लुधियाना।
सर्वायु	—८० वर्ष।
प्रमुखशिष्य	—श्री खजानचन्द्र जी महाराज।
वर्तमान कालीन शिष्य-समुदाय	—पन्द्रह।

गुरु–शिष्य–परम्परा

आचार्य अमरसिंह जी महाराज

श्री मोती राम जी महाराज

श्री गणपति रायजी महाराज

बावा जयराम दास जी महाराज

श्री शालिगराम जी महाराज

श्री आचार्य आत्मा राम जी महाराज

श्री खजानचन्द्र जी, स्व. श्री ज्ञानचन्द्र जी, प. श्री हेमचन्द्र जी, श्री ज्ञानमुनिजी, श्री प्रकाशमुनिजी, श्री रत्नमुनिजी, श्री मनोहरमुनिजी, श्री मथुरादासजी

स्व. श्री लाभचन्द्र जी, श्री प्रेमचन्द्र जी

स्व० सुरजन मुनि, स्व० मुनि तुलसीराम जी

श्री फूल चन्द्र जी, श्री त्रिलोकमुनि जी

भंडारी श्री पद्मचन्द्र जी

श्री विक्रमादित्य जी

श्री क्रांतिमुनि जी, श्री जिनेशमुनि जी,

श्री अमरमुनि जी

॥ णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

❀ श्री आचाराङ्ग सूत्र ❀

प्रथम अध्ययन—शस्त्रपरिज्ञा

प्रथम उद्देशक

मूलम्—सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं ॥ १ ॥

संस्कृत-च्छाया—श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम् ।

पदार्थ—आउस !=हे आयुष्मन् ! । मे सुयं=मैंने सुना है । तेणं भगवया=उस भगवान ने । एवमक्खायं=इस प्रकार कथन किया है ।

भावार्थ—श्रमण भगवान महावीर के पञ्चम गणधर, प्रथम पट्टधर—आचार्य श्री सुधर्मास्वामी अपने प्रमुख शिष्य आर्य जम्बू स्वामी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है कि उस भगवान—भगवान महावीर ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है, कहा है ।

हिन्दी विवेचन—भारतीय-संस्कृति मे साहित्य-सृजन की प्राचीन पद्धति यह रही है कि पहले मंगलाचरण करके फिर सूत्र या ग्रन्थ रचना की जाती थी। जैनागमों एवं ग्रन्थों की रचना भी इसी पद्धति से की गई है। इस पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि पहले मंगलाचरण करने की परंपरा रही है, तो प्रस्तुत सूत्र मे उस परंपरा को क्यो तोड़ा गया ? क्योंकि, आचाराङ्ग सूत्र को प्रारम्भ करते समय मंगलाचरण तो नहीं किया गया है। "सुयं मे आउसं !"—आदि पाठ लिख कर सूत्र आरम्भ कर दिया गया है। इस से ऐसा लगता है कि यहां सूत्रकार ने पुरातन परंपरा को नहीं निभाया है ? नहीं, ऐसी बात नहीं है। यदि गहराई से सूत्र का अनुशीलन-परिशीलन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जायगा कि सूत्र के आरम्भ में मंगलाचरण किया गया है। यहां मंगलाचरण के रूप में श्रुतज्ञान का उल्लेख किया गया है। अनुयोगद्वार सूत्र के पहले सूत्र मे कहा है कि पांच ज्ञानों में से श्रुत ज्ञान को छोड़ कर शेष चार ज्ञान स्थापने योग्य हैं। क्योंकि, पांच ज्ञानों में श्रुतज्ञान विशेष उपकारी है, श्रुतज्ञान को उपकारी इसलिए माना गया है कि तीर्थंकरो द्वारा प्ररूपित मार्ग का बोध श्रुतज्ञान

के द्वारा होता है। क्योंकि, श्रुत-आगम मे ही उनके प्रवचनों का सग्रह है। श्री भगवती सूत्र शतक २०, उद्देशक ८ मे गौतम स्वामी के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए, भगवान ने फरमाया है—"हे गौतम! तीर्थंकर प्रवचन नहीं, निश्चित रूप से प्रावचनिक होते हैं, द्वादशांगी वाणी ही प्रवचन है"। और इसी द्वादशागी वाणी को श्रुत कहते हैं। इसे सुन-पढ़ कर तथा तदनुसार आचरण करके जीव सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त होता है। सर्व कर्म बन्धन से मुक्त-उन्मुक्त होने के लिए तीर्थकरों की वाणी एक प्रकाशमान सर्चलाइट है। यही कारण है कि पाच ज्ञानों मे श्रुतज्ञान को उपकारी माना गया है। और वीतराग-वाणी होने के कारण श्रुतज्ञान मंगल है, अत. उस का मगल रूप से ही उल्लेख किया गया है।

दशवैकालिक सूत्र में धर्म को सर्वोत्कृष्ट मंगल माना है*। और स्थानाग सूत्र मे जहां दस धर्मों का वर्णन किया गया है, वहा श्रुत और चारित्र का धर्म रूप से उल्लेख किया गया है† और टीकाकार ने इस का विवेचन करते हुए श्रुत और चारित्र धर्म को प्रमुखता दी है। क्योंकि, श्रुत धर्म मगल रूप है।

आचाराङ्ग का पहला सूत्र है—"सुयं मे आउस! तेणं भगवया एवमक्खायं"। इस सूत्र में श्रमण भगवान महावीर के वचनों को अङ्कित किया गया है। "श्रुतमिति श्रुतज्ञानं" मैने सुना है, यह श्रुत ज्ञान है। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि तीर्थंकरों की वाणी को श्रुत ज्ञान कहा गया है। और प्रस्तुत सूत्र—मैंने सुना है कि उस भगवान —श्रमण भगवान महवीर ने ऐसा कहा है, यह तीर्थंकर भगवान की ही वाणी है। अत' प्रस्तुत सूत्र श्रुतज्ञान होने से मगल रूप है। ऐसे देखा जाए तो सम्पूर्ण आगम—शास्त्र ही मगल रूप है। क्योंकि, वह ज्ञान रूप है और ज्ञान से हेय और उपादेय का बोध होता है तथा साधक हेय वस्तुओं का त्याग कर के उपादेय को स्वीकार करता है। इससे कर्मों की निर्जरा होती है और एक दिन आत्मा कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। कहा भी है कि अज्ञानी मनुष्य बाल तपस्या आदि अज्ञान क्रिया से जिन पाप कर्मों को अनेक करोड़ों वर्षों मे क्षय करता है, उतने कर्मों को तीन गुप्तियों से युक्त ज्ञानी पुरुष एक उच्छ्वास मात्र मे क्षय कर देता है‡। अत श्रुत ज्ञान मोक्ष का कारण होने से मंगल रूप है। यही कारण है कि सूत्रकार ने दूसरा मंगलाचरण न करके "सुय मे " पद को मगलाचरण के रूप मे देकर, पुरातन परपरा को सुरक्षित रखा है॥

* "धम्मो मगलमुक्किट्ठं"—दशवैकालिक १, १।

† स्थानाग सूत्र, स्थान १०।

‡ ज अन्नाणी कम्म खवेइ, बहुयाहिं वासकोडिहिं, त नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उस्सासमित्तेण।

—प्रवचनसार

मंगलाचरण के विवेचन में हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि द्वादशांगी श्रमण भगवान महावीर की धर्मदेशना का संग्रह है। भगवान महावीर ने द्वादशांगी का अर्थरूप से प्रवचन किया था, परन्तु तीर्थंकर भगवान का वह प्रवचन जिस रूप में ग्रन्थबद्ध या सूत्रबद्ध हुआ है, उस शब्द रूप के प्रणेता गणधर हैं*। आगमों में एवं अन्य ग्रन्थों में जहां यह कहा गया है कि जैनागम—द्वादशांगी तीर्थंकर-प्रणीत हैं, उसका तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर उसके अर्थरूप से प्रणेता हैं अर्थात् गणधरों द्वारा की गई सूत्ररचना का आधार तीर्थंकरों की अर्थरूप वाणी ही है। अतः इस अपेक्षा से जैनागमों को तीर्थंकर-प्रणीत कहा जाता है।

द्वादशांगी वाणी में श्री आचाराङ्ग सूत्र का प्रथम स्थान है। श्रमण संस्कृति में आचार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह कर्म क्षय का महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है। कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त होने के लिए सम्यग् दर्शन और ज्ञान के साथ चारित्र—आचार का होना अनिवार्य है। आचरण के अभाव में मात्र ज्ञान से मुक्ति का मार्ग तय नहीं हो पाता। इसलिए आचरण को प्रमुख स्थान दिया गया है। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने भी कहा है– आचार ही तीर्थंकरों के प्रवचन का सार है, मुक्ति का प्रधान कारण है। अतः पहले इसका अनुशीलन-परिशीलन करने के पश्चात् ही अन्य अङ्ग शास्त्रों के अध्ययन में गति-प्रगति हो सकती है। यही कारण है कि द्वादशांगी का उपदेश देते समय तीर्थंकर सब से पहले आचार का उपदेश देते हैं और गणधर भी इसी क्रम से सूत्ररचना करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में आचार का विस्तृत विवेचन किया गया है। साधारणतः आचार शब्द का अर्थ होता है—आचरण, अनुष्ठान। प्रस्तुत सूत्र में आचार शब्द साधु के आचरण या संयम-मर्यादा से संबद्ध है और अङ्ग शास्त्र को कहते हैं। अतः आचार +अङ्ग—आचाराङ्ग का यह अर्थ हुआ कि वह शास्त्र जिसमें साधु-जीवन से संबंधित आचरण या क्रिया-काण्ड का विधान किया गया है, संयम-साधना का निर्दोष मार्ग बताया गया है।

आचाराङ्ग सूत्र दो श्रुतस्कंधों में विभक्त है। पहिले श्रुतस्कंध में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का सूत्र शैली में अच्छा विश्लेषण किया गया है। छोटे-छोटे सूत्रों में गंभीर अर्थ भर दिया है। दूसरे श्रुतस्कंध में प्रायः चारित्राचार का वर्णन है। विषय के अनुरूप उसकी निरूपण शैली भी

सीधी-सादी है और भाषा भी सरल रखी गई है। दोनों श्रुतस्कधों में पच्चीस अध्ययन हैं। पहले श्रुतस्कध मे नव और दूसरे श्रुतस्कंध मे सोलह अध्ययन है । प्रत्येक अध्ययन कई उद्देशको में बटा हुआ है। एक अध्ययन के अनेकों विभाग मे से एक विभाग को अथवा एक अध्ययन मे प्रयुक्त होने वाले अभिनव विपय को नए शीर्पक से प्रारम्भ करने की पद्धति को आगमिक भाषा में उद्देशक कहते हैं । आचाराङ्ग सूत्र के पहिले श्रुतस्कध का पहला अध्ययन सात उद्देशकों मे विभक्त है, दूसरा अध्ययन छह, तीसरा और चौथा अध्ययन चार-चार, पाचवा अध्ययन छह, छट्ठा अध्ययन पाच, सातवां अध्ययन सात*, आठवा अध्ययन आठ और नवम अध्ययन चार उद्देशकों मे वंटा हुआ है। इस तरह आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कध के ६ अध्ययनों के ५१ उद्देशक बनते हैं।

आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कध मे तीन चूलिकाएं हैं। प्रथम चूलिका में १० से १६ तक, द्वितीय चूलिका मे १७ से २३ तक और तृतीय चूलिका मे २४वां और २५वां ये दो अध्ययन हैं। इस तरह द्वितीय श्रुतस्कध में कुल १६ अध्ययन है । दसवें अध्ययन के ११ उद्देशक हैं। ग्यारहवें और बारहवे अध्ययन के तीन-तीन उद्देशक हैं । तेरहवें से सोलहवे अध्ययन तक सब के दो-दो उद्देशक हैं। शेप अध्ययनों मे कोई उद्देशक नहीं है, उनमे एक ही विपय का एक ही धारा मे वर्णन चलता है। इस तरह आचाराङ्ग सूत्र द्वितीय श्रुतस्कंध की तीन चूलिकाएं, १६ अध्ययन और २५ उद्देशक हैं । यहां तक आचाराङ्ग सूत्र के दोनों श्रुतस्कंधों मे वर्णित अध्ययनों एव उद्देशकों की सख्या का निर्देश किया गया है। उनमें वर्णित विषय का विवेचन यथास्थान किया जाएगा।

आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कध के प्रस्तुत अध्ययन का नाम शस्त्रपरिज्ञा है । जीवों को हिंसा के कारणभूत उपकरण को शस्त्र कहते हैं । शस्त्र भी द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो प्रकार के होते हैं । जिन हथियारों या शस्त्रास्त्रों से प्राणियों के प्राणों का विनाश किया जाता है, उन चाकू, तलवार, रिवाल्वर, राइफल, वम्ब आदि को द्रव्य शस्त्र कहते है। और जिन अशुभ भावों से प्राणियों का वध करने की भावना उद्बुद्ध होती है तथा मन, वचन और शरीर के योगों की हिसा की ओर प्रवृत्ति होती है, उन राग-द्वेप युक्त विषाक्त परिणामों को भाव शस्त्र कहा गया है।

'परिज्ञा' शब्द का सीधा-सा अर्थ है—ज्ञान। परन्तु, ज्ञान का अर्थ सिर्फ जानना ही नहीं, तदनुसार आचरण करना भी है। इसी दृष्टि को ध्यान मे रख कर परिज्ञा शब्द के दो भेद किए गए है—१—ज्ञ परिज्ञा और २—प्रत्याख्यान परिज्ञा। संसार के कारणभूत राग-द्वेप एव अशुभ योगों का परिज्ञान—बोध प्राप्त करना, 'ज्ञ' परिज्ञा है और 'ज्ञ' परिज्ञा से परिज्ञापित—भली-भाति जाने हुए विकारी भावों एव अशुभ योगों का परित्याग

* इस अध्ययन का विच्छेद हो गया है, यह वर्तमान मे उपलब्ध नही होता है।

करना अथवा संसार मार्ग से निवृत्त होकर संयम साधना में प्रवृत्त होना 'प्रत्याख्यान' परिज्ञा है। 'ज्ञ' परिज्ञा से ज्ञान का उल्लेख किया गया है और 'प्रत्याख्यान' परिज्ञा के द्वारा त्यागमय आचरण को स्वीकार करने का आदेश दिया गया है। इस तरह एक 'परिज्ञा' शब्द में ज्ञान और क्रिया दोनों का समन्वय कर दिया गया है, जो वास्तव में मोक्ष का मार्ग है। और वस्तुत: ज्ञान का मूल्य भी त्याग में, निवृत्ति में ही रहा हुआ है। श्रमण-संस्कृति के चिन्तकों ने "णाणस्स फलं विरई" अर्थात् ज्ञान का फल विरक्ति है, यह कह कर इस बात को अभिव्यक्त किया है कि वही ज्ञान आत्मोत्थान में सहायक ~~होता~~ है, जो आचरण रूप से जीवन में प्रयुक्त होता है। जब तक ज्ञान आचरण का रूप नहीं लेता अर्थात् ज्ञान के अनुरूप जीवन के प्रवाह को नया मोड़ नहीं दिया जाता, तब तक मुक्ति के मार्ग को जानते-पहचानते हुए भी वह (आत्मा) उसे तय नहीं कर पाता है। अत: अपवर्ग—मोक्ष की ओर बढ़ने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों के समन्वय की आवश्यकता है। इसी बात को सूत्रकार ने 'परिज्ञा' शब्द से स्पष्ट किया है।

इस तरह शस्त्रपरिज्ञा का अर्थ हुआ—द्रव्य और भाव शस्त्रों की भयङ्करता को जान-समझ कर उसका परित्याग करना अर्थात् शस्त्र रहित बन जाना। वस्तुत: संसार परिभ्रमण एवं अशान्ति का मूल कारण शस्त्र ही है। सब तरह के दु:ख-दैन्य एवं विपत्तियें शस्त्र-अस्त्रों की ही देन हैं। भगवान महावीर की इस बात को आज के वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं। शस्त्रों की शक्ति पर विश्वास रखने वाले राजनेताओं का विश्वास भी लड़खड़ाने लगा है। वे भी इस तरह की भाषा का प्रयोग करने लगे हैं कि विश्व शान्ति के लिए जल, स्थल एवं हवाई सभी तरह की सेनाओं के केन्द्र हटा देने तथा सभी तरह के बम्बों, राकेटों एवं आणविक शस्त्रों को समाप्त करने पर ही विश्व शान्ति का सांस ले सकेगा। वस्तुत: सत्य भी यही है। शस्त्र शान्ति के लिए भयानक खतरा है। अत: अनन्त शान्ति की ओर बढ़ने वाले साधक को सब से पहले शस्त्रों का परित्याग करना चाहिए। इसी अपेक्षा से सभी तीर्थंकर अपने प्रथम प्रवचन में शस्त्र-त्याग की बात कहते हैं। इस तरह पहले अध्ययन में शस्त्रों के त्याग की बात कही गई है, यदि आज की भाषा में कहें तो निश्शस्त्रीकरण—शस्त्ररहित होने का मार्ग बताया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन सात उद्देशकों में विभक्त है। सातों उद्देशकों में विभिन्न तरह से छह काय के जीवों की हिंसा एवं हिंसाजन्य शस्त्रास्त्रों से होने वाले नुकसान का एक सजीव शब्द-चित्र चित्रित किया गया है। यहां हम अधिक विस्तार में न जाकर प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम उद्देशक पर विचार करेंगे। प्रस्तुत उद्देशक में आत्मा एवं कर्म बन्ध के हेतुओं के संबन्ध में सोचा-विचारा गया है। इस उद्देशक को प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार ने—"सुयं आउसं! . . ." इत्यादि सूत्र का उच्चारण किया है।

वर्तमान में उपलब्ध आगम-साहित्य आर्य सुधर्मा स्वामी और श्री जम्बू स्वामी

इन दोनों महापुरुषों के सम्वाद रूप मे है। आगम की विश्लेषण पद्धति से यह स्पष्ट हो जाता है कि जम्बू स्वामी अपने आराध्य देव आर्य सुधर्मा स्वामी से विनम्रता-पूर्वक शास्त्र सुनने की भावना अभिव्यक्त करते हैं । वे इस वात को जानने के लिए अत्यधिक उत्सुक हैं कि श्रमण भगवान महावीर ने द्वादशागी गणिपिटक-आगमों में किन भावों को व्यक्त किया है ? आत्मा को कर्म-वन्धन से सर्वथा मुक्त करने के लिए साधना का क्या तरीका वताया है ? यद्यपि, प्रस्तुत सूत्र मे ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता कि श्री जम्बू स्वामी ने आचाराङ्ग के भाव व्यक्त करने के लिए अपने गुरुदेव आर्य सुधर्मा स्वामी से प्रार्थना की हो। परन्तु, अन्य आगमों की वर्णन पद्धति से विचार करते है, तो फिर शंका को अवकाश नहीं रह जाता है अर्थात् उक्त कथन सर्वथा सत्य सिद्ध हो जाता है। आचाराङ्ग सूत्र के "सुय मे . " इस सूत्र से स्पष्ट ध्वनित होता है कि सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी के पूछने पर ही इस भाषा मे आचाराङ्ग का वर्णन शुरू किया था। जो कुछ भी हो, तीर्थंकरों की अर्थ रूप वाणी को गणधर सूत्ररूप मे गून्थते हैं और अपने शिष्यों की जिज्ञासा को देखकर उनके सामने अपना ज्ञान-पिटारा खोल कर रख देते है। आर्य सुधर्मा स्वामी ने भी भगवान महावीर से प्राप्त अर्थ रूप द्वादशागी को अपने प्रमुख शिष्य जम्बू की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए सूत्र रूप में सुनाना प्रारम्भ कर दिया।

प्रस्तुत सूत्र का पहला सूत्र है—"सुय मे आउस ! तेण भगवया एवमक्खाय ॥१॥" सुयं मे अर्थात् मैंने सुना है। इस पद से यह स्पष्ट कर दिया है कि यह आगम मेरे मन की कल्पना या विचारों की उड़ान मात्र नहीं, वल्कि श्रमण भगवान महावीर से सुना हुआ है। इस से दो वातें स्पष्ट होती है—एक तो यह कि आगम सर्वज्ञ प्रणीत होने से प्रामाणिक है। श्रमण सस्कृति के विचारकों ने भी आप्त पुरुष के कथन को आगम कहा है* । आप्त पुरुष कौन है ? इस का विवेचन करते हुए आगमों में कहा गया कि राग-द्वेष के विजेता तीर्थंकर—सर्वज्ञ भगवान, जिनेश्वर देव आप्त हैं । फलितार्थ यह हुआ कि जिनोपदिष्ट वाणी ही जैनागम है† । और वह सर्वज्ञों द्वारा उपदिष्ट होने के कारण प्रामाणिक है।

दूसरी वात यह है कि इस पद से गणधर देव की अपनी लघुता, विनम्रता एवं निरभिमानता भी प्रकट होती है। चार ज्ञान और चवदह पूर्वों के ज्ञाता एव आगमों के सूत्रकार होने पर भी उन्हों ने यों नहीं कहा कि मैं कहता हूँ, परन्तु यही कहा कि जैसा भगवान के मुंह से सुना है वैसा ही कह रहा हूँ। महापुरुषों की यही विशेषता होती है कि वे अहंभाव से सदा दूर रहते हैं। उनके मन में अपने आप को वड़ा वताने की कामना

* तत्त्वार्थ भाष्य, १, २०।

† नन्दी सूत्र, ४।

नहीं रहती। अस्तु, 'सुयं मे' ये पद आर्य सुधर्मा स्वामी की विनयशीलता एवं भगवान महावीर के प्रति रही हुई प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति के सूचक हैं।

"आउसं!" इस पद का अर्थ होता है—हे आयुष्मन्!। यहा आयुष्मन् शब्द से जम्बू स्वामी को सम्बोधित किया गया है। अत. यह सबोधन पद जम्बू स्वामी का विशेषण है। जबकि मूल सूत्र मे विशेष्य पद का निर्देश नहीं किया गया है, फिर भी विशेष्य पद का अध्याहार कर लिया जाता है। क्योंकि, जब भी कोई वक्ता कुछ सुनाता है तो किसी श्रोता को ही सुनाता है। यहा आर्य सुधर्मा स्वामी आचाराङ्ग सूत्र सुना रहे हैं और उसके श्रोता हैं जम्बू स्वामी। इस बात को हम पीछे की पंक्तियों में बता आए है कि जम्बू की आगम-श्रवण करने की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए ही आर्य सुधर्मा स्वामी ने आचाराङ्ग सूत्र का सुनाना शुरू किया। इस से स्पष्ट होता है कि उक्त संबोधन का विशेष्य पद जम्बू स्वामी ही है। इस तरह विशेष्य पद का अध्याहार कर लेने पर अर्थ होगा—हे आयुष्मन् जम्बू!

संस्कृत-व्याकरण के अनुसार अतिशय-दीर्घ अर्थ में 'आयुष्' शब्द से 'मतुप्'प्रत्यय होकर आयुष्मान् शब्द बनता है‡। इस तरह आयुष्मान् का अर्थ हुआ—दीर्घजीवी। बड़ी आयु वाले व्यक्ति को दीर्घजीवी कहते है। श्री जम्बू स्वामी को दीर्घजीवी कहने के पीछे तीन कारण है। प्रथम तो यह है कि जिस समय आर्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी को आचाराङ्ग सूत्र का वर्णन सुनाने लगे, उस समय वे बड़ी उम्र के थे, लघु वय के नहीं। अत आर्य सुधर्मा स्वामी उन्हे आयुष्मन् शब्द से संबोधित कर के उनकी आयुगत परिपक्वता बताकर, उन मे श्रुतज्ञान तथा उपदेश श्रवण, ग्रहण, धारण एवं आराधन करने की योग्यता अभिव्यक्त कर रहे हैं।

प्रस्तुत सबोधन का दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि जिस समय जम्बू स्वामी आचाराङ्ग सूत्र का श्रवण कर रहे थे, उस समय भले ही वे बड़ी उम्र के न रहे हों, परन्तु मति, श्रुत, अवधि और मन.पर्याय इन चार ज्ञानों से युक्त आर्य सुधर्मा स्वामी द्वारा अपने ज्ञान से अपने शिष्य के भावी जीवन को दीर्घ देखा गया हो और उन्हे दीर्घजीवी जान कर ही इस संबोधन से संबोधित किया हो। उनकी अन्तरात्मा ने इस बात को स्वीकार किया हो कि जम्बू दीर्घजीवी है, लम्बे समय तक जीवित रह कर यह जिन शासन की सेवा करेगा, जन-मानस मे अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी प्रवाहित करके विश्व को जन्म-मरण के ताप से बचाएगा। अत. भविष्य के दीर्घ जीवन को देखकर आर्य सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को प्रस्तुत संबोधन से संबोधित

‡ भूम-निन्दा-प्रशसासु, नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्ति विवक्षायां, भवन्ति मतुबादय (वा० ३१८३) सिद्धान्तकौमुदी। अतिशयितुमायुरस्य इति आयुष्मान्। इति व्याख्यासुधाख्य-व्याख्याया व्याख्यातमेतदमरकोषे।

किया हो।

तीसरा कारण यह है कि साहित्य जगत में इस संबोधन को सुकोमल माना जाता है और आदर की दृष्टि से देखा जाता है‡। यह संबोधन इतना मधुर एवं प्रिय है कि इसके सुनने मात्र से हृदय-कमल की एक-एक कली खिल उठती है, शिष्य के मन मे उल्लास और प्रसन्नता की लहरें लहर-लहर कर लहराने लगती हैं। जैनागमों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि एक ऐसा युग भी रहा है कि जिस में संबोधन के लिए देवानुप्रिय शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, वाल-वृद्ध सभी के लिए इसका प्रयोग होता रहा है। साहित्यिक क्षेत्र मे जो सम्मान देवानुप्रिय शब्द को प्राप्त था, वही आदर-सम्मान आयुष्मान शब्द को प्राप्त था। इस संबोधन पद से भापा का लालित्य, सौन्दर्य एवं माधुर्य छलक रहा था। वताया गया है कि निर्युक्तिकार ने "आउसं" शब्द के दस भेद किए हैं। उनमे संयम, यश और कीर्तिमय जीवन वाले व्यक्ति को भी इस सम्वोधन से संवोधित करने की परंपरा रही है*। इसी कारण आध्यात्मिक एवं लौकिक सभी क्षेत्रों में इस का प्रयोग होता रहा है। इसलिए वात्सल्यमय मधुर एवं सुकोमल भावना को अभिव्यक्त करते हुए आर्य सुधर्मा स्वामी ने अपने प्रमुख शिष्य जम्बू को आयुष्मन् शब्द से संवोधित किया है।

'आउसं' शब्द संबोधन के रूप मे प्रयुक्त होता है, इस वात का हम विवेचन कर चुके हैं। परन्तु, इसके अतिरिक्त इसका दूसरे रूप में भी प्रयोग घटित होता है। जव "आउसं और 'तेणं" दोनों शब्दों को अलग-अलग न करके इनका समस्त पद के रूप में प्रयोग करते है, तो इस 'आउसंतेणं" पद का सस्कृत रूप 'आयुष्मता' वनता है और फिर यह शब्द संबोधन के रूप में न रहकर 'भगवया' शब्द का विशेषण वन जाता है और इसका अर्थ होता है—आयुष्य वाले भगवान ने। 'आउसंतेण' शब्द को समस्त पद मानने के पीछे सैद्धान्तिक रहस्य भी अन्तर्निहित है। 'सुयं मे' इन पदो से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रुत ज्ञान किसी व्यक्ति द्वारा ही दिया गया है। परन्तु, इस पद से सूर्य के प्रखर प्रकाश की तरह जैन दर्शन की यह मान्यता स्पष्ट करदी गई है कि श्रुतज्ञान का प्रकाश आयु कर्म वाले शरीर-युक्त तीर्थंकर भगवान ही फैलाते है। उत्तराध्ययन सूत्र मे केशी श्रमण द्वारा पूछे गए "घोर अन्धेरे मे निवसित संसार के प्राणियों के जीवन मे कौन प्रकाश करता है?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी ने कहा कि जव सूर्य आकाश मे उदित होता है, तो सारे लोक को प्रकाशित कर देता है। इसके वाद केशी श्रमण के - वह सूर्य कौन है? उनके इस सशय का निराकरण करते हुए श्री गौतम स्वामी ने कहा कि जिस का ससार क्षय हो चुका है, ऐसा जिन, सर्वज्ञरूपी

‡ आयुष्मन्! इत्यनेन तु कोमलवचोभि शिष्यमन प्रह्लादयताचार्येणोपदेशो देय।

—स्थानाग सूत्र, प्रथम स्थान—वृत्ति।

*. स्थानागसूत्र (श्री धनपतराय जी द्वारा प्रकाशित) पृष्ठ ५।

सहस्ररश्मि (सूर्य) उदित होगा और वह समस्त प्राणि-जगत में धर्म का उद्योत करेगा, ज्ञान का प्रकाश फैलाएगा।† इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रुत ज्ञान का प्रकाश शरीरयुक्त तीर्थकर ही फैलाते हैं, न कि सिद्ध भगवान। सिद्ध भगवान शरीर-रहित हैं और श्रुत ज्ञान का उपदेश बिना मुख के दिया नहीं जा सकता और मुख शरीर का ही एक अङ्ग है। अतः सिद्ध भगवान श्रुत ज्ञान के उपदेशक नहीं हो सकते।

इस तरह 'आउसतेण', पद के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि दुनिया का कोई भी शास्त्र ईश्वर-कृत नहीं है। वैदिक दर्शन वेद को अपौरुषेय मानता है। उसका विश्वास है कि सृष्टि के प्रारम्भ मे ईश्वर ने अंगिरा आदि ऋषियो को वेद का उपदेश दिया था। परन्तु, यह कल्पना सर्वथा निराधार है। हम इस बात को पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि उपदेश मुख द्वारा दिया जाता है और मुख शरीर का ही एक अंग है। शरीर के अभाव में मुख हो नहीं सकता। अतः शरीर-रहित ईश्वर के द्वारा उपदेश की कल्पना करना नितान्त असत्य है। यदि वेदों का उपदेश ईश्वरकृत है और ईश्वर मुख आदि अवयवो से युक्त है तो फिर वह ईश्वर नहीं, देहधारी व्यक्ति ही है। इस तरह वेद अपौरुषेय नहीं, पौरुषेय ही सिद्ध होते हैं।

यदि वैदिक-दर्शन की वेदों को अपौरुषेय मानने की मान्यता को मान ले तो फिर मुसलमानों के कुरान शरीफ को भी खुदा (ईश्वर) कृत मानना होगा। क्योंकि उसका भी यह विश्वास है कि खुदा ने पैगम्बर मुहम्मद साहिब को कुरान शरीफ का ज्ञान कराया था। इस तरह कुरान भी बेदों की तरह अपौरुषेय होने के कारण वेदों के समकक्ष खड़ा हो जायगा। और इसके अतिरिक्त वेदों मे जो याज्ञिक हिंसा—यज्ञ में की जाने वाली पशु-हिंसा का आदेश दिया गया है और ईश्वर-कर्तृत्व जैसी असंगत बातों का उल्लेख पाया जाता है तथा कुरानशरीफ मे मांस-भक्षण आदि अधर्ममयी बातों का कथन किया है, उसे सत्य एव मोक्षोपयोगी मानना पड़ेगा। परन्तु, ये मान्यताएं नितान्त असत्य हैं। क्योंकि हिंसाजन्य प्रवृत्ति में धर्म हो नहीं सकता। अत. जो शास्त्र धर्म के नाम पर हिंसा का, पशु के बलिदान का, पशु की कुर्बानी करने का आदेश देता है, वह धर्मशास्त्र नहीं, शस्त्र है, आत्मा का घातक है। वस्तुतः धर्म शास्त्र वह है, जो प्राणी मात्र की रक्षा एवं दया का उपदेश देता है। क्योंकि धर्म सब जीवों के प्रति दया, करुणा एवं कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होने मे है। और यह बात सर्वज्ञोपदिष्ट वाणी मे स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। अत. आगम अपौरुषेय नहीं, पौरुषेय हैं, पुरुषोपदिष्ट होने पर भी प्रामाणिक है। क्योंकि उसके उपदेष्टा राग-द्वेष आदि विकारों से रहित है, सर्वज्ञ हैं, अतः उनकी वाणी मे पारस्परिक विरोध नहीं मिलता। इस अपेक्षा से आगम पौरुषेय हैं और

† उत्तराध्ययन सूत्र, २३, ७५-७८।

उसकी रचना का समय भी निश्चित है। अर्थात् वर्तमान काल में उपलब्ध आगमों के अर्थरूप से उपदेष्टा भगवान महावीर हैं और सूत्रकार भगवान महावीर के पञ्चम गणधर आर्य सुधर्मा स्वामी हैं। अत 'आउसंतेणं' इस समस्त पद का तात्पर्य यह हुआ कि आयुष्य कर्म से युक्त। और फलितार्थ यह निकला कि कर्म-बन्ध से मुक्त होने पर भी जिनका अभी आयु कर्म क्षय नहीं हुआ है, ऐसे तीर्थंकर आगमों का उपदेश देते हैं।

'आउसंतेणं' इस पद पर उत्तराध्ययन सूत्र के द्वितीय अध्ययन की बृहद्वृत्ति में वृत्तिकार ने भी कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं। इस दिशा में वृत्तिकार का चिन्तन भी मननीय एवं विचारणीय होने से आगे की पंक्तियों में दे रहे हैं—

"आउसंतेणं" त्ति प्राकृतत्वेन तिङ्व्यत्ययादाजुषमाणेन-श्रवणविधिमर्यादया गुरून् सेवमानेन, अनेनाप्येतदाह—विधिनैवोचितदेशस्थेन गुरुसकाशात् श्रोतव्य न तु यथा-कथञ्चिद् गुरुविनयभीत्या गुरुपर्षदुत्थितेभ्यो वा सकाशात् यथोच्यते—*परिसुट्ठियाणं पासे सुणेइ, सो विणय-परिभंसि।"

अर्थात्—'आउसंतेणं' यह पद प्राकृत भाषा में तिङ्व्यत्यय (परस्मैपद का आत्मनेपद और आत्मनेपद का परस्मैपद) होने से परस्मैपद है, किन्तु संस्कृत में इस पद की आत्मनेपदी 'आजुषमाणेन' यह छाया बनती है। आयुष्मान् का अर्थ है—सुनने की पद्धति का पालन करते हुए गुरु की सेवा करना। सुनने की पद्धति के परिपालन का अभिप्राय यह है कि गुरुदेव से शास्त्र या हितकारी उपदेश सुनते समय शिष्य न तो गुरु से अधिक दूर बैठे और न अति निकट ही बैठे, परन्तु उचित स्थान में बैठकर एकाग्रचित्त से उपदेश एवं शास्त्र को सुने। अधिक दूर बैठने से भली-भाति सुनाई नही पड़ेगा और अति निकट बैठने पर हाथ आदि अंगों के संचालन से उनके शरीर को आघात लग सकती है, अत. शिष्य को ऐसे स्थान में बैठ कर शास्त्र एवं उपदेश का श्रवण करना चाहिए, जहा से अच्छी तरह सुनाई भी पड सके और उनकी आशातना भी न हो। दूसरी बात यह है कि गुरुदेव की सभा से उठकर आने वाले लोगों से शास्त्र न सुने, परन्तु स्वय गुरुदेव के सन्मुख उपस्थित होकर उनसे सुने। कभी-कभी कुछ अविनीत शिष्य ऐसा सोच-विचार कर कि गुरु के पास जाकर सुनेंगे तो उनका विनय करना होगा, अत उन से सुनकर जो व्यक्ति आ रहे है, उनसे ही जानकारी करले। यह सोचना उपयुक्त नहीं है। इससे जीवन मे प्रमाद बढ़ता है, विनम्र भाव का नाश होता है—जो धर्म एव सयम का मूल है। इसी बात को ध्यान मे रखकर वृत्तिकार ने 'आयुष्मन्' पद देकर गुरु की सभा से आने वाले व्यक्तियों से ही सीधा शास्त्र एवं उपदेश भी सुनने की वृत्ति का निषेध

* पर्षदुत्थितानां पार्श्वे शृणोति, स विनयपरिभ्रंशी।

'आवसतेणं' पद इन्हीं भावों का परिचायक है।

'भगवया' यह पद भगवत् शब्द का तृतीयान्त प्राकृत रूप है। इसका अर्थ है— भगवान ने। भगवान शब्द भग से बनता है। भग शब्द की व्याख्या करते हुए एक आचार्य लिखते हैं—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशस. श्रिय.।
ज्ञानवैराग्ययोश्चापि, षण्णा भग इतीङ्गना ॥"

अर्थात्—सम्पूर्ण ऐश्वर्य, रूप, यश, कीर्ति, श्री, ज्ञान, और वैराग्य इन छह सपदाओं के समुदाय को भग कहते हैं। अत. उक्त सपदाओं से जो युक्त है, उसे भगवान कहते है—

"भग —ऐश्वर्यादिषडर्थात्मक. सोऽस्यास्तीति भगवान्।"

'अक्खायं" यह क्रिया पद है। इसका अर्थ है—कहा। इससे स्पष्ट होता है कि आचाराङ्ग सूत्र भगवान के द्वारा कहा गया है। इससे दो बाते स्पष्ट होती है। एक तो यह कि आगम किसी व्यक्ति द्वारा कहे गए हैं, जिसका विस्तृत विवेचन हम पीछे के पृष्ठों मे कर आए हैं। दूसरी बात यह सामने आती है कि आगम अनादि काल से चले आ रहे हैं। किसी तीर्थंकर भगवान ने इनकी सर्वथा अभिनव रचना नहीं की। उन्हों ने तो अनादि काल से चले आ रहे आगमों का अर्थ रूप से कथन मात्र किया है। अत. इस दृष्टि से आगम सादि भी है और अनादि एवं कृतत्व-रहित भी हैं। उनके सादित्व पर हम विचार कर चुके हैं। यहा आगमों के अकृतत्व एवं अनादित्व पर विचार करेंगे।

परन्तु, यह कथन भी अपेक्षा से है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि जैन विचारकों की भाषा स्याद्वादमय रही है। उन्हों ने प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक विचार पर स्याद्वाद की भाषा मे सोचा-विचारा है। आगम के सादित्व-अनादित्व अर्थात् आगम के मूल स्रोत की आदि निश्चित तिथि है या नहीं? दोनों पर गहराई से चिन्तन किया है। आगमों में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि आगम अनादि भी है। क्योंकि ऐसा कोई समय नहीं रहा है, नहीं है और नहीं रहेगा, जब कि द्वादशाङ्गभूत गणिपिटक नहीं था, नही है और नहीं होगा। वह तो पहले से था, अब है और अनागत मे भी रहेगा। वह ध्रुव है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है[1]।

इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि अनन्त काल से चले आ रहे, अनन्त तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट आगमों की भाषा एक ही थी, जो शब्द-भाषा वर्तमान मे उपलब्ध आगमों मे मिलते हैं, वे ही शब्द उन आगमों के थे। इसका अर्थ इतना ही है कि भाषा

[1] नन्दी सूत्र ५८, समवायाग सूत्र १२, द्वादशागी परिचय।

की आदि भी स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है । इसलिए कहा गया कि "तप-नियम और ज्ञानमय वृक्ष के ऊपर आरूढ़ होकर अनन्त ज्ञानी तीर्थंकर—केवली भगवान भव्य जनों के बोध के लिए ज्ञान-कुसुम की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धि पटल मे उन समस्त कुसुमों को झेलकर द्वादशाङ्ग रूप प्रवचन माला गून्थते हैं*।" इस तरह "जैनागम कर्तृत्व रहित अनादि अनन्त भी हैं और कर्ता की अपेक्षा से आदि सहित भी हैं"। का इस सूत्र में सुन्दर समन्वय हो जाता है और आचार्य हेमचन्द्र का यह विचार पूर्णतया चरितार्थ होता है—

"आदीपमाव्योम समस्वभाव,
स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु"‡।

इससे स्पष्ट हो गया कि स्याद्वाद की भाषा मे विरोध खड़ा होने को कहीं भी अवकाश नहीं है। अनन्त तीर्थंकरों में रही हुई केवल ज्ञान की एकरूपता के कारण आगम अनादि काल से हैं, उनका उद्गम स्थान ढूण्डना दुष्कर ही नहीं, असभव है और वर्तमान मे विद्यमान आगम के उपदेष्टा की दृष्टि से सोचते हैं, तो उसकी आदि है। क्योंकि वर्तमान मे उपलब्ध आगम के अर्थरूप से उपदेष्टा भगवान महावीर हैं । उनके प्रवचन को नव गणधरों ने सूत्ररूप से गून्था था। क्योंकि आगम मे ऐसा बताया गया है कि भगवान महावीर के ग्यारह गणधर और नव गण थे । अन्य गणधरों की शिष्य-परम्परा का प्रवाह आगे चला नहीं। भगवान महावीर के बाद पञ्चम गणधर सुधर्मा स्वामी की ही शिष्य परम्परा चालू रही। अत वर्तमान में सुधर्मा स्वामी द्वारा सूत्ररूप मे रचित आगम ही उपलब्ध होते हैं। अत प्रस्तुत आगम का भगवान महावीर ने अर्थ रूप से उपदेश दिया था, और आर्य सुधर्मा स्वामी ने उसे सूत्र रूप से गून्था था।

इस तरह 'अक्खाय' इस पद से आगमों की नित्यता को प्रकट किया है । परन्तु यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि आगम कूटस्थ नित्य नहीं हैं। क्योंकि हम इस बात को पहिले ही बता चुके हैं कि जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु पर अनेकान्त या स्याद्वाद की दृष्टि से सोचता-विचारता है। यहा एकान्तवाद को कोई स्थान नहीं है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनेक धर्म युक्त है। उसमे उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य तीनों अवस्थाएं स्थित हैं†। इनमें

* "तवनियमनाणरुक्ख आरूढो केवली अमियनाणी,
तो मुयइ नाणवुट्ठि भवियजणविबोहणट्ठाए ॥ ८९ ॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसे,
तित्थयरभासियाइं गथंति तओ पवयणट्ठा ॥ ९० ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति

‡ अन्ययोगव्यवच्छेदिका, श्लोक ५

† उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् । —तत्त्वार्थ सूत्र ५, ३० ।

था कि हे आयुष्मन् जम्बू ! मैंने सुना है कि उस भगवान ने ऐसा कहा है। क्या कहा है ? इस बात को स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत सूत्र मे कहा गया कि भगवान ने बताया है कि इस प्राणि-जगत में परिभ्रमण करने वाले अनेकानेक जीव ऐसे है कि जिन्हे ज्ञान नहीं होता। यह प्रस्तुत सूत्र का फलितार्थ है।

'इहं' पद 'इस' अर्थ का वोधक है। यह पद सर्वनाम होने से संसार और क्षेत्र, प्रवचन, आचार एव शस्त्र परिज्ञा आदि शब्दों का इसके साथ अध्याहार किया जाता है। क्योंकि सर्वनाम सदा संज्ञा के स्थान मे प्रयुक्त होता है। जब 'इह' पद के साथ संसार शब्द का अध्याहार किया जाता है, तो उक्त पद का संबंध 'एगेसिं' पद के साथ करना चाहिए। परन्तु यदि इस पद के साथ क्षेत्र, प्रवचन आदि शब्दों का अध्याहार किया जाए, तो फिर इस पद का संबन्ध प्रथम सूत्र के "अक्खायं" इस क्रिया के साथ जोड़ना चाहिए। इस तरह संबध के भेद से अर्थ में भी भेद हो जाता है। जब प्रस्तुत पद का सबध 'एगेसिं' पद के साथ जोड़ेंगे तो इसका अर्थ होगा कि 'ससार मे किन्हीं जीवों को सज्ञा-ज्ञान नहीं होता।" और जब इसका संबंध 'अक्खायं' पद के साथ होगा तो इसका अर्थ होगा कि "हे आयुष्मन् जम्बू ! उस भगवान अर्थात भगवान महावीर ने इस क्षेत्र, प्रवचन, आचार एवं शस्त्र-परिज्ञा मे कहा है कि कई एक जीवों को ज्ञान नहीं होता।" इस तरह 'इह' पद का 'एगेसिं' और 'अक्खायं' पद के साथ क्रमश. सबंध-भेद से अर्थ-भेद भी प्रमाणित होता है।

'क्षेत्र' शब्द उस स्थान का परिबोधक है, भारतवर्ष या भारत में भी जिस स्थान पर भगवान ने प्रस्तुत प्रवचन किया था। भगवान—तीर्थंकरों के उपदेश को प्रवचन कहते हैं। प्रवचन का सीधा-सा अर्थ होता है—श्रेष्ठ वाणी या विशिष्ट महापुरुषों द्वारा व्यवहृत वचन। 'आचार' शब्द आचाराग सूत्र का परिचायक है और शस्त्र-परिज्ञा आचारांग सूत्र का प्रथम अध्ययन है।

उक्त चारों शब्दों का परस्पर संबन्ध भी है। क्योंकि प्रवचन किसी क्षेत्र विशेष मे ही दिया जाता है। अत. सर्व प्रथम क्षेत्र का उल्लेख किया गया। और उस के अनन्तर प्रवचन का नाम निर्देश किया गया। वह प्रवचन क्या था ? इसका समाधान आचार अर्थात् आचाराग इस शब्द से किया गया। और आचाराग सूत्र मे भी प्रस्तुत वाक्य किस अध्ययन मे कहा गया है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए 'शस्त्रपरिज्ञा' शब्द का कथन किया गया। इस तरह चारों पदो का एक-दूसरे पद के साथ संबन्ध स्पष्ट परिलक्षित होता है।

'एगेसि' यह पद 'किन्हीं जीवो को' इस अर्थ का संसूचक है। इस पद को "णो सण्णा भवइ" पदों के साथ सवद्ध करने पर इसका अर्थ होता है कि किन्ही जीवों को ज्ञान नहीं होता। आध्यात्मिक विकास-क्रम के नियमानुसार आत्मा मे ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुरूप ज्ञान का विकास होता है। अत. जिन जीवो के ज्ञानावरणीय कर्म का जितना अधिक क्षयोपशम होता है, उनके ज्ञान का विकास भी उतना ही अधिक होता है और ज्ञानावरणीय कर्म का जितना अधिक आवरण हटाएगे उनका ज्ञान उतना ही अधिक निर्मल होगा। और जिन जीवों का ज्ञानावरणीय कर्मगत क्षयोपशम कम है, उनका ज्ञान भी अविकसित ही रहेगा। उन्हे इस बात का परिबोध नहीं हो पाएगा कि मै पूर्व, पश्चिम आदि किस दिशा से आया हूँ? इस विशिष्ट परिबोध से अनभिज्ञ या ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्यूनता वाले किन्ही जीवो को सूत्रकार ने 'एगेसिं' इस पद से अभिव्यक्त किया है।

'णो सण्णा भवइ' का अर्थ है—ज्ञान नहीं होता। यहा नहीं अर्थ का परिबोधक 'णो' पद है। प्रश्न हो सकता है कि 'णो' के स्थान पर 'अ' शब्द से काम चल सकता था। 'णो' और 'अ' दोनो अव्यय निषेधार्थक है। फिर यहा 'अ' का प्रयोग न करके 'णो' पद देकर एक मात्रा का अधिक प्रयोग क्यो किया? इसका उत्तर यह है कि 'णो' और 'अ' दोनो अव्यय निषेधार्थ मे प्रयुक्त होने हुए भी समानार्थक नहीं है। दोनों मे अर्थगत भिन्नता है। इसी कारण सूत्रकार ने 'अ' का प्रयोग न करके 'णो' का प्रयोग किया है। यदि 'णो' का अर्थ 'अ' से निकल जाता तो सूत्रकार 'णो' का प्रयोग करके शब्द का गुरुत्व नही वढ़ाते। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'णो' और 'अ' दोनों अव्ययों के अर्थ मे कुछ अ तर है।

'णो' अव्ययपद एक देश का निषेधक है और 'अ' अव्ययपद सर्व देश का निषेध करता है। जैसे—'न घटोऽघट' इस वाक्य से व्यवहृत 'अघट' शब्द मे 'घट' के साथ जुड़ा हुआ 'अ' अव्यय घट का सर्वथा निषेध करता है। परन्तु, णो अव्यय किसी भी वस्तु का सर्वथा निषेध नहीं करता। 'णो सण्णा' से यह ध्वनित नहीं होता कि किन्ही जीवो मे सज्ञा - ज्ञान का सर्वथा अभाव है। क्योंकि आत्मा मे ज्ञान का सर्वथा अभाव हो ही नहीं सकता। ज्ञान आत्मा का लक्षण है। उसके अभाव मे आत्मस्वरूप रह नहीं सकता। जैसे—प्रकाश एवं आतप के अभाव मे सूर्य का एवं सूर्य के अभाव मे उसके प्रकाश एवं आतप का अस्तित्व नहीं रह सकता। भले ही घनघोर घटाओं के कालिमामय आवरण से सूर्य का प्रकाश एवं आतप पूरी तरह दिखाई न पडे, यह बात अलग है। परन्तु सूर्य के रहते हुए उनके अस्तित्व का लोप

नहीं होता। उसकी अनुभूति तो होती ही रहती है। इसी तरह ज्ञान का सर्वथा अभाव होने पर आत्मा का अस्तित्व ही नहीं रह जाएगा। अत ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं होता। क्योंकि आहार-सज्ञा, भय-सज्ञा, मैथुन-सज्ञा, परिग्रह-सज्ञा आदि सज्ञाएं तो प्रत्येक ससारी प्राणी मे पाई जाती हैं। इन्ही सज्ञाओं के आधार पर ही जीव का जीवत्व सिद्ध होता है। यदि इन सज्ञाओं का अभाव मान लिया जाए तो फिर आत्मा में चेतनता या सजीवता नाम की कोई चीज रह ही नहीं जायगी। अस्तु, सज्ञा का सर्वथा निषेध करना आत्मतत्त्व की ही सत्ता नहीं मानना है। और यह बात सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत है। इस लिए सूत्रकार ने 'असण्णा' का प्रयोग न करके 'णो सण्णा' का प्रयोग किया, जो सर्वथा उचित, युक्तियुक्त, न्याय-संगत एवं आगमानुसार है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'सण्णा' शब्द का अर्थ संज्ञा होता है। सज्ञा चेतना को कहते है और वह अनुभवन और ज्ञान के भेद से दो प्रकार की है। अनुभवन सज्ञा के सोलह भेद हैं या यों कहिए कि जीव को सोलह तरह की अनुभूति होतीहै—

१—आहारसज्ञा—क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से आहार-भोजन करने की इच्छा होना।

२—भयसज्ञा—भयमोहनीय कर्म के उदय से खतरे का वातावरण देख, जान कर या खतरे की आशका से त्रास एवं दु ख का संवेदन करना या भयभीत होना।

३—मैथुनसज्ञा—वेदोदय से विषयेच्छा को तृप्त करने की या मैथुन सेवन की अभिलाषा का होना।

४—परिग्रहसंज्ञा—कषायमोहनीय के उदय से भौतिक पदार्थों पर आसक्ति, ममता एवं मूर्च्छा भाव का होना।

५—क्रोधसज्ञा—कषायमोहनीय कर्म के उदय से विचारों मे एव वाणी मे उत्तेजना या आवेश का आना।

६—मानसज्ञा—कषायमोहनीय कर्म के उदय से अहंभाव, गर्व या घमंड का अनुभव करना।

७—मायासज्ञा—कषायमोहनीय कर्म के उदय से छल-कपट करना।

८—लोभसज्ञा—कषायमोहनीय कर्म के उदय से भौतिक पदार्थों, विषय-वासना एवं भोगोपभोग के साधनों को प्राप्त करने की लालसा बनाए रखना, सग्रह की कामना को बढ़ाते रहना।

९—ओघसज्ञा—जीव की अव्यक्त चेतना, जो ज्ञानावरणीय कर्म के अल्प-क्षयोपशम के कारण उत्पन्न होती है।

१०—लोकसंज्ञा—'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' आदि लोक प्रचलित मान्यताओं पर

विश्वास करना तथा उनके अनुसार अपनी धारणा बना लेना।

११—सुखसंज्ञा—इन्द्रिय एवं मनोऽनुकूल विषयों का उपभोग करना एवं उसमे आनन्द की अनुभूति करना।

१२—दु खसंज्ञा—इन्द्रिय एव मन के प्रतिकूल विषयो की प्राप्ति होने पर दु खानुभूति करना।

१३—मोहसंज्ञा—मोहनीयकर्म के उदय से विषय-वासना एवं कषायों में आसक्त रहना।

१४—विचिकित्सासंज्ञा—मोहनीय एवं ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित धर्म एवं तत्त्वों में शका-सदेह करना।

१५—शोकसंज्ञा—मोहनीयकर्म के उदय से इष्ट वस्तु के न मिलने या उसका वियोग होने पर तथा अनिष्ट वस्तु का संयोग पाकर रोना, पीटना, विलाप आदि करना।

१६--धर्मसंज्ञा—मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से आगार--गृहस्थ धर्म या अनगार-साधु धर्म को स्वीकार करना, सयम मार्ग मे या त्याग पथ पर गतिशील होना।

ज्ञान संज्ञा के भी ५ भेद किए गए हैं--

१—मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता से योग्य क्षेत्र मे स्थित वस्तु को जानना-पहचानना।

२—श्रुतज्ञान—वाच्य-वाचक सबंध द्वारा शब्द से संबन्धित अर्थ का परिज्ञान प्राप्त करना।

३—अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादित क्षेत्र मे स्थित रूपी द्रव्यों को जानना-देखना।

४—मन:-पर्यवज्ञान—इन्द्रिय और मन के सहयोग बिना मर्यादित क्षेत्र मे स्थित संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन के भावो को जानना।

५—केवलज्ञान—मति आदि चारों ज्ञानों की अपेक्षा के बिना तीनों लोक में स्थित द्रव्यों एव त्रिकाल वर्ती भावो को युगपत् हस्तामलकवत् जानना-देखना।

इस तरह 'सज्ञा' शब्द से अनुभूति और ज्ञान दोनो का निरूपण किया गया है। अनुभूति रूप संज्ञा या चेतना तो संसार के सभी जीवों मे रहती है। अत यहा उक्त संज्ञा का निषेध नहीं किया गया है। ज्ञान रूपी सज्ञा मे भी ससार के समस्त छद्मस्थ जीवों मे सम्यक् या असम्यक् किसी न किसी रूप मे मति एव श्रुतज्ञान या अज्ञान रहता ही है। अत 'णो सण्णा भवइ' वाक्य से प्रस्तुत सूत्र मे जो ज्ञान का निषेध किया है, वह साधारण रूप से होने वाले ज्ञान का नहीं, परन्तु विशिष्ट रूप से पाए जाने वाले

ज्ञान का निषेध किया है-जिससे आत्मा यह जान-समझ सके कि मैं किस दिशा-विदिशा से आया हूँ ? ऐसा विशिष्ट ज्ञान ससार के सभी जीवों को नहीं होता। इस लिए 'णो' पद से यह अभिव्यक्त किया गया है कि ससार के कुछ एक जीवों को विशिष्ट ज्ञान नहीं होता। उस विशिष्ट ज्ञान का क्या स्वरूप है ? इसका समाधान एवं स्पष्ट विवेचन सूत्रकार के शब्दों मे आगे के सूत्र मे पढें--

मूलसूत्र—तं जहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ, अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि ॥३॥

छाया— पूर्वस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, दक्षिणस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, पश्चिमाया वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, उत्तरस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, ऊर्ध्वाया वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, अधोदिशाया वा आगतोऽहमस्मि, अन्यतरस्या वा दिशाया, अनुदिशाया वा आगतोऽहमस्मि।

पदार्थ—तजहा—जैसे। पुरत्थिमाओ वा दिसाओ=पूर्व दिशा से। आगओ अहमसि—मैं आया हूँ†। दाहिणाओ वा दिसाओ=अथवा दक्षिण दिशा से। पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ=या पश्चिम दिशा से। उत्तराओ वा दिसाओ=या उत्तर दिशा से। उड्ढाओ वा दिसाओ=या ऊर्ध्व दिशा से। अहो-दिसाओ वा=या अधो दिशा से। अण्णयरीओ वा दिसाओ=या किसी भी एक दिशा से। अणुदिसाओ वा=या अनुदिशा—विदिशा से। आगओ अहमसि—मैं आया हूँ।

मूलार्थ—जैसे—मै पूर्व दिशा से आया हू, या दक्षिण दिशा से आया हू, या पश्चिम एव उत्तर दिशा से या उर्ध्व एव अधोदिशा से या किसी एक दिशा—विदिशा से इस ससार में प्रविष्ट हुआ हू—आया हू।

---

†"आगओ अहमसि" का सब जगह '-मैं आया हूँ" यह अर्थ समझना चाहिए

भी अपने से इतर सभी द्रव्यों को, पदार्थों को देखता-जानता है। परन्तु अपना परिज्ञान उसे नहीं होता। अपने आप को जानने के लिए इतर ज्ञान की अपेक्षा रखता है।

परन्तु, जैनदर्शन की मान्यता है कि ज्ञान स्व-प्रकाशक भी है और पर-प्रकाशक भी। जो ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है, वह दूसरे पदार्थ का भी अवलोकन नहीं कर सकता। वही ज्ञान अन्य द्रव्यों को भली-भांति देख सकता है जो अपने आपको भी देखता है। जैसे दीपक का प्रकाश अन्य पदार्थों के साथ स्वय को भी प्रकाशित करता है। ऐसा नहीं होता कि दीपक के अतिरिक्त कमरे मे स्थित अन्य सभी पदार्थ तो दीपक के उजेले मे देख लें और उस जलते हुए दीपक को देखने के लिए दूसरा दीपक लाए। जो ज्योतिर्मय दीपक सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है, वह अपने आप को भी प्रकाशित करता है। उसे देखने के लिए दूसरे प्रकाश को लाने की आवश्यकता नहीं पडती। इस तरह आत्मा अपने ज्ञान से स्वयं को भी जानता है और उससे स्वेतर द्रव्यों का भी परिज्ञान करता है। यों कहना चाहिए कि वह अपने को देखकर ही द्रव्यों या पदार्थों को देखता है।

हम सदा-सर्वदा देखते हैं कि बहिने भोजन तैयार करके दूसरों को परोसने-खिलाने के पहले स्वय चाख लेती हैं। यदि उन्हें स्वादिष्ट लगता है, तो वे समझ लेती हैं कि भोजन ठीक बना है, परिवार के सभी सदस्यों को अच्छा लगेगा। यदि ज्ञान स्वसवेदक या स्व-प्रकाशक नही होता तो बहिनो को यह ज्ञान कैसे होता कि यह भोजन सबको स्वादिष्ट लगेगा। परन्तु, ऐसा संवेदन प्रत्यक्ष मे होता है और हम प्रतिदिन देखते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान स्वप्रकाशक भी है। वह भोजन को चाख कर जब यह निर्णय कर लेती है कि भोजन ठीक बना है, तो वह अपने इसी निर्णय से जान लेती हैं कि यह खाद्य पदार्थ सब को पसन्द आजाएगा। जो वस्तु मुझे स्वादिष्ट एव आनन्दप्रद लगती है, वह दूसरों को भी वैसी प्रतीत होगी। क्योंकि उन मे भी मेरे जैसी ही आत्मा है, और वह भी मेरे जैसी अनुभूति एव सवेदन युक्त है। इस तरह स्व के ज्ञान से पर के ज्ञान की स्पष्ट अनुभूति होती है। आगमों मे भी कहा है—सब प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, सुख सब को प्रिय है, इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह किसी भी प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की हिंसा—घात न करे न दूसरों से करावे और न हिसा करने वाले का समर्थन करे, इस के अतिरिक्त दशवैकालिक सूत्र मे बताया है कि जो अपनी आत्मा के द्वारा ही अपनी आत्मा को जानता है और राग-द्वेष मे समभाव रखने वाला है, वही पूज्य है। अपनी आत्मा से आत्मा को जानने

प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वरूप है, तब फिर अनेक जीव अज्ञ—मूर्ख क्यों दिखाई देते है ? यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि आत्मा ज्ञानयुक्त है। ज्ञान के अभाव में उसका अस्तित्व रह ही नहीं सकता । जैसे सूर्य की किरणें एव प्रखर प्रकाश सदा उसके साथ रहता है । जब बादल छाजाते है या राहु का विमान उसे प्रच्छन्न कर लेता है, तब भी रजत-रश्मिये उस सहस्ररश्मि से अलग नहीं होतीं उनका अस्तित्व उस समय भी बना रहता है । परन्तु बादलों एवं राहु के विमान का कालिमामय गहरा आवरण होने से सहस्ररश्मि-सूर्य का प्रखर प्रकाश हमे दिखाई नहीं देता। इतना होने पर भी उसके अस्तित्व का पता लगता रहता है। भले कितने ही घन घोर बादल क्यों न छाए हो, उनमे से छन-छन कर आता हुआ मन्द २ प्रकाश दिन की प्रतीति करा ही देता है। इसी तरह ज्ञानावरणीयकर्मवर्गणा के पुद्गल परमाणुओ के आवरण के कारण आत्मा का अनन्त ज्ञान भानु प्रच्छन्न रहता है। कभी-कभी यह आवरण इतना गहरा हो जाता है कि आत्मा अपने पूर्व स्थान को ही भूल जाती है, अनेक जीवों की स्मरणशक्ति या जानने-पहचानने की ताकत बहुत कम रह जाती है। परन्तु आत्मा मे ज्ञान का सर्वथा अभाव कभी नहीं होता। उसकी थोड़ी बहुत झलक पड़ती ही रहती है। अनन्त काल के लम्बे एवं विस्तृत जीवन मे एक भी समय ऐसा नही आता कि ज्ञानदीप सर्वथा बुझ जाए। इसी कारण उसका लक्षण उपयोग बताया गया है। क्योंकि वह सदा सर्वदा आत्मा मे रहता है और आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों मे नही पाया जाता। यह बात अलग है कि ज्ञानावरणीय कर्म के उदय एव क्षयोपशम के कारण आत्मा मे इसका अपकर्ष एव उत्कर्ष होता रहता है। जब ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होता है, तब इसका अपकर्ष दिखाई देता है। इसी बात को सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे दिखाया है कि ज्ञान का अधिक भाग प्रच्छन्न हो जाने के कारण कई जीवों को इस बात का परिबोध नहीं होता कि मै पूर्व दिशा से आया हूँ या पश्चिम आदि दिशा-विदिशाओं से आया हूँ।

'दिसाओ' इस पद का अर्थ है—दिशाएं । दिशाए तीन प्रकार की होती है—१–ऊर्ध्वदिशा, २–अधोदिशा, और ३–तिर्यग्दिशा । ऊपर की ओर को ऊर्ध्व-दिशा, नीचे की ओर को अधो-दिशा और इन उभय दिशाओ के मध्य भाग को तिर्यग्दिशा कहते है । तिर्यग्दिशा—पूर्व, पश्चिम उत्तर और दक्षिण दिशा के भेद से चार प्रकार की है। जिस ओर से सूर्य उदित होता है, उसे पूर्वदिशा कहते हैं। जिस ओर सूर्य अस्त होता है, उसे पश्चिमदिशा कहते है । सूर्य के सम्मुख खडे होने पर बाए हाथ की ओर उत्तर दिशा है और दाहिने हाथ की तरफ दक्षिण-

दिशा है! इस तरह ऊर्ध्व और अधो दिशा में उक्त चार तिर्यग् दिशाओं को मिला देने से ६ दिशाएं होती हैं। इसके अतिरिक्त चार विदिशाएं भी होती है, जिन्हे सूत्रकार ने 'अणुदिसाओ' पद से अभिव्यक्त किया है, जिन्हे १-ईशान कोण, २-आग्नेय कोण, ३-नैर्ऋत्य कोण और ४-वायव्य कोण कहते हैं। उत्तर और पूर्वदिशा के बीच के कोण को ईशान कोण कहते है। पूर्व एवं दक्षिणदिशा के बीच का कोण आग्नेय कोण के नाम से जाना—पहचाना जाता है। दक्षिण और पश्चिम का मध्य कोण नैर्ऋत्य कोण के नाम से प्रसिद्ध है। और पश्चिम तथा उत्तर दिशा के बीच का कोण वायव्य कोण के नाम से व्यवहृत है। मेरु पर्वत को केन्द्र मानकर इन सभी दिशा-विदिशाओं का व्यवहार किया जाता है। इस तरह ऊर्ध्व और अधो दिशा, चार तिर्यग् दिशाएं और चार विदिशाएं कुल मिला कर २+४+४=१० होती हैं। परतु निर्युक्तिकार ने इस मान्यता से अपना भिन्न मत भी उपस्थित किया है। उन्होंने सर्वप्रथम दिशा के द्रव्य और भाव दिशा ये दो भेद किए हैं और तदनन्तर दोनों के अठारह-अठारह भेद किए हैं। १८ द्रव्य दिशाओं का वर्णन इस प्रकार किया है—

पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण चार दिशाए हैं। इन चारो के अंतराल में चार विदिशाएं हैं। चार दिशा और चार विदिशा इन आठ के मध्य मे आठ और अंतर हैं। इस प्रकार ये सोलह दिशाए बनती हैं और उक्त १६ में ऊर्ध्व और अधो दिशा, ये दो दिशाएं मिला दे तो कुल अठारह दिशाएं बनती हैं। ये समस्त द्रव्य दिशाएं हैं।*

निर्युक्तिकार ने भाव दिशाएं भी १८ बताई हैं। मनुष्य, तिर्यञ्च, काय, वनस्पति देव और नारक इनकी अपेक्षा से भाव दिशा के १८ भेद किए है। यथा—मनुष्य चार प्रकार के हैं—१-सम्मूर्च्छिम मनुष्य, २-कर्मभूमि मनुष्य, ३-अकर्मभूमि मनुष्य, और ४-अंतर्द्वीपज मनुष्य। तिर्यञ्च के भी ४ भेद होते हैं=१-द्वीन्द्रिय, २-त्रीन्द्रिय, ३-चतुरिन्द्रिय

*जत्थ य जो पण्णवओ, कस्स वि साहइ दिसासु य णिमित्त ।
जत्तोमुहो य ठाई सा पुव्वा पच्छओ अवरा ॥
दाहिण-पासमि उ दाहिणा दिसा उत्तरा उ वामेण ।
एयासिमन्तरेण अण्णा चत्तारि विदिसाओ ॥
एयासिं चेव अट्ठण्हमतरा अट्ठ हुति अण्णाओ ।
सोलस-सरीर उस्सय बाहल्ला सव्वतिरिय दिसा ॥
हेट्ठापायतलाण अहोदिसा सीसउवरिया उड्ढा ।
एया अट्ठारसवी, पण्णवादिसा मुणेयव्वा ॥
—आचाराग निर्युक्ति, गाथा ५१-५४

और ४-पञ्चेन्द्रिय । काय के भी चार भेद हैं—१—पृथ्वी काय, २—अप् काय, ३—तजस्काय और ४—वायुकाय । वनस्पति भी चार तरह की होती है–१-अग्रबीज, २-मूलबीज, ३-स्कंध बीज और पर्वबीज । इसतरह चतुर्विध मनुष्य, चतुर्विध तिर्यञ्च, चतुर्विध काय और चतुर्विध वनस्पति कुल मिला कर ४+४+४+४=१६ भेद हुए और उक्त सोलह मे १-नारक और २-देव मिलाने से १८ भेद होते हैं। इन सब को भाव दिशा कहा है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि कर्मों से आबद्ध जीव इन्हीं योनियों में यत्र-तत्र परिभ्रमण करता रहता है। इसलिए इनको भाव दिशा कहा है† ।

"अण्णयरीओ वा दिसाओ" का अर्थ है—अन्यतर दिशा से । इसका तात्पर्य इतना ही है कि पूर्व-पश्चिम आदि उक्त दिशाओं में से किसी भी एक दिशा से आया हूँ। उक्त वाक्य से शास्त्रकार ने पुन उन सभी दिशाओं की ओर समुच्चय रूप से संकेत कर दिया है। या यों भी कह सकते हैं कि उक्त समस्त दिशाओं के बीच किसी भी दिशा से इस भाव को प्रस्तुत वाक्य से अभिव्यक्त किया है।

"आगओ अहमंसि" वाक्य का अर्थ है—मैं आया हूँ । सूत्रकार ने उक्त पदों को उपन्यस्त करके जैन दर्शन की आत्मा सबंधी मान्यता की ओर सकेत कर दिया है। जैन दर्शन आत्मा को अनन्त और लोक के एक देश में स्थित या ससारी आत्मा को शरीर परिमाण मानता है। कुछ दार्शनिक आत्मा को एक और सर्वव्यापक मानते हैं। वस्तुत ऐसा है नहीं, इसी बात को स्पष्ट करने के लिए यह कहा गया है कि 'मैं आया हूं, यदि ऐसा मान लिया जाए कि दुनिया मे एक ही आत्मा है और वह सर्व व्यापक है तो "मैं किस दिशा से आया हूँ तथा किस दिशा या गति से जाऊंगा ?" ऐसा प्रयोग घट नहीं सकता। फिर पुनर्जन्म एव बंध-मोक्ष, सुख-दु ख आदि अवस्थाएं भी घटित नहीं हो सकेंगी। क्योंकि जब आत्मा सर्वव्यापक है तो वह नारक, देव, तिर्यञ्च, मनुष्य आदि सभी गतियों में स्थित है, फिर एक गतिका आयुष्य पूर्ण करके दूसरी गति में जाने की बात एव जन्म-मरण की बात युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होती । जब वह सब जगह व्याप्त है तब तो वह बिना मरे या जन्मे ही यत्र-तत्र-सर्वत्र जहा जाना चाहे पहुंच जाएगा। न उसे गति करने की आवश्यकता है और न अन्य क्रिया करने की ही ज़रूरत है। परन्तु ऐसा होता नहीं है। व्यवहार मे भी हम स्वय चलकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते-आते हैं। यही स्थिति पुनर्जन्मके सम्बन्ध मे समझनी चाहिए। संसारी आत्मा कार्मण शरीर

† मणुया तिरिया काया तहग्गबीया चउक्कगा चउरो ।
देवा नेरइया वा अट्ठारस होंति भावदिसा ॥

—आचाराग निर्युक्ति गाथा, ६०

के साधन से एक गति से दूसरी गति की यात्रा तय करती है। इस से स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि आत्मा सर्व व्यापक नहीं, देश व्यापक है। वह लोक के एक देश में स्थित है या यों भी कह सकते हैं कि संसारी आत्मा अपने शरीर परिमाण स्थान में स्थित है और मुक्त आत्माएं सिद्धशिला में—जो ४५ लाख योजन की लम्बी-चौड़ी है और जिस की एक करोड़ ब्यालीस लाख छत्तीस हजार तीन सौ उन्नपचास योजन से कुछ अधिक परिधि है, उसके एक गाऊ अर्थात् दो मील के ऊपर के छठे हिस्से मे लोक के अन्तिम प्रदेश को स्पर्श किए हुए स्थित हैं। इस तरह सिद्ध या संसारी कोई भी आत्मा समस्त लोक व्यापी नहीं, बल्कि लोक के एक देश में स्थित हैं।

जैन दर्शन ने भी संसार में स्थित सर्वज्ञ एवं सिद्धों की आत्मा को एक अपेक्षा से सर्व व्यापक माना है। वह अपेक्षा यह है कि जब केवल ज्ञानी के आयुष्य के अन्तिम भाग में वेदनीय कर्म सब से अधिक और आयुष्य कर्म थोड़ा रह जाता है, तो उस समय उक्त दोनों कर्मों और आयुष्य कर्म मे सन्तुलन लाने के लिए वे केवली समुद्घात करते हैं। उस समय वे पहले समय में अपने आत्मप्रदेशों को दण्डाकार फैलाते हैं, दूसरे समय में उन्हें कपाट के आकार में बदलते हैं, तीसरे समय में मन्थनी के रूप मे अपने आत्मा को फैलाते हैं और चौथे समय मे वे अपने आत्म-प्रदेशों को सारे लोक मे फैला देते हैं। उनके आत्म-प्रदेश लोक के समस्त आकाश प्रदेशों को स्पर्श कर लेते हैं, पांचवें समय में वे पुनः अपने आत्म प्रदेशों को समेटने लगते हैं और उन्हें मंथनी की स्थिति में ले आते हैं, छटे समय में फिर से कपाट और सातवें समय मे दंड के आकार में ले आते हैं, एवं आठवें समय में अपने शरीर में स्थित हो जाते हैं। यह समुद्घात सभी सर्वज्ञ नहीं करते, वे ही केवल ज्ञानी करते हैं, जिनका वेदनीय कर्म आयुष्य कर्म से अधिक रह गया है, और उसे थोड़े से समय में ही क्षय करना है। इस तरह वे अपने आत्म-प्रदेशों को लोक में सर्वत्र फैला देते हैं और तुरन्त समेट भी लेते है। इस अपेक्षा से वे सर्वव्यापी भी हैं परन्तु वस्तुत. वे भी सदा-सर्वदा के लिए सर्वव्यापी नहीं हैं*।

---

*केवलीण चत्तारि कम्ममा अपलिक्खीणा भवति, तजहा वेयणिज्ज आउय, णाम, गुत्त सव्ववहुए से वेयणिज्जे कम्मे भवइ, सव्वत्थोवे मे आउए कम्मे भवइ, विसम मम करेइ ववणेंहि ठिईहि य, विसमसमकरणयाए वधणेंहि ठिईहि य एव खलु केवली समोहणति एव खलु समुग्घायं गच्छन्ति।

—उववाई सूत्र, सिद्ध स्वरूप ४०

पढमे समए वड करेइ, विइए ममए कवाड करेइ, तइए समय मथ करेइ, चउत्थे समए लोयं पूरइ, पचमे समए लोय पडिसाहरइ, छट्ठे समए मयपडिमाहरइ, सत्तमे समए कवाड साहरइ, अट्ठमे समऐ दड पडिसाहरइ तओ पच्छा सरीरत्थे भवइ।—उववाई सूत्र वही।

सर्वज्ञ एवं सिद्धों को एक दूसरी अपेक्षा से भी सर्वव्यापक माना गया है। वह है— ज्ञान की अपेक्षा। क्योंकि वे तीनों लोक एव तीनों काल मे स्थित सभी द्रव्यों को जानते-देखते है। लोक का एक प्रदेश भी ऐसा नहीं है, जिसे वे नहीं जानते हों। अस्तु, ज्ञान की अपेक्षा वे सर्वव्यापक हैं अर्थात् समस्त लोक के द्रव्यों एव भावों को जानते—देखते हैं। परन्तु आत्म प्रदेशों की अपेक्षा से तो वे भी एक देश व्यापी है। क्योकि आत्म-प्रदेशों की अपेक्षा से आत्मा को सर्वव्यापी मानने से बन्ध एव मोक्ष नहीं घट सकता। फिर तो वह ससार एव मोक्ष मे सर्वत्र स्थित रहेगा ही, तब उसे मुक्ति पाने के लिए त्याग-तप एवं धर्म-कर्म करने की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। अत आत्मा सर्वव्यापक मानना युक्तिसंगत एव अनुभवगम्य नहीं कहा जा सकता है।

आत्मा को एक मानना भी यथार्थ से परे है। क्योकि आत्मा को एक मान लेते है, तो फिर संसारी जीवों मे जो कर्मजन्य विभिन्नता दृष्टिगोचर हो रही है, वह नहीं होनी चाहिए। ससार में परिलक्षित होने वाले अनन्त-अनन्त जीवों की आत्मा एक है, तो फिर कोई सुखी, कोई दुखी, कोई निर्धन, कोई धनवान, कोई रोगी, कोई स्वस्थ, कोई कमजोर, कोई ताकतवर, कोई दुबला, कोई भारी शरीर वाला दिखाई देता है, यह भेद भी नहीं रहना चाहिए। फिर तो एक के सुखी होते ही सारा संसार सुखी हो जाना चाहिए एव एक के दु खी होते ही सर्वत्र दु ख की काली घटाएं छाजानी चाहिएं। परन्तु, ऐसा होता नहीं। व्यवहार में सबके सुख-दु ख अलग २ दिखाई देते हैं। एक के सुखी होने पर सारा संसार तो क्या, सारा गांव भी सुखी नहीं होता और एक के दुःखी होने पर सभी मुसीबत एव वेदना के दलदल मे नहीं धसते। जगत् के सभी जीव अपने-अपने शुभ अशुभ कर्म के अनुरूप सुख दु ख का सवेदन करते हैं। अत. सभी आत्माए एक नहीं, व्यक्तिश विभिन्न हैं, अनेक हैं, अनंत है।

"मैं आया हूँ" प्रस्तुत वाक्य से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जैन दर्शन एकांत रूप से आत्मा को एक एव सर्वव्यापक नहीं मानता है। सभी आत्माएं पृथक् २ हैं, सबका अपना स्वतत्र अस्तित्व है और लोक के एक देश मे स्थित है। इसी कारण वह एक स्थान से दसरे स्थान पर आ जा सकती है। यदि आत्मा एक एवं सर्व व्यापक हो, तब तो एक आत्मा के चलने पर सभी चलने लगेगी और एक के ठहरने पर सभी स्थित हो जाएगी। इस तरह सासारिक आत्माओं में होने वाला गमनागमन एव हरकतें ही बद हो जाएगी और फिर 'मैं आया हू' आदि शब्दों का प्रयोग ही व्यर्थ सिद्ध हो जायगा। परंतु ऐसा होता नहीं, यह प्रयोग वास्तविक है। और इसी से यह सिद्ध होता है कि आत्माएं अनन्त हैं और लोक के एक देश मे स्थित हैं।

योग दृष्टि मे चिन्तन— जैन और वैदिक उभय परंपराओं में योग शब्द का

प्रयोग मिलता है। शब्द साम्यता होते हुए भी दोनों सम्प्रदायों मे योग शब्द के किए जाने वाले अर्थ में एक रूपता नहीं मिलती। दोनों इसका अपने अपने ढंग से स्वतन्त्र अर्थ करते हैं। जैन दर्शन मे योग शब्द का प्रयोग मन, वचन और काया की प्रवृत्ति मे किया गया है। मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक क्रिया को ही योग कहा गया है और मुमुक्षु के लिए आगमों मे यह आदेश दिया गया है कि अपने मन, वचन और शरीर के योगों को अशुभ कामों से, पाप कार्यों से हटा कर शुभ कार्य में या संयम मार्ग मे प्रवृत्त करे। इसे आगमिक परिभाषा में गुप्ति और समिति कहते हैं। जैन दृष्टि से मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। और पातञ्जल योग दर्शन मे योग शब्द का समाधि अर्थ किया है। पातञ्जल योग दर्शन वैदिक संप्रदाय का योग विषयक सर्वमान्य ग्रंथ है। प्रस्तुत ग्रथ मे योग की परिभाषा करते हुए पतञ्जलि ने लिखा है—"चित्त की वृत्तियों का निरोध करना अथवा उन की प्रवृत्ति को रोकना योग है†।

दोनों परम्पराओं की मान्य परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दर्शन में योग शब्द का प्रयोग चित्त वृत्ति के निरोध मे नहीं, वल्कि मन, वचन एवं शरीर के व्यापार में किया गया है। इस त्रियोग में चिंतन, मनन की प्रधानता रहती है। इस योग पद्धति से यदि प्रस्तुत सूत्र के आध्यात्मिक रहस्य पर गहराई से सोचा-विचारा एवं चिंतन-मनन किया जाए तो साधना के क्षेत्र मे इस सूत्र का वहुत महत्त्व वढ़ जाता है। मुमुक्षु के लिए यह सूत्र वहुत ही उपयोगी है।

प्रस्तुत सूत्र के वर्णनक्रम से कि सूत्रकार ने सर्वप्रथम पूर्वादि चार दिशाओं का और तदनंतर ऊर्ध्व और अधो इन दो दिशाओं का और अंत में विदिशाओं का क्रमश. वर्णन किया है। पूर्व आदि सभी दिशाओं का व्यवहार मेरु पर्वत को केंद्र मानकर किया जाता है परतु इसके अतिरिक्त व्यक्ति अपनी अपेक्षा से भी चिंतन कर सकता है। जव ध्यानस्थ व्यक्ति एक पदार्थ पर दृष्टि रखकर मानसिक चिंतन करता है, तव वह अपनी नाभि को केन्द्र मानकर सोचता है कि मै पूर्व-पश्चिम आदि किस दिशा—विदिशा से आया हूँ। इस तरह चिंतन—मनन मे योगों की प्रवृत्ति होने पर मन मे एकाग्रता आती है और इससे आत्मा मे विकास होने लगता है। और चिंतन की गहराई में गोते लगाते २ ध्यानस्थ आत्मा को विशिष्ट वोध भी हो जाता है। यदि चिंतन—मनन का प्रवाह एक रूप से निर्वाध गति से सतत चलता रहे और विचारों मे स्वच्छता एवं शुद्धता वनी रहे तो उसे यह भी परिज्ञात हो जाता है कि मै किस दिशा से आया हूँ। फिर उस से यह रहस्य छिपा नहीं रहता। और दिशा सम्बन्धी आगमन के रहस्य का आवरण अनावृत होते ही उसकी आत्मा अपने स्वरूप मे रमण करने लगती है, साधना एव ध्यान

† योगश्चित्तवृत्तिनिरोध पातञ्जल योगदर्शन १, २,

या चिन्तन-मनन में संलग्न हो जाती है । इस तरह प्रस्तुत सूत्र मानसिक एवं वैचारिक चिन्तन के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इससे विचारों में, चिन्तन मे एवं साधना के प्रवृत्ति-क्षेत्र में एकाग्रता एवं एकरूपता आती है, ज्ञान का विकास होता है।

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि संसार मे ऐसे भी अनेक जीव हैं, जिनको ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्यूनता के कारण इस बात का परिबोध नहीं होता कि मैं पूर्व-पश्चिम आदि किस दिशा-विदिशा से आया हू। ऐसे जीवों को 'किस दिशा से आया हूँ' इसके अतिरिक्त और भी जिन अनेक बातों का परिज्ञान नहीं होता है, उन का निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एवमेगेसिं णो णायं भवइ—अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसि ? के वा इओ चुए इह पेच्चा भविस्सामि ? ॥४॥

छाया—एवमेकेषां नो ज्ञातं भवति—अस्ति मे आत्मा औपपातिकः, नास्ति मे आत्मा औपपातिकः, कोऽहमासम् ? को वा इतश्च्युत इह प्रेत्य भविष्यामि ?

पदार्थ—एवमेगेसिं—इसी प्रकार किन्ही जीवो को। णो णायं भवइ—यह ज्ञान नही होता। मे आया—मेरी आत्मा। उववाइए अत्थि—औपपातिक—उत्पत्तिशील है। या, मे आया—मेरी आत्मा। उववाएइ नत्थि—उत्पत्तिशील-जन्मान्तर मैं समक्रण करने वाली नहीं है। के अह आसि—मैं (पूर्व भव मे) कौन था ? वा—अथवा। इओ चुए—यहा से च्युत हो कर अर्थात्—यहां के आयुष्कर्म को भोग कर। इह—इस ससार मे। पेच्चा—परलोक जन्मान्तर में। के भविस्सामि—क्या बनूगा ?

मूलार्थ—इसी प्रकार—जैसा कि पूर्व सूत्र मे कहा गया है कि किन्ही जीवो को इस बात का परिबोध—ज्ञान नही होता कि मेरी आत्मा औपपातिक अर्थात्—जन्मान्तर मे एक योनि को छोड कर दूसरी योनि मे उत्पन्न होने वाली है या नही ? मैं इस जन्म के पूर्व कौन था ? यहा से मर कर भविष्य मे क्या बनू गा अर्थात्-किस गति मे जन्म ग्रहण करू गा ?

हिन्दी विवेचन—आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने वाले दर्शनों का यह विश्वास है कि ससारी आत्मा अनादि काल से कर्म से आबद्ध होने के कारण अनन्त-अनन्त काल से जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान हैं। कर्म के आवरण के कारण ही यह अपने अन्दर

स्थित अनन्त शक्तियों के भण्डार को देख नहीं पाती है। कई एक आत्माओं पर ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण कभी-कभी इतना गहरा छा जाता है कि उन्हें अपने अस्तित्व तक का भी परिबोध नहीं होता। उस समय वह यह भी नहीं जानता कि मैं उत्पत्तिशील-एक गति से दूसरी गति में जन्म लेने वाला, विभिन्न योनियो में विभिन्न शरीरों को धारण करने वाला हूँ या नहीं ? इस जन्म के पहले भी मेरा अस्तित्व था या नहीं ? यदि था तो मैं किस योनि या गति मे था ? मैं यहा से अपने आयुष्य कर्म को भोगकर भविष्य में कहा जाऊंगा ? किस योनि मे उत्पन्न होऊंगा ? ज्ञानावरणीय कर्म के प्रगाढ़ आवरण से आवृत्त यह आत्माएं उक्त बातों को नहीं जानपाती, उक्त जीवों की इसी अबोध दशा को सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में अभिव्यक्त किया है।

संसार से दिखाई देने वाले प्राणियों में आत्मा का स्वतत्र अस्तित्व है या नहीं अथवा यों कहिए कि आत्मा के अस्तित्व और नास्तित्व का प्रश्न दार्शनिकों में पुरातन काल से चला आ रहा है। जबकि आत्मा को चेतन तो सभी मानते हैं — यहा तक कि चार्वाक जैसे नास्तिक भी उस को चेतन मानते हैं। परन्तु, दार्शनिकों मे मतभेद इस बात का है कि आत्मा का स्वतत्र अस्तित्व है या नहीं ? कुछ विचारक पांच भूतों के मिलन से चेतना का प्रादुर्भाव मानते हैं और उनके नाश के साथ चेतना या आत्मा का नाश मानते हैं। उनके विचार मे आत्मा का अपना स्वतत्र अस्तित्व नहीं है। परन्तु कुछ विचारक आत्मा को पाच भूतों से अलग मानते हैं और उस के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। इसी विचारभेद के आधार पर आस्तिकवाद और नास्तिकवाद इन दो वादों या दर्शनों की परपरा सामने आई। इन उभय वादो का विचार प्रवाह कब से प्रवहमान है, इसका पता लगा सकना ऐतिहासिकों की शक्ति से बाहिर है। फिर भी आगमों एव दर्शन ग्रथों के अनुशीलन- परिशीलन से इतना तो स्पष्ट है कि दोनों विचारधाराए हजारों-लाखों वर्षों से प्रवहमान हैं।

यह हम देख चुके हैं कि नास्तिक दर्शन आत्मा के स्वतत्र अस्तित्व को नहीं मानता है। परन्तु, आस्तिक दर्शन आत्मा के स्वतत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। और इस तथ्य को भी मानते हैं कि आत्मा अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार ऊर्ध्व, अधो या तिर्यग् दिशाओं मे जन्म लेता है। स्वर्ग और नरक की निरापद-सुखद एवं भयावह-दुखद परिस्थितियों को तय करता है। और तप, ध्यान, स्वाध्याय एव सयम आदि आध्यात्मिक साधना के द्वारा अनत काल से बंधते आरहे कर्म बंधनों को समूलत उच्छेद करके निर्वाण—मुक्ति को भी प्राप्त करता है। परन्तु नास्तिकवाद इस बात को नहीं मानते। उनकी दृष्टि में यह शरीर ही आत्मा है। इसके नाश होते ही आत्मा का भी विनाश हो जाता है। शरीर के अतिरिक्त अपने कृत कर्म के अनुसार स्वर्ग-नरक आदि

आदि योनियों में घूमने वाली तथा कर्म बंधन को तोड़कर मुक्त होने वाली स्वतन्त्र आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। जैन दर्शन को यह बात मान्य नहीं है। आगमों के प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों एवं आत्म-अनुभव से सिद्ध आत्मा के अस्तित्व को स्पष्ट शब्दों मे अभिव्यक्त किया गया है। आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने वाला सब से बलवान प्रमाण स्वानुभूति ही है। व्यक्ति को किसी भी समय मे अपने अस्तित्व मे संदेह नहीं होता। और आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति उसे प्रतिक्षण होती रहती है। जब कोई नास्तिक व्यक्ति यह कहता है कि "मैं नहीं हूं," तो उसके इस उच्चारण में यह बात स्पष्ट ध्वनित होती है कि मेरा (आत्मा का) अस्तित्व है। "मैं नहीं हू' इस वाक्य मे 'मै' का अभिव्यक्त करने वाला कोई स्वतत्र व्यक्ति है। क्योंकि जड में 'मैं' को अभिव्यक्त करने की ताकत है नहीं और यह केवल शरीर भी 'मैं' को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। यदि अकेले शरीर मे 'मैं' को अभिव्यक्त करने की शक्ति होता यह शरीर तो मृत्यु के बाद भी विद्यमान रहता है। परतु चेतना के अभाव मे वह अपने अस्तित्व को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। तो इस से स्पष्ट है कि 'मैं' को अभिव्यक्त करने वाली शरीर मे स्थित शरीर से अतिरिक्त कोई शक्ति नहीं है और वही शक्ति चेतना है, आत्मा है। तो 'मैं नहीं हूं' इस वाक्य से भी आत्मा के अस्तित्व की ही सिद्धि होती है। आत्मा के अस्तित्व का स्पष्ट बोध होने पर भी उससे इन्कार करना तो ऐसा है— जैसे कि लोगों मे यह ढिंढोरा पीटना कि 'मेरी माता-वन्ध्या है' २, यह वाक्य सत्य से परे है, उसी तरह 'मैं नहीं हू' या 'मेरी आत्मा का अस्तित्व नहीं है' कहना भी सत्य एव अनुभव से विपरीत है।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि हमारे शरीर की अवस्थाए प्रतिक्षण बदलती रहती है। बाल्यावस्था से यौवनकाल सर्वथा भिन्न नजर आता है और बुढ़ापा बाल एव यौवन दोनों कालों को ही पछाड देता है, उस समय शरीर की अवस्था एकदम बदल जाती है। शरीर मे इतना बडा भारी परिवर्तन होने पर भी तीनों काल मे किए गए कार्यों की अनुभूति में कोई अतर नहीं आता। यदि शरीर ही आत्मा है या आत्मा क्षणिक है तो शरीर के परिवर्तन के साथ अनुभूति में भी परिवर्तन आना चाहिए। पुराणे शरीर की समाप्ति के साथ-साथ पुरातन अनुभवों का भी जनाजा निकल जाना चाहिये। परतु ऐसा होता नहीं है। तीनों काल में शारीरिक परिवर्तन होने पर भी आत्मानुभूति मे एकरूपता बनी रहती है। उससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनत-अनंत भूतकाल मे अनंत बार अभिनव-अभिनव शरीरों को धारण करने पर भी आत्मा के अस्तित्व मे कोई अंतर नहीं आया और न भविष्य मे हो आने वाला है। जब तक राग-

द्वेष एवं कर्म-बन्ध का प्रवाह चालू है, तब तक शरीरों का परिवर्तन होता रहेगा। एक काल के बाद दूसरे काल में या एक जन्म के बाद दूसरे जन्म मे शरीर बदल जाएगा, परंतु उसके साथ आत्मा में परिवर्तन नहीं आता। वह त्रिकाल में एक रूप रहता है। इस से आत्मा का अस्तित्व स्पष्टतः प्रमाणित होता है। इसमे शका — संदेह को जरा भी अवकाश नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र मे 'एवं' शब्द 'इसी प्रकार' अर्थ का बोधक है। यह पद पिछले सूत्र से सम्बद्ध है। जैसे पिछले सूत्र मे बताया गया है कि 'किन्ही जीवों को ज्ञान नहीं होता।' उसी तरह प्रस्तुत मे भी 'एवमेगेसि' आदि वाक्य का भी यही तात्पर्य है कि कई एक जीवों को यह परिज्ञान नहीं होता कि 'मै उत्पत्तिशील हूँ या नही ? मै कहा से आया हूं और कहां जाऊंगा ?" इत्यादि। इसी उद्देश्य को लेकर सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे 'एवं' पद का प्रयोग किया है।

'उववाइए' का अर्थ है औपपातिक। औपपातिक शब्द अनेक अर्थों मे प्रयुक्त होता है। देव और नारकी को भी औपपातिक कहते है। देव शय्या और नरक-कुम्भी-जिस मे देव और नारकी जन्म ग्रहण करते है—उसे उपपात कहते है। उपपात से उत्पन्न प्राणी औपपातिक कहलाते है। उक्त व्याख्या के अनुसार औपपातिक शब्द देव और नारकी का परिचायक है। परन्तु जब उक्त शब्द की इस प्रकार व्याख्या करते हैं,"

"उपपात प्रादुर्भावो जन्मान्तरसक्रांति उपपात भव औपपातिक —

—शीलाकाचार्य

तो इस का अर्थ हुआ–उत्पत्ति-शील या जन्मातर मे संक्रमण करने वाला। प्रस्तुत प्रकरण मे 'औपपातिक' दोनो अर्थों मे प्रयुक्त किया जा सकता है। फिर भी शीलाकाचार्य आदि सभी टीकाकारों ने प्रस्तुत प्रकरण मे उक्त शब्द को दूसरे अर्थ मे ही प्रयुक्त किया है।

प्रस्तुत सूत्र "मे एगेसि णो णायं भवति" ऐसा उल्लेख किया गया है। इससे यह भलीभाति स्पष्ट हो जाता है कि ससार के सभी जीवों को बोध नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। बहुत से जीवों को ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण इस बात का परिबोध हो जाता है कि 'मैं उत्पत्ति-शील हूँ। मै अमुक गति से आया हूं और यहां से मरकर अमुक गति मे जाऊंगा। मेरी आतमा का स्वतन्त्र अस्तित्व है, इत्यादि। इससे यह प्रश्न उठता है कि जिन जीवों को उक्त बातों का परिज्ञान होता है, वह नैसर्गिक-स्वभावतः होता है या किसी निमित्त या साधन विशेष से होता है। इस प्रश्न का समाधान अगले सूत्र मे किया जा रहा है—

मूलम्—से जं पुण जाणेज्जा सह संमइयाए, परवागरणेणं अण्णेसिं अन्तिए वा सोच्चा। तंजहा—पुरत्थिमाओ वा दि—

हिन्दी विवेचन—

ज्ञानावरणीय आदि कर्म से आवृत यह आत्मा अनंत काल से अज्ञान अंधकार में भटक रही है, संसार में इधर-उधर ठोकरें खा रही है और जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान है। किन्तु जब आत्मा शुभ विचारों मे परिणति करता है, सत्कार्य में प्रवृत्त होता है, अपने चिंतन को नया मोड़ देता है और साधना के द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म के पर्दे को अनावृत्त करने का प्रयत्न करता है और फलस्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, तब आत्मा में अपने स्वरूप को जानने-समझने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और साधना के द्वारा एक दिन वह अपने स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करने मे सफल भी हो जाता है और वह इन सभी बातों को जान लेता है कि मैं कौन हूँ ? कहां से आया हूँ ? और कहां जाऊंगा ? इत्यादि।

आत्मा के उक्त विकास में ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अंतरंग कारण है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के बिना आत्मा अपने आप को पहचान ही नहीं सकता। परंतु इस स्थिति तक पहुचने मे इस अतरंग कारण के साथ कुछ बाह्य साधन या बहिरंग कारण भी सहायक हैं। उनका सहयोग भी आत्मविकास के लिए जरूरी है। अस्तु अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अ तरंग एवं बाह्य दोनो निमित्तों की अपेक्षा है। दोनों साधनों की प्राप्ति होने पर अज्ञान का पर्दा आवृत्त होने लगता है और ज्ञान का प्रकाश फैलने लगता है और उस उज्जवल—समुज्ज्वल ज्योति में आत्मा अपने पूर्व भव में किये सन्नी पचेन्द्रिय — पशु-पक्षी एवं मनुष्य के भवों को देखने लगता है। वह भली भांति जान लेता है कि मैं पूर्व भव मे कौन था ? किस योनि मे था ? वहां से कब चला ? इत्यादि बातों का उसे परिज्ञान हो जाता है। ज्ञान प्राप्ति मे कारणभूत अंतरग एवं बहिरंग साधनो का ही प्रस्तुत सूत्र मे वर्णन किया गया है। जब कि उक्त कारणों को अंतरग और बहिरग दो भागों मे स्पष्ट रूप से विभक्त नहीं किया गया है। फिर भी प्रस्तुत सूत्र मे ज्ञान प्राप्ति के जो साधन बताए हैं, वे साधन अंतरंग एवं बहिरंग दोनों तरह के हैं। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में ज्ञान प्राप्ति मे तीन बातों को निमित्त माना है— १ सन्मति या स्वमति, २ पर—व्याकरण और ३ परंतर—उपदेश।

सन्मति शब्द दो पदों के सुमेल मे बना है— सद्—मति। सद् शब्द प्रशंसार्थक है, और मति शब्द ज्ञान का बोधक है। साधारणत ज्ञान प्रत्येक प्राणी मे पाया जाता है। क्योंकि वह आत्मा का लक्षण है, गुण है। उसके अभाव में आत्मा का अस्तित्व भी नहीं रह सकता। अत सामान्यत: ज्ञान का अस्तित्व समस्त आत्माओं मे है, परतु यह बात अलग है कि कुछ आत्माओं में सम्यग् ज्ञान है और कुछ मे मिथ्या। मति-श्रुति ज्ञान भी ज्ञान के अवान्तर भेद है। ये यदि सम्यग् हों तो इनसे भी आत्मा के वास्तविक तत्त्वों का परिबोध होता है, ससार एव मोक्ष के मार्ग का परिज्ञान होता है। मति-श्रुत

ये सामान्य और विशेष दो प्रकार के होते है। परतु सामान्य मति श्रुत से, मैं पूर्व भव में कौन था, इत्यादि बातो का बोध नहीं होता। इसलिए सामान्य मति-श्रुत ज्ञान को 'सन्मति' नही कहते, प्रत्युत जाति स्मरण, (पूर्व जन्मों को देखने वाला ज्ञान, मति श्रुत ज्ञान का विशिष्ट प्रकार), अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान और केवलज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञानों का संग्राहक है और यह विशिष्ट ज्ञान सभी जीवों को नहीं होते हैं।

'सन्मति' ज्ञान प्राप्ति का अतरग कारण है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम या क्षय से आत्मा को विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है या यों कहिए कि ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण जितना हटता जाता है, उतना ही आत्मा मे अस्तित्व रूप मे स्थित ज्ञान का प्रकाश होता रहता है। जव पूर्णत आवरण हट जाता है, तो आत्मा मे स्थित अनन्त ज्ञान प्रकट हो जाता है। इन विशिष्ट ज्ञानों के द्वारा आत्मा अपने स्वरूप को एव पूर्व भव मे वह किस योनि या गति मे था ? जान लेता है। उक्त ज्ञान के द्वारा वह यह भलीभाति जान लेता है कि मैं किस दिशा- विदिशा से आया हूँ और मेरा यह आत्मा औपपातिक (उत्पत्तिशील) है तथा जो दिशा - विदिशाओं मे परिभ्रमण करता रहा है; वह मैं ही हूँ।

'संमइयाए' पद के सस्कृत मे दो रूप वनते हैं— १ सन्मत्या और २ स्वमत्या 'सन्मति' के विषय में ऊपर विचार कर चुके हैं। अव जरा 'स्वमति' के अर्थ पर सोच-विचार ले।

'स्वमति' शब्द भी स्व+मति के संयोग से वना है। स्व का अर्थ आत्मा होता है और मति शब्द ज्ञान का परिचायक है। अत 'स्वमति' का अर्थ हुआ आत्मज्ञान। साधारणतया सम्यग् ज्ञान को आत्मज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान आत्मा के ऊपर लगे कर्म रज को दूर करने मे सहायक है या यों कहिए कि जो ज्ञान मोक्ष मार्ग का पथ प्रदर्शक है, तत्त्व का सही निर्णय करने मे सहायक है वह आत्मज्ञान है। इस तरह मतिज्ञान से लेकर केवलज्ञान तक के सभी ज्ञान आत्मज्ञान में समाविष्ट हो जाते हैं। परन्तु सूत्रकार को यह सामान्य अर्थ इष्ट नहीं है। वह यहा आत्म ज्ञान से सामान्य मति एवं श्रुत ज्ञान को आत्म ज्ञान के रूप मे नहीं स्वीकार करते। क्योंकि साधारणत. ये दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रखते हैं। इसी कारण इन्हे परोक्ष ज्ञानमाना है। परंतु विशिष्ट ज्ञान इन्द्रिय और मन के सहयोग की अपेक्षा नहीं रखते। जहा इन्द्रिय की पहुंच नहीं है या उनमे जहा कि रूप आदि को देखने-सुनने की शक्ति नहीं है, जाति स्मरण, अवधिज्ञान, मन-पर्यवज्ञान और केवलज्ञान से उन पदार्थों को भी आत्मा जान-देख लेता है। जातिस्मरण ज्ञान से आत्मा आख आदि इन्द्रियों की सहायता के विना केवल आत्मा के शुद्ध अध्यवसायों से अपने सन्नी पञ्चेन्द्रिय के किए गए पूर्व भवों को विना किसी वाधा के अवलोकन कर लेता है। इसलिए 'स्वमति'

से विशिष्ट ज्ञानों को ही स्वीकार किया जाता है। उक्त ज्ञान के द्वारा जानने योग्य पदार्थों का परिज्ञान करने में इन्द्रिय एवं मन की सहायता नहीं लेनी पड़ती, इसी कारण इन विशिष्ट ज्ञानों को प्रत्यक्ष या आत्म-ज्ञान कहते हैं। प्रस्तुत ज्ञान से ही आत्मा को अपने स्वरूप का एवं मैं किस गति एवं दिशा-विदिशा से आया हूँ, इत्यादि बातों का बोध होता है।

'सह संसइयाए' इस वाक्य में व्यवहृत 'सह' शब्द संबंध का बोधक है। इस शब्द से आत्मा और ज्ञान का तादात्म्य संबंध अभिव्यक्त किया गया है। ऐसे प्रायः सभी दार्शनिक आत्मा में ज्ञान का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, परन्तु उसका आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध है, इस मान्यता में सभी दार्शनिकों में एकमत नहीं है। वैशेषिक दर्शन-ज्ञान को आत्मा से सर्वथा पृथक मानता है। वह कहता है कि 'आत्मा आधार है और ज्ञान आधेय है। ज्ञान गुण और आत्मा गुणी है। अतः वह आत्मा में समवाय संबंध से रहता है। क्योंकि ज्ञान पर पदार्थ से उत्पन्न होता है। जैसे — घट के सामने आने पर आत्मा का घट से सम्बंध होता है, तब आत्मा को घट का ज्ञान होता है और घट के हटते ही ज्ञान भी चला जाता है। इस तरह ज्ञान पर पदार्थ से उत्पन्न होता है और समवाय संबंध से आत्मा के साथ सम्बन्धित होता है। इस तरह वैशेषिक दर्शन ज्ञान को आत्मा से पृथक मानता है, पर पदार्थ से उत्पन्न होने वाला स्वीकार करता है।

परन्तु जैन दर्शन ज्ञान को आत्मा का गुण मानता है। और उसे आत्मा का स्वभाव या धर्म मानता है और यह भी स्वीकार करता है कि प्रत्येक आत्मा में अनंत ज्ञान अस्तित्व— सत्ता रूप में सदा विद्यमान रहता है। अनेक जीवों में ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से उसकी अनंत ज्ञान की शक्ति प्रच्छन्न रहती है, यह बात अलग है। भले ही आत्मा की ज्ञान शक्ति पर कितना भी गहरा आवरण क्यों न आजाए, फिर भी वह सर्वथा प्रच्छन्न नहीं हो सकता, अनंत-अनंत काल के प्रवाह में एक भी समय ऐसा नहीं आता कि आत्मा का ज्ञान दीप सर्वथा बुझ गया हो या बुझ जायगा। वह सदा-सर्वदा प्रज्वलित रहता है, हां कभी उसका प्रकाश मंद, मंदतर और मंदतम हो सकता है, पर सर्वथा बुझ नहीं सकता। उसका अस्तित्व आत्मा में सदा बना रहता है। वह आत्मा में समवाय संबंध से नहीं, बल्कि तादात्म्य संबंध से है। समवाय सम्बन्ध से स्थित ज्ञान समवाय सम्बन्ध के हटते ही नाश को प्राप्त हो जायगा। परंतु ऐसा होता नहीं है और वस्तुतः देखा जाए तो ज्ञान का आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध घट भी नहीं सकता। क्योंकि ज्ञान पर स्वरूप नहीं, स्व स्वरूप है। पर पदार्थ से ज्ञान की उत्पत्ति मानना अनुभव एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध है। यदि ज्ञान पर पदार्थ से ही पैदा होता है, तो फिर पर पदार्थ के हट जाने पर या सामने न होने पर उक्त पदार्थ का ज्ञान नहीं होना चाहिए। परतु, ऐसा होता तो है। घट के हटा लेने पर भी

ये सामान्य और विशेष दो प्रकार के होते है। परतु सामान्य मति श्रुत से, मैं पूर्व भव में कौन था, इत्यादि बातो का बोध नही होता। इसलिए सामान्य मति-श्रुत ज्ञान को 'सन्मति' नहीं कहते, प्रत्युत जाति स्मरण, (पूर्व जन्मो को देखने वाला ज्ञान, मति श्रुत ज्ञान का विशिष्ट प्रकार), अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान और केवलज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञानों का संग्राहक है और यह विशिष्ट ज्ञान सभी जीवों को नहीं होते हैं।

'सन्मति' ज्ञान प्राप्ति का अतरग कारण है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम या क्षय से आत्मा को विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है या यों कहिए कि ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण जितना हटता जाता है, उतना ही आत्मा मे अस्तित्व रूप मे स्थित ज्ञान का प्रकाश होता रहता है। जब पूर्णत आवरण हट जाता है, तो आत्मा में स्थित अनन्त ज्ञान प्रकट हो जाता है। इन विशिष्ट ज्ञानों के द्वारा आत्मा अपने स्वरूप को एव पूर्व भव मे वह किस योनि या गति मे था? जान लेता है। उक्त ज्ञान के द्वारा वह यह भलीभाति जान लेता है कि मै किस दिशा- विदिशा से आया हूँ और मेरा यह आत्मा औपपातिक (उत्पत्तिशील) है तथा जो दिशा - विदिशाओं मे परिभ्रमण करता रहा है, वह मैं ही हूँ।

'संमइयाए' पद के संस्कृत मे दो रूप बनते हैं — १ सन्मत्या और २ स्वमत्या 'सन्मति' के विषय मे ऊपर विचार कर चुके है। अब जरा 'स्वमति' के अर्थ पर सोच-विचार ले।

'स्वमति' शब्द भी स्व+मति के संयोग से बना है। स्व का अर्थ आत्मा होता है और मति शब्द ज्ञान का परिचायक है। अत 'स्वमति' का अर्थ हुआ आत्मज्ञान। साधारणतया सम्यग् ज्ञान को आत्मज्ञान कहते है। जो ज्ञान आत्मा के ऊपर लगे कर्म रज को दूर करने मे सहायक है या यों कहिए कि जो ज्ञान मोक्ष मार्ग का पथ प्रदर्शक है, तत्त्व का सही निर्णय करने में सहायक है वह आत्मज्ञान है। इस तरह मतिज्ञान से लेकर केवलज्ञान तक के सभी ज्ञान आत्मज्ञान मे समाविष्ट हो जाते हैं। परन्तु सूत्रकार को यह सामान्य अर्थ इष्ट नहीं है। वह यहा आत्म ज्ञान से सामान्य मति एवं श्रुत ज्ञान को आत्म ज्ञान के रूप मे नही स्वीकार करते। क्योंकि साधारणत ये दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रखते हैं। इसी कारण इन्हें परोक्ष ज्ञानमाना है। परतु विशिष्ट ज्ञान इन्द्रिय और मन के सहयोग की अपेक्षा नहीं रखते। जहा इन्द्रिय की पहुच नहीं है या उनमे जहा कि रूप आदि को देखने-सुनने की शक्ति नहीं है, जाति स्मरण, अवधिज्ञान, मन-पर्यवज्ञान और केवलज्ञान से उन पदार्थों को भी आत्मा जान-देख लेता है। जातिस्मरण ज्ञान से आत्मा आख आदि इन्द्रियों की सहायता के बिना केवल आत्मा के शुद्ध अध्यवसायो से अपने सन्नी पञ्चेन्द्रिय के किए गए पूर्व भवों को बिना किसी बाधा के अवलोकन कर लेता है। इसलिए 'स्वमति'

घट का बोध होता है । घट के साथ-साथ घट ज्ञान आत्मा मे से नष्ट नहीं होता, उस की अनुभूति होती है। कई बार घट सामने नहीं रहता, फिर भी घट का ज्ञान तो होता ही है। यदि वह पर पदार्थ से ही उत्पन्न होता है, तो फिर घट के अभाव मे घट का ज्ञान नहीं होना चाहिए । और विशिष्ट साधकों को विशिष्ट ज्ञान से अप्रत्यक्ष मे स्थित पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह भी नहीं होना चाहिए। विशिष्ट ऋषि-महर्षियों को योगि-प्रत्यक्ष ज्ञान वैशेषिक दर्शन के विचारकों ने भी माना है, जो उनके विचारानुसार गलत ठहरेगा। परंतु ऐसा होता है और वैशेषिक स्वयं मानते भी है, अत. आत्मा से ज्ञान को सर्वथा पृथक एवं उसमें समवाय संबंध से मानना युक्ति संगत नहीं है। ज्ञान आत्मा में तादात्म्य सबंध मे सदा विद्यमान रहता है, इसी बात को 'सह' शब्द से अभिव्यक्त किया है ।

२—पर-व्याकरण

ज्ञान प्राप्ति का दूसरा कारण पर-व्याकरण है । प्रस्तुत मे 'पर' शब्द तीर्थंकर भगवान का बोधक है तथा 'व्याकरण' शब्द का अर्थ उपदेश है । अत तीर्थंकर भगवान के उपदेश से भी किन्हीं जीवों को ज्ञान की प्राप्ति मे तीर्थंकर भगवान का उपदेश निमित्त कारण बनता है, इसलिए ऐसे ज्ञान की प्राप्ति मे 'पर-व्याकरण' यह कारण माना गया है। वस्तुत ज्ञान की प्राप्ति का मूल कारण ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम भाव ही है। फिर भी उस क्षयोपशम भाव की प्राप्ति मे जो सहायक सामग्री अपेक्षित होती है या जिस साधन के सहयोग से जीव ज्ञानवरणीय कर्म का क्षयोपशम करता है, उस साधन को भी ज्ञान प्राप्ति का कारण मान लिया जाता है । 'पर-व्याकरण' ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम मे सहायक होता है, तीर्थंकरों का उपदेश सुनकर अपने स्वरूप को समझने की भावना उद्बुद्ध होती है, चिंतन में गहराई आती है, इससे अज्ञान का आवरण हटता है, आत्मा मे ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित होती है और वह उसके उज्ज्वल प्रकाश मे अपने स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करती है, अत 'पर व्याकरण' को ज्ञान प्राप्ति का कारण स्वीकार किया गया है ।

'पर व्याकरण' ज्ञान प्राप्ति का बहिरंग साधन माना जाता है। तीर्थंकर भगवान के उपदेश के सहयोग से जीव अपनी पूर्व भव सम्बंधी बातों को जान लेता है और यह भी जान लेता है कि मैं पूर्व-पश्चिम आदि किस दिशा - विदिशा से आया हूँ, इत्यादि। पर व्याकरण — तीर्थंकर भगवान के उपदेश से ज्ञान प्राप्त करके साधना-पथ पर गतिशील हुए व्यक्तियों के सबंध मे आगमों मे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। ज्ञाता धर्मकथाग मे श्री मेघ कुमार मुनि का वर्णन आता है। मेघ कुमार मुनि दीक्षा की प्रथम रात्रि को ही मुनियों के बार- बार ठोकरें लगने से आकुल-व्याकुल हो उठे और उस रात्रि में प्राप्त वेदना से घबरा कर उन्होंने यह निर्णय

भी कर लिया कि मैं प्रातः संयम का परित्याग करके अपने राज भवन में पुनः लौट जाऊंगा। सूर्योदय होते ही मुनि मेघ कुमार संयम साधना में सहायक भण्डोपकरण वापस लौटाने के लिए भगवान महावीर के चरणों में पहुंचे। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु ने मेघ मुनि के हृदय में मच रही उथल-पुथल को जान रहे थे, अतः उन्होंने वह कुछ कहे उसके पूर्व ही उसके मन में चल रहे सारे विचारों को अनावृत करके उसके सामने रख दिया और उसे संयम पथ पर दृढ़ करने के लिए उसके पूर्वभव का वृत्तांत सुनाते हुए बताया कि हे मेघ! तुमने हाथी के भव में जंगल में प्रज्वलित दावानल के समय अपने द्वारा तैयार किए मैदान में अपने पैर के नीचे आए हुए खरगोश की रक्षा करने के लिए जब तक दावानल शांत नहीं हुआ, तब तक अपने पैर को उठाए रखा, तीन पैरों पर ही खड़ा रहा। जब दावानल बुझ गया, सब पशु-पक्षी जंगल में चले गए तब तुमने अपने पैर को नीचे रखा। पर वह पैर इतना अकड़ गया था कि तू धड़ाम से नीचे गिर पड़ा और थोड़ी देर में शुभ भावों के साथ जीवन को समाप्त करके श्रेणिक के घर जन्मा। हे मेघ! कहां खरगोश की रक्षा—दया के लिए घंटों पैर को ऊंचे रखने का कष्ट — जिसके कारण तुम्हें अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ा और कहां साधुओं के चरण स्पर्श से हुआ कष्ट, जरा सोच-समझ कि तू क्या करने जा रहा है? भगवान के द्वारा अपना पूर्व भव जानकर मेघ मुनि की भावना परिवर्तित हो गई। वह चिन्तन-मनन में गोते लगाने लगा और विचारों में जरा गहरा उतरने पर उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। भगवान द्वारा बताया गया वर्णन साफ-साफ दिखाई देने लगा। इसी तरह भगवान का उपदेश सुनकर सुदर्शन सेठ को भी जाति-स्मरण ज्ञान हो गया था। इस तरह 'पर व्याकरण' से होने वाले ज्ञान के अनेकों उदाहरण शास्त्रों में उल्लिखित हैं।

३—परेतर—उपदेश

ज्ञान प्राप्ति का तीसरा साधन 'परेतर उपदेश' है। वैसे 'पर' और 'इतर' समानार्थक शब्द समझे जाते हैं। परन्तु प्रस्तुत सूत्र में 'पर' शब्द तीर्थंकर भगवान का परिचायक है और 'इतर' अन्य का परिबोधक है। अतः इसका अर्थ हुआ- तीर्थंकर भगवान से अतिरिक्त अतिशय ज्ञान वाले निर्ग्रन्थ मुनि, यति, श्रमण आदि महापुरुष 'परेतर' हैं। तीर्थंकर पद से रहित केवल—ज्ञानी, मनः-पर्यव-ज्ञानी या अवधिज्ञानी आदि विशिष्ट ज्ञानी एवं पूज्य पुरुषों के उपदेश से भी अनेक संसारी जीवों को अपने पूर्वभव का भी परिबोध होता है। इस प्रकार के बोध में 'परेतर— उपदेश' कारण बनता है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में 'परेतर-उपदेश' को ज्ञान प्राप्ति के अन्य साधनों में समाविष्ट किया गया है।

'परेतर- उपदेश' भी ज्ञान प्राप्ति में बहिरंग कारण है। इस साधन से कई जीवों को अपने पूर्व भव का एवं आत्म-स्वरूप का भलीभांति बोध हो जाता है।

आगमों में इस तरह ज्ञान प्राप्त करने के कई उदाहरण आते हैं। ज्ञाता धर्मकथांग में लिखा है कि मल्लि राजकुमारी के साथ विवाह करने के लिए ६ राजकुमार एक साथ चढ़कर आ जाते हैं और शहर को चारों तरफ से घेर लेते हैं। अन्त में उन्हें प्रतिबोध देने के लिए मल्लि राजकुमारी ने अपने आकार की एक स्वर्णमयी पुतली बनवाई और छहों राजकुमारों को बुलाकर उन्हें ससार का स्वरूप समझा कर तथा अपनी पूर्व भव सम्बन्धी मित्रता का परिचय देकर प्रबोधित किया। राजकुमारी के उपदेश से छहों राजकुमार अपने स्वरूप का चिन्तन करने लगते हैं और फलस्वरूप उन्हें जाति-स्मरणज्ञान हो जाता है। इस तरह तीर्थंकर भगवान के अतिरिक्त अन्य अतिशय ज्ञानी के उपदेश से भी प्राप्त होनेवाले पूर्व भव के ज्ञान के अनेकों उदाहरण आगमों मे मिलते हैं। अस्तु, यह साधन भी ज्ञान प्राप्ति में कारण है।

'सोऽहम्' पद का अर्थ होता है — वह मैं हूँ। पहले बताया जा चुका है कि सन्मति या स्वमति, पर-व्याकरण और परेतर- उपदेश इन तीनों कारणों से कई जीवो को यह बोध प्राप्त होता है कि द्रव्य एव भाव दिशा - विदिशाओं मे परिभ्रमण करने वाला यह मेरा आत्मा ही है। 'स' से पूर्वादि दिशाओं मे भ्रमणशील इस अर्थ का बोध होता है और 'अहम्' पद मैं अर्थ का परिचायक है। 'स+अहम्' दोनों पदों का सयोग करने से 'सोऽहम्' बनता है और उसका अर्थ होता है — दिशा-विदिशाओं में भ्रमणशील वह मैं ही हूँ। इसी भाव को सूत्रकार ने 'सोऽहम्' शब्द से अभिव्यक्त किया है।

'सोऽहम्' मे पठित 'स और अहम्' दोनों पदों को आगे-पीछे करने से एक अभिनव अर्थ का भी बोध होता है। वह इस प्रकार है — "अह स." का अर्थ है मैं वह हूँ और 'सोऽहम्' शब्द का अर्थ है वह मैं हूँ। दोनों अर्थों को सकलित करने पर फलितार्थ यह निकलता है कि 'जो मैं हूँ वही वह है और जो वह है वही मै हूँ।' इस फलितार्थ से आत्मा और परमात्मा के अभेद का बोध होता है। प्रस्तुत प्रसग में 'स' शब्द से समस्त कर्म बन्धन से रहित, स्व स्वरूप मे प्रतिष्टित सिद्ध भगवान की आत्मा का ग्रहण किया गया है और 'अहम्' पद कर्मों से आबद्ध ससारी आत्मा का परिचायक है। शुद्ध आत्मस्वरूप की अपेक्षा दोनों एक समान गुण वाले हैं। अन्तर है तो केवल इतना ही कि एक तो (सिद्ध भगवान) सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की उत्कट साधना से समस्त कर्म बन्धनों को तोडकर जन्म-जरा और मृत्यु के चक्कर से मुक्त हो गए है, कर्म एव कर्म जन्य दु खों से छुटकारा पा चुके हैं और दूसरे (संसारी जीव) कर्म बन्धन से आबद्ध हैं, ऊर्ध्व एव अधो-गति मे परिभ्रमणशील हैं। एक शब्द मे यों कह सकते हैं कि सिद्ध कर्म मल से

कर्म बन्धन को तोड़ कर परमात्मा भी बन सकती है। इसलिए तू अपने को उस रूप में देख। यही 'अहम्' से 'स' बनने को या आत्मा से परमात्मा बनने की साधना का या 'सोऽहम्' का चिन्तन मनन एवं आराधना करने का एक मार्ग है।

जैन दर्शन का विश्वास है कि प्रत्येक भव्य आत्मा मे परमात्मा बनने की योग्यता है। यथोचित साधन-सामग्री के उपलब्ध होने पर आत्मा सम्यक् पुरुषार्थ करके परमात्म पद को पा सकता है। आगमों मे बड़े विस्तार के साथ साधनों का वर्णन किया गया है। साधना के लिए अनेक साधन बताए गए हैं। उन साधनों मे 'सोऽहं' का ध्यान, चिन्तन-मनन, अर्थ-विचारणा एवं मन्त्र जाप भी एक साधन है। साधना के पथ पर गतिशील साधक को आत्म विकास का प्रशस्त पथ दिखाने के लिए 'सोऽहं' का चिन्तन एवं ध्यान उज्ज्वल प्रकाश स्तम्भ है। जिसके ज्योतिर्मय आलोक मे साधक आत्म विकास के पथ मे साधक एवं बाधक तथा हेय एव उपादेय सभी पदार्थों को भली-भांति जान लेता है और हेय-उपादेय के परिज्ञान के अनुसार हेय पदार्थों से निवृत्त होकर साधना में, संयम में प्रवृत्त होता है, संयम मे सहायक पदार्थों एवं क्रियाओं को स्वीकार करके सदा आगे बढ़ता है। इस प्रकार यथायोग्य विधि से 'सोऽहं' की विशिष्ट भावना का चिन्तन करता हुआ साधक निरन्तर आगे बढ़ता है, ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम करता चलता है और एक दिन जाति-स्मरण ज्ञान, अवधि ज्ञान या मनः पर्यवज्ञान को प्राप्त कर लेता है तथा ज्ञानावरणीय कर्म का समूलतः क्षय करके अपनी आत्मा में स्थित अनन्त ज्ञान—केवल ज्ञान को प्रकट कर लेता है। जाति स्मरण ज्ञान से पूर्व भव मे निरन्तर किए गए सन्नी पञ्चेन्द्रिय के संख्यात भवों को अवधि एवं मन.पर्यव ज्ञान से संख्यात और असंख्यत भवों को तथा केवल ज्ञान से अनन्त-अनन्त भवों को देख-जान लेता है।

प्रस्तुत सूत्र मे ज्ञान प्राप्ति के तीन कारणों का निर्देश किया गया है — १-सन्मति या स्वमति, २-पर-व्याकरण और ३-परेतर-उपदेश। उक्त साधनों से मनुष्य अपने पूर्वभव की स्थिति को भली-भांति जान लेता है और उसे यह भी बोध हो जाता है कि इन योनियों मे एवं दिशा-विदिशाओं में भ्रमणशील मैं ही हूँ। इससे उसकी साधना मे दृढ़ता आती है, चिन्तन, मनन में विशुद्धता आती है।

उपर्युक्त त्रिविध साधनों से जो जीव- आत्मा अपने स्वरूप को समझ लेता है, वह आत्मवादी कहा गया है। जो आत्मवादी है, वही लोकवादी है और जो लोक-वादी होता है वही कर्म-वादी कहा जाता है। और जो कर्म-वादी है वही क्रिया-वादी कहलाता है। आगे के सूत्र में इन्हीं भावों का विवेचन करते हुए सूत्रकार ने कहा है—

के बन्धते हैं। कर्म और क्रिया का संवन्ध तो स्पष्ट ही है। इसलिए जो व्यक्ति आत्मा के स्वरूप को भलीभाति जान लेता है, तो फिर उससे लोक का स्परूप, कर्म का स्वरूप एवं क्रिया का स्वरूप अज्ञात नहीं रहता। इसी आचारांग सूत्र में आगे वताया है कि 'जो व्यक्ति एक को जानता है वह सब को जानता है और जो सव को जानता है वह एक को जानता है :—

"जे एग जाणइ से सव्व जाणइ, जे सव्व जाणइ से एग जाणइ"

वस्तु का विवेचन करने के लिए सव से पहले ज्ञान की आवश्यकता है। जव तक जिस वस्तु के स्वरूप का परिज्ञान नहीं है, तव तक उसके संवन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसी कारण सूत्रकार ने पहले ज्ञान प्राप्ति के साधन का विवेचन किया और उसके पश्चात् आत्मा, लोक, कर्म एवं क्रिया के स्वरूप को स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने वाली आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी आदि वक्ताओं का विवेचन किया। ज्ञान का जितना अधिक विकास होता है, व्यक्ति उतना ही अधिक आत्मा आदि द्रव्यों को स्पष्ट एवं असंदिग्ध रूप से जानता—समझता एवं परिज्ञान विषय का विवेचन एव प्रतिपादन कर सकता है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा शुभाशुभ कर्म का कर्ता एवं कर्म जन्य अच्छे-बुरे फलों का भोक्ता, असख्यात प्रदेशी, शरीरव्यापी, अखण्ड, चैतन्य रूप एक स्वतन्त्र द्रव्य है। उत्पाद्, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। वह पर्यायों की अपेक्षा प्रतिक्षण परिवर्तन शील है, तो द्रव्य की अपेक्षा से सदा अपने रूप में स्थित रहने से नित्य भी है। वास्तव में देखा जाए तो वह न सांख्य मत के अनुसार एकात-कूटस्थ नित्य है, और न बौद्धों द्वारा मान्य एकान्त अनित्य — क्षणिक ही है। जैन दर्शन के अनुसार दुनिया का कोई पदार्थ न एकान्त नित्य है और न एकान्त अनित्य है। प्रत्येक पदार्थ मे नित्यता और अनित्यता दोनों धर्म युगपत् स्थित हैं। किसी भी द्रव्य में एकान्तता को अवकाश ही नहीं है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अनेक गुण-युक्त है। अतः जैन दर्शन ने अनुभव सिद्ध परिणामी नित्यता को स्वीकार किया है। क्योंकि ज्ञान-दर्शन आत्मा का गुण है और उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, ज्ञान-दर्शन की पर्यायें वदलती रहती है तथा कर्म से बद्ध आत्मा के शरीर में, मानसिक चिन्तन में, विचारों की परिणति में, परिणामों तथा नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आदि गतियों की अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है, परन्तु इन सव पर्यायिक परिवर्तनों में आत्मा अपने स्वरूप में सदा स्थित रहता है, उसके असंख्यात प्रदेशों तथा शुद्ध स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आता, इस दृष्टि से आत्मा नित्य

भी और अनित्य भी अर्थात्—परिणामी नित्य— नित्यानित्य है।

यही सापेक्ष दृष्टि आत्मा को एक और अनेक मानने तथा उसके आकार परिणाम के संबन्ध में भी रही हुई है। जैन दर्शन वेदान्त सम्मत एक आत्मा तथा नैयायिकों द्वारा मान्य अनेक आत्मा के एकान्त पथ को न स्वीकार कर वह दोनों के आंशिक सत्य को स्वीकार करता है। आत्म द्रव्य की अपेक्षा से लोक में स्थित अनन्त-अनन्त आत्माएं समानगुण वाली हैं, सत्ता की दृष्टि से सब में समानता है, क्योंकि सभी आत्माएं असंख्यात प्रदेशी हैं, उपयोग गुण से युक्त हैं, परिणामी नित्य हैं। इसी अपेक्षा से स्थानांग सूत्र में कहा गया है— "एगे आया" अर्थात् आत्मा एक है। यह हुई समष्टि की अपेक्षा, परन्तु व्यष्टि की अपेक्षा सभी आत्माएं अलग-अलग हैं, सब का ज्ञान-दर्शन एवं उसकी अनुभूति अलग–अलग है सब का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। और संसार में परिभ्रमणशील अनन्त-अनन्त आत्माओं का सुख-दुःख का संवेदन अलग-अलग है, सबका उपयोग भी विभिन्न प्रकार का है–किसी मे ज्ञान का उत्कर्ष है, तो कसी में अपकर्ष है। इस अपेक्षा को सामने रख कर आगम मे कहा गया हैकि आत्माएं अनन्त हैं। और दोनों अपेक्षाएं सत्य हैं, अनुभव गम्य है। अस्तु, निष्कर्ष यह रहा कि आत्मा एक भी है और अनेक भी है। उसे एकान्ततः एक या अनेक न कह कर 'एकानेक' कहना मानना चाहिए।

आत्मा के परिमाण के सम्बन्ध में भी सभी दर्शनों में एकरूपता नहीं है। कुछ आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं, तो कुछ विचारक -अणुपरिमाण वाला मानते हैं। जैनों को दोनों मान्यताएं स्वीकार नहीं हैं, वे आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानते हैं। अर्थात् अनियत परिमाण वाला। क्योंकि शुद्ध आत्मा का कोई परिमाण है नहीं, परिमाण- आकार रूपी पदार्थों के होते है और आत्मा अरूपी है। फिर भी आत्म प्रदेशों को स्थित होने के लिए कुछ स्थान अवश्य चाहिए। इस अपेक्षा से आत्म प्रदेश जितने स्थान को घेरते हैं। वह आत्मा का परिमाण कहा जाता है। आत्माएं अनन्त हैं और प्रत्येक आत्मा के असख्यात प्रदेश हैं अर्थात् प्रदेशों को दृष्टि से सब आत्माएं तुल्य प्रदेश वाली हैं। और आत्मप्रदेश स्वभाव से संकोच विस्तार वाले हैं। जैसा छोटा या बड़ा साधन मिलता है, उसी के अनुरूप वे अपने आत्मप्रदेशों को संकोच भी कर लेती हैं। और फैला भी देती हैं। जैसे— विशाल कमरे को अपने प्रकाश से जगमगाने वाला दीपक, जब छोटे से कमरे में रख दिया जाता है तो वह उसे ही प्रकाशित कर पाता है अथवा उसका विराट

† अगताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गलजतवो।

—उत्तराध्ययन सूत्र, २८, ८।

के वन्धते हैं। कर्म और क्रिया का संवन्ध तो स्पष्ट ही है। इसलिए जो व्यक्ति आत्मा के स्वरूप को भलीभाति जान लेता है, तो फिर उससे लोक का स्परूप, कर्म का स्वरूप एवं क्रिया का स्वरूप अज्ञात नहीं रहता। इसी आचारांग सूत्र मे आगे वताया है कि 'जो व्यक्ति एक को जानता है वह सव को जानता है और जो सव को जानता है वह एक को जानता है —

"जे एगं जाणइ से सव्व जाणइ, जे सव्व जाणइ से एग जाणइ"

वस्तु का विवेचन करने के लिए सव से पहले ज्ञान की आवश्यकता है। जव तक जिस वस्तु के स्वरूप का परिज्ञान नहीं है, तव तक उसके संवन्ध मे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसी कारण सूत्रकार ने पहले ज्ञान प्राप्ति के साधन का विवेचन किया और उसके पश्चात् आत्मा, लोक, कर्म एवं क्रिया के स्वरूप को स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने वाली आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी आदि वक्ताओं का विवेचन किया। ज्ञान का जितना अधिक विकास होता है, व्यक्ति उतना ही अधिक आत्मा आदि द्रव्यों को स्पष्ट एवं असंदिग्ध रूप से जानता-समझता एवं परिज्ञान विषय का विवेचन एवं प्रतिपादन कर सकता है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा शुभाशुभ कर्म का कर्ता एवं कर्म जन्य अच्छे-बुरे फलों का भोक्ता, असख्यात प्रदेशी, शरीरव्यापी, अखण्ड, चैतन्य रूप एक स्वतन्त्र द्रव्य है। उत्पाद्, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। वह पर्यायों की अपेक्षा प्रतिक्षण परिवर्तन शील है, तो द्रव्य की अपेक्षा से सदा अपने रूप मे स्थित रहने से नित्य भी है। वास्तव में देखा जाए तो वह न सांख्य मत के अनुसार एकांत-कूटस्थ नित्य है, और न बौद्धों द्वारा मान्य एकान्त अनित्य — क्षणिक ही है। जैन दर्शन के अनुसार दुनिया का कोई पदार्थ न एकान्त नित्य है और न एकान्त अनित्य है। प्रत्येक पदार्थ में नित्यता और अनित्यता दोनों धर्म युगपत् स्थित हैं। किसी भी द्रव्य मे एकान्तता को अवकाश ही नहीं है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अनेक गुण-युक्त है। अतः जैन दर्शन ने अनुभव सिद्ध परिणामी नित्यता को स्वीकार किया है। क्योंकि ज्ञान-दर्शन आत्मा का गुण है और उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, ज्ञान-दर्शन की पर्यायें वदलती रहती है तथा कर्म से वद्ध आत्मा के शरीर में, मानसिक चिन्तन में, विचारों की परिणति में, परिणामों तथा नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आदि गतियों की अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है, परन्तु इन सव पर्यायिक परिवर्तनों में आत्मा अपने स्वरूप में सदा स्थित रहता है, उसके असंख्यात प्रदेशों तथा शुद्ध स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आता, इस दृष्टि से आत्मा नित्य

भी और अनित्य भी अर्थात्—परिणामी नित्य— नित्यानित्य है।

यही सापेक्ष दृष्टि आत्मा को एक और अनेक मानने तथा उसके आकार परिणाम के संबन्ध मे भी रही हुई है। जैन दर्शन वेदान्त सम्मत एक आत्मा तथा नैयायिकों द्वारा मान्य अनेक आत्मा के एकान्त पथ को न स्वीकार कर वह दोनों के आंशिक सत्य को स्वीकार करता है। आत्म द्रव्य की अपेक्षा से लोक मे स्थित अनन्त-अनन्त आत्माएं समानगुण वाली हैं, सत्ता की दृष्टि से सब मे समानता है, क्योंकि सभी आत्माएं असंख्यात प्रदेशी हैं, उपयोग गुण से युक्त हैं, परिणामी नित्य हैं। इसी अपेक्षा से स्थानाग सूत्र में कहा गया है— "एगे आया" अर्थात् आत्मा एक है। यह हुई समष्टि की अपेक्षा, परन्तु व्यष्टि की अपेक्षा सभी आत्माएं अलग-अलग हैं, सब का ज्ञान-दर्शन एवं उसकी अनुभूति अलग-अलग है सब का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। और संसार में परिभ्रमणशील अनन्त-अनन्त आत्माओं का सुख-दुःख का संवेदन अलग-अलग है, सबका उपयोग भी विभिन्न प्रकार का है-किसी मे ज्ञान का उत्कर्ष है, तो कसी में अपकर्ष है। इस अपेक्षा को सामने रख कर आगम में कहा गया हैकि आत्माएं अनन्त हैं†। और दोनों अपेक्षाएं सत्य हैं, अनुभव गम्य है। अस्तु, निष्कर्ष यह रहा कि आत्मा एक भी है और अनेक भी है। उसे एकान्ततः एक या अनेक न कह कर 'एकानेक' कहना मानना चाहिए।

आत्मा के परिमाण के सम्बन्ध में भी सभी दर्शनों में एकरूपता नहीं है। कुछ आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं, तो कुछ विचारक -अणुपरिमाण वाला मानते हैं। जैनों को दोनों मान्यताएं स्वीकार नहीं हैं, वे आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानते हैं। अर्थात् अनियत परिमाण वाला। क्योंकि शुद्ध आत्मा का कोई परिमाण है नहीं, परिमाण- आकार रूपी पदार्थों के होते हैं और आत्मा अरूपी है। फिर भी आत्म प्रदेशों को स्थित होने के लिए कुछ स्थान अवश्य चाहिए। इस अपेक्षा से आत्म प्रदेश जितने स्थान को घेरते हैं। वह आत्मा का परिमाण कहा जाता है। आत्माएं अनन्त हैं और प्रत्येक आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं अर्थात् प्रदेशों की दृष्टि से सब आत्माएं तुल्य प्रदेश वाली हैं। और आत्मप्रदेश स्वभाव से संकोच विस्तार वाले हैं। जैसा छोटा या वड़ा साधन मिलता है, उसी के अनुरूप वे अपने आत्मप्रदेशों को संकोच भी कर लेती हैं। और फैला भी देती हैं। जैसे— विशाल कमरे को अपने प्रकाश से जगमगाने वाला दीपक, जब छोटे से कमरे मे रख दिया जाता है तो वह उसे ही प्रकाशित कर पाता है अथवा उसका विराट

† अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गलजंतवो।
—उत्तराध्ययन सूत्र, २८, ८।

प्रकाश छोटे से कमरे में समा जाता है। यों कहना चाहिए कि दीपक को छोटे-से कमरे से उठाकर विशाल हाल में ले जाते हैं तो कमरे के थोड़े से आकाश प्रदेशों पर स्थित प्रकाश हाल के विस्तृत आकाश प्रदेशों पर फैल जाता है और हाल से कमरे में आते ही अपने प्रकाश को संकोच लेता है। यही स्थिति आत्म प्रदेशों की है। जैसा — छोटा या बड़ा शरीर मिलता है उसी में असंख्यात आत्म-प्रदेश स्थित हो जाते हैं। सिद्ध अवस्था में शरीर नहीं है, वहां आत्मा का परिमाण इस प्रकार समझना चाहिए— जिस शरीर में से आत्मा मुक्त अवस्था को प्राप्त होती है, उस शरीर के तीन भाग में से दो भाग जितने आकाश प्रदेशों को वह आत्मा घेरता है‡। और शरीर की दृष्टि से अनन्त आत्माओं के विभिन्न आकार वाले शरीर हैं तथा विभिन्न आकार युक्त शरीरों में से सिद्ध हुए हैं, अत· सभी आत्माओं का परिमाण- आकार एक एवं, नियत नहीं हो सकता। इसी अपेक्षा से जैन दर्शन ने आत्मा का मध्यम अर्थात् अनियत या शरीर प्रमाण आकार माना और यह अनुभवगम्य भी है।

आत्मा को शरीर परिमाण या मध्यम परिमाण वाला मानने से आत्मा में अनित्यता का दोष आ जाएगा। ठीक है, अनित्यता से बचने के लिए वास्तविकता को ठुकराना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। वास्तव में आत्मा एकांत नित्य भी तो नहीं है। यह हम पहले बता चुके हैं कि पर्याय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य भी है। अत· अनित्यता कोई दोष नहीं है। क्योंकि एक अपेक्षा से आत्मा का स्वरूप अनित्य भी है।। अस्तु, आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानना चाहिए। यदि आत्मा को अणु मानते हैं, तो शरीर में होने वाले सुख–दु.ख की अनुभूति नहीं हो सकेगी। क्योंक यदि आत्मा अणुरूप होगा, तो फिर वह शरीर के एक प्रदेश में रहेगा, सारे शरीर में नहीं रह सकता। अत: शरीर के जिस भाग में वह नहीं होगा उस भाग में सुख - दु.ख का संवेदन नहीं होगा। परन्तु, ऐसा होता नहीं, क्योंकि सभी व्यक्तियों को पूरे शरीर में सुख-दु:ख का सवेदन होता है। और यदि आत्मा को विभु अर्थात् सर्वव्यापक मानते हैं तो उसमे, क्रिया नहीं होगी, स्वर्ग-नरक एव बन्ध–मुक्ति नहीं घट सकेगी। इस लिए आत्मा को अणु एवं व्यापक मानना किसी भी तरह उपयुक्त नहीं है। अत· उसे मध्यम — शरीर परिमाण वाला मानना चाहिए।

‡दीह वा हस्स वा, ज चरिमभवे हवेज्ज सठाण। तत्तो तिभागहीण सिद्धाणोगाहणा भणिया।
— उववाई सूत्र।

विवेचन भी कर सकता है। इस दृष्टि से आत्मवादी के पश्चात् लोकवादी का उल्लेख किया गया।

आत्मा का लोक में परिभ्रमण कर्म सापेक्ष है। वही आत्मा संसार-लोक में यत्र-तत्र-सर्वत्र परिभ्रमण करती है, जो कर्म शृंखला से आवद्ध है। अस्तु, लोक के ज्ञान के साथ कर्म का भी परिज्ञान हो जाता है और कर्म को जानने वाला आत्मा उसके स्वरूप का सम्यक्तया प्रतिपादन भी कर सकता है। इसी कारण लोकवादी के पश्चात् कर्मवादी का उल्लेख किया गया।

कर्म क्रिया से निष्पन्न होता है। मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति विशेष को क्रिया कहते हैं। इस मानसिक, वाचिक एवं शारीरक प्रवृत्ति से आत्मा के साथ कर्म का सवन्ध होता है। इस तरह कर्म और क्रिया का विशिष्ट सम्बन्ध होने से, कर्म का ज्ञाता क्रिया को भली-भांति जान लेता है और उसका अच्छी तरह वर्णन भी कर सकता है। इस लिए कर्मवादी के पश्चात् क्रियावादी को वताया गया।

मुमुक्षु के लिए आत्मा, लोक, कर्म एव क्रिया का यथार्थ स्वरूप जानना आवश्यक है। इन सवका यथार्थ स्वरूप जाने विना साधक मुक्ति के पथ पर आगे नहीं वढ़ सकता और उसकी साधना मे भी तेजस्विता नहीं आ पाती। इन सवमें आत्मतत्त्व मुख्य है। उसका सम्यक्तया बोध हो जाने पर, अवशेष तीनों का ज्ञान होते देर नहीं लगती, उसमे फिर अधिक श्रम नहीं करना पड़ता। क्योंकि लोक, कर्म एवं क्रिया का आत्मा के साथ संबन्ध जुड़ा हुआ है। अतः शास्त्रकार का यह कथन पूर्णतया सत्य है कि जो एक को भली-भांति जान लेता है वह सबका ज्ञान कर लेता है। और यह लोक-कहावत भी सत्य है — 'एक साधे सव सधे।'

कर्म वन्धन से आवद्ध आत्मा ही संसार में परिभ्रमण करती है। और कर्म का कारण क्रिया है अर्थात् क्रिया से कर्म का प्रवाह प्रवहमान रहता है। अतः अब सूत्रकार क्रिया के सवन्ध मे कहते हैं —

मूलम्—अकरिस्सं चऽहं, कारवेसु, चऽहं, करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि ॥७॥

छाया—अकार्षं चाहं, कारयामि चाहं कुर्वतश्चापि समनुज्ञो भविष्यामि।

पदार्थ— अकरिस्स चऽह — मैं ने किया। कारवेसु चऽह — मैं कराता हूँ। करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि— करने वाले व्यक्तियो का मैं अनुमोदन— समर्थन करूँगा।

मूलार्थ—मैं ने किया था, मैं करता हू और करने वाले अन्य व्यक्तियो का मै अनुमोदन—समर्थन करूंगा।

हिन्दी विवेचन—

व्यक्ति के द्वारा निष्पन्न होने वाली क्रिया कार्य के करने, कराने और समर्थन — अनुमोदन करने की अपेक्षा से तीन प्रकार की है, और संसार का प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक प्राणी तीनो कालों मे क्रियाशील रहता है। इसलिए क्रिया के उक्त भेदों का तीनों कालों के साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ है और इस अपेक्षा से क्रिया के ६ भेद होते हैं। क्योंकि भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीन काल हैं और प्रत्येक काल के तीन भेद होने से कुल नव भेद वनते हैं। भूत काल के तीन भेद इस प्रकार वनते हैं —

१—मैने अमुक क्रिया का अनुष्ठान किया था।

२—मैंने अमुक कार्य दूसरे व्यक्ति से करवाया था।

३—मैंने अमुक कार्य करने वाले व्यक्ति का समर्थन--अनुमोदन किया था।

वर्तमान काल में की जाने वाली क्रिया के तीन रूप इस प्रकार वनते हैं—

१—मै अमुक क्रिया या कार्य कर रहा हूँ।

२—मै अमुक कार्य दूसरे व्यक्ति से करा रहा हूँ।

३—मै अमुक कार्य करने वाले व्यक्ति का समर्थन-अनुमोदन करता हूँ।

अनागत—भविष्य काल में की जाने वाली क्रिया के भी तीन रूप वनते हैं, वे इस प्रकार हैं—

१—मैं अमुक दिन अमुक कार्य करूंगा।

२—मैं दूसरे व्यक्ति से अमुक कार्य कराऊंगा।

३—मै अमुक कार्य करने वाले व्यक्ति का समर्थन–अनुमोदन करूंगा।

इस तरह क्रिया के ६ भेद वनते हैं और ये मन, वचन और शरीर से सम्वन्धित भी रहते हैं। अत तीनों योगो के साथ इनका सम्वन्ध होने से, क्रिया के ६×३=२७ भेद हो जाते हैं।

"अकरिस्सं चऽहं ...." आदि प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने सर्वप्रथम "मैंने किया" भूतकालीन कृत क्रिया का, तदनन्तर "मैं कराता हू" वर्तमान कालिक कारित क्रिया का और अन्त मे 'मै क्रिया करने वाले का अनुमोदन करूंगा' इस भविष्यत् कालीन अनुमोदित क्रिया का उल्लेख किया है। प्रस्तुत सूत्र मे क्रिया के नव भेदो मे से — मैने किया, मैं कराता हूॅ और मैं अनुमोदन करूंगा। इन तीन भेदों का ही प्रतिपादन किया है। प्रश्न हो सकता है कि जव सूत्रकार ने क्रिया के तीन भेदों की ओर हो इशारा किया है, तव फिर क्रिया के नव भेद मानने के पीछे क्या आधार है? यदि क्रिया के नव भेद होते हैं तो सूत्रकार ने उन नवं का उल्लेख न

साधना या क्रियाओं की‡। इसी दृष्टि से सूत्रकार ने कर्म-बन्ध की हेतुभूत क्रियाओं की जानकारी कराई है।

जब तक साधक को क्रिया संबन्धी जानकारी नहीं हो जाती, तब तक वह साधना के क्षेत्र मे विकास नहीं कर सकता, मुक्ति के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता। ससार सागर को पार करने के लिए क्रिया की हेयोपादेयता का परिज्ञान करना जरूरी है, क्योंकि क्रियाए भी सभी समान नहीं है। हिंसा करना, झूठ बोलना, छल-कपट करना आदि भी क्रिया है और दया करना, मरते हुए प्राणी को बचाना, सत्य बोलना आदि भी क्रिया है। किन्तु दोनों मे परिणामगत अन्तर है और उसी अन्तर के कारण एक हेय है, तो दूसरी उपादेय है और उसकी उपादेयता भी संसार सागर से पार होने तक है, उसके बाद वह भी उपादेय नहीं है। ऐसे कहना चाहिए कि शुभ परिणामों से की जाने वाली शुभ क्रिया साधक अवस्था तक उपादेय है और सिद्ध अवस्था को पहुचने पर वह भी हेय है। क्योंकि उसकी आवश्यकता साध्य की सिद्धि के लिए है, अत साध्य के सिद्ध हो जाने पर फिर उसकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। अत इस हेयोपादेयता को समझने के लिए क्रिया संबन्धी ज्ञान की आवश्यक्ता है। और इसी कारण ज्ञान का जीवन में विशेष महत्व माना गया है।

इससे तीन बाते स्पष्ट होती हैं — १- ज्ञान के द्वारा वस्तु-तत्त्व का यथार्थ बोध हो जाता है, आत्मा क्रिया के हेय-उपादेय के स्वरूप को भली-भाति समझ लेता है, २- साध्य सिद्धि मे सहायक क्रियाओं का अनुष्ठान करता है और ३- ज्ञान एवं क्रिया दोनों की सम्यक् साधना- आराधना करके आत्मा एक दिन सिद्धि को प्राप्त कर लेती है, अर्थात् समस्त क्रियाओं से मुक्त हो जाती है, जन्म, जरा और मृत्यु से सदा के लिए छुटकारा पा जाती है। अत. मुमुक्षु के लिए क्रियाओं का परिज्ञान करना आवश्यक है।

प्रस्तुत सूत्र में कर्म-बन्धन हेतुभूत क्रियाओं की इयत्ता-परिमितता का वर्णन किया गया है। और साथ में यह प्रेरणा भी दी गई कि साधक को क्रिया के स्वरूप का बोध करना चाहिए और उसे क्रियाओं से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि इनसे निवृत्त होकर ही साधक कर्म-बन्धन एव संसार-परिभ्रमण के दुःखों से छुटकारा पा सकता है। जो व्यक्ति कर्म-बन्धन की कारण भूत क्रियाओं से विरत नहीं होता है, उसे जिस फल की प्राप्ति होती उसका वर्णन सूत्रकार इस प्रकार करते हैं —

‡ पढमं नाणं तओ दया। — दशवैकालिक, ४,

है और न उपादेय को स्वीकार कर सकता है । क्योंकि हेय और उपादेय क्रिया का त्याग एवं स्वीकार वही व्यक्ति कर सकता है, जिसे उस वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान है। ज्ञान मे जानना और त्यागना दोनों का समावेश हो जाता है । इसी कारण ज्ञान को परिज्ञा कहा है और परिज्ञा के ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा, ये दो भेद करके इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञान का महत्त्व हेय वस्तु का या आत्मविकास में बाधक पदार्थों का त्याग करने में है।

जो व्यक्ति कर्म एवं क्रिया के यथार्थ ज्ञान से रहित है, अपरिचित है वह स्वकृत कर्म के अनुरूप द्रव्य और भाव दिशाओं मे परिभ्रमण करता है । जब तक आत्मा कर्मों से संबद्ध है, तब तक वह संसार के प्रवाह मे प्रवहमान रहेगा। एक गति से दूसरी गति में या एक योनि से दूसरी योनि में भटकता फिरेगा। इस भव-भ्रमण से छुटकारा पाने के लिए कर्म एवं क्रिया के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करना तथा उसके अनुरूप आचरण बनाना मुमुक्षु प्राणी के लिए आवश्यक है । इसलिए आगमों में सम्यग् ज्ञान पूर्वक सम्यग् क्रिया करने का आदेश दिया गया है ।

"अयं पुरिसे जे ... ." प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'पुरिसे' यह पद 'पुरुष' इस अर्थ का बोधक है। पुरुष शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य शीलांक ने लिखा है —

"पुरि शयनात्पूर्ण सुख-दुखानां व पुरुषो जन्तुर्मनुष्यो वा"

वृत्तिकार ने पुरुष शब्द के दो अर्थ किए हैं— १-सामान्य जीव और २-मनुष्य। इसकी निरुक्ति भी दो प्रकार की है । जब पुरुष शब्द की "पुरि शयनादिति पुरुष" यह निरुक्ति की जाती है तो इसका अर्थ होता है— शरीर में शयन करने से यह जीव पुरुष कहा जाता है। किन्तु जब इसकी यह निरुक्ति होती है कि "सुख-दुखानां पूर्ण इति पुरुष" तब इसका अर्थ होता है— "जो सुखों और दुखों से व्याप्त रहता है, वह पुरुष है"। इस तरह पुरुष शब्द से जीव एवं मनुष्य दोनों का बोध होता है।

प्रस्तुत सूत्र मे "इमाओ दिसाओ" ऐसा कह कर पुन जो "सव्वाओ दिसाओ" का उल्लेख किया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि प्रथम पाठ में पठित दिशा शब्द सामान्य रूप से पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं का परिबोधक है तथा दूसरे पाठ मे व्यवहृत दिशा शब्द, द्रव्य दिशा और भाव दिशा रूप इन सभी दिशाओं

हो और कुछ भाग अनावृत हो, उसे संवृत -विवृत योनि कहते हैं।

गर्भज मनुष्य, तिर्यञ्च और देवों की शीतोष्ण योनि होती है। तेजस्कायिक— अग्नि के जीवों की योनि ऊष्ण है, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों की तथा गर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च सम्मूर्च्छिम मनुष्य और नरक के जीवों की शीत, ऊष्ण और शीतोष्ण तीनों तरह की योनियां होती हैं।

देव और नारक जीवों की योनि अचित्त होती है। गर्भज तिर्यञ्च और मनुष्यों की योनि सचित्ताचित्त होती है। पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और सम्मूर्च्छिम मनुष्य, इन सव जीवों की सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त तीनों तरह की योनियां होती हैं।

नारक, देव और एकेन्द्रिय जीवों की योनि संवृत होती है। गर्भज तिर्यञ्च और मनुष्यों की योनि संवृत--विवृत होती है। तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और सम्मूर्च्छिम मनुष्य आदि जीवों की योनि विवृत्त होती है।

इस तरह योनियों के नव भेद होते हैं। इनका उल्लेख प्रज्ञापना सूत्र में मिलता है। इसके अतिरिक्त योनि के और भी अनेक भेद मिलते हैं। उनकी संख्या ८४ लाख बताई गई है। वह इस प्रकार है—

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय इन मे से प्रत्येक काय की सात–सात लाख योनिया होती हैं। प्रत्येक वनस्पति काय की १० लाख योनियां है, साधारण वनस्पति (अनन्त काय) की १४ लाख, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) में से प्रत्येक की दो-- दो लाख, नारक, देव और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च की चार-चार लाख और मनुष्य की १४ लाख योनियां होती हैं। इस प्रकार ससार के समस्त जीवों की ७+७+७+७+१०+१४+२+२+२+४+४+४+१४=८४ लाख योनियां वनती हैं†। इन सब योनियों मे ससारी जीव जन्म-मरण करते हैं और जन्म-मरण के प्रवाह मे प्रवहमान रहने के कारण ही जीवों को मानसिक, वाचिक और कायिक सक्लेश एवं दु.खों का संवेदन एवं सामना करना पड़ता है।

"विरूवरूवे फासे पडिसवेदेइ" प्रस्तुत वाक्य मे व्यवहृत 'विरूपरूप' 'स्पर्श'

---

† पुढवी-जल-जलण-मारुय--एक्केक्के सत्त-सत्त लक्खाओ।
वणपत्ते य अणते दस चोद्दस जोणि लक्खाओ ॥
विगलिन्दिएसु दो-दो चउरो-चउरो य णारयसुरेसु।
तिरिएसु हुति चउरो चोद्दस लक्खा य मणुएसु ॥

शब्द का विशेषण है। 'विरूपरूप' शब्द 'विरूप+रूप' इन दो शब्दों के संयोग से बना है। विरूप वीभत्स और अमनोज्ञ को कहते हैं और रूप शब्द से स्वरूप का बोध होता है। अतः 'विरूपरूप' शब्द का अर्थ हुआ— वीभत्स और अमनोज्ञ स्वरूप वाला। 'स्पर्श' शब्द स्पर्शनेन्द्रिय आश्रित दुःखों का परिबोधक है स्पर्श को उपलक्ष्य मान लेने पर वह शारीरिक एवं मानसिक दोनों दुःखों का परिचायक बन जाता है।

यहां यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि सूत्रकार ने "फासे" शब्द का उल्लेख करके केवल स्पर्शनेन्द्रिय आश्रित दुःखों की ओर संकेत किया है, किन्तु हम यह देखते है कि घ्राण, रसना आदि अन्य इन्द्रियों के आश्रित दुःख का संवेदन होता है, पर सूत्रकार ने उन का उल्लेख नहीं किया, इसका क्या कारण है ?

उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि स्पर्श इन्द्रिय आश्रित दुःख का उल्लेख करके सूत्रकार ने अन्य इन्द्रियों द्वारा संवेदित दुःखों को स्पर्श इन्द्रिय द्वारा संवेदित दुःखों मे ही समाविष्ट कर दिया है। अन्य इन्द्रियों के नाम का उल्लेख न करके स्पर्शनेन्द्रिय का उल्लेख करने का यह कारण रहा है कि स्पर्श इन्द्रिय संसार के सभी प्राणियों के होती है। अन्य इन्द्रिये कुछ ही प्राणिओं के होती हैं। जैसे—नारक तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय, मनुष्य और देवों के श्रोत्र इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय और स्पर्श इन्द्रिय होती है। परन्तु, चतुरिन्द्रिय जीवों के श्रोत्र इन्द्रिय नहीं होती, त्रीन्द्रिय जीवों के श्रोत्र और चक्षु इन्द्रिय नहीं होती, द्वीन्द्रिय जीवों के श्रोत्र, चक्षु और घ्राण इन्द्रिय नहीं होती, और एकेन्द्रिय जीवों के केवल स्पर्श इन्द्रिय ही होती है। अन्य इन्द्रियें नहीं होतीं। इससे स्पष्ट हो गया कि अन्य इन्द्रिये कई जीवों में होती है और कई जीवों में नहीं भी पाई जातीं, परन्तु स्पर्श इन्द्रिय संसार के सभी जीवों को प्राप्त है। और अन्य इन्द्रिएं स्पर्श के आश्रित हैं इसलिए स्पर्श इन्द्रिय के आश्रित दुःखों एवं संक्लेशों के संवेदन का उल्लेख किया गया और इससे सभी इन्द्रियों के द्वारा संवेदित दुःख को समझ लेना चाहिए।

'सधेइ' इस पाठ के स्थान पर कई प्रतियों में 'संधावइ' (संधावति) पाठ भी उपलब्ध होता है। 'संधेइ' का अर्थ है — प्राप्त करता है और 'संधावइ' का अर्थ होता है— वार-वार गमन करता है।

प्रस्तुत सूत्र में इस बात का उल्लेख किया गया है कि अपरिज्ञात कर्मा पुरुष (आत्मा) अनेक योनियों में परिभ्रमण करता है अनेक और विवध दुःखों का सवेदन करता है। योनि-भ्रमण और दुःखों से छुटकारा पाने के लिए जिस

विवेक एवं साधना की आवश्यकता होती है, उसी का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

मूलम्—तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेइया ॥१०॥

छाया—तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता।

पदार्थ — तत्थ — इन कर्म समारम्भो के विषय मे। खलु — निश्चय ही। भगवता — भगवान ने। परिण्णा — परिज्ञा, विवेक का। पवेइया—उपदेश दिया है।

मूलार्थ—कर्म-बन्धन की कारण भूत क्रियाओं के सवन्ध मे भगवान महावीर ने परिज्ञा—विवेक का उपदेश दिया है।

हिन्दी विवेचन—

यह हम पहले वता चुके हैं कि जीवन में ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि ज्ञान प्रकाश है, आलोक है। उसके उज्ज्वल, समुज्ज्ल एवं महोज्ज्वल प्रकाश में मनुष्य वस्तु की उपयोगिता और अनुपयोगिता को भली-भांति समझ सकता है। साधक को हेय और उपादेय वस्तुओं का तथा उन्हें त्यागने एवं स्वीकार करने का बोध भी सम्यग् ज्ञान से ही होता है। अत ज्ञान का उपयोग एवं महत्त्व ज्ञानी पुरुष ही जान सकता है, अन्य नहीं।

एक अबोध वालक ज्ञान के सही एवं वास्तविक मूल्य को नहीं समझता। उसे इस बात का पता ही नहीं है कि ज्ञान जीवन के कण-कण के प्रकाश से जगमगा देता है, उज्ज्वल आलोक से भर देता है। वह यह नही जानता कि ज्ञान मनुष्य का अन्तर्चक्षु है, जिसके अभाव मे वाह्य चक्षु होते हुए भी वह अंधा समझा जाता है। और विना शृंग-पूंछ का पशु माना जाता है। ज्ञान के इस महत्त्व से अनभिज्ञ होने के कारण ही वह दिन भर खेलता-कूदता एव आमोद-प्रमोद करता रहता है। परन्तु ज्ञान का महत्त्व समझने के वाद उसका जीवन बदल जाता है। खेल-कूद का स्थान शिक्षा ले लेती है। वह दिन-रात ज्ञान की साधना में संलग्न रहने लगता है। यही स्थिति अज्ञ एव ज्ञानी पुरुष की है। अज्ञ व्यक्ति जहां दिन-रात विषय-वासना मे निमज्जित रहता है, भौतिक सुखों के पीछे निरन्तर दौड़ता फिरता है, वहां ज्ञानी पुरुष दिन-रात, सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते ज्ञान की साधना मे संलग्न रहता है। प्रत्येक समय प्रत्येक क्रिया में विवेक एव ज्ञान के प्रकाश को सामने रखकर गति करता है। वह जीवन का एक भी अमूल्य क्षण व्यर्थ की बातों में नहीं खोता। क्योंकि

वह ज्ञान के, विवेक के मूल्य को जानता है और वह यह भी जानता है कि ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश में गति करके ही आत्मा अपने लक्ष्य पर पहुंच सकता है, अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है।

वस्तुत. ज्ञान से जीवन ज्योतिर्मय वनता है। आत्मा ज्ञान के प्रकाश में ही अपने संसार परिभ्रमण एवं उससे मुक्त होने के कारण को जान सकती है। संसार में परिभ्रमण करने का कारण कर्म है। कर्म से आवद्ध आत्मा ही विभिन्न क्रियाओं में प्रवृत्त होती है और क्रिया से फिर कर्म का संग्रह होता है। इस तरह जब तक कर्म का अस्तित्व रहता है, तव तक संसार का प्रवाह प्रवहमान रहता है। इसलिए सूत्रकार ने पिछले सूत्र में कर्म-वन्धन की कारणभूत क्रियाओं का परिज्ञान कराया है। क्योंकि इन क्रियाओं एवं उनके परिणामों का सम्यक्तया वोध होने पर साधक उनका परित्याग कर सकता है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि संसार परिभ्रमण के दु:खों से वचने के लिए साधक को कर्म वन्धन की कारणभूत क्रियाओं के संवन्ध में परिज्ञा- विवेक रखना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र में विवेक का तात्पर्य है— सर्व प्रथम कर्म वन्धन की हेतुभूतक्रियाओं के स्वरूप को समझना और तदनन्तर उनका परित्याग करना।

'तत्थ' इस पद की व्याख्या करते हुए आचार्य शीलांक कहते हैं—

"तत्र कर्मणि व्यापारे अकार्षमह, करोमि करिष्यामित्यात्मपरिणति-स्वभावतया मनोवाक्कायव्यापाररूपे।

अर्थात्— 'तत्र' शब्द— मैने किया, मै कर रहा हूँ और मैं करूंगा, इस प्रकार की आत्म परिणति के स्वभाव से होने वाला मन, वचन और काया के व्यापार का वोधक है। सामान्यतया यह व्यापार त्रिविध होता है, किन्तु यह कृत, कारित और अनुमोदित से संवद्ध होने के कारण नव प्रकार का वन जाता है और उक्त भेदों को भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों से संवन्धित कर लेने पर इनकी संख्या २७ हो जाती है। इन सव भेदों का वर्णन पिछले सूत्र में किया जा चुका है। अस्तु 'तत्र' शब्द को क्रिया के २७ भेदों का परिचायक समझना चाहिए। और मुमुक्षु को इन सभी व्यापारों में विवेक रखना चाहिए।

'भगवता परिण्णा पवेइया' प्रस्तुत वाक्य में प्रयुक्त "परिण्णा' शब्द परिज्ञा का परिवोधक, परिष्कृत और प्रशस्त ज्ञान का नाम परिज्ञा है। यह ज्ञ परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा के भेद से दो प्रकार की है। ज्ञ परिज्ञा से कर्मवन्ध की हेतुभूत क्रिया का वोध होता है और प्रत्याख्यान परिज्ञा से आत्मा क्रिया का परित्याग

करता है।

ज्ञ परिज्ञा ज्ञान प्रधान है और प्रत्याख्यान परिज्ञा त्याग प्रधान है। इस तरह परिज्ञा से कर्मबन्ध की हेतुभूत क्रिया के स्वरूप को जान समझ कर एव त्यागकर साधक संसार से मुक्त होने का प्रयत्न करता है। इस पर एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब व्यक्ति परिज्ञा द्वारा संसार परिभ्रमण के कारणभूत क्रियाओं के स्वरूप को जान लेता है तब फिर वह कर्मास्रव की कारण रूप क्रियाओं के व्यापार मे क्यों प्रवृत्त होता है? पाप एवं दुष्कृत्य करने को क्यों तत्पर होता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण माणरण पूय-णाए जाइमरण मोयणाए दुक्खपडिघायहेउं ॥११॥

छाया—अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनाय ,जातिमरण-मोचनाय दुःखप्रतिघातहेतुम्।

पदार्थ— इमस्स चेव जीवियस्स—इस जीवन के लिए। परिवदण–माणाण्ण–पूयणाए—परिवन्दन-प्रशसा, सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा के लिए। जाइ–मरण–मोयणाए — जन्म, मरण और मुक्ति लेने के लिए। दुक्ख–पडिघायहेउ — दु खो से छुटकारा पाने के लिए कुछ जीव पाप क्रियाओ में प्रवृत्त होते हैं।

मूलार्थ–अनेक ससारी प्राणी जीवन को चिरकाल तक बनाए रखने के लिए अर्थात् बहुत वर्षों तक जीवित रहने के लिए, यश-ख्याति पाने की इच्छा से, सत्कार और पूजा- प्रतिष्ठा पाने की अभिलाषा से, जन्म मरण और मुक्ति के हेतु, दु खो से छुटकारा पाने की आकांक्षा से हिंसा आदि दुष्कृत्यो में प्रवृत्त होते है।

हिन्दी विवेचन—

प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है, मरना कोई नहीं चाहता । सब प्राणीयों को जीवन प्रिय है। प्रत्येक प्राणी अपने जीवन को बना रखने का यथासंभव प्रयत्न करता है। अपने आपको लम्बे समय तक जीवित रखने के लिए वह उचित एवं अनुचित कार्य का तथा पाप–पुण्य का जरा भी ध्यान नहीं करता। इस तरह जीवन को स्थायी बनाए रखने की झूठी लालसा या मृगतृष्णा के पीछे वह अनेक पाप कार्यों मे प्रवृत्त होता है। और इसका मुख्य कारण है— नश्वर जीवन के प्रति

प्राणी की मोह जन्य आसक्ति, ममता एवं मूर्च्छा।

प्रस्तुत सूत्र में पाप-प्रवृत्ति में प्रवृत्त होने के आठ कारण बताए हैं— १-जीवन, २-परिवन्दन, प्रशंसा, ३-मान-सत्कार, ४-पूजा-प्रतिष्ठा, ५-जन्म, ६- मरण, ७-मुक्ति और ८- दुःखों का प्रतिकार।

१–जीवन

ससार में प्रत्येक प्राणी को एक-दूसरे का सहारा-सहयोग अपेक्षित है। विना सहयोग के अकेला प्राणी निर्बाध गति से जीवन यात्रा नहीं कर सकता है। इसलिए जीव का कार्य रूप से लक्षण वताते हुए आचार्य उमास्वाति ने कहा— "एक-दूसरे का उपकारी होना यह जीव का लक्षण है†।" इस दृष्टि से जीवन यात्रा को चलाने के लिए यदि एक-दूसरे का सहयोग लिया जाता है, तो वह व्यवहार दृष्टि से बुरा नहीं है। यह सत्य है कि इस क्रिया मे भी हिसा होती है, परन्तु क्रिया के कर्त्ता की भावना शुद्ध एवं सात्विक होने के कारण तथा इस से सर्वथा निवृत्त होने की असमर्थता के कारण उसे विवश होकर करना पड़ता है, इस अपेक्षा से वह अशुभ कर्म वन्ध से वच जाता है या स्वल्प मात्रा मे ही वन्ध हो पाता है।

परन्तु, कुछ व्यक्ति यह मानकर चलते हैं कि "जीव ही जीव का भोजन है‡।" जीव को मारे विना जीवन चल ही नहीं सकता। अत. जीवन निर्वाह के लिए दूसरे प्राणियों को त्रास देते हुए वे जरा भी नहीं हिचकिचाते। अपने शरीर को परिपुष्ट वनाने एवं स्वास्थ्य वनाने के लिए अनेक पशु एव पक्षियो के मासका, खून का, चर्बी का तथा मद्य एव आसवों (द्राक्षासवादि) का सेवन करते हैं। इस तरह वे विषय-भोगो को भोगने के लिए अनेक प्रकार के पाप कार्यों को करते हुए शर्म एवं लज्जा का अनुभव नहीं करते और यह भी नहीं सोचते विचारते कि जिस जीवन के लिए, शरीर को स्वस्थ रखने एव वलिष्ठ और शक्तिशाली बनाने के लिए हम दुष्कर्म कर रहे है, वह जीवन या शरीर एक दिन नष्ट होने वाला है, यह जीवन सदा रहने वाला नहीं है। इस तरह क्षणिक आनन्द के लिए वे ससारी प्राणी विविध पाप कार्यों मे सलग्न होकर अशुभ कर्मों के बोझ से भारी बनते हैं, पाप कर्मों का संग्रह करके ससार में परिभ्रमण करते हैं।

†परस्परोपग्रहो जीवानाम्। —तत्त्वार्थ सूत्र

‡जीवोजीवस्य भोजनम्। मनुस्मृति।

२- परिवन्दन

परिवन्दन प्रशंसा का नाम है। दुनिया मे प्रशंसा पाने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के दुष्कर्म का आसेवन करता है। हम देखते है कि कई पहलवान दुनिया मे प्रशसा पाने के हेतु मास-मछली एव अडे आदि अभक्ष्य पदार्थ खाकर अपनी शारीरिक शक्ति बढ़ाते है और फिर उसका प्रदर्शन करके लोगों से प्रशसा पाते है। आज भी कुछ लोग प्रतिवर्ष योरुप मे इगलिश चैनल नदी को पार करते है। वह एक भयकर नदी है, नदी क्या छोटा-सा समुद्र ही है। उसे पार करने के पीछे एक ही कामना रही हुई है और वह यह कि ससार मे प्रशंसा पाना समाचार पत्रों के मुख पृष्ठ पर तथा लोगों की जबान पर अपना नाम देखना या सुनना। कुछ लोग प्रशसा पाने के लिए गर्मी की ऋतु मे भी अग्नि या पचाग्नि तापते हैं। इस तरह प्रशसा पाने के लिए मनुष्य पृथ्वी, पानी, वनस्पति, अग्नि पशु-पक्षी आदि अनेक जीवों की हिसा करता है और उससे पाप कर्म का संग्रह करता है।

३-मान

मान का अर्थ है — आदर-सत्कार। मनुष्य मान —सम्मान या आदर-सत्कार पाने के लिए अनेक तरह के दुष्कृत्य करता है। अपना सम्मान बनाए रखने के लिए मनुष्य छल-कपट करता है, अपने से कमजोर व्यक्तियों को आतंकित करता है, डराता है धमकाता है। इस तरह मान-सम्मान की चाह के वशीभूत हुआ मनुष्य मनुष्यों का शोषण करता, निरपराध प्राणियो पर प्रहार करता है और यदि शक्तिशालि हुआ तो युद्ध का दावानल सुलगा देता है। किसी ने जरा सा अपमान किया वा आदेश नही माना कि उसका दिमाग गर्म हो जाता है और वह उसका बदला खून की नदी बहाकर ही लेता है। चक्रवर्ती सम्राट भरत ने केवल अपना आदेश न मानने के कारण अपने छोटे भाई बाहुबली पर आक्रमण किया था। आज भी मनुष्य अपना मान - सम्मान बढ़ाने के लिए दूसरों को कुचलते हुए जरा भी नहीं हिचकिचाता। इसके अतिरिक्त वह और भी दुष्कर्म करता है — अधिकारियों को रिश्वत देता है, उन्हे सामिष भोजन खिलाता है, मदिरा पिलाता है, वेश्यालय की सैर कराता है। इस प्रकार मान-सम्मान के लिए मनुष्य अनेक दुष्कृत्यों मे प्रवृत्त होकर पाप कर्म का उपार्जन करता है और परिणाम स्वरूप चारगति में परिभ्रमण करता है।

४- पूजन

अन्न, वस्त्र, जल, पुष्प–फल आदि से या पशु-पत्ती का बलिदान करके देवी,देवताओं को प्रसन्न करना पूजन कहलाता है। अज्ञानी लोक पूजा के नाम पर अनेक मूक प्राणियों की तथा पुष्प, फल, जल आदि एकेंद्रिय जीवों की व्यर्थ हिसा करके कर्मों का संग्रह करते हैं।

५– जाति- जन्म

जाति का अर्थ है —जन्म । पुत्र आदि के जन्म पर तथा जन्म दिन की याद में मनुष्य अनेक तरह आरंभ-समारंभ के कार्य करता है । इसके अतिरिक्त परलोक मे अच्छा जन्म मिलेगा । इस लोभ से कई अज्ञ व्यक्ति जल-प्रवाह में प्रवाहित होते है, गगा की तेज धारा में जल-समाधि लगाते हैं, स्त्री को मृतपति के साथ जला देते हैं। पति के साथ पत्नी के जलने की परम्परा को सतीप्रथा कहते हैं । कुछ लोगों का विश्वास है कि मृतपति के साथ जलने से अगले जन्म में उसे वही पति मिलेगा । इस तरह जन्म को सुखमय बनाने के लिए मनुष्य आत्म हत्या जैसा जघन्य कार्य एव अन्य हिंसक कार्य करके कर्मों का संग्रह करता है ।

६-मरण

मरण अर्थात् मृत्यु के लिए मनुष्य अनेक दुष्कर्म करता है । वर्तमान के दु:खमय जीवन से घबराकर कष्ट से बचने के लिए मनुष्य विप खाकर गले में रस्सी का फन्दा डालकर, मकान की छत आदि से गिरकर या अन्य किसी साधन से आत्म-हत्या करता है । इसके अतिरिक्त मृत्यु से बचने के लिए मास मदिरा युक्त औपधो का सेवन करता है, देवी-देवताओ के सामने पशुओं का बलिदान करता है । इस तरह मृत्यु के निमित भी मनुष्य अनेक पाप जन्य कार्य करता हैं ।

७-मोक्ष

मोक्ष-मुक्ति को कहा गया है। मुक्ति पाने के लिए भी बाल–अज्ञानी जीव हिंसा एवं पापों का आसेवन करते हैं। कई लोग मुक्ति पाने के लिए पञ्चाग्नि तापते हैं, वृक्ष से पैर बांध कर उल्टे लटक जाते है और नीचे आग जला देते है, सर्दी की ऋतु में घंटों पानी मे खड़े रहते है, केवल कन्द-मूल या शैवाल का भोजन करते हैं। इस तरह मुक्ति पाने के हेतु अनेक पाप कार्य करके अज्ञानी जीव कर्मों का संग्रह करके संसार मे ही परिभ्रमण करते हैं।

२- परिवन्दन

परिवन्दन प्रशंसा का नाम है। दुनिया मे प्रशंसा पाने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के दुष्कर्म का आसेवन करता है। हम देखते है कि कई पहलवान दुनिया मे प्रशसा पाने के हेतु मास-मछली एव अडे आदि अभक्ष्य पदार्थ खाकर अपनी शारीरिक शक्ति बढ़ाते है और फिर उसका प्रदर्शन करके लोगों से प्रशंसा पाते है। आज भी कुछ लोग प्रतिवर्ष योरुप मे इंगलिश चैनल नदी को पार करते हैं। वह एक भयंकर नदी है, नदी क्या छोटा-सा समुद्र ही है। उसे पार करने के पीछे एक ही कामना रही हुई है और वह यह कि संसार मे प्रशसा पाना समाचार पत्रों के मुख पृष्ठ पर तथा लोगों की जबान पर अपना नाम देखना या सुनना। कुछ लोग प्रशसा पाने के लिए गर्मी की ऋतु मे भी अग्नि या पचाग्नि तापते हैं। इस तरह प्रशंसा पाने के लिए मनुष्य पृथ्वी, पानी, वनस्पति, अग्नि पशु-पक्षी आदि अनेक जीवों की हिसा करता है और उससे पाप कर्म का संग्रह करता है।

३-मान

मान का अर्थ है — आदर-सत्कार। मनुष्य मान —सम्मान या आदर-सत्कार पाने के लिए अनेक तरह के दुष्कृत्य करता है। अपना सम्मान बनाए रखने के लिए मनुष्य छल-कपट करता है, अपने से कमजोर व्यक्तियों को आतंकित करता है, डराता है धमकाता है। इस तरह मान-सम्मान की चाह के वशीभूत हुआ मनुष्य मनुष्यों का शोषण करता, निरपराध प्राणियों पर प्रहार करता है और यदि शक्तिशालि हुआ तो युद्ध का दावानल सुलगा देता है। किसी ने जरा सा अपमान किया वा आदेश नही माना कि उसका दिमाग गर्म हो जाता है और वह उसका बदला खून की नदी बहाकर ही लेता है। चक्रवर्ती सम्राट भरत ने केवल अपना आदेश न मानने के कारण अपने छोटे भाई बाहुबली पर आक्रमण किया था। आज भी मनुष्य अपना मान - सम्मान बढ़ाने के लिए दूसरों को कुचलते हुए जरा भी नहीं हिचकिचाता। इसके अतिरिक्त वह और भी दुष्कर्म करता है — अधिकारियों को रिश्वत देता है, उन्हे सामिष भोजन खिलाता है, मदिरा पिलाता है, वेश्यालय की सैर कराता है। इस प्रकार मान-सम्मान के लिए मनुष्य अनेक दुष्कृत्यों मे प्रवृत्त होकर पाप कर्म का उपार्जन करता है और परिणाम स्वरूप चारगति में परिभ्रमण करता है।

४- पूजन

अन्न, वस्त्र, जल, पुष्प–फल आदि से या पशु-पक्षी का बलिदान करके देवी,देवताओं को प्रसन्न करना पूजन कहलाता है। अज्ञानी लोक पूजा के नाम पर अनेक मूक प्राणियो की तथा पुष्प, फल, जल आदि एकेंद्रिय जीवों की व्यर्थ हिसा करके कर्मों का संग्रह करते हैं।

५– जाति- जन्म

जाति का अर्थ है —जन्म । पुत्र आदि के जन्म पर तथा जन्म दिन की याद में मनुष्य अनेक तरह आरंभ-समारंभ के कार्य करता है । इसके अतिरिक्त परलोक में अच्छा जन्म मिलेगा । इस लोभ से कई अज्ञ व्यक्ति जल-प्रवाह में प्रवाहित होते हैं, गगा की तेज धारा में जल-समाधि लगाते हैं, स्त्री को मृतपति के साथ जला देते हैं। पति के साथ पत्नी के जलने की परम्परा को सतीप्रथा कहते हैं । कुछ लोगों का विश्वास है कि मृतपति के साथ जलने से अगले जन्म में उसे वही पति मिलेगा । इस तरह जन्म को सुखमय बनाने के लिए मनुष्य आत्म हत्या जैसा जघन्य कार्य एव अन्य हिंसक कार्य करके कर्मों का संग्रह करता है ।

६-मरण

मरण अर्थात् मृत्यु के लिए मनुष्य अनेक दुष्कर्म करता है । वर्तमान के दु:खमय जीवन से घबराकर कष्ट से वचने के लिए मनुष्य विष खाकर गले में रस्सी का फदा डालकर, मकान की छत आदि से गिरकर या अन्य किसी साधन से आत्म-हत्या करता है । इसके अतिरिक्त मृत्यु से वचने के लिए मांस मदिरा युक्त औषधों का सेवन करता है, देवी- देवताओं के सामने पशुओं का बलिदान करता है। इस तरह मृत्यु के निमित भी मनुष्य अनेक पाप जन्य कार्य करता है ।

७-मोक्ष

मोक्ष-मुक्ति को कहा गया है। मुक्ति पाने के लिए भी वाल–अज्ञानी जीव हिंसा एवं पापों का आसेवन करते हैं। कई लोग मुक्ति पाने के लिए पञ्चाग्नि तापते हैं, वृक्ष से पैर बांध कर उल्टे लटक जाते है और नीचे आग जला देते है, सर्दी की ऋतु में घंटों पानी मे खड़े रहते हैं, केवल कन्द-मूल या शैवाल का भोजन करते हैं। इस तरह मुक्ति पाने के हेतु अनेक पाप कार्य करके अज्ञानी जीव कर्मों का संग्रह करके संसार में ही परिभ्रमण करते हैं।

"जाइमरण-मोयणाए" का यदि "जातिश्च, मरण च, मोचन च,, जातिमरणमोचन" यह विग्रह न मानकर "जातिश्च मरण च जातिमरणे तयो मोचनाय" ऐसा विग्रह किया जाए तो उसका अर्थ होगा कि जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए, हम देखते है कि कई व्यक्ति जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए अनेक तरह की सावद्य क्रियाएं करते हैं, बाल तप करते है, पञ्चाग्नि तपते है। इस प्रकार मुक्ति के लिए सावद्य अनुष्ठान करके कई अज्ञ प्राणी कर्मो का सग्रह करते है।

८-दु ख प्रतिघात

दु ख-प्रतिघात का अर्थ है—दु खों से सर्वथा छुटकारा पाना। प्रत्येक व्यक्ति दु खों से मुक्त-उन्मुक्त होना चाहता है। पर उसे सन्मार्ग का ज्ञान नहीं होने से अनेक अज्ञप्राणी दुष्प्रवृत्तियो का सेवन करते है। ससार मे अमीर-गरीब, ऊंच-नीच, शोषक शोषित आदि वर्गो एव जातियों का चल रहा सघर्ष दु ख से छुटकारा पाने का ही प्रतीक है। दु खों से मुक्त होने के लिए मनुष्य उचित-अनुचित साधनों से दिन-रात धन बटोरने एव परिवार बढाने मे लगा रहता है। धन और जन की अभिवृद्धि के लोभ मे आकर वह अनेक दुष्कर्मो मे प्रवृत्त होकर पाप कर्मों का सग्रह करता है।

इस तरह मनुष्य का जीवन सासारिक कामनाओं से आवेष्टित है और वह उनकी पूर्ति के निमित्त रात-दिन विभिन्न कर्मो मे सलग्न रहता है। इस सबंध मे सस्कृत के एक विद्वान आचार्य ने बहुत ही सुंदर शब्दों मे कहा है—

"आदौ प्रतिष्ठाधिगमे प्रयासो, दारेषु पश्चाद् गृहिण सुतेषु।
कर्तुं पुनस्तेषु गुण प्रकर्ष, चेष्टा तदुच्चै पदलघनाय।"

अर्थात्— गृहस्थो का सर्वप्रथम प्रयास येन-केन प्रकारेण संसार मे मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने का रहता है। दूसरे स्त्री को पाने एव तीसरे मे पुण्य प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते है। तदनन्तर वे अपने पुत्रो को सुखी बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते है। इस तरह घड़ी को सुई की तरह उनका प्रयास प्रवाह निरन्तर प्रवहमान रहता है। उनकी अतृप्त कामनाओं का प्रवाह जीवन के अन्तिम क्षण तक चलता रहता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्राणी अपनी अन्तर कामनाओं या अभिलाषाओं के वशीभूत होकर पाप कार्यों में प्रवृत्त होता है। जब उसे क्रिया के हेय-

उपादेयता के स्वरूप का सम्यक्तया बोध हो जाता है और वह परिज्ञा—विवेक युक्त होकर साधना में प्रवृत्त होता है फिर वह संसार में अनन्त काल तक परिभ्रमण कराने वाले पाप कर्म से सहज ही बच जाता है। क्योंकि जब तक क्रिया में विवेक जागृत नहीं होता तभी तक पाप कर्म का बन्ध होता है। विवेक जागृत होने के बाद साधक द्वारा की जाने वाली क्रिया से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता[†]। और जब साधक ज्ञान के द्वारा क्रिया के वास्तविक स्वरूप को समझकर त्यागपथ पर गतिशील होता है, फिर शनैः-शनैः क्रियाओं का परित्याग करता हुआ एक दिन संसार में रोक रखने वाली क्रिया मात्र से मुक्त हो जाता है। साधना की चरम सीमा को लाघकर साध्य को सिद्ध कर लेता है। इस लक्ष्य तक पहुचने के लिए साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले क्रिया संबन्धी उचित जानकारी प्राप्त करे और फिर उनमे विवेक पूर्वक गति करे। इससे साधक ससार सागर को पार करके एक दिन कर्म बन्धन की कारण-भूत क्रियाओं से भली प्रकार छुटकारा पा लेगा।

इसी बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार क्रियाओं की इयत्ता--परिमितता बताते हुए कहते हैं—

मूलम्—एयावंती सव्वावंती लोगंसि कम्मसमारंभा परि-जाणियव्वा भवन्ति ॥१२॥

छाया—एतावन्तः सर्वेलोके कर्म समारम्भाः परिज्ञातव्या भवन्ति।

पदार्थ— लोगंसि—लोक मे। एयावती—इतने ही। सव्वावती—सर्व। कम्मसमारम्भा—कर्म सम्भारम्भ-क्रिया विशेष। परिजाणियव्वा—परिज्ञातव्य-जानने योग्य। भवति—होते हैं।

मूलार्थ—समस्त लोक मे कर्म वन्धन की हेतुभूत इतनी ही क्रियाए होती है--जितनी पूर्व सूत्र मे बताई गई है (२७ क्रियाए)। न इस मे अधिक होती है और न कम, ऐसा समझना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन—

क्रिया के स्वरूप एव भेदों का वर्णन पहले किया जा चुका है। प्रस्तुत सूत्र

---

† जय चरे, जय चिट्ठे, जयमासे, जयंसए,
जय भुञ्जन्तो-भासतो, पव्व कम्म न बन्धइ।" दशवैकालिक सूत्र, ४, ६

"जाइमरण-मोयणाए" का यदि "जातिश्च, मरण च, मोचन च,, जातिमरणमोचन" यह निग्रह न मानकर "जातिश्च मरण च जातिमरणे तयो मोचनाय" ऐसा निग्रह किया जाए तो उसका अर्थ होगा कि जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए, हम देखते है कि कई व्यक्ति जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए अनेक तरह की सावद्य क्रियाए करते हैं, बाल तप करते है, पञ्चाग्नि तपते है। इस प्रकार मुक्ति के लिए सावद्य अनुष्ठान करके कई अज्ञ प्राणी कर्मों का सग्रह करते है।

८-दुःख प्रतिघात

दुःख-प्रतिघात का अर्थ है—दुःखों से सर्वथा छुटकारा पाना। प्रत्येक व्यक्ति दुःखों से मुक्त-उन्मुक्त होना चाहता है। पर उसे सन्मार्ग का ज्ञान नहीं होने से अनेक अज्ञप्राणी दुष्प्रवृत्तियों का सेवन करते है। ससार मे अमीर-गरीब, ऊच-नीच, शोषक शोषित आदि वर्गों एवं जातियों का चल रहा सघर्ष दुःख से छुटकारा पाने का ही प्रतीक है। दुःखों से मुक्त होने के लिए मनुष्य उचित-अनुचित साधनों से दिन-रात धन बटोरने एव परिवार बढाने मे लगा रहता है। धन और जन की अभिवृद्धि के लोभ मे आकर वह अनेक दुष्कर्मो मे प्रवृत्त होकर पाप कर्मों का सग्रह करता है।

इस तरह मनुष्य का जीवन सासारिक कामनाओं से आवेष्टित है और वह उनकी पूर्ति के निमित्त रात-दिन विभिन्न कर्मो मे संलग्न रहता है। इस सबध मे सस्कृत के एक विद्वान आचार्य ने बहुत ही सुंदर शब्दों मे कहा है—

"आदौ प्रतिष्ठाधिगमे प्रयासो, दारेषु पश्चाद् गृहिण सुतेषु।
कर्तुं पुनस्तेषु गुण प्रकर्ष, चेष्टा तदुच्चै पदलघनाय ।"

अर्थात्— गृहस्थो का सर्वप्रथम प्रयास येन-केन प्रकारेण ससार में मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने का रहता है। दूसरे स्त्री को पाने एव तीसरे मे पुत्र प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते है। तदनन्तर वे अपने पुत्रो को सुखी बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इस तरह घडी की सुई की तरह उनका प्रयास प्रवाह निरन्तर प्रवहमान रहता है। उनकी अतृप्त कामनाओं का प्रवाह जीवन के अन्तिम क्षण तक चलता रहता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्राणी अपनी अन्तर कामनाओं या अभिलाषाओं के वशीभूत होकर पाप कार्यों में प्रवृत्त होता है। जब उसे क्रिया के हेय-

उपादेयता के स्वरूप का सम्यक्तया बोध हो जाता है और वह परिज्ञा—विवेक युक्त होकर साधना में प्रवृत्त होता है फिर वह ससार में अनन्त काल तक परिभ्रमण कराने वाले पाप कर्म से सहज ही बच जाता है। क्योंकि जब तक क्रिया में विवेक जागृत नही होता तभी तक पाप कर्म का बन्ध होता है। विवेक जागृत होने के बाद साधक द्वारा की जाने वाली क्रिया मे पाप कर्म का बन्ध नही होता†। और जब साधक ज्ञान के द्वारा क्रिया के वास्तविक स्वरूप को समझकर त्यागपथ पर गतिशील होता है, फिर शनैः-शनैः क्रियाओं का परित्याग करता हुआ एक दिन संसार मे रोक रखने वाली क्रिया मात्र से मुक्त हो जाता है। साधना की चरम सीमा को लाघकर साध्य को सिद्ध कर लेता है। इस लक्ष्य तक पहुचने के लिए साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले क्रिया संबन्धी उचित जानकारी प्राप्त करे और फिर उनमे विवेक पूर्वक गति करे। इससे साधक ससार सागर को पार करके एक दिन कर्म बन्धन की कारण-भूत क्रियाओं से भली प्रकार छुटकारा पा लेगा।

इसी बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार क्रियाओं की इयत्ता--परिमितता बताते हुए कहते हैं—

मूलम्—एयावंती सव्वावंती लोगंसि कम्मसमारंभा परि-जाणियव्वा भवन्ति ॥१२॥

छाया—एतावन्तः सर्वेलोके कर्म समारम्भाः परिज्ञातव्या भवन्ति।

पदार्थ— लोगसि—लोक मे। एयावती—इतने ही। सव्वावती—सर्व। कम्मसमारम्भा—कर्म सम्भारम्भ–क्रिया विशेष। परिजाणियव्वा—परिज्ञातव्य-जानने योग्य। भवति—होते है।

मूलार्थ—समस्त लोक मे कर्म बन्धन की हेतुभूत इतनी ही क्रियाएं होती है--जितनी पूर्व सूत्र मे बताई गई है (२७ क्रियाए)। न इस से अधिक होती है और न कम, ऐसा समझना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन—

क्रिया के स्वरूप एवं भेदों का वर्णन पहले किया जा चुका है। प्रस्तुत सूत्र

† जय चरे, जय चिट्ठे, जयमासे, जयँसए,
जय भुञ्जन्तो-भासतो, पव्व कम्म न बन्धइ।" दशवैकालिक सूत्र, ४, ६

"जाइमरण-मोयणाए" का यदि "जातिश्च, मरण च, मोचन च,, जातिमरणमोचन" यह विग्रह न मानकर "जातिश्च मरण च जातिमरणे तयो मोचनाय" ऐसा विग्रह किया जाए तो उसका अर्थ होगा कि जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए, हम देखते हैं कि कई व्यक्ति जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए अनेक तरह की सावद्य क्रियाएं करते हैं, बाल तप करते है, पञ्चाग्नि तपते है। इस प्रकार मुक्ति के लिए सावद्य अनुष्ठान करके कई अज्ञ प्राणी कर्मो का सग्रह करते है।

द-दु ख प्रतिघात

दु ख-प्रतिघात का अर्थ है—दु खों से सर्वथा छुटकारा पाना। प्रत्येक व्यक्ति दु खों से मुक्त-उन्मुक्त होना चाहता है। पर उसे सन्मार्ग का ज्ञान नहीं होने से अनेक अज्ञप्राणी दुष्प्रवृत्तियों का सेवन करते है। ससार मे अमीर-गरीब, ऊंच-नीच, शोषक शोषित आदि वर्गो एव जातियों का चल रहा सघर्ष दु ख से छुटकारा पाने का ही प्रतीक है। दु खों से मुक्त होने के लिए मनुष्य उचित-अनुचित साधनों से दिन-रात धन बटोरने एव परिवार बढाने मे लगा रहता है। धन और जन की अभिवृद्धि के लोभ में आकर वह अनेक दुष्कर्मों मे प्रवृत्त होकर पाप कर्मों का सग्रह करता है।

इस तरह मनुष्य का जीवन सांसारिक कामनाओं से आवेष्टित है और वह उनकी पूर्ति के निमित्त रात-दिन विभिन्न कर्मों मे सलग्न रहता है। इस सबंध मे सस्कृत के एक विद्वान आचार्य ने बहुत ही सुंदर शब्दों में कहा है—

"आदौ प्रतिष्ठाधिगमे प्रयासो, दारेषु पश्चाद् गृहिण सुतेषु।
कर्तुं पुनस्तेषु गुण प्रकर्षं, चेष्टा तदुच्चै पदलघनाय।"

अर्थात्— गृहस्थों का सर्वप्रथम प्रयास येन-केन प्रकारेण संसार में मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने का रहता है। दूसरे स्त्री को पाने एव तीसरे मे पुण्य प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते है। तदनन्तर वे अपने पुत्रो को सुखी बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते है। इस तरह घडी की सुई की तरह उनका प्रयास प्रवाह निरन्तर प्रवहमान रहता है। उनकी अतृप्त कामनाओं का प्रवाह जीवन के अन्तिम क्षण तक चलता रहता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्राणी अपनी अन्तर कामनाओं या अभि-लाषाओं के वशीभूत होकर पाप कार्यों में प्रवृत्त होता है। जब उसे क्रिया के हेय-

उपादेयता के स्वरूप का सम्यक्तया वोध हो जाता है और वह परिज्ञा—विवेक युक्त होकर साधना में प्रवृत्त होता है फिर वह ससार में अनन्त काल तक परिभ्रमण कराने वाले पाप कर्म से सहज ही वच जाता है। क्योंकि जब तक क्रिया मे विवेक जागृत नहीं होता तभी तक पाप कर्म का वन्ध होता है। विवेक जागृत होने के वाद साधक द्वारा की जाने वाली क्रिया से पाप कर्म का वन्ध नही होता† । और जब साधक ज्ञान के द्वारा क्रिया के वास्तविक स्वरूप को समझकर त्यागपथ पर गतिशील होता है, फिर शनैः-शनैः क्रियाओं का परित्याग करता हुआ एक दिन संसार मे रोक रखने वाली क्रिया मात्र से मुक्त हो जाता है। साधना की चरम सीमा को लाघकर साध्य को सिद्ध कर लेता है। इस लक्ष्य तक पहुचने के लिए साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले क्रिया संबन्धी उचित जानकारी प्राप्त करे और फिर उनमे विवेक पूर्वक गति करे। इससे साधक ससार सागर को पार करके एक दिन कर्म बन्धन की कारण-भूत क्रियाओं से भली प्रकार छुटकारा पा लेगा।

इसी वात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार क्रियाओं की इयत्ता—परिमितता बताते हुए कहते हैं—

मूलम्—एयावंती सव्वावंती लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवन्ति ॥१२॥

छाया—एतावन्तः सर्वेलोके कर्म समारम्भाः परिज्ञातव्या भवन्ति।

पदार्थ—लोगसि—लोक मे। एयावती—इतने ही। सव्वावती—सर्व। कम्मसमारम्भा—कर्म सम्भारम्भ-क्रिया विशेष। परिजाणियव्वा—परिज्ञातव्य-जानने योग्य। भवति—होते हैं।

मूलार्थ—समस्त लोक मे कर्म वन्धन की हेतुभूत इतनी ही क्रियाएं होती है-जितनी पूर्व सूत्र मे बताई गई है (२७ क्रियाए)। न इस से अधिक होती है और न कम, ऐसा समझना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन—

क्रिया के स्वरूप एवं भेदों का वर्णन पहले किया जा चुका है। प्रस्तुत सूत्र

† जय चरे, जय चिट्ठे, जयमासे, जयंमए,
जय भुञ्जन्तो-भासतो, पव्व कम्म न बन्धइ।" दशवैकालिक सूत्र, ४, ६

में यह बताया गया है कि कर्मबन्धन की हेतुभूत जितनी क्रियाएं बताई गई हैं, संसार में उससे न्यूनाधिक क्रियाएं नहीं हैं। प्रस्तुत सूत्र में दृढ़ता के साथ पूर्व सूत्रों में वर्णित विषय का समर्थन किया गया है और साधक को प्रेरित किया गया है कि वह क्रियाओं के वास्तविक स्वरूप को समझकर उसमे विवेक पूर्वक गति करे अर्थात् पहले हेय-उपादेय का भेद करके हेय को सर्वथा त्यागकर साधना मे तेजस्विता लाने वाली, साध्य के निकट पहुचाने वाली उपादेय क्रियाओं को स्वीकार करे और यथासमय उनका भी यथाशक्य त्याग करता हुआ एक दिन क्रिया मात्र का परित्याग करने, अशुभ का ही नहीं, सपूर्ण शुभ प्रवृत्तिओं से भी निवृत्त बने। इसी लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में बताया है कि कर्म-बन्ध की हेतुभूत इतनी ही क्रियाए है। साधक को इनका परिज्ञान होना चाहिए। क्योंकि ज्ञान होने पर ही साधक उनसे विरत हो सकेगा, अत' उनके स्वरूप आदि का वर्णन करके सूत्रकार उनसे (क्रियाओं से) विरत होने का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

मूलम्—जस्सेते लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया भवन्ति से हु मुणी परिण्णाय कम्मे ॥१३॥ त्तिबेमि ।

छाया—यस्य एते लोके कर्मसमारम्भाः परिज्ञाता भवंति सः खलु मुनिः परिज्ञात-कर्मा। इति ब्रवीमि ।

पदार्थ— जस्स—जिस मुमुक्षु के। एते—ये (पूर्वोक्त)। कम्मसमारम्भा—कर्म समारम्भ—क्रिया विशेष। परिण्णाया—परिज्ञात। भवति—होते है। से—वह। मुणी—मुनि। परिण्णाय कम्मे—परिज्ञात कर्मा होता है। त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जिस मुमुक्षु को पूर्वोक्त कर्म समारभ परिज्ञात है, वह मुनि परिज्ञातकर्मा—कर्म और क्रिया के स्वरूप को भली-भाति जानने और जान-समझ कर त्याग करने वाला तथा विवेक-युक्त सयम साधना मे प्रवृत्त होता है।

हिन्दी-विवेचन—

ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मों के बन्ध की कारण क्रिया विशेष है, उन्हीं को कर्म समारंभ कहते हैं। उनका भली-भाति ज्ञाता अर्थात् कर्मबन्ध के कारणभूत क्रियाओं के सम्यक्तया जानने तथा तदनुसार उनका परित्याग करने वाला, जो मुनि

है वह परिज्ञात कर्मा कहलाता है। परिज्ञात कर्मा का तात्पर्य है— वह मुनि जो ज्ञ परिज्ञा से उसक वास्तविक स्वरूप को जानता, समझता है और प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा उसका परित्याग करता है । इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि वह ज्ञान पूर्वक आचरण में प्रवृत्त होता है । उसका ज्ञान आचरण से समन्वित है और आचरण ज्ञान के प्रकाश से ज्योतिमय है । उसके जीवन में ज्ञान और क्रिया का या यों कहिए कि विचार और आचार का विरोध नहीं, समन्वय है । और इन दोनों का समन्वय ही मोक्ष मार्ग है, आत्मा को क्रिया से सर्वथा निवृत्त करने वाला है। किसी भी गन्तव्य स्थान पर पहुचने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों के समन्वित प्रयत्न की आवश्यकता होती है। जिस स्थान पर पहुचना है पहले उस स्थान का एवं उसके रास्ते का ज्ञान होना जरूरी है और फिर तदनुरूप क्रिया की आवश्यकता है । ज्ञान और क्रिया के सुमेल से ही प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्य पर पहुंच सकता है— चाहे वह गन्तव्य स्थान लौकिक हो या लोकोत्तर।

मुनि शब्द की व्याख्या करते हुए आगम में कहा गया है कि "वन में निवास करने मात्र से कोई मुनि नहीं होता, अपितु ज्ञान से मुनि होता है❋।' जिस साधु के जीवन में ज्ञान का प्रकाश है, आलोक है वह मुनि है, भले ही वह जंगल में रहे, पर्वतों की गुफाओं में रहे या गांव एवं शहर में रहे। स्थान से उसके जीवन में कोई अन्तर नहीं पड़ता यदि उसके जीवन में ज्ञान है। टीककार आचार्य शीलांक ने मुनि शब्द की यही परिभाषा की है। उन्होंने लिखा है कि 'जो मननशील है या लोक की, जगत की त्रिकालवर्ती अवस्था को जानने वाला है, वह मुनि है‡।" इससे यह स्पष्ट हो गया कि जिस साधक को क्रिया की हेय-उपादेयता का सम्यक्तया परिबोध है और जो परिज्ञा—विवेक के साथ संयमसाधना मे प्रवृत्त है, वह मुनि है और वही मुनि परिज्ञात-कर्मा है ।

क्रिया संबन्धी सम्पूर्ण प्रकरण का निष्कर्ष यह है कि साधक कर्म बन्धन की हेतु भूत क्रिया के स्वरूप का सम्यकतया बोध करके उससे निवृत्त होने का प्रयत्न करे । क्योंकि प्रत्येक साधक का मुख्य उद्देश्य क्रिया मात्र से सर्वथा निवृत्त होना है, आत्मा के शुद्ध स्वरूष को प्रकट करना है या सीधी-सी भाषा में कहें तो निर्वाण पद को प्राप्त करना है। इसलिए साधक की साधना मे तेजस्विता एवं गति पाने के लिए प्रस्तुत प्रकरण में

❋ उत्तराध्ययन, २५, ३१–३२ ।

‡ मनुते मन्यते वा जगतस्त्रिकालावस्थामिती मुनि."

आचारांग टीका १, १, १, १३

प्रथम अध्ययन-शस्त्रपरिज्ञा

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में सामान्य रूप से आत्मा के अस्तित्व का तथा आत्मा का लोक, कर्म और क्रिया के साथ किस तरह का संबन्ध है और यह आत्मा संसार मे क्यों परिभ्रमण करती है, इस वात को समझाया गया है। कर्मबन्धन की कारणभूत क्रिया एवं उससे प्राप्त होने वाले दु.खो का वर्णन करके सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जो साधक परिज्ञातकर्मा होता है अर्थात् ज्ञ परिज्ञा (ज्ञान) के द्वारा कर्म वन्ध एवं संसार परिभ्रमण के कारण को जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा (आचरण) के द्वारा उनका परित्याग करता है, वही मुनि है। क्योंकि मुनि पद को वही पा सकता है, जो ससार परिभ्रमण एवं कर्म वन्ध की कारणभूत क्रियाओं से विरक्त हो जाता है और इस विरक्ति के लिए पहले ज्ञान का होना जरूरी है। अत: ज्ञान और आचार से युक्त साधक ही मुनि होता है। जो व्यक्ति क्रियाओं, के स्वरूप का बोध भी नहीं करता है और न उन्हे त्यागने का प्रयत्न करता है वह मुनि नहीं वन सकता और न कर्म वन्ध से मुक्त ही हो सकता है। क्रिया में आसक्त व्यक्ति ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का वन्ध करता रहता है और परिणाम स्वरूप पृथ्व्यादि छ काय रूप योनियों में परिभ्रमण करता फिरता है। इस लिए यह आवश्यक है कि पृथ्व्यादि योनियों के स्वरूप को भी समझ लिया जाए, जिससे साधक उनकी हिंसा एवं पाप कर्म के वन्ध से सहज ही वच सके। इस उद्देश्य से कि जीव-अजीव एव आरंभ समारंभ के ज्ञान से शून्य अज्ञ जीव पृथ्व्यादि के जीवों को किस प्रकार सताते है, परिताप देते है, इस वात को वताते हुए सूत्रकार दूसरे उद्देशक को प्रारंभ करते हुए कहते है—

मूलम्—अट्टे लोए परिजुणणे दुस्संवोहे अविजाणए। अस्सिं लोए पव्वहिए तत्थ-तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेंति ॥१४॥

---

† 'आतुरा तथा परितावेन्ति' यह पद 'लोक' का विशेषण होने मे एक वचनान्त होना चाहिए, परन्तु सिद्धात शैली के कारण यहा एक वचन के स्थान पर बहुवचन दोपावह नही है।

छाया—आर्तः लोकः परिद्यूनः (परिजीर्णः) दुस्सवोधः अविज्ञायकः अस्मिन् लोके प्रव्यथिते तत्र-तत्र पृथक् पश्य आतुराः परितापयन्ति।

पदार्थ—अट्टे—आर्त—पीडित। परिजुण्णे—प्रशस्त ज्ञानादि से हीन। दुस्सवोहे—कठिनता से बोध प्राप्त करने वाले। अविजाणए—विशिष्ट बोध रहित। पव्वहिए—विशेष पीडित। अस्सि लोए—इस पृथ्वीकाय लोक में। तत्थ-तत्थ—खनन आदि उन-उन। पुढो—भिन्न २ कारणो के उत्पन्न होने पर। परितावेंति—पृथ्वीकाय के जीवो को परिताप देते हैं। पास—हे शिष्य! तू देख।

मूलार्थ— आर्य सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते है कि हे जम्बू! विषय-कषयादि क्लेशो से पीडित, ज्ञान-विवेक से रहित दुर्लभ वोधि प्राणी इन व्यथित, पीडित एव दुखित पृथ्वीकायिक जीवो को खान खोदने आदि अनेक तरह के कार्योके लिए परिताप देते है, उन्हे विशेप रूप से सतप्त करते है, दुख एव सक्लेश पहुचाते है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र का पिछले सूत्र के साथ क्या सवन्ध है, यह हम द्वितीय उद्देशक की भूमिका मे स्पष्ट कर चुके हैं। परन्तु इस सूत्र का पिछले उद्देशक के साथ परंपरागत सवन्ध भी है। वह इस प्रकार है—आचारांग सूत्र के आरभ में कहा गया है कि इस संसार मे किन्हीं जीवों को संज्ञा—ज्ञान या सम्यग् वोध नहीं होता। क्यों नहीं होता? इसका समाधान प्रस्तुत सूत्र मे दिया गया है। "अट्टे लोए . इत्यादि पदों का तात्पर्य यह है—

आर्त— आर्त शब्द का सामान्य अर्थ पीड़ित होता है या वाह्य दुखों एवं आपत्तियों से आवेष्टित व्यक्ति को भी आर्त कहते हैं। परन्तु यहा राग-द्वेष एवं कषायों से आवृत, विषय-वासना के दलदल में फंसे हुए व्यक्ति को, प्राणी को आर्त कहा है। क्योंकि विपय-कपाय एव राग-द्वेप के वशीभूत हुआ आत्मा अपने हिताहित को भूल जाता है और नानाविध पाप कार्यों मे प्रवृत्त होकर कर्मों का वन्ध करता है और परिणाम स्वरूप जन्म-जरा और मरण के प्रवाह मे प्रवहमान होता हुआ दुःख एव पीडा का सवेदन करता है। इस लिए क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, विपय-विकार तथा दर्शन और चारित्र मोहनीय कर्म से युक्त समस्त संसारी जीव आर्त कहे जाते हैं। क्योंकि वे इन दुष्कर्मों से युक्त होकर संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं, रात-दिन जन्म-मरण के जाल में उलझे रहते हैं।

लोक —

लोक क्या है? एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के समस्त गति एवं योनियों के जीवों के समूह को लोक कहते हैं।

परिद्यून—

जो जीव औपशमिक आदि प्रशस्त परिणामों से रहित हैं और मोक्ष मार्ग में सहायक साधनों से दूर हैं, उन अज्ञानी जीवों को "परिजुण्णे-परिद्यून" शब्द से अभिव्यक्त किया है। परिद्यून के भी द्रव्य और भाव दो भेद किए गए हैं। द्रव्य परिद्यून के सचित्त और अचित्त के भेद से दो प्रकार हैं। जीर्ण-शीर्ण शरीर या परिजीर्ण वृक्ष को सचित्त परिद्यून और पुराने वस्त्र आदि को अचित्त परिद्यून कहा है। और औदयिक भाव से युक्त प्राणी में जो प्रशस्त ज्ञान या सम्यग्ज्ञान के अभाव को भाव परिद्यून कहा है।

यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि आत्मा उपयोग लक्षण वाला है। उसमें ज्ञान का कभी भी सर्वथा लोप नहीं होता। अत प्रस्तुत प्रकरण में जो ज्ञान का अभाव कहा गया है, वह प्रशस्त सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से समझना चाहिए, न कि ज्ञान मात्र की अपेक्षा से। क्योंकि एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के सभी प्राणियों मे ज्ञान का अस्तित्व रहता ही है। यह बात अलग है कि कुछ जीवों मे उसका अपकर्ष दिखाई देता है, तो कुछ मे उत्कर्ष। क्योंकि ज्ञान का विकास क्षयो-पशम पर आधारित है। ज्ञानावरणीय कर्म का जितना अधिक क्षयोपशम होगा आत्मा में उतना ही ज्ञान का उत्कर्ष दिखाई देगा। और ज्ञानावरणीय कर्म जितना अधिक उदयभाव मे होगा उतना ही अधिक ज्ञान का अपकर्ष परिलक्षित होगा। इसलिए भाव परिद्यून शब्द के अर्थ मे जो प्रशस्त ज्ञान का अभाव बताया गया है, वह सापेक्ष दृष्टि से समझना चाहिए।

ज्ञान का सब से अधिक उत्कर्ष मनुष्य जीवन में परिलक्षित होता है और अधिक अपकर्ष एकेन्द्रिय जीवों में और उसमे भी सूक्ष्म निगोद के जीवों में दिखाई देता है। यों कहना चाहिए कि यहीं से ज्ञान का क्रमिक विकास होता है। जब आत्मा सूक्ष्म से बादर एकेन्द्रिय मे आता है, तो उसके ज्ञान में कुछ उत्कर्ष होने लगता है। इसी तरह द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में और पञ्चेन्द्रिय मे भी सन्नी असन्नी, पशु-पक्षी आदि की अनेक योनियों में परिभ्रमण करता हुआ आत्मा जब मनुष्य जीवन में पहुंचता है, तो उसके ज्ञान का अच्छा विकास हो जाता है। मनुष्य जीवन का केन्द्र बिन्दु है। और योनियों में विकास का क्रम रहा हुआ है, परन्तु पूर्ण विकास का

अवसर मनुष्य के अतिरिक्त किसी योनि मे भी नहीं है। यहा तक कि देव भी पूर्ण विकास करने में सर्वथा असमर्थ हैं। मनुष्य ज्ञान के चरम उत्कर्ष को भी छू सकता है और अपकर्ष की चरम सीमा पर भी जा पहुचता है। वह उत्कर्ष और अपकर्ष के मध्य मे खडा है। उसके एक ओर उदयाचल है, तो दूसरी ओर अस्ताचल। जब मानव उत्कर्ष की ओर गतिशील होता है तो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बनकर सिद्धत्व को पा लेता है और जब पतन की ओर लुढ़कने लगता है, तो ठेठ निगोद मे और उसमें भी सूक्ष्म निगोद मे जा पहुचता है और अनन्त काल तक अज्ञान अधकार में भटकता-फिरता है, विकास, उत्कर्ष के अमूल्य अवसर को हाथ से खो देता है। अस्तु प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त परिद्यून शब्द औदयिक भाव की अधिकता की अपेक्षा से व्यवहृत हुआ है।

"दुस्सबोध' पद विषय-कषाय एवं मोह से युक्त तथा प्रशस्त ज्ञान से शून्य व्यक्तियों की अवस्था का परिसूचक है।' 'दुस्संबोध' शब्द का सीधा सा अर्थ है— जिस व्यक्ति को धर्म मार्ग मे या सत्कार्य मे लगाना दुष्कर है अथवा जिसे प्रतिबोधित न किया जा सके। प्रश्न किया जा सकता है कि आर्त को दुस्संबोध कहने का क्या अभिप्राय है? वह सरलता से क्यों नही समझता? इसका समाधान करने के लिए प्रस्तुत सूत्र में "अवियाणए—अविज्ञातक." पद का प्रयोग किया है। "अवियाणए" का अर्थ है— विशिष्ट बोध या ज्ञान से रहित और यह हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि व्यावहारिक बोध से रहित मूर्ख किसी भी बात को जल्दी नहीं समझता। इसलिए विशिष्ट विचारकों ने ठीक ही कहा है कि मूर्खों को समझाने के लिए समय का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि जिसमें बोध नहीं है, विवेक नहीं है, वह अपने हठ को छोड़कर जल्दी से सन्मार्ग पर नहीं आ सकता। टेढे लोहे को आग मे तपाकर सीधा-सरल बनाया जा सकता है, क्योंकि उसमें लचक है, नम्रता है। परन्तु टेढे-मेढे ठूंठ-लकडी के खम्भे को सीधा बनाना दुष्कर ही नही, अति दुष्कर है। यही स्थिति विशिष्ट बोध-ज्ञान एवं विवेक विकल जीवों की है, इसलिए उन्हें दुर्बोधि जीव कहा है।

इस तरह संसार मे परिभ्रमणशील जीव आरभ-समारंभ का आश्रयीभूत होने से सत्रस्त है, व्यथित है, आर्त है। जिसमे मनुष्य विषय-कषाय एव स्वार्थ के वशीभूत होकर कृषि, कूप, गृहनिर्माण, एव खान आदि के लिए पृथ्वीकाय के जीवों को संताप एव पीड़ा पहुचाते हैं तथा उनकी हिंसा करते हैं। यों कहना चाहिए कि कर्मजन्य आवरण की विभिन्नता के कारण संसार में अनेक प्रकार के जीव होते हैं— कुछ विषय-कषाय से पीडित होते हैं, कुछ शरीर से जीर्ण होते हैं, कुछ प्रशस्त ज्ञान

करते से। पुढविसत्थ—पृथ्वी काय' के शस्त्र का। 'समारम्भेमाणा—प्रयोग करते हुए। अण्णे-अणेग रूवे— उस पृथ्वीकाय के आश्रित अन्य अनेक तरह के जीवो के। पाणे—प्राणो की। विहिंसइ— हिंसा करता है।

मूलार्थ—हे शिष्य! पृथ्वीकाय के जीव प्रत्येक शरीर वाले और एक दूसरे से सबन्धित हैं। इसलिए हिसा से निवृत्त होने वाला साधक प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान से इन जीवो के स्वरूप को जानकर तथा लोकोत्तर लज्जा से मुक्त हो कर पृथ्वीकायिक जीवो की रक्षा करता हुआ विचरण करता है। इसके विपरीत कुछ विचारक अपने आपको अनगार, त्यागी एव जीवो के सरक्षक होने का दावा करते हुए भी अनेक तरह के शस्त्रा-स्त्रो से पृथ्वीकाय का आरम्भ-समारम्भ करके जीवो की हिसा करते है आरम्भ-समारम्भ एव पृथ्वी के शस्त्र से वे पृथ्वीकाय के जीवो का ही नही, अपितु इसके आश्रय से रहे हुए पानी, वनस्पति, द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय आदि जीवो की भी घात करते है। इस बात को तू देख, समझ!

हिन्दी विवेचन—

प्रस्तुत सूत्र मे यह बताया गया है कि पृथ्वीकाय प्रत्येक शरीरी है*। असंख्यात हैं और उनका शरीर अगुल के असख्यातवें भाग जितना बड़ा है। वे सब जीव पृथ्वी-काय के आश्रित है। कुछ लोग पृथ्वी को एक देवता के रूप मे मानते है‡। परन्तु जैनदर्शन को यह बात मान्य नहीं है। क्योंकि समस्त पृथ्वी को एक नहीं, अनेक जीवों की प्रतीति स्पष्ट होती है। इस लिए उसे एक देवता के रूप मे मानना युक्ति-सगत नहीं है। वह एक जीव के आश्रित नहीं, अपितु असख्यात जीवों का पिण्ड है। इससे पृथ्वीकाय की चेतनता और असख्य जीव युक्त दोनों बातें सिद्ध हो जाती हैं।

---

* तिलो की पपडी मे जैसे अनेको तिल होते हैं, वैसे पृथ्वीकाय मे स्थित जीव भिन्न २ शरीर मे रहते हैं। साधारण वनस्पति की तरह इसके एक शरीर मे अनन्त जीव नहीं रहते। इसके एक शरीर मे एक जीव ही रहता है। इसलिए पृथ्वीकाय को प्रत्येक शरीरी कहते हैं।

‡ एक देवतावस्थिता पृथ्वी।

भी जीव को पीडा एवं कष्ट पहुंचाना नहीं चाहते। दूसरी बात यह है कि उनकी हार्दिक भावना समस्त क्रियाओं से निवृत्त होने की रहती है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं एव साध्य को सिद्ध करने के लिए उन्हें प्रवृत्ति करनी पड़ती है। इस लिए वे सदा-सर्वदा इस बात का ख्याल रखते है कि बिना आवश्यकता के कोई क्रिया या हरकत न की जाए। अत. उनका खाना-पीना, चलना-फिरना, बैठना-उठना, बोलना आदि सब कार्य विवेक, यतना एवं मर्यादा के साथ होते हैं। इस से यह स्पष्ट हो गया कि साधक के जीवन मे प्रवृत्ति होती है, परन्तु जीवन मे उसका गौण स्थान माना गया है, आवश्यक कार्य मे ही प्रवृत्ति करने का आदेश है और वह भी विवेक एव यतना के साथ करने की आज्ञा है और अन्तत. उसका सर्वथा त्याग करने की बात कही है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि निश्चय दृष्टि से प्रवृत्ति को त्याज्य माना है। इसलिए साधक अवस्था मे अनिवार्यता के कारण संयम मार्ग मे निर्दोष प्रवृत्ति को स्थान होते हुए भी उसके त्याग का लक्ष्य होने के कारण त्याग-प्रधान जीवन को निवृत्ति परक जीवन ही कहा जाता है। क्योंकि जैन दर्शन का मूल लक्ष्य समस्त कर्मों एवं क्रियाओं से निवृत्त होना है। अतः निवृत्ति के चरम लक्ष्य तक पहुचने के लिए सहायक भूत निर्दोष प्रवृत्ति करने वाला साधक ही वास्तव में अनगार है, मुनि है और पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा से पूरी तरह बचकर रहने का प्रयत्न करता है।

भोग प्रधान जीवन मे निवृत्ति को विशेष स्थान नहीं है। क्योंकि वहा जीवन का मूल्य भोग-विलास मान लिया गया है। और मूल्य निर्धारण के अनुरूप ही जीवन को ढाला गया है। या ढाला जा रहा है। यों कहना चाहिए कि जीवन मे भोग-विलास एवं ऐश्वर्य को प्रधानता देने वाले व्यक्ति रात-दिन विषय-वासना एवं ऐशोराम में निमग्न रहते हैं। उनका प्रत्येक क्षण भौतिक साधनों को संगृहीत करने तथा अपने स्वार्थों को साधने के लिए नई-नई स्कीमे-योजनाए बनाने में बीतता है। और येन-केन प्रकारेण वे भोग-सामग्री को, भौतिक-सुख-साधनों को बटोरने मे सलग्न रहते हैं। और उसके लिए छल-कपट, शोषण, हिंसा आदि सभी दुष्कर्म करने मे वे ज़रा भी संकोच नहीं करते। इस तरह रात-दिन सावद्य कार्यों मे प्रवृत्त रहते है। इस कारण पृथ्वीकाय ही क्या अन्य एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय नहीं, पञ्चेन्द्रिय तक के प्राणी उनके स्वार्थ की आग मे स्वाहा हो जाते है। इस तरह वे दुष्कर्मों मे प्रवृत्त हो कर स्वय तथा प्राणीजगत के लिए भयावह बन जाते हैं।

कुछ व्यक्ति ऐसे हैं, जो अपने आपको अनगार मुनि कहते है और सर्व प्राणी जगत की रक्षा करना अपना मुख्य कर्तव्य बताते हैं। परन्तु उनका जीवन उनके कथन की विपरीत दिशा में गतिमान होता है। वे भी गृहस्थों की तरह खनन आदि कार्यों में सक्रिय रूप से भाग ले कर पृथ्वीकाय तथा उसके आश्रित अन्य अनेक जीवों की हिंसा

नहीं है, उसे अनगार कहते हैं। या यों भी कह सकते है कि साधु का कोई नियत स्थान या घर नहीं होता, इसलिए वह अनगार कहलाता है— ,

इस प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वीकाय मे असंख्यात जीव हैं और पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा में प्रवृत्तमान अन्य धर्म के साधुओं में साधुत्व का अभाव है। फिर भी कुछ लोग भौतिक सुख की अभिलाषा से मन, वचन, काय से सावद्य प्रवृत्ति करते, कराते और करने वाले का समर्थन करते हैं। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं।

मूलम्—तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण, माणण, पूयणाए, जाइ-मरण-मोयणाए, दुक्खपड़िघाय हेउं से सयमेव पुढविसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा पुढविसत्थं समारंभते समणुजाणइ ॥१६॥

छाया—तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दन, मानन, पूजनाय, जाति-मरण-मोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतुं सः स्वयमेव पृथिवी-शस्त्र समारम्भते, अन्यैश्च पृथिवी शस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वा पृथिवी शस्त्रं समारम्भमाणान् समनुजानीते ।

पदार्थ— **खलु**—यह शब्द वाक्यालकारार्थ मे है । **तत्थ**—पृथ्वीकाय के समारम्भ मे। **भगवया**—भगवान ने। **परिण्णा**—परिज्ञा का । **पवेइया**—उपदेश दिया है। **चेव** निश्चय ही। **इमस्स**—इस। **जीवियस्स**—जीवन के लिए। **परिवदण**—प्रशसा के लिए। **माणण**—मान के लिए। **पूयणाए**—पूजन के लिए। **जाइ-मरण-मोयणाए**—जन्म-मरण के दुखो से छुटकारा पाने के लिए और। **दुक्खडघायहेउं**—दुखो के नाश के लिए। **से**—वह सुख की इच्छा करने वाला। **सयमेव**—स्वय ही। **पुढविसत्थ**—पृथ्वी काय की घात करने वाले शस्त्र का । **समारम्भई**—समारम्भ करता है । **वा**—अथवा। **अण्णेहि**—अन्य के द्वारा । **पुढविसत्थ**—पृथ्वी की हिंसा करने वाले शस्त्र से । **समार भेइ**— समारभ कराता है। **वा**—अथवा । **अण्णे**—अन्य । **पुढविसत्थ**—पृथ्वी का समारम्भ करने वाले शस्त्र से । **समार भते**—समारम्भ या प्रयोग करने वाले को । **समणजाणइ**—अच्छा जानता है, उसका समर्थन करता है ।

मूलार्थ—पृथ्वीकाय के समारभ में भगवान ने परिज्ञा करने का उपदेश दिया है। क्योंकि कुछ ोग इस जीवन के लिए, प्रशसा पाने के हेतु मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठ की अभिलाषा से, जन्म-मरण से छुटकारा पाने तथा दुःखो का उन्मूलन करने की अभिलाषा रखते हुए पृथ्वीकाय के जीवों की घात करने वाले शस्त्र का स्वय प्रयोग करते है, दूसरे व्यक्ति से कराते है और शस्त्र का प्रयोग करने वाले का अनुमोदन-समर्थन करते हैं।

हिन्दी विवेचन

मनुष्य भौतिक जीवन को सुखमय- आनन्दय वनाने के लिए कई प्रकार के अपकार्य करते हुए नही हिचकिचाता। वह अपने जीवन को सुखद एवं ऐश्वर्य-सम्पन्न बनाने के लिए पृथ्वीकाय आदि छः काय के जीवों की या यों कहिए सभी जाति के जीवों की हिसा करता है। अपने स्वार्थ के लिए वह दूसरे प्राणियों का शोपण करता है, उन्हें पीड़ित—उत्पीडित करता है, उनके जीवन के साथ खिलवाड़ करता है। स्वयं उनकी हिसा करता है, दूसरे व्यक्ति को आदेश देकर उक्त जीवों की हिसा कराता है और उक्त जीवों की हिसा करने वाले हिसक का अनुमोदन समर्थन करता है।†।

इसलिए भगवान महावीर ने पृथ्वीकाय के समारंभ में परिज्ञा या विवेक-यतना करने का उपदेश दिया है। साधक को यह वताया गया है कि वह ज्ञ परिज्ञा से पृथ्वीकाय के स्वरूप को भली-भाति समझे। उसमे भी मेरे जैसी असंख्यात प्रदेशो ज्ञानमय आत्मा है। उसे भी मेरी तरह सुख-दुःख का संवेदन होता है। आदि वातों का वोध करे और उसके चेतनामय स्वरूप को जानकर उसकी हिसा करने, कराने और अनुमोदन करने का त्याग करे। मन, वचन, काय के योगों से पृथ्वी-काय की हिसा न करे अर्थात् विवेक के साथ संयम साधना मे प्रवृत्ति करे। इस साधना से जो लब्धि-शक्ति प्राप्त हो उसका उपयोग भौतिक सुख-साधनों को प्राप्त करने मे न करे। यदि वह ऐहिक सुखो एव भोगों को प्राप्त करने में उस शक्ति

---

†प्रस्तुत सूत्र मे पृथ्वीकाय के जीवो की हिंसा करने के जो कारण वताए गए हैं, उनका विवेचन पीछे कर चुके है। देखे सूत्र ११ की व्याख्या, पृष्ठ...६४।

लब्धि का प्रयोग करता है, तो वह साधना मार्ग से च्युत होकर संसार मे परिभ्रमण करता है। अतः साधक को साधना से प्राप्त लब्धि का उपयोग भौतिक सुखों को प्राप्त करने में नहीं लगाना चाहिए।

पृथ्वीकाय के आरंभ-समारंभ में व्यस्त रहने वाले जीवों को किस फल की प्राप्ति होती है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तं से अहिआए, तं से अबोहिए, से तं संबुज्झमाणे आयाणियं समुट्ठाय सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं इहमेगेसिं णायं भवति, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढवि कम्म समारंभेणं, पुढविसत्थं समारंभमाणे अणणे अणेग रूवे पाणे विहिंसइ, सेबेमि, अप्पेगे अंधमब्भे. अप्पेगे अंधमच्छे, अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे, अप्पेगे गुप्फमब्भे, अप्पेगे गुप्फमच्छे. अप्पेगे जंघमब्भे, अप्पेगे जंघमच्छे, अप्पेगे जाणुमब्भे २, अप्पेगे उरुमब्भे २ अप्पेगे कडिमब्भे २, अप्पेगे णाभिमब्भे २, अप्पेगे उदरमब्भे २, अप्पेगे पासमब्भे २, अप्पेगे पिट्ठिमब्भे २, अप्पेगे उरुमब्भे २, अप्पेगे हियमब्भे २, अप्पेगे थणमब्भे २, अप्पेगे खंधमब्भे २, अप्पेगे बाहुमब्भे २, अप्पेगे हत्थमब्भे २. अप्पेगे अंगुलीमब्भे २, अप्पेगे णहमब्भे २, अप्पेगे गीवमब्भे २, अप्पेगे हणुमब्भे २, अप्पेगे होट्ठमब्भे २, अप्पेगे दंतमब्भे २, अप्पेगे गलमब्भे २, अप्पेगे गंडमब्भे २, अप्पेगे कण्णमब्भे २, अप्पेगे णासमब्भे २. अप्पेगे अच्छिमब्भे २, अप्पेगे सीसमब्भे २, अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए, इत्थं सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिणाता भवंति ॥१७॥

छाया— तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधये सः त संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा खलु भगवतोऽनगाराणं इह एकेषां ज्ञातं भवित—एष खलु ग्रन्थः, एषः खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः, इत्येवमर्थम् गृद्धः लोक यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैः पृथिवीकर्म समारंभेण, पृथिवीशस्त्रं समारंभमानः अन्यान् अनेक रूपान् प्राणान् विहिनस्ति' अथ ब्रवीमि—अप्येकः अन्धमाभिन्द्यात्, अप्येकः अन्धमाछिन्द्यात्, अप्येकः पादमाभिन्द्यात्, अप्येकः पादमाछिन्द्यात्, अप्येकः गुल्फमाभिन्द्यात् २, अप्येकः जंघामाभिन्द्यात् २, अप्येकः जानुमाभिन्द्यात् २, अप्येकः उरुमाभिन्द्यात् २। अप्येक कटिमाभिन्द्यात् २, अप्येकः नाभिमाभिन्द्यात् २, अप्येकः उदरमाभिन्द्यात् २, अप्येकः पार्श्वमाभिन्द्यात् २, अप्येकः पृष्ठमाभिन्द्यात् २, अप्येक उरआभिन्द्यात् २, अप्येकः हृदयमाभिन्द्यात् २, अप्येकः स्तनमाभिन्द्यात् २, अप्येक स्कन्धमाभिन्द्यात् २, अप्येकः बाहुमाभिन्द्यात् २, अप्येकः हस्तमाभिन्द्यात् २ अप्येकः अंगुलिमाभिन्द्यात् २, अप्येकः नखमाभिन्द्यात् २, अप्येकःग्रीवामाभिन्द्यात् २, अप्येकः हनुमाभिन्द्यात् २, अप्येकः ओष्ठमाभिन्द्यात् २, अप्येकः दन्तमाभिन्द्यात् २, अप्येकः जिह्वामाभिन्द्यात् २, अप्येकः तालुमाभिन्द्यत् २, अप्येकः गलमाभिंद्यात् २, अप्येकः गलमाभिंद्यात् २, अप्येकः गंडमाभिंद्यात् २, अप्येकः कर्णमाभिंद्यात् २, अप्येकः नासिकामाभिंद्यात् २, अप्येक अक्षि आभिंद्यात् २, अप्येकः भ्रुवमाभिंद्यात् २, अप्येकः ललाटमाभिंद्यात् २, अप्येकः शिर आभिन्द्यात् २, अयेकः सम्प्रमारयेत्, अप्येकः अपद्रापयेत २ इत्थं शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरभा. परिज्ञाताः भवन्ति।

पदार्थ – त—वह पृथ्वीकाय का समारंभ। से—उस को—आगामी काल में। अहिआए—अहितकर होता है। तं—वह पृथ्वीकाय का समारभ। से—उसको। अबोहिए—अबोधिलाभ के लिए होना है। से—पृथ्वीकाय के समारभ को पाप रूप मानने वाला। त—उस पृथ्वीकाय के आरभ-समारभ को। संबुज्झमाणे—अहितकर समझता हुआ। आयाणीय—ग्रहण करने योग्य-सम्यग्-दर्शन और चरित्र मे। समुट्ठाय—सम्यक् प्रकार से उद्यत होकर। सोच्चा—सुनकर। खलु—निश्चय से। भगवओ—भगवान के समीप या। अणगाराणा —

अनगारो के समीप। इह—इस मनुष्य जन्म मे। एगेसि—किन्ही एक प्रबुद्ध साधुओं को। णात भवति—ज्ञात होता है कि— खलु—निश्चय ही। एस – यही-पृथ्वीकाय का समारभ। गथे – अष्ट कर्म बन्ध का कारण है। एस खलु मोहे—यह मोह का कारण है। एस खलु मारे – यह मृत्यु का कारण है। एस खलु णरए – यह नरक का कारण है। इच्छत्य – आहार, आभूषण या प्रशसा आदि के लिए। गड्ढिए—मूर्च्छित। लोए – लोक-प्राणी इस पृथ्वीकाय के जीवो की हिंसा करते है। ज—जिससे। इम—इस पृथ्वीकाय को। विरूवरूवेहि—नाना प्रकार के। सत्थेहि—शस्त्रो से। पुढवीकाय समारम्भेण—पृथ्वी सवधी क्रिया का आरम्भ करने से। पुढविसत्थ—पृथ्वी शस्त्र का। समारम्भमाणे—प्रयोग करते हुए। अण्णे—अन्य। अणेगरूवे—अनेक तरह के। पाणे—प्राणियो की। विहिसइ—हिंसा करता है।

प्रश्न—एकेन्द्रिय जीव हिंसा जनित वेदना का अनुभव किस प्रकार करते हैं?

उत्तर—सेवेमि—हे शिष्य! इसे मैं बताता हू। अप्पेगे—जैसे कोई पुरुष। अन्ध†—जन्माध, मूक, वधिर, पगु पुरुष को। अब्भे—कुन्तादि से भेदन करे। अप्पेगे—कोई व्यक्ति। अन्धमच्छे—अ ध, बधिर, मूक और पगु व्यक्ति का शस्त्र द्वारा छेदन करे।

जन्माध, वधिर और मूक व्यक्ति की अव्यक्त वेदना के उदाहरण द्वारा पृथ्वीकाय जीवो की वेदना समझाकर अब सूत्रकार एक व्यक्त चेतना वाले व्यक्ति के उदाहरण द्वारा पृथ्वीकायिक जीव की वेदना से तुलना करते है। जैसे किसी व्यक्ति का, अप्पेगे※—कोई पुरुष। पायमब्भे-पाव का भेदन करे। पायमच्छे२-पाव का छेदन करे। गुल्फमब्भे-गिट्टो का छेदन करे। जघमब्भे २-जघाओ का छेदन भेदन करे। जानूमब्भे २ जानुओ का छेदन-भेदन करे। उरुमब्भे २—उरुओ का छेदन-भेदन करे। कडिमब्भे २ – कटि-कमर का छेदन-भेदन करे। णाभिमब्भे २ – नाभि का छेदन-भेदन करे। उदरमब्भे २ – उदर-पेट का छेदन-भेदन करे। पासमब्भे – पार्श्व का छेदन—भेदन करे। पिट्ठिमब्भे २ – पृष्ट भाग-पीठ का छेदन-भेदन करे। उरुमब्भे २ – छाती का छेदन-भेदन करे। हियमब्भे २-हृदय का छेदन-भेदन करे। थणमब्भे २-स्तनो का छेदन—भेदन करे। खधमब्भे—स्कध का छेदन-भेदन करे। बाहुमब्भे २—भुजाओ का छेदन—भेदन करे। हत्थमब्भे २—हाथो का छेदन-भेदन करे। अन्गुलिमब्भे २—अन्गुलियो का छेदन-भेदन करे। णहमब्भे२—नखो का छेदन—भेदन करे। गीवमब्भे २—ग्रीवा—गर्दन का छेदन—भेदन करे। हणुमब्भे२—ठोडी का छेदन—भेदन करे। ओठमब्भे२—ओष्ठो का छेदन-भेदन करे। दतमब्भे २—दातों का छेदन-भेदन करे। जिब्भमब्भे२—जिह्वा का छेदन—भेदन करे। तालुमब्भे २—तालु का

† 'अन्ध' पद केवल जन्माध का वोधक है, परन्तु उपलक्षण से वधिर आदि का भी ससूचक है।

※ 'अप्पेगे' शब्द का सब जगह कोई पुरुष अर्थ समझना चाहिए और सबके साथ यथास्थान जोडना चाहिए।

छेदन-भेदन करे। गलमब्भे २—गले का छेदन-भेदन करे। गडमब्भे २—गडस्थल-कपोल का छेदन-भेदन करे। कण्णमब्भे २—कान का छेदन-भेदन करे। णासमब्भे २—नासिका का छेदन-भेदन करे। अच्छिवब्भे २—आखो का छेदन-भेदन करे। भमुहमब्भे २—भ्रकुटियों का छेदन-भेदन करे। सीसमब्भे २—मस्तिष्क का छेदन भेदन करे।

जैसे इस व्यक्त चेतना वाले व्यक्ति को इन कारणों मे स्पष्ट वेदना की अनुभूति होती है, उसी तरह पृथ्वीकाय के जीवों को भी वेदना होती है, परन्तु वे उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकते।

पृथ्वीकाय के जीवों को जो वेदना होती है, उसे और स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार अब तीसरा उदाहरण देते हैं—अप्पेगे- कोई पुरुष किसी व्यक्ति को इतना मारे कि। सपमारए—मूर्छित करदे। अप्पेगे—कोई व्यक्ति किसी को मार-मार कर। उद्दवए—उसे—प्राणो से पृथक् कर दे।

जैसे इन प्राणियों को मूर्छित होने एवं मरने के पूर्व जो अव्यक्त वेदना होती है, वैसी ही अव्यक्त वेदना पृथ्वीकाय के जीवों को होती है। परन्तु अज्ञानी जीव इस रहस्य को नहीं जानते, इसलिए वे रात-दिन हिंसा में प्रवृत्ति करते हैं। इसी बात को सूत्रकार अपनी भाषा मे कहते हैं— इत्थ—इस पृथ्वीकाय मे। सत्थ समारम्भमाणस्स—शस्त्र का प्रयोग करने वाले व्यक्ति को। इच्चेते—इस प्रकार के। आरम्भा—आरभ खनन कृषि आदि सावद्य व्यापार मे। अपरिण्णाता—अपरिज्ञात। भवति—होते है।

मूलार्थ—पृथ्वीकायके आरभ-समारभ मे लगे हुए व्यक्ति को यह सावद्य प्रवृत्ति अनागत काल मे अहितकर तथा बोध को अवरोधक होती है। परतु जो भव्य जीव-पृथ्वीकाय का आरभ करना पाप है, ऐसा भगवान या अनगारों से सुन कर, सम्यग्ज्ञान, दर्शन आदि के द्वारा भली-भाति जान लेता है, उसको यह ज्ञान हो जाता है कि पृथ्वीकाय का आरभ भविष्य में अहित और अबोधि के लाभ को कारण है। अत: ऐसे किन्हीं ज्ञानो पुरुषो को यह परिज्ञात हो जाता है कि यह पृथ्वोकाय का समारभ ग्रंथि है अर्थात् अष्ट कर्मो की गांठ है, मोह रूप है, मृत्यु का कारण है और नरक का कारण है। और उन्हे इस बात का भी परिबोध होता है कि कुछ लोग जो सासारिक विषय-भोगो मे अधिक आसक्त रहते है, वे आहार, भूषण और अन्य उपकरणो के लिए तथा प्रशसा, मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा के लिए अनेक प्रकार के शस्त्रो से पृथ्वीकायिक

जीवों का विनाश करते है और उसके आश्रय मे रहे हुए अनेक प्रकार के त्रस प्राणियो की भी हिसा करते है।

प्रश्न हो सकता है कि पृथ्वीकाय के जीव न देखते है, न सुनते है, न सूघ सकते है, न चल सकते है, तो फिर वे किस तरह वेदना अनुभव करते है ? सूत्रकार कुछ उदाहरण देकर इस प्रश्न का समाधान करते है। जैसे— कोई व्यक्ति जन्म से अधा, वहरा, गूँगा और पगु है, ऐसे व्यक्ति को कोई निर्दय पुरुष कुन्त के अग्रभाग से भेदन करता है, कोई अन्य शंस्त्रो से उसका छेदन कराता है। वह व्यक्ति छेदन-भेदन के कार्य को न देख सकता है, न सुन सकता है और न आक्रन्दन ही कर सकता है और उस दुःख से बचने के लिए न वह कही भाग ही सकता है, तो क्या इससे यह समझ लिया जाए कि उसे वेदना की अनुभूति नही होती ? नही, ऐसा नही होता, उसे वेदना का सवेदन तो होता है, परन्तु उसे वह अभिव्यक्त नही कर सकता। इसी तरह पृथ्वीकाय के जीवो को छेदन—भेदन को वेदना होती है, परन्तु उसे वे व्यक्त नही कर सकते, क्योकि अपनी अनुभूति को व्यक्त करने का साधन उनके पास नही है। या यों कहिए उनकी चेतना अभी अव्यक्त या अविकसित है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जहा चेतन. है, वहां वेदना अवश्य होती है। अन्तर इतना ही है कि जिन प्राणियों मे व्यक्त चेतना है उनकी वेदना व्यक्त दिखाई देती है और जिनमे चेतना अव्यक्त है उन की वेदना भी अव्यक्त रहती है। जैसे स्पष्ट दिखाई देने वाले प्राणियो मे से यदि कोई व्यक्ति पैर, गुल्फ, जानु, उरु, कमर, नाभि, उदर, पार्श्व पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कधा, भुजा, हाथ, अगुली, नख, ग्रीवा, ठोडी, ओष्ट, दात, जिह्वा, तालु, गल, गण्ड, कर्ण, नासिका, आख, भ्रू, ललाट शिर आदि का छेदन-भेदन करे या किसो प्राणी को मार-पीट कर मूर्छित एव प्राणो से रहित करे। तो उस प्राणी की वेदना प्रत्यक्ष रूप से

दिखाई देती है। क्योंकि वह उसे दूसरो के सामने व्यक्त कर देता है। परन्तु उत्कट मोह और अज्ञान के कारण जिन्हे अव्यक्त चेतना मिली है, वे अपनी वेदना को अव्यक्त रूप से भोगते है। पृथ्वीकायिक जीवों की चेतना भी अव्यक्त है, इसलिए उनको वेदना की अनुभूति भी अव्यक्त ही होती है।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि अनेक प्रकार के शस्त्रो का प्रयोग करने से पृथ्वीकाय के जीवो को अव्यक्त रूप से वेदना होती है। अत. पृथ्वीकाय पर शस्त्र का प्रयोग करने से आरभ होता है, वह आरभ २७ प्रकार से किया जाता है और वह कर्मबन्ध का कारण है, इस सत्य से अज्ञानी जीव अपरिज्ञात रहते है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि जो व्यक्ति पृथ्वीकाय की हिंसा में अनुरक्त रहता हैं, संलग्न रहता है, उसे अनागत काल में हित और सम्यग्बोध का लाभ प्राप्त नहीं होता। अर्थात् वह हिंसा भविष्य में उसके लिए अहितकर होती है और वह बोध को प्राप्त नहीं कर पाता इस लिए मुमुक्षु को पृथ्वीकाय की हिंसा से सदा विरत रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वीकायिक आदि जीवों में चेतनता है और वे भी सुख-दुःख का संवेदन करते हैं।

आगम के प्रमाणों से यह स्पष्ट हो गया है कि पृथ्वीकाय सजीव है। उस की सजीवता की अनुभूति भी होती है। हम देखते हैं पहाड़ एवं खान में रहा हुआ पत्थर बढ़ता रहता है और खाने से निकालने एवं बाह्य शस्त्रों तथा वर्षा और सूर्य की धूप आदि के शस्त्र से निर्जीव हुआ पत्थर बढ़ता नहीं है। खान एवं पहाड़ों पर चट्टानों से संबद्ध पत्थर में होने वाली अभिवृद्धि से उसकी सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है। क्योंकि सजीव अवस्था मे ही मनुष्य, पशु-पक्षी आदि के शरीर में अभिवृद्धि होती है। पृथ्वी के शरीर में अभिवृद्धि होती है, उसके आकार प्रकार एवं बनावट में अन्तर आता रहता है। इसलिए पृथ्वीकाय को सजीव मानना चाहिए।

जो प्राणी सजीव होते हैं वे सुख-दु.ख का संवेदन भी करते हैं। पृथ्वी सजीव

जीवो का विनाश करते है और उसके आश्रय में रहे हुए अनेक प्रकार के त्रस प्राणियो की भी हिसा करते है।

प्रश्न हो सकता है कि पृथ्वीकाय के जीव न देखते है, न सुनते है, न सूघ सकते है, न चल सकते है, तो फिर वे किस तरह वेदना अनुभव करते है ? सूत्रकार कुछ उदाहरण देकर इस प्रश्न का समाधान करते है। जैसे— कोई व्यक्ति जन्म से अधा, वहरा, गूँगा और पगु है, ऐसे व्यक्ति को कोई निर्दय पुरुष कुन्त के अग्रभाग से भेदन करता है, कोई अन्य शस्त्रो से उसका छेदन कराता है। वह व्यक्ति छेदन-भेदन के कार्य को न देख सकता है, न सुन सकता है और न आक्रन्दन ही कर सकता है और उस दुःख से बचने के लिए न वह कही भाग ही सकता है, तो क्या इससे यह समझ लिया जाए कि उसे वेदना की अनुभूति नही होती ? नही, ऐसा नही होता, उसे वेदना का सवेदन तो होता है, परन्तु उसे वह अभिव्यक्त नही कर सकता। इसी तरह पृथ्वीकाय के जीवो को छेदन—भेदन को वेदना होती है, परन्तु उसे वे व्यक्त नही कर सकते, क्योकि अपनी अनुभूति को व्यक्त करने का साधन उनके पास नही है। या यो कहिए उनकी चेतना अभी अव्यक्त या अविकसित है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जहा चेतन है, वहां वेदना अवश्य होती है। अन्तर इतना ही है कि जिन प्राणियो मे व्यक्त चेतना है उनकी वेदना व्यक्त दिखाई देती है और जिनमे चेतना अव्यक्त है उन की वेदना भी अव्यक्त रहती है। जैसे स्पष्ट दिखाई देने वाले प्राणियो मे से यदि कोई व्यक्ति पैर, गुल्फ, जानु, उरु, कमर, नाभि, उदर, पार्श्व पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कधा, भुजा, हाथ, अगुली, नख, ग्रीवा, ठोडी, ओष्ट, दात, जिह्वा, तालु, गाल, गण्ड, कर्ण, नासिका, आंख, भ्रू, ललाट शिर आदि का छेदन-भेदन करे या किसी प्राणी को मार-पीट कर मूर्छित एव प्राणो से रहित करे। तो उस प्राणी की वेदना प्रत्यक्ष रूप से

दिखाई देती है। क्योंकि वह उसे दूसरा के सामने व्यक्त कर देता है। परन्तु उत्कट मोह और अज्ञान के कारण जिन्हे अव्यक्त चेतना मिली है, वे अपनी वेदना को अव्यक्त रूप से भोगते है। पृथ्वीकायिक जीवो की चेतना भी अव्यक्त है, इसलिए उनको वेदना की अनुभूति भी अव्यक्त ही होती है।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि अनेक प्रकार के शस्त्रो का प्रयोग करने से पृथ्वीकाय के जीवो को अव्यक्त रूप से वेदना होती है। अत. पृथ्वीकाय पर शस्त्र का प्रयोग करने से आरभ होता है, वह आरभ २७ प्रकार से किया जाता है और वह कर्मबन्ध का कारण है, इस सत्य से अज्ञानी जीव अपरिज्ञात रहते है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि जो व्यक्ति पृथ्वीकाय की हिंसा मे अनुरक्त रहता हैं, संलग्न रहता है, उसे अनागत काल में हित और सम्यग्बोध का लाभ प्राप्त नहीं होता। अर्थात् वह हिंसा भविष्य में उसके लिए अहितकर होती है और वह बोध को प्राप्त नहीं कर पाता इस लिए मुमुक्षु को पृथ्वीकाय की हिंसा से सदा विरत रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वीकायिक आदि जीवों में चेतनता है और वे भी सुख-दु.ख का सवेदन करते हैं।

आगम के प्रमाणों से यह स्पष्ट हो गया है कि पृथ्वीकाय सजीव है। उस की सजीवता की अनुभूति भी होती है। हम देखते हैं पहाड़ एवं खान मे रहा हुआ पत्थर बढ़ता रहता है और खाने से निकालने एवं बाह्य शस्त्रों तथा वर्षा और सूर्य की धूप आदि के शस्त्र से निर्जीव हुआ पत्थर बढ़ता नही है। खान एवं पहाड़ों पर चट्टानों से संबद्ध पत्थर में होने वाली अभिवृद्धि से उसकी सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है। क्योंकि सजीव अवस्था में ही मनुष्य, पशु-पक्षी आदि के शरीर में अभिवृद्धि होती है। पृथ्वी के शरीर में अभिवृद्धि होती है, उसके आकार प्रकार एवं बनावट में अन्तर आता रहता है। इसलिए पृथ्वीकाय को सजीव मानना चाहिए।

जो प्राणी सजीव होते हैं वे सुख-दु.ख का सवेदन भी करते हैं। पृथ्वी सजीव

जीवों का विनाश करते है और उसके आश्रय मे रहे हुए अनेक प्रकार के त्रस प्राणियो की भी हिसा करते है।

प्रश्न हो सकता है कि पृथ्वीकाय के जीव न देखते है, न सुनते है, न सूघ सकते है, न चल सकते है, तो फिर वे किस तरह वेदना अनुभव करते है ? सूत्रकार कुछ उदाहरण देकर इस प्रश्न का समाधान करते है। जैसे— कोई व्यक्ति जन्म से अधा, वहरा, गूँगा और पगु है, ऐसे व्यक्ति को कोई निर्दय पुरुष कुन्त के अग्रभाग से भेदन करता है, कोई अन्य शस्त्रो से उसका छेदन कराता है। वह व्यक्ति छेदन-भेदन के कार्य को न देख सकता है, न सुन सकता है और न आक्रन्दन हो कर सकता है और उस दुःख से बचने के लिए न वह कही भाग ही सकता है, तो क्या इससे यह समझ लिया जाए कि उसे वेदना की अनुभूति नहीं होती ? नही, ऐसा नही होता, उसे वेदना का सवेदन तो होता है, परन्तु उसे वह अभिव्यक्त नही कर सकता। इसी तरह पृथ्वीकाय के जीवो को छेदन—भेदन की वेदना होती है, परन्तु उसे वे व्यक्त नही कर सकते, क्योकि अपनी अनुभूति को व्यक्त करने का साधन उनके पास नही है। या यो कहिए उनकी चेतना अभी अव्यक्त या अविकसित है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जहा चेतन. है, वहां वेदना अवश्य होती है। अन्तर इतना ही है कि जिन प्राणियो मे व्यक्त चेतना है उनकी वेदना व्यक्त दिखाई देती है और जिनमे चेतना अव्यक्त है उन की वेदना भी अव्यक्त रहती है। जैसे स्पष्ट दिखाई देने वाले प्राणियो मे से यदि कोई व्यक्ति पैर, गुल्फ, जानु, उरु, कमर, नाभि, उदर, पार्श्व पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कधा, भुजा, हाथ, अगुली, नख, ग्रीवा, ठोडी, ओष्ट, दात, जिह्वा, तालु, गल, गण्ड, कर्ण, नासिका, आख, भ्रू, ललाट शिर आदि का छेदन-भेदन करे या किसी प्राणी को मार-पीट कर मूर्छित एव प्राणो से रहित करे। तो उस प्राणी की वेदना प्रत्यक्ष रूप से

दिखाई देती है। क्योंकि वह उसे दूसरा के सामने व्यक्त कर देता है। परन्तु उत्कट माह और अज्ञान के कारण जिन्हे अव्यक्त चेतना मिलो है, वे अपनी वेदना को अव्यक्त रूप से भोगते है। पृथ्वीकायिक जोवों की चेतना भो अव्यक्त है, इसलिए उनको वेदना की अनुभूति भो अव्यक्त ही होती है।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि अनेक प्रकार के शस्त्रो का प्रयोग करने से पृथ्वीकाय के जोवो को अव्यक्त रूप से वेदना होती है। अत. पृथ्वोकाय पर शस्त्र का प्रयोग करने से आरभ होता है, वह आरभ २७ प्रकार से किया जाता है ओर वह कर्मबन्ध का कारण है, इस सत्य से अज्ञानो जोव अपरिज्ञात रहते है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह वताया गया है कि जो व्यक्ति पृथ्वीकाय की हिंसा में अनुरक्त रहता हैं, संलग्न रहता है, उसे अनागत काल में हित और सम्यग्बोध का लाभ प्राप्त नहीं होता। अर्थात् वह हिंसा भविष्य में उसके लिए अहितकर होती है और वह वोध को प्राप्त नहीं कर पाता इस लिए मुमुक्षु को पृथ्वीकाय की हिंसा से सदा विरत रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वीकायिक आदि जीवों में चेतनता है और वे भी सुख-दु.ख का संवेदन करते हैं।

आगम के प्रमाणों से यह स्पष्ट हो गया है कि पृथ्वीकाय सजीव है। उस की सजीवता की अनुभूति भी होती है। हम देखते हैं पहाड़ एवं खान में रहा हुआ पत्थर वढ़ता रहता है और खाने से निकालने एवं वाह्य शस्त्रों तथा वर्षा और सूर्य की धूप आदि के शस्त्र से निर्जीव हुआ पत्थर वढ़ता नहीं है। खान एवं पहाड़ों पर चट्टानों से संवद्ध पत्थर में होने वालो अभिवृद्धि से उसकी सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है। क्योंकि सजीव अवस्था में ही मनुष्य, पशु-पक्षी आदि के शरीर में अभिवृद्धि होती है। पृथ्वी के शरीर में अभिवृद्धि होती है, उसके आकार प्रकार एवं वनावट में अन्तर आता रहता है। इसलिए पृथ्वीकाय को सजीव मानना चाहिए।

जो प्राणी सजीव होते हैं वे सुख-दुःख का संवेदन भी करते हैं। पृथ्वी सजीव

जीवों का विनाश करते है और उसके आश्रय मे रहे हुए अनेक प्रकार के त्रस प्राणियो की भी हिसा करते है ।

प्रश्न हो सकता है कि पृथ्वीकाय के जीव न देखते है, न सुनते है, न सूघ सकते है, न चल सकते है, तो फिर वे किस तरह वेदना अनुभव करते है ? सूत्रकार कुछ उदाहरण देकर इस प्रश्न का समाधान करते है। जैसे— कोई व्यक्ति जन्म से अधा, वहरा,गूँगा और पगु है, ऐसे व्यक्ति को कोई निर्दय पुरुष कुन्त के अग्रभाग से भेदन करता है, कोई अन्य शस्त्रो से उसका छेदन कराता है। वह व्यक्ति छेदन–भेदन के कार्य को न देख सकता है, न सुन सकता है और न आक्रन्दन ही कर सकता है और उस दु:ख से बचने के लिए न वह कही भाग ही सकता है, तो क्या इससे यह समझ लिया जाए कि उसे वेदना की अनुभूति नही होती ? नही, ऐसा नही होता, उसे वेदना का सवेदन तो होता है, परन्तु उसे वह अभिव्यक्त नही कर सकता । इसी तरह पृथ्वीकाय के जीवो को छेदन—भेदन की वेदना होती है, परन्तु उसे वे व्यक्त नही कर सकते, क्योंकि अपनी अनुभूति को व्यक्त करने का साधन उनके पास नही है । या यो कहिए उनकी चेतना अभी अव्यक्त या अविकसित है ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जहा चेतन. है, वहां वेदना अवश्य होती है । अन्तर इतना ही है कि जिन प्राणियों मे व्यक्त चेतना है उनकी वेदना व्यक्त दिखाई देती है और जिनमे चेतना अव्यक्त है उन की वेदना भी अव्यक्त रहती है। जैसे स्पष्ट दिखाई देने वाले प्राणियो मे से यदि कोई व्यक्ति पैर, गुल्फ, जानु, उरु, कमर, नाभि, उदर, पार्श्व पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कधा, भुजा, हाथ, अगुली, नख, ग्रीवा, ठोडी, ओष्ट, दात, जिह्वा, तालु, गाल, गण्ड, कर्ण, नासिका, आख, भ्रू, ललाट शिर आदि का छेदन-भेदन करे या किसो प्राणी को मार-पीट कर मूर्छित एव प्राणो से रहित करे । तो उस प्राणी की वेदना प्रत्यक्ष रूप से

दिखाई देती है। क्योंकि वह उसे दूसरा के सामने व्यक्त कर देता है। परन्तु उत्कट मोह और अज्ञान के कारण जिन्हे अव्यक्त चेतना मिलो है, वे अपनी वेदना को अव्यक्त रूप से भोगते है। पृथ्वीकायिक जोवो की चेतना भो अव्यक्त है, इसलिए उनको वेदना की अनुभूति भी अव्यक्त ही होती है।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि अनेक प्रकार के शस्त्रो का प्रयोग करने से पृथ्वीकाय के जीवो को अव्यक्त रूप से वेदना होती है। अत. पृथ्वीकाय पर शस्त्र का प्रयोग करने से आरभ होता है, वह आरभ २७ प्रकार से किया जाता है और वह कर्मबन्ध का कारण है, इस सत्य से अज्ञानी जोव अपरिज्ञात रहते हैं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि जो व्यक्ति पृथ्वीकाय की हिंसा मे अनुरक्त रहता है, संलग्न रहता है, उसे अनागत काल में हित और सम्यग्बोध का लाभ प्राप्त नहीं होता। अर्थात् वह हिंसा भविष्य में उसके लिए अहितकर होती है और वह बोध को प्राप्त नहीं कर पाता इस लिए मुमुक्षु को पृथ्वीकाय की हिंसा से सदा विरत रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वीकायिक आदि जीवों में चेतनता है और वे भी सुख-दु.ख का सवेदन करते है।

आगम के प्रमाणों से यह स्पष्ट हो गया है कि पृथ्वीकाय सजीव है। उस की सजीवता की अनुभूति भी होती है। हम देखते हैं पहाड़ एवं खान मे रहा हुआ पत्थर बढ़ता रहता है और खाने से निकालने एवं बाह्य शस्त्रों तथा वर्षा और सूर्य की धूप आदि के शस्त्र से निर्जीव हुआ पत्थर बढ़ता नहीं है। खान एवं पहाड़ों पर चट्टानों से संबद्ध पत्थर मे होने वाली अभिवृद्धि से उसकी सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है। क्योंकि सजीव अवस्था मे ही मनुष्य, पशु-पक्षी आदि के शरीर में अभिवृद्धि होती है। पृथ्वी के शरीर मे अभिवृद्धि होती है, उसके आकार प्रकार एवं बनावट मे अन्तर आता रहता है। इसलिए पृथ्वीकाय को सजीव मानना चाहिए।

जो प्राणी सजीव होते हैं वे सुख-दु.ख का संवेदन भी करते हैं। पृथ्वी सजीव

है। इसलिए उसमें स्थित जीव सुख-दुःख का संवेदन करते हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत सूत्र मे तीन उदाहरण देकर समझाया है। जैसे— किसी जन्म से अधे, वहिरे, गूंगे और पंगु व्यक्ति का कोई व्यक्ति किसी शस्त्र से छेदन-भेदन करता है, तो उक्त व्यक्ति उस वेदना को व्यक्त नहीं कर सकता। परन्तु उसका सवेदन अवश्य करता है। इसी तरह पृथ्वीकाय के जीव भी शस्त्र प्रयोग से होने वाली वेदना को अव्यक्त रूप से सवेदन करते है। दूसरा उदाहरण यह दिया गया है, जैसे—किसी व्यक्ति के हाथ पैर आदि किसी भी अगोपाग का छेदन भेदन करने पर तथा किसी व्यक्ति को मार-पीट कर मूर्छित एव प्राण रहित करते समय जिस तरह उसे वेदना होती है, उसी तरह पृथ्वीकाय पर शस्त्र का प्रयोग करने से उसमे स्थित जीवों को वेदना एव पीड़ा की अनुभूति होती है। पृथ्वी-कायिक जीवों को किस तरह की वेदना होती है? गौतम स्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने कहा कि हे गौतम! एक हृष्ट-पुष्ट युवक किसी जर्जरित शरीर वाले वृद्ध पुरुष के मस्तिष्क पर मुष्ठि का प्रहार करे, तो उस वृद्ध पुरुष को वेदना होती है? हा भगवन! उसे महावेदना होती है। उसी तरह पृथ्वीकाय का स्पर्श करने पर उसे भी वेदना होती है। जिस तरह पृथ्वीकाय के जीवों को वेदना की अनुभूति होती है, उसी तरह अप्काय तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के संवध मे भी जानना चाहिए*।

एकेंद्रिय जीव असन्नी हैं, उनके मन होता नहीं। फिर वे सुख-दुःख का सवेदन कैसे करते हैं? अत यह कहना कहा तक उचित है कि पृथ्वी-काय का छेदन-भेदन करने पर पृथ्वीकायिक जीवों को वेदना होती है? इसका समाधान

---

* पुढविकाइए ण भते। अक्कते समाणे केरिसिय वेयण पच्चणुब्भवमाणे विहरइ? गोयमा! से जहानामए—केइ पुरिसे बलव जाव निउणसिप्पोवगए एग पुरिस जुण्ण जराज-ज्जरियदेह जाव दुब्बलं किलत्त जमल पाणिणा मुद्धाणसि अभिहणिज्जा, से ण गोयमा! पुरिसे तेण पुरिसेण जमल पाणिणा मुद्धाणसि अभिहए समाणे केरिरिसिय वेयण पच्चणुब्भवमाणे विहरइ? अणिट्ठ समणाउसो। तस्सणं गोयमा! पुरिसस्स वेयणाहितो पुढविकाइए अक्कते समाणे एतो अणिट्ठतरिय चेव अकततरिय चेव जाव अमणामतरिय चेव वेयण पच्चणु-भवमाणे विहरइ। आउएणं भते? सघट्टिए समाणे केरिसियं वेयणं पच्चणुभवमाणे विहरइ? गोयमा! जहा पुढविकाइए एव आउकाइएवि, एव तेउकाइएवि, एव वाउकाइएवि, एव वणस्सइकाइएवि जावविहरइ।

—भगवती सूत्र, शतक १८ उद्देशक ३

यह है कि मन के दो भेद माने गए हैं— १- द्रव्य मन और २- भाव मन। असन्नी प्राणियों मे द्रव्य मन नहीं होता, परन्तु भाव मन उन में भी होता है। इस लिए अनेक तरह के शस्त्रों स जब पृथ्वीकाय का छेदन-भेदन किया जाता है, तो उन्हें दुःखानुभूति होती है। उनकी चेतना अव्यक्त होने के कारण वे अपनी संवेदना को अभिव्यक्त नहीं कर पाते।

पृथ्वीकाय की हिंसा से अष्ट कर्म का बन्ध कैसे होता है ? इस का समाधान यह है कि हिंसक प्राणी मे ज्ञानादि का क्षयोपशम भाव से जो थोड़ा विकास है, स्वार्थ के कारण वह भी मन्द पड़ जाता है। इसी तरह अन्य कर्मों के संबन्ध मे भी समझ लेना चाहिए। इसलिए सूत्रकार ने कहा है कि पृथ्वीकाय का आरंभ-समारभ आठ कर्मों की ग्रंथि रूप है, मोहरूप है मृत्यु रूप है, नरक का कारण है।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि पृथ्वीकाय सजीव है और अनेक तरह के शस्त्रों के प्रयोग से उसे वेदना होती है और उसकी हिंसा करने से आत्मा को भविष्य में अहित का लाभ होता है तथा बोध की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए मुमुक्षु को पृथ्वीकाय की हिंसा से विरत रहना चाहिए। इस बात को समझाते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति, तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं पुढविसत्थं समारंभेजा णेव-ण्णेहिं पुढविसत्थं समारंभावेज्जा णेवण्णे हिं पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते पुढविकम्मसमारंभा परिण्णाता भवंति से हु मुणी परिण्णात कम्मे त्तिबेमि ॥१८॥

छाया—अत्र शस्त्र समारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति तत् परिज्ञाय मेधावी नैवस्वयं पृथिवी शस्त्रं समारम्भेत्, नैव अन्यैः पृथिवी शस्त्रं समारम्भयेत्, नैव अन्यान् पृथिवी शस्त्रं समारम्भमाणान् समनुजानीयात्, यस्यैते पृथिवीकर्म समारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति सः खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि।

पदार्थ— एत्थ—पृथ्वीकाय मे। सत्थ—शस्त्र से जो। असमार भमाणस्स—समारम्भ नही करते उन को। इच्चेते—ये खनन, कृषी आदि। आरम्भ—आरम्भ-समारम्भ, परिणाता—परिज्ञात होते हैं। त परिणाय—उस पृथ्वीकाय के समारम्भ को कर्म वन्ध का कारण जानकर। मेहावी—प्रबुद्ध पुरुष—बुद्धिमान। नैव—न तो। सय—स्वय ही। पुढविसत्थं—समारम्भेजा—पृथ्वीकाय का शस्त्र से आरम्भ-समारम्भ करे। णेवण्णेहिं—न दूसरे व्यक्तियो से। पुढविसत्थ समार भावेज्जा—पृथ्वीकाय का शस्त्र द्वारा आरम्भ करावे। णेवण्णे—न अन्य का जो। पुढविसत्थं समार भते—पृथ्वीकाय का शस्त्र से आरम्भ कर रहा हो। समणुजाणेज्जा—अनुमोदन-समर्थन करे। जस्सेते—जिसको ये। पुढविकायसमार भा—पृथ्वीकायिक जीवो के हिंसाजनक व्यापार। परिण्णाया—परिज्ञात। भवति—होते है। से हु—वही। मुणी—मुनि। परिणाय कम्मा—परिज्ञात कर्मा होता है। त्तिवेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—पृथ्वीकाय के जीवो पर द्रव्य और भाव रूप से शस्त्र का प्रयोग न करने वाले पुरुषो को पृथ्वीकाय के आरम्भ का परिज्ञान होता है। इसलिए वे प्रबुद्धज्ञान पुरुष पृथ्वीकायिक जीवो पर न तो स्वय शस्त्र का प्रयोग करते है, न दूसरे व्यक्ति से शस्त्र का प्रयोग कराते है और न शस्त्र का प्रयोग करने वाले व्यक्ति का अनुमोदन--समर्थन ही करते है। क्योकि जो व्यक्ति शस्त्र प्रयोग से पृथ्वीकाय के जीवो को होने वाली वेदना को जानता है, वही व्यक्ति उस समारभ से होने वाले कर्म बन्ध को भली-भाति समझ सकता है। और उस स्वरूप को सम्यक्तया जानने वाले मुनि को ही परिज्ञात कर्मा कहा है ऐसा मै कहता हू।

हिन्दी विवेचन—

प्रस्तुत सूत्र मे द्रव्य और भाव दोनों तरह के शस्त्रों को लिया गया है। स्वकाय—अपना शरीर, परकाय—दूसरे का शरीर और उभयरूप—स्व-पर काय, इन तीनों को द्रव्य शस्त्र मे लिया गया है। और असंयम एवं मन, वचन और शरीर के योगों की दुष्परिणति को भाव शस्त्र माना गया है।

सूत्रकार ने इस सूत्र मे इस वात को अभिव्यक्त किया है कि मुमुक्षु पृथ्वीकायिक जीवों पर किए जाने वाले शस्त्र प्रयोग से जो उन्हें वेदना होती हैं तथा

प्रथम अध्ययन-शस्त्रपरिज्ञा

तृतीय उद्देशक

प्रथम अध्ययन के दूसरे उद्देशक में पृथ्वीकायिक जीवों के विषय में बताया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक मे अप्काय के संबन्ध मे वर्णन किया गया है– जैसे दूसरे उद्देशक में पृथ्वीकाय सजीव है, उसमे स्थित जीवों को शस्त्र प्रयोग से वेदना की अनुभूति होती है और उसका आरंभ-समारंभ करने से कर्म बन्ध होता है और वह भविष्य मे अहितकर और अबोध का कारण बनता है, उससे संसार बढ़ता है, इसलिए मुमुक्षु को उस आरंभ-समारंभ से दूर रहना चाहिए, आदि बातों को विस्तार से समझाया गया है। उसी तरह प्रस्तुत उद्देशक मे अप्काय मे भी चेतनता है और उसे भी शष्त्र आदि के सस्पर्श एवं प्रयोग से पीडा एवं वेदना की अनुभूति होती है आदि बातों का वर्णन किया जायगा। अप्काय के संबन्ध में कुछ बताने के पूर्व सूत्रकार भूमिका रूप से अप्कायिक जीवों का संरक्षण करने वाले अनगार-मुनि की योग्यता बताते हुए कहते हैं—

मूलम्—से बेमि जहा अणगारे उज्जुकडे नियायपडिवण्णे अमायं कुव्वमाणे वियाहिए ॥१६॥

छाया– तद् ब्रवीमि स यथा अनगारः ऋजुकृतः नियागप्रतिपन्नः अमायां कुर्वाणः व्याख्यातः।

पदार्थ —से अणगारे —वह अनगार। जहा —जैसा होता है। सेबेमि —वह मैं कहता हूँ। उज्जुकडे —सयम का परिपालक नियायपडिवण्णे —जिस ने मोक्ष मार्ग को प्राप्त कर लिया है। अमाय कुव्वाणे —माया-छल-कपट नही करने वाला। वियाहिए —कहा गया है।

मूलार्थ–हे शिष्य! अनगार-मुनि का जो वास्तविक स्वरूप है, वह मैं कहता हू। जो प्रबुद्ध पुरुष सयम का परिपालक है, मोक्ष मार्ग पर गतिशील है और माया-छल-कपट आदि कषायो का त्यागी है या निश्छल एव निष्कपट (शुद्ध) हृदय वाला है, वही अनगार-मुनि कहा जाता है।

हिन्दी विवेचन

साधु, मुनि या अनगार जीवन क्या है ? यह प्रश्न आज का नहीं, शताब्दियों एवं सहस्राब्दियों पहले का है। भगवान महावीर के युग में, महावीर के ही युग में नहीं, उससे भी पहले यह प्रश्न विचारकों के सामने चक्कर काटता रहा है, क्योंकि अनेकों व्यक्ति अपने आपको मुनि, त्यागी कहते रहे हैं। अत त्यागी किसे समझा जाए, उसकी पहिचान क्या है ? उसका जीवन कैसा होना चाहिए ? आदि प्रश्नों का उठना सहज स्वभाविक है।

प्रस्तुत सूत्र में इन्हीं प्रश्नों का गहन भाषा में समाधान किया गया है। अनगार की योग्यता को बताते हुए सूत्रकार ने तीन विशेषणों का प्रयोग किया है—१-संयम का परिपालक हो, २-मोक्ष मार्ग पर गतिशील हो और ३-माया रहित अर्थात निश्छल एवं निष्कपट हृदय वाला हो। इन विशेषणों से युक्त साधक ही अनगार कहा जा सकता है।

प्रस्तुत सूत्र मे एक बात ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि यहां साधु के लिए प्रयुक्त होने वाले मुनि, यति, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि शब्द का प्रयोग न करके अनगार शब्द का प्रयोग किया है। इसका कारण यह है कि साधना के पथ पर गतिशील होने वाले साधक के लिए सब से पहले घर का त्याग करना अनिवार्य है। घर-गृहस्थ मे रहते हुए वह सम्यक्तया साधुत्व की साधना-आराधना एवं परिपालना नहीं कर सकता। क्योंकि पारिवारिक, समाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व से आबद्ध होने के कारण उसे न चाहते हुए भी आरंभ-समारंभ के कार्य में प्रवृत्त होना पड़ता है। आरंभ-समारंभ में प्रवृत्ति किए बिना गृहस्थ कार्य चल ही नहीं सकता और साधु जीवन मे आरंभ-समारंभ की क्रिया को जरा भी अवकाश नहीं है। अत साधुत्व का परिपालन करने के लिए गृहस्थ जीवन का परित्याग करना अनिवार्य है। इस लिए सूत्रकार ने साधु के लिए प्रयुक्त होने वाले अन्य शब्दों का प्रयोग न करके अनगार शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि साधक साधु जीवन मे प्रविष्ट होने के पूर्व घर एवं गृहस्थ संबन्धी सावद्य कार्य पूर्णतया त्याग करे।

अनगार शब्द का शाब्दिक अर्थ है— घर रहित। परन्तु घर का परित्याग करने मात्र से ही साधुत्व नहीं आ जाता है। उसके लिए जीवन को मांजने एव परिष्कृत करने की आवश्यकता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने अनगार शब्द के साथ तीन विशेषणों का प्रयोग किया है। पहला विशेषण

है— उज्जुकडे – (ऋजुकृत) इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार आचार्य शीलांक ने लिखा है—

"ऋजु - अकुटिल सयमो दुष्प्रणिहितमनोवाक्काय निरोध सर्वसत्वसरक्षण प्रवृत्त-त्वादयैकरूप ,,

अर्थात् सरल, कुटिलता से रहित, संयम मार्ग मे प्रवृत्त, दुष्कार्य में प्रवृत्तमन, वचन और काय का निरोधक, समस्त प्राण, भूत, जीव, सत्व के सरक्षण मे प्रवृत्तमान साधक को ऋजु कहते हैं। तात्पर्य यह निकला कि संयम मार्ग में प्रवृत्तमान साधक को अनगार कहा है। क्योंकि कुछ व्यक्ति घर का परित्याग करके अपने आप को अनगार या साधु कहने लगते हैं। परंतु घर का परित्याग करने के साथ वे कुटिलता का एवं सावद्य कार्यों का परित्याग नहीं करते, मन, वचन और काय का दुष्कार्यों से निरोध नहीं करते। इसलिए वे वास्तव मे अनगार नहीं हैं। इसी बात को सूत्रकार ने 'ऋजुकृत:' विशेषण से स्पष्ट किया है। अनगार वही है, जो अपनी इन्द्रियों, मन एवं योगों को नियन्त्रण मे रखता है, सब प्राणियों की दया एवं रक्षा करता है।

कुछ व्यक्ति अपने स्वार्थ को साधने के लिए, यश-ख्याति पाने के लिए या भौतिक सुख एवं स्वर्ग आदि पाने की अभिलाषा से इन्द्रिय एव मन पर भी नियन्त्रण कर लेते हैं। फिर भी वे वास्तव में अनगार नहीं कहे जा सकते, जब तक उनकी प्रवृत्ति मोक्ष मार्ग में नहीं है। इस बात को सूत्रकार ने 'नियाय पडिवण्णे'' विशेषण से स्पष्ट किया। इसकी परिभाषा करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि

"नियाग– सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रात्मक मोक्षमार्ग प्रतिपन्नो नियागप्रतिपन्न ।,,

अर्थात् सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र से युक्तमोक्ष मार्ग पर गतिशील साधक ही नियागप्रतिपन्न कहा गया है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जिस साधक की साधना इद्रिय एवं योगों पर नियन्त्रण एवं तपस्या आदि अनुष्ठान बिना किसी भौतिक आकांक्षा अभिलाषा के होता है अर्थात् यों कहिए कि जो केवल कर्मों की निर्जरा करके शुद्ध आत्म स्वरूप प्रकट करने या निर्वाण-मोक्ष पद पाने हेतु, साधना करता है, वही साधक सयम सम्पन्न है, अनगार है। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा गया कि साधक इस लोक मे भौतिक सुख पाने के लिए तपस्या न करे, परलोक में स्वर्ग एवं

ऐश्वर्य पाने की आकांक्षा से तप न करे, यश कीर्ति पाने हेतु तपस्या न करे। किन्तु एकान्त निर्जरा के लिए तपश्चर्या करे†। जैसे तप के लिए कहा गया है, उसी तरह समस्त धार्मिक क्रियाओं के लिए कहा है। विना किसी भौतिक इच्छा आकांक्षा या निदान के साधना या संयम पर गतिशील होना यही मोक्षमार्ग है और इस मार्ग पर आरूढ़ साधक ही सच्चा एवं वास्तव में अनगार है।

अनगार का तीसरा विशेषण है 'अमाय' अर्थात् छल-कपट नहीं करने वाला। माया को भी जीवन का बहुत बड़ा दोष माना गया है। आगम में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि "माई मिच्छादिट्ठी, अमाई सम्मदिट्ठी" अर्थात्— माया एवं छल-कपट युक्त व्यक्ति मिथ्यादृष्टि कहा गया है। संसार के कार्यों में ही नहीं, धर्म प्रवृत्ति में भी छल-कपट करना दोष माना गया है। १६वें तीर्थंकर मल्लिनाथ ने अपने साधु के पूर्वभव में माया पूर्वक तप किया था। संक्षेप में कथा इस प्रकार है— उनके छ. साथी सन्त थे। सब एक साथ तप शुरु करते, मल्लिनाथ का जीव सन्त यह सोचता कि मैं इन से अधिक तप करूं, पर करूं कैसे? यदि इन्हें कह दूंगा कि मुझे आज पारणा नहीं, तपस्या करनी है, तो यह भी तप कर लेंगे। इस तरह तप में मैं इनसे आगे नहीं रह सकूंगा। अतः उन्हों ने साथी सन्तों से कपट करना शुरु किया। उन्हें पारणा के लिए कह देते और स्वयं तप कर लेते। इस तरह माया-युक्त तप का परिणाम यह रहा कि उन्हों ने स्त्री वेद का वन्ध किया। इस से यह स्पष्ट हो गया कि उत्कृष्ट से उत्कृष्ट क्रिया में भी माया करना बुरा है। इसी लिए सूत्रकार ने माया रहित, मोक्ष-मार्ग पर गतिशील, संयम संपन्न व्यक्ति को ही अनगार कहा है। क्योंकि ऐसा व्यक्ति ही सर्व प्राणियों की रक्षा कर सकता है।

अनगार के यथार्थ स्वरूप को वताने के वाद सूत्रकार साधना या त्याग मार्ग पर प्रविष्ट होने वाले साधक के कर्तव्य का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्--जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा वियहित्ता विसोत्तियं ॥२०॥

† चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ, तजहा -१- नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, २- नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, ३- नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, ४-नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, चउत्थ पय भवइ। —दशवैकालिक सूत्र ९, ४,४

छाया—यया श्रद्धया निष्क्रान्तः तामेव अनुपालयेत्, विहाय विस्रोतसिकां-शंकाम् ।

पदार्थ—जाए—जिस । सद्धाए—श्रद्धा से । निक्खतो—घर से निकला है –दीक्षित हुआ है । विसोतिय—शका को । वियहित—छोड कर । तमेव—उसी श्रद्धा का जीवन पर्यन्त । अणुपालिज्जा—परिपालन करे ।

मूलार्थ–जिस श्रद्धा एव त्याग-वैराग्य भाव से घर का परित्याग किया है, उसी श्रद्धा के साथ सब तरह की शकाओ से रहित होकर जीवन पर्यन्त सयम का परिपालन करे ।

हिन्दी विवेचन

आगम मे दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार वीर्याचार का वर्णन मिलता है। प्रस्तुत सूत्र मे दर्शनाचार का विवेचन किया गया है। वस्तु तत्त्व को जानने की अभिरुचि या तत्त्वो पर श्रद्धा करने का नाम दर्शन है । दर्शनाचार को पांचों मे पहला स्थान दिया गया है। इसका कारण यह है कि तत्त्वों को जानने की अभिरुचि होने पर ही साधक ज्ञान की साधना मे सलग्न हो सकता है । इसलिए ज्ञान से पहले दर्शन–श्रद्धा का होना जरूरी है । इसी तरह चारित्र-सयम, तप एवं वीर्याचार पर श्रद्धा-विश्वास होने पर ही वह उन को स्वीकार कर सकता है, अन्यथा नहीं। यही कारण है कि श्रद्धा को विशेष महत्त्व दिया गया है । आगम में भी मनुष्य जन्म, शास्त्र–श्रवण, सयम मार्ग मे प्रवृत्त होने आदि को दुर्लभ बताया गया है, परन्तु श्रद्धा के लिए कहा गया है कि वह दुर्लभ ही नहीं, परम दुर्लभ है—

"सद्धा परम दुल्लहा"

इस लिए सूत्रकार ने मुमुक्षु को विशेष रूप से सावधान एवं जागृत कहा है कि हे साधक ! तू जिस श्रद्धा—विश्वास के साथ साधना पथ पर हुआ है, उस श्रद्धा मे शिथिलता एव विपरीतता को मत आने देना। अपने किसी भी तरह शका-कुशका को प्रविष्ट न होने देना। अपनी ...क भाव विश्वास को दूषित मत करना।

यह अनुभूत सत्य है कि संसारी जीवों की भावना सदा आत्मा के परिणामों की धारा मे परिवर्तन होता रहता है। कभी आती है, तो कभी तीव्रता। साधक के मन में भी दीक्षा के समय जो

होता है, इस में मन्दता एवं वेग-दोनों के आने को अवकाश रहता है उस की श्रद्धा मे दृढ़ता एवं निर्बलता दोनों के आने के निमित्त एवं साधन मिलते है। इस लिए मुमुक्षु को चाहिए कि श्रद्धा को कमजोर बनाने वाले साधनों से बचकर- दृढ विश्वास के साथ संयम मार्ग पर गति करे।

श्रद्धा को क्षीण बनाने या विपरीत दिशा मे मोड़ देने वाला संशय है। जब मन में, विचारों में सन्देह होने लगता है, तो साधक का विश्वास डगमगा जाता है उसकी साधना लड़खड़ाने लगती है। अत. साधक को इस बात के लिए सदा सावधान रहना चाहिए कि उसके मन मे सदेह प्रविष्ट न हो सके। संशय को पनपने देना साधना के मार्ग से गिरना है।

संशय भी दो प्रकार का होता है— १-सर्व संशय और देश संशय। पूरे सिद्धान्त पर संदेह होना या मन मे यह सोचना कि यह सिद्धात वीतराग द्वारा प्रणीत है और वीतराग की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने से आत्मा समस्त कर्मो से मुक्त हो जायगी। इसे किसने देखा है? अत: इस पर कैसे विश्वास किया जाए? यह सर्व शंका हैं। और सिद्धान्त के किसी एक तत्त्व या पहलू पर सन्देह करना देश शंका है। जैसे— मुक्ति है या नहीं? यह देश शंका का उदाहरण है। दोनों तरह की शंकाए आत्मा की श्रद्धा को शिथिल कर देने वाली है, अत: साधक को अपने हृदय में शंका को उद्भूत नहीं होने देना चाहिए।

साधनापथ नया नहीं है। अनन्त काल से अनेकों साधक इस पथ पर गतिशील होकर अपने साध्य को सिद्ध कर चुके है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— पणया वीरा महावीहिं ॥२१॥

छाया—प्रणतः वीरा महावीथिम्।

पदार्थ—वीरा—वीर पुरुष-परिषह—उपसर्ग और कषायादि पर विजय प्राप्त करने वाले। महावीहिं—प्रधान मोक्ष मार्ग मे। पणया—पुरुषार्थ कर चुके हैं।

मूलार्थ—यह संयम मार्ग परिषह—उपसर्ग और कषायादि पर विजय पाने वाले धीर-महावीर पुरुषो द्वारा आसेवित है।

हिन्दी विवेचन

हम यह प्रथम ही बता चुके है कि जीवन मे श्रद्धा की ज्योति का प्रदीप्त रहना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। हम सदा देखते है कि श्रद्धा के बिना

इस तरह प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने भगवान की वाणी मे अप्काय के जीवों के स्वरूप को जानकर, भगवान की आज्ञा के अनुसार उन की यतना करे। अब सूत्रकार अप्काय मे जो चैतन्य-- सजीवता है, उसका अपलाप न करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं--

मूलम्--से बेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खिज्जा णेव अत्ताणं अब्भाइक्खिज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ ॥२३॥

छाया--सः (अहं) ब्रवीमि नैव स्वयं लोकं प्रत्याचक्षीत् (अभ्याख्यायेत्) नैव आत्मानं प्रत्याचक्षीत यो लोक अभ्याख्याति सः आत्मानम् अभ्याख्याति यः आत्मानम् अभ्याख्याति सः लोकं अभ्याख्याति।

पदार्थ-से--वह (मैं) तुम्हारे प्रति। बेमि--कहता हू कि- णेव-नही। सय--अपनी आत्मा से लोय--अप्काय रूप लोक का। अब्भाइक्खिज्जा--अभ्याख्यान--अपलाप। अत्ताण--आत्मा का अब्भाइक्खिज्जा-णेव--निषेध नही करना चाहिए। जे--जो व्यक्ति। लोय--अप्काय रूप लोक का। अब्भाइक्खइ-- निषेध करता है। से--वह। अत्ताण--आत्मा का। अब्भाइक्खइ-- निषेध करता है। जे--जो। अताण--आत्मा का निषेध करता है। से--वह। लोय अब्भाइक्खइ-- अप्काय रूप लोक का निषेध करता है।

मूलार्थ--आर्य सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से कहते है कि हे जम्बू! मै तुम्हे कहता हू कि मुमुक्षु को स्वय अप्काय रूप लोक का कभी भी अपलाप-निषेध नही करना चाहिए और अपनी आत्मा के अस्तित्व से भी इन्कार नही करनाचाहिए। क्योंकि जो व्यक्ति अप्काय का अपलाप करता है, वह आत्मा का भी अपलाप करता है और जो व्यक्ति आत्मा के अस्तित्व का नि[illegible] है, वह अप्काय के सबन्ध मे उसी भाषा का प्रयोग करता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अ

तुलना करके अप्काय में चेतना है, इस बात को सिद्ध किया है। यह हम पहले देख चुके हैं कि आत्मस्वरूप की दृष्टि से संसार की समस्त आत्माएं एक समान हैं। अप्काय में स्थित आत्मा मे एव मनुष्य शरीर मे परिलक्षित होने वाली आत्मा में स्वरूप की दृष्टि से कोई अतर नहीं है। यहां तक कि सर्व कर्मों से मुक्त सिद्धो की शुद्ध आत्मा का स्वरूप भी वैसा ही है। आत्मस्वरूप की दृष्टि से किसी आत्मा में अन्तर नहीं है, अन्तर केवल चेतना के विकास का है। अप्कायिक जीवों की अपेक्षा मनुष्य की चेतना अधिक विकसित है और सिद्धों में आत्मा का पूर्ण विकास हो चुका है, वहां आत्मा की शुद्ध ज्योति पूर्ण रूप से प्रकाशमान है, आवरण की कालिमा को ज़रा भी अवकाश नहीं है। इस तरह स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएं समान हैं, भेद केवल विकास की अपेक्षा से है।

जैसे जवाहरात की दृष्टि से सभी हीरे समान गुण वाले हैं — भले ही वे खान में मिट्टी से लिपटे हो, जौहरी की दुकान पर पडे हों या स्वर्ण आभूषण मे जडे हों, स्वरूप की दृष्टि से उनमे कोई भेद नहीं है। जौहरी की दृष्टि से सभी हीरे मूल्यवान हैं। भेद है बाहरी विकास को देखने-परखने वाली दृष्टि का। उसकी दृष्टि में खान से निकले हुए हीरे की अपेक्षा जौहरी की दुकान पर पडे सुघड हीरे का अधिक मूल्य है और उससे भी अधिक मूल्यवान है आभूषण मे जडा हुआ हीरा। तो यह सारा भेद बाहरी दृष्टि का है। अन्तर दृष्टि से हीरा हर दशा में मूल्यवान है। कीमती है और जौहरी की अन्तर दृष्टि उसे पत्थर के रूप मे भी पहचान लेती है। यही स्थिति आत्मा के संबन्ध मे है। स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएं समान है। हम भले ही बाहरी दृष्टि से कुछ अल्प विकसित आत्माओं की चेतना को स्पष्ट रूप से न देख सकें, परन्तु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पुरुषों की आत्म दृष्टि उसे स्पष्टतया अवलोकन करती है, इसलिए हमें उसके अस्तित्व का अपलाप नहीं करना चाहिए। क्योंकि आत्म स्वरूप की दृष्टि से उसकी और हमारी आत्मा मे कोई अन्तर नहीं है। अत अप्कायिक जीवों की आत्मा का अपलाप करने का अर्थ है, अपने अस्तित्व का अपलाप करना और अपने अस्तित्व का अपलाप या निषेध करने का तात्पर्य है कि अप्कायिक जीवों की सत्ता का निषेध करना। इस तरह सूत्रकार ने सभी आत्माओं का स्वरूप की अपेक्षा से आत्मैक्य सिद्ध कर के इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि किसी एक के आत्म अस्तित्व को मानने से इन्कार करने का अर्थ है, समस्त जीवों के आत्मा के अस्तित्व का निषेध करना और यह आगम तर्क एव अनुभव से विपरीत है। इस लिए मुमुक्षु को अप्कायिक जीवों की एव अपनी आत्मा का अपलाप नही करना चाहिए।

'अभ्याख्यान' शब्द का अर्थ है— असदभियोग अर्थात् झूठा आरोप लगाना जैसे— जो व्यक्ति चोर नही है, उसे चोर कहना और जो चोर है उसे अचोर कहना या साहूकार बताना अभ्याख्यान है†। इसी तरह अप्कायिक जीवो मे चेतनता होते हुए भी उन्हें निश्चेतन या निर्जीव कहना, उनकी सजीवता पर मिथ्या आरोपण है, इस लिए इसे अभ्याख्यान कहा गया है।

यह सत्य है कि अप्काय में चेतना का अल्प विकास है। परन्तु इससे हम उसकी सत्ता का निषेध नहीं कर सकते। क्योंकि उसकी चेतना अनुभव सिद्ध है। वह उपयोगी है और घी-तेल की तरह द्रवित है। इससे हम उसे निर्जीव नहीं कह सकते। क्योंकि सभी उपयोगी एव तरल पदार्थ निर्जीव नहीं होते। जैसे घोड़ा, गाय-भैंस आदि पशु उपयोगी होने पर भी सजीव हैं और हस्तिनी के गर्भ मे उत्पन्न होने वाला जीव तथा सभी पक्षियों के अंडे रूप मे जन्म लेने वाला प्राणी कई दिनों तक तरल रहता है। फिर भी उसे सजीव मानते हैं। यदि उसकी तरल अवस्था मे सजीवता नहीं मानोंगे तो उससे बनने वाले अगोपाग युक्त हाथी एव पक्षियों मे सजीवता प्रतीत नहीं होगी। इस लिए हस्तिनी के गर्भ मे एवं अडे में तरल अवस्था मे स्थित अव्यक्त चेतना स्वीकार की गई है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पानी मे चेतना का अस्तित्व है‡ द्रवित होने मात्र से उसे निर्जीव कहना सर्वथा अनुचित है।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट बताया गया है कि जैसे अपनी आत्मा के अस्तित्व को इन्कार करना अपलाप कहा जाता है, उसी तरह अनुभव सिद्ध अप्काय की सजीवता का निषेध करना भी अभ्याख्यान या अपलाप कहलाता हैं। जो अप्काय के अस्तित्व का अपलाप करते हैं, वे उसके आरम्भ-समारम्भ से नहीं बच सकते और उसके आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त न होने के कारण फिर संसार में परिभ्रमण करते हैं और जो उसकी सजीवता को जानते हैं, वे उसका अपलाप भी नहीं करते और उसके आरम्भ-समारम्भ का त्याग करके संसार सागर से पार हो जाते हैं। इसी को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

† अभ्याख्यानं नाम—असदभियोग, यथाऽचौर चौरमित्य।

‡ सचेतना आप, शस्त्रानुपहतत्त्वे सति द्रवत्वात् — ह।
लवत्। तथा सात्मक तोयम् अनुपहत द्रवत्वाद् अण्ड-
इत्यादि।

मूलम्--लज्जमाणा पुढ़ोपास--अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदय कम्मसमारंभेणं उदय सत्थं समारंभमाणे अणेग रूवे पाणे विहिंसइ। तत्थ खलु भगवता परिणा पवेदिता इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए-जाइ-मरण मोयणाए दुक्खपडिघाय हेउं से संयमेव उदयसत्थं समारंभति, अणणेहिं वा उदय सत्थं समारंभावेति, अणणे उदय सत्थं समारंभंते समणुजाणाति। तं से अहियाए, तं से अबोहिए। से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति-- एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेण उदय सत्थं समारंभमाणे अणणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ। से बेमि सन्ति पाणा उदयनिस्सिया जीवा अणेगे ॥२४॥

छाया—लज्जमानान् पृथक् पश्य ! अनगाराः स्मः इति एके प्रवदन्तः यदिदं विरुपरूपैः शस्त्रैः उदक कर्म समारम्भेण उदक शस्त्रं समारम्भमाणाः अनेक रूपान् प्राणान् विहिंसन्ति। तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता। अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण-मोचनाय दुःखप्रतिघात हेतुं सः स्वयमेव उदक शस्त्रं समारभते अन्यैर्वा उदक शस्त्रं समारंभयति अन्यान् उदक शस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते। तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधये, सः एतत् संबुध्ययानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणाम् अन्तिके इह एकेषां ज्ञातं भवति-एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः एष खलु मारः, एस खलु नरकः, इत्यर्थं गृद्धः लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः उदक

कर्म समारम्भेण उदकशस्त्रं समारम्भमाणोऽन्यान् अनेक रूपान् प्राणिनः विहिनस्ति अथ ब्रवीमि सति प्राणाः उदक निश्रिताः जीवाः अनेके।

पदार्थ— हे शिष्य ! पास—तू देख। पुढो लज्जमाणा—अप्काय की हिंसा से लज्जा करते हुए प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ज्ञानी साधुओ को। एगे—कोई-कोई अन्य मतावलम्वी। अणगारामोत्ति—हम अणगार है, इस प्रकार। पवयमाणा—कहते हुए। जमिण—जो यह। विरूवरूवेहिं—अनेक प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रो से। उदयकम्मसमारम्भेण—अप्काय सबन्धी आरम्भ करने से। उदयसत्थ—अप्कायिक शस्त्र का। समारम्भमाणे—प्रयोग करते हुए। अणेगरूवे—अनेक प्रकार के। पाणे—जीवो की। विहिंसइ—हिंसा करते है। तत्थ—वहा। खलु—निश्चय से। भगवता—भगवान ने। परिण्णा—परिज्ञा-विवेक। पवेदिता—बताया है। चेव इमस्स—इसी। जीविअस्स—जीवन के वास्ते। परिवंदण—प्रशसा। माणण—सम्मान और। पूयणाय—पूजा के वास्ते। जाइ-मरण-मोयणाए—जन्म-मरण से छूटने के लिये और दुक्ख पडिघाय हेउ शारीरिक एव मानसिक दु खो का नाश करने के लिये। से—वह। सयमेव स्वय भी। उदय सत्थ—अप्कायिक शस्त्र का। समारम्भति—समारभ करता है। वा अथवा। इ अण्णेहिं—अन्य व्यक्ति से। उदय सत्थ—अप्कायिक शस्त्र का। समारम्भवेति—समारम्भ कराता हे। तथा—उदय सत्थ—अप्कायिक शस्त्र का। समारभते—समारम्भ करते हुए। अण्णे—अन्य व्यक्तियो का। समणुजाणति—अनुमोदन-समर्थन करता है। त—वह अप्पकायिक समारम्भ। से—उस को। अहियाए—अहित कर होता है। त—वह। से—उसको। अबोहिए—अबोध का कारण होता है। से—वह। त—इस विषय मे। सबुज्झमाणे—सबुद्ध हुआ प्राणी। आयाणीय—उपादेय ज्ञान-दर्शनादि से। समुट्ठाय—सम्यक्ता उठ कर या सावधान होकर। सोच्चा—सुनकर। भगवतो—भगवान से या। अणगाराणा—अनगारो के। अन्तिए—समीप से। इह—इस ससार मे। एगेसिं—किसी-किसी व्यक्ति को। णाय—ज्ञात। भवति—होता है। खलु—निश्चय ही। एव—यह अप्कायिक समारम्भ। गथ—अष्ट विध कर्मो की गाठ है। एस खलु—यह निश्चय ही। मोहे—मोह का कारण है। एस खलु—यह निश्चय ही। मारे—मृत्यु का कारण है। एस खलु—यह निश्चय ही। णरए—नरक का कारण होने से नरक रूप है। इत्थ—इस प्रकार विषयो मे। गड्ढिए लोए—मूर्छित लोक। जमिण—इस अप्काय का। विरूविरूवेहिं अनेक तरह के। सत्थेहि—शस्त्रो से। उदयकम्म समारम्भेण—अप्कायिक कर्म के समारभ से। उदय सत्थ—अप्काय शस्त्र का। समारम्भमाणे—समारभ-प्रयोग करते हुए। अण्णे—अन्य। अणेग रूवे—अनेक तरह के। पाणे—प्राणियो की। विहिंसई—विविध प्रकार से हिंसा करता है। से—अब। वेमि—कहता हूँ। पाणा—प्राणी। उदय निस्सिया—अप्काय के आश्रित। अणेगे—अनेक। जीवा—जीव। सति—विद्यमान है।

इस तरह चारों आचार का वर्णन कर दिया है। अप्कायिक जीवों की सजीवता का सम्यक्‌बोध प्राप्त करना, ज्ञानाचार है, उस की सजीवता पर दृढ़ विश्वास एवं श्रद्धा रखना दर्शनाचार है, उसकी हिंसा का परित्याग करना चारित्राचार है और उनकी रक्षा के लिए प्रयत्न करना वीर्याचार है। इस तरह एक सूत्र मे चारों आचार का समन्वय कर दिया है। ये चारों आचार ही संयम के आधार हैं। इन से सयुक्त जीवन ही मुनि जीवन है।

कुछ लोग अप्कायिक जीवों के आरम्भ-समारम्भ मे प्रवृत्त होकर भी अपने आप को अनगार कहते हैं। वे भले ही अपने आपको कुछ भी क्यों न कहें? परन्तु वास्तव में वे अनगार नहीं हैं। क्योंकि अभी तक उन्हें न तो अप्काय मे जीवत्व का बोध है और न वे उसके आरम्भ-समारम्भ के त्यागी हैं। अत. वे अभी अनगारत्व से बहुत दूर है।

'से बेमि' मे प्रयुक्त हुआ 'से' शब्द आत्मा (अपने आप) का बोधक है। इस लिए 'से बेमि' का तात्पर्य हुआ कि 'मैं कहता हूँ।'

अप्काय भी पृथ्वीकाय की तरह, प्रत्येक शरीरी, असख्यात् जीवों का पिण्ड रूप एवं अंगुल के असख्यातवें भाग की अवगहना वाले हैं। इस लिए उनके स्वरूप को भली-भांति जानकर मुमुक्षु को सदा उसकी हिंसा से बचना चाहिए। अप्कायिक आरम्भ-समारम्भ के कार्यों से सदा सर्वदा दूर रहना चाहिए। जिससे उनका संयम भी शुद्ध रहेगा और उन्हें आध्यात्मिक शान्ति भी प्राप्त होगी*।

अन्य दार्शिनक जल के आश्रित रहे हुए जीवों को तो मानते हैं, परन्तु जल को सजीव नहीं मानते। इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्--इहं च खलु भो। अणगाराणं उदय जीवा वियाहिया ॥२५॥

छाया—इह च खलु भो! अणगाराणां उदक जीवा. व्याख्याताः।

पदार्थ—खलु—अवधारण अर्थ मे। इह—इस-तीर्थकर भगवान द्वारा प्ररूपित आगम मे। अणगाराण—अनगारो को। उदय जीव—अप्पकाय स्वय सजीव है, यह। वियाहिया—कहा गया है। च—चकार से अप्कायिक जीवो के अतिरिक्त उसके आश्रित रहे हुए द्वीन्द्रिय आदि

*प्रस्तुत सूत्र का वर्णन पृथ्वीकाय के प्रकरण मे सूत्र १७ की व्याख्या के समान समझे।

अन्य जीवो का ग्रहण किया गया है।

मूलार्थ-हे जम्बू! जिनेन्द्र भगवान द्वारा दिए गए प्रवचन मे ही अप्काय मे ही अप्काय को जीवों का पिण्ड माना है और अप्काय- जल को सजीव मानने के साथ यह भी कहा है कि उसके आश्रित द्वीन्द्रिय आदि जीव भी रहते है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि अप्काय-जल सजीव है, सचेतन है। और इस बात को केवल जैन यर्शन ही मानता है। अन्य दर्शनों ने जल में दृश्यमान एवं अदृश्यमान अन्य जीवों के अस्तित्व को स्वीकारा है। परन्तु जल स्वयं सजीव है, इस बात को जैनों के अतिरिक्त किसी भी विचारज्ञ या दार्शनिक ने नहीं माना। वस्तुतः पृथ्वी, जल आदि स्थावर जीवों की सजीवता को प्रमाणित करके जैन दर्शन ने अध्यात्म विचारणा में एक नया अध्याय जोड़ दिया और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनागम सर्वज्ञ प्रणीत हैं।

प्रश्न— यदि अप्काय-जल सजीव है, असंख्यात जीवों का पिण्ड है, तो फिर उसका उपयोग करने पर उसकी हिंसा होगी ही। और जल का उपयोग दुनिया के सभी मनुष्य करते हैं, साधु भी उसका उपयोग करते ही है। ऐसी स्थिति में वे अप्कायिक जीवों की हिंसा से कैसे बच सकते हैं?

उत्तर— जैनागमों में इस विषय पर विस्तार से विचार किया गया है। पानी तीन प्रकार का बताया गया है— १- सचित्त-जीव युक्त, २- अचित्त-निर्जीव और ३-मिश्र, सजीव और निर्जीव का मिश्रण। इस मे सचित्त और मिश्र यह दो तरह का पानी साधु के लिए अग्राह्य है। किन्तु अचित्त जल, जिसे प्रासुक पानी भी कहते हैं, साधु के लिए ग्राह्य बताया गया है। क्योंकि उसमें सजीवता नहीं होने से वह निर्दोष है। आवश्यकता के अनुसार उसका उपयोग करने मे साधु को हिंसा नहीं होती। क्योंकि उसकी प्रत्येक क्रिया यतना एवं विवेक पूर्वक होती है। वह अनावश्यक कोई क्रिया नहीं करता। इस लिए उसे पाप कर्म का वन्ध नहीं होता है।

यहां इस बात को भी समझ लेना चाहिए कि ग्राह्य शस्त्र के प्रयोग से परिणामान्तर को प्राप्त जल अचित्त-निर्जीव होता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्--सत्थं चेत्थं अणुवीइ पासा, पुढो सत्थं पवेइयं ॥२६॥

छाया—शस्त्रं अनुविचिन्त्य पश्य पृथक् शस्त्रं प्रवेदितम्।

पदार्थ—च—अवधारण अर्थ में है। सत्थ—शस्त्र। एत्थ—इस अप्काय में। अणुवीइ—विचार कर। पास—हे शिष्य! तू देख। पुढो—पृथक्-पृथक्। सत्थ—शस्त्र। पवेइय—कहे हैं।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू सोच-विचार कर देख! इस अप्काय मे पृथक् पृथक् शस्त्र बतलाए है, जिन के द्वारा यह अप्पकाय-जल निर्जीव हो जाता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि शस्त्रो के प्रयोग से अप्काय अचित्त हो जाती है। वे शस्त्र—जिनके द्वारा अप्काय निर्जीव होती है, दो प्रकार के बताए गए हैं—१-स्वकाय रूप और २-पर काय रूप अर्थात् अप्काय का शरीर भी अप्काय के लिए शस्त्र हो जाता है और दूसरे तीक्ष्ण निमित या साधनो से अप्काय-जल निर्जीव हो जाता है।

जैनागमों ने जीवों का आयुष्य दो प्रकार का माना है—१-निरुपक्रमी और २-सोपक्रमी। जिन प्राणियों का आयुष्य जितने समय का बन्धा है, उतने समय के बाद ही वे अपने प्राणों का त्याग करते हैं और उसके पहले उनकी मृत्यु नहीं होती, उसे निरूपक्रमी आयुष्य कहते हैं अर्थात् किसी उपक्रम या आघात के लगने पर उनका आयुष्य टूटता नहीं और जो सोपक्रमी आयुष्य वाले जीव होते हैं, उनका आयुष्य शस्त्र आदि का निमित्त मिलने पर जल्दी भी समाप्त हो सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे अपने बांधे हुए आयुकर्म को पूरा नहीं भोगते। आयुकर्म को तो वे पूरा ही भोगते है, यह बात अलग है कि बहुत देर तक भोगने वाले आयुष्य को वे किसी निमित्त कारण शीघ्र ही भोग लेते हैं। जैसे तेल से भरा हुआ दीपक रात्रि पर्यन्त जलता रहता है, परन्तु यदि उसमे एक वर्तिका के स्थान मे दो, तीन या दस-बीस वर्तिका लगा दी जाए तो वह जल्दी ही बुझ जाएगा। रात्रि पर्यन्त चलने वाला तेल अधिक वर्तिका का निमित्त मिलने से जल्दी ही समाप्त हो जाता है। इसी तरह कुछ निमित्त या शस्त्र प्रयोग से सोपक्रमी आयुष्य वाले जीव भी अपने आयुकर्म को जल्दी ही भोग लेते हैं। अप्काय के जीव प्राय. सोपक्रमी आयुष्य वाले होते है, अत शस्त्र का निमित्त मिलने से वे निर्जीव हो जाते हैं। और उस निर्जीव पानी का उपयोग करने मे साधु को हिंसा नहीं लगती।

कुछ प्रतियों में "पुढोसथ पवेइय" के स्थान में "पुढोऽपास पवेइयं" पाठ भी मिलता है। उक्त पाठान्तर मे 'शस्त्र' के स्थान में 'अपाश' शब्द का प्रयोग किया है। अपाश का अभिप्राय है— अबन्धन अर्थात् जिस से कर्म का बन्धन न हो उसे अपाश कहते हैं। इस दृष्टि से पूरे वाक्य का अर्थ होता है—विभिन्न प्रकार के शस्त्र प्रयोग स निर्जीव बना हुआ जल अपाश होता है अर्थात् उसका आसेवन करने से पापकर्म का बन्ध नहीं होता, इस प्रकार भगवान ने कहा है।

जब शस्त्र प्रयोग से अप्काय पानी अचित्त हो जाता है। तो जंगल आदि स्थलों में स्थित पानी धूप–ताप आदि के संस्पर्श से अचित्त हो जाता है, तो क्या साधु उस पानी को ग्रहण कर सकता है ?

नहीं, साधु उस पानी को स्वीकार नहीं करता। एक तो ज्ञान की अपूर्णता के कारण साधु इस बात को भली-भांति जान नहीं सकता कि वह अचित्त हो गया है। और दूसरे में व्यवहार भी ठीक नहीं लगता। इसी दृष्टि से वृत्तिकार ने लिखा है—

"यतो नु श्रूयते-भगवता किल श्री वर्द्धमान स्वामिना विमल सलिल समुल्लसत्तरग: शैवल पटल त्रसादिरहितो महाह्रदो व्यपगताशेष जल जन्तुकोऽचित्त वारि परिपूर्ण स्वशिष्याणा तृड् बाधितानामपि पानाय नानुजज्ञे"

अर्थात् सुना है— कि भगवान महावीर वर्द्धमान स्वामी ने अपने शिष्यों को—जो तृषा से व्याकुल हो रहे थे, अचित्त होने पर भी तालाब का पानी पीने की आज्ञा नहीं दी। इसका कारण व्यवहार शुद्धि रखने का ही है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि साधु को सचित्त जल का उपयोग नहीं करना चाहिए। इसमें केवल अप्कायिक जीवों की हिंसा रूप प्राणातिपात पाप ही नहीं, अपितु अदत्तादान— चोरी का पाप भी लगता है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार अगले सूत्र में कहते हैं—

❀ "पुढोऽपास पवेइयं'— एव पृथक् विभिन्न लक्षणेन शस्त्रेण परिणामितमुदकग्रहणमापाश प्रवेदित—आख्यात भगवता अपाश—अबन्धन शस्त्र परिणामितोदकग्रहणमबन्धनमाख्यातमितियावत्।

—आचाराग सूत्र, २५, टीका

मूलम्--अदुवा अदिन्नादाणं ॥२७॥

छाया—अथवा अदत्तादानम्।

पदार्थ—अदुवा—अथवा। अदिन्नादाण—अदत्तादान-चोरी का भी दोष लगता है।

मूलार्थ—सचित्त जल का उपयोग करने वाले साधु को प्राणातिपात दोष के साथ अदत्तादान-चोरी का भी दोष लगता है।

हिन्दी विवेचन

जैनागमों में साधु के लिए हिंसा एवं आरंभ-समारंभ का सर्वथा त्याग करने की बात कही है और हिसा की तरह झूठ, चोरी आदि दोषों से भी सर्वथा दूर रहने का आदेश दिया है। साधु सचित्त या अचित्त, छोटी या बड़ी कोई भी चीज विना आज्ञा स्वीकार नहीं करता। वह चौर्य कर्म का सर्वथा त्यागी है।

सचित्त जल को ग्रहण करने में जीवों की हिसा भी होती है और चोरी भी लगती है। क्योंकि अप्काय के शरीर पर उन जीवों का अधिकार है। और प्रत्येक प्राणी को अपना शरीर, अपना जीवन प्रिय होता है, वह उसे अपनी इच्छा से छोड़ना नहीं चाहता। जैसे हमे अपना शरीर प्रिय है, हम उस में ज़रा सा अंग भी किसी को काट कर नहीं देना चाहते। वैसे ही अप्कायिक जीव भी स्वेच्छा से अपना शरीर किसी को भी उपयोग के लिए नहीं देते। अत. उनकी विना आज्ञा से सचित्त जल का उपयोग करना चोरी भी है।

तर्क दिया जा सकता है कि जल आदि की उत्पत्ति हमारे उपयोग के लिए हुई है। अतः उसका उपयोग करने में चोरी एवं दोष जैसी क्या बात है? यह केवल तर्क मात्र है। क्योंकि संसार में विष, आदि अन्य पदार्थ भी उत्पन्न हुए हैं। फिर उनका भी उपयोग करना चाहिए क्योंकि सभी पदार्थ उपयोग के लिए उत्पन्न हुए हैं। परन्तु विष का उपयोग कोई भी समझदार व्यक्ति नहीं करता। दूसरी बात यह है कि जैसे मनुष्य यह तर्क देता है, उसी तरह हिंसक जन्तु भी तर्क देने लगें कि मनुष्य के शरीर का निर्माण हमारे खाने के लिए हुआ है, तो मनुष्य को कोई आपत्ति तो नहीं होगी? परन्तु मनुष्य अपने लिए यह नहीं चाहता। फिर अप्काय के लिए यह तर्क देना केवल स्वार्थीपन है।

यदि कोई साधु कुए के मालिक की आज्ञा लेकर पानी का उपयोग करले तो इसमे तो उसे चोरी का दोष नहीं लगेगा? हमे ऊपर से मालुम होता है कि हम

मूलम्--- कप्पइ णो कप्पइ णो पाउं अदुवा विभूसाए ॥२८॥

छाया—कल्पते नः कल्पते नः पातुं अथवा विभूषायै ।

पदार्थ—कप्पाइ—कल्पता है । णे—हम को । कप्पइ—कल्पता है । पाउं—पीने के लिए । अदुवा—अथवा । विभूसाए—विभूषा के लिए ।

मूलार्थ—कुछ विचारक कहते है कि हमे पीने के लिए सचित्त जल का उपयोग करना कल्पता है और कुछ कहते है कि हमे विभूपा अर्थात् स्नान करने एव वस्त्र प्रक्षालन आदि कार्यो के लिए सचित्त जल का उपयोग करना कल्पता है।

हिन्दी विवेचन—

जैनेतर परम्परा में सचित्त जल के संवन्ध में क्या व्यवस्था है, इस वात को प्रस्तुत सूत्र में वताया गया है। यह तो स्पष्ट है कि जल या पानी की सजीवता को जैनों के अतिरिक्त किसी ने माना ही नहीं। इसलिए जैनेतर शास्त्रों में उसकी सजीवता एव उसके निषेध का वर्णन नहीं मिलता। इस कारण जैनेतर परम्परा मे प्रवृत्तमान साधु-सन्यासी सचित्त जल का उपभोग करते हुए संकुचाते नहीं, क्योंकि उन्हें इस वात का बोध ही नहीं कि यह भी जीव है, चेतन है। इसलिए वे उस की हिंसा से बचने का प्रयत्न न करके, सदा उसके आरम्भ-समारम्भ मे संलग्न रहते हैं।

सचित्त जल का उपयोग करने वाले विचारकों में भी मतैक्य नहीं है। आजीविक एवं भस्मस्नायी परम्परा के अनुयायी कहते हैं कि हमारे सिद्धान्त के अनुसार सचित्त जल पीने मे कोई दोष नहीं है और न उसका निषेध ही किया है, परन्तु शारीरिक विभूषा के लिए उसका उपयोग करना अकल्पनीय है। पर, शाक्य और परिव्राजक सन्यासी स्नान एवं पीने दोनों कार्यों के लिए सचित्त जल को कल्पनीय मानते हैं।

यह ठीक है कि जैनेतर परम्परा के विचारकों मे पानी का उपयोग करने मे एकरूपता नहीं है। कुछ सचित्त जल का केवल पीने के लिए उपयोग करते हैं, तो कुछ पीने एव स्नान करने के लिए। जो भी कुछ हो, इतना अवश्य है कि उन्हें उनकी सजीवता का बोध नहीं है और न उन जीवों के प्रति उनके मन में रक्षा की भावना ही है। अत. उनका कथन युक्ति संगत नहीं है। और जिस आगम के आधार से वे सचित्त जल का उपभोग करते हैं, वह आगम भी आप्त-

सर्वज्ञ प्रणीत न होने से प्रमाणिक नहीं माना जा सकता। और अनुमानादि प्रमाणों से हम इस बात को स्पष्ट देख चुके हैं कि जल में सजीवता है। इस लिए सचित्त जल के आसेवन को निर्दोष नहीं कहा जा सकता। सूत्रकार भी इसी विषय मे कहते हैं –

मूलम्— पुढो सत्थेहिं विउट्टन्ति ॥२६॥

छाया – पृथक् शस्त्रैः व्यावर्तयन्ति।

पदार्थ —पुढो—पृथक्। सत्थेहिं— शस्त्रो से। विउट्टति— अप्काय के जीवो का नाश करने हैं।

मूलार्थ— वे नाना प्रकार के शस्त्रो से अप्काय के जीवो का विनाश करते हैं।

हिन्दी विवेचन

यह हम पहले देख चुके हैं कि ज्ञान और आचार का घनिष्ट संबन्ध रहा हुआ है। ज्ञान के अभाव में आचार में तेजस्विता नहीं आ पाती। वह अंधे की तरह इधर-उधर ठोकरें खाता फिरता है। यही बात सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में बताई है कि जिन व्यक्तियों को पानी की सजीवता का परिज्ञान नहीं है, वे अनेक तरह के शस्त्रों से अप्काय-पानी के जीवों का नाश करते हैं।

शस्त्र दो प्रकार के माने गए हैं— १-स्वकाय और २-परकाय। मधुर पानी के लिए क्षार जल तथा शीतल के लिए ऊष्णपानी स्वकाय शस्त्र है और राख-भस्म, मिट्टी, आग आदि परकाय शस्त्र कहलाते है। इन दो प्रकार के शस्त्रों से लोग अप्कायिक जीवों की हिंसा करके कर्मों का बन्ध करते हैं। आश्चर्य तो उन प्राणियो पर होता है, जो अपने आपको साधु कहते हैं और समस्त प्राणियों की रक्षा करने का दावा करते हुए भी उक्त उभय शस्त्रों से अप्काय का विध्वंस करते हैं और उसके साथ अन्य स्थावर एवं त्रस जीवों की हिंसा करते हैं। अत उनका मार्ग निर्दोष नहीं कहा जा सकता।

उनके मार्ग की सदोषता बताकर, अब सूत्रकार उन के आगमों की अप्रामाणिकता का उल्लेख करते हैं—

मूलम्— एत्थवि तेसिं नो निकरणाए ॥३०॥

छाया—अत्रापि तेषां नो निकरणायै ।

पदार्थ – एत्थऽवि – यहा पर भी । तेसिं – उनके द्वारा मान्य सिद्धान्त—शास्त्र । नो निकरणाए – निर्णय करने में समर्थ नही है ।

मूलार्थ—अप्काय की सजीवता के सम्बन्ध मे भी उनके द्वारा मान्य सिद्धान्त या शास्त्र किसी प्रकार का निर्णय करने मे समर्थ नही है ।

हिन्दी विवेचन

तत्त्व का निर्णय करने के लिए प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों तरह के ज्ञान प्रमाण माने गए हैं। अनुमान आदि प्रमाणों के साथ आगम प्रमाण भी मान्य किया गया है । परंतु आगम वही मान्य है, जो आप्त पुरुष द्वारा कहा गया हो। क्योंकि उसमे विपरीतता नहीं रहती। इस कसौटी पर कसकर जब हम आजीविक आदि परम्पराओं के आगम को परखते हैं, वे सर्वज्ञ कथित प्रतीत नही होते।

यथार्थ वक्ता को आप्त कहते हैं । क्योंकि उसमे रागद्वेष नहीं होता, अपने पराए का भेद नहीं होता, कषायों का सर्वथा अभाव होता है और उसके ज्ञान मे पूर्णता होती है। और उसका प्रवचन प्राणिजगत के हित के लिए होता है† । परन्तु जो आप्त नहीं होते हैं, उनके विचारों में एकरूपता, स्पष्टता, सत्यता एवं सर्व जीवों के प्रति क्षेमकरी भावना नहीं होती।

इस दृष्टि से जब हम जैनेतर आगमों का अवलोकन करते हैं, तो वे प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध जीवों की सजीवता के विषय में सही निर्णय नहीं कर पाते। इससे परिलक्षित होता है कि उनमें सर्वज्ञता का अभाव है। क्योंकि प्रथम तो उन्हें अप्कायिक जीवों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है । और दूसरे उनमे राग-द्वेष का सद्भाव है । इसी कारण वे अप्काय के जीवों का आरम्भ-समारम्भ करने का उपदेश देते हैं। इस तरह उनके द्वारा प्ररूपित आगम आप्त वचन नहीं होने से प्रमाणिक नही है और इसी कारण किसी निर्णय पर पहुंचने मे असमर्थ हैं।

विभूषा—स्नान आदि के लिए सचित्त जल का उपयोग करना किसी भी तरह उचित नहीं है। स्नान भी एक तरह का शृंगार है और साधु के लिए शृंगार करने का निषेध किया गया हैं। क्योंकि द्रव्य स्नान से केवल चमड़ी साफ होती है,

† सव्व जग जीव रक्खण दयट्ठाए भगवया पावयण कहिय

—प्रश्नव्याकरण सूत्र

आत्मा की शुद्धि नहीं होती। आत्मा की शुद्धि के लिए अहिंसा, दया, सत्य, संयम और सन्तोष रूपी भाव स्नान आवश्यक हैं। इस लिए साधु को सचित्त या अचित्त किसी भी जल के द्रव्य स्नान में प्रवृत्त न होकर, भाव स्नान में संलग्न रहना चाहिए। वैदिक परम्परा के ग्रंथों में भी ब्रह्मचारी के लिए स्नान आदि शारीरिक शृंगार का निषेध किया गया है। रही प्रतिदिन आवश्यक शुद्धि की बात। उसे साधु अचित्त पानी से विवेक पूर्वक कर सकता है। स्नान नहीं करने का यह अर्थ नहीं है कि वह अशुचि से भी लिपटा रहे। उसका तात्पर्य इतना ही है कि वह अपना सारा समय केवल शरीर को शृंगारने में ही न लगाए। परन्तु यदि कहीं शरीर एवं वस्त्र पर अशुचि लगी है तो उसे अचित्त जल से विवेक पूर्वक साफ कर ले।

इस तरह अप्काय में विवेक रखने वाला ही अप्काय के आरम्भ-समारम्भ से बच सकता है, पानी के जीवों की रक्षा कर सकता है। इस लिए वही वास्तव में अनगार है, मुनि है, त्यागी साधु है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्--एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति तं परिण्णाय मेहावी, णेव सयं उदय सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं उदय सत्थं समारंभावेज्जा, उदय सत्थं समारंभंतेऽवि अण्णे ण समणुजाणेज्जा, जस्सेते उदयसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मे, त्तिबेमि ॥३१॥

छाया---अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाता भवन्ति, अत्र शस्त्रं असमारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति, तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयमुदक शस्त्रं समारभेत्, नैव अन्यैः उदक शस्त्रं समारम्भयेत्, उदक शस्त्र समारभमाणान् अन्यान् न समनुजानियात्, यस्य एते उदकशस्त्र समारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति सः खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा। इति ब्रवीमि।

पदार्थ—एत्थ–इस अप्काय मे। सत्थ–द्रव्य और भाव रूप शस्त्र का। समारम्भमाणस्स–आरभ करने वाले को। इच्चेए–ये सब। आरम्भा–आरभ-समारम्भ। अपरिण्णाया—अपरिज्ञात-कर्म रूप बन्धन के ज्ञान और परित्याग से रहित। भवंति—होते हैं। एत्थ—इस

अप्काय मे। सत्थ—द्रव्य और भाव शस्त्र का। असमारम्भमाणस्स—समारम्भ न करने वाले को। इच्चेते—ये सब। आरम्भा—आरभ-समारभ। परिण्णाया—परिज्ञात। भवति—होते हैं। तं-परिण्णाय—इस आरभ जन्य कर्म वन्धन को जानकर। मेहावी—बुद्धिमान पुरुष। नेव—न तो। सय—स्वय। उदयसत्थ—उदक शस्त्र का। समारभेज्जा—समारभ करे। णेवण्णे—और न अन्य से। उदय सत्थ—अप्काय के शस्त्र का। समारभतेवि—समारम्भ करावे। अण्णे—दूसरो का। समणुजाणेज्जा—अनुमोदन-समर्थन भी न करे। जस्सेते—जो व्यक्ति इन सव। उदय सत्थ समारभा— अप्काय के शस्त्र समारम्भ से। परिण्णाया भवति—परिज्ञात होता है। से हु मुणी—वही मुनि वास्तव मे। परिण्णाय कम्मे—परिज्ञात कर्मा होता है। त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ-अप्कायिक जीवो का शस्त्र से आरभ-समारभ करने वाले व्यक्ति को यह परिज्ञात नही होता कि यह आरभ-समारभ कर्मबन्ध का कारण है। जो अप्काय का आरभ-समारभ नहीं करते, उन को यह सब आरभ एव उन के परिणाम का परिज्ञान होता है। अत बुद्धिमान पुरुष अप्काय के आरभ—समारम्भ को कर्मबन्ध का कारण जानकर न तो स्वय उन का शस्त्र से आरम्भ करे न दूसरे व्यक्ति से आरभ करावे और न किसी आरभ करने वाले व्यक्ति का समर्थन ही करे। जो अप्कायिक जीवो के आरम्भ को भलो-भांति जानता एव त्याग देता है, वहो मुनि वास्तव मे परिज्ञात कर्मा है।

हिन्दी विवेचन—

जो व्यक्ति अप्काय के आरम्भ-समारम्भ में आसक्त रहता है, वह उस वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता है और न उसके कटु फल से ही परिचित है यदि उसको इसका परिज्ञान होता तो वह आरम्भ-समारम्भ से बचने का प्रय करता इस लिए जिस व्यक्ति को अप्काय के आरम्भ-समारम्भ एवं उसके परिण स्वरूप मिलने वाले कटु फल का परिज्ञान है, वह उसमें प्रवृत्ति नहीं करता है इसी वात को सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे वताया है। और अप्काय के आरम्भ समारम्भ में आसक्त व्यक्ति को अपरिज्ञातकर्मा कहा है और उसके त्यागी परिज्ञातकर्मा कहा है।

प्रथम अध्ययन-शस्त्रपरिज्ञा

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में साधुत्व का परिपालन करने के लिए अप्काय-पानी के जीवों की रक्षा करने का आदेश दिया गया है और उसके स्वरूप का सम्यक्तया बोध कराया गया है। चतुर्थ उद्देशक में तेजस्काय के आरम्भ-समारम्भ का त्याग करने का विधान किया गया है। और यह बताया गया है कि अप्काय की तरह तेजस्काय भी सजीव है। उसके आरम्भ-समारम्भ से कर्मों का बन्ध होता है, इत्यादि बातों का चतुर्थ उद्देशक में वर्णन किया है। प्रस्तुत उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार है—

मूलम्— से बेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ॥३२॥

छाया—सः (अहं) ब्रवीमि नैवस्वयं लोकम् अभ्याख्यायेत्, नैवात्मानमभ्याख्यायेत्, यः लोकं अभ्याख्याति सः आत्मानम् अभ्याख्याति यः आत्मानमभ्याख्याति स. लोकमभ्याख्याति।

पदार्थ—से—वह-जिसने सामान्य रूप से आत्म तत्त्व, पृथ्वीकाय और अप्काय के जीवो का वर्णन किया है, वही मैं। बेमि—कहता हूँ। सयं—अपनी आत्मा के द्वारा। लोगं—अग्निकाय रूप लोक का। णेव अब्भाइक्खेज्जा—अपलाप न करे। अत्ताण—आत्मा का। णेव अब्भाइक्खेज्जा—निषेध या अपलाप न करे। जे—जो व्यक्ति। लोयं-अग्निकाय रूप लोक का अब्भाइक्खइ—निषेध करता है। से—वह। अत्ताण—आत्मा का। अब्भाइक्खइ—निषेध करता है। जे-जो। अत्ताणं-आत्मा का। अब्भाइक्खइ-निषेध करता है। से-वह। लोय—अग्निकाय रूप लोक का। अब्भाइक्खइ-निषेध करता है।

मूलार्थ—हे जम्बू। जिस ने पहले तीन उद्देशकों में सामान्य रूप से

आत्मा, पृथ्वीकाय, अप्काय का वर्णन किया है, वह मैं तुम से कहता हूं-मुमुक्षु पुरुष अपनी आत्मा से अग्निकाय रूपलोक का निषेध-अपलाप न करे-और अपनी आत्मा के अस्तित्व का भी अपलाप न करे। जो व्यक्ति अग्नि-काय लोक का अप ाप करता है, वह आत्मा का अपलाप करता है और जो आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है, वह अग्निकाय का निषेध करता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में पृथ्वी और पानी की तरह अग्नि को भी सचित्त-सजीव बताया है। अग्निकाय के जीव भी पृथ्वी-पानी की तरह प्रत्येक शरीरी, असंख्यात जीवों का पिण्ड रूप और अंगुल के असंख्यातवें भाग अवगाहना वाले हैं। उनकी चेतना भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। क्योंकि उसमें प्रकाश और गर्मी है और ये दोनों गुण चेतनता के प्रतीक हैं। जैसे जुगनू में जीवित अवस्था में प्रकाश पाया जाता है, परन्तु मृत अवस्था में उसके शरीर में प्रकाश का अस्तित्व नहीं रहता। अतः प्रकाश जिस प्रकार जुगनू के प्राणवान होने का प्रतीक है, इसी प्रकार अग्नि की सजीवता का भी संसूचक है।

हम सदा देखते हैं कि जीवित अवस्था में हमारा शरीर गर्म रहता है, मृत्यु के बाद शरीर में उष्णता नहीं रहती। और ज्वर के समय जो शरीर का ताप बढ़ता है, वह भी जीवित व्यक्ति का बढ़ता है। अस्तु शरीर में परिलक्षित होने वाली उष्णता सजीवता की परिसूचक है। इसी तरह अग्नि में प्रतिभासित होने वाली उष्णता भी उसकी सजीवता को स्पष्ट प्रदर्शित करती है।

उष्णता और प्रकाश ये दोनों गुण अग्नि की सजीवता के परिचायक है इसके अतिरिक्त अग्नि वायु के बिना जीवित नहीं रह सकती। जिस प्रकार हमें यदि एक क्षण के लिए हवा न मिले तो हमारे प्राण-पंखेरू उड़ जाते हैं, इसी तरह अग्नि भी वायु के अभाव में अपनी जीवन लीला समाप्त कर लेती है। आप देखते हैं कि यदि प्रज्वलित दीपक या अंगारों को किसी बर्तन से ढक दिया जाए और बाहर से हवा को अंदर प्रवेश न करने दिया जाए, तो वे तुरन्त बुझ जाएंगे। किसी व्यक्ति के पहने हुए वस्त्र आदि में आग लगने पर डाक्टर पानी डालने के स्थान में उस शरीर को मोटे कपड़े या कम्बल से ढक देने की सलाह देते हैं। क्योंकि शरीर कम्बल से आवृत्त होते ही, आग को बाहर की वायु नहीं मिलेगी और वह तुरन्त बुझ जायगी।

प्रथम अध्ययन-शस्त्रपरिज्ञा

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में साधुत्व का परिपालन करने के लिए अप्काय-पानी के जीवों की रक्षा करने का आदेश दिया गया है और उसके स्वरूप का सम्यक्तया बोध कराया गया है। चतुर्थ उद्देशक में तेजस्काय के आरम्भ–समारम्भ का त्याग करने का विधान किया गया है। और यह बताया गया है कि अप्काय की तरह तेजस्काय भी सजीव है। उसके आरम्भ-समारम्भ से कर्मों का बन्ध होता है, इत्यादि बातों का चतुर्थ उद्देशक में वर्णन किया है। प्रस्तुत उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार है—

मूलम्— से बेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ॥३२॥

छाया—सः (अहं) ब्रवीमि नैवस्वयं लोकम् अभ्याख्यायेत्, नैवात्मानमभ्याख्यायेत्, यः लोकं अभ्याख्याति सः आत्मानम् अभ्याख्याति यः आत्मानमभ्याख्याति सः लोकमभ्याख्याति।

पदार्थ—से—वह-जिसने सामान्य रूप से आत्म तत्त्व, पृथ्वीकाय और अप्काय के जीवो का वर्णन किया है, वही मैं। बेमि—कहता हूँ। सय—अपनी आत्मा के द्वारा। लोगं—अग्निकाय रूप लोक का। णेव अब्भाइक्खेज्जा—अपलाप न करे। अत्ताण—आत्मा का। णेव अब्भाइक्खेज्जा—निषेध या अपलाप न करे। जे—जो व्यक्ति। लोयं—अग्निकाय रूप लोक का अब्भाइक्खइ—निषेध करता है। से—वह। अत्ताणं—आत्मा का। अब्भाइक्खइ—निषेध करता है। जे–जो। अत्ताण–आत्मा का। अब्भाइक्खइ–निषेध करता है। से–वह। लोय—अग्निकाय रूप लोक का। अब्भाइक्खइ–निषेध करता है।

मूलार्थ—हे जम्बू। जिस ने पहले तीन उद्देशकों में सामान्य रूप से

आत्मा, पृथ्वीकाय, अप्काय का वर्णन किया है, वह मै तुम से कहता हू- मुमुक्षु पुरुष अपनी आत्मा से अग्निकाय रूपलोक का निषेध-अपलाप न करे- और अपनी आत्मा के अस्तित्व का भी अपलाप न करे। जो व्यक्ति अग्नि-काय लोक का अप ाप करता है, वह आत्मा का अपलाप करता है और जो आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है, वह अग्निकाय का निषेध करता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में पृथ्वी और पानी की तरह अग्नि को भी सचित्त-सजीव बताया है। अग्निकाय के जीव भी पृथ्वी-पानी की तरह प्रत्येक शरीरी, असंख्यात् जीवों का पिण्ड रूप और अंगुल के असंख्यातवे भाग अवगाहना वाले हैं। उनकी चेतना भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। क्योंकि उसमें प्रकाश और गर्मी है और ये दोनो गुण चेतनता के प्रतीक हैं। जैसे जुगनू में जीवित अवस्था में प्रकाश पाया जाता है, परन्तु मृत अवस्था मे उसके शरीर में प्रकाश का अस्तित्व नहीं रहता। अत: प्रकाश जिस प्रकार जुगनू के प्राणवान होने का प्रतीक है, उसी प्रकार अग्नि की सजीवता का भी संसूचक है।

हम सदा देखते हैं कि जीवित अवस्था मे हमारा शरीर गर्म रहता है, मृत्यु के बाद शरीर में ऊष्णता नहीं रहती। और ज्वर के समय जो शरीर का ताप बढ़ता है, वह भी जीवित व्यक्ति का बढ़ता है। अस्तु शरीर मे परिलक्षित होने वाली ऊष्णता सजीवता की परिसूचक है। इसी तरह अग्नि मे प्रतिभासित होने वाली ऊष्णता भी उसकी सजीवता को स्पष्ट प्रदर्शित करती है।

ऊष्णता और प्रकाश ये दोनों गुण अग्नि की सजीवता के परिचायक है इसके अतिरिक्त अग्नि वायु के विना जीवित नहीं रह सकती। जिस प्रकार हमे यदि एक क्षण के लिए हवा न मिले तो हमारे प्राण-पंखेरू उड़ जाते है, उसी तरह अग्नि भी वायु के अभाव में अपनी जीवन लीला समाप्त कर लेती है। आप देखते हैं कि यदि प्रज्वलित दीपक या अंगारों को किसी वर्तन से ढक दिया जाए और वाहर से हवा को अंदर प्रवेश न करने दिया जाए, तो वे तुरन्त वुझ जाएंगे। किसी व्यक्ति के पहने हुए वस्त्र आदि मे आग लगने पर डाक्टर पानी डालने के स्थान मे उस शरीर को मोटे कपड़े या कम्वल से ढक देने की सलाह देते हैं। क्योंकि शरीर कम्वल से आवृत्त होते ही, आग को वाहर की वायु नहीं मिलेगी और वह तुरन्त वुझ जायगी।

इससे उसकी सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है)। क्योंकि निर्जीव पदार्थों को वायु की अपेक्षा नहीं रहती। कागज़ के टुकड़े को कुछ क्षण के लिए ही नहीं, बल्कि कई दिन एवं वर्षों तक भी वायु न मिले तो भी उसका अस्तित्व बना रहेगा। परन्तु अग्नि वायु के अभाव में एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती है†।) यदि वह निर्जीव होती तो अन्य निर्जीव पदार्थों की तरह वह भी वायु के अभाव में अपने अस्तित्व को स्थिर रख पाती। परन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः अग्नि को सजीव मानना चाहिए।

इससे स्पष्ट हो गया कि अग्निकाय सजीव है। इसलिए मुमुक्षु को अग्निकाय की सजीवता का निषेध नहीं करना चाहिए और अपनी आत्मा के अस्तित्व का भी अपलाप नहीं करना चाहिए। क्योंकि दोनों में समान रूप से आत्म सत्ता है। अतः जो व्यक्ति अग्निकाय का अपलाप करता है, वह अपनी आत्मा के अस्तित्व से भी इन्कार करता है। और जो अपनी आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है, वह अग्निकाय की सजीवता का भी निषेध करता है। इस तरह आत्म स्वरूप की अपेक्षा से हमारी आत्मा एवं अग्निकायिक जीवों की आत्मा की समानता को बताया है।

आचार्य शीलांक ने 'से बेमि' का अर्थ इस प्रकार किया है— "जिसने पृथ्वी और जलकाय की सजीवता को भली-भाति जानकर उसका प्रतिपादन किया है, वही मैं अनवरत पूर्ण ज्ञान प्रकाश से प्रकाशमान भगवान महावीर से तेजस्काय के वास्तविक स्वरूप को सुनकर तुम्हारे को बताता हूँ‡।

प्रस्तुत सूत्र में तेजस्काय की सजीवता को प्रमाणित करके, अब सूत्रकार उसके आरम्भ से निवृत्त होने का उपदेश देते हुए कहते हैं—

मूलम्--जे दीह लोग सत्थस्स खेयराणे से असत्थस्स खेयराणे जे

---

† न विणा वाउयाएण अगणिकाए उज्जलइ।

—भगवती सूत्र, शतक १६, उद्देशक १

‡ येन मया सामान्यात्मपदार्थ पृथिव्यप्कायजीव प्रविभागव्यावर्णनमकारि स एवाहम् व्यवच्छिन्नज्ञानप्रवाहस्तेजोजीवस्वरूपोपलम्भसमुपजनितजिनवचनसम्पदो ब्रवीमि।

—आचाराग टीका, ३१

असत्थस्स खेयराणे से दीह लोग सत्थस्स खेयराणे ॥३३॥

छाया— यो दीर्घ लोकशस्त्रस्य खेदज्ञः सोऽशस्त्रस्य खेदज्ञः योऽशस्त्र-स्य खेदज्ञः से दीर्घलोक शस्त्रस्य खेदज्ञः।

पदार्थ—जे—जो। दीह लोग सत्थस्स—दीर्घ लोक वनस्पति के शस्त्र-अग्नि का। खेयण्णे—ज्ञाता होता है। से—वह। असत्थस्स—अशस्त्र-सयम का। खेयण्णे—ज्ञाता होता है। जे—जो। असत्थस्स—सयम का। खेयण्णे—ज्ञाता होता है। से—वह। दीह लोग सत्थस्स—अग्नि का। खेयण्णे—ज्ञाता होता है।

मूलार्थ—जो वनस्पतिकाय के शस्त्र अग्नि स्वरूप के परिज्ञाता है, वे संयम को भली-भाति जानने वाले है और जिन्हें सयम के स्वरूप का परि-ज्ञान है, उन्हें अग्नि के स्वरूप का भी बोध है।

हिन्दी विवेचन —

दुनिया में अनेक तरह के शस्त्र हैं। परन्तु अग्नि का शस्त्र अन्य शस्त्रों से अधिक तीक्ष्ण एवं भयावह है। जितनी व्यापक हानि यह करता है, उतनी अन्य किसी शस्त्र से नहीं होती। जरा सी असावधानी से कहीं आग की चिनगारी गिर पड़े, तो सब स्वाहा कर देती है। इसकी लपेट में आने वाला सजीव-निर्जीव कोई भी पदार्थ सुरक्षित नहीं रहता। जब यह भीषण रूप धारण कर लेती है, तो वृक्ष मकान, कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी, मनुष्य जो भी इसकी लपेट में आ जाता है, वह जल कर राख हो जाता है। अग्नि किसी को भी नहीं छोड़ती, गीले-सूखे, सजीव-निर्जीव सब इसकी लपटों में भस्म हो जाते हैं। (अतः आग को सर्वभक्षी कहने की लोक-परम्परा बिल्कुल सत्य है)। और इसी कारण इसे सबसे तीक्ष्ण एवं प्रधान माना गया है। आगम में भी कहा गया है कि अग्नि के समान अन्य शस्त्र नहीं है†। यह पृथ्वी एवं अप्कायिक जीवों के शस्त्र के साथ वनस्पति के जीवों का भी शस्त्र है। और वनस्पति के लिए इसका उपयोग अधिक किया जाता है। घरों में शाक-भाजी बनाने एवं खाने-पकाने के लिए इसी का उपयोग किया जाता है और वांस एवं चन्दन के

† विसप्पे सव्वओ धारे, बहुपाणि विणासणे।
नत्थि जोइसमे सत्थे, तम्हा जोइ न दीवए॥

—उत्तराध्ययन सूत्र ३५, १२

वीहड़ वनों में उनकी पारस्पारिक रगड़ एवं टक्कर से प्राय. आग का प्रकोप होता रहता है। इस लिए इसे वनस्पतिकाय का शस्त्र रूप विशेपण से अभिव्यक्त किया गया है ।

प्रस्तुत सूत्र मे अग्नि शव्द का प्रयोग न करके 'दीर्घ लोक शस्त्र' इतने लम्वे वाक्य का जो प्रयोग किया है, उसके पीछे एक विशेपता रही हुई है । वह यह है कि अग्नि ६ काय का शस्त्र है । जव यह प्रज्वलित होती है, तो अपनी लपेट मे आने वाले किसी भी प्राणी को सुरक्षित नही रहने देती और जब यह जगल मे लगती है, तो वड़े-वडे वृक्षों को जलाकर भस्म कर देती है। और वृक्ष के आश्रय मे रहने वाले सभी स्थावर एवं त्रस जीवों को भस्म कर देती है। वृक्ष पर कृमि, पिपीलिका, भ्रमर आदि त्रस जीव पाए जाते है, उसकी कोटर एवं जड़ों मे पृथ्वी कायिक और ओस के रूप मे अप्कायिक तथा उसके पत्तों को हिलते हुए वायुकायिक जीव भी वहा पाए जाते हैं। इस तरह एक वृक्ष को विध्वंस करने के साथ ६ काय के जीवों का नाश हो जाता है। इसी वात को वताने के लिए सूत्रकार ने 'अग्नि' शव्द का प्रयोग न कर के 'दीर्घ लोक शस्त्र शव्द का प्रयोग किया है।

वनस्पति को दीर्घ लोक कहने का तात्पर्य यह है— स्थावर-एकेन्द्रिय जीवों मे वनस्पतिकायिक जीवों की अवगाहना ही सव से वड़ी है। पृथ्वीकाय, अप्काय तेजस्काय, वायुकाय के शरीर की अवगाहना अगुल के असंख्यातवे भाग है, परन्तु वनस्पतिकायिक जीवों की अवगाहना विभिन्न प्रकार की है । कुछ वनस्पतिकायिक जीवों की अवगाहना एक हजार योजन से भी कुछ अधिक है। आगम मे वनस्पति-काय के सबन्ध मे विस्तृत विवेचन मिलता है, कई जगह उसे दीर्घ लोक भी कहा है। एक बार गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा कि हे भगवन्! वनस्पति-काय में गया हुआ वनस्पतिकाय में ही रहे तो कितने काल तक रहता है ? हे गौतम! यदि वनस्पति मे गया हुआ जीव वनस्पतिकाय मे ही जन्म-मरण करता रहे तो उत्कृष्ट अनन्त जन्म-मरण करता है और काल की अपेक्षा से अनन्त काल तक उसी में परिभ्रमण करता रहता है। इतना ही नहीं, असख्यात् पुद्गल-परावर्तन*

* पुद्गल परावर्तन काल का एक माप है । जैनागम की दृष्टि एक काल क्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दो काल होते हैं, दोनो काल के छ–छ आरे होते हैं और एक काल १० कोडा-कोडी सारगरोपम का होता है, अत पूरा काल चक्र २० कोडा-कोडी सागरोपम का होता है और एक पुद्गल परावर्तन मे अनन्त काल चक्र वीत जाते है।

उसी काय में पूरे कर देता है†। अवगाहना के संबन्ध है पूछे गए प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने कहा---हे गौतम! वनस्पतिकायिक ज़ीवो को उत्कृष्ट अवगाहना एक हज़ार योजन‡ से भी कुछ ऊपर है❀ इस लिए वनस्पतिकाय को आगम में दीर्घ लोक कहा है।

इस दीर्घ लोक-वनस्पतिकाय का विनाशक शस्त्र अग्नि है। इस लिए जो व्यक्ति अग्नि का आरम्भ-समारम्भ करता है, वह ६ काय का विनाश करता है और जो इसके आरम्भ से निवृत्त है वह १७ प्रकार के संयम का आराधक है। इसी वात को प्रस्तुत सूत्र मे इन शब्दों मे अभिव्यक्त किया है कि जो व्यक्ति अग्निकाय क ज्ञाता है अर्थात् उस से होने वाले आरम्भ एव विनाश तथा उससे वन्धने वाले कर्म के स्वरूप को भली-भाति जानता है, वह संयम का भी परिज्ञाता है और जो संयम का का परिज्ञान रखता है, वह अग्निकाय के आरम्भ से भो निवृत्त होता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त "खेयण्णे" शब्द के संस्कृत मे दो रूप वनते है—१-क्षेत्रज्ञ. और २- खेदज्ञः। उभय शब्दों का अर्थ करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है—

"क्षेत्रज्ञो निपुण अग्निकाय वर्णादितो जानातीत्यर्थ। खेदज्ञो वा खेद तद् व्यापार सर्वसत्वाना दहनात्मक पाकाद्यनेक शक्ति कलापोपचित. प्रवरमणिरिव जाज्वल्यमानो लब्धाग्नि व्यपदेशो यतीनामनारम्भणीय तमेवविध खेद अग्निव्यापार जानातीति खेदज्ञ

अर्थात्— अग्नि को वर्णादि रूप से जानने वाले को क्षेत्रज्ञ कहते है और

---

† वणस्सइ काइएण भते। वणस्सइ काइएति कालओ केविच्चिरं होइ? गोयमा! अणत काल अणताओ उस्सप्पिणि-अवसप्पिणिओ कालओ। खेत्ताओ अणता लोया, असखेज्ज पोग्गल परियट्टा तेण पुग्गल परियट्टा आवलियाए असखेज्जइभागे।

—प्रज्ञापना सूत्र, पद १८

‡ लवण समुद्र की गहराई एक हजार योजन की मानी गई है। और उसमे कमल पैदा होता है, उसकी जड समुद्र के धरातल मे गडी होती है और कमल का ऊपरी भाग पानी से ऊपर रहता है। इस अपेक्षा से वनस्पतिकाय के शरीर की ऊंचाई एक हजार योजन से ऊपर मानी गई है।

❀ वणस्सइ काइयाण भते। के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता? गोयमा! साइरेग जोयण सहस्सं सरीरोगाहणा।

प्रज्ञापना सूत्र, अवगहणा पद

अग्नि के दहनादि रूप व्यापार का नाम खेद है और उसका परिज्ञाता खेदज्ञ कहलाता है।

अशस्त्र शब्द का अर्थ है — संयम। क्योंकि शस्त्र से जीवों का नाश होता है, उन्हें वेदना-पीड़ा होती है, परन्तु संयम से किसी भी जीव को वेदना, पीड़ा एवं प्राण हानि नहीं होती। इसलिए संयम को अशस्त्र कहा है। अस्तु जो अग्नि के स्वरूप का ज्ञाता होता है वही संयम का अराधक होता है। और जो संयम के स्वरूप को भली-भाति जानता है, वही अग्निकाय के आरम्भ से निवृत्त होता है। इस तरह सयम एवं अग्निकायिक आरम्भ निवृत्ति का घनिष्ट संवन्ध स्पष्ट किया है।

अब सूत्रकार इस वात को वताते हैं कि यह तत्त्व महापुरुषों के द्वारा जाना एवं कहा गया है—

मूलम्—वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं संजएहिं सया जत्तेहिं सया अप्पमत्तेहिं ॥३४॥

छाया— वीरैः एतत् अभिभूय दृष्टं संयतैः सदा यतैः सदा अप्रमत्तैः।

पदार्थ— संजएहिं—सयत पुरुष। सया—सदा। जत्तेहिं—यत्न-शील। सया—सदा। अप्पमत्तेहिं—प्रमाद रहित, रह कर। वीरेहिं—वीर पुरुषो ने। अभिभूय—परिषहों को जीत कर तथा पूर्णज्ञान को प्राप्त कर। एयं—इस अग्निकाय रूप शस्त्र को। दिट्ठं—देखा है।

मूलार्थ—महाव्रतो के परिपालक, सदा यत्नशील और अप्रमत्त रहने वाले वीर पुरुषो ने परीषह तथा कर्मो को अभिभूत करके प्राप्त केवल ज्ञान के द्वारा अग्निकाय रूप शस्त्र और सयमरूप अशस्त्र को देखा है।

हिन्दी विवेचन —

प्रस्तुत सूत्र में यह वताया गया है कि पूर्व सूत्र में अग्निकाय रूप शस्त्र एवं अशस्त्र रूप संयम के स्वरूप को जानकर अग्निकाय के आरम्भ से निवृत्त हो कर सयम में प्रवृत होने की जो वात कही गई वह नितात सत्य है, क्योंकि वीर पुरुषों ने अर्थात् सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी पुरुषों ने उसे देखा है। अतः अग्निकाय के आरंभ-समारंभ से निवृत्त होने रूप संयम मार्ग सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित होने से वास्तविक पथ है, इसमें संशय को जरा भी अवकाश नहीं है।

इस तरह सूत्रकार ने मुमुक्षु के मन में ज़रा भी संशय पैदा न हो, इस दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र के द्वारा मुमुक्षु के मन का पूरा समाधान करने का प्रयत्न किया है। हम सदा देखते हैं कि जब किसी बात पर किसी प्रमाणिक व्यक्ति की सम्मति मिल जाती है, तो व्यक्ति को उस बात पर पूरा विश्वास हो जाता है। अतः सूत्रकार ने इस बात को परिपुष्ट कर दिया है कि पूर्व सूत्र में कथित मार्ग वीतराग एवं सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित उन्होंने अग्निकाय को शस्त्र रूप में और संयम को अशस्त्र रूप में देखा है। अस्तु प्रस्तुत सूत्र पूर्व सूत्र का परिपोषक है, साधक के मन में जगे हुए विश्वास को दृढ़ करने वाला है और आचार मे तेजस्विता लाने वाला है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'वीर' शब्द तीर्थंकर एवं सामान्य केवलज्ञानी पुरुषों का परिबोधक है। क्योंकि वे राग-द्वेष एवं कषाय रूप प्रबल योद्धाओं को परास्त कर चुके हैं, ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य पर पड़े हुए आवरण सर्वथा अनावृत्त करके पूर्ण ज्ञान, दर्शन सुख एवं वीर्य शक्ति को प्रकट कर चुके हैं अत. वस्तुत. वे ही वीर कहलाने योग्य है और सर्वज्ञ होने के कारण वस्तु के वास्तविक स्वरूप बताने मे भी वे ही समर्थ हैं। इसलिए सूत्रकार ने वीर शब्द का तीर्थंकर एवं सामान्य केवल ज्ञानी के लिए प्रयोग करके इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि पूर्व सूत्र मे कथित मार्ग सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी पुरुषों द्वारा अवलोकित है। केवल अवलोकित ही नहीं, आचरित भी है। यों कहना चाहिए कि पूर्व सूत्र में कथित मार्ग पर गतिशील होकर ही उन्होंने सर्वज्ञता को प्राप्त किया है।

शुद्ध चारित्र परिपालन करने के लिए परीषहों पर विजय पाना जरूरी है। जो साधक अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों में आकुल-व्याकुल नहीं होता, संयम मार्ग से विचलित नहीं होता, उसका चारित्र शुद्ध एवं निर्मल बना रहता है और उस विशुद्ध भावना से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चारों घातिक कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है या यों कहना चाहिए कि अनन्त ज्ञान, दर्शन, आत्म-सुख एवं वीर्य की ज्योति अनावृत्त हो जाती है। साधक की दृष्टि मे पूर्णता आ जाती है, उससे दुनिया की कोई भी वस्तु प्रच्छन्न नहीं रहती। और यह पूर्ण दृष्टि संयम मार्ग पर प्रगति करके ही प्राप्त की गई है और अभी भी की जा रही है तथा भविष्य मे प्राप्त की जा सकेगी। इस अपेक्षा से यह कहा गया है कि पूर्व सूत्र मे कथित मार्ग सर्वज्ञ पुरुषों द्वारा अवलोकित एवं आचरित है। इसलिए साधक को निशंक भाव से उस पथ पर गतिशील होना चाहिए।

संयत, सदायत और अप्रमत्त ये तीनों 'वीर' शब्द के विशेषण हैं। सयत का अर्थ है—विषय-विकार एव सावद्य कार्यों मे प्रवृत्तमान योगों का सम्यक् प्रकार से निरोध करने वाला और सदा विवेक के साथ प्रवृत्ति करने वाले को सदायत कहते हैं। अप्रमत्त का अर्थ है—मद्य, विषय, कषाय, विकथा और निद्रा आदि प्रमाद का परित्याग करने वाला। उक्त गुणों से युक्त पुरुष वीर कहलाता है और ऐसे वीर पुरुष ने इस संयम मार्ग को देखा एवं बताया है।

योगानुसारी प्रस्तुत सूत्र का अर्थ है- अग्निकाय के आरम्भ-समारम्भ से मन, वचन और काय योग का निरोध करना और उससे जो लब्धि प्राप्त हो उसका आत्मिक अभ्युदय के लिए उपयोग करना।

इससे स्पष्ट हो गया कि अग्निकाय का आरम्भ-समारम्भ अनर्थ का कारण है। फिर भी कई विषयासक्त एवं प्रमादी जीव विषय-वासना एवं प्रमाद के वश होकर अग्निकाय का आरम्भ-समारम्भ करते हैं। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्--जे पमत्ते गुणट्ठीए से हु दंडेत्ति पवुच्चइ ॥३५॥

छाया—यः प्रमत्तः गुणार्थिकः सः खलु दण्ड इति प्रोच्यते।

पदार्थ—जे—जो व्यक्ति। पमत्ते—प्रमादी। गुणट्ठीए—गुणार्थी है। से वह। हु—निश्चय ही। दंडेत्ति—दण्ड रूप। पवुच्चइ—कहा जाता है।

मूलार्थ-जो जीव प्रमादी और गुणार्थी है, वे जीव प्राणियो के लिए दण्ड का कारण होने से उन्हे दण्ड रूप कहा जाता है।

हिन्दी विवेचन—

(प्रस्तुत सूत्र मे यह बताया गया है कि जो व्यक्ति प्रमत्त† और गुणार्थी‡ है, वह दण्ड रूप है। क्योंकि प्रमाद एव गुणर्थिता इन दो कारणों से ही व्यक्ति अग्नि के आरम्भ में प्रवृत्त होता है। और विषय- कषाय से युक्त होकर रंधन, पाचन, आताप प्रकाश आदि के लिए अग्निकाय का आरम्भ करता है, इसलिए उसको इस प्रवृत्ति को अकुशल प्रवृत्ति कहा है। और इस प्रवृत्ति से प्राणियों को दण्डित करने का कारण वह है, इसलिए उसे दण्ड रूप भी कहा है। ऐसा देखा गया है कि वस्तु के गुण-दोष

† मद्य, विषय, कषायादि का सेवन करने वाला।

‡ अग्नि रन्धन, पाचन आदि गुणो का आकांक्षी—चाह रखने वाला।

या प्रवृत्ति के अनुसार वस्तु का नाम रख दिया जाता है। गुणानुसारी नाम करण की पद्धति पुरातन काल से चली आ रही है। जैसे घृत आयुवर्द्धक है, इसलिए उसका आयु रूप से निर्देश किया जाता है – "आयुर्वैघृतम्" इसी तरह प्रमादी एवं गुणार्थी जीव अग्निकाय के आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होकर अग्निकायिक एव उन के आश्रय में रहे हुए अन्य त्रस-स्थावर जीवों को दंडित करते हैं, इसलिए उन्हें दण्ड रूप कहा गया है।

प्रमादी और गुणार्थी दण्ड रूप कहा गया है। दण्ड से दुःखों की उत्पत्ति होती है, इस लिए सूत्रकार उसके परित्याग की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—

मूलम्— तं परिण्णाय मेहावी इयाणि णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं ॥३६॥

छाया— तत् परिज्ञाय मेधावी इदानीं नो यदहं पूर्वमकार्षं प्रमादेन।

पदार्थ—तं—इस अग्निकाय के आरम्भ को। परिण्णाय—जानकर। मेहावी—बुद्धिमान यह निश्चय करे। जं—जिस आरम्भ को। पमाएणं—प्रमाद से। अहं—मैंने। पुव्वं—प्रथम। अकासी—किया था, उसको। इयाणि—इस समय। णो—नही करूंगा।

मूलार्थ--अग्निकाय के आरंभ से होने वाले अनर्थ को जान कर बुद्धिमान पुरुष इस बात का निश्चय करे कि प्रमाद के कारण मैं पहले अग्निकाय के आरभ को करता रहा हू, इस समय उसका परित्याग करता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में प्रबुद्ध पुरुष के यथार्थ जीवन का चित्रण किया गया है। इस बात को हम पहले ही बता चुके हैं कि जब तक जीवन में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित नहीं होती, तब तक क्रिया में आचरण में तेजस्विता नहीं आ पाती। इसलिए अग्निकाय के आरम्भ से कितना अनर्थ एवं अहित होता है, इस बात का परिज्ञान होने के बाद मुमुक्षु उस कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान के बाद ही प्रत्याख्यान की अभिरुचि होती है, आचरण की ओर कदम उठता है और ज्ञान पूर्वक किया गया त्याग ही वास्तविक आत्म विकास में सहायक होता है।

भगवती सूत्र में बताया गया है। कि गौतम स्वामी ने भगवान महावीर

सेपूछा— हे भगवन्! कोई जीव यह कहता है कि मैंने प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की हिंसा का त्याग कर दिया है, उसका प्रत्याख्यान-सुप्रत्याख्यान है या दुष्प्रत्याख्यान है? भगवान महावीर ने कहा—हे गौतम! उसका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान भी है और दुष्प्रत्याख्यान भी, भगवान के हकार-नकार युक्त उत्तर को स्पष्ट समझने की अभिलाषा से गौतम स्वामी ने पुन. पूछा—भगवन्! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं? भगवान ने कहा—हे गौतम! जो जीव, जीव-अजीव आदि तत्त्वों को भली-भांति नहीं जानता है, त्रस-स्थावर के स्वरूप को नहीं पहचानता है। वह व्यक्ति यदि कहता है कि मैंने प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों की हिसा का त्याग कर दिया है, तो वह सत्य नहीं, अपितु झूठ बोलता है, तीन करण-तीन योग से असयति है। अव्रती है। पाप कर्म का त्यागी नहीं है। क्रिया युक्त है, असवृत है, एकान्त दण्ड रूप है, एकान्त बाल-अज्ञानी है, इस लिए उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। और जो जीवाजीव एवं त्रस-स्थावर आदि तत्त्वों का ज्ञाता है और वह कहता है कि मैंने प्राण, भूत आदि की हिसा का त्याग कर दिया है, तो वह सत्य बोलता है, तीन करण-तीन योग से सयती है, व्रती है, पाप कर्म का त्यागी है, क्रिया रहित है, सवृत है, एकान्त पडित—ज्ञानी है, इसलिए उस का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है†। अस्तु इससे स्पष्ट हो गया कि ज्ञान पूर्वक किया गया त्याग ही कर्म बन्धन को तोडने में सहायक होता है, निर्जरा का कारण बनता है।

अस्तु प्रस्तुत सूत्र में बताया गया कि मुमुक्षु अग्निकाय के आरम्भ-समारम्भ को जानने के पश्चात् उसमें प्रवृत्त नहीं होता। जब तक वह उसके स्वरूप को भली-भांति नहीं जानता, तब तक प्रमाद के कारण अग्नि का आरम्भ करता है। परन्तु उसका सम्यक्तया ज्ञान होने के बाद वह उसका सर्वथा परित्याग कर देता है अर्थात् पूर्व समय जो आरम्भ किया है उसका पश्चाताप करता है और भविष्य के लिए उसका त्याग कर के विवेक पूर्वक संयम मे प्रवृत्त होता है।

अग्निकाय के संबन्ध मे जैनेतर संप्रदाय का जो अभिमत है, उसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्-- लज्जमाणा पुढ़ो पास-अणगारा मोत्ति एगे पवदमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारम्भेणं अगणिसत्थं समारभमाणे अरणे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति। तत्थ खलु भगवता

---

† भगवती सूत्र, शतक ७, उद्देशक २।

परिण्णा पवेदिता, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाइ-मरण-मोयणाए, दुक्ख-पडिघायहेउं से सयमेव अगणिसत्थं समारंभइ अण्णेहिं वा अगणिसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा अगणिसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहियाए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं इहमेगेसिं णायं भवति--एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभमाणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥२७॥

छाया— लज्जमानान् पृथक् पश्य ! अनगाराः स्मः इत्येके प्रवदमानाः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः अग्निकर्म समारंभेण अग्निशस्त्रं समारभमाणाः अन्यान् अनेक रूपान् प्राणान् विहिंसन्ति । तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता अस्य चैव जीवितस्य परिवंदन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण-विमोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतुं सः स्वयमेव अग्निशस्त्रं समारभते अन्यैर्वा अग्निशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वा अग्निशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानाति, तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधये, सः तत् संबुध्यमानः आदनीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतः अणगाराणामंतिके इह एकेषां ज्ञातं भवति—एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः, इत्यर्थं गृद्धो लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः अग्निकर्म समारम्भेण, अग्नि शस्त्रं समारंभमाणे अन्यान् अनेक रूपान् प्राणान् विहिनस्ति ।

पदार्थ—लज्जमाणा—स्वागमविहित अनुष्ठान करते हुए अथवा सावद्यानुष्ठान के कारण लज्जा का अनुभव करते हुए। पुढो—विभिन्न मतवालो को। पास—हे शिष्य ! देख। अणगारामोत्ति—हम अनगार हैं, इस प्रकार। एगे—कई एक वादी। पवदमाणा—बोलते हुए। जमिण—जो यह प्रत्यक्ष। विरूवरूवेहिं—नाना प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रो से। अगणिकम्मसमारंभेण—अग्नि कर्म समारम्भ से। अगणि सत्थ समारम्भमाणे—अगणि शस्त्र का समारम्भ

प्रयोग करते हुए। अणेगरूवे—अनेक रूप वाले। अण्णे—अन्य। पाणे—प्राणियो की। विहिंसंति-हिंसा करते हैं। तत्थ—अग्निकाय के आरम्भ विषयक। खलु—निश्चय ही। भगवता—भगवान ने। परिण्णा—परिज्ञा। पवेइया—प्रतिपादन की है। इमस्स चेव—इसी। जीवियस्स—जीवन के लिए। परिवंदण-माणण-पूयणाय—प्रशंस, मान-सम्मान और पूजा के लिए। जाई-मरण-मोयणाए—जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए। दुक्खपडिघायहेउं—दुःखो का नाश करने के लिए। से—वह। सयमेव—स्वयमेव। अगणि सत्थ समारम्भइ—अग्निकाय का शस्त्र से समारम्भ करता है। वा—अथवा। अण्णेहिं—दूसरो से। अगणि सत्थं—अग्नि शस्त्र से। समारम्भावेइ—समारम्भ कराता है। वा—तथा। अगणि सत्थ—अग्नि शस्त्र का। समारम्भमाणे—समारम्भ करने वाले। अण्णे—अन्य व्यक्ति का। समणुजाणइ—समर्थन करता है। तं—वह आरम्भ। से—उसको। अहियाए—अहितकर होता है। तं—वह आरम्भ। से—उसको। अबोहियाए—अबोध के लिए होता है। से तं—जिसको यह असदाचरण बता दिया गया है, वह शिष्य। संबुज्झमाणे—अग्नि के आरंभ को पाप रूप जानता हुआ। आयाणीयं—आचरणीय-सम्यग् दर्शनादि को प्राप्त कर। भगवओ—भगवान के समीप। वा—अथवा। अणगाराणा—अणगारो के समीप। सोच्चा—सुनकर। इह—इस लोक मे। एगेसिं—किसी किसी व्यक्ति को। णाय—ज्ञात हो जाता है। एस खलु—यह अग्निकाय का समारम्भ-निश्चय ही। मोहे—मोह का कारण है। एस—यह। खलु—निश्चय ही। गंत्थ—अष्ट कर्म की गांठ है। एस खलु—यह निश्चय ही। मारए—मृत्यु का कारण है। एस खलु—यह निश्चय ही। णरए—नरक का कारण है। इच्चत्थ—इस अर्थ के लिए। गड्ढिए—मूर्छित। लोए—लोक है। जमिण—जो यह प्रत्यक्ष। विरूवरूवेहिं—नाना प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रो से। अगणि कम्मसमारम्भमाणे—अग्नि का समारम्भ करते हुए। अण्णे—अन्य। पाणे—प्राणियो की भी। विहिंसइ—हिंसा करते है।

मूलार्थ—हे जम्बू! तू इन विभिन्न धर्मानुयायियो को देख, जो स्वागमानुसार साधु क्रिया करके लज्जित होते हुए भी अपने आप को अनगार कहते है। यह स्पष्ट है कि वे विभिन्न शस्त्रो से, अग्निकर्म समारंभ से अग्निकायिक जीवो एवं अन्य अनेक तरह के त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा करते है। अतः भगवान ने परिज्ञा-विशिष्ट ज्ञान से यह प्रतिपादन किया है कि प्रमादी जीव इस क्षणिक जीवन के लिए, प्रशंसा मान-सम्मान एवं पूजा पाने के हेतु, जन्म मरण से छुटकारा पाने की अभिलाषा से, तथा शारीरिक एवं मानसिक दुःखो के विनाशार्थं स्वयं अग्नि का आरंभ करते

हैं, दूसरे व्यक्ति से कराते है और करने वाले को अच्छा समझते है। परन्तु यह समारम्भ उनके लिए अहितकर है, अबोध का कारण है। इस प्रकार भगवान से या अनागारो से सुन कर सम्यक्बोध को प्राप्त हुए किसी किसी व्यक्ति को यह ज्ञात हो जाता है कि यह अग्नि समारभ अष्ट कर्मो की गाठ है, यह मोह का कारण है, यह मृत्यु का कारण है और यह नरक का भी कारण है। फिर भी विपय-भोगो मे मूर्छित-आसक्त व्यक्ति अग्नि काय के समारम्भ से निवृत्त नही होता। वह प्रत्यक्ष रूप से विभिन्न शस्त्रो के द्वारा अग्निकायिक जीवो की हिसा करता हुआ अन्य अनेक जीवो की भी हिसा करता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र पृथ्वी काय और अप्काय के प्रकरण में सूत्र १६, १७ और २४ के सूत्र की तरह ही है। केवल इतना ही अन्तर है कि वहां पृथ्वी एवं अप्काय का वर्णन है और यहां तेजस्काय समझना चाहिए। शेप व्याख्या उसी प्रकार होने से यहां पिप्ट-पेपण करना उचित नहीं जंचता।

अब सूत्रकार अग्निकाय समारम्भ से अन्य जीवों की जो हिंसा होती है, उसका उल्लेख करते हैं—

मूलम् —से बेमि—संति पाणा पुढविणिस्सिया, तणणिस्सिया, पत्तणिस्सिया, कट्ठणिस्सिया, गोमयणिस्सिया, कयवरणिस्सिया, संति संपातिमा पाणा आहच्च संपयन्ति; अगणिं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघायमावज्जंति; ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति ॥३८॥

छाया— सः (अहं) ब्रवीमि सन्तिप्राणाः पृथिवीनिश्रिताः, तृण निश्रिताः, पत्रनिश्रिताः, काष्ठ निश्रिताः गोमयनिश्रिताः, कचवरनिश्रिताः, सन्ति सम्पातिमाः प्राणाः आहत्य सम्पतन्ति, अग्निं (अग्निना) च खलु स्पृष्टाः एके

सघातमापद्यन्ते ये तत्र पर्यापद्यन्ते ते तत्र अपद्रावन्ति।

पदार्थ—से बेमि—वह मैं कहता हूँ। सति—विद्यमान हैं। पाणा—प्राणी। पुढविनिस्सिया—पृथ्वीकाय के आश्रय मे। तणणिस्सिया—तृणो के आश्रित। पत्तणिस्सिया—पत्तो के आश्रित। गोमयनिस्सिया—गोवर के आश्रित। कयवरणिस्सिया—कूडे-कर्कट के आश्रित। सति—विद्यमान हैं। संपातिमा—उडने वाले। पाणा—प्राणी। आहच्च—कदाचित्। सपयंति—अग्नि मे गिर पडते हैं। च—फिर। अगणि—अग्नि को। पुट्ठा—स्पर्श होते हैं। खलु—निश्चय ही। एगे—कोई। संधायमावज्जति—शरीर सकोच को प्राप्त होते है। ते—वे जीवी। तत्थ—वहा पर। परियावज्ज ति—मूर्छित होते हैं। ते—वे जीव। तत्थ—वहा पर। परियावज्जति—मूर्छित होते हैं। ते—वे जीव। तत्थ—वहा पर। उद्दायति—प्राणो को छोड देते हैं अर्थात् निर्जीव हो जाते हैं।

हे जम्बू! अग्निकाय के आरम्भ मे विभिन्न जीवो की जो हिंसा होती है, वह मैं तुम से कहता हू। पृथ्वी के आश्रय मे तथा तृण काष्ठ, गोबर, कूडे-कर्कट के आश्रय मे निवसित विभिन्न तरह के अनेक, जीव और इसके अतिरिक्त आकाश मे उडने वाले जीव-जन्तु, कीट पतगे एवं पक्षी आदि जीव भी कभी प्रज्वलित आग मे आ गिरते है और उसके (आग के) सस्पर्श से उनका शरीर सकुचित हो जाता है और वे मूर्छित होकर अपने प्राणो को त्याग देते है।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके है कि अग्नि सबसे तीक्ष्ण शस्त्र है। इसकी प्रज्वलित ज्वाला की लपेट में आने वाला सजीव या निर्जीव कोई भी पदार्थ अपने रूप में सुरक्षित नहीं रह सकता। वह पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक जीवों का विनाश करने के साथ उनके आश्रय में निवसित त्रस जीवों को भी जलाकर भस्म कर देती है। उसकी लपेट मे आने वाले जीवों के कुछ नाम गिनाते हुए प्रस्तुत सूत्र मे कहा गया है कि पृथ्वी, तृण, पत्ते, काष्ठ, गोवर एवं कूड़े-करकट मे स्थित जीवों को तथा आकाश में उड़ने वाले जीव-जन्तु कभी आग मे गिर पडे तो वह उनके प्राणों का नाश कर देती है।

यह तो स्पष्ट है कि आग पृथ्वी पर प्रज्वलित होती है और पृथ्वी के आश्रय में अनेक जीव निवसित हैं। कृमि, पिपीलिका, कीड़े-मकोडे, बिच्छू, सर्प, मेडक तथा वृक्ष, लता वेल आदि के जीव पृथ्वी के आधार ही स्थित हैं। अत. जब आग

लगती है तो इनमें से अनेक जीवों की हिंसा होना संभव है।

आग को प्रज्वलित करने मे तृण, काष्ठ और गोवर का प्रयोग किया जाता है तथा घर के या गलियो के कूड़े-कर्कट को एकत्रित करके उसमे आग लगा दी जाती है। उसे दूर जंगल में लेजाकर फैकने के श्रम से वचने के लिए उसमे आग लगा कर समय एवं श्रम को वचा लिया जाता है। परन्तु इससे अनेक जीवो की हिंसा हो जाती है। क्योंकि तृण, काष्ठ एवं गोवर के आश्रय मे पतगे, भ्रमर, लट, घुण, कुंथुवे, आदि अनेक जीव-जन्तु रहते है और कूड़े-कर्कट में तो विभिन्न त्रस जीव रहते हैं—कीड़े-मकोड़े, पिपीलिका आदि का पाया जाना तो साधारण सी वात है। अस्तु इनको जलाने मे अनेक जीवो की हिंसा हो जाती है।

इसके अतिरिक्त जव आग जलती है, तो आकाश मे उड़ने वाले मक्खी, मच्छर, भ्रमर एवं अन्य पक्षी गण कभी-कभी उसमे आ गिरते हैं। और उसका ज्वाजल्य मान ऊष्ण संस्पर्श पाकर उनका शरीर सिकुड़ जाता है, वे तुरन्त मूर्च्छित होकर प्राण त्याग देते हैं।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुचे कि अग्नि का समारम्भ सवसे भयानक है। इसमे छ काय के जीवो की हिंसा होती है। इसलिए वुद्धिमान पुरुष को उसका परित्याग करना चाहिए। इसी वात की प्रेरणा देते हुए अगले सूत्र मे कहा है—

मूलम्---एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरम्भा अपरिणाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिणाया भवंति, तं परिणाय मेहावी णेव सयं अगणिसत्थं समारंभेज्जा, नेवऽण्णेहिं अगणिसत्थं समारम्भावेज्जा अगणिसत्थं समारम्भमाणे अण्णे न समणुज्जाणेज्जा, जस्सेते अगणिकम्म समारम्भा परिणायो भवंति से हु मुणी परिणायकम्मे,—त्तिवेमि ॥३९॥

छाया— अत्र शस्त्रं समारम्भामणस्य इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाताः भवंति, अत्र शस्त्रमसमारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः भवंति, तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं अग्निशस्त्रं समारभेत् नैवान्यैः अग्निशस्त्रं समारम्भयेत्, अग्नि शस्त्रं समारभमाणान् अन्यान् न समनुजानीयात यस्यैते अग्निकर्म

समारम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति सः खलु मुनिः परिज्ञात कर्मा इति ब्रवीमि।

पदार्थ—एत्थ—अग्निकाय के विषय मे। सत्थ—स्वकाय और परकाय रूप शस्त्र का। समारम्भमाणस्स—समारम्भ करने वाले को। इच्चेते—ये। आरम्भा—आरभ। परिण्णाया भवन्ति—कर्म वन्ध के हेतु है। त—उस अग्नि समारभ को। परिण्णाय—परिज्ञात करके। मेहावी—वुद्धिमान। णेव—नही। सयमेव—स्वयमेव। अगणि सत्थ—अग्नि शस्त्र का। समारम्भेज्जा—समारभ करे। णेवऽण्णेहिं—न अन्य से। अगणि सत्थ—अग्नि शस्त्र का समारभावेज्जा—समारभ करावे। अगणि सत्थ—अग्नि शस्त्र का। समारंभमाणे—समारभ करने वाले। अण्णे—अन्य व्यक्ति का। न समणुजाणेज्जा—अनुमोदन भी न करे। जस्सेते—जिसके ये। अगणि कम्म समारभा—अग्नि कर्म समारंभ। परिण्णाया—परिज्ञात। भवति—होते हैं। से हु मुणी—निश्चय पूर्वक वही मुनि। परिण्णाय कम्मे—परिज्ञात कर्मा है। त्तिवेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो व्यक्ति स्वकाय एव परकाय रूप शस्त्र अग्निकायिक जीवो का आरम्भ करता है, वह इस बात से अपरिज्ञात होता है कि यह आरम्भ कर्मबन्ध का कारणभूत है। जो व्यक्ति अग्नि का आरम्भ नही करता वह उसके कर्मबन्ध के कारण से परिचित होता है। अतः अग्नि के आरम्भ को कर्मबन्धन का कारण जानकर वुद्धिमान पुरुष को न स्वय अग्नि का आरम्भ करना चाहिए, न दूसरे व्यक्ति से आरम्भ कराना चाहिए और आरभ करते हुए व्यक्ति का समर्थन ही करना चाहिए। जिस मुमुक्षु पुरुष को ऐसा बोध है कि यह समारम्भ कर्म बन्ध का कारण है, वास्तव मे वही मुनि परिज्ञात कर्मा कहा गया है।

हिन्दी विवेचन

जो व्यक्ति ज्ञ परिज्ञा द्वारा अग्निकाय के स्वरूप का परिज्ञान करके, प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा अग्नि का आरम्भ-समारम्भ का परित्याग करता है, वही वास्तव मे मुनि है, परिज्ञात कर्मा है। इस संबन्ध में दूसरे और तीसरे उद्देशक के अन्तिम सूत्र की व्याख्या में विस्तार से लिख चुके हैं, अतः उस प्रकरण में देख लेना चाहिए। 'त्तिबेमि का अर्थ भी पूर्ववत् समझना चाहिए।

॥ शस्त्रपरिज्ञा चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

प्रथम अध्ययन-शस्त्रपरिज्ञा

पंचम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक में अग्निकायिक जीवों का वर्णन किया गया है और उसके आरम्भ-समारम्भ का परित्याग करने की प्रेरणा दी गई। इसी क्रम से प्रस्तुत उद्देशक में वायुकाय का वर्णन करना चाहिए था। परन्तु, यहां पर सूत्रकार ने वायुकाय के स्थान में वनस्पतिकाय का विवेचन किया है। इस क्रम उल्लंघन का कारण यह है कि पांच स्थावरों मे वायुकाय चाक्षुष ग्राह्य न होने से शिष्य के समक्ष में जल्दी नहीं आ सकतो। इसलिए पहले चारों स्थावरों एवं त्रस का वर्णन करके, फिर वायु काय का वर्णन करेंगे। इससे यह लाभ होगा कि चार स्थावर एवं त्रस जीवों का स्वरूप स्पष्ट हो जाने के पश्चात् वायु के स्वरूप को समझने में कठिनाई नहीं होगी। इस तरह शिष्य के हित को सामने रख कर प्रस्तुत उद्देशक में वायुकाय के स्थान में वनस्पतिकायिक जीवों का वर्णन किया गया है। और उसका प्रथम सूत्र निम्नोक्त है —

मूलम् — तं णो करिस्सामि समुट्ठाए, मत्ता मइमं, अभयं, विदित्ता, तं जे णो करए, एसोवरए, एत्थोवरए, एस अणगारेत्ति पवुच्चई ॥४०॥

छाया—तत् नो करिष्यामि समुत्थाय मत्वा मतिमन् ! अभयं विदित्वा, तं यो नो कुर्यात्, एष उपरतः, अत्रोपरतः एष अनगार इति प्रोच्यते।

पदार्थ - त —उस वनस्पतिकाय का आरम्भ। णो करिस्सामि - नहीं करूंगा। समुट्ठाए — सम्यक् प्रव्रजित होकर। मत्ता—जीवादि पदार्थो को जानकर। मइम—हे मतिमान् शिष्य! अभय —सयम को। विदित्ता—जानकर। तं — उस वनस्पतिकाय के आरभ—हिंसा को। जे—जो। णो करए—नहीं करता है। एसोवरए—वही उपरत—निवृत है। एत्थोवरए—जिन मार्ग मे ही ऐसा त्यागी मिलता है, अन्यत्र नहीं। एस—यही त्यागी। अणगारेत्ति—अनगार। पवुच्चई—कहा जाता है।

मूलार्थ—हे शिष्य ! जो व्यक्ति सर्वज्ञोपदिष्ट मुनिधर्म को स्वीकार करके तथा जीवाजीव आदि पदार्थों को भली-भाति जान कर और सयम साधना का सम्यक् परिबोध करके, यह निश्चय करता है कि मै वनस्पतिकाय का आरम्भ-समारभ नही करूंगा, वही व्यक्ति वनस्पतिकायिक जीवो के आरम्भ से उपरत-निवृत कहा जाता है और ऐसे त्यागनिष्ठ एव निवृत्ति-प्रधान जोवन की साधना जिन मार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र उपलब्ध नही होता । ऐसे त्यागी साधक को ही अनगार कहा जाता है ।

हिन्दी विवेचन

प्राणी अनन्त काल से मोह एवं वासना के घोर अन्धकार में भटकता रहा है । अनेक तरह से विषयेच्छा को पूरी करने का प्रयत्न करने पर भी उसकी इच्छा की तृप्ति नहीं हो पाती । तृष्णा की भूख नहीं बुझती । यों कहना चाहिए कि उसकी तृष्णा, आकांक्षा एवं वासना की क्षुधा तृप्त होने के स्थान मे प्रतिपल बढ़ती है और वह भोगेच्छा के वश होकर अनेक तरह से वनस्पतिकायिक जीवों की हिसा करता है । अपने विलास एवं सुख के लिए रात-दिन विभिन्न प्रकार की हरितकाय शाक-सब्जी एवं फल-फूलों के जीवों के आरम्भ-समारम्भ में संलग्न रहता है । इस तरह प्रमाद एवं मोह के वश मे हुआ प्राणी वनस्पति काय की हिसा करके कर्मों का बन्ध करता है । और फल स्वरूप दु:ख एवं जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाता है ।

वनस्पतिकाय का आरम्भ दु:ख की परम्परा में अभिवृद्धि करने वाला है । इस बात को बताते हुए सूत्रकार ने स्पष्ट कर दिया है कि जो बुद्धिमान पुरुष वनस्पतिकाय के आरंभ-समारंभ को तथा जीवाजीव आदि तत्त्वों का परिज्ञान कर के, संयम मार्ग पर गति करता है, वही वनस्पतिकाय के आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त होता है और वही व्यक्ति दु.ख परम्परा का था यों कहिए कर्म बीज का सर्वथा उन्मूलन कर देता है ।

प्रस्तुत सूत्र ज्ञान और चारित्राचार के समन्वय का आदर्श लिए हुए है । यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि चारित्र का मूल्य ज्ञान के साथ है । सम्यग् ज्ञान के अभाव मे की जाने वाली क्रिया एवं तप-जय का आध्यात्मिक विकास या मोक्ष मार्ग की दृष्टि से कोई विशेष मूल्य नहीं है । और यही कारण है कि

प्रशंसा एवं भौतिक सुख पाने की इच्छा-आकांक्षा से अज्ञान पूर्वक की जाने वाली क्रिया एवं जप-तप एवं विना आकांक्षा के सम्यग् ज्ञान पूर्वक आचरित त्याग-तप के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं हैं। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने 'त णो करिस्सामि' के साथ 'मत्ता' पद का उल्लेख किया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार में ज्ञान के साथ ही तेजस्विता आती है, चमक बढ़ती है। अस्तु ज्ञान और क्रिया या आचार और विचार का समन्वय ही मोक्ष मार्ग है, अपवर्ग की राह है*।

ज्ञान पूर्वक किए जाने वाले त्याग को ही त्याग कहने के पीछे एक मात्र यही उद्देश्य रहा हुआ है कि जब तक व्यक्ति वस्तु के हेय-उपादेय स्वरूप को भली-भाति नहीं जान लेता है, तब तक वह उसका परित्याग या स्वीकार नहीं कर पाता और कभी भावावेश या किसी प्रलोभन में आकर त्याग कर भी देता है, तो उसका सम्यक्तया परिपालन नहीं कर पाता। क्योंकि उसके गुण-दोष एवं स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण वह अपने लक्ष्य से च्युत हो जाता है, भटक जाता है†। अस्तु त्याग के पूर्व जीवाजीव का ज्ञान होना जरूरी है। यही बात प्रस्तुत सूत्र मे बताई गई है।

इसके अतिरिक्त यह भी बताया गया है कि वनस्पति जीवों के आरम्भ-समारम्भ से सर्वथा निवृत्त एवं पूर्ण त्यागी मुनि जिन मार्ग मे ही उपलब्ध होते हैं, यह बात "तत्थोवरए—एतस्मिन्नुपरत" पद से अभिव्यक्त की है। टीकाकार ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"एतस्मिन्नेव जैनेन्द्रे प्रवचने परमार्थत उपरतो नान्यत्र" इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जैनेतर संप्रदाय के साधु—मुनि त्यागी होते ही नहीं। हम इस बात को मानते हैं कि धन, वैभव एव गृहस्थ के त्यागी सन्त जैनेतर सम्प्रदायों मे भी मिलते हैं। और प्राय सभी सम्प्रदायों के धर्म-ग्रन्थों मे त्याग प्रधान मुनि जीवन का विधान भी मिलता है। परन्तु आरम्भ-समारम्भ के कार्यों से जितनी निवृत्ति एवं त्याग जिन मार्ग पर गतिशील मुनियों मे पाया जाता है, उतना अन्यत्र नहीं मिलता। यह हम पहले ही बता चुके है कि पृथ्वी, पानी आदि एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा मे सावधानी

---

* नाण किरिया रहिय किरिया मेत्त च दोऽवि एगतो।
न समत्था दाउ जे जम्ममरण दुक्ख दाहाइ ॥

† इस बात को हम अग्निकाय के प्रकरण मे भगवती सूत्र का उदाहरण देकर स्पष्ट कर चुके हैं।

एवं विवेक जैनेतर सम्प्रदाय के साधुओं मे नहीं पाया जाता। अत: उत्कट त्याग वृत्ति को जीवन मे साकार रूप देने वाले तथा सावद्य कार्यों से सर्वथा निवृत्त साधुओं को विशिष्ट त्यागी एवं वास्तविक अनगार कहा जाए तो इसमे कोई अतिशयोक्ति नहीं है और न किसी सम्प्रदाय के साधु की अवहेलना करने का ही भाव है।

"एस अणगारोत्ति पवुच्चई" का अर्थ है— जो साधक वनस्पतिकाय की हिंसा से निवृत्त है, किसी भी प्राणी को भय नहीं देता है, वही अनगार कहा गया है।

अनगार के स्वरूप का वर्णन करके अब सूत्रकार ससार एवं संसार-परिभ्रमण के कारण के संबन्ध मे कहते हैं—

मूलम् – जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे ॥४१॥

छाया—यो गुणः स आवर्त्तः, य आवर्त्तः स गुणः।

पदार्थ—जे – जो। गुणे—शब्दादि गुण। से—वह। आवट्टे—आवर्त्त—ससार है। जे—जो। आवट्टे—ससार है। से—वह। गुणे—गुण है।

मूलार्थ-जो शब्दादि गुण है, वास्तव मे वही ससार है और जो ससार है, वास्तव मे वही गुण है।

हिन्दी विवेचन

यह संसार क्या है? इसके सबन्ध मे दार्शनिकों एवं विचारकों के मन मे यह प्रश्न उठता रहा है, तर्क-वितर्क होता रहा है। परन्तु ससार के वास्तविक स्वरूप को जानने मे सफलता नहीं मिली। प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने इसका वास्तविक समाधान किया है। सूत्रकार के शब्दों मे हम देख चुके हैं कि शब्दादि गुण ही संसार है और संसार ही गुण है। इस तरह संसार और गुण का पारस्पारिक कार्य-कारण भाव है।

जो श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन पांचों इन्द्रियों के शब्द, रूप गन्ध, रस और स्पर्श ये पाच विषय हैं, उन्हें गुण कहते हैं। और आवर्त्त संसार का परिवोधक है—आवर्त्तन्ते – परिभ्रमन्ति प्राणिनो यत्र स आवर्त्त – ससार' अर्थात् जिसमें प्राणियों का आवर्त्त—परिभ्रमण होता रहे उसे आवर्त्त—संसार कहते है।

शब्दादि विषय संसार परिभ्रमण के कारण है। क्योंकि इन से कर्म का वन्ध होता है और कर्म वन्ध के कारण आत्मा ससार मे परिभ्रमण करती है। इस तरह

ये विषय या गुण संसार का कारण। और शब्दादि गुणों से कर्म बन्धते है, कर्म से आत्मा में गुणों की परिणति होती है। इस दृष्टि से गुण को संसार कहा गया है। और दोनों जगह कारण मे कार्य का आरोप होने से गुणों को संसार एवं संसार को गुण कहा गया है।

वस्तुतः देखा जाए तो राग-द्वेष युक्त भावों से गुणों में या विषयों मे प्रवृत्ति करने का नाम ही संसार है। क्योंकि संसार मे परिलक्षित होने वाली विभिन्न गतियें एवं योनियें राग-द्वेष एव गुणों-विषयों की आसक्ति पर ही आधारित है। राग-द्वेष से कर्म बन्धते हैं, कर्म बन्ध से जन्म-मरण का प्रवाह चालू रहता है और जन्म मरण ही वास्तविक दुःख है। इससे स्पष्ट हो गया कि संसार का मूल राग-द्वेष है, गुण है, विषय-विकार है।

'गुण' शब्द में एक वचन का प्रयोग किया है। इस से गुण शब्द व्यक्ति से भी संबन्धित है। जब उसका संबन्ध व्यक्ति के साथ जोडते है, तो प्रस्तुत सूत्र का अर्थ होगा—जो व्यक्ति शब्दादि गुणों मे प्रवृत्त है, वह संसार मे परिभ्रमणशील है और जो व्यक्ति संसार मे गतिमान है वह गुणों मे प्रवृत्तमान है।

यहां यह प्रश्न उठना स्वभाविक है कि जो व्यक्ति गुणों में प्रवृत्त है, वह संसार मे वर्त्तता है, यह कथन तो ठीक है, परन्तु जो संसार मे वर्तता है, वह गुणों मे वर्तता है। यह कथन युक्ति संगत प्रतीत नही होता। क्योंकि संयमशील साधु संसार मे रहते है परन्तु गुणों में प्रवृत्ति नही करते। अतः संसार-वर्ती को नियम से गुणों मे प्रवृत्तमान मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

यह ठीक है कि यहा गुणों का अर्थ राग-द्वेष युक्त गुणों मे प्रवृत्ति करने से लिया गया है। क्योंकि गुणों मे प्रवृत्ति होने मात्र से कर्म का बन्ध नही होता, कर्म का बन्ध राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति से होता है। यह सत्य है कि संयम से बन्ध नहीं, कर्मों की निर्जरा होती है। परन्तु छटे गुणस्थान से संयम के साथ जो सरागता है, उससे भी कर्म का बन्ध होता है। यह नितात सत्य है कि सावद्य कार्य मे प्रवृत्ति न होने के कारण पाप कर्म का बन्ध नहीं होता, परन्तु धर्म, गुरु एव सत्य, अहिंसा आदि सिद्धान्त पर सराग भाव होने से पुण्य का बन्ध होता है और इसी कारण छटे गुणस्थान मे देवलोक का आयु कर्म बन्धता है। देव आयुष्य के बन्ध मे बताए गए चार कारणों मे सराग संयम को भी एक कारण बताया गया है और देवलोक भी संसार ही है। यह ठीक है कि छटे गुणस्थान मे प्रवर्तमान साधु संसार को अधिक लम्बा नही बढ़ाता, परन्तु जब तक सरागता है तब तक शुभ कर्मका अनुबन्ध तो करता ही है इस अपेक्षा से यहाँ संसार

में भी वर्तता हुआ गुणों में भी प्रवृत्ति करता है।

यह सत्य है कि वीतराग संयम में प्रवृत्तमान साधु या सर्वज्ञ संसार में प्रवर्तते हुए भी कर्म को नहीं बांधते और न स्वर्ग का द्वार ही खटखटाते हैं। क्योंकि उन्होंने राग-द्वेप का समूलतः उन्मूलन कर दिया है। राग-द्वेप कर्म वृक्ष का वीज है, मूल है और जब बीज एवं मूल ही नष्ट हो गया तब फिर कर्म की शाखा-प्रशाखा का पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होना तो असंभव ही है। इस दृष्टि से उनके कर्मों का वन्ध नहीं होता। उनमें राग-द्वेप का अभाव होने के कारण उस रूप में गुणों में प्रवृत्ति नहीं होती। परन्तु जब तक योग का व्यापार चालू है तब तक सामान्य रूप से तो गुणों में प्रवृत्ति होती है। बस; अन्तर इतना ही है कि राग-द्वेप युक्त जीवों के कर्म का वन्ध होता है और वीतराग पुरुषों के कर्म का वन्ध नहीं होता। या यों कहिए उन की प्रवृत्ति ऐसे गुणों में नहीं होती जो कर्म वन्ध के कारण है। अतः इस आपेक्षा से जो संसार मे प्रवर्तते हैं वे गुणों में प्रवृत्तमान हैं, ऐसा कहना अनुचित एवं आपत्ति जनक प्रतीत नहीं होता।

प्रस्तुत उद्देशक वनस्पतिकाय से सम्वन्धित है। अत इसमें वनस्पतिकायिक जीवों सम्बन्धी वर्णन होना चाहिए। फिर इसमें शब्दादि विपयों का अप्रासंगिक वर्णन क्यों किया गया?

प्रस्तुत उद्देशक में शब्दादि गुणों का वर्णन ऊपर से अप्रासंगिक प्रतीत होता है, परन्तु वास्तविक में अप्रासंगिक है नहीं। क्योंकि शब्दादि गुणों की उत्पत्ति का मूलस्थान प्रायः वनस्पतिकाय है। अर्थात् समस्त विषयों की पूर्ति वनस्पति से ही होती है। व्यवहार इस सत्य को स्पष्टतया प्रमाणित कर रहा है। जैसे अपनी मधुर ध्वनि से श्रोत्र इन्द्रिय को तृप्त करने वाली वीणा आदि विभिन्न वाद्यों का निर्माण वनस्पति से होता है। भव्य भवनों के निर्माण मे वनस्पतिकाय का प्रयोग होता ही है और उसके आधार स्तंभों पर चित्रित मनोहर चित्र एवं फर्नीचर से सुसज्जित कमरों को देखते हुए आखें थकती नहीं। घ्राण इन्द्रिय को तृप्त करने वाले केसर, चन्दन तथा विभिन्न रंग-बिरंगे सुवासित फूल वनस्पति के ही अनेक रूप हैं। जिह्वा के स्वाद की तृप्ति करने वाले विविध व्यञ्जन एवं पकवान वनस्पति से ही बनते हैं। और स्पर्श इन्द्रिय को सुख पहुंचाने वाले तथा शीत-ताप से बचाने एव सुशोभित करने वाले विभिन्न रग एव आकार के सूत के वने वस्त्र वनस्पति की ही देन है। इस प्रकार जब हम गहराई से सोचते-विचारते है, तो स्पष्ट हो जाता है कि शब्दादि विषयों का वनस्पति के साथ सीधा संबन्ध है। अतः वनस्पति के प्रकरण में उसका वर्णन

उचित एवं प्रासंगिक ही है।

अत्र प्रश्न यह उठता है कि संसार परिभ्रमण के कारण भूत ये शब्दादि विषय किसी एक नियत दिशा में उत्पन्न होते हैं या सभी दिशाओं में उत्पन्न होते हैं? उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उड्ढं, अहं* तिरियं पाईणं पासमाणे रूवाइं-पासति, सुणमाणे सद्दाइं सुणेति, उड्ढं अहं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति, सद्देसु आवि ॥४२॥

छाया—ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् प्राचीनं पश्यन् रूपाणि पश्यति, शृण्वन् शब्दान् शृणोति ऊर्ध्वमधः प्राचीनं मूर्च्छन् रूपेषु मूर्च्छति शब्देषु चापि।

पदार्थ—उड्ढं—ऊर्ध्व-ऊंची दिशा। अह—नीची दिशा। तिरिय—तिर्यक् दिशा चारो दिशा-विदिशाए इनमे तथा। पाईण—पूर्वादि दिशाओ मे। पासमाणे—देखता हुआ। रूवाइं—रूपो को। पासति—देखता है, और। सुणमाणे—सुनता हुआ। सद्दाइं—शब्दो को। सुणेति—सुनता है, तथा। उड्ढ—ऊंची दिशा। अह—नीची दिशा मे। पाईण—पूर्वादि दिशाओ मे। मुच्छमाणे—मूर्छित होता हुआ। रूवेसु—रूपो मे। मुच्छति—मूर्छित होता है। च—और। सद्देसु—शब्दो मे मूर्छित होता है। आवि—सभावना या समुच्चयार्थ मे है, इसमे गन्ध, रस, स्पर्श आदि विषयो को ग्रहण किया जाता है।

मूलार्थ—उर्ध्व, अधो, तिर्यक् एव पूर्वादि दिशाओ मे रूप को देखता हुआ देखता है तथा शब्दो को सुनता हुआ श्रवण करता है, तथा इन ऊर्ध्व आदि दिशाओं मे मूर्च्छित होकर रूप एव शब्दो मे आसक्त एव मूर्च्छित होता है और इसी तरह गन्ध, रस एव स्पर्श मे भी मूर्च्छित होता है।

हिन्दी विवेचन

शब्द आदि विषय किसी एक दिशा मे उत्पन्न नहीं होते, ऊर्ध्व, अधो और पूर्व-पश्चिम आदि सभी दिशा-विदिशा मे उत्पन्न होते हैं और जीव ऊपर-नीचे, दाएं, बाएं चारों ओर रूप-सौन्दर्य का अवलोकन करता है, शब्दों को सुनता है, गन्ध को

* 'अव' इति पाठान्तरम्।

सूंघता है, रसों का आस्वादन करता है तथा विभिन्न पदार्थों का स्पर्श करता है। और इन्हें देख-सुन कर या सूंघ-चख कर या स्पर्श कर अनेक जीव उन विषयों मे आसक्त हो जाते हैं, मूर्छित होने लगते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में दो बातें बताई गई हैं। एक तो विषयों का अवलोकन करना-उन्हें ग्रहण करना और दूसरे में उन अवलोकित विषयों मे आसक्त होना, राग-द्वेष करना। और दोनों क्रियाओं में बड़ा अंतर है। जहा तक अवलोकन का या ग्रहण करने का प्रश्न है, वहा तक ये विषय आत्मा के लिए दुःख रूप नहीं बनते, कर्म बन्ध का कारण नहीं बनते। यदि मात्र देखने एवं ग्रहण करने से ही कर्म बन्ध माना जाएगा तब तो फिर कोई भी जीव कर्म बन्ध से अछूता नहीं रह सकता। संसार मे स्थित सर्वज्ञों की बात छोड़िए, सिद्ध भगवान भी विषयों का अवलोकन करते हैं, क्यों कि उनका निरावरण ज्ञान लोकालोक के सभी पदार्थों को देखता-जानता है और सिद्ध भी विषयों को ग्रहण करते (जानते) है अत' यदि विषयों को ग्रहण करने मात्र से कर्म का बन्ध होता हो, तो फिर वहा भी कर्म बन्ध मानना पड़ेगा। और वहा कर्म का बन्ध होता नहीं। सिद्ध अवस्था में तो क्या तेरहवें गुणस्थान में भी कर्म बन्ध नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि विषयों को देखने एवं ग्रहण करने मात्र से कर्म का बन्ध नहीं होता। और न देखने मात्र से संसार परिभ्रमण का प्रवाह ही बढ़ता है।

कर्म बन्ध का कारण उन विषयों को ग्रहण करना मात्र नहीं, अपितु उनमे आसक्त होना है अर्थात् उनमे राग-द्वेष करना है। हम पहले देख चुके हैं कि कर्म बन्ध का मूल राग-द्वेष एवं आसक्ति है। इसी वैभाविक परिणति के कारण आत्मा कर्मों के साथ आवद्ध होकर ससार में परिभ्रमण करती है और विभिन्न विषयों में आसक्त होकर शुभाशुभ कर्मों का उपार्जन करके स्वर्ग-नरक आदि गतियों का चक्कर काटती है। इसी बात को सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र में "मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति" वाक्य के द्वारा अभिव्यक्त किया है। इससे यह स्पष्ट हो गया है कि कर्म बन्ध का कारण विषयों का अवलोकन एवं ग्रहण मात्र नहीं, प्रत्युत उसमें रही हुई आसक्ति है।

इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एस लोए वियाहिए एत्थ अगुत्ते अणाणाए ॥४३॥

छाया—एष लोकः व्याख्यातः अत्र अगुप्तः अनाज्ञायाम्।

पदार्थ—एस यह पाच विषय रूप। लोए—लोक। वियहिए—कहा गया है। एत्थ-इसमे जो। अगुत्ते—अगुप्त है अथवा शब्दादि विषयो मे आसक्त हो रहा है वह। अणाणाए—

आज्ञा मे नहीं है।

मूलार्थ—शब्दादि पाच विषयरूप लोक कहा गया है। जो जीव मन, वचन और काय को विषयो से गोप कर नही रखता हैं, अर्थात् जो व्यक्ति शब्दादि विषयो मे अनुरक्त रहता है, वह जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा में नही है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में शब्दादि पांच विषयों को लोक कहा है। जो व्यक्ति मन, वचन और शरीर से विषयों मे आसक्त है, उसे अगुप्त कहा है। मन से विषयों का चिन्तन करना, वाणी से इन्हें प्राप्त करने की प्रार्थना करना और शरीर से उन्हें पाने का प्रयत्न करना, यह त्रियोग की अगुप्तता है। जिस व्यक्ति के तीनों योग विषयों में ही लगे रहते हैं, उसे जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा मे नहीं कहा है।

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि वीतराग भगवान की आज्ञा विषयों में आसक्त होने की नहीं है, अथवा त्रियोगको विषयों से गुप्त—गोपन करके रखने की है। कारण यह है कि विषयों में आसक्त व्यक्ति रात दिन संसार में ही उलझा रहता है और इस कारण वह संयमकी सम्यक् साधना—आराधना नहीं कर सकता। और जिनेश्वर भगवानकी आज्ञा संयम—साधनाकी है, न कि ससार बढ़ानेकी। इस अपेक्षा से शब्दों में आसक्त व्यक्ति के लिए कहा गया है कि वह जिनेश्वर भगवान की आज्ञा में नहीं है।

इस विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—पुणो-पुणो गुणासाए वंक समायारे ॥४४॥

छाया—पुनः पुनः गुणास्वादः वक्रसमाचारः।

पदार्थ—पुणो-पुणो—वार-वार। गुणासाए—शब्दादि गुणो का आस्वादन करने से वह। वक समायारे—असयम का सेवन करने वाला हो जाता है।

मूलार्थ-वार-वार शब्दादि गुणो का अस्वादन करने से व्यक्ति असयम मे प्रवृत्त हो जाता है।

हिन्दी विवेचन

यह हम ऊपर देख चुके हैं कि जो शब्दादि विषयों में आसक्त रहता है, वह

संयम से दूर ही रहता है। क्योंकि उसके त्रियोगकी प्रवृत्ति विषयों में होने से वह रात-दिन रूप-रस का आस्वादन करने मे ही सलग्न रहता है। उसका मन सदा विषयों के चिन्तन-मनन में लगा रहता है और वचन की प्रवृत्ति भी विषय सुख की ओर लगी रहती है और शरीर से भी विषयों का आनन्द लेने में अनुरक्त होने के कारण उस का आचार सम्यक् नहीं रहता। इसी कारण सूत्रकार ने विषयों में आसक्त व्यक्ति को "वक समायरे" वक्र अर्थात् कुटिल आचार युक्त कहा है। 'वक समायारे' शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने कहा है—

"वक्र---असयम कुटिलो नरकादिगत्याभिमुख्यप्रवणत्वात्, समाचरण समाचार --अनुष्ठान, वक्र समाचारो यस्यासौ वक्रसमाचार असयमानुष्ठा-यीत्यर्थ"

अर्थात्—नरकादि गतिके हेतुभूत असयम का ही दूसरा नाम वक्रसमाचार है।

इससे स्पष्ट हुआ कि शब्दादि विषयों में आसक्त व्यक्ति असंयम मे प्रवृत्त होता है। असंयम मे प्रवृत्त होने से उसका परिणाम क्या होता है, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्-- पमत्तेऽगारमावसे ॥४५॥

छाया—प्रमत्तोऽगारमावसति।

पदार्थ — पमत्ते — प्रमादी-विषयो मे आसक्त व्यक्ति। आगारमावसे — घर मे जा वसता है।

मूलार्थ—विषयो मे असक्त प्रमादी व्यक्ति फिर से घर मे निवास करने लगता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में विषयों मे आसक्त रहने वाले साधु की क्या स्थिति होती है, इसबात का स्पष्ट निरूपण किया गया है। जो साधक त्रियोग का गोपन नहीं करके, विषयोंमे प्रवृत्त रहता है, वह सयम से पराङ्मुख होकर घर-गृहस्थ मे फिर से जा फसता है। दूसरी बात यह है कि द्रव्य वेशका परित्याग न करने पर भी उसे भाव साधुत्व के अभाव मे गृहस्थ कहा है। क्योंकि उसकी भावना सयम से, साधुता से विमुख हो चुकी है, इस लिए सूत्रकार ने उसके लिए 'आगारमावसति, शब्द का प्रयोग किया है।

जब हम आध्यात्मिक दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र पर विचार करते हैं, तो गृहवास का

छाया— लज्जमानान् पृथक् पश्य, अनगाराः स्म इत्येके प्रवदन्तः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वनस्पतिकर्मसमारंभेण वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणोऽन्याननेकरूपान् प्राणिनः विहिंसन्ति। तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, अस्य चैव जीवितस्य परिवंदन-मानन-पूजनार्थं, जाति-मरण-मोचनार्थं, दुःखप्रतिघातहेतुं स स्वयमेव वनस्पतिशस्त्रं समारभते, अन्यैर्वा वनस्पतिशस्त्रंसमारम्भयति, अन्यान् वा वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते तत् तस्याहिताय, तत् तस्याबोधये। स तत् संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणां वा अन्तिके इहैकेषां ज्ञातं भवति। एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः। इत्येवार्थं गृद्धो लोकः यदिदं विरूपरुपैः शस्त्रैः वनस्पतिकर्मसमारम्भेण, वनस्पतिशस्त्रं समारंभमाणाः अन्याननेक रूपान् प्राणिनः विहिंसति।

पदार्थ— लज्जमाणा–लज्जा करते हुए। पुढो–विभिन्न वादियो को। पास–तू देख? एगे—कुछ एक व्यक्ति। अणगारामोत्ति–हम अनगार हैं, इस प्रकार। पवदमाणा–बोलते हुए। जमिणं–जो ये। विरूवरूवेहिं–अनेक तरह के। सत्थेहिं–शस्त्रो से। वणस्सइ कम्मसमारम्भेण–वनस्पति कर्म समारभ से। वणस्सइ सत्थ–वनस्पति शस्त्र का। समारभमाणा–समारम्भ करते हुए। अण्णे–अन्य। अणेगरूवे–अनेक प्रकार के। पाणे–प्राणियो की। विहिंसंति–हिंसा करते हैं। तत्थ–वहा वनस्पति के विषय मे। भगवया–भगवान ने। परिण्णा पवेदिता—परिज्ञा विशिष्ट ज्ञान से प्रतिपादन किया है। चेव–समुच्चय और अवधारण अर्थ मे है। इमस्स–इस जीवियस्स—जीवन के लिए। परिवन्दण-माणण-पूयणाए–प्रशसा, मान एव पूजा की अभिलाषा से। जाई-मरण-मोयणाए–जन्म-मरण से मुक्त होने की आकाक्षा से। दुक्खपडिघायहेउं–दु ख से छुटकारा पाने हेतु। से–वह। सयमेव–स्वयमेव। वणस्सइसत्थ–वनस्पति के शस्त्र से। समारभइ–वनस्पतिकाय का समारभ करता है। वा–अथवा। अण्णेहिं–अन्य से। वणस्सइ-सत्थ–वनस्पति शस्त्र से। समारम्भावेइ–समारभ कराते हैं। वा–अथवा। वणस्सइ सत्थ–वनस्पति शस्त्र से। समार भमाणे–आरम्भ करने वाले। अण्णे–अन्य व्यक्ति को। समणुजाणइ–अच्छा जानते हैं। त–यह वनस्पतिकाय का आर भ। से–उसको। अहियाए–अहितकर है। त–यह। से–उसको। अबोहीए–अबोध का कारण है। से–वह। तं–उस आरम्भ के स्वरूप को। सबुज्झमाणे–भली-भाति समझकर। आयाणीय–सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र

का। समुट्ठाय—स्वीकार करके। भगवओ—भगवान। वा—अथवा। अणगाराणं—अनगारो के अन्तिए—समीप मे। सोच्चा—सुनकर। इह—इस लोक मे। एगेसिं—किसी-किसी व्यक्ति को। णाय भवति—ज्ञात हो जाता है कि। एस—यह आरभ। खलु—निश्चय रूप से। गंथे—अष्ट कर्मों की गांठ है। एस खलु—यह निश्चय ही। मोहे—मोह रूप है। एस खलु—यह निश्चय ही। मारे—मृत्यु का कारण है। एस खलु—यह निश्चय ही। णरए—नरक का कारण है। इच्चत्थं—इस प्रकार अर्थ-विपय-वासना मे। गड्ढिए—आसक्त वना हुआ। लोए—लोक-प्राणी समूह। जमिणं—जिससे कि यह। विरूवरूवेहिं—विभिन्न प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रो से वणस्सइ कम्म समारंभेणं—वनस्पति कर्म समारभ से। वणस्सइ सत्थं—वनस्पति शस्त्र से। समारंभमाणे—आरम्भ करता हुआ। अण्णे—अन्य। अणेगरूवे—अनेक प्रकार के। पाणे—प्राणियो की। विहिंसति—हिंसा करता है॥

मूलार्थ—हे जम्वू ! तू सावद्य-अनुष्ठान से लज्जमान विभिन्न मत वाले व्यक्तियो को देख। जो अपने आपको अनगार कहते हुए भी विभिन्न शस्त्रों से तथा वनस्पति कर्म समारभ से वनस्पतिकायिक, जीवो की तथा उसके साथ वनस्पति के आश्रय मे रहे हुए अन्य द्वीन्द्रियादि प्राणियो को हिसा करते है। भगवान ने अपने विशिष्ट ज्ञान से यह प्रतिपादन किया है कि वे नाशवान जीवन के लिए, प्रशसा-मान-सम्मान एव पूजा-प्रतिष्ठा पाने की अभिलाषा से जन्म-मरण से मुक्त होने की आकाक्षा से तथा मानसिक एव शारीरिक दु खो से छुटकारा पाने हेतु स्वय वनस्पतिकाय का आरभ करते है, दूसरो से करातें है तथा आरभ करते हुए व्यक्ति का समर्थन करते है। उनके लिए यह आरभ अहित और अबोध का कारण होता है, इस प्रकार स्वय भगवान या अनगारो के पास से वनस्पतिकायिक आरंभ के अनिष्ट फल को सुन कर सम्यक् श्रद्धा के बोध को प्राप्त हुआ व्यक्ति यह जान लेता है कि यह वनस्पतिकाय का आरभ अष्ट कर्मो की गाठ रूप है, मोह रूप है, मृत्यु का कारण है और नरक का कारण है।

फिर भी विपय-वासना मे आसक्त व्यक्ति विभिन्न शस्त्रो के द्वारा और वनस्पति कर्म से वनस्पतिकायिक जीवो का तथा उसके आश्रय मे स्थित

अन्य त्रस एव स्थावर अनेक जीवो की हिंसा करता है।

हिन्दी विवेचन

इस विषय का वर्णन पृथ्वीकाय एवं अप्काय के प्रकरण में विस्तार से कर चुके हैं। उसी के अनुसार यहा भी समझना चाहिए, अन्तर इतना है कि पृथ्वी एवं अप् की जगह वनस्पति समझना चाहिए।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वनस्पति सजीव है। फिर भी कुछ लोगों की समझ में नहीं आता। इस लिए सूत्रकार कुछ हेतु देकर वनस्पति को सजीवता प्रमाणित करते हुए कहते हैं—

मूलम्---से बेमि इमंपि जाइधम्मयं, एयंपि जाइधम्मयं, इमंपि वुड्ढिधम्मयं, एयंपि वुड्ढिधम्मयं. इमंपि चित्तमंतयं, एयंपि चित्तमंतयं इमंपि छिरगां-मिलाइ, एयंपि छिरगां मिलाइ, इमंपि आहारगं, एयंपि आहारगं, इमंपि अणिच्चयं एयंपि अणिच्चयं, इमंपि असासयं एयंपि असासयं, इमंपि चओवचइयं एयंपि चओवचइयं, इमंपि विपरिणामधम्मयं, एयंपि विपरिणामधम्मयं ॥४७॥

छाया-—सः [अहं] ब्रवीमि इदमपि जातिधर्मकम्, एतदपि जातिधर्मकम्, इदमपि वृद्धिधर्मकम्, एतदपि वृद्धिधर्मकम्, इदमपि चितवत्, एतदपि चितवत्, इदमपि छिन्नं म्लायति, एतदपि छिन्नं म्लायति, इदमप्याहारकम्, एतदप्याहारकम्, इदमप्यनित्यम्, एतदप्यनित्यम्, इदमप्याशाश्वतम्, एतदप्याशाश्वतम्, इदमपिचयापचयिकम्, एतदपिचयापचयिकम्, इदमपि विपरिणामधर्मकम्, एतदपि विपरिणामधर्मकम्।

पदार्थ—से—तत्त्व का परिज्ञाता। वेमि—मैं कहता हूँ। इमपि जाइधम्मय—यह मनुष्य शरीर जैसे जाति—जन्म धर्म वाला है, ठीक उसी तरह। एयपि जाइधम्मयं—यह वनस्पतिकायिक शरीर भी जन्म धर्म वाला है†। इमपि वुड्ढिधम्मयं—जैसे मनुष्य शरीर वृद्धि धर्म वाला है,

† प्रस्तुत प्रकरण मे प्रथम 'अपि' शब्द यथा के अर्थ मे और दूसरा 'अपि' शब्द समुच्चय अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

वैसे ही। **एयपि वुड्ढिधम्मय**—वनस्पति का शरीर भी वृद्धि धर्म वाला है। **इमपि चित्तमतय**—जैसे मनुष्य शरीर चेतना युक्त है, वैसे ही। **एयपि चित्तमतय**—वनस्पति का शरीर भी चेतना संयुक्त है। **इमपि छिण्णं मिलाइ**—जैसे मनुष्य का छेदन किया हुआ-काटा हुआ शरीर मुर्झा जाता है, वैसे ही। **एयपि छिण्णं मिलाइ**—वनस्पति का छेदन किया हुआ शरीर मुर्झा जाता है। **इमपि आहारग**—जैसे मनुष्य आहार करता है, वैसे ही। **एयपि आहारगं**—वनस्पति भी आहार करती है। **इमंपि अणिच्चय**—जिस प्रकार मनुष्य का शरीर अनित्य है, उसी तरह। **एयपि अणिच्चय**-वनस्पति का शरीर भी अनित्य है। **इमपि असासय**—जिस प्रकार मनुष्य का शरीर अशाश्वत है, उसी तरह। **एयपि असासय**–वनस्पति का शरीर भी अशाश्वत है। **इमपिं चओवचइयं**—जिस प्रकार मनुष्य का शरीर चय और उपचय वाला है, उसी तरह। **एयपि चओवचइयं**—वनस्पति का शरीर भी चय-उपचय युक्त है। **इमपि विपरिण.म धम्मं**—जैसे मनुष्य का शरीर विपरिणाम धर्म वाला--अनेक तरह के परिवर्तनो से युक्त है, वैसे ही। **एयंपि विपरिणामधम्मयं**—वनस्पति का शरीर भी परिणमनशील है अर्थात् विभिन्न प्रकार से बदलने वाला हैं।

मूलार्थ—हे जम्बू! वनस्पतिकाय मे प्रत्यक्ष परिलक्षित होने वाली चेतनता के विषय मे अब मै तुम से कहता हू–जिस प्रकार मनुष्य का शरीर जन्म धारण करने वाला है, बढता है, चेतना युक्त है, छेदने या काटने पर मुर्झा जाता है, आहार करता है, अनित्य और अशाश्वत है, चय-उपचय वाला है, परिवर्तनशील है ठीक उसी तरह वनस्पतिकाय का शरीर भी उक्त सभी धर्मोसे युक्त है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में वनस्पति की सजीवता को सिद्ध करने के लिए उसकी मनुष्य शरीर के साथ तुलना की गई है और यह स्पष्ट कर दिया है कि जो धर्म या गुण मनुष्य के शरीर मे पाए जाते हैं, वे ही धर्म वनस्पति के शरीर मे भी परिलक्षित होते हैं।

मनुष्य शरीर की चेतनता प्राय सभी विचारकों को मान्य है। अत: उसमे उपलब्ध समस्त लक्षण वनस्पतिमें भी स्पष्ट दिखाई देते है और ये लक्षण उन्हीं मे पाए जाते हैं, जो सजीव हैं। निर्जीव पदार्थों मे ये गुण नहीं पाए जाते। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन गुणोंका चेतना के साथ अविनाभाव् सम्बन्ध है। क्योंकि जिस शरीर मे चेतना होती है, वहां उक्त लक्षणो का सद्भाव होता है और जहा चेतनता नहीं होती है वहा उनका भी अभाव होता है। यथा-जहां धूम होता है वहां अग्निअवश्य होती है।

इसी न्याय से पर्वत या दूरस्थ स्थानपर स्थित अग्नि न दिखाई देने पर भी धूम को देख कर अनुमान प्रमाण से यह निश्चय कर लेते हैं कि उस स्थान पर अग्नि है। क्योंकि धूम और अग्नि का सहचर्य है, अविनाभाव संवन्ध है अर्थात् यों कहिए कि धूम का अस्तित्व अग्नि के विना नहीं होता। इसी तरह उक्त लक्षणों एवं सजीवता का अविनाभाव संवन्ध है। जहां उक्त लक्षण होंगे, वहां सजीवता अवश्य होगी। इसी न्याय से वनस्पति की सजीवता को हम भली-भांति जान एवं समझ सकेंगे।

हम देखते हैं कि मनुष्य माता के गर्भ से जन्म धारण करता है और जन्म के पश्चात् प्रतिक्षण अभिवृद्धि करता हुआ वाल, युवा एवं वृद्ध अवस्था को प्राप्त होता है। उसी तरह वनस्पति भी योग्य मिट्टी, पानी वायु एवं आतप का संयोग मिलने पर वीज में से अंकुरित होती है और क्रमशः वढ़ती हुई वाल्य, यौवन एवं वृद्ध अवस्था को प्राप्त होती है। पेड़-पौधों एवं लताओं से यह क्रम स्पष्ट दिखाई देता है।

मनुष्य और वनस्पति दोनों के शरीर मे चेतना भी समान रूप से है। चेतनाका लक्षण या गुण ज्ञान है और ज्ञानका अस्तित्व दोनों में पाया जाता है। कुछ पौधोंकी क्रियाओंके संवन्धमें देखते-पढ़ते हैं, तो उस से उनमें भी ज्ञानके अस्तित्व का स्पष्ट आभास मिलता है। जैसे धात्री और प्रपुन्नाट आदि वृक्ष सोते भी हैं और जागृत भी होते हैं। वे अपनी जड़ों मे गाड़े हुए धनको सुरक्षित रखने के लिए अपने शाखा-प्रशाखाओं को फैलाकर उस स्थानको आवृत्त कर देते हैं। और वर्षा काल मे मेघ की गर्जना सुनकर तथा शिशिर ऋतुमें शीतल वायु का सस्पर्श पाकर-अंकुरित हो उठते है। बांसका पौधा भी मेघकी गर्जना सुनकर अंकुरित होताहै। और मद विकृत कामिनीके पैर का संस्पर्श पाकर अशोक वृक्ष हर्षातिरेक से पल्लवित एवं पुष्पित होता है, पुरुषके हाथका संस्पर्श पाते ही लाजवन्तीका सुकोमल पौधा अपने आप को संकोच लेता है, उसके पत्ते सिकुड़ जाते हैं। और इस वात को भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र वोस ने वैज्ञानिक साधनों के द्वारा प्रत्यक्ष में दिखा दिया कि कुछ पौधे अपनी प्रशंसा से प्रभावित होकर प्रफुल्लित हो उठते हैं और निन्दा-तिरस्कार के शब्दोंमे आकर्षित होकर मुर्झा जाते है। ये सव क्रियाएं वनस्पति में भी ज्ञान के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं। क्योंकि ज्ञान के अभाव में ऐसा हो नहीं सकता। इससे वनस्पति मे भी ज्ञान है ऐसा मानना चाहिए।

मनुष्य के हाथ-पैर आदि किसी भी अंग-उपांग को काट देते हैं, तो वह अंग मुर्झा जाता है। उसी तरह वनस्पतिका काटा हुआ हिस्सा भी कुमला जाता है, म्लान

हो जाता है। इस तरह छेदन क्रियासे भी दोनोंके अंगोंकी समान स्थिति होती है

आहारकी अपेक्षासे भी दोनोंमें समानता है । जैसे मनुष्यको समयपर पौष्टिक एवं अच्छा आहार मिलता रहे तो स्वस्थ एवं बलवान रहता है। उसी प्रकार वनस्पतिको भी अनुकूल हवा, पानी, प्रकाश, मिट्टी एवं खाद मिलती रहे तो वह भी पल्लवित-पुष्पित एवं विकसित होती रहती है। प्रतिकूल आहार मिलने पर उसे भी रोग हो जाता है और उस रोगको औषध के द्वारा मिटाया भी जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि मनुष्य तो आहार करता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है, परन्तु वनस्पति स्पष्ट रूप से आहार करती हुई नहीं दीखती। फिर वह आहार कैसे करती है ?

इसका समाधान करते हुए आगममें बताया गया है कि वनस्पतिका मूलपृथ्वी से सबद्ध है, अत वह पृथ्वी से आहार लेकर उसे अपने शरीरके रूप में परिणमन करती है। मूल से स्कन्ध संबद्ध है, इसलिए वह मूलसे आहार ग्रहण करके उसे अपने शरीर के रूप मे परिणत करती है। इसी तरह शाखा, प्रशाखा, पत्ते, फूल, फल एवं बीज अपने अपने पूर्व से संबद्ध है, और वे उनसे आहार लेकर अपने शरीर रूप में परिणत करते है इसी तरह वनस्पतिकाय क्रम पूर्वक आहार करती है। जैसे मनुष्य थाली मे से भोजन का एक ग्रास हाथमें उठाकर मुह मे रखता है, फिर दात चवर्ण करते हैं, जिह्वा आदि अवयव उसे गलेमें पहुचाते है, वहासे नीचे उतर कर पेटमे पहुंचता है और वहा उसका रस, खून, वीर्य आदि पदार्थ बनकर शरीरमें यथा स्थान पर पहुच जाते हैं। उसी तरह वनस्पतिकाय के जीव भी मूलके द्वारा पृथ्वीसे आहार ग्रहण करते है, फिर मूलसे स्कध और स्कधसे शाखा-प्रशाखा, पत्र पुष्प, फल और अपने-अपने पूर्व से ग्रहण कर लेते है। इस तरह वनस्पतिकायिक जीव भी आहार करते हैं और उसी के आधार पर अपने शरीरका निर्माण करते है[1]।

मनुष्य और वनस्पतिकाय दोनोका शरीर अनित्य एवं अशाश्वत-अस्थिर है

---

[1] से नूणं भन्ते ! मूला मल जीव फुडा, कदा कंद जीव फुडा जाव बीया बीय जीव फुडा ? हंता गोयमा ! मूला मूल जीव फुडा जाव बीया बीय जीव फुडा। जइणं भते ! मूला मूल जीव फुडा जाव बीया बीय जीव फुडा कम्हा ण भंते ! वणस्सइ काइया आहारेन्ति कम्हा परिणामेन्ति ? गोयमा मूला मूल जीव फुडा पुढवि जीव पडिवद्धा तम्हा आहारे ति, तम्हा परिणामेति। एवं जाव बीया बीय जीव फुडा फल जीव पडिवद्धा तम्हा आहारेन्ति, तम्हा परिणामेति।

भगवती सूत्र, शतक ७, उद्देशक ३

दोनों के शरीर में चय-उपचय होता रहता है। अनुकूल एवं प्रतिकूल आहार एवं वातावरण से दोनों के शरीर में ह्रास एवं परिपुष्टता देखी जाती है। और दोनोंके शरीरमे अनेक प्रकार के परिवर्तन भी होते रहते है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि वनस्पतिमें भी चेतना है। आजके वैज्ञानिक युग मे तो किसी प्रकार के सदेह को अवकाश ही नही रहा। भारतीय प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बोसने वैज्ञानिक साधनोंसे जनता एवं वैज्ञानिकोंको वनस्पतिकी सजीवता को प्रत्यक्ष दिखा दिया। इससे जैनागमकी मान्यता परिपुष्ट होती है और साथ में यह भी प्रमाणित होता है कि जैनागम सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट है। डा० बोस ने- भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट बातको वैज्ञानिक साधनों से प्रत्यक्ष दिखाकर विश्व- के वैज्ञानिकोंको वनस्पतिमे चेतनता मानने के लिए बाध्य कर दिया, इसके लिए वे साधु वादके पात्र हैं।

इस तरह यह स्पष्ट हो गया कि वनस्पति सजीव है। अत' उसका आरम्भ करने से पाप कर्म का बन्ध होगा और ससार परिभ्रमण बढेगा, इस लिए साधुको उसके आरम्भ-समारम्भका त्याग करना चाहिए। इसी बातका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एत्थं सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरम्भा अपरिणाता भवंति, एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभापरिणाया भवंति, तं परिणाय मेहावी गोव सयं वणस्सइसत्थं समारंभेज्जा, गोवरगेहिं वणस्सइसत्थं समारंभावेज्जा, गोवरगे वणस्सइसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते वणस्सतिसत्थ समारंभा परिणाया भवंति से हु मुणी परिणाय कम्मे, त्तिबेमि ॥४८॥

छाया—अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाताः भवन्ति अत्र शस्त्रमसमारम्भमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाता. भवन्ति। तत्परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं वनस्पति शस्त्रं समारभेत, नैवान्यैर्वनस्पति शस्त्रं समारम्भयेत्, नैवन्यान वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात्। यस्यैते वनस्पति शस्त्र समोरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति स एव मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि।

पदार्थं—एत्थ—इस वनस्पनिकाय के विपय मे। **सत्थं**–शस्त्र का। **समारभमाणस्स**–समारभ करने वाले को। **इच्चेते**—ये सव। **आरभा**—आरभ-समारभ। **अपरिण्णाया**—अपरिज्ञात। **भवति**—होते है। **एत्थ**—इस वनस्पतिकाय के विषय मे। **सत्थ**—शस्त्र का। **असमारम्भमाणस्स**—समारम्भ नही करने वाले को। **इच्चेते आरम्भा**—ये सब आरम्भ। **परिण्णाय-भवन्ति**—परिज्ञात होते हैं। **त परिण्णाय**—उस आरम्भ का परिज्ञान करके। **मेहावी**—यह बुद्धिमान पुरुप। **णेवसयं**–न तो स्वयं। **वणस्सइसत्थं**—वनस्पति शस्त्र का। **समारम्भेज्जा**—आरम्भ करे। **णेवण्णेहि**—न अन्य से। **वणस्सइसत्थं**—वनस्पति शस्त्र का। **समारम्भावेज्जा**—समारम्भ करावे। **णेवण्णे**—और न अन्य व्यक्ति का, जो। **वणस्सइ सत्थ समारम्भते**—वनस्पति शस्त्रका आरम्भ कर रहा है। **समणुजाणेज्जा**—समर्थन ही करे। **जस्सेते**—जिसको ये। **वणस्सइसत्थंसमारंभा**—वनस्पति शस्त्र समारम्भ। **परिण्णाया भवंति**—परिज्ञात होते है। **से हु मुणी**— वही मुनि। **परिण्णाय कम्मे**—परिज्ञात कर्मा हैं। **त्तिबेमि**—ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ–जो व्यक्ति द्रव्य और भाव शस्त्र से वनस्पतिकाय का आरभ करते है, वे इन आरभो से अपरिज्ञात होते है और जो वनस्पति का आरम्भ नही करते वे इन आरभो से परिज्ञात होते है। अतः वे बुद्धिमान पुरुप न तो स्वयं वनस्पतिकायिक जीवों का आरम्भ करते है, न अन्य व्यक्ति से आरम्भ कराते है और न आरभ करने वाले व्यक्ति का अनुमोदन ही करते है। जिस मुमुक्षु ने इन आरम्भ-समारम्भ के कार्यों को भली-भाति जान कर त्याग दिया है, वही मुनि परिज्ञात कर्मा है ऐसा मे कहता हू ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या पृथ्वीकाय, अप्काय के अध्ययन के अंतिम की व्याख्या मे विस्तार से कर चुके हैं। अत· यहां चर्वित-चर्वण करना उपयुक्त न समझ कर विशेप विवेचन नहीं कर रहे है। पाठक यथास्थान पर देख लेवे।

त्तिवेमि की व्याख्या पूर्ववत् समझे।

॥ पञ्चम उद्देशक समाप्त ॥

प्रथम अध्ययन-शस्त्रपरिज्ञा

षष्ठ उद्देशक

पाचवें उद्देशक में वनस्पतिकाय का विवेचन किया गया। अब छट्ठे उद्देशक में सूत्रकार त्रस जीवों का वर्णन करते हैं। त्रस जीवो के गति त्रस और लब्धि त्रस ये दो भेद है। द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय जीव गति त्रस है और तेजस्काय और वायुकाय लब्धि त्रस हैं। तेजस्काय और वायुकाय स्थावर नाम करके उदय से स्थावर ही हैं। अन्य एकेन्द्रिय जीवों की तरह इनके भी एक स्पर्श इन्द्रिय होने से इन्हें भी स्थावर माना गया है। परन्तु इनमे भी एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की गति देखी जाती है, इस लब्धि-शक्ति की अपेक्षा से इन्हें लब्धि त्रस भी माना गया है। यो तो पानी भी गतिशील देखा जाता है, परन्तु उसकी गति स्वभाविक नहीं है, जिस ओर नीची जमीन होती है उधर ही वह बहता है, अन्यत्र नहीं। वह अग्नि और वायु की तरह दशों-दिशाओं मे स्वतन्त्रतया गति नहीं कर सकता। इस अपेक्षा से तेजस्काय और वायुकाय को ही लब्धि त्रस माना गया है।

उक्त लब्धि त्रस में तेजस्काय का वर्णन-चौथे उद्देशक में कर चुके हैं और वायुकाय का वर्णन सातवें उद्देशक में किया जायगा। अत॰ प्रस्तुत उद्देशक में द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के गति त्रसों का ही वर्णन किया जाएगा, प्रस्तुत उद्देशक का प्रथम सूत्र निम्नोक्त है—

मूलम्--से बेमि संतिमे तसा पाणा, तंजहा--अंडया. पोयया, जराउआ, रसाया, संसेयया, संमुच्छिमा उब्भियया उववाइया, एस संसारेत्ति पवुच्चई ॥४६॥

छाया—सः (अहं) ब्रवीमि सन्तिमे त्रसाः प्राणिनः तद्यथा अंडजा, पोतजाः, जरायुजाः, रसजाः, संस्वेदजाः, समूर्छनजाः, उद्भिजाः, औपपातिक एष संसार इति प्रोच्यते।

पदार्थ—**से**—वह-मैं । **बेमि** — कहता हूँ । **इमे** — ये । **तसा**—त्रस । **पाणा**—प्राणी । **संति** – है । **तंजहा** – जैसे कि । **अण्डया** – अण्डे से उत्पन्न होने वाले-कपोत आदि पक्षी । **पोयया** – पोतज रूपसे जन्मने वाले हाथी आदि । **जराउआ**—जरायुसे वेष्टित उत्पन्न होने वाले गाय, भैंस, बकरी, भेड और मनुष्य आदि प्राणी । **रसया**—विकृत रससे अत्यधिक खट्टी छाछ, काजी आदि मे उत्पन्न होने वाले जीव । **ससेयया**—स्वेद पसीनेसे उत्पन्न होने वाले जूं, लीख आदि जीव । **समुच्छिमा**—समूर्च्छिम उत्पन्न होने वाले—चीटी, मक्खी, मच्छर, बिच्छू आदि जीव । **उब्भियया**—उद्भिज-उद्भेद से उत्पन्न होने वाले पतगे, वीर बहूटी आदि । **उववाइया**—उपपात से उत्पन्न होने वाले देव और नारकके जीव । **एस**—ये अष्ट प्रकार के त्रस जीव ही । **ससारेत्ति**—ससार है अर्थात् इन त्रस जीवो को ससार । **पवुच्चई**—कहा जाता है ।

मूला—हे जम्बू । त्रसकायके सम्बन्ध मे मै तुमसे कहता हू कि ये प्रत्यक्ष परिलक्षित होने वाले त्रस प्राणी अण्डज, पोतज, जरायु, चलितरस, स्वेद—पसीने, समूर्च्छन उद्भेद और उपपात से उत्पन्न होते है । इस प्रकार उत्पन्न होने वाले त्रस जीवोको ससार कहा गया है ।

हिन्दी विवेचन

आगमों में जीव के दो भेद किए गए हैं—१-सिद्ध और २-संसारी । संसारी जीव भी दो प्रकारके हैं—१- स्थावर और २-त्रस । स्थावर जीवों के पाच भेद किए गए हैं— १-पृथ्वीकाय, २- अप्काय, ३-तेजस्काय, ४-वायुकाय, और ५- वनस्पतिकाय । इनमें तेजस्काय और वायुकायको लब्धि त्रस भी माना है, परन्तु इनकी योनि स्थावर नाम कर्मके उदयसे प्राप्त होती है तथा इनके एक स्पर्श इन्द्रिय ही होती है, इस लिए इन्हे स्थावर माना गया है । त्रस जीवों के मुख्य चार भेद किए गए हैं— द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय । इनके अनेक भेद-उपभेद हैं- जिनका आगमों में विस्तार से वर्णन किया गया है ।

त्रस का अर्थ है— "त्रस्यन्तीति त्रसः—त्रसनात् – स्पन्दनात् त्रसाः जीवनात् —प्राणाधारणात् जीवा त्रसा एव जीवा त्रस जीवा ।" अर्थात् जो प्राणी त्रास पाकर उससे वचने के लिए चेष्टा करते हों, एक स्थान से दूसरे स्थानको आ जा सकते हों, उन्हे त्रस जीव कहते हैं । या हम यों भी कह सकते हैं कि जिनकी चेतना स्पष्ट परिलक्षित होती है, जो अपनी शारीरिक हरकत एवं चेष्टाओंके द्वारा सुख-दुःखानुभूति करते हुए स्पष्ट देखे

जाते हैं, वे त्रस जीव कहलाते हैं। त्रस जीव द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के प्राणी होते हैं और वे असख्यात् हैं । पर उनके उत्पत्ति स्थान आठ माने गए है और प्रस्तुत सूत्र में उन्हीं का उल्लेख किया गया है वे इस प्रकार है—

१-अडज — अंडे से उत्पन्न होने वाले— कबूतर, हंस, मयूर, कोयल आदि पक्षी।

२-पोतज — पोत–चर्ममय थैली से उत्पन्न होने वाले—हाथी, वल्गुली, चर्म-जलूक आदि पशु।

३-जरायुज — जेर से आवेष्टित उत्पन्न होने वाले— गाय, भैंस, मनुष्य इत्यादि पशु एवं मानव—

४-रसज —खाद्य पदार्थों में रसके विकृत होने-बिगड़नेसे उसमें उत्पन्न होने वाले द्वीन्द्रियादि जीव–अधिक दिनकी खट्टी छाछ, काजी आदि में नन्हीं-नन्हीं कृमिऐ उत्पन्न हो जाती हैं।

५-संस्वेदज — पसीने से उत्पन्न होने वाली—जूं-लीख आदि।

६-समूर्च्छन — स्त्री-पुरुष के सयोग विना उत्पन्न होने वाले— चींटी, मच्छर, भ्रमर आदि जीव-जन्तु।

७-उद्भिज—भूमि का भेदन करके उत्पन्न होने वाले—टीड, पतंगे इत्यादि जन्तु ।

८-औपपातिक— उपपात—देव शय्या एवं कुंभी में उत्पन्न होने वाले देव एवं नारकीके जीव ।

संसारमे जितने भी त्रस जीव हैं, वे सब आठ प्रकारसे उत्पन्न होते हैं† इस तरह समस्त त्रस जीवोंका इन आठ भेदोंमें समावेश हो जाता है। और इनके समन्वित रूपको ही संसार कहते हैं अर्थात् जहां इन सब जीवोंका आवागमन होता रहता है, एक गतिसे दूसरी गतिमे संसरण होता है, उसे ही संसार कहते हैं । क्यों कि जीवोंके एक गतिसे दूसरी गतिमे परिभ्रमण करने के आधारपर ही संसार का अस्तित्व रहा हुआ है। इसी कारण इन उत्पत्तिशील या भ्रमणशील जीवों को संसार कहा गया है।

त्रस जीवोंके उत्पत्ति स्थान के संबन्ध में एक और मान्यता भी है। तत्त्वार्थ

† दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन ४ मे भी उक्त आठ प्रकार के उत्पत्तिस्थानों का उल्लेख मिलता है।

सूत्रके रचयिता आचार्य उमास्वाति त्रस जीवोंके उत्पत्ति स्थान तीन मानते हैं— समूर्च्छन, गर्भज और औपपातिक‡ । इन दोनों विचारधाराओंमे केवल संख्याका भेद दृष्टिगोचर होता है । परंतु वास्तवमे दोनोंमें सैद्धांतिक अतर नहीं है। दोनो विचार एक-दूसरेसे विरोध नहीं रखते । क्योंकि-रसज, संस्वेदज और उद्भिज ये तीनो समूच्छन जीवोके ही भेद हैं, अंडज, पोतज और जरायुज ये तीनों गर्भज जीवों के भेद हैं और देव एवं नारकोका उपपातसे जन्म होने के कारण वे औपपातिक कहलाते हैं । अतः तीन और आठ भेदोंमे कोई अंतर नहीं है। यो कह सकते हैं कि त्रस जीवो के मूल उत्पत्ति स्थान तीन प्रकारके हैं और आठ प्रकारके उत्पत्ति स्थान उन्हीं के विशेष भेद हैं, जिससे साधारण व्यक्ति भी सुगमता से उनके स्वरूपको समझ सके ।

इससे स्पष्ट हो गया कि उत्पत्ति स्थानके तीन या आठ भेदों में कोई सैद्धांतिक भेद नहीं है । ये सभी उत्पत्ति स्थान जीवोंके कर्मों की विभिन्नता के प्रतीक हैं । प्रत्येक संसारी प्राणी अपने कृत कर्मके अनुसार विभिन्न योनियो में जन्म ग्रहण करते हैं । आत्म द्रव्यकी अपेक्षासे सब आत्माओं में समानता होने पर भी कर्म बंधनकी विभिन्नताके कारण कोई आत्मा विकासके शिखरपर आ पहुचती है, तो कोई पतनके गड्ढे मे जा गिरती है । आगममें भी कहा है कि अपने कृत कर्मके कारण कोई देवशय्यापर जन्म ग्रहण करता है, तो कोई कुभी (नरक) मे जा उपजता है । कोई एक असुरकाय मे उत्पन्न होते हैं, तो कोई मनुष्य शरीर मे भी क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण, चंडाल-बुक्कस आदि कुलोमे जन्म लेते हैं और कोई प्राणी पशु-पक्षी, टोड-पतंग, मक्खी, मच्छर, चींटी आदि जंतुओंकी योनिमे जन्म लेते हैं। इस तरह विभिन्न कर्मों मे प्रवृत्तमान प्राणी संसारमे विभिन्न योनियोंमें जन्म ग्रहण करते रहते हैं† ।

योनि और जन्म ये दो शब्द हैं और दोनोंका अपना स्वतंत्र अर्थ है। यह आत्मा अपने पूर्व स्थानके आयुष्य कर्मको भोगकर अपने बांधे हुए कर्मके अनुसार जिस स्थानमे आकर उत्पन्न होता है, उसे योनि कहते हैं और उस योनिमे आकर अपने औदारिक या वैक्रिय शरीरके बनानेके लिए आत्मा औदारिक या वैक्रिय पुद्गलो का जो प्राथमिक ग्रहण करता है, उसे जन्म कहते हैं । इस तरह योनि और जन्म

---

‡ सम्मूर्छनगर्भोपपाता ।

—तत्त्वार्थ सूत्र २, ३२

† उत्तराध्ययन, ३, २—४ ।

का आधेय-आधार संबंध है। योनि आधार है और जन्म आधेय है।

जैनदर्शनमे शरीरके पाच भेद बताए गए है— १- औदारिक, २-वैक्रिय, ३-आहारक, ४- तैजस और ५- कार्मण इसमे आहारक शरीर विशिष्ट लब्धि युक्त मुनिको ही प्राप्त होता है और वैक्रिय शरीर देव और नारकी तथा लब्धिधारी मनुष्य तिर्यञ्चोंको प्राप्त होता है । औदारिक शरीर मनुष्य और तिर्यञ्च गति में सभी जीवोंको प्राप्त होता है । तैजस और कार्मण शरीर संसारके सभी जीवोंमे पाया जाता है। औदारिक या वैक्रिय शरीरका कुछ समयके लिए अभाव भी पाया जाता है, परन्तु तैजस और कार्मण शरीर का ससार अवस्था मे कभी भी अभाव नहीं होता। जब आत्मा एक योनिके आयुष्य कर्मको भोग लेता है, तो उसका उस योनिमे प्राप्त औदारिक या वैक्रय शरीर वहीं छूट जाता है। उस समय केवल तैजस और कार्मण शरीर ही उसके साथ रहता है, जो उसके किए हुए स्वकर्मके अनुसार उसे (आत्माको) उस योनि तक पहुचा देता है । वहा आत्मा जन्म धारण करता है और कार्मण शरीरके द्वारा वहा पर स्थित पुद्गलोंका आहार ग्रहण करके उसे औदारिक या वैक्रिय शरीरके रूप में परिणत करता है । इस प्रकार उसका उत्पन्न होना जन्म है और जिस स्थान मे उत्पन्न होता है, वह स्थान योनि कहलाता है।

तत्त्वार्थ सूत्र मे उत्पत्ति स्थान तीन माने गए है—१-समूर्च्छन, २ गर्भाशय और ३- औपपातिक । स्त्री—पुरुष के सयोग के विना ही योनि-उत्पत्ति स्थानमे स्थित औदारिक पुद्गलोंको सर्वप्रथम ग्रहण करके औदारिक शरीर रूपमें परिणित करना समूर्च्छन जन्म है।

स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पत्ति स्थान-गर्भाशयमें स्थित रज-शुक्र (वीर्य) या शोणित के पुद्गलोंको पहले-पहल शरीर बनानेके हेतु ग्रहण करने का नाम गर्भज जन्म है ।

देव शय्या या नरक कुंभीमे स्थित वैक्रिय पुद्गलोंको प्रथम समयमे वैक्रिय शरीरका निर्माण करने के लिए ग्रहण करने का नाम उपपात जन्म है । देव शय्या के ऊपर का भाग दिव्य वस्त्रसे प्रच्छन्न रहता है, उस प्रच्छन्न भाग मे देवों का जन्म होता है और कुम्भीवज्रमय भीतका गवाक्ष नारकोंका उपपात क्षेत्र है। इन उभय स्थानोंमें स्थित वैक्रिय पुद्गलोंको देव और नारक ग्रहण करते हैं।

इन उत्पत्ति स्थानोंमे कौन जीव जन्म लेता है, इसी बातको बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—मंदस्साविंयाणओ ॥५०॥

छाया—मंदस्याविजानतः ।

पदार्थ—मंदस्स—मद व्यक्ति का । अवियाणओ—जो तत्त्व से अनभिज्ञ है, उसका ससार मे भ्रमण होता है ।

मूलार्थ—तत्त्व से अनभिज्ञ जीव हा ससार में परिभ्रमण करता है ।

हिन्दी विवेचन

उक्त उत्पत्ति स्थानों में कौन व्यक्ति जन्म लेता है ? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार ने 'मंदस्स' शब्द प्रयोग किया है । अर्थात् जो मंद बुद्धिवाला है, वह संसार मे परिभ्रमण करता है । भेद के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए 'अवियाणओ' शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् मंद बुद्धिवाला वह है, जो जीव-अजीव आदि तत्त्व ज्ञान से अनभिज्ञ है। इन्हें आगमिक भाषा में बाल भी कहते हैं। क्यों-कि प्राय: बालक का ज्ञान अधिक विकसित न होने से वह अपने जीवन की समस्याओं को हल करने में तथा अपना हिताहित सोचने में असमर्थ रहता है। इसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति भी तत्त्व ज्ञान से रहित होने के कारण अपनी आत्मा का हिता-हित नहीं समझ पाता और इसी कारण विषय-वासना में आसक्त हो कर ससार बढ़ाता है। इसी अपेक्षा से अज्ञानी व्यक्ति को बाल कहा गया है । बालक के जीवन में व्यवहा-रिक ज्ञान की कमी है, तो इसमें आध्यात्मिक ज्ञान का विकास नहीं हो पाया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो व्यक्ति सम्यग् ज्ञान रहित है, वही संसार में परिभ्रमण करता है ।

कुछ व्यक्तियों का कथन है कि हम देखते हैं कि जो व्यक्ति तत्त्व ज्ञान से युक्त हैं, वे भी उक्त उत्पत्ति स्थानों में किसी एक उत्पत्ति स्थान में जन्म ग्रहण करते हैं । अनेक साधु संयम का परिपालन करते हुए भी देवगति का आयुष्य बांधते हैं और मनुष्य का आयुष्य भोग कर उपपात योनि में जन्मते हैं और स्वर्ग का आयुष्य पूरा करके फिर से गर्भज योनि में जन्मते हैं। इस से यह कहना कहां तक उचित है कि मद बुद्धिवाला अतत्त्वज्ञ व्यक्ति ही इन उत्पत्ति स्थानों में जन्म लेता है ?

प्रस्तुत सूत्र में जो कहा गया है, वह एक अपेक्षा विशेष से कहा गया है

और वह अपेक्षा है—संसार परिभ्रमण की। यह ठीक है कि सम्यग् दृष्टि, श्रावक एव साधु भी उपपात, गर्भज आदि जन्मों को ग्रहण करते है। परन्तु जब से उन्हें तत्त्व ज्ञान हो जाता है तब से वे संसार परिभ्रमणको बढ़ाते नहीं है। यह सत्य है कि तत्त्वज्ञ जन्म लेते भी हैं। परन्तु तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञके जन्म लेने मे अतर इतना ही है कि एक का संसार परिमित है और दूसरे का अपरिमित। जब से आत्मा ने सम्यक्त्वका सस्पर्श कर लिया, तब से उसे परिमित संसारी कहा है, ससार का छोर-किनारा उसके सामने आ गया है। यह ठीक है कि उसे पार करके अपने लक्ष्य स्थान तक पहुचने मे उसे कुछ समय लग सकता है और इस के लिए वह अनेक उत्पत्ति स्थानों मे जन्म भी ग्रहण कर सकता है। परन्तु उसका जन्म ग्रहण करना ससार वृद्धिका नहीं, परन्तु संसारको घटानेका, कम करने का ही कारण है।

इसके विपरीत अतत्त्वज्ञ व्यक्ति का संसार अपरिमित है। उसके सामने अभी तक कोई स्पष्ट मार्ग नहीं है, जिस पर गति करके वह किनारेको पा सके। अभी तक उसे अपने लक्ष्य स्थान एवं किनारे का भी ज्ञान नही है। इस लिए उस का प्रत्येक कार्य, प्रत्येक कदम एवं प्रत्येक जन्म संसारको बढ़ाने वाला है, जन्म-मरण के प्रवाहको प्रवाहमान रखने वाला है। तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ में रहे हुए इसी अंतर को सामने रख कर प्रस्तुत सूत्रमें कहा गया है कि जो मद है, अतत्त्वज्ञ है, वही संसार परिभ्रमणको बढाता है, बार-बार इन उत्पत्ति स्थानों मे जन्म-मरण करता है।

इस परिभ्रमण से बचनेके लिए क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—निज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेयं परिनिव्वाणं सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं अस्सायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खंत्ति बेमि, तसंति पाणा पदिसो दिसासु य ॥५१॥

छाया—निध्याय—प्रतिलेख्य प्रत्येकंपरिनिर्वाणं सर्वेषांप्राणिनाम्,

सर्वेषां भूतानां, सर्वेषां जीवानां, सर्वेषां सत्त्वानाम्, असातम्, अपरिनिर्वाणं महाभयं दुःखमिति ब्रवीमि—त्रस्यन्ति प्राणिनः प्रदिशः दिशासु च ।

पदार्थ—निज्झाइत्ता—चिन्तन करके । पडिलेहित्ता—देखकर । पत्तेय—प्रत्येक जीव परिनिव्वाण—सुख के इच्छुक है । सव्वेसिं—सर्व । पाणाण—प्राणियो को । सव्वेसिं भूयाण—सर्व भूतो को । सव्वेसिं जीवाण—सर्व जीवो को । सव्वेसिं सत्ताण—सर्व सत्त्वो को । अस्साय—असाता । अपरिनिव्वाणं—अशाति । महब्भयं—महाभय है । दुक्ख—दुःख रूप है । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ । दिसासु—दिशाओ मे । य—और । पदिसो—विदिशाओ मे । पाणा—ये प्राणी । तसंति—त्रास को प्राप्त होते है ।

मूलार्थ—हे शिष्य ! त्रसकायके सबन्ध मे सम्यक् चिन्तन-मनन एवं पर्यावलोकन करके मैं तुम्हे कहता हू कि प्रत्येक जीव सुखका इच्छुक है । अन समस्त प्राणी, भूतजीव और सत्त्व सुखेच्छु है और सब को असाता-अशान्तिरूप महाभयकर दुःख से भय है और दिशा-विदिशाओं मे स्थित ये प्राणी इन प्राप्त होने वाले दुःखो से सत्रस्त हो रहे है ।

हिन्दी विवेचन

संसार में प्रत्येक प्राणी सुखाभिलाषी है, दुःख से वचना चाहता है। फिर भी अपने कृत कर्मके अनुसार सुख-दुःखका स्वयं उपभोक्ता है । दुनिया मे कोई प्राणी ऐसा नही है, जो एक के सुख-दुःख को दूसरा व्यक्ति भोग सके । सभी प्राणी अपने कृत कर्मके अनुरूप ही सुख-दुःख का संवेदन करते हैं । परन्तु अतर इतना ही है कि सुख संवेदन की अभिलाषा सबको रहती है । सुख सब प्राणियोंको प्रिय लगता है, आनन्द देने वाला प्रतीत होता है, परन्तु दुःख कटु प्रतीत होता है । इस लिए दुनिया का कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता, वह दुःख से घबराता है, भयभीत होता है । फिर भी प्राणी दुःखसे संतप्त एवं संत्रस्त होते हैं । सभी दिशा-विदिशाओं में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहा उन्हें दुःख का संवेदन न होता हो ।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त प्राण, भूत, जीव और सत्त्व सामान्यत जीव के सम्सूचक हैं† । निरन्तर प्राण के धारक होने के कारण प्राण, तीनों काल मे रहने के

† गोयमा ! जम्हा आणा पाण तम्हा पाणेति वतव्व सिया, जम्हाभूते भवति भविस्सति य तम्हा भूयतिवत्तव्व सिया, जम्हा जीवे जीवइ जीवत्त आउय च कम्म उवजीवइ

कारण भूत, तीनों काल मे जीवन युक्त होने से जीव और पर्यायों का परिवर्तन होने पर भी त्रिकालमें आत्मद्रव्य को सत्ता में अंतर नहीं आता, इस दृष्टि से सत्त्व कहलाता है इस अपेक्षा से सभी शब्द जीव के ही परिचायक हैं। इस तरह समभिरूढनय की अपेक्षा से इनमें भेद परिलक्षित होता है‡।

इन सब मे थोड़ा भेद भी है, वह यह है—प्राण से तीन विकलेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय प्राणी लिए हैं, भूत से वनस्पतिकायिक जीवों को लिया जाता है, जीव से पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च एवं मनुष्यों का ग्रहण किया जाता है और सत्त्व से पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायुकाय को लिया जाता है*।

"परिनिर्वाण" शब्द का अर्थ सुख है, इस दृष्टि से अपरिनिर्वाण का अर्थ दु.ख होता है। और दिशा-विदिशा से द्रव्य और भाव उभय दिशाओं को ग्रहण करना चाहिए।

इससे स्पष्ट हो गया कि प्रत्येक जीव सुख चाहता है और दु ख नहीं चाहता। फिर भी विभिन्न दु खोंका संवेदन करता है। इसका कारण यह है कि वह विविध आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होकर कर्म बन्धनसे आबद्ध होकर दु'खों का संवेदन करता है। परन्तु जीव आरम्भ-समारम्भ-हिसा के कार्य में क्यों प्रवृत्त होता है? इसका कारण बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तत्थ-तत्थ पुढो पास आतुरा परितावंति, संति पाणा पुढो सिया ॥५२॥

छाया—तत्र-तत्र पृथक् पश्य आतुराः परितापयन्ति सन्ति प्राणिनः पृथक् श्रिताः।

तम्हा जीवेत्ति वत्तव्व सिया, जम्हा सत्ते सुहासुहेहिं कम्मेहिं तम्हा सत्तेति वत्तव्व सिया, जम्हा तित्तकडुयकसायअ बिलमहुरे रसे जाणइ तम्हा विन्नुत्ति वत्तव्व सिया, वेदेइ य सुह दुक्ख तम्हा वेदेति वत्तव्व सिया।

भगवती सूत्र, श० २, उ १

‡ यदिवा शब्दव्युत्पत्तिद्वारेण समभिरूढनयमतेन भेदो द्रष्टव्य. तद्यथा सततप्राणधारणात्प्राणा, कालत्रयभवनात् भूता, त्रिकालजीवनात्जीवा सदास्तित्वात् सत्त्वा इति।

* प्राणा द्वित्रिचतु प्रोक्ता भूतास्तु तरव स्मृता।
जीवा. पञ्चेन्द्रिया प्रोक्ता., शेषा सत्त्वा' उदीरिता ॥ आचराग सूत्र, टीका-५०

पदार्थ—तत्थ-तत्थ—उन-उन कारणो मे। पुढो—विभिन्न प्रयोजनो के लिए। पास–हे शिष्य ! तू देख। आतुरा—विषयो मे आतुर-अस्वस्थ मन वाले जीव। परितावंति—अन्य जीवो को परिताप देते हैं–दु खो से पीडित करते है, किन्तु। पाणा—प्राणी। पुढो—पृथक्-पृथक्। सिया—पृथ्वी, जल; वायु आदि के आश्रित। संति—विद्यमान है।

मूलार्थ–हे शिष्य! तू देख कि ये विषय-कषायादि से पीडित अस्वस्थ मन वाले जीव विभिन्न प्रयोजन एव अपने स्वार्थो की पूर्ति के लिए अनेक त्रस प्राणियो को परिताप, कष्ट एव वेदना पहुचाते हैं। ये त्रस जीव पृथ्वी, पानी वायु आदि के आश्रय मे रहे हुए यत्र तत्र सर्वत्र विद्यमान है।

हिन्दी विवेचन

भारतीय चिन्तन धारा के प्राय: सभी चिन्तकों ने, विचारकों ने, हिसा को पाप माना है, त्याज्य कहा है। फिर भी हम देखते हैं कि अनेक व्यक्ति त्रस जीवों की हिसा में प्रवृत्त होते है। इसी कारण यह प्रश्न उठता है कि जब हिसा दोष युक्त है, तो फिर अनेक जीव उसमें प्रवृत्त क्यों होते हैं? प्रस्तुत सूत्र में इसी प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार ने बताया है कि विषय-वासना मे आतुर बना व्यक्ति हिसा के कार्य मे प्रवृत्त होता है।

हिंसा में प्रवृत्ति के लिए सूत्रकार ने "आतुर" शब्द का प्रयोग किया है। वस्तुत: आतुरता-अधीरता जीवन का बहुत बड़ा दोष है। जीवन व्यवहार में भी हम देखते हैं कि आतुरता के कारण अनेकों काम बिगड़ जाते हैं। क्योंकि जब जीवन मे किसी कार्य के लिए आतुरता, अधीरता या विवशता होती है, तो वह व्यक्ति उस समय अपने हिताहित को भूल जाता है। परिणाम स्वरूप बाद मे काम बिगड़ जाता है और केवल पश्चाताप करना ही अवशेष रह जाता है। इसलिए महापुरुषों का यह कथन बिल्कुल सत्य है कि कार्य करने के पूर्व खूब गहराई से सोच–विचार लेना चाहिए और धीरता के साथ काम करना चाहिए। जैसे व्यवहारिक कार्य के लिए धीरता आवश्यक है, उसी तरह आध्यात्मिक साधना के लिए भी धीरता आवश्यक है।

इससे स्पष्ट हो गया कि आतुरता जीवन का बहुत बड़ा दोष है। आतुर व्यक्ति जीवन का एवं प्राणियों का हिताहित नहीं देखता। वह तो अपना स्वार्थ या प्रयोजन पूरा करने की चिन्ता मे रहता है। भले ही, उसमे अनेक जीवों का नाश हो या उन्हें परिताप हो, वह यह नहीं देखता। क्योंकि आतरता मे उसकी दृष्टि धुंधली हो

जाती है। अपने स्वार्थ एवं विषय-वासना के अतिरिक्त उसके सामने कुछ रहता ही नही। इसी अपेक्षा से कहा गया कि विषय-वासना में आतुर व्यक्ति त्रस जीवों की हिंसा में प्रवृत्त होते हैं। और पृथ्वी, पानी, वायु आदि के आश्रय मे रहे हुए विभिन्न जीवों को विभिन्न प्रकार से परिताप देते है। अत हिंसा मे प्रवृत्त होने का कारण आतुरता एव स्वार्थी मनोभावना ही है, ऐसा समझना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य यह है कि आतुरता हिंसा का कारण है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को आतुरता का त्याग करके हिसा से दूर रहना चाहिए। उसे प्रत्येक कार्य धीरता के साथ विवेक एवं यत्ना पूर्वक करना चाहिए।

इस संबन्ध में अन्य मत के विचारों को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारभमाणा अणगे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए जाईमरणमोयणाए दुक्खपड़िघायहेउं से सयमेव तसकायसत्थं समारभइ अरणोहिं वा तसकायसत्थं समारंभावेइ अणोवा तसकायसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति, एस खलु गंथे-एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकाय समारंभेणं तसकायसत्थं समारंभमाणे अणगे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ॥ ५३॥

छाया—लज्जमानान् पृथक् पश्य, अनगाराः स्मः इत्येके प्रवदमानाः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः त्रसकायसमारंभेण त्रसकायशस्त्रं समारभमाणाः

अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहिंसन्ति, तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, अस्य चैव जीवितस्य परिवंदन-मानन-पूजनाय जाति-मरण विमोचनाय दुःखप्रतिघातहेतुं सः स्वयमेव त्रसकायशस्त्रं समारभते, अन्यैर्वा त्रसकायशस्त्रं समारम्भयति अन्यान् वा त्रसकायशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते तत् तस्य अहिताय तत् तस्य अबोधये, स तत् संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतः अनगाराणामन्तिके इह एकेषां ज्ञातं भवति एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः इत्यर्थं गृद्धो लोकः यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैः त्रसकाय समारम्भेण त्रसकाय शस्त्रं समारंभमाणाः अन्यान् अनेक रूपान् प्राणिनः विहिनस्ति ।

पदार्थ—लज्जमाणा—लज्जा पाते हुए। पुढो—पृथक्-पृथक् वादियों को। पास—हे शिष्य! तू देख। अणगारामोत्ति—हम अनगार हैं। एगे—कोई कोई वादी। पवयमाणा—कहते हुए। जमिण—जो यह प्रत्यक्ष। विरूवरूवेहिं—नाना प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रों से। तसकायसमारंभेण—त्रसकाय के समारम्भ-हिंसा के निमित्त। तसकाय सत्थ—त्रसकाय शस्त्र का। समारम्भमाणा—समारम्भका प्रयोग करते हुए। अण्णे—अन्य। अणेगरूवे—अनेक प्रकार के। पाणे—प्राणियों की। विहिंसति—हिंसा करते हैं। तत्थखलु—वहां निश्चय ही। भगवया—भगवान ने। परिण्णा पवेइया—परिज्ञा ज्ञान से यह प्रतिपादन किया है। इमस्सचेव जीवियस्स—इस जीवन के निमित्त। परिवंदण—प्रशंसा के लिए। माणण—सम्मान के लिए। पूयणाए—पूजा के लिए। जाइ-मरण-मोयणाए—जन्म-मरण से छूटने के लिए। दुक्खपडिघायहेउं—दुःख प्रतिघात के लिए। से—वह। सयमेव—स्वयं। तसकायसत्थं त्रस काय शस्त्र का। समारभइ—समारंभ-हिंसा करता है। वा—अथवा। अण्णेहिं—दूसरों से। तसकायसत्थ—त्रसकाय शस्त्र का। समारम्भावेइ—समारम्भ कराता है। वा—अथवा। अण्णे—अन्य। तसकायसत्थ—त्रसकाय शस्त्र द्वारा। समारम्भमाने—समारम्भ करने वालों की समणुजाणइ—अनुमोदन करता है। त—वह-त्रसकाय का आरम्भ। से—उसको। अहियाए—अहित के लिए है। त—वह-आरम्भ। से—उसको। अबोहियाए—अबोध के लिए है। से—वह। त—उस आरम्भ के फल को। संबुज्झमाणे—सबोध को प्राप्त होता हुआ। आयाणीय—आचरणीय-सम्यग् दर्शनादि विषय में। समुट्ठाय—सावधान होकर। सोच्चा—सुनकर। भगवओ—भगवान का। अणगाराण—अनगारों के। अंतीए—समीप। इह—इस संसार में। एगेसिं—किसी-किसी जीव को। णायं—विदित। भवति—होता है। एस खलु। निश्चय

ही यह आरभ। गथे—आठ कर्मो की ग्रन्थी रूप है। एस खलु—यह आरभ। मोहे—मोह अज्ञान रूप है। एस खलु—यह आरभ। मारे—मृत्यु रूप है। एस खलु—यह आरभ। णरए—नरक रूप हैं। इच्चत्थं—इस प्रकार अर्थादि मे। गड्ढिए—मूर्च्छित है। लोए—लोक-प्राणि-समुदाय। जमिण—जिस कारण से। विरूवरूवेहि—नाना प्रकार के। सत्थेहि—शस्त्रो मे। तसकाय समारम्भेण—त्रसकाय के समारभ के निमित्त। तसकाय सत्य—त्रसकाय शस्त्र का। समारम्भमाणे—समारभ करता हुआ। अण्णे—अन्य। अणेगरूवे—अनेक प्रकार के। पाणे—प्राणियो की। विहिंसति—विविध प्रकार से हिंसा करता है।

मूलार्थ-श्री सुधर्मा स्वमी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते है हे शिष्य ! तू सावद्यानुष्ठान से लज्जित हुए इन अन्यमत वालोको देख। जोकि हम अनगार है इस प्रकार कहते हुए भो नाना प्रकार के शस्त्रो द्वारा त्रसकाय के समारभ के निमित्त त्रसकाय का विनाश करते हुए अन्य अनेक प्रकार के प्राणियो की भो हिंसा करते हैं। इस त्रसकाय समारंभ के विषय मे भगवान ने अपने प्रकृष्टज्ञान से प्रतिपादन किया है कि जो यह प्रमादी जीव इस क्षण भगुर जीवन के निमित प्रशसा सन्मान और पूजा के लिए जन्म-मरण से छूटने के लिए तथा अन्य कायिक वाचिक और मानसिक दु खो की निवृति के लिए त्रसकाय का स्वय आरभ करता है, दूसरो से कराता है और जो आरभ कर रहे है उनकी प्रशसा करता है वह आरभ उसके अहित और अवोधि लाभ के लिए है इस प्रकार स्वय भगवान अथवा उनके सम्भावित साधुओ से त्रसकाय के समारम्भ के अनिष्ट फल को सुन कर पूर्ण श्रद्धा और सम्यक् बोध को प्राप्त हुआ शिष्य यह जानने लगता है कि यह त्रसकाय का समारम्भ अष्ट कर्मो की ग्रन्थी रूप है, मोह का कारण होने से मोह रूप है, तथा मृत्यु का जन्म होने से मृत्यु रूप है और नरक का हेतु होने से नरक रूप है। फिर भी विषय-भोगो मे अधिक मूर्च्छित हुआ असाक्त हुआ यह लोकप्राणी समूह इससे निवृत्त नही होता। जोकि यह प्रत्यक्ष रूप से नाना प्रकार के शस्त्रो द्वारा त्रसकाय के समारम्भ से त्रसकाय के विनाश के साथ २ अन्य भी अनेक प्रकार के प्राणियो की हिंसाकरता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या पृथ्वी और अप्काय के प्रकरण में विस्तार से कर चुके हैं। यहां इतना ही बता देना पर्याप्त होगा कि प्रस्तुत सूत्र मे अध्यात्म योग साधना की ओर भी एक संकेत है। साधक को आध्यात्मिक साधना के द्वारा आत्म शक्ति को विकसित करना चाहिए। आध्यात्मिक साधना का अर्थ है—योगों को स्थिर करना या सावद्य कार्यों से हटाकर साधना में स्थिर होना। इसका स्पष्ट अर्थ है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं त्रस आदि समस्त प्राणी जगत के साथ समता एवं मैत्री भाव स्थापित करके, सर्व जीवों की हिंसा से त्रिकरण एवं त्रियोग से निवृत्त होना, इसी को आध्यात्म योग कहा है†।

प्रस्तुत सूत्र में "तसपाणे—त्रस प्राण" वाक्य का प्रयोग किया गया है। प्राण नाम श्वासोच्छ्वास का है। इसका तात्पर्य यह है कि जो प्राण संत्रस्त हैं–विषम चल रहे हैं, उन्हें निरोध कर के सम करना, जिससे मन और आत्मा में समता का प्रादुर्भाव हो सके। इस तरह प्रस्तुत सूत्र में आध्यात्मिक चिन्तन एवं आत्म विकास की ओर बढ़ने का भी संकेत मिलता है।

यह पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रमादी जीव आतुरता के वश तथा अपना स्वार्थ साधनेके लिए या अपने जीवनको सुखमय बनाने आदि के लिए हिंसा में प्रवृत्त होते हैं। इसके अतिरिक्त हिंसामें प्रवृत्त होने के और भी कई कारण हैं। उन्हें स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

मूलम्—से बेमि अप्पेगे अच्चाए हणंति, अप्पेगे अजिणाए वहंति, अप्पेगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणियाए वहंति, एवं हियाए, पित्ताए, वसाए, पिच्छाए, पुच्छाए, वालाए, सिंगाए, विसाणाए, दंताए, दाढ़ाए, णहाए, ण्हारुणीए, अट्ठीए, अट्ठिमिंजाए अट्ठाए अणट्ठाए, अप्पेगे हिंसिंसु मेत्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसंति मेत्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसिस्संति मेत्ति वा वहंति ॥५४॥

छाया—सः (अहं) ब्रवीमि, अप्येके अर्चायै घ्नन्ति, अप्येके अजिनाय घ्नन्ति,

† आत्ममनोमरुत्तत्त्व समतायोगलक्षणो ह्यध्यात्मयोग।

—नीतिवा० समु० ६, सूत्र १।

अप्येके मांसाय घ्नन्ति, अप्येके शोणिताय घ्नन्ति एवं-हृदयाय, पित्ताय, वसायै, पिच्छाय, पुच्छाय, वालाय, शृंगाय, विषाणाय, दन्ताय, दंष्ट्रायै, नखाय, स्नायवे, अस्थने, अस्थिमज्जायै, अर्थाय-अनर्थाय, अप्येके हिंसितवन्तः मे इति वा घ्नन्ति, अप्येके हिंसंति मे इति वा घ्नन्ति, अप्येके हिंसिष्यंति मे इति वा घ्नन्ति।

पदार्थ—से—मै वह। बेमि—कहता हूँ।अप्पेगे—कोई एक। अच्चाए—अर्चना-देवी देवता की पूजा के लिए। हणंति—जीवो की हिंसा करते है। अप्पेगे—कोई एक। अजिणाए—चर्म के लिए। वहति—जीवो का वध करते है। अप्पेगे—कोई एक। मसाए वहति—मास के लिए प्राणियो को मारते हैं। उप्पेगे—कोई एक। सोणियाए वहति—खून के लिए वध करते है। एवं—इसी प्रकार, कोई। हिययाए—हृदय के लिए। पित्ताए—पित्त के लिए। वसाए—चर्बी के लिए। पिच्छाए–पिच्छ-पख के लिए। पुच्छाए—पूंछ के लिए। वालाए—केशो के लिए। सिंगाए—शृग-सीगो के लिए। विसाणाए—विषाण के लिए। दंताए—दातो के लिए। दाढाए—दाढो के लिए। णहाए—नाखुनो के लिए। ण्हारूणीए—स्नायु के लिए। अट्ठिए—अस्थिओ के लिए। अट्ठिमिज्जाए—अस्थि और मज्जा के लिए। अट्ठाए—किसी प्रयोजन के लिए। अणट्ठाए—निष्प्रयोजन ही। अप्पेगे—कोई एक। हिंसिसुमेत्ति वा—इसने मेरे स्वजन स्नेहियोकी हिंसा की है, ऐसा मानकर। वहंति—सिंह, सर्प आदि जन्तुओ की हिंसा करते हैं। अप्पेगे—कोई एक। हिंसंति मेत्ति वा वहति—ये मुझे मारते है, ऐसा सोच कर सिंह—सर्प आदि का वध करते हैं। अप्पेगे—कोई एक। हिंसिस्सत्ति मेत्ति वा वहंति—ये भविष्य मे मुझे मारेगे, ऐसा विचार कर के सिंह-सर्प आदि प्राणियो के प्राणो का नाश करते हैं।

मूलार्थ—हे शिष्य! मै तुमसे कहता हू कि इस ससार मे अनेक जीव देवी-देवता की पूजा के लिए, कई चर्म के लिए या मास, खून, हृदय, पित्त; चरबी, पख, पूंछ, केश, शृग-सीग, विषाण, दन्त, दाढ, नाखुन, स्नायु, अस्थि, अस्थि-मज्जा, आदि पदार्थो के लिए, प्रयोजन या निष्प्रयोजन से अनेक प्राणियो का वध करते है, कुछ एक व्यक्ति इस दृष्टि से भी सिह सर्प आदि जन्तुओ का वध करते है। कि उन्होने मेरे स्वजन स्नेहियो को मारा है, यह मुझ मारता है तथा भविष्य मे मारेगा।

हिन्दी विवेचन

मनुष्य जब स्वार्थके वश मे होता है, तो वह अपना स्वार्थ साधने के लिए

विभिन्न जीवोंकी अनेक तरह से हिंसा करता है। अपने स्वार्थ के सामने उसे दूसरे प्राणियों के प्राणों की कोई चिन्ता एवं परवाह नहीं होती। अपनी प्रसन्नता, वैभव-शालीता व्यक्त करने के लिए, मनोरंजन, ऐश्वर्य एवं स्वादके लिए स्वार्थी व्यक्ति हजारों-लाखों प्राणियों का वध करते हुए जरा भी नहीं हिचकिचाता। कुछ व्यक्ति धन कमानेके लिए पशुओं का वध करते हैं, तो कुछ व्यक्ति अपने शरीरकी शोभा बढ़ानेके लिए अनेक प्राणियोंके वधमे सम्मिलित होते हैं। परन्तु, कुछ व्यक्ति स्वादके लिए अपने पेटको अनेक पशुओंका कब्रिस्तान ही बना डालते हैं। इस प्रकार स्वार्थी लोगोंके हिंसा करने के अनेक कारणों का वर्णन प्रस्तुत सूत्र मे किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि कुछ लोग अर्चा के लिए प्राणियों का वध करते हैं। अर्चा का पूजा और शरीर ये दो अर्थ होते हैं। विद्या-मन्त्र आदि साधने हेतु या देवी-देवता को प्रसन्न करने के बहाने लक्षणों युक्त पुरुष या पशु का वध करते हैं। तथा शरीर को शृंगारनेके लिए अनेक जीवोंको मारते हैं। इस प्रकार वे पूजा एवं शरीर शृंगार दोनों के लिए अनेक प्रकार के पशुओं की हिंसा करते हैं।

इसके अतिरिक्त चमडे के लिए अनेक प्राणियों का वध किया जाता है। और उस मृग चर्म एवं सिंह के चर्म का कई सन्यासी भी उपयोग करते हैं। परन्तु आजकल क्रोम, काफलेदर आदि चमड़ेके बूट, हेंड बेग एवं घड़ियोंके फीते रखने का फैशन-सा हो गया है और इनके लिए अनेक गायों, गाय के बछड़ो एवं भैंसों की हिंसा होती है। इसी तरह मांस एवं खूनके लिए बकरे, मृग, शूकर आदिका, पित्त एवं पंख आदि के लिए मयूर, शुतर मुर्ग आदि पक्षियों का, चर्बी के लिए व्याघ्र, शूकर, मछली आदि का, पूछके लिए चमरी गाय का, शृंगके लिए मृग, बारहसींगा आदि का, विषाण के लिए या सूअर का। दांतके लिए हाथी का, दाढ के लिए वराह आदिका, स्नायु के लिए गो-महिषी आदिका अस्थि के लिए शंख, सीप आदिका, अस्थि-मज्जा के लिए सूअर आदिका वध करते हैं। अनेक लोग प्रयोजन से पशु-पक्षियों का वध करते हैं और कुछ एक व्यक्ति निष्प्रयोजन ही अर्थात् केवल कुतूहल के लिए, मनोरंज के लिए अनेक प्राणियों की जान ले लेते हैं। कुछ व्यक्ति सिंह-सर्प आदि को इसलिए मार देते हैं कि इन्होंने मेरे स्वजन-स्नेहियों को मारा था। कुछ लोग इन्हें इसलिए मार देते हैं कि ये विषाक्त जन्तु मुझे मारते हैं और कुछ व्यक्ति इस संदेह से ही उनका प्राण ले लेते हैं कि ये जन्तु भविष्य में मुझे मारेंगे। इस प्रकार

। हाथी और सूअर के दांत को विषाण कहते हैं। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में विषाण शब्द सूअर के दांत के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अनेक सकल्प-विकल्प एवं स्वार्थों के वश व्यक्ति त्रस जीवों को हिंसामें प्रवृत्त होते हैं। और उससे प्रगाढ़ कर्म बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करते हैं। इसलिए विवेकशील पुरुषको इन हिसा जन्य कार्यों से दूर रहना चाहिए । इसी वातको वताते हुए सूत्रकार कहते हैं ।

मूलम्—एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरम्भा अपरिणाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिणाया भवंति, तं परिणाय मेहावी णेव सयं, तसकायसत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं तसकायसत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे तसकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते तसकाय समारंभा परिणाया भवंति से हु मुणी परिणाय कम्मे, त्तिबेमि ॥५५॥

छाया—अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भा अपरिज्ञाताः भवन्ति, अत्र शस्त्रमसमारम्भमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति । तत्परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं त्रसकाय शस्त्रं समारभेत, नैवान्यैः त्रसकाय शस्त्रं समारम्भयेत्, नैवन्यान् त्रसकाय शस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात । यस्यैते त्रसकाय समारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति सः एव मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि ।

पदार्थं—एत्थ—इस त्रस काय के विषय मे । सत्थं-शस्त्र का । समारभमाणस्स-समारभ करने वाले को । इच्चेते—ये सब । आरभा—समारभ । अपरिण्णाया भवति—अपरिज्ञात होते हैं । एत्थ—इस त्रसकाय के विषय मे । सत्थ—शस्त्र का । असमारम्भमाणस्स—समारम्भ नही करने वाले को । इच्चेते—ये सब । आरम्भा—आरम्भ । परिण्णाया भवन्ति—परिज्ञात होते हैं । त परिण्णाय—उस आरम्भ को परिज्ञात करके । मेहावी—बुद्धिमान । णेवसयं-न स्वय । तसकाय सत्थं—त्रसकाय शस्त्र का । समारम्भेज्जा—समारम्भ करे । णेवण्णेहि—न अन्य से । तसकाय सत्थं—त्रसकाय शस्त्र का । समारम्भावेज्जा—समारम्भ करावे, तथा । तसकाय सत्थ—त्रसकाय शस्त्र का । समारम्भते—समार भ करने वाले । अण्णे—अन्य व्यक्ति का । णेव—नही । समणुजाणेज्जा—समर्थन करे । जस्सेते—जिसको ये । तसकाय समारंभा—त्रसकाय समारम्भ । परिण्णाया भवंति—परिज्ञात होते है । से हु मुणी—वही मुनि । परिण्णाय कम्मे—परिज्ञात कर्मा है । त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—जो व्यक्ति त्रसकाय के आरंभ का त्यागी नहीं है, वह इन आरम्भों से अपरिज्ञात है। और जो त्रसकाय के आरम्भ का त्यागी है, उसे ये आरम्भ परिज्ञात हैं। और ज्ञपरिज्ञा से इन आरंभों को जनाने तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से इन आरम्भों का त्याग करने वाला बुद्धिमान व्यक्ति न स्वयं त्रसकाय की हिंसा करता है, न दूसरो से कराता है और हिंसा करने वाले व्यक्ति का समर्थन ही करता है। जिस व्यक्ति को ये आरम्भ परिज्ञात हैं, वही मुनि परिज्ञात-कर्मा है। ऐसा मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या दूसरे-तीसरे आदि उद्देशों के अन्तिम सूत्रवत् ही समझनी चाहिए। 'त्तिबेमि' की व्याख्या भी पूर्ववत् ही समझें।

॥ षष्ठ उद्देशक समाप्त ॥

प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा

सप्तम उद्देशक

प्रस्तुत उद्देशक में, ६ कायमें अवशिष्ट वायुकाय का वर्णन किया गया है। जैसे पृथ्वी, पानी आदि अन्य स्थावरकाय सजीव है, उसी प्रकार वायुकाय भी सजीव है, सचेतन है। इसलिए उस का आरम्भ-समारम्भ भी कर्म-बन्ध का कारण है, संसार परिभ्रमण एवं दुःख परंपरा को बढ़ाने वाला है। अत वायुकायिक जीवों के आरम्भ से निवृत्त होने वाला ही मुनि है। इत्यादि बातों का प्रस्तुत उद्देशक मे विवेचन किया गया है। उसका आदि सूत्र निम्नोक्त है—

मूलम्—पहू एजस्स दुगुंछणाए ॥५६॥

छाया—प्रभुः एजस्य जुगुप्सायाम् ।

पदार्थ—एजस्स—वक्ष्यमाण गुणो वाला व्यक्ति वायुकाय के। दुगुंछणाए—आरम्भ का त्याग करने में। पहू—समर्थ होता है।

मूलार्थ—हे शिष्य वक्ष्यमाण गुणो वाला व्यक्ति वायुकायिक जीवो के आरम्भ से निवृत्त होने में समर्थ होता है।

हिन्दी विवेचन

वायुकायिक जीवों की हिंसा कर्म बन्ध का कारण है। अतः कर्म बन्ध से वही व्यक्ति बच सकता है, जो वायुकायकी हिंसा से निवृत्त होता है। इस पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वायुकायिक जीवों की हिंसा से कौन निवृत्त होता है? इस प्रश्न का समाधान आगे के सूत्र में करेंगे। प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने संकेत मात्र किया है कि अगले सूत्रमे जिस व्यक्ति के गुणों का निर्देश किया जाने वाला है, उन गुणों से संपन्न व्यक्ति ही वायुकाय के आरम्भ से निवृत्त होने में समर्थ है।

'एज' शब्द वायुकाय के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। और इसका प्रयोग वायुकाय की गति की अपेक्षा से हुआ है। क्योंकि 'एज' शब्द 'एजृ कम्पने' धातुसे बना है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—"एजतीत्येजी वायु कम्पनशीलत्वात्"। अर्थात् कम्पनशील होने के कारण वायु को 'एज' कहते हैं। और जुगुप्सा का अर्थ निवृत्ति है। इससे निष्कर्ष यह

निकला कि वायुकाय के आरम्भ से निवृत्त होने मे वह व्यक्ति समर्थ है, जो सूत्रकार की भाषा में निम्नोक्त गुणों से युक्त होता है—

मूलम्---आयंकदंसी अहियंति णच्चा, जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ, एयं तुलमन्नेसिं ॥५७॥

छाया—आतङ्कदर्शी अहितमिति ज्ञात्वा, योऽध्यात्मं जानाति स बहिर्जानाति यो बहिर्जानाति सोऽध्यात्मं जानाति एतां तुलामन्वेषयेत् ।

पदार्थ—अहियति—वायुकायिक जीवो की रक्षा वही कर सकता है, जो आरंभ को अहितकर। णच्चा—जानकर । आयंकदंसी—आतकदर्शी-दु खो का ज्ञाता है, द्रष्टा है। जे—जो। अज्झत्थ—आत्म स्थित-अपने सुख-दु ख को। जाणइ—जानता है। से—वह । बहिआ—अन्य प्राणियो के सुख-दु ख आदि को जानता है। जे—जो। बहिया—अन्य प्राणियो के सुख-दु ख को। जाणइ—जानता है। से—वह। अज्झत्थ जाणइ—अपने सुख-दु ख को जानता है। एव—इन दोनो को। तुल—तुल्य। अन्नेसि—गवेषण करे अर्थात् जगत के अन्य जीवो को अपने समान जानकर उनकी रक्षा करे।

मूलार्थ—वायु कायिक जीवो की हिसा को दु खोत्पादक होने से जो व्यक्ति उसे अहितकर जानता है, वह उनकी रक्षा करने मे समर्थ होता है और जो अपने सुख-दु ख आदि को जानता है, वह अन्य प्राणियो के सुख-दु ख को भी जनाता है और जो प्राणी जगत के मुख-दु ख को जानता है, वह अपने सुख-दु ख को भी जानता है। इस तरह मुनि अपने एव प्राणी जगत अर्थात समस्त प्राणियो के सुख-दु ख को समान समझ कर सब की रक्षा करे

हिन्दी विवेचन

संसार में दो प्रकार का आतंक होता है— १-द्रव्य-आतंक और २-भाव-आतंक। विष आदि जहरीले पदार्थों से मिश्रित भोजन द्रव्य आतंक है और नरक, तिर्यञ्च आदि गतियों में भोगे जाने वाले दु ख भाव आतंक कहलाते हैं। इन उभय आतंकों के स्वरूप को भली-भांति जानने वाला आतंकदर्शी कहलाता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि आरम्भ-समारम्भ एवं पाप कार्य से डरने वाला व्यक्ति ही आतंकदर्शी होता है। क्योंकि आरम्भ-समारम्भ से पायकर्म का बन्ध होता है और पापकर्म के

बन्धन से जीव नरक आदि गतियों में उत्पन्न होता है और वहां विविध दुःखों का संवेदन करता है। अस्तु, उन दुःखों से डरने वाला अर्थात् नरक आदि गति में महावेदना का संवेदन न करना पड़े ऐसी भावना रखने वाला आतंकदर्शी व्यक्ति सदा आरम्भ-समारम्भ से बचकर रहता है, वह हिंसा से निवृत्त रहता हैं, प्रतिक्षण विवेक पूर्वक कार्य करता है, फलस्वरूप वह पाप कर्म का बन्ध नहीं करता और न नरक-तिर्यञ्च के दु खों का सवेदन ही करता है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि जो आतंकदर्शी है, वही व्यक्ति हिसा को अहितकर एवं दु.खजन्य समझकर उससे निवृत्त होने में समर्थ है। वस्तुस्थिति भी यही है कि हिसा को अहितकर समझने वाला ही उसका परित्याग कर सकता है। जो व्यक्ति हिंसा के भयावने परिणाम से अनभिज्ञ है तथा हिंसा को अहितकर एवं बुरा नहीं समझता है, उससे हिंसा से निवृत्त होने की आशा भी कैसे रखी जा सकती है। अत आतंकदर्शी ही हिसा से निवृत्त हो सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'जे अज्झत्थ जाणइ..... ....' आदि पद भी वड़े महत्त्वपूर्ण है। इन पदों के द्वारा सूत्रकार ने आत्म विकास की ओर गतिशील आत्मा का वर्णन किया है। वास्तव में वही व्यक्ति अपनी आत्मा का विकास कर सकता है, जो अपने सुख-दु ख के समान ही अन्य प्राणियों के सुख-दु ख को देखता है तथा दूसरों के सुख-दुःख के समान ही अपने सुख-दु.ख को समझता है या यों कहिए जो अपनी आत्मा के तुल्य ही समस्त प्राणियों की आत्मा को देखता है, वही विकास गामी है या मोक्ष मार्ग का पथिक है।

जब दृष्टि में समानता आ जाती है, तो फिर व्यक्ति किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुचाने का प्रयत्न नहीं करता, वह अपने सुख या स्वार्थ के लिए दूसरे के सुख, स्वार्थ एवं हित पर आघात-चोट नहीं करता। दूसरे को दु ख, कष्ट पहुंचाकर भी अपने सुख एवं स्वार्थ को साधने की भावना तभी तक बनी रहती है, जब तक दृष्टि मे विषमता है, अपने और पराये सुख का भेद है। अतः समानता की भावना जागृत होने के बाद आत्मा की विचारधारा में और विचार के ही अनुरूप आचार में परिवर्तन हो जाता है। फिर तो मनुष्य आत्म अपनी तुला मे प्राणी मात्र के सुख-दु ख को तोलता हुआ सदा प्राणी मात्र के सरक्षण में सलग्न रहता है। यही उसकी आत्मा का विकास मार्ग है, मोक्ष मार्ग है।

इससे निष्कर्ष यह निकला कि आतंकदर्शी अपनी आत्मतुला से प्राणी जगत के सुख-दु ख को तोलकर हिंसा से निवृत्त होता है। अर्थात् समस्त प्राणियों की रक्षा में प्रवृत्त होता है। यह प्रश्न हो सकता है कि वह आतंकदर्शी साधक स्थावर

जीवों की या वायुकायिक जीवों की रक्षा में किस प्रकार प्रवृत्त होता है ? इसी बात का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इह संतिगया दविया णावकंखंति जीविउं ॥५८॥

छाया—इह शान्तिगताः द्रविकाः नावकाङ्क्षन्ति जीवितुम् ।

पदार्थ—इह—इस जिन शासन मे। सतिगया—शाति को प्राप्त हुए। दविया—राग-द्वेष से रहित सयमी मुनि वायुकाय की हिंसा से। जीविउं—अपने जीवन को रखना। णावकखति—नही चाहते।

मूलार्थ—इस जिनशासन में शान्ति को प्राप्त हुए मोक्ष मार्ग पर गतिशील मुनि वायुकायिक जीवो को हिंसा करके अपने जीवन को जीवित रखने की इच्छा नहीं करते।

हिन्दी विवेचन

यह हम सदा देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को-प्रत्येक प्राणी को, जीवन प्रिय है। और प्रत्येक व्यक्ति जीवन को अधिक से अधिक समय तक बनाए रखने की इच्छा रखता है और इसके लिए वह हर प्रकार का कार्य कर गुज़रता है। आज दुनिया में चलने वाले छल-कपट, झूठ, फरेब, हिंसा, चोरी आदि पाप कार्य इस क्षणिक जीवन के लिए ही तो किए जाते हैं। इसके लिए प्रमादी व्यक्ति बड़े से बड़ा पाप एवं जघन्य कार्य करते हुए नहीं हिचकिचाता है।

एक ओर जीवन का यह पहलू है, तो दूसरी ओर जिनके जीवन में ज्ञान का प्रकाश जगमगा रहा है, दया का, अहिंसा का शीतल झरना बह रहा है, वहां जीवन का दूसरा चित्र भी है। या यों कहना चाहिए कि एक ओर जहां अपने जीवन के लिए, अपने स्वार्थ के लिए दूसरे प्राणियों की हिंसा की जाती है, वहां दूसरी ओर साधक वायुकायिक आदि जीवों की रक्षा के लिए तत्पर रहता है और यहां तक कि उनकी रक्षा के लिए अपने प्राण तक दे देता है, परन्तु अपने जीवन के लिए वायुकाय आदि किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता।

दया, रक्षा एवं अहिंसा की यह पराकाष्ठा जैन शासन मे ही है, अन्यत्र नहीं। 'इह' शब्द दया एवं अहिंसा प्रधान जैनधर्म का परिबोधक है। 'सतिगयः' शब्द १-प्रशम, २-संवेग, ३-निर्वेद, ४-अनुकम्पा और ५-आस्तिक्य को अभिव्यक्त करने वाले

सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र के रूप मे प्रयुक्त हुआ है और सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्र का समन्वय ही मोक्ष रूप पूर्ण आनन्द या शान्ति का मूल कारण है, इसलिए इस आध्यात्मिक त्रिवेणी सगम को शान्ति कहा है। ऐसे शात या मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधक को 'सतिगया-शातिगता' कहा है।

'दविया-द्रविका' का अर्थ है— 'द्रविका नाम रागद्वेषविनिर्मुक्ता.' अर्थात् राग-द्वेष से उन्मुक्त भव्य आत्मा को द्रविक कहते हैं। १७ प्रकार के सयम का नाम द्रव है। क्योंकि, सयम साधना से कर्म की कठोरता को द्रवीभूत कर दिया जाता है, इसलिए सयम को द्रव कहा गया है और उक्त सयम को स्वीकार करने वाले मुमुक्षु पुरुष को द्रविक कहते है।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र का अर्थ हुआ— सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की साधना से परम शाति को प्राप्त महापुरुष वायुकायिक जीवों की हिसा करके अपने जीवन को टिकाए रखने की आकाक्षा नहीं रखते। तात्पर्य यह निकला कि उन्हें अपने जीवन की अपेक्षा दूसरे के जीवन का अधिक ध्यान रहता है। इसलिए वे अपने सुख के लिए, अपने स्वार्थ के हेतु या अपने जीवन को वनाए रखने की अभिलाषा से दूसरे प्राणियों के सुख, हित, स्वार्थ एवं जीवन पर हाथ साफ नहीं करते। क्योंकि, अपनी आत्मा के समान ही जगत के अन्य जीवों की आत्मा है। अत अपने स्वार्थ के लिए वे दूसरों की हिंसा की आकांक्षा नहीं रखते हुए, प्राणी जगत की दया, रक्षा एवं अनु-कम्पा करते हैं। अत अहिंसा का इतना सूक्ष्म एव श्रेष्ठ स्वरूप जैन शासन के अतिरिक्त अन्य किसी धर्म मे नहीं मिलता[1]।

अस्तु, हम यह कह सकते है कि जैन साधु ही त्रस एवं स्थावर जीवों के संरक्षक हो सकते है। वे हिंसा के सर्वथा त्यागी होते हैं। अत. सूत्रकार अन्य मत वालों के संवन्ध में कहते हैं—

मूलम्—लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मोत्ति एगे पवय-माणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारम्भमाणे अणगे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु

---

[1] इहैव जैन प्रवचने य सयमस्तद्व्यवस्थिता एवोन्मूलितातितुङ्गरागद्वेषद्रुमा परभूतोपमर्द निष्पन्नसुखजीविकानिरभिलाषा. साधव , नान्यत्र, एवविवक्रियाववोधाभावादिति ।

—आचाराग सूत्र ५८, टीका

भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए-जाईमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वाउ-सत्थं समारभति, अण्णेहिं वा वाउसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणति, तं से अहियाए, तं से अबोहीए, से तं संवुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेण वाउ-सत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ॥ ५६॥

छाया—लज्जमानान् पृथक् पश्य, अनगाराः स्मः इत्येके प्रवदमानाः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वायुकर्मसमारंभेण वायुशस्त्रं समारभमाणाः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहिंसन्ति, तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, अस्य चैव जीवितस्य परिवंदन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण विमोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतुं स स्वयमेव वायुशस्त्रं समारंभते, अन्यैश्च वायुशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वायुशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानाति तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधये, स तत् संबुध्यमानः आदानीय समुत्थाय श्रुत्वा भगवतः अनगाराणामन्तिके इह एकेषां ज्ञातं भवति एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु निरयः इत्यर्थं गृद्धो लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वायुकर्म समारम्भेण वायुशस्त्रं समारंभमाणाः अन्यान् अनेक रूपान् प्राणिनः विहिनस्ति।

पदार्थ—लज्जमाणा—लज्जा पाते हुए। पुढो—पृथक्-पृथक् वादियों को। पास—हे शिष्य! तू देख। अणगारामोत्ति—हम अनगार हैं। एगे—कई एक। पवयमाणा—कहते हुए। जमिणं—जिसमे वे। विरूवरूवेहिं—नाना प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रों से। वाउकम्म-

समारंभेण—वायु कर्म समारभ से। वाउसत्थ—वायुकाय शस्त्र के द्वारा। समारम्भमाणे—समारम्भ करते हुए। अण्णे-अन्य। अणेगरूवे—अनेक प्रकार के। पाणे—प्राणियों की। विहिंसति—हिंसा करते है। तत्थ—उस आरम्भ के विषय मे। खलु—निश्चय ही। भगवया—भगवान ने। परिण्णा—परिज्ञा। पवेइया—प्रतिपादन किया है। इमस्सचेव—इस असार जीवन के लिए। परिवदणमाणणपूयणाए—प्रशसा, मान और पूजा के लिए। जाइ-मरण-मोयणाए—जन्म-मरण से छूटने के लिए। दुक्खपडिघायहेउ-अन्य दु खो के विनाशार्थ। से—वह। सयमेव-स्वयमेव। वाउसत्थ—वायुकाय शस्त्र का। समारभति—समारम्भ करता है। वा-अथवा। अण्णेहि—दूसरो से। वाउसत्थ—वायु शस्त्र का। समारम्भावेइ—समारम्भ कराता है। अण्णे—अन्य। वाउसत्थ—वायु शस्त्र का। समारम्भमाणे—समारभ करने वालो की। समणुजाणइ—अनुमोदन करता है। त—वह-वायुकाय का आरम्भ। से—उसको। अहियाए—अहित के लिए है। त—वह-आरम्भ। से—उसको। अवोहीए—अवोघ के लिए है। से—वह। त—उस आरम्भ के फल को। सवुज्झमाणे—जानता हुआ। आयाणीय—आचरणीय सम्यग् दर्शनादिको। समुट्ठाय—ग्रहणकर। सोच्चा—सुनकर। भगवओ—भगवान या। अणगाराण—अनगारो के। अंतीए—समीप। इह—इस जिन शासन मे। एगेंसि—किसी-किसी प्राणी को। णायंभवति—यह ज्ञात होना है कि। एसखलु—निश्चय ही यह आरभ। गथे—आठ कर्मो की ग्रन्थी रूप है। एस खलु—यह आरम्भ। मोहे—मोहरूप है। एस खलु—निश्चय ही यह आर भ। मारे—मृत्यु रूप है। एस खलु—निश्चय ही यह आरम्भ। णिरए—नरक का कारण होने से नरक रूप है। इच्चत्थ—इस प्रकार अर्थ मे। गड्ढिए—मूर्च्छित। लोए—लोक-प्राणि-समुदाय। जमिण—जिससे। विरूवरूवेहिं—नाना प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रो से। वाउकम्मसमारम्भेणं—वायु कर्म समारभ से। वाउसत्थ—वायु शस्त्र का। समारम्भमाणे—समारंभ करता हुआ। अण्णे—अन्य भी। अणेगरूवे—अनेक प्रकार के। पाणे—प्राण्यो की। विहिंसति—हिंसा करते हैं।

मूलार्थ-हिंसा से लज्जित हुए दूसरे वादियो को हे शिष्य! तू देख। ये लोग, हम अनगार है इस प्रकार कहते हुए भो नाना प्रकार के शस्त्रो से वायु कर्म समारभ के द्वारा वायुकाय शस्त्र का समारम्भ-प्रयोग करते हुए साथ मे अन्य प्रकार के भो अनेक प्राणियो की हिसा करते है। इस विषय मे भगवान ने परिज्ञा-ज्ञ परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा का प्रतिपादन किया है। य प्रमादी जीव इस निसार जीवन के निमित्त प्रशसा, सन्मान और पूजा के लिए, जन्म-मरण से छूटने के लिए और अन्य शारीरिक-मानसिक दु खो

के विनाशार्थ नाना प्रकार के शस्त्रो द्वारा स्वय वायुकाय की विराधना करते है, दूसरो से कराते है तथा अन्य करने वालो की प्रशसा करते है, परन्तु यह उनके अहित के लिए और अवोध के लिए है। इस प्रकार वायुकाय समारभ के इस अनिष्ट फल को भगवान अथवा उनके संभावित साधुओ से सुनकर सम्यक् श्रद्धा युक्त वोध को प्राप्त हुआ शिष्य यह जानने लगता है कि इस ससार मे किसी २ व्यक्ति को ही यह ज्ञात होता है कि यह आरम्भ अष्ट कर्मो की ग्रन्थी रूप है, मोह, मृत्यु और नरक रूप है, ऐसा जान लेने पर भी अर्थाभिकाक्षी लोक-प्राणिसमूह इससे पराङमुख नही होता, अपितु अनेक प्रकार के शस्त्रो द्वारा वायुकाय समारम्भ से वायुकाय के जीवो की विराधना के साथ २ अन्य भी अनेक प्रकार के प्राणियो का विनाश करता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में उसी वात को दोहराया गया है, जिसका वर्णन पृथ्वीकाय, अप्काय आदि के प्रकरण मे कर चुके हैं। अन्तर इतना ही है कि वहां पृथ्वी आदि का उल्लेख किया गया है, तो यहां वायुकाय का प्रकरण होने से वायुकाय का नामोल्लेख किया गया है।

योग पद्धति से प्रस्तुत सूत्र का विवेचन करते हैं, तो यह सूत्र साधना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वायु से आरोग्य लाभ के साथ-साथ आत्मा मे अनेक शक्तियों एवं लब्धियों या सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है। क्योंकि, मन एव प्राण वायु का एक ही स्थान है। एक का निरोध करने पर दूसरे का सहज ही निरोध हो जाता है। इस अपेक्षा से वायु को व्यवस्थित करने से मन मे एकाग्रता आती है। जिससे चिन्तन मे गहराई एव सूक्ष्मता आती है और फल स्वरूप ज्ञान का विकास होता है। और आत्मा धीरे-धीरे विकास की सीढ़ियों को पार करते-करते एक दिन शरीर, वचन और मन योग के निरोध के साथ-साथ प्राण वायु का भी सर्वथा निरोध करके सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। चौदहवें गुणस्थान में पहुंच कर आत्मा त्रियोग के साथ 'आणपाण निरोहइत्ता' अर्थात् श्वासोच्छ्वास का भी सर्वथा निरोध कर लेता है। श्वासोच्छ्वास का संवन्ध योग के साथ है, क्योंकि शरीर में ही सांस का आवागमन होता है। और

वाणी एवं मन का भी शरीर के साथ ही संबन्ध है। त्रियोग में शरीर सब से स्थूल है, वाणी उससे सूक्ष्म है, और मन सबसे सूक्ष्म है। इसी कारण चौदहवें गुणस्थान को स्पर्श करते ही आत्मा सर्व प्रथम मन का निरोध करता है, उसके बाद वाणी का और फिर शरीर का निरोध करके समस्त कर्म बन्धनों एवं कर्म जन्य साधनों से मुक्त होकर शुद्ध आत्म स्वरूप को प्रकट करता है। अस्तु चौदहवें गुणस्थान को स्पर्श करके सिद्धत्व को पाना ही साधना का एक मात्र उद्देश्य है और इसके लिए वायु का व्यवस्थित रूप से निरोध करना लक्ष्य तक पहुचने मे सहायक होता है। इसकी साधना से साधक को अनेक लब्धियां प्राप्त होती हैं। स्वरोदय शास्त्र का आविष्कार इसी वायु तत्त्व के आधार पर हुआ है। परन्तु, इन सब शक्तियों का उपयोग आध्यात्मिक साधना को विकसित करने के लिए करना चाहिए, न कि ऐहिक सुखों के लिए। क्योंकि, भौतिक सुख क्षणिक है और उनके पीछे दु खों का अनन्त सागर ठाठे मार रहा है। अत साधक को भौतिक सुखों की मृगतृष्णा को त्याग कर अपनी शक्ति को आत्मा को कर्मों से सर्वथा निरावरण करने मे ही लगाना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र का यही तात्पर्य है।

अब सूत्रकार इस बात को बताते हैं कि जो व्यक्ति त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा मे आसक्त रहता है, उसे उसका कटु फल भोगना पड़ता है। अतः मुनि को हिंसा से सर्वथा दूर रहना चाहिए। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से बेमि संति संपाइमा पाणा आहच्च संपयंति य फरिसं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघायमावज्जंति, ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति, एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वाउसत्थं समारंभेज्जा णेवऽण्णेहिं वाउसत्थं समारंभावेज्जा णेवऽण्णे वाउसत्थं समारम्भंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते वाउसत्थं समारंभा परिण्णाया भवंति

से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि ॥६०॥

छाया—सः (अहं) ब्रवीमि, सन्ति सम्पातिमाः प्राणिनः आहृत्य संपतन्ति च स्पर्शं च खलु स्पृष्टा एके संघातमापद्यन्ते ये तत्र संघातमापद्यन्ते ते तत्र पर्यापद्यन्ते, ये तत्र पर्यापद्यन्ते ते तत्र अपद्रावन्ति, अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरंभा अपरिज्ञाता भवन्ति, अत्र शस्त्रमसमारभमाणस्य इत्येते आरंभा परिज्ञाता भवन्ति तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं वायुशस्त्रं समारभेत, नैवान्यैश्च वायु शस्त्रं समारम्भयेत्, नैवान्यान् वायुशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात् यस्यैते वायु शस्त्र समारंभाः परिज्ञाता भवन्ति, सः खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा इतिब्रवीमि ।

पदार्थ—से—वह। बेमि—मैं कहता हूं। संपाइमा—संपातिम-उड़ने वाले। पाणा—प्राणी जो। संति—हैं वे। आहच्च—कदाचित्। संपयंति—वायुकाय के चक्र में आ पड़ते हैं। य—फिर वे। फरिसं—वायुकाय के स्पर्श को। पुट्ठा—स्पर्शित होते हैं। च, खलु—दोनो समुच्चयार्थक है। एगे—कोई एक जीव। संघायमावज्जंति—शरीर संकोच को प्राप्त होते हैं। जे—जो। तत्थ—वहां पर। संघायमावज्जंति—शरीर संकोच को प्राप्त होते हैं। ते—वे जीव। तत्थ—वहां पर। परियावज्जंति—मूर्च्छा को प्राप्त हो जाते है। जे—जो जीव। तत्थ—वहां पर। परियावज्जंति—मूर्च्छा को प्राप्त करते हैं। ते—वे जीव। तत्थ—वहां पर। उद्दायंति—मृत्यु को प्राप्त करते है–मर जाते है। एत्थ—इस वायुकाय मे। सत्थं—शस्त्र का। समारंभमाणस्स—समारंभ करने वाले को। इच्चेते—ये सब। आरंभा—आरंभ। अपरिण्णाया भवंति—अपरिज्ञात,–ज्ञात और प्रत्याख्यात नहीं होते है। एत्थ—इस वायुकाय मे। सत्थं—शस्त्र का। असमारंभमाणस्स—समारम्भ न करने वाले के। इच्चेते—ये सब। आरंभा—आरंभ। परिण्णाया भवंति—परिज्ञात-ज्ञात और प्रत्याख्यात होते है। तं—उस आरंभ को। परिण्णाय—द्विविध परिज्ञा। से जानकर। मेहावी—बुद्धिमान। णेवसयं—न तो स्वयं। वाउसत्थं—वायु शस्त्र द्वारा। समारंभेज्जा—समारंभ करे और। णेवण्णेहिं—न दूसरो से। वाउसत्थं—वायु शस्त्र द्वारा। समारंभावेज्जा—समारंभ करावे और। णेवण्णे—न दूसरो को जो। वाउसत्थं समारंभंते—वायु शस्त्र द्वारा समारंभ कर रहे है, उनकी। समणुजाणेज्जा—अनुमोदना-प्रशंसा करे। जस्सेते—जिसके ये। वाउसत्थ समारंभा—वायु शस्त्र समारंभ। परिण्णाया भवंति—परिज्ञात–ज्ञात और प्रत्याख्यात होते है। से हु मुणी—वही निश्चय से मुनि परिण्णायकम्मे—परिज्ञात कर्मा कहलाता है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—मैं कहता हूं कि हे जम्बू! उडने वाले जीव वायु के चक्र मे आ पडते है फिर वायु का स्पर्श लगने से शरीर को सकोच लेते हैं और मूर्च्छित हो जाते है। और मूर्च्छित दशा मे ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते है। वायु के आरभ से जो निवृत्त नही हुए वे अपरिज्ञात होते हैं, तथा जो वायु शस्त्र समारम्भ से निवृत्त हो गए है वे परिज्ञात होते है। जिस आत्मा ने वायु शस्त्र द्वारा समारम्भ छोड दिया है वही बुद्धिमान है तथा जो स्वय वायु शस्त्र के द्वारा समारभ न करता हो, दूसरो से समारम्भ कराता नही तथा जो समारभ करता है उसकी प्रशसा भी नही करता, एव जिस व्यक्ति के आरंभ परिज्ञात और प्रत्याख्यात होता है वही मुनि वास्तव मे परिज्ञात कर्मा कहलाता है।

हिन्दी विवेचन

वायु के प्रवाह मे बहुत से छोटे-मोटे जीव मूर्च्छित होकर अपने प्राण खो देते हैं। और यह भी स्पष्ट है कि वायु के साथ अन्य अनेक त्रस जीव रहे हुए हैं। अतः वायु का आरम्भ करने से उनकी भी हिसा हो जाती है। जैसे पंखा चलाने से वायु के साथ अन्य त्रस जीवों की हिसा हो जाती है। इसी प्रकार ढोल, मृदंग एवं अन्य वाद्यन्त्र का उपयोग करने से वायु के साथ अनेक प्राणियों की हिसा होती है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को वायु के समारम्भ से सर्वथा दूर रहना चाहिए।

जो व्यक्ति वायुकाय का समारम्भ करता है, वह उसके स्वरूप को भली-भांति नहीं जानता है। इसी कारण वह उसकी हिंसा में प्रवृत्त होता है। परन्तु जिस व्यक्ति को वायु के आरम्भ का स्वरूप परिज्ञात है, वह उसके आरम्भ में प्रवृत्त नहीं होता। इसलिए वही मुनि परिज्ञात कर्मा कहा गया है। यह प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य है। 'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् जानना चाहिए।

प्रथम अध्ययन के सात उद्देशों मे सामान्य रूप से आत्मा और कर्म के सवन्ध का तथा ६ उद्देशों में पृथक्-पृथक् रूप से ६ काय का वर्णन करके अब उपसंहार के रूप मे सूत्रकार छः काय के स्वरूप का एवं उसकी हिसा से निवृत्त होने का उपदेश देते हुए कहते हैं—

मूलम् — एत्थंपि जाणे उवादीयमाणा, जे आयारे ण रमंति, आरम्भमाणा विणयं वयंति, छंदोवणीया अज्झोववण्णा, आरम्भ सत्ता पकरन्ति संगं ॥६१॥

छाया—एतस्मिन्नपि जानीहि उपादीयमानान् ये आचारे न रमन्ते, आरंभमाणा विनयं वदन्ति, छन्दसा उपनीताः अध्युपपन्ना आरंभसक्ताः प्रकुर्वन्ति संगम्।

पदार्थ—एत्थपि—वायुकाय एव अन्य पृथ्वी आदि ६ काय का जो आरंभ करते हैं, वे। उवादीमाणा—कर्मो से आवद्ध होते है। जाणे—हे शिष्य तू! इस वात को देख कि आरंभ कौन करते हैं? जे आयारे ण रमति—जो आचार-ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एव वीर्याचार मे रमण नही करते, और। आरंभमाणा—आरभ करते हुए। विणयं—हम सयम मे स्थित हैं, इस प्रकार। वयति—वोलते हैं। छदोवणीया—वे अपने विचारानुसार स्वेच्छा से विचरण करने वाले। अज्झोववण्णा—विपयो मे आसक्त हो रहे हैं, तथा। आरमासत्ता—आरभ मे आसक्त हैं, ऐसे प्राणी। पकरति सगं—आत्मा के साथ अष्ट कर्मों का सग करते हैं अर्थात् अष्ट कर्मों से आवद्ध होकर ससार मे परिभ्रमण करते हैं।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू इस वात को भली-भान्ति जान ले कि जो जीव ६ काय का आरंभ करते हैं वे कर्मों से आवद्ध हो कर संसार मे परिभ्रमण करते हैं। और वे ही जीव हिंसा मे प्रवृत्त होते हैं, जो पचाचार मे रमण नहीं करते हैं। वे स्वेच्छाचारी अपने आपको सयमी कहते हुए भी विषय वासना एव आरंभ मे आसक्त होकर आत्मा के साथ अष्टकर्मों का सग करते है।

हिन्दी विवेचन

पीछे के उद्देशकों में इस वात को स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वी आदि जीवों की हिंसा कर्म वन्ध का कारण है। इस सूत्र मे यह स्पष्ट वताया गया है कि एक काय की हिंसा करने वाला छः काय के जीवों की हिंसा करता है। जैसे जो व्यक्ति पृथ्वी की हिंसा करता है, उसमे पृथ्वीकायिक जीवों के आश्रय में रहे हुए अन्य अप्कायिक

तेजस्कायिक, वनस्पतिकायिक एवं त्रस जीवों की हिंसा होती है। इसी प्रकार अन्य जीवों की हिंसा के संबन्ध में भी जानना चाहिए। इस प्रकार छः काय का आरम्भ-समारम्भ करने में कर्मों का वन्ध होता है और परिणाम स्वरूप संसार परिभ्रमण एवं दुःख परम्परा का प्रवाह बढ़ता है।

कुछ व्यक्ति अपने आप को साधु कहते हुए भी हिंसा मे प्रवृत्त होते हैं। इसका कारण यह है कि वे शब्दों से अपने आप को साधु कहते है, परन्तु आचार की दृष्टि से वे अभी साधुत्व से वहुत दूर हैं। क्योंकि वे ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार मे रमण नहीं करते है और जव तक आचार को सम्यक् चारित्र को क्रियात्मक रूप से स्वीकार नहीं करते, तव तक उनकी प्रवृत्ति साधुत्व मे नहीं होती। इसी कारण वे आचार रहित व्यक्ति विपय-वासना मे आसक्त होकर विभिन्न प्रकार से अनेक जीवों की हिंसा करते है। इसलिए उनका सावद्य अनुष्ठान कर्म वन्ध का कारण है और परिणाम स्वरूप वे संसार में परिभ्रमण करते हैं।

इसलिए मुमुक्षु को षट्कायिक जीवों के आरम्भ से निवृत्त होना चाहिए। कौन व्यक्ति जीवों की हिंसा से निवृत्त हो सकता है। इस वात को वताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से वसुमं सव्वसमरणागयपण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं णो अण्णेसिं, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं छज्जीवनिकायसत्थं, समारम्भेज्जा, णेवऽण्णेहिं छज्जीवनिकायसत्थं समारम्भावेज्जा, णेवऽण्णे छज्जीवनिकाय-सत्थं समारम्भंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते छज्जीवनिकायसत्थं समारम्भा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णाय कम्मे, त्तिबेमि ॥६२॥

छाया—स वसुमान् सर्व समन्वागतप्रज्ञानेनात्मना। अकरणीयं पापं कर्म नान्वेषयेत् तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं षड्जीवनिकायशस्त्रंसमारभेत, नैवन्यैः षड्जीवनिकाय शस्त्रं समारंभयेत्, नैवान्यान् षड्जीवनिकाय शस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीयात् यस्यैते षड्जीवनिकाय शस्त्र समरंभा

परिज्ञाता भवन्ति स खलु मुनिः परिज्ञात कर्मा, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह ६ काय के आरंभ से निवृत्त हुआ मुनि। वसुमं—चारित्र रूप धन-ऐश्वर्य सम्पन्न। सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं—सर्व प्रकार से बोध एवं ज्ञान युक्त। अप्पाणेणं—अपनी आत्मा से। अकरणिज्जं—अकरणीय-अनाचरणीय है, जो। पाव कम्मं—१८ पाप कर्म, उनके। णो अण्णेसिं—उपार्जन का प्रयत्न न करे। त—उस पाप कर्म को। परिण्णाय—जानकर। मेहावी—बुद्धिमान साधु। णेव सयं—न स्वयं। छज्जीवनिकायसत्थं—६ काय के शस्त्र का। समारभेज्जा—समारंभ करे। णेवण्णेहिं—न अन्य से। छज्जीवनिकाय सत्थ – ६ काय के शस्त्र का। समारंभावेज्जा—समारंभ करावे, तथा। छज्जीवनिकायसत्थ—६ काय के शस्त्र का। समारंभते—समारंभ करने वाले। अण्णे—अन्य व्यक्ति को। णेव समणुजाणेज्जा—न अच्छा समझे या उसका समर्थन भी न करे। जस्सेते--जिसके ये। छज्जीवनिकाय सत्थ समारंभा—६ काय के शस्त्र का समारंभ। परिण्णाया भवति--परिज्ञात हैं। से हु मुणी-वही मुनि। परिण्णाय कम्मे--परिज्ञात कर्मा है। त्ति बेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—वह संयम रूप ऐश्वर्य संपन्न साधु सर्व प्रकार से बोध एवं ज्ञान युक्त होने से वह आत्मा से अकरणीय १८ पाप कर्मों को जानकर और छः काय की हिंसा से पापकर्म का बन्ध होता है, ऐसा समझ कर, न तो स्वयं छः काय की हिंसा करता है, न अन्य से कराता है और न हिंसा करने वाले का समर्थन ही करता है। यह आरंभ-समारंभ जिसे परिज्ञात है, वही मुनि परिज्ञात कर्मा कहलाता है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

जीवन में धन—ऐश्वर्य का भी महत्व है। ऐश्वर्य एकान्ततः त्याज्य नहीं है। क्योंकि धन—ऐश्वर्य भी दो प्रकार का है—१-द्रव्य धन और २-भाव धन। स्वर्ण, चांदी, रत्न, सिक्का, धन्य आदि भौतिक पदार्थ द्रव्य धन है। इससे जीवन में आसक्ति बढ़ती है, इस कारण इसे त्याज्य माना है। क्योंकि यह राग-द्वेष जन्य है तथा राग-द्वेष को बढ़ाने वाला है।

सम्यग् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र भाव धन—ऐश्वर्य है। और यह आत्मा की स्वाभाविक निधि है। इस ऐश्वर्य का जितना विकास होता है, उतना ही राग-द्वेष का ह्रास होता। है अस्तु उक्त ऐश्वर्य से सम्पन्न मुनि को धनवान कहा गया है। इसका

स्पष्ट अर्थ हुआ कि ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र से युक्त मुनि अनाचरणीय पाप कर्म का सेवन नहीं करता। वह १८ प्रकार के सभी पापों से दूर रहता है†। इन पापों के आसेवन से आत्मा का अध.पतन होता है, इस लिए इन्हें पाप कर्म कहा गया है।

यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि छ' काय की हिसा से पाप कर्म का बन्ध होता है और उससे आत्मा संसार मे परिभ्रमण करता है। अत: इस बात को भली-भाति जानने एवं हिसा का त्याग करने वाला साधु न स्वय ६ काय की हिसा करे, न दूसरे को हिसा करने के लिए प्रेरित करे और न हिंसक के हिसा कार्य का समर्थन ही करे।

'अप्पाणेण' पद से आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को सिद्ध किया गया है अर्थात् यह बताया गया है कि आत्मा स्वयं कर्म का कर्त्ता है और वही स्वकृत कर्म के फल का भोक्ता भी है। और 'परिण्णाय कम्मे' शब्द से सयम सपन्न मुनि के लिए बताया गया है कि ज्ञ परिज्ञा से हिसा के स्वरूप को जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसका परित्याग करे। अर्थात् उक्त शब्द ज्ञान और क्रिया युक्त मार्ग को स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत विषय पर हम पिछले उद्देशकों में विस्तार से विचार कर चुके है। इस लिए यहां फिर से पिष्ट-पेषण करना नहीं चाहते। 'त्तिबेमि' का अर्थ भी पूर्ववत् है।

सप्त उद्देशक समाप्त

❀ प्रथम अध्ययन समाप्त ❀

† १-प्राणातिपात, २-मृषावाद, ३-अदत्तादान, ४-मैथुन, ५-परिग्रह, ६-क्रोध, ७-मान, ८-माया, ९-लोभ, १०-राग, ११-द्वेष, १२-कलह, १३-अभ्याख्यान-कलंक, १४-पैशुन्य, १५-परपरिवाद, १६—रति-अरति, १७—माया-मृषा और १८—मिथ्यादर्शनशल्य। ये १८ प्रकार के पाप कहे गये हैं।

द्वितीय अध्ययन लोक-विजय

प्रथम उद्देशक

आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में सामान्यतः जीव के अस्तित्व का, आत्मा और कर्म के सम्बन्ध का वर्णन किया गया है और पृथ्वी, जल आदि अव्यक्त चेतना वाले जीवों की सजीवता को स्पष्ट प्रमाणित करके यह बताया गया है कि षट् काय का आरम्भ-समारम्भ करने से कर्म का बन्ध होता है और फलस्वरूप संसार परिभ्रमण एवं दुःख परम्परा का प्रवाह बढ़ता है। इस लिए इस बात पर बल दिया गया है कि मुमुक्षु को आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त होना चाहिए। क्योंकि आरम्भ-समारम्भ से सर्वथा निवृत्त होने पर ही साधक मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। यदि एक शब्द में कहें तो प्रथम अध्ययन में साधना के मूलभूत अंग अहिंसा का सूक्ष्म, विस्तृत एवं यथार्थ विवेचन किया गया है।

आध्यात्मिक साधना में अहिंसा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अहिंसा आत्मा का स्वाभाविक गुण है, साधना का मूल केन्द्र है। सभी धार्मिक अनुष्ठान इसी से जीवन पाते हैं, इसी के आधार पर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होते हैं। अहिंसा के अभाव में कोई भी साधना जीवित नहीं रह सकती है और न संयम में ही तेजस्विता रहती है। इसलिए जैन संस्कृति के उन्नायकों ने इसे साधना में सर्वप्रथम स्थान दिया है। पञ्च महाव्रतों में पीछे के चारों महाव्रत अहिंसा से संबद्ध हैं। जिस साधक के जीवन में अहिंसा का; दया का, अनुकम्पा का, साम्यभाव का झरना नहीं बह रहा है, वहां सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का विकास होना भी असंभव है। अहिंसा के शीतल, सरस एवं मधुर जल से अभिसिंचित होकर ही साधना का वृक्ष हरा-भरा रह सकता है, पल्लवित-पुष्पित हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि अहिंसा साधना का प्राण है। सूत्रकार के शब्दों में स्पष्ट ध्वनित होता है कि "जो षट्काय के आरम्भ से सर्वथा निवृत्त होता है, वही मुनि परिज्ञात कर्मा है, अन्य नहीं।

अहिंसा की साधना के लिए जीवों का परिज्ञान होना जरूरी है। इस अपेक्षा से प्रथम अध्ययन में विभिन्न योनियों में परिभ्रमणशील जीवोंके अस्तित्व का विवेचन किया गया है। इससे मनमें यह जानने की सहज ही जिज्ञासा होती है कि

यह ससार क्या है? और इस पर विजय कैसे पाई जा सकती है? इस प्रश्न का समाधान द्वितीय अध्ययन में किया गया है। और इसके नाम से भी इस बात का स्पष्ट परिचय मिल जाता है।

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है— "लोक विजय" लोक की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गई है। प्रस्तुत अध्ययन में लोक का अर्थ है—कषाय या राग-द्वेष, जो भाव लोक कहा जाता है। उसके विपरीत द्रव्य, क्षेत्र आदि लोक भी माने गए हैं। परन्तु प्रमुखता भाव लोक की है। क्योंकि द्रव्य लोक का अस्तित्व भाव लोक पर आधारित है। कारण स्पष्ट है कि राग-द्वेष एवं कषाय युक्त परिणामों से कर्म का बन्धन होता है और परिणाम स्वरूप आत्मा एक योनि से दूसरी योनि मे परिभ्रमण करती रहती है। इसी परिभ्रमण का नाम संसार है और इस ससार का मूल बीज राग-द्वेष हैं† । और राग-द्वेष भाव लोक हैं। इससे स्पष्ट हो गया कि द्रव्य लोक का मूल भाव लोक है। अत. भाव लोक पर विजय प्राप्त कर लेने पर द्रव्य लोक पर विजय सहज ही हो जाती है। मूल का उन्मूलन कर देने पर शाखा-प्रशाखा, पत्र-पुष्प आदि का विनाश तो स्वयं ही हो जाता है। क्योंकि उनको सारा पोषण मूल से मिलता है। मूल के अभाव में उन्हें पोषण नहीं मिलेगा और खुराक के अभाव में वे जीवित नहीं रह सकते। मूल का नाश होते ही उनका भी विनाश हो जाता है। इसलिए साधक को यह प्रेरणा दी गई कि वह द्रव्य लोक पर विजय पाने की अपेक्षा भाव लोक पर विजय पाने का प्रयत्न करे। भाव लोक-राग-द्वेष का सर्वथा उन्मूलन करने का प्रयत्न करे। राग-द्वेष का उच्छेद कर दिया, तो फिर द्रव्य लोक का उच्छेद तो स्वत ही हो जायगा। यह कहावत सोलह आना सत्य है कि 'न रहेगा बास न बजेगी बासुरी' अतः साधक को अपनी शक्ति, अपनी साधना की शक्ति राग-द्वेष एवं कषाय रूप भाव लोक पर विजय पाने में लगानी चाहिए। साधक का एक मात्र यही ध्येय एवं लक्ष्य होना चाहिए। इसी बात की प्रबल प्रेरणा देते हुए सूत्रकार प्रस्तुत अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

मूलम्—जे गुणे से मूलठाणे, जे मूल ठाणे से गुणे। इति से गुणट्ठी महया परियावेणं पुणो-पुणो वसे पमत्ते-

---

† रागो य दोसो य कम्म बीयं।

—उत्तराध्ययन, ३२

तंजहा--माया मे, पिया मे, भज्जा मे पुत्ता मे, धूआ मे, राहुसा मे, सहिसयणासंगंथसंथुआ मे विवित्तुवगरणापरिवट्टणाभोयणाच्छायणं मे। इच्चत्थं गढ्ढिए लोय वसे पमत्ते अहो य राओ य परितप्पमाणो कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुम्पे सहसाकारे णिणिविट्ठचित्ते, एत्थ सत्थे पुणो-पुणो अप्पं च खलु आउयं इहमेगेसिं माणवाणं तंजहा ॥६३॥

छाया—यः गुणः स मूलस्थानं यत् मूलस्थानं स गुणः। इति स गुणार्थी महता परितापेन पुनः-पुनः वसेत् प्रमत्तः तद्यथा—माता मे, पिता मे,भ्राता: मे, भार्या मे, भगिनी मे, पुत्राः मे, दुहिता मे, स्नुषा मे, सखि-स्वजन संग्रन्थ संस्तुता मे विवक्तोपकरण परिवर्तनभोजनाच्छादनं मे। इत्येवमर्थं गृद्धो लोकः वसेत् प्रमत्तः। अहश्च रात्रिश्च परितप्यमानः कालाकालसमुत्थायी, संयोगार्थी, अर्थालोभी, आलुम्पः, सहसाकारः, विनिविष्टचित्तः, अत्र शस्त्रं पुनः पुनः अल्पं च खलु आयुष्कमिहैकेषां मानवानां तद्यथा—

पदार्थ—जे—जो। गुणे—शब्दादि गुण है। से—वह। मूलठाणे—मूल स्थान—ससार का मूल कारण हैं। जे—जो। मूल ठाणे—मूल स्थान है। से—वह। गुणे—गुण है। इति—इस लिए। से—वह। गुणट्ठी—गुणार्थी विषयो का अभिलाषी। महयापरियावेणं—महान् परिताप एव दु खो के अनुभव या सवेदन से। पुणो-पुणो—बार-बार। वसे पमत्ते—प्रमाद मे वसता है। प्रमाद राग-द्वेष रूप होता है, इसलिए सूत्रकार राग की उत्पादक सामग्री का निर्देश कर रहे है। तंजहा—जैसे कि। माया मे—मेरी माता है। पिया मे—मेरा पिता है। भाया मे—मेरा भ्राता है। भइणी मे—मेरी बहिन है। भज्जा मे—मेरी पत्नी है। पुत्ता मे—मेरे पुत्र है। धूया मे—मेरी पुत्री है। ण्हुसा मे—मेरी पुत्र वधू है। सहिसयणसंगंथसथुआ मे—मेरा सखा, स्वजन-स्नेही, मित्र का मित्र एव बार-बार मिलने वाला है। विवत्तुवगरणपरिवहण भोयणच्छायणं मे—मेरे उपकरण, भोजन-खाद्य-सामग्री एव वस्त्र आदि सुन्दर है। इच्चत्थ—इस प्रकार के अर्थो मे। गड्ढिए लोए—आसक्त व्यक्ति वसे पमत्ते—प्रमादी बनकर रहते है। अहो—दिन। यः—और। राओ य—रात्रि मे। परितप्पमाणे—सर्व प्रकार से सतप्त होता हुआ। कालाकाल समुट्ठाई—समय और असमय

में सम्यक्तया उठने वाला। संजोगट्ठी—सयोग का अभिलाषी। अट्ठालोभी—धन का लोभी। आलुपे—गल कर्तन, चोरी—डाका आदि दुष्कर्म करता है। सहसाकारे—विना सोचे विचारे कार्य करने वाला। विणिविट्ठचित्ते—विभिन्न विषयों मे जिसका मन सलग्न हैं। एत्थ—इन माता-पिता आदि परिजनो या शब्दादि विषयो में आसक्त वना व्यक्ति। सत्थे पुणो-पुणो-बार-बार शस्त्र से ६ काय की हिंसा करता है। च—और। खलु—निश्चय से। इह—इस ससार में। एगेसि—कितने एक। माणवाणं—मनुष्यो का। अप्प आउयं—अल्प आयुष्य है। तजहा—जैसे कि।

मूलार्थ—जो शब्दादि गुण है, वह मूल स्थान-कषाय रूप ससार का मूल कारण है और जो मूल स्थान है वही शब्दादि गुण है। इस तरह गुणार्थी-विषयो का अभिलाषी व्यक्ति महान् परिताप एव दु खो का सम्वेदन करता हुआ बार-बार प्रमत्त होकर मोहरूप, रागद्वेष रूप ससार मे निवास करता है। और राग-द्वेष मे आसक्त वह कहता है-कि यह मेरी माता है मेरा पिता हैं, मेरा भाई है, मेरी बहिन है, मेरी पत्नी है, मेरा पुत्री है, मेरी पुत्र वधू है मेरा मित्र स्वजन-स्नेहि एव विशिष्ट पिरचित है, मेरे सुन्दर हाथी घोडे ऐश्वर्य विपुल खाद्य सामग्री एव वस्त्राभूषण हैं उक्त पदार्थो मे आसक्त बना प्राणी रात दिन सतप्त रहता है, और काल या अकाल मे अर्थात् प्रतिसमय अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए सावधान रहता है। वह धन का लोभी दूसरे का गला काटने या चोरी-डाका डालने जैसा दुष्कर्म करने एव विना सोचे समझे अविवेक और दुर्विचार पूर्वक कार्य करने मे सकोच नही करने वाला तथा येन-केन प्रकारेण धन उपार्जन करना ही जिसका ध्येय बना हुआ है वह व्यक्ति बार-बार ६ काय की हिसा के लिए विभिन्न शस्त्रो का प्रयोग करता है। और इस सासर मे कई जीवो का आयुष्य बहुत थोडा होता है जैसे कि—

हिन्दी विवेचन

प्रथम अध्ययन में एक सूत्र आया है 'जे गुणे से आवट्टे..............' अर्थात जो गुण है वही आवर्त्त है। इस सूत्र की प्रस्तुत सूत्र के इस वाक्य से —जो गुण है वह मूल स्थान है और जो मूल स्थान है, वह गुण है— तुलना करते हैं, तो गुण

उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है, उसका—संसारी आत्मा के ज्ञान का अवस्था के साथ नहीं, कर्म के साथ संवन्ध है। हम देखते हैं कि कुछ बालकों में ज्ञान का इतना विकास होता है कि युवक एवं प्रौढ़ व्यक्ति भी उनकी समानता नहीं कर सकते हैं। कुछ वृद्धों में जीवन के अंतिम क्षण तक ज्ञान की ज्योति जगमगाती रहती है और कुछ युवक एवं प्रौढ़ व्यक्तियों में भी ज्ञान का विकास बहुत ही स्वल्प दिखाई देता है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान का विकास अवस्था के अधीन नहीं, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम पर आधारित है। चाहे बाल्यकाल हो, युवाकाल हो या वृद्धावस्था का अन्तिम चरण हो, जितना ज्ञानवरणीय कर्म का अधिक या कम क्षयोपशम होगा, उसी के अनुरूप आत्मा मे ज्ञान की ज्योति का परिदर्शन होगा। अस्तु ज्ञान की स्वल्पता या विशेषता में जो विचित्रता देखी जाती है, वह ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्यूनता एवं अधिकता के आधार पर ही स्थित है।

दूसरा प्रश्न इन्द्रियों से संबद्ध है। इसमे इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि ज्ञान आत्मा का गुण है, इन्द्रियों का नहीं। वह सदा आत्मा के साथ रहता है। इन्द्रियों के अभाव में भी ज्ञान का अस्तित्व बना रहता है। अत: ज्ञान का इन्द्रियों के साथ सीधा संवन्ध नहीं है। फिर भी इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होता है? इसका कारण यह है कि ये छद्मस्थ अवस्था मे ज्ञान के साधन है, निमित्त हैं। क्योंकि छद्मस्थ अवस्था मे आत्मा पर ज्ञानावरणीय कर्म का इतना आवरण छाया रहता है कि वह बिना किसी साधन के किसी पदार्थ का बोध नहीं कर सकती। वह मति और श्रुतज्ञान के द्वारा ही पदार्थों का ज्ञान करती है और उक्त दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखते हैं। इसी कारण इन्हें आगम में परोक्ष ज्ञान कहा गया है। क्योंकि ये इन्द्रियों के आधार पर आधारित हैं। अत: छद्मस्थ अवस्था मे जितना ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, उतना ही आत्म ज्ञान का विकास होता है। जैसे साधारणत. मति और श्रुत ज्ञान मे इन्द्रिय सहयोग की अपेक्षा रहती है, परन्तु उसकी विशेष अवस्था जाति-स्मृति ज्ञान मे अपने निरन्तर सन्नी पञ्चेन्द्रिय के किए हुए भवों को देखने-जानने मे इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रहती। और अवधि ज्ञान एवं मन. पर्यव ज्ञान युक्त व्यक्ति इन्द्रियों की सहायता के विना ही मर्यादित क्षेत्र में स्थित रूपी पदार्थों एवं सन्नी पञ्चेन्द्रिय के मनोगत भावों को जान-देख लेता है। जब व्यक्ति अपनी आत्मा पर आच्छादित ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय कर देता है, तो फिर वह ससार के समस्त

पदार्थों को और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों को अपने आत्म ज्ञान से स्पष्ट देखने-जानने लगना है। इन्द्रियों का अस्तित्व रहते हुए भी उसे उनके सहयोग की कोई भी आवश्यकता नहीं रहती। इससे स्पष्ट हो गया कि इन्द्रियों का सहयोग मति और श्रुतज्ञान तक ही अपेक्षित है और ये इन्द्रियें जानने के साधन मात्र हैं।

इन्द्रिये पाच मानी गई हैं— १ श्रोत, २ चक्षु, ३ घ्राण, ४ रसना और ५ स्पर्श इन्द्रिय । द्रव्य और भाव इन्द्रिय की अपेक्षा से प्रत्येक इन्द्रिय के दो-दो भेद किए गए है। द्रव्येन्द्रिय निवृत्ति और उपकरण रूप से है तथा भाव इन्द्रिय लब्धि और उपयोग रूप से है[1]। इन्द्रियों के वाह्य आकार को द्रव्य इन्द्रिय कहते है और उसके अन्दर जो देखने, सुनने, सूंघने आदि की जो शक्ति है उसे भाव इन्द्रिय कहते हैं, वह लब्धि एवं उपयोग रूप में रहती है। उसके होने पर ही आत्मा इन द्रव्येन्द्रियों से पदार्थों का ज्ञान करती है । भाव इन्द्रिय के अभाव में द्रव्येन्द्रिय कोई कार्य नहीं कर सकती। आख और कान का आकार तो वना हुआ है, परन्तु उसके साथ भाव इन्द्रिय नहीं है या लब्धि एवं उपयोग आवृत्त हो गया है, तो उस आख एवं कान के आकार से न देखा जा सकता है और न सुना जा सकता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रियों की पटुता एवं मूढता क्षयोपशम के आधार पर स्थित है।

यह स्पष्ट है कि इन्द्रिये जड हैं। और जड होने के कारण शरीर के साथ-साथ इनमें भी परिवर्तन आता है । वृद्धावस्था मे शरीर के साथ ये भी जीर्ण हो जाती हैं और चेतना के निकलने के वाद निष्प्राण शरीर की तरह इनका भी कोई मूल्य नहीं रह जाता है। अत· समय के साथ इनमें भी परिवर्तन आता है, इनकी शक्ति भी क्षीण होती है । परन्तु, इतना अवश्य है कि यदि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अधिक है, तो उसकी इन्द्रिये जीर्ण होने पर भी पदार्थों का वोध करने में पटु ही रहेगी और ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम कम है तो युवा काल में भी उनकी ग्रहण शक्ति कमजोर दिखाई देगी । हम देखते हैं कि वहुत से वृद्ध व्यक्ति विना ऐनक लगाए ही अच्छी तरह देख लेते हैं, उनकी सुनने, सूघने आदि की शक्ति मे भी कमी दिखाई नहीं देती है और कई युवक भी ऐसे देखे जाते हैं कि वे विना ऐनक के देख ही नहीं सकते। अत. द्रव्य इन्द्रियों के शिथिल होने पर भी उनमें अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति क्षयोपशम पर आधारित हैं।

यह हम पीछे के उद्देशकों में देख चुके हैं कि हिंसा एवं आरम्भ-समारम्भ मे आसक्त रहने से पाप कर्म का वन्ध होता है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों

---

[1] पन्नवणा, पद १५, उ० १-२ और तत्त्वार्थ सूत्र, २, १६-१८।

से आत्मा आवृत्त होती है और फल स्वरूप इन्द्रियों मे ग्रहण करने की शक्ति क्षीण हो जाती है और वह मूढ़ भाव को प्राप्त हो जाती है। हम यह स्वयं देखते हैं कि जब मनुष्य की इन्द्रिये ठीक तरह काम नहीं करती है, मस्तिष्क में चिन्तन शक्ति कम रह जाती है, तब उसे कर्तव्य-अकर्तव्य का भान नही रहता है और यह सारी स्थिति कर्मोदय पर आधारित है। अतः जो व्यक्ति विपयों में आसक्त होकर परिजनों के व्यामोह में फंसता है, उनमें आसक्त होकर अपने एवं परिजनों के स्वार्थ के लिए विभिन्न पाप कार्यों मे प्रवृत्त होता है, वह व्यक्ति पाप कर्म का बन्ध करता है और परिणाम स्वरूप वृद्धवस्था में उसको इन्द्रिएं शिथिल हो जाने से वह मूढ़ता को प्राप्त होता है।

ऐसी अवस्था में जिन परिजनों के लिए वह पाप कार्य मे प्रवृत्त हुआ था, वे भी उससे दूर होकर किस तरह उसकी निन्दा करने लगते हैं, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जेहिं वा सद्धिं संवसति तेऽवि णं एगदा णियगा पुव्विं परिवयंति, सोऽवि ते णियए पच्छा परिवएज्जा, णालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा, तुमंपि तेसिं णालं ताणाए वा, सरणाए वा, से ण हासाय, ण किड्डाए, ण रतीए, ण विभूसाए ॥६५॥

छाया—यैः वा सार्द्धं संवसति तेऽपि एकदा निजकाः (आत्मीयाः) पूर्वं परिवदन्ति सोऽपि तान् निजकान् पश्चात् परिवदेत्—नालं ते तव त्राणाय वा, शरणाय वा, त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा, शरणाय वा, सः न हास्याय, न क्रीडायै, न रत्यै, न विभूषायै।

पदार्थ—वा—यह शब्द पक्षान्तर या भिन्न क्रम का द्योतक है। जेहिं—जिनके। सद्धि—साथ। सवसति—रहता है। तेऽवि—वे पत्नि-पुत्र आदि। णं—वाक्यालकार मे। एगवा—वृद्धावस्था आने पर। णियगा—स्वजन-स्नेही। पुव्वि—जिनका पहले पालन-पोषण किया था वे। परिवयति—उस वृद्ध का तिरस्कार करते हैं, उसके मरने की प्रतीक्षा करते हैं। सोऽवि—वह वृद्ध भी। ते णियए—उन सवन्धियो की। पच्छा—पीछे से। परिवएज्जा—निन्दा करता है,, भले ही किसी कारण से स्वजन-सम्बन्धी तिरस्कार न करे, तब भी। ते—

त्रे सवन्धी। तव— तेरे। ताणाए—त्राण के लिए । वा शरणाए—अथवा शरण के लिए। वा—परस्पर का वोधक है। णालं—समर्थ नही होते है, और । तुमपि— तू भी। तेसि—उनके। ताणाए—त्राण के लिए। वा सरणाए—अथवा शरण के लिए। णाल—समर्थ नही है। वा—पक्षान्तर मे। से—वह वृद्ध। ण हासाय—न तो हाम्य विनोद करने योग्य रहता है। ण किड्डाए—न क्रीडा करने योग्य रहता है। ण रतीए—न भोग-विलास करने योग्य होता है। ण विभूसाए—न विभूषा करने योग्य होता है, वह परिजनो के साथ किसी भी तरह के ससारिक आनन्द लेने योग्य नही रहता है, परिजनो के लिए वह एक तरह से निरर्थक हो जाता है।

मूलार्थ—यह जीव जिन परिजनो के साथ रहता है और जिसने विभन्न पाप कार्यो मे प्रवृत्त हो कर परिवार का परिपोपण किया था, वही व्यक्ति जब वृद्ध हो जाता है, तो परिजन उसकी निदा करने लगते है, तिरस्कार जन्य शब्दो का प्रयोग करते है ओर उनके कटु वचन एव व्यग सुनकर वह वृद्ध भी उनसे घृणा करने लगता है, उनके चले जाने के बाद पोछे से उनकी निंदा करता है। भले ही कोई परिजन निंदा या तिरस्कार न भी करे, तब भी उस वृद्धत्व के दु ख एव सकट से काई भी परिजन उसका त्राण करने उसे शरण देने मे समर्थ नही है और वृद्धावस्था मे व्यक्ति हास्य-विनाद करने क्रीडा-विभन्न खेल खेलने, भोग विलास करने एव शृगार-विभूषा करने के योग भी नही रह जाता है। वह किसो भा तरह के सासारिक सुखोपभोग के योग्य नही रह जाता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में वृद्धावस्था का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। इस में बताया गया है कि जीवन सदा एक-सा नहीं रहता है। आयु में अनेक उतार-चढ़ाव आते रहते हैं और उसमें विभिन्न तरह के अनुभव एवं परिस्थितिए सामने आती हैं। व्यक्ति जिन पर पूरा विश्वास करता था और जिनके लिए अपना धर्म-कर्म भूलाकर सब कुछ करने को तत्पर रहता था, समय आने पर वे किस तरह बदल जाते हैं तथा उनके जीवन व्यवहार को देखकर तथा अपनी अशक्त अवस्था का अवलोकन कर वृद्ध के मन में अपने परिजनों के प्रति जो भाव उद्बुद्ध होते हैं, प्रस्तुत सूत्र में उनका बहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया गया है।

को आवर्त्त—संसार कहने का कारण स्पष्टत: समझ में आ जाता है। संसार का मूल कषाय है और कषाय आश्रय ये गुण हैं, अत एव गुण को संसार कहना उपयुक्त ही है। क्योंकि गुणों मे रम्यमान व्यक्ति के मन मे राग-द्वेष, कषाय एवं आसक्ति युक्त भावों से कर्म का बन्ध होता है और परिणाम स्वरूप संसार के प्रवाह को प्रवहमान करने के लिए गति-प्रगति मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुण भी संसार के कारण है, इसलिए उन्हे आवर्त्त कहा गया है और वास्तव मे कषाय का आधार होने के कारण उन्हे आवर्त्त —ससार कहना उचित ही है।

यह सूर्य के उजाले की तरह स्पष्ट है कि गुणों के कारण आत्मा मे तृष्णा, आसक्ति, कषाय एवं राग-द्वेष आदि का उद्भव होता है और आत्मा ऐन्द्रिय राग-रंग एवं भौतिक सुखों मे संलग्न होता है, काम-भोग मे प्रवृत्त होता है। यों साधारणत काम-भोग शब्द का प्रयोग विषय-वासना की प्रवृत्ति के लिए किया जाता है और काम-भोग का एक दूसरे से भिन्न अर्थ न समझ कर उसे एकार्थक ही समझा जाता है वैषयिक दृष्टि से काम-भोग का इन्द्रियों एवं उनके विषय से सीधा सबन्ध होने से काम-भोग शब्दादि विषय रूप होने से एकरूपता के बोधक भी हैं; परन्तु इन्द्रियों एवं उनके विभिन्नता के कारण काम-भोग भी अपना-अपना भिन्न एवं स्वतंत्र अर्थ रखते है। कुछ ऐसे विषय हैं जिनके आकर्षण से इन्द्रियों मे स्पन्दन-होता है, और आत्मा उनके द्वारा हर्ष एवं शोक का सवेदन भी करती है इस प्रकार उक्त विषय से काम-वासना उद्बुद्ध होती है परन्तु वे इन्द्रिये उन विषयों के साथ सीधा उपभोग नहीं करती। और कुछ इन्द्रिये अपने विषयो के साथ सीधा भोगोपभोग करके ही वासना मे प्रवृत्त होती है। इसी विभिन्नता की अपेक्षा से आगम मे श्रोत्र और चक्षु इन्द्रिय को कामी और शेष इन्द्रियों को भोगी कहा है। चक्षु एवं श्रोत्र इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण करने मे इतनी पटु हैं कि उसका स्पर्श किए बिना ही आत्मा को उसकी अनुभूति करा देती है. परन्तु शेष तीनों इन्द्रिये अपने-अपने विषयों का अपने साथ सीधा संबन्ध होने पर ही अथवा यों कहिए उनका भोग-उपभोग करके ही उन्हे ग्रहण करती है। इस अपेक्षा मे काम-भोग भिन्न अर्थ बोधक दो विषय हैं।

कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि काम-भोग से होने वाली प्रवृत्ति राग-द्वेष जन्य होती है। इस कारण विषय-वासना मे आसक्ति बढ़ती है और उससे संसार सबन्ध प्रगाढ़ होता है और आत्मा की गति साधनाभिमुख नहीं होती है और वह सांसारिक सुख-साधनों, भोगोपभोगों को बढ़ाने तथा संसार सम्बन्धों से ...

आसक्त बन जाती है कि अपने एवं प्राणीजगत के हिताहित को भूल कर दुष्कर्म मे प्रवृत्त होते ज़रा भी संकोच नहीं करती। इतिहास साक्षी है और हम स्वयं देखते हैं कि व्यक्ति जब अपने स्वार्थ में केन्द्रित होता है, तब कितना अनर्थ कर बैठता है। आज राष्ट्र मे व्याप्त रिश्वत, चोर-बाजारी एवं लूट-खसूट आदि की घटनाए तथा छल-कपट, धोखा और विश्वास घात करने के षड्यन्त्र स्वार्थी मनोवृत्ति के ही परिणाम हैं। इसी बात को सूत्रकार ने "अट्ठालोभी अलुपे, सहसाकारे विणिविट्ठ चित्ते ......" वाक्य से स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य धन के पीछे इतना पागल एवं उन्मत्त बन जाता है कि वह भयकर से भयंकर पाप को करने के लिए उद्यत हो जाता है। उस समय वह उसके दुःखद परिणाम की ओर से आख मून्द कर पाप के प्रज्वलित दावानल मे कूद पड़ता है।

वह पाप कार्य में निमज्जित व्यक्ति सदा अपने परिवार में आसक्त रहता है और अपने व्यक्तिगत एव परिवारगत स्वार्थों को साधने के लिए विभिन्न पाप कार्यों मे प्रवृत्त होता है। वह कहता है कि यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है तथा इसके साथ मेरा भाई, बहन, पत्नी, पुत्र, पुत्री पुत्रवधू या स्वजन-स्नेही का संबन्ध है। ये मेरे प्रिय हैं, दुःख-सुख के साथी हैं, ऐसा समझ कर प्रमादी व्यक्ति विभिन्न शस्त्रों एव विभिन्न उपायों एवं षड्यन्त्रों से अनेक प्राणियों को परिताप देता है, कष्ट देता है तथा उनके धन-वैभव एवं प्राणों को लूटता है। इस प्रकार मनुष्य अपने स्वार्थ धन प्राप्ति तथा परिजनों में आसक्त होकर पापों मे प्रवृत्त होता है, और उसके परिणाम स्वरूप भविष्य मे मनुष्य बनकर भी अल्प आयु में ही मर जाता है। यदि दीर्घ आयु भी प्राप्त कर ली, तो भी उस का जीवन सुख-शांति से व्यतीत नहीं होता। उसका जीवन अन्य के लिए तो क्या, उसके स्वयं के लिए बोझिल हो जाता है। वह रात-दिन संकटों के झूले मे झूलता रहता है। उसे किस प्रकार के दुःखों का संवेदन करना पड़ता है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सोयपरिरागाणेहिं परिहायमाणेहिं, चक्खुपरिराणाणेहिं परिहायमाणेहिं, घाणपरिराणाणेहिं परिहायमाणेहिं, रसणापरिराणाणेहिं परिहायमाणेहिं, फासपरिराणाणेहिं परिहायमाणेहिं अभिकंतं च खलु वयं स पेहाए तओ से एगदा मूढभावं जणयंति ॥६४॥

छाया—श्रोत्रपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, चक्षु परिज्ञानैः परिहीयमानैः घ्राणपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, रसनापरिज्ञानैः परिहीयमानैः, स्पर्शपरिज्ञानैः परिहीयमानैः अभिक्रान्तं च खलु वयः सम्प्रेक्ष्य ततः (सः) तस्य एकदमूढ़ा भावं जनयति ।

पदार्थ—सोयपरिण्णाणेहिं—श्रोत्र परिज्ञान के । परिहायमाणेहिं—सर्वत हीन होने पर । चक्षु परिण्णाणेहिं—चक्षु परिज्ञान के । परिहायमाणेहिं—हीन होने पर । घाणपरिण्णाणेहिं-घ्राण परिज्ञान के । परिहायमाणेहिं—हीन होने पर । रसपरिण्णाणेहिं-रस परिज्ञान के । परिहायमाणेहिं—हीन होने पर । फासपरिण्णाणेहिं—स्पर्श परिज्ञान के । परिहायमाणेहिं—हीन होने पर । च—और । खलु—निश्चय ही । वयं—यौवन वय । अभिकंतं—अभि क्रान्त हो गया-बीत गया है, तव फिर । सपेहाए—विचार कर देखा जाए तो । से—वह प्राणी । तओ—तत्पश्चात्—इन्द्रिय परिज्ञान के हीन हो जाने तथा यौवन वय के निकल जाने से । एगदा—वृद्धावस्था में प्रविष्ट होने पर । मूढ भाव—मूढ भाव को । जणयति—प्राप्त होता है ।

मूलार्थ—सदा पाप कार्यो मे प्रवृत्तमान जीव श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्श इन्द्रिय जन्य परिज्ञान के हीन हो जाने तथा यौवनवय के व्यतीत हो जाने पर एव वृद्धावस्था में प्रविष्ट होते हो मूढभाव को प्राप्त हो जाता है ।

हिन्दी विवेचन

जीवन जन्म और मृत्यु का समन्वित रूप है। अपने कर्म के अनुसार जब से आत्मा जिस योनि में जन्म ग्रहण करती है, तब से काल उसके पीछे लग जाता है और प्रतिसमय वह मृत्यु के निकट पहुंचता है, या यों कहना चाहिए कि उसका भौतिक शरीर प्रतिक्षण पुराना होता रहता है। यह ठीक है कि उसमें होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों को हम अपनी आखों से स्पष्टतः देख नहीं पाते, कुछ स्थूल परिवर्तनों को ही देख पाते हैं और इसी अपेक्षा से हम जीवन को चार भागों में बाट कर चलते है— १-बाल्य काल, २-यौवन काल, ३-प्रौढ़ अवस्था और ४-वृद्धावस्था ।

बाल्य काल जीवन का उदयकाल है। यौवन काल में जीवन में शक्ति का विकास होता है मनुष्य भला या बुरा जो चाहे सो कर गुजरने की शक्ति रखता है। प्रौढ अवस्था मे आकर शक्ति का विकासस्रोत रुक जाता है। धीरे-धीरे

व्यक्ति इन्द्रियबल से निर्बल होने लगता है। यही से वृद्धावस्था का प्रारंभ हो जाता है। यह जीवन का जीर्ण-शीर्ण रूप है, इस काल में शक्ति का, स्वास्थ्य का, इन्द्रियों का, शरीर का अर्थात् यों कहिए जीवन के सभी बाह्य अवयवों का ह्रास होने लगता है। कान, आख, नाक, जिह्वा और त्वचा की शक्ति कमज़ोर हो जाती है। इन इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में भी कठिनाई होने लगती है। बूढे का जीवन निर्वाह भी कठिन एव बोझिल हो जाता है। वह अपने जीवन से तंग होकर दु:ख एव संक्लेश का अनुभव करने लगता है। वृद्धावस्था का वर्णन करते हुए भर्तृहरि ने बहुत ही सुदर कहा है—

"गात्र सकुचित, गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशगता,
दृष्टिर्भ्रश्यति रूपमेव हसते वक्त्र च लालायते।
वाक्य नैव करोति बान्धवजन पत्नि न शुश्रूपते।
धिक्कष्ट जरयाभिभूतपुरुष पुत्रोप्यवज्ञायते ॥"

अर्थात्—वृद्धत्व के आते ही शरीर मे झुर्रिया पड जाती हैं, पैर लड़खड़ाने लगते हैं, दात गिर जाते हैं, दृष्टि कमजोर पड़ जाती है या नष्ट हो जानी है, रूप-सौन्दर्य का स्थान कुरूपता ले लेतो है, मुख से लार टपकने लगती है, स्वजन-स्नेही उसके आदेश का पालन नहीं करते, पत्नी सेवा-शुश्रूषा से जी चुराती है, पुत्र भी उसकी अवज्ञा करता है। कवि कहता है कि ओह! इस वृद्धत्व क कष्ट का क्या पार है? धिक्कार है, इस जरा ग्रस्त जीर्ण-शीर्ण शरीर को।

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने वृद्धावस्था के इसी चित्र को उपस्थित किया है। इस अवस्था मे शारीरिक शक्ति एवं इन्द्रिय बल इतना क्षीण हो जाता है कि व्यक्ति अपने एवं परिजनों के लिए बोझ रूप बन जाता है। और प्राय: इस अवस्था को प्राप्त व्यक्ति मूढभाव को प्राप्त हो जाते हैं अथवा इसके प्रहारों से अत्यधिक प्रताडित होने के कारण उस में कर्तव्य-अकर्तव्य का भी विवेक नहीं रह जाता है।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है, फिर इसमें वृद्धावस्था के आने पर श्रोत्र आदि इन्द्रियों का ज्ञान मन्द क्यों हो जाता है? क्या ज्ञान अवस्था के अधीन रहता है? यदि ऐसा नहीं है, तो ज्ञान की बोधकता शिथिल क्यों हो जाती है?

हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि मनुष्य वृद्ध होने के बाद प्राय. बोझ रूप बन जाता है। जब तक उसके शरीर में शक्ति रहती है, तब तक परिजन भी उसका आदर-सम्मान करते हैं, सदा उसकी सेवा-शुश्रूषा में लगे रहते हैं। यह आदर-सम्मान एवं सेवा-भक्ति उस व्यक्ति की नहीं, अपितु उससे पूरा होने वाले स्वार्थ की होती है। जब तक उसके द्वारा धन-संपत्ति के ढेर लगते रहते हैं, सुख साधनों में अभिवृद्धि होती रहती है, तब तक उसके गुणों के गीत गाए जाते रहते हैं। परन्तु प्राय· शारीरिक शक्ति के क्षीण होते ही सारी स्थिति बदल जाती है, सुनहरा अतीत कालुष्य के वर्तमान में परिवर्तित हो जाता है। अब उसे यह विचार सत्य प्रतीत होने लगता है कि "दुनिया में काम प्रिय है, चाम नहीं" अर्थात् जब तक काम करो तब तक ही दुनिया का प्यार-स्नेह मिलता है, फिर नहीं।

इस तरह दुनिया के अधिकाश संबंध स्वार्थ की भीति पर आधारित हैं। व्यक्ति अनेक पाप कार्य करके अपने परिवार का इस भावना से पालन-पोषण करता है कि वृद्धावस्था में इनसे मुझे सुख मिलेगा। परन्तु उस अवस्था के आते ही वे परिजन उसके लिए सक्लेश का कारण बन जाते हैं और वह उनके लिए बोझ रूप बन जाता है। क्योंकि, वृद्धावस्था मे शरीर की पर्याय बदल जाती है, शरीर की शक्ति एव तेज घट जाता है। मानसिक सहिष्णुता भी कम हो जाती है, बात-बात पर बिगड़ने लगता है। खासी से सारे घर के वातावरण को अशात कर देता है, जगह-जगह कफ एवं खंखार थूक-थूक के कमरे को एवं आने जाने के मार्ग को गन्दा बना देता है। ये सारी स्थितिएं लड़कों एवं पुत्र-वधुओं के लिए भयावनी बन जाती हैं। उनका सारा समय बूढे के द्वारा यत्र-तत्र बिखेरे गए कफ आदि को साफ करने मे ही बीत जाता है। इतने पर भी उसे सन्तोष नहीं होता। उसकी नित नई मागों एवं आकाक्षाओं से तो वे परिजन चिंतित से हो जाते है। उसकी इन्द्रिए शिथिल पड़ जाती हैं, शरीर जर्जरित हो जाता है, पर एक वस्तु अब भी क्षीण नहीं होती, बल्कि उसकी शक्ति अधिक प्रबल हो उठती है, वह है—तृष्णा, आकाक्षा, लालसा। इस अवस्था में भी उसकी अभिलाषा बढती ही रहती है। आचार्य शकर ने भी कहा है—"केश पककर के श्वेत हो गए, शरीर के सारे अग जीर्ण-

---

|अंग गलितं पलित मुण्डम्, दशनविहीन जातं तुण्डम्।
वृद्धोयाति गृहीत्वा दण्डम्, तदपि न मुचति आशा पिण्डम् ॥
भज गोविन्दं, भज गोविन्दम्। भज गोविन्द, मूढमते ।।

भज गोविन्द स्तोत्र, श्लोक १४ (आचार्य शकर)

शीर्ण एव शिथिल हो गए, मुंह में एक भी दांत नहीं रहा और लकडी के सहारे के विना न खडा रह सकता है और न गति ही कर सकता है, फिर भी उसकी तृष्णा-आशा एव अभिलाषा अभी भी शात नहीं हुई, अपितु अपरिमित है। वह अभी भी तृष्णा की ज्वाला में जल रहा है।*

उसकी शारीरिक विकृत्तियों एव आशा–आकाक्षाओं तथा खाने-पीने की नित्य नई मागों से परिजन घवरा जाते है और वे दु.खित मन से उसकी मरण-समय की प्रतीक्षा करते हैं। प्रतीक्षा ही नहीं, अपितु भगवान से प्रार्थना भी करते है कि इस वूढे को जल्दी उठा ले। इस प्रकार स्वार्थ समाप्त होते ही वह वृद्ध वोझ रूप प्रतीत होने लगता है। घर मे उसका कोई विशेप आदर-सम्मान नहीं करता और न उसकी वात पर विशेष ध्यान ही दिया जाता है। अपने ही घर मे अपनी यह स्थिति देखकर उसे दु·ख एव वेदना होती है। परन्तु परिजनों के सामने कुछ कहने का साहस नहीं होता और कहे भी तो उससे कुछ वनता नहीं। इसलिए वह उनके चले जाने के वाद उनकी निन्दा करके अपना दिल हल्का कर लेता है।

इस तरह पाप मे प्रवृत्तमान व्यक्ति वृद्धावस्था के आने पर दु खी हो जाता है और आर्त्त-रौद्र ध्यान मे संलग्न होकर संसार को और अधिक वढा लेता है। परन्तु, उस समय उसका कोई संरक्षक नहीं होता। न धन उसका संरक्षण कर सकता है और न परिवार ही। कुछ परिजन ऐसे भी मिल सकते हैं कि वे उसे वोझ रूप समझकर उसकी सेवा–शुश्रूषा करते है, उसे आदर-सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु वे भी उसे वृद्धावस्था के दु खों से वचा नहीं सकते और न उसे अपनी शरण में लेकर उस दु खों से निर्भय ही कर सकते हैं। यदि उसे कोई शरण देने वाला है, तो केवल एक धर्म है। धर्म की शरण में जाने के वाद फिर जरा और मरण का प्रवाह सूखने लगता है अर्थात् वह उन दु खों से मुक्त हो जाता है†। इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह धन, यौवन, भोग-विलास एवं परिवार में आसक्त नहीं वने और अपने एव पारिवारिक स्वार्थ को पूरा करने के लिए रात-दिन पाप कार्यों मे प्रवृत्त न रहे।

---

*दुःख एव आपत्ति से बचाने को त्राण कहते हैं और अपनी शरण मे लेकर उस दु ख से निर्भय कर देने की स्थिति को शरण कहते हैं।

†जरामरणवेगेण, वुज्झमाणाण पाणिण।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गइ सरणमुत्तम ॥

उत्तराध्ययन, २३, ६८

प्रस्तुत सूत्र मे अशरण भावना का वर्णन किया गया है। वृद्धावस्था का चित्र चित्रित करके यह वताया गया है कि संसार में दुःख एवं विपत्ति के समय कोई किसी को शरण नहीं देता। इसलिए व्यक्ति को उस समय आर्त-रौद्र ध्यान में न पड़कर अपने आत्म चिन्तन में लगना चाहिए और समय पर किसी की शरण में न जाना पड़े इसके लिए पहले से ही सावधान होकर गति करनी चाहिए इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि पाप कार्य से सदा दूर रहना चाहिए, विवेक एवं संयम के साथ कार्य करना चाहिए। क्योंकि सयम एव धर्म ही सच्चा साथी है, सहायक है एवं शरण देने वाला है।

परन्तु उन धर्मयुक्त व्यक्तियों का जीवन कैसा होना चाहिए? इस लिए उन के प्रशस्त आचरण का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इच्चेवं समुट्ठिए अहोविहाराए अंतरं च खलु इमं सपेहाए धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए वओ अच्चेति जोव्वणं व ॥६६॥

छाया—इत्येवं समुत्थितः अहो विहराय, अन्तरं च खलु इदं सम्प्रेक्ष्य धीरः मुहूर्तमपि नो प्रमादयेत् वयोऽत्येति यौवनं च (अत्येति)।

पदार्थ—इच्चेव—इस प्रकार। अहोविहाराए—सयम अनुष्ठान के लिए। समुट्ठिए—सम्यक् प्रकार से उद्यत होकर। इम च खलु—और इस अवसर को। सपेहाए—भली-भाति सोच-विचार कर। धीरे—धैर्यवान् व्यक्ति को। मुहुत्तमवि—मुहूर्त्त मात्र भी। णो पमायए—प्रमाद नही करना चाहिए। व—अथवा, प्रमाद इसलिए नही करना चाहिए, क्योकि। वयो—वाल्य काल। अच्चेई—वीत रहा है, और। जोव्वणं—यौवन भी वीत रहा है।

मूलार्थ—इस प्रकार त्राण एव शरण का सम्यक्तया विचार करके मुमुक्षु पुरुष को सयमानुष्ठान के लिए उद्यत होना चाहिए क्योकि वाल्य एव यौवन काल निरतर वीत रहा है, इस लिए सयम मे मुहूर्त्त मात्र भी अर्थात् थोडाभी प्रमाद नही करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

जीवन परिवर्तनशील है, प्रवाहमय है। वह सदा एक-सा नहीं रहता है। प्राय चिन्ताओं, उलझनो से मुक्त, सहज, स्वाभाविक और सुखद वाल्यकाल एव यौवन का सुनहरा प्रवाह वह निकलता है और बुढ़ापे की कालिमा उसे आ घेरती

है। अतः उस समय कोई भी स्नेही-साथी उसके दुःख को दूर करने या वंटाने में समर्थ नहीं होता। इस बात को सम्यक्तया जानकर, समझकर विवेकशील व्यक्ति को धर्म एवं साधना पथ पर गति करने मे जरा भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जीवन में धर्म ही एक मात्र सहायक है। क्योंकि धर्म से पाप कर्मों का नाश होता है और ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की ज्योति प्रज्वलित होती है, चिन्तन-मनन में स्थिरता आती है, आचार में तेजस्विता आती है। इससे संकल्प-विकल्प का वेग कम होता है, आर्त्त-रौद्र ध्यान की धारा धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान में बदल जाती है। इससे आत्मा मे अपूर्व तेज एव शक्ति की अनुभूति होती है और आत्मा सारे दुःखों एवं वेदनाओं से ऊपर उठकर आत्म सुख के अनन्त आनन्दमय झूले में झूलने लगती है। दुःख की तप्ती दुपहरियों मे भी वह आत्म सुख की शीतल, सरस, सघन एवं सुखद कुञ्ज में विहार करती है। इसलिए कहा गया है कि मनुष्य को जीवन की अस्थिरता को भली-भाति जान कर वृद्धावस्था आने से पहले ही सावधान हो जाना चाहिए और जरा एवं मृत्यु के शत्रुओं को परास्त करने के लिए अहिंसा, सत्य आदि आध्यात्मिक शस्त्रों को प्रबल एवं तीक्ष्ण बनाने के लिए अनवरत जागृत रहना चाहिए अथवा संयम साधना में क्षण मात्र के लिए भी प्रमाद नहीं करना चाहिए*।

यह हम देख चुके हैं कि वृद्धावस्था में शरीर एवं इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है। उस समय जीवन संबन्धी अनेक चिन्ताएं एवं अनेक मानसिक और शारीरिक व्याधियें उसे दबा लेती हैं, ऐसे समय में उसका मन चिन्तन-मनन एवं धर्म साधना में लगना कठिन है। उस समय वह जीवन की चिन्ताओं के बोझ से इतना दब जाता है कि उसके अतिरिक्त उसे कुछ सूझता ही नहीं। इसलिए सर्वज्ञों ने मानव को सावधान करते हुए कहा है कि उसे धर्म एवं साधना करने के लिए समय की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए†। क्योंकि किसे पता है कि कौन सा समय, कौन सा क्षण उसके लिए काल के रूप में आ उपस्थित हो। अतः मनुष्य को आने वाले प्रत्येक समय को काल का, मृत्यु का दूत समझ कर उसे सफल बनाने में प्रयत्नशील रहना चाहिए।

---

*समयं गोयम ! मा पमायए। —उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १०

† जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥

...दशवैकालिक सूत्र, ८,३६.

प्रस्तुत सूत्र में इसी मूल स्थान की ओर निर्देश किया गया है कि उसे पूर्व जन्म के पुण्य एवं ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशम से जो आर्य क्षेत्र, शुद्ध आचारयुक्त कुल एवं सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप धर्म साधन उपलब्ध हुए हैं, आत्म विकास में उनका उपयोग करने में उसे प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि यौवन एक तरह से कल्प वृक्ष है, वह सब कामनाओं को पूरी करने मे समर्थ है । इससे अर्थ और काम रूप विष भी प्राप्त किया जा सकता है और धर्म एवं मोक्ष रूप अमृत भी और दोनों के परिणाम दुनिया के सामने है । बुद्धिमान व्यक्ति वही है, जो विष की ज्वाला से अपने आपको बचाते हुए धर्म पथ पर गति करता है । यदि कभी वह अर्थ और काम के पथ पर बढ़ता है, तब भी धर्म और मोक्ष की भावना को साथ लेकर गति करता है, यों कहना चाहिए कि उसका भोग त्याग प्रधान होता है । काम की अंधेरी गुफा में भी धर्म एवं त्याग का प्रकाश लेकर प्रविष्ट होता है, तो वहा भी मार्ग पा लेता है। अस्तु इस यौवन के सुनहरे क्षणों को व्यर्थ न खोकर, मनुष्य को अप्रमत्तभाव से धर्म में संलग्न रहना चाहिए।

आत्म ज्ञान का प्रकाश मनुष्य को इधर-उधर की ठोकरों से बचाता है। जो व्यक्ति आत्मज्ञान से शून्य होकर काम-वासना में संलग्न रहते हैं, वे विषय-वासना के बिहड़ एवं भयावने जंगल में भटक जाते हैं। वे पथ भ्रष्ट व्यक्ति अनेक दुष्प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होकर जीवन के सुनहरे समय को यों ही बर्बाद कर देते हैं। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जीविए इह जे पमत्ता से हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुम्पित्ता, विलुम्पित्ता, उद्दवित्ता, उत्तासइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मण्णमाणे, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया नियगा तं पुव्विं पोसेंति, सो वा ते नियगे पच्छा पोसिज्जा, नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा, सरणाए वा ॥६७॥

छाया—जीविते इह ये प्रमत्ताः, स हन्ता, छेत्ता, भेत्ता, लुम्पयिता, विलुम्पयिता, अपद्रावयिता, उत्त्रासकः, अकृतं करिष्यामीति मन्यमानः यैः वा सार्द्धं संवसति ते वा एकदा निजका तं पूर्वमेव पोषयन्ति स वा तान्निजकान्

पश्चात् पोषयेत् । नालं ते तव त्राणाय वा, शरणाय वा, त्वमपि नाल त्राणाय वा शरणाय वा ।

पदार्थ—इह—इस ससार मे। जीविए—असयम जीवन मे। जे—जो। पमत्ता—प्रमत्त है। से—वह-असयत व्यक्ति। हता—जीवो को मारता है। छेत्ता-भेत्ता—जीवो के अ गोपांग का छेदन-भेदन करता है। लुपित्ता—ग्रथि आदि काटता है। विलुंपित्ता—पूरे परिवार या गाव आदि की घात-हत्या करता है। उद्दवित्ता—विप या किसी शस्त्र से जीवो की हत्या करता है। उत्तासइत्ता—पत्थर आदि मारकर प्राणियो को सत्रस्त करता है। अकडं करिस्सामित्ति—धन-ऐश्वर्य एव सुख-साधनो को प्राप्त करने के लिए वह काम मैं करूगा जो कार्य अन्य किसी ने न किया हो। मण्णमाणे वा— ऐसा मानता हुआ वह उस हिंसाजन्य कर्म मे प्रवृत्त होता है। जेहिं—जिनके। सद्धिं—साथ। सवसति—रहता है। ते वा—वे व्यक्ति ही। ण—वाक्यालकार अर्थ मे। एगया—धन-सपत्ति के नाश होने पर। नियगा—स्वजन-स्नेही। पुव्वि—पहले ही। त—उसको। पोसेंति—पोषण करते है। वा—अथवा। सो—वह। ते—उन। नियगे—परिजनो को। पच्छा—पश्चात् पोषण करता है, किन्तु। ते—वे। तव—तेरे। ताणाए—आपत्ति से बचाने के लिए। वा—अथवा। सरणाए—भय रहित करने के लिए। नाल—समर्थ नही हैं। वा—यह परस्पर अपेक्षा का द्योतक है। तुमपि—तू भी। तेंसि—उनके। ताणाए—त्राण के लिए। वा—अथवा। सरणाए—शरण के लिए। नाल—समर्थ नही है। वा—यह शब्द पारस्परिक अपेक्षा का द्योतक है।

मूलार्थ—इस ससार मे जो जीव असयमय जीवन व्यतीत करने वाला है वह प्रमत्त कहा जाता है। प्रमत्त जीव ही अन्य जीवो को मारता है, छेदन करता है, भेदन करता है, लूटता है, ग्रामादि का घात करता है, प्रयिणो का नाश करता है, त्रास देता है, आज प्रर्यन्त जो काम किसी ने नही किया, वह मैं करूगा। इस प्रकार मानता हुआ अर्थोपार्जन करने के लिए जीवो के हनन आदि मे प्रवृत्त होता है।

जिन के साथ वह निवास करता है, वे सम्बन्धी रोगादि से ग्रस्त हुए उसका पोषण करते हैं। तत्पश्चात् रोगदि से निवृत्त हुआ वह धनादि के द्वारा उन अपने सम्बन्धियों का भी पोषण करता है। तथा भगवान कहते हैं कि हे मनुष्य! पोष्य और पोपक व तेरे सम्बन्धी भी जरामरणादि से

तेरी रक्षा करने मे समर्थ नही हो सकेंगे और न ही तू उनके त्राण और शरण के लिए समर्थ हो सकेगा। ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में असंयमी, विषयाभिलाषी एवं प्रमत्त व्यक्तियों के जीवन का वर्णन किया गया है। इसमे बताया गया है कि विषय-वासना मे आसक्त व्यक्ति अपने भोगोपभोगों के साधनों को जुटाने के लिए अनेक प्राणियों का छेदन-भेदन करते हैं एवं अनेक प्राणियों के धन-वैभव पर हाथ साफ करते हैं। इस प्रकार वे लूट-खसूट एव छल-कपट आदि विभिन्न उपायों से प्राणियों को त्रास देकर भोग-विलास मे संलग्न रहते हैं। उनके इस कार्य मे परिजन भी सहयोगी बन जाते है। जब वह व्यक्ति बीमार या कार्य करने में असमर्थ हो जाता है, तो वे परिजन उसका पोषण करते है। क्योंकि उसके सहारे पर ही इनका भोग-विलास चलता है। इस लिए वे उसे स्वस्थ बनाने के लिए विभिन्न प्रकार से प्रयत्न करते हैं। और वह प्रमादी व्यक्ति भी रात-दिन उनका पोषण करने मे लगा रहता है। इस प्रकार परस्पर सहयोग के द्वारा एक-दूसरे के पाप कार्यों को प्रोत्साहन देते हैं। परन्तु जब मृत्यु सिर पर आकर खडी होती है, उस समय संसार का कोई भी व्यक्ति उसकी रक्षा नहीं कर सकता और न उसे अपनी शरण में लेकर मृत्यु के भय से मुक्त या निर्भय ही कर सकता है। उस समय मे उस प्रमादी व्यक्ति के परिजन उसकी तनिक भी सहायता नहीं कर पाते है और न ऐसे समय मे वह ही अपने परिजनों का सहयोगी बन सकता है। अतः इसका निष्कर्ष यह निकला कि संसार मे कोई भी व्यक्ति किसी को शरण नहीं दे सकता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रमादी व्यक्तियों के लिए एक वचन का प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह है कि प्रमत्त जाति सामान्य की अपेक्षा से सभी प्रमादी व्यक्तियों का एक ही जाति के रूप मे वर्णन किया गया है। व्यवहार मे भी हम जाति विशेष के लिए एक वचन का ही प्रयोग करते हैं।

इससे स्पष्ट हो गया कि काल की कराल चपेट से कोई भी व्यक्ति बचाने मे समर्थ नहीं है। उस समय परिवार भी उससे किनारा कर लेता है। ऐसी स्थिति मे धन-वैभव उसके क्या काम आ सकता है? जब चेतन व्यक्ति भी उसे काल से बचाने मे समर्थ नहीं है, तो जड़ द्रव्य उसे क्या सहारा दे सकता है? अर्थात् कुछ भी सहारा नहीं दे सकता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—उवाइयसेसेण वा संनिहिसंनिचयो किज्जई, इह-मेगेसिं असंजयाण भोयणाए, तओ से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया नियगा तं पुव्विं परिहरंति, सो वा ते नियगे पच्छा परिहरिज्जा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा ॥६८॥

छाया—उपादित शेषेण वा सनिधिसन्निचयः क्रियते इहैकेषामसंयतानां भोजनाय क्रियते ततः तस्य एकदा रोगसमुत्पादाः समुपपद्यन्ते, यैः वा सार्द्धं संवसति त एकदा निजकाः तं पूर्वं परिहरन्ति स वा तान्निजकान् पश्चात् परिहरेत्, नालं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा शरणाय वा ।

पदार्थ—उवाइयसेसेण—उपभोग-व्यय करने के पश्चात् जो अवशेष बचा हुआ वा—अथबा उपभोग में नही आया हुआ जो धन है, उसका। इह—इस ससार मे।एगेसिं—कई एक। असयाण—असयत व्यक्तियों के । भोयणाए—उपभोग के लिए। सनिहि—सग्रह और । सनिचओ—सचय । किज्जई—किया जाता है, परन्तु। तओ—सग्रह करने के पश्चात् से—उसको। एगया—किसी समय। रोग समुप्पाया—ज्वर, कुष्ट, तपेदिक आदि साध्य-असाध्य रोग। समुप्पज्जति—उत्पन्न हो जाते हैं, तब। जेहि—जिनके। सद्धि—साथ में सवसई—सम्यक्तय। निवास करता है । वा—परस्पर समुच्चय के लिए। ते वा—वे ही। एगया—एक दिन रोगोत्पत्ति काल मे। नियगा—उसके सबधी । पुव्वि परिहरन्ति—पहले ही छोड देते हैं। वा—अथवा। सो—वह। ते नियगे—उन परिजनो को। पच्छा परिहरेज्जा—पीछे छोड देता है। ते—वे परिजन। तव—तेरे। ताणाय—त्राण के लिए। वा—अथवा। सरणाए—शरण देने के लिए। नालं—समर्थ नही होते। वा—परस्पर सापेक्ष अर्थ का बोधक है। तुमंपि—तू भी। तेसि—उनके। ताणाए—त्राण के लिए। वा—अथवा। शरणाए—शरण के लिए। नाल—समर्थ नही हैं। वा—पूर्ववत्।

मूलार्थ—लोग अपने असंयत पुत्र, पौत्र आदि के लिए उपभोगावशिष्ट तथा अनुपभुक्त धन सभाल कर रखते हैं किन्तु पुत्र आदि अन्तराय कर्म के उदय

के कारण उस धन का उपभोग नहीं कर पाते।

असातावेदनीय कर्म के उदय से जब जीवों को रोग आक्रान्त कर लेते हैं तब उनके साथ वाले साथी साथ नहीं देते, उन्हें छोड कर अलग हो जाते हैं। साथियों की इस स्वार्थमयी वृत्ति से खिन्न हुए दूसरे जीव भी अपने स्वार्थी सम्बन्धियो को, साथियो को छोड देते है उन से विरक्त हो जाते है।

भगवान कहते है कि हे शिष्य! मृत्यु की घडी मे तेरे सबन्धी साथी तेरी रक्षा करने मे तुझे शरण-सहारा देने मे असमर्थ है। तू भी मृत्यु वेला मे उन का त्राण नही कर सकता, न उन्हें शरण दे सकता है।

हिन्दी विवेचन

मोह कर्म के उदय से प्रमादी प्राणी पर पदार्थों में आसक्त रहते हैं। उन्हें अपने सुख का साधन एवं विपत्ति मे सहायक के रूप में समझते हैं। इसलिए वे जीवन मे धन-वैभव आदि को महत्व देते है और उसके संग्रह मे रात-दिन लगे रहते हैं तथा अनेक प्रकार के पाप कार्य करते हुए भी संकोच नहीं करते। वे समझते है कि यह धन मेरे एवं मेरे पुत्र-पौत्र आदि के भोगोपभोग के काम आएगा, उनके लिए सुख का कारण बनेगा। परन्तु, वे यह नहीं सोचते कि जब एक खून के संबंध मे आबद्ध परिजन भी एक-दूसरे को शरण नहीं दे सकता, तब यह जड द्रव्य उनका सहायक कैसे होगा?

यही बात प्रस्तुत सूत्र मे स्पष्ट रूप से समझाई गई है। सूत्रकार ने बताया है कि धन का प्रभूत संचय किया हुआ है, परन्तु वेदनीय कर्म के उदय से असाध्य रोग ने आ घेरा तो उस समय वह धन एवं वे भोगोपभोग साधन उसका ज़रा भी दु:ख हरने मे समर्थ नहीं हो सकेंगे। धन-वैभव को सनाथता एवं श्रेष्ठता का साधन मानने वाले पूंजीपतियों एवं सम्राटों की सनाथता को चुनौति देते हुए श्री अनाथी मुनि ने मगधाधिपति श्रेणिक को भी अनाथ बनाया था, यह पूंजीवाद पर एक सबल व्यंग था। परन्तु इसमें सच्चाई थी, वास्तविकता थी। अनाथी मुनि ने वैभव की निस्सारता का चित्र उपस्थित करते हुए सम्राट श्रेणिक से कहा था कि हे राजन्! मेरे पिता प्रभूत, धन-ऐश्वर्य के स्वामी थे, भरापूरा परिवार था। सुशील, विनीत एवं लावण्यमयी नवयौवना पत्नी थी। परन्तु उस समय मेरे शरीर में दाह-ज्वर उत्पन्न हो गया। दिन-रात ज्वर की आग में जलता रहा, मैं ही नहीं मेरा सारा परिवार व्याकुल

व्याकुल हो गया, पत्नी रात-दिन आसू बहाती रही, पिता ने मेरी वेदना को शात करने के लिए धन को पानी की तरह बहाना आरम्भ कर दिया, फिर भी हे राजन्! वह धन, वह परिवार मेरी वेदना को शात नहीं कर सका, मुझे शरण नहीं दे सका, इस लिए मैं उस समय अनाथ था। मैं ही नही, भोगो मे आसक्त सारा संसार ही अनाथ है क्योंकि ये भोग दुःख एव सकट के समय किसी के रक्षक नहीं बनते हैं॥।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त "उवाईयसेसेण" शब्द की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है— "अद् भक्षणे, इत्येतस्मादुपपूर्व्वान्निष्ठा प्रत्यय, तत्र बहुल छन्दसी-तीडागम, उपादितम्—उपभुक्त, तस्य शेषमुपभुक्तशेष, तेन वा, वाशब्दादनुपभुक्तशेषेणवा" अर्थात्—उप पूर्वक अद् भक्षणे धातु से 'क्त' प्रत्यय किए जाने पर 'बहुल छन्दसि' इस सूत्र से इट् का आगम कर देने से 'उपादित–उवाईय' रूप सिद्ध हो जाता है। और उसका अर्थ होता है—उपभुक्त—उपभोग मे आए हुए धन मे से अवशिष्ट—शेष बचा आ हुआ जो अब तक भोगने मे नहीं आया है।

'सनिहिसनिचयो' पद का अर्थ है—"सम्यग् निधीयते अवस्थाप्यते उपभोगाय योऽर्थ स सन्निधिस्तस्य सन्निचय प्राचुर्यम् उपभोग्यद्रव्यनिचय इत्यर्थ" अर्थात् भोगोपभोग के लिए विभिन्न पदार्थों एवं धन-वैभव का अत्यधिक सग्रह करना।

परन्तु यह स्पष्ट है कि रोग के आने पर न तो वह द्रव्य ही उसे असाता वेदनीय कर्म या दुःख की सवेदना से बचा सकता है और न उसका सरक्षक ही उसे बचा सकता है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को धन-वैभव के सग्रह मे आसक्त न होकर समभाव पूर्वक वेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त कष्ट को सहन करके, उक्त कर्म को क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे यह दुःख एव वेदना प्राप्त हुई है। रोग आदि दुःख एवं वेदना के समय किस तरह समभाव रखना चाहिए, इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं ॥६६॥

छाया—ज्ञात्वा दुःख प्रत्येकं सातम्।

पदार्थ—पत्तेय—प्रत्येक प्राणी के। साय—सुख और। दुक्ख—दुःख को। जाणित्तु—जानकर, प्रतिकूल परिस्थितियो मे मनुष्य को धैर्य रखना चाहिए।

मूलार्थ—प्रत्येक प्राणी के सुख-दुःख को जानकर मनुष्य को अपने ऊपर

॥उत्तराध्ययन सूत्र, २०, १९-३०

अत. साधक को प्राप्त दुःख एवं वेदना में घबराना नहीं चाहिए, अपितु समभाव पूर्वक उसे सहन करना चाहिए। और वेदना में संलग्न मन की विचार की, चिन्तन की धारा को आत्म चिन्तन की ओर मोड़ देना चाहिए। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अणभिक्कंतं च खलु वयं संपेहाए ॥७०॥

छाया—अनभिक्रान्तं च खलु वयः संप्रेक्ष्य।

पदार्थ—च और खलु शब्द क्रमशः अधिक और पुनरर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। अणभिक्कतं वय—अभी धर्म करने योग्य अवस्था ,अवशेष है, ऐसा। संपेहाए—विचार कर, आत्म चिन्तन मे सलग्न होना चाहिए।

मूलार्थ—आत्म साधना का समय अभी शेष है, ऐसा सोच-विचार कर, साधक को आत्म अन्वेषण मे सलग्न होना चाहिए।

हिन्दी विवेचना

प्रस्तुत सूत्र मे साधक को सावधान करते हुए कहा गया है कि हे साधक ! तू संसार की अवस्था को जान-समझकर तथा सम्यक्तया अवलोकन करके आत्म चिन्तन में संलग्न हो। क्योंकि अभी तुम्हारे शरीर पर वार्धिक्य एवं रोगों ने आक्रमण नहीं किया है, तुम्हारा शरीर स्वस्थ है, इन्द्रियें भी सशक्त हैं, ऐसी स्थिति मे समय को व्यर्थ में नष्ट मत कर। क्योंकि इस अवस्था के बीत जाने पर इन्द्रियों की शक्ति कमजोर हो जाएगी, अनेक रोग तेरे शरीर पर आक्रमण करके उसे शक्ति हीन बना देंगे। फिर तू चाहते हुए भी कुछ नहीं कर सकेगा।

इससे यह स्पष्ट होता है कि साधना के लिए स्वस्थ शरीर एवं सशक्त इन्द्रियों का होना आवश्यक है। यह सब सापेक्ष साधन हैं। निश्चय दृष्टि से निर्वाण प्राप्ति के कारण रूप क्षायिक भाव की प्राप्ति के लिए क्षयोपशम भाव सहायक है, न कि औदयिक भाव। और शरीर आदि की नीरोगता, साता वेदनीय कर्म के उदय से है, फिर यहां जो यौवन वय को साधना मे लगाने को कहा है, उसका कारण यह है कि अभी शरीर क्षायिक भाव प्राप्ति का साधन है और साधना की सिद्धी के लिए साधनों का स्वस्थ एवं सशक्त होना जरूरी है। इसी अपेक्षा से एक विचारक ने सत्य ही कहा है कि 'स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन और स्वस्थ आत्मा रह सकती है' क्योंकि रोग के कारण, मन सदा चिन्ताग्रस्त रहेगा और मनकी अस्वस्थता के कारण आत्म चिन्तन ठीक तरह

हो नहीं सकता , इसलिए साधना काल में स्वस्थ शरीर भी अपेक्षित है । इसलिए प्राप्त समय को सफल बनाने के लिए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—खणं जाणाहि पंडिए ॥७१॥

छाया—क्षणं जानीहि पंडित ।

पदार्थ—पंडिए—हे पडित ! आत्म ज्ञानी । खणं—समय को । जाणाहि—जान—पहिचान ।

मूलार्थ—हे पडित ! तू साधना के समय को जान-पहिचान ।

हिन्दी विवेचन

समय की गति बड़ी तेज है। समय प्रकाश, शब्द और विद्युत से भी अधिक तीव्र गति से भागता है । शब्द और विद्युत को आज हम पकड कर भी रख सकते हैं, परन्तु समय हमारी पकड़ से बाहर है। बीता हुआ समय कभी भी लौटाकर नहीं लाया जा सकता । इसीलिए आगम में कहा गया है कि द्रुतगति से भागने वाले समय को जानकर साधक को उसे सफल बनाने में सदा सावधान रहना चाहिए। क्योंकि ऐसा सुअवसर बार-बार मिलना कठिन है।

'क्षण' शब्द का अर्थ है—अवसर या समय। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चार प्रकार का है। मनुष्य जन्म, स्वस्थ शरीर, सशक्त इन्द्रियें आदि की प्राप्ति द्रव्य क्षण है। आर्य क्षेत्र, आर्य कुल और आर्य धर्म की प्राप्ति क्षेत्र क्षण है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के वे आरे जिनमें धर्म की साधना की जा सके—जैसे अवसर्पिणी काल का तृतीय, चतुर्थ और पंचम आरा तथा महाविदेह क्षेत्र का सभी काल, काल क्षण है। क्षयोपशम आदि भाव की प्राप्ति भाव क्षण है,

कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म साधना में सहायक साधन क्षण है और ऐसे समय को प्राप्त करके साधक को साधना में प्रमाद नही करना चाहिए। क्योंकि समय को जानने वाला व्यक्ति ही पंडित है। अतः साधक को चाहिए कि प्राप्त क्षणों को प्रमाद में नष्ट न करे। इस बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जाव सोयपरिण्णाणा अपरिहीणा, नेत्तपरिण्णाणा अपरिहीणा, घाणपरिण्णाणा अपरिहीणा, जीहपरिण्णाणा अपरिहीणा, फरिसपरिण्णाणा अपरिहीणा इच्चेएहिं

विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं अपरिहीणेहिं आयट्ठं सम्मं समणु-
वासिज्जासि त्तिबेमि ॥७२॥

छाया—यावत् श्रोत्रपरिज्ञानानि अपरिहीनानि, नेत्रपरिज्ञानानि अपरिहीनानि, घ्राणपरिज्ञानानि अपरिहीनानि, जिह्वा परिज्ञानानि अपरिहीनानि, स्पर्शपरिज्ञानानि अपरिहीनानि इत्येतैः विरूपरूपैः प्रज्ञानैः अपरिहीनैः आत्मार्थं सम्यक् समनुवासयेत्। इति ब्रवीमि।

पदार्थ—जाव—जब तक। सोयपरिण्णाणा—श्रोत्र विज्ञान। अपरिहीणा—हीन नही हुआ। नेत्त परिण्णाणा—नेत्र विज्ञान। अपरिहीणा—हीन नही हुआ। घाणपरिण्णाणा—नासिका विज्ञान। अपरिहीणा—हीन नही हुआ। जीहपरिण्णाणा—रसना का परिज्ञान। अपरिहीणा—हीन नही हुआ। फासपरिण्णाणा—स्पर्श विज्ञान। अपरिहीणा—हीन नही हुआ। इच्चेएहिं—ये सब। विरूवरूवेहिं—विविध रूप वाले। पण्णाणेहिं—प्रकृष्ट ज्ञान। अपरिहीणेहिं—हीन नही हुआ अर्थात् इनकी शक्ति क्षीण नही हुई। आयट्ठ—आत्मा के लिए आत्म हित के लिए। सम्म—सम्यक्तया। समणुवासिज्जासि—प्रयत्न करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जब तक श्रोत्र विज्ञान हीन नही हुआ, चक्षु विज्ञान हीन नही हुआ, घ्राण विज्ञान हीन नही हुआ, जिव्हा विज्ञान हीन नही हुआ, स्पर्शेन्द्रि विज्ञान हीन नही हुआ, इस प्रकार ये सब विविध रूप वाले विशिष्ट विज्ञानो का जब तक ह्रास नही हुआ है, तब तक साधक को सम्यक्तया आत्मा के हित मे निवास करना चाहिए अर्थात् आत्मा हित के लिए प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा मै कहता हू।

हिन्दी विवेचन

हम यह देख चुके है कि व्यक्ति शरीर एवं इन्द्रियों की स्वस्थता तथा सशक्त अवस्था मे ही साधना कर सकता है। चक्षु आदि इन्द्रियों की शक्ति निर्बल हो जाने के बाद वह भली-भांति साधना मार्ग मे प्रवृत्त नहीं हो सकता। न वह अपना आत्महित ही साध सकता है और न ठीक तरह से प्राणियों की रक्षा ही कर सकता है। इसलिए शरीर एव इन्द्रियों की स्वस्थता के रहते ही साधक को आत्म साधना मे सलग्न हो जाना चाहिए। यही बात प्रस्तुत सूत्र मे बताई गई है।

'आयट्ठ' पद का अर्थ आत्मार्थ है प्रस्तुत प्रकरण मे आत्मार्थ मे आत्मा की वास्तविक निधि ज्ञान, दर्शन, चारित्र लिए गए हैं। क्योंकि उक्त त्रय रत्न की सम्यग् आराधना से ही मोक्ष रूप साध्य की सिद्धी हो सकती है और यही साधक का मूल लक्ष्य है। या यों कह सकते है कि जिस साधना से आत्मा का हित हो उसी का नाम आत्मार्थ है। इस अपेक्षा से भी रत्न त्रय ही आत्मा के लिए हितकर हैं। क्योंकि इनकी साधना से ही आत्मा कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हो सकता है।

इसके अतिरिक्त 'आयट्ठं' का संस्कृत रूप 'आयतार्थं' भी बनता है। आयत का अर्थ होता है—ऐसा स्वरूप जिसकी कभी समाप्ति न हो। आयत मोक्ष को कहते हैं, अत. मोक्ष प्राप्ति के लिए जो साधना की जाए उसे 'आयार्थ' कहते हैं। इस अपेक्षा से भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्न त्रय की साधना को ही स्वीकार किया गया है।

अस्तु निष्कर्ष यह निकला कि शरीर की स्वस्थता एवं इन्द्रियों में शक्ति रहते हुए साधक को संयम साधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए। उसे विषय-वासना, धन एवं परिजनों की आसक्ति का त्याग कर आत्म साधना में प्रवृत्त होना चाहिए। इसी से आत्मा लोक पर विजय प्राप्त कर पूर्ण सुख-शान्ति रूप निर्वाण को पा सकेगा।

'त्तिबेमि' का अर्थ प्रथम अध्ययन की तरह समझना चाहिए।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

द्वितीय अध्ययन-लोक-विजय

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में पारिवारिक एवं भौतिक सुख साधनों तथा धन-ऐश्वर्य आदि के मोह का परित्याग करने की प्रेरणा दी गई है। क्योंकि पारिवारिक एवं संपत्ति का मोह तथा वन्धन साधना के पथ मे अवरोधक चट्टान है। पारिवारिक व्यामोह एवं माता-पिता के संवन्धों की आसक्ति से ऊपर उठे विना साधक साधना पथ पर गतिशील नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता सग्राम के समय हम देख चुके हैं कि देश की स्वतन्त्रता के लिए सत्याग्रहियों को पारिवारिक व्यामोह से ऊपर उठना ही होता था, उन्हें घर एव सपत्ति की आसक्ति से भी कुछ सीमा तक निश्चिन्त होना पडता था। इससे हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि आत्म स्वातन्त्र्य के लिए वासना एव विकारों से अनवरत लड़ने वाले आध्यात्मिक सेनानियों—साधकों के लिए पारिवारिक व्यामोह से ऊपर उठना अनिवार्य है। क्योंकि व्यामोह का त्याग किए विना संयम में स्थिरता नहीं आ सकती।

चिन्तन-मनन से प्राप्त सम्यग् ज्ञान पूर्वक आचार में प्रवृत्त होने का नाम संयम है। इसके लिए सवसे पहले चिन्तन मे सात्विकता का आना जरूरी है और वह योगों की एकाग्रता पर आधारित है। और जव तक साधक पारिवारिक व्यामोह से आबद्ध है, तव तक उसके योगों मे एकाग्रता आ नहीं पाती। क्योंकि उसके सामने अनेक समस्यायें मुंह फाडे खड़ी रहती हैं, कभी मन किसी समस्या से उलझा हुआ है तो वचन का प्रयोग किसी और ही पहलू को हल करने मे लग रहा है और शरीर किसी तीसरे कार्य में ही व्यस्त है। इस प्रकार तीनों योगों की बिभिन्न दिशाओं में दौड़ धूप होती रहने से, उनमें एकाग्रता नहीं आ पाती। अत· योगों की एकाग्रता के अभाव में चिन्तन में सात्विकता एवं ज्ञान तथा आचार में तेजस्विता नहीं आ पाती है। अस्तु संयम की साधना के लिए, साधना के मूल चिन्तन मे सात्विकता एवं ज्ञान में निर्धूमता लाने के लिए पारिवारिक व्यामोह का त्याग करना अनिवार्य है।

इसी कारण प्रथम उद्देशक में मोह एवं आसक्ति परित्याग की बात कही गई है। इससे साधक के मन में साहस एव उत्साह का संचार होता है। परन्तु कभी-कभी कुछ ऐसी परिस्थितियें सामने आती हैं कि साधक का मन लड़खड़ाने लगता

है। उसकी अस्थिरता को दूर करके साधना में दृढ़ता लाने के लिए प्रस्तुत उद्देशक में सूत्रकार संयम मार्ग में आने वाली अरुचियों का वर्णन करके यह स्पष्ट कर रहे हैं कि साधक को उन पर कैसे विजय पानी चाहिए। प्रस्तुत उद्देशक का प्रारंभ करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अरइं आउट्टे से मेहावी, खणंसि मुक्के ॥७३॥

छाया—अरतिं आवर्त्तेत (अपवर्त्तेत) स मेधावी क्षणे मुक्तः।

पदार्थ—से—वह। मेहावी—बुद्धिमान है, जो। अरइ—अरति-चिन्ता को। आउट्टे—दूर करता है, वह फिर। खणंसि—क्षण मात्र—स्वल्प काल में। मुक्के—अष्ट कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है।

मूलार्थ—वह साधक बुद्धिमान है, जो अरति-चिन्ता को दूर हटाता है। वह चिन्ता मुक्त व्यक्ति स्वल्प समय में कर्म बन्धन से भी मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है।

हिन्दी विवेचन

एक विचारक ने सत्य ही कहा है कि "साधना का मार्ग फूलों का मार्ग नहीं, कंटीली पगडंडी है।" अतः उस पर गतिशील साधक को पूरी सावधानी रखने का आदेश दिया गया है, प्रतिक्षण विवेकपूर्वक गति करने को कहा गया है। इतने पर भी परीषहों का कोई न कोई कांटा चुभ ही जाता है। उस समय निर्बल साधक के मन में वेदना की अनुभूति का होना भी स्वभाविक है। इसलिए सूत्रकार ने साधक को सावधान करते हुए प्रस्तुत सूत्र में यह बताया है कि ऐसे विकट समय में भी अपने मार्ग पर गतिशील रहने वाला व्यक्ति ही बुद्धिमान है और वही कर्म बन्धन की शृंखला को तोड़कर मुक्त हो सकता है। अतः साधक थोड़े से परीषह से घबराकर अपने प्रशस्त मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिए और अपनी श्रद्धा एवं ज्ञान की ज्योति को धूमिल नहीं पड़ने देना चाहिए।

साधना के पथ से विचलित होने का अर्थ है— पतन के गर्त में गिरना। अतः जरा से परीषह से परास्त होने वाला व्यक्ति कंडरीक की तरह अपने जीवन को बर्बाद कर लेता है, अनुपम सुखों को खो देता है और इसके विपरीत उसके लघु भ्राता पुंडरीक का अनुकरण करने वाला व्यक्ति निर्बाध गति से मुक्ति की ओर कदम बढ़ाता है। साधना पथ पर गतिशील साधक के लिए ये दोनों उदाहरण सर्चलाईट

की तरह उपयोगी हैं।

कंडरीक और पुंडरीक दोनों सगे भाई थे। कण्डरीक बड़ा भाई होने के कारण राज्य का मालिक था। परन्तु मुनि के सदुपदेश से राज्य का त्याग करके वह साधु बन गया और निरन्तर एक हजार वर्ष तक साधना करता रहा। परन्तु जीवन के अन्तिम दिनों मे वह परीषहों एव वासना से परास्त हो गया। अपने लघु भ्राता पुण्डरीक को राज्य का सुख भोगते देखकर उसका मन भी उस ओर लुढ़क गया। वह अपने को संभाल नहीं सका। अत. उसने अपनी अभिलाषा पुण्डरीक के सामने व्यक्त कर दी। पुण्डरीक को भाई के विचार सुनकर अति वेदना हुई और उसने धर्म एवं शासन की प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए अपने ज्येष्ठ भ्राता को उस का राज्य सौंप कर, उसके स्थान मे उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली और तप साधना मे संलग्न हो गये।

कंडरीक प्रकाम भोजन एव भोगों मे आसक्त हो गया और पुंडरीक तप करने लगा तथा रूखा-सूखा जैसा भी आहार मिल गया उसी पर संतोष करके संयम साधना मे संलग्न हो गया। परिणाम यह निकला कि कण्डरीक की तपस्या से निर्बल बनी हुई आतें प्रकाम भोजन को पचा नहीं सकीं और दुर्बल शरीर अधिक भोगों की मार को सह नहीं सका, इससे उसे असाध्य रोग हो गया और वह भोगों की आसक्ति मे तड़पता हुआ मर गया। उधर पुंडरीक को भी अपने स्वास्थ्य के अनुकूल भोजन नहीं मिलने से वह भी अस्वस्थ हो गया। परन्तु ऐसी स्थिति मे भी अपने पथ से भ्रष्ट नहीं हुआ। समभाव पूर्वक वेदना को सहते हुए अनशन करके पंडित मरण को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार संयम त्यागने एव संयम स्वीकार करने के थोड़े ही समय बाद दोनों भाइयों ने देह का त्याग कर दिया, और दोनों ने उपपात योनि मे जन्म लिया और ३३ सागरोपम की स्थिति को प्राप्त किया। योनि और स्थिति समान होते हुए भी दोनों की गति में बहुत बड़ा अंतर था। पुंडरीक ने अल्पकालीन साधना से सर्वार्थसिद्ध विमान को प्राप्त किया, तो कंडरीक ने भोगों में आसक्त होकर सातवीं नरक के अंधकार मे जन्म लिया।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि थोड़े से परीषहों से घबरा कर जो व्यक्ति पथ-भ्रष्ट होता है, वह एकदम पतन के गर्त मे गिरता ही जाता है। अत साधक को परीषहों के उपस्थित होने पर घबराना नहीं चाहिए। अनुकूल परीषहों में भी

अपने पथ पर दृढ़ता के साथ गतिशील होना चाहिए। जो साधक रति-अनुकूल परीषहों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह कर्म बन्धनों को शिथिल करता हुआ एवं तोड़ता हुआ, एक दिन कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है।

अत. वीतराग द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर गतिशील व्यक्ति संसार सागर से पार हो जाता है और उस पथ पर गति नहीं करने वाला साधक संसार सागर में परिभ्रमण करता है, विभिन्न गतियों में महान् दु खों का संवेदन करता है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अणाणाय पुट्ठावि एगे नियट्टंति, मंदा मोहेण पाउड़ा, अपरिग्गहा भविस्सामो समुट्ठाय लद्धे कामे अभिगाहइ, अणाणाए मुणिणो पडिलेहंति, इत्थ मोहे पुणो-पुणो सन्ना नो हव्वाए नो पाराए ॥७४॥

छाया—अनाज्ञया स्पृष्टा अपि एके निवर्त्तन्ते मन्दा मोहेन प्रावृताः अपरिग्रहाः भविष्यामः समुत्थाय, लब्धान् कामान् अभिगाहन्ते अनाज्ञया, मुनयः प्रत्युपेक्षन्ते, अत्र मोहे पुनः पुनः सन्ना नो अर्वाचे नोपाराय।

पदार्थ—मन्दा—विवेक शून्य। मोहेण पाउडा— मोह से प्रावृत-घिरे हुए। एगे—कई एक प्राणी। पुट्ठा वि—परीपहो के आने पर। अणाणाय—आज्ञा से विपरीत हो कर नियट्टन्ति—सयम से पतित होते हैं। अपरिग्गहा—परिग्रह रहित। भविस्सामो—वनेंगे। ऐसे वचन वोलकर। समुट्ठाय—दीक्षा लेकर। लद्धे कामे—प्राप्त हुए विपय भोगो को। अभिग्गाहइ—सेवन करते हैं। अणाणाय—वीतराग की आज्ञा से विरुद्ध। मुणिणो—मुनि वेप को लज्जाने वाले। पडिलेहन्ति-कामभोगो के उपायो की शोध करते हैं। इत्थ मोहे—इस प्रकार मोह में। पुणो-पुणो—वार-वार। सन्ना—आसक्त होकर। नो हव्वाए—न इस पार के। नो पाराए—न उस पार के होते हैं।

मूलार्थ—अज्ञान से आवृत्त, विवेक शून्य कितने एक कायर प्राणी परीषहो के उपस्थित होने पर वीतराग आज्ञा से विरुद्ध आचरण करके सयम मार्ग से च्युत हो जाते है। और कई स्वेच्छाचारी व्यक्ति हम अपरिग्रही वनेंगे इस तरह का विचार कर तथा दीक्षा लेकर भी

प्राप्त काम-भोगो का सेवन करते है एव मुनि वेश धारी स्वच्छन्द बुद्धि से विषय-भोगो को प्राप्त करने के उपायो मे सजग रहते है। वे विषय भोग मे आसक्त होने से मोह के कीचड़ मे ऐसे फस जाते है कि न इधर के रहते है और न उधर के अर्थात् न तो गृहस्थ रहते है और न साधु ही। वे उभय जीवन से भ्रष्ट हो जाते हैं।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि साधना का पथ काटों का पथ है। उसमें त्याग के पुष्पों के साथ-साथ परीषहों के काटे भी बिखरे पड़े हैं। अत: साधना पथ पर गतिशील साधक को परीषहों का प्राप्त होना स्वभाविक है। परन्तु उस समय वह साधक साधना मे संजग्न रह सकता है, जिसकी श्रद्धा दृढ़ है एव जिसके पास ज्ञान का प्रखर प्रकाश है। पर, जो साधक निर्बल है, जिसकी ज्ञान ज्योति क्षीण है, वह परीषहों की अंधड़ मे लडखड़ा जाता है। इसी बात को सूत्रकार ने स्पष्ट करते हुए बताया है कि विवेक हीन व्यक्ति परीषहों से परास्त होकर पथ भ्रष्ट हो जाते हैं। वे विभिन्न भोगों मे आसक्त होकर वीतराग की आज्ञा का उल्लघन करते हुए भी नहीं हिचकिचाते। ऐसे वेशधारी साधकों को "इतो भ्रष्टस्ततो नष्ट" कहा गया है। अर्थात् उन की स्थिति धोबी के कुत्ते की तरह होती है, वह न घर का रहता है और न घाट का। इसी प्रकार ये वेशधारी मुनि साधना को हृदयंगम नहीं कर सकने के कारण न तो मुनि का धर्म ही सम्यक्तया परिपालन करके उसका लाभ उठा सकते हैं और वेष-भूषा से गृहस्थ न होने के कारण स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन का उपभोग कर सकते हैं। वे न तो इधर के रहते है और न उधर के रहते हैं, बेचारे त्रिशंकु की तरह अधर में ही लटकते रहते हैं और भोग मे आसक्त होने के कारण संसार बढ़ाते है। परन्तु इस भवसागर से पार नहीं हो सकते।

अस्तु जो वीतराग देव की आज्ञानुसार आचरण करते हैं, वे ही संसार सागर से पार होते हैं। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—विमुत्ता हु ते जणा जे जणा पारगामिणो, लोभमलोभेण दुगुंछमाणे लद्धे कामे नाभिगाहइ ॥७५॥

छाया—विमुक्ताः खलु ते जनाः ये जनाः पारगामिनो, लोभमलोभेन

जुगुप्समानो लब्धान् कामान् नाभिगाहते।

पदार्थ—विमुत्ता—विभिन्न बन्धनो से मुक्त-उन्मुक्त। हु—निश्चय ही। ते—वे जणा—जन। पारगामिणो—पार जाने की इच्छा करते है, वे व्यक्ति। लोभं—लोभ को। अलोभेण—निर्लोभता से। दुगु छमाणे—तिरस्कृत करते हुए। लद्धे कामे—प्राप्त काम भोगो का भी नाभिगाहइ—आसेवन नही करते।

मूलार्थ—सासारिक बन्धनो से उन्मुक्त साधक लोभ को अलोभ से पराभूत करके प्राप्त काम भोगो का भी आसेवन नही करता है।

हिन्दी विवेचन

जैन संस्कृति में त्याग को महत्व दिया गया है, न कि वेष-भूषा को। यह ठीक है कि द्रव्य-वेष का भी महत्व है, परन्तु त्याग-वैराग्य युक्त भावना के साथ ही उस का मूल्य है। भाव शून्य वेषधारी साधक को, पथ भ्रष्ट कहा गया है। जो साधक त्याग-वैराग्य की भावना को त्याग कर रात-दिन खाने-पीने, सोने एव विलास म व्यस्त रहता है, उसे पापी श्रमण कहा गया है*।

प्रस्तुत सूत्र मे त्यागी की परिभाषा बहुत ही सुन्दर की गई है। वह व्यक्ति त्यागी नहीं माना गया है, जिसके पास वस्तु का अभाव है, परन्तु उसका मन अभी भी उसमे रम रहा है। जिसे वस्त्र, सुगंधित पदार्थ, अलंकार, स्त्री, शय्या-घर आदि स्वतन्त्र रूप से प्राप्त नहीं हैं, पर उनकी वासना उसके मन में रही हुई है, तो वह भगवान महावीर की भाषा में त्यागी नहीं है†। त्यागी वही है, जिसे सुन्दर भोग-विलास एवं भौतिक सुख-साधन प्राप्त है और जो उनका भोग करने में भी स्वतन्त्र एवं समर्थ है, फिर भी उन्हें संसार मे परिभ्रमण करने का साधन समझकर त्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है‡।

ऐसा त्यागी व्यक्ति लुभावने प्रसंग उपस्थित होने पर भी नहीं फिसलता, वह अलोभ के द्वारा तृष्णा के जाल को छिन्न-भिन्न कर देता है। क्योंकि वह समझता

---

* देखे उत्तराध्ययन, अध्ययन १७।

† वत्थ-गधमलकार इत्थिओ सयणाणि य ॥
अच्छदा जे न भुञ्जति, न से चाई त्ति वुच्चई ॥ —दशवैकालिक २, २

‡ जे य कते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठी कुव्वई।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चई ॥ —दशवैकालिक, २, ३

है कि सुहावने से प्रतीत होने वाले सुख-साधनों के पीछे दुःख का अनन्त सागर लहरा रहा है। इस आटे की उज्ज्वल गोली के साथ ही प्राणों को हरण करने वाले तीक्ष्ण काटे की वेदना भी रही हुई है। इसलिए वह प्रबुद्ध साधक उसके क्षणिक लोभ मे प्रवहमान होकर अपने आप को अथाह सागर में डूबने नहीं देता, अपितु उस तृष्णा पर विजय प्राप्त करके ससार सागर से पार हो जाता है।

लोभ की तरह कषाय के अन्य तीन भेदों— १-क्रोध, २-मान, ३-माया को भी समझ लेना चाहिए। जैसे अलोभ वृत्ति से लोभ को परास्त करने को कहा गया है। उसी प्रकार क्रोध, मान और माया का प्रसग उपस्थित होने पर, उपशमन से क्रोध को, विनय-नम्रता से मान को एव ऋजुता-सरलता से माया को परास्त करे।

इस प्रकार कषायों पर विजय पाने वाला विजेता ही साधना के पथ पर आगे बढ़ता है। और उसका मार्ग ही प्रशस्त मार्ग कहा गया है, कषायों के प्रवाह में प्रवहमान का मार्ग भयावह एवं दुःखों से भरा हुआ है। इसी प्रशस्त एवं अप्रशस्त मार्ग को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—विणावि लोभं निक्खम्म एस अकम्मे जाणइ पासइ, पडिलेहाए नावकंखइ, एस अणगारित्ति पवुच्चई, अहो य राओ परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुम्पे सहसाक्कारे विणिविट्ठचित्ते, इत्थ सत्थे पुणो-पुणो, से आयबले से नाइबले से मित्तबले से पिच्चबले से देवबले से रायबले से चोरबले से अतिहिबले से किविणबले से समणबले, इच्चेएहिं विरूवरूवेहिं कज्जेहिं दंडसमायाणं संपेहाए भया कज्जइ, पावमुक्खुत्तिमन्नमाणे अदुवा आसंसाए ॥७६॥

छाया—विनापि लोभं निष्क्रम्य एष अकर्मा जानति पश्यति प्रत्युपेक्षणया नावकांक्षति एष अनगारः इति प्रोच्यते अहोरात्र परितप्यमानः कालाकाल समुत्थायी संयोगार्थी अर्थाऽऽलोभी आलुम्पः सहसाकारो विनिविष्टचित्तः अत्र शस्त्रे पुनः पुनस्तद् आत्मबलं, तद् ज्ञातिबलं, तत् मित्रबलं, तत् प्रेत्यबलं, तद्

देव बलं, तद् राजबलं, तच्चौरबलं, तदतिथिबलं, तत् कृपणबलं, तत् श्रमण-बलं, इत्येतैः विरूपरूपैः कार्यैः दन्डसमादानं संप्रेक्ष्य भयात् क्रियते पापमोक्षः इति मन्यमानः अथवा आशंसयै।

पदार्थ—विणाविलोभं—लोभ के विना। निक्खम्म—दीक्षा लेकर। एस—यह आत्मा अकम्मे—कर्म रहित होकर। जाणइ—सब कुछ जानता है। पासइ—सब कुछ देखता है। पड़िलेहाए—यह विचार कर। नावकखइ—जो लोभ को नही चाहता है। एस—वह। अणगारिस्ति—अनगार। पवुच्चइ—कहा जाता है, अज्ञानी जोव। अहो य राओ—अहो रात्र-दिन। परितप्पमाणे—अनेक प्रकार से सतप्त होता हुआ। कालाकाल समुट्ठाई—काल और अकाल मे उठने वाला अर्थात्—अपने कार्य की सिद्धि के लिए काल और अकाल की उपेक्षा करने वाला। सजोगट्ठी—सयोग को चाहने वाला। अट्ठालोभी—धन का लोभी। आलुपे—गला काटने वाला। सहसाक्कारे—विना विचारे काम करने वाला। विणिविट्ठचित्ते—आरम्भ परिग्रह तथा विषय-कषायो मे दत्तचित्त होता हुआ। इत्थ—पृथ्वीकायादि के उपघा करने मे। सत्थे—शस्त्र का। पुणो पुणो—वारम्वार प्रयोग करता है। से—वह। आयवले—आत्म वल अपना शारीरिक वल। से—वह। नाइवले—जातिवल। से—वह। मित्तबले—मित्र वल। से—वह। पिच्चवले—परलोक वल। से—वह। देववले—देव वल। से—वह। रायवले—राज वल। से-वह। चोरवले-चोर वल। से—वह। अतिहिवले—अतिथि बल। से—वह। किविणवले—कृपण वल। से—वह। समणवले—श्रमण वल। इच्चेएहिं—इत्यादि। विरूवरूवेहिं-विविध प्रकार के। कज्जेहिं—कार्यों के लिए। दडसमायाण—हिंसा की जाती है। संपेहाए—यह विचार कर तथा। भयाकज्जइ—भय से पाप कर्म किया जाता है, तथा। पावमुक्खुत्ति—मैं पाप से मुक्त हो जाऊगा-पाप से छूट जाऊगा इस आशय से पापकर्म किया जाता है। अदुवा—अथवा। आसंसाए—अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति हो जाए इस इच्छा से पाप कर्म मे प्रवृत्ति होती है।

मूलार्थ—लोभ विना दीक्षा लेकर अर्थात् लोभ के सर्वथा दूर हो जाने से दीक्षित हुआ व्यक्ति चारो ही घाति कर्मो का क्षयकरके केवल ज्ञान से युक्त होकर सर्व पदार्थो के सामान्य और विशेष धर्मो का बोध प्राप्त करता है सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है कषायो के गुण दोषो का विचार करके लोभादि की इच्छा नही करता, इस प्रकार वह अनगार कहलाता है। और इसके विपरीत जो अज्ञ है वह दिन-रात सतप्त हृदय होता हुआ काल और अकाल

मे उठने वाला, सयोग का अर्थी, धन का लोभी, गला काटने वाला, विना विचारे काम करने वाला, धन और स्त्री मे आसक्ति रखने वाला, पट्काय मे बारम्बार शस्त्र का प्रयाग करने वाला, निम्नलिखित कारणो को मुख्य रख कर हिसादि कर्म मे प्रवृत्त होता है, यथा मेरी आत्म शक्ति वढेगी, मेरी जाति का बल बढेगा, मेरा मित्रबल वढेगा मेरा परलोक बल वढेगा मेरा देवबल बढेगा, मेरा राजबल वढेगा, मेरा चोरबल बढेगा, मेरा अतिथिबल बढेगा, मेरा कृपणबल बढगा और मेरा श्रमणबल बढेगा, इन पूर्वोक्त विविध प्रकार के कार्यो से प्रेरित हुआ वह प्राणियो के वध मे प्रवृत्त होता है। एव जब तक मै ऐसा नही करू गा तब तक मेरा आत्म बल नही बढेगा, इस प्रकार विचार कर तथा भय के वशीभूत होकर वह पाप कर्म करता है या यह सोच कर वह उक्त पाप कर्मो का आचरण करता है, कि इस प्रकार के आचरण से मै दुःखो से मुक्त हो जाऊ गा, या यो कहिए कि विभिन्न आशाओ के वशीभूत होकर वह पाप कर्म करता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में जीवन के प्रशस्त और अप्रशस्त उभय स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। जो ससार से विरक्त होकर प्रव्रजित होता है और कषायों पर विजय पाता हुआ संयम मे सदा संलग्न रहता है, वह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराए कर्म का सर्वथा क्षय करके सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। संसार के सभी पदार्थों को एवं तीनों काल के भावों को भली-भाति जानता-देखता है। उससे कोई भी बात प्रच्छन्न नही रहती है। इस स्थिति को प्राप्त करके सर्व कर्म बधन से मुक्त होना ही प्रत्येक साधक का लक्ष्य है। राग-द्वेष का क्षय करने पर ही यह स्थिति प्राप्त हो सकती है, इसलिए राग-द्वेष एव कषायों पर विजय प्राप्त करने तथा उक्त साधना मे संलग्न रहने वाले व्यक्ति को अनगार कहते हैं। वह अनगार एक दिन कर्मबन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति कषायों के प्रवाह मे बहते हैं, वे उनके वश मे होकर रात-दिन विषय-वासना में आसक्त रहते हैं और विभिन्न पाप कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। अपनी शारीरिक शक्ति बढ़ाने के लिए मांस-मत्स्य आदि अभक्ष्य पदार्थों

का भक्षण करते है। अपनी जाति के व्यक्तियों को अनुकूल बनाने के लिए तथा अधिकारी वर्ग से कुछ काम कराने अथवा उससे अपना स्वार्थ साधने के लिए, उनकी इच्छा का पोषण करने के लिए विभिन्न प्राणियो की हिंसा करके उनके लिए भोजन—शराब आदि की व्यवस्था करते है। कई लोग मित्रता निभाने के लिए उसे सामिष भोजन कराते है। कुछ यह सोचकर कि सकट के समय इससे काम लिया जा सकता है इसलिए उसे विभिन्न प्रकार के भोग-विलास एवं मांस-मदिरा युक्त खान-पान मे सहयोग देते है तथा साथ मे स्वयं भी उसका आस्वादन कर लेते हैं।

कुछ परलोक को सुधारने की अभिलाषा से या इस कामना से कि यज्ञ में बलिदान करने से मुझे स्वर्ग मिलेगा, यज्ञ वेदी पर अनेक मूक पशुओ का बलिदान करते है। कुछ देवी-देवताओ को प्रसन्न करने के लिए मन्दिर-मस्जिद जैसे पवित्र देव-स्थानो को वधस्थल का रूप दे देते है।

इस प्रकार अज्ञान के वश मनुष्य अनेक पापो मे प्रवृत्त होता है। वह धर्म समझकर यज्ञ आदि हिंसा जन्य कार्यों मे प्रवृत्त होता है। परन्तु उसकी यह समझ उतनी ही भूल भरी है जितनी कि कीचड या खून से भरे हुए वस्त्र को कीचड़ या खून से साफ करने की सोचने वाले व्यक्ति की है। इन प्रवृत्तियों से पाप घटता नही, अपितु बढता है और परिणाम स्वरूप ससार परिभ्रमण एवं दुःख परपरा मे अभिवृद्धि ही होती है।

प्रस्तुत सूत्र मे उपयुक्त "पावमुक्खु" मे पाव-मुखु अर्थात् पाप और मोक्ष दो शब्दों का संयोग है। जो क्रिया प्राणी को पतन के गर्त मे गिराती है या जिससे आत्मा कर्म के प्रगाढ़ बन्धन मे आबद्ध होता है, उसे पाप कहते है। और जिस साधना से आत्मा कर्म बन्धनो से सर्वथा मुक्त होती है, उसका नाम मोक्ष है।

'दण्ड समायाण'—'दड समादान' का अर्थ है—प्राणियों की हिंसा मे प्रवृत्त होना। यह क्रिया आत्मा को कर्म बन्धन मे फसाने वाली है। इससे आत्मा का ससार बढता है, वह मोक्ष से दूर होती है। अत साधक को चाहिए कि वह हिंसा-जन्य कार्यों से एव विषय-भोग से दूर रहे। और चित्त मे अशाति उत्पन्न करने वाली कषायों का त्याग करके सयम मार्ग मे गतिशील बने। यही मोक्ष का प्रशस्त मार्ग है, जिस पर गति करके आत्मा उज्ज्वल-समुज्ज्वल बनकर, एक दिन पूर्ण स्वतंत्र बन जाती है।

प्रस्तुत सूत्र मे बताई गई सावद्य क्रियाए आत्मा के लिए अहितकर होती

हैं, उसे दुःखों के अथाह सागर में जा गिराती है। इस लिए मुमुक्षु को सावद्य अनुष्ठानों का परित्याग कर देना चाहिए। इसी बात का निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभिज्जा, नेव अन्नं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभाविज्जा, एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभंतंपि अन्नं न समणुजाणिज्जा, एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, जहेत्थ कुसले नोवलिंपिज्जासि, त्ति बेमि ॥७७॥

छाया—तत् परिज्ञाय मेधावी नैवस्वयं एतैः कार्यैः दण्डं समारभेत, नैवान्यमेतैः कार्यैः दण्डं समारम्भयेत्, एतैः कार्यैः दण्डं समारभमाणमप्यन्यं न समनुज्ञापयेत् एष मार्गः आर्यैः प्रवेदितः, यथा-अत्र कुशल नोपलिम्पयेः—इति ब्रवीमि।

पदार्थ—तं—इस पूर्वोक्त संपूर्ण विषय को। परिण्णाय—जानकर। मेहावी—बुद्धिमान पुरुष। नेवसयं—न तो स्वयं। एएहिं—इन। कज्जेहिं—कार्यों के उपस्थित होने पर। दंडं समारंभिज्जा—दंड समारंभ करे और। नेव एएहिं कज्जेहिं—न इन कार्यों के उपस्थित होने पर। अन्नं—अन्य से। दंडं—हिंसा का। समारंभाविज्जा—समारंभ करावे, और। एएहिं कज्जेहिं—इन कार्यों के उपस्थित होने पर। दंडं—दंड का। समारंभंतंपि—समारंभ करने वाले। अन्नं—अन्य व्यक्ति को। न समणुजाणिज्जा—अनुमोदन भी न करे। एस मग्गे—यह मार्ग। आरिएहिं—आर्यों द्वारा। पवेइए—प्ररूपित है। कुसले—हे कुशल! जहेत्थ—जैसे- पूर्वोक्त दंड समादान में। नोवलिंपिज्जासि—तेरी आत्मा उपलिप्त न हो ऐसा आचरण कर। त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूं।

मूलार्थ—वह परिज्ञावान प्रबुध पुरुष विषय-भोग एवं क्षणिक सुखों के लिए न स्वयं दण्ड का समारंभ करे न अन्य व्यक्ति से करावे और न उस कार्य में प्रवृत्तमान व्यक्ति के उस कार्य का समर्थन ही करे। यह मार्ग आर्य पुरुषों ने प्ररूपित किया अतः कुशल व्यक्ति ऐसे हिंसा एवं पाप जन्य कार्य के द्वारा अपनी आत्मा को कर्मों से लिप्त न करे अर्थात् पाप कर्म का उपार्जन न करे। ऐसा मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

जीवन का मूल लक्ष्य कर्म बन्धन से मुक्त होना है। इसके लिए बताया गया है कि प्रबुद्ध पुरुष को त्रिकरण और त्रियोग के दण्ड-समारम्भ का परित्याग कर देना चाहिए। न स्वयं किसी प्राणी का दण्ड-समारम्भ करे, न दूसरे व्यक्ति से करावे, और न ऐसा कार्य करने वाले का ही समर्थन करे। इस प्रकार हिंसा जन्य प्रवृत्ति से सर्वथा दूर रहने वाला मनुष्य पाप कर्म से लिप्त नहीं होता।

यह साधना पथ अर्थात् त्याग मार्ग आर्य पुरुषों द्वारा प्ररूपित है। आर्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है—

"आराद्याता' सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्या –ससारार्णवतटवर्त्तिन क्षीणघातिकर्म्मांशाः ससारोदरविवरवर्त्तिभावविद तीर्थकृतस्तै' 'प्रकर्षेण' सदेवमनुजाया पर्षदि सर्वस्वभाषानुगामिन्या वाचा यौगपद्याशेषसंशीतिच्छेद्या प्रकर्षेण वेदितः..कथित' प्रतिपादित इतियावत्"।

अर्थात्— जो आत्मा पाप कर्म से सर्वथा आलिप्त है, जिसने घातिक कर्म को क्षय कर दिया है, पूर्ण ज्ञान एवं दर्शन से युक्त है, ऐसे तीर्थंकर एवं सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पुरुषों को आर्य कहा गया है और उनके द्वारा प्ररूपित पथ को आर्यमार्ग या आर्यधर्म कहते हैं। इसका निष्कर्ष यह निकला कि जो मार्ग प्राणी मात्र के लिए हितकर, हिसा आदि दोष से दूषित नही है, सब के लिए सुख-शान्तिप्रद है, वह आर्य मार्ग है। और उस पर गतिशील साधक पूर्ण आत्म ज्योति को प्रकट कर लेता है।

'त्ति बेमि' का अर्थ पूर्व के उद्देशों की तरह समझना चाहिए।

❀ द्वितीय उद्देशक समाप्त ❀

द्वितीय अध्ययन-लोक-विजय

तृतीय उद्देशक

दूसरे उद्देशक मे परिवार एवं धन-वैभव आदि में रही हुई आसक्ति का परित्याग करने एवं सयम में दृढ़ रहने का उपदेश दिया गया है। सयम साधना में तेजस्विता लाने के लिए कषाय का त्याग करना आवश्यक है। क्रोध, मान, माया और लोभ की आन्धी मे भी अपने पैरों को दृढ जमाए रखना ही साधना का उद्देश्य है। कई बार साधक क्रोध को पी जाता है। क्रोध का प्रसग उपस्थित होने पर वह अपने मनमे आवेश को नहीं आने देता है और न उसे जीवन व्यवहार मे ही प्रकट होने देता है। परन्तु अनेक बार मानवीय दुर्वलता के कारण साधक भी मान के प्रवाह में बहने लगता है। उसे अपने ज्ञान, तप, साधना या अन्य गुणों पर गर्व होने लगता है और इनके कारण वह अपने आपको अन्य साधकों से श्रेष्ठ या उत्कृष्ट समझने लगता है। यह अभिमान भी पतन का कारण है, क्योंकि इससे आत्मा मे ऊंच-नीच की भावना उद्बुद्ध होती है। वह अपने आपको श्रेष्ठ और अन्य को हीन समझने लगता है और परिणाम स्वरूप दूसरे के प्रति उसके मन मे घृणा एव तिरस्कार की भावना उत्पन्न होती है। यह भावना पाप वन्ध का कारण है। इसके फलस्वरूप आगामी भव में उसकी शक्ति का सम्यक्तया विकास नहीं हो पाता है। इसलिए साधक को अभिमान का परित्याग करना चाहिए। उसे निरभिमान साधना मे सदा सलग्न रहना चाहिए। यही वात वताते हुए सूत्रकार ने प्रस्तुत उद्देश मे कहा है—

मूलम्— से असइं उच्चागोए असइं नीआगोए, नो हीणे नो अइरित्ते, नोऽपीहए, इय संखाय को गोयावाई, को माणावाई कंसि वा एगे गिज्झा, तम्हा पंडिए नो हरिसे नो कुप्पे, भूएहिं जाण पडिलेह सायं ॥७८॥

छाया—सोऽसकृदुच्चैर्गोत्रे, असकृन्नीचैर्गोत्रे नो हीनः नोप्यतिरिक्तः न स्पृहयेत् (नोपीहेत) इति संख्याय को गोत्रवादी (भवेत्) ? को मानवादी (भवेत्)

कस्मिन् वा एकः गृध्येत् तस्मात् पण्डितो न हृष्येत् न कुप्येद् भूतेषु जानीहि प्रत्युपेक्ष्य सातम् ।

पदार्थ—से—वह जीव । असइ—अनेक वार । उच्चागोए—उच्च गोत्र मे उत्पन्न हुआ और । असइ —अनेक वार । नीआगोए—नीच गोत्र मे उत्पन्न हुआ, परन्तु । नो हीणे—नीच गोत्र मे हीनता नही, और । नो अइरित्ते—न उच्च गोत्र मे विशेपता-श्रेष्ठता है । नोऽपीहए—स्पृहा-अभिलापा न करे । इय—इस प्रकार । सखाय—जानकर । को गोयावाई—कौन गोत्र का वाद करेगा । को माणावाई—कौन गोत्र का मान करेगा । वा—अथवा । कसि एगे—किसी भी मान के स्थान मे । गिज्झे—कौन आसक्त होगा ? तम्हा—इसलिए । पंडिय—वुद्धिमान पुरुष । नो हरिसे—उच्च गोत्र के प्राप्त होने पर न हर्पित होवे और । नो कुप्पे—नीच गोत्र की प्राप्ति मे कुपित भी न होवे । भूएहि—भूतो के विषय । पडिलेह—अनुप्रेक्षा करके । जाण—यह जानो कि । सात—सब जीवो को सुख प्रिय है ।

मूलार्थ—यह जीव अनेक वार उच्च गोत्र मे जन्म ले चुका है और अनेक वार नीच गोत्र मे । इसमे किसी प्रकार की विशेपता या हीनता नही है । क्योकि दोनो अवस्थाओ मे भवभ्रमण और कर्मवर्गणा समान है । ऐसा जानकर उच्च गोत्र से अस्मिता और नीच गोत्र से दीनता भाव नही लाना चाहिए । और किसी प्रकार के मद के स्थान की अभिलाशा भी नही करनी चाहिए । अनेको वार उच्च गोत्र मे जन्म किया जा चुका है ऐसा जानकर अपने गोत्र का कौन मान करेगा ? कौन अभिमानी वनेगा ? और किस वात मे आसक्त होगा ?

पडित पुरुप उक्त सत्य समझता है । इसलिए वह उच्च गोत्र की प्राप्ति से हर्पित नही होता और नीच गोत्र की प्राप्ति होने पर कुपित नही होने पाता । अर्थात् सदा समभावी रहता है । पडित पुरुष यह भी समझता है, कि प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय है ।

हिन्दी विवेचन

ससार एक झूला है । जीव अपने कृत कर्म के अनुसार उस झूले मे झूलते रहते हैं । कभी ऊपर और कभी नीचे, इस प्रकार वे विभिन्न योनियो मे इधर उधर घूमते रहते है । उनका संसार प्रवाह चलता रहता है । जब तक कर्म के अस्तित्व को निर्मूल नहीं कर दिया जाता, तब तक संसार का प्रवाह किसी भी

अवस्था में नहीं रुक सकता है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ कर्मों मे गोत्र कर्म का भी उल्लेख है। इसी कर्म के फलस्वरूप जीव विभिन्न गतियों उच्च एवं नीच गोत्र को प्राप्त करता है। इस से स्पष्ट होता है कि उच्च और नीच जातिगत या जन्मगत नहीं, अपितु कर्मजन्य है या यों कहिए कि गोत्र कर्म के उदय से ही प्राणी उच्च-नीच गोत्र वाला कहा जाता है। और ये गोत्र या श्रेणिएं केवल मनुष्यों में हों, ऐसी बात नहीं है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव चारों गतियों मे दोनों गोत्र पाए जाते हैं। संसार की समस्त योनियों मे दोनों श्रेणियों के जीवों का अस्तित्व मिलता है। अस्तु ये उभय श्रेणिये कर्मोदय का फल है, ऐसा कहना चाहिए।

गोत्र कर्म मे उच्चता एवं नीचता का बन्ध अभिमान और निरभिमान पर आश्रित है। अभिमान या अहंभाव भी एक प्रकार का मद है। इस मे मनुष्य इतना बेभान हो जाता है कि वह अपने समस्त ससार को कुछ भी नहीं समझता। एक विचारक ने लिखा है कि " सौ रुपए मे एक बोतल शराब का नशा रहता है" इसी अपेक्षा से अभिमान को मद भी कहा गया है। आगम मे आठ प्रकार के मद बताए गए हैं— १- जातिमद २-कुलमद ३-बलमद ४-रूपमद ५-विद्यामद ६-तपमद ७-लाभमद और ८-ऐश्वर्यमद। इन आठ प्रकार के भेदों मे प्राय: सभी तरह के मदों का समावेश हो जाता है। इन पर या इन में से किसी भी वस्तु (जाति आदि) पर अभिमान करना नीच गोत्र के बन्ध का कारण है और निरभिमान भाव मे प्रवृत्त होना निर्जरा या शुभ गोत्र के बन्ध का कारण है। अतर इतना ही हैं कि अभिमान करने से ये वस्तुएं अशुभ, हीन एवं विकृत रूप में प्राप्त होती हैं और अन्यथा शुभ रूप में। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह भेद कर्म जन्य ही है, इसके कारण आत्मा के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता। न तो केवल उच्च गोत्र की प्राप्ति से आत्मा मे महानता आ पाती है और न नीच गोत्र की प्राप्ति से हीनता ही। क्योंकि उभय गोत्र की कर्म प्रकृतियों के समूह समान-तुल्य ही हैं और प्रत्येक आत्मा इन दोनों गोत्रों का अनन्त वार अनुभव कर चुकी है। आज उच्च गोत्र में दिखाई देने वाली आत्मा भी और तो क्या भगवान महावीर जैसे तीर्थंकरों की आत्मा भी अनेक बार नीच गोत्र के कर्दम से संस्पर्शित हो आई है। फिर भी उसकी चेतना मे, उसकी अनन्त चतुष्टय की शक्ति मे कोई न्यूनता आई हो, ऐसा परिलक्षित नहीं होता। आगम में हरिकेशी मुनि का उदाहरण आता है। उसके अनुशीलन-परिशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशुभ गोत्र कर्म के उदय से प्राप्त नीच गोत्र आत्म विकास में बाधक नह है। साधना के पथ पर गतिशील साधक के मार्ग को अवरुद्ध करने मे समर्थ

नहीं है। अतः साधक को प्राप्त उच्च या नीच गोत्र में हर्ष या शोक नहीं करना चाहिए।

उच्च या नीच गोत्र शीशे पर पड़ने वाला प्रतिबिम्ब मात्र हैं। जब शीशे के सामने काले रंग का पर्दा डाल दिया जाता है, तो वह कालिमा युक्त प्रतीत होने लगता है और लाल, हरे, पीले आदि रंग का पर्दा पड़ने पर वह भी तद्रूप प्रतीत होने लगता है। और उक्त आवरण के अनावृत्त होते ही, वह अपने शुद्ध रूप मे परिलक्षित होने लगता है। उसके ऊपर इन विभिन्न रंगों का कोई स्थायी प्रभाव नहीं होता। उनके सान्निध्य से वह अपने स्वरूप को नहीं खो देता है। इसी प्रकार आत्मा पर भी उच्च और नीच गोत्र का प्रभाव क्षणिक ही रहता है। इससे आत्म द्रव्य मे कोई अंतर नहीं आता। इसके प्रभाव से आत्मा उच्च और नीच नहीं बनती आत्मा के विकास और पतन या उच्चता और नीचता का आधार गोत्र नहीं अपितु उसका आचरण है। अपने आचरण की श्रेष्ठता के बल पर नीच माने जाने वाले चांडाल आदि कुल मे उत्पन्न व्यक्ति भी अपना आत्म विकास कर सकता है, संसारी आत्मा से ऊपर उठकर परमात्मा बन सकता है। अस्तु गोत्र को लेकर उच्चता एवं नीचता पर विवाद करना एवं भेद की दीवारें खड़ी करना किसी भी दशा में उचित एवं न्याय संगत नहीं कही जा सकतीं।

कर्मोदय से गोत्र की उच्चता एवं नीचता के झूले में आत्मा अनेक बार झूल आया है। प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'एगे' शब्द से सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है कि किसी-किसी प्राणी को एक ही जन्म मे उच्च और नीच गोत्र का अनुभव करना पड़ता है। इसलिए साधक को गोत्र के विषय मे न तो अभिमान ही करना चाहिए और न हर्ष एवं शोक ही करना चाहिए।

गोत्र शब्द का अर्थ

संसार मे श्रेष्ठता एवं हीनता का विभाजन प्रायः व्यक्ति या जाति के प्रभाव एवं अभ्युदय पर आधारित है। जिस व्यक्ति या जाति का प्रभाव अधिक होता है, लोगों से सत्कार-सम्मान प्राप्त होता है, उसे उच्च गोत्र या कुल कह देते हैं और जो तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है, उसे नीच गोत्र या कुल मे मान लिया जाता है। आचार्य शीलांक ने भी उच्च और नीच गोत्र की इसी प्रकार व्याख्या की है। उन्होंने लिखा है—

"उच्चैर्गोत्रे मानसत्कारार्हे, नीचैर्गोत्रे सर्वलोकावगीते- ।"

प्रज्ञापना सूत्र के २३ वें पद की वृत्ति में आचार्य मलयगिरि सूरि गोत्र

अवस्था मे नहीं रुक सकता है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ कर्मों मे गोत्र कर्म का भी उल्लेख है। इसी कर्म के फलस्वरूप जीव विभिन्न गतियों उच्च एवं नीच गोत्र को प्राप्त करता है। इस से स्पष्ट होता है कि उच्च और नीच जातिगत या जन्मगत नहीं, अपितु कर्मजन्य है या यों कहिए कि गोत्र कर्म के उदय से ही प्राणी उच्च-नीच गोत्र वाला कहा जाता है। और ये गोत्र या श्रेणिएं केवल मनुष्यों मे हों, ऐसी बात नहीं है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव चारो गतियों मे दोनों गोत्र पाए जाते हैं। ससार की समस्त योनियों मे दोनों श्रेणियों के जीवों का अस्तित्व मिलता है। अस्तु ये उभय श्रेणिये कर्मोदय का फल है, ऐसा कहना चाहिए।

गोत्र कर्म मे उच्चता एवं नीचता का वन्ध अभिमान और निरभिमान पर आश्रित है। अभिमान या अहंभाव भी एक प्रकार का मद है। इस मे मनुष्य इतना बेभान हो जाता है कि वह अपने समक्ष संसार को कुछ भी नहीं समझता। एक विचारक ने लिखा है कि " सौ रुपए मे एक वोतल शराव का नशा रहता है" इसी अपेक्षा से अभिमान को मद भी कहा गया है। आगम में आठ प्रकार के मद वताए गए हैं— १- जातिमद २-कुलमद ३-वलमद ४-रूपमद ५-विद्यामद ६-तपमद ७-लाभमद और ८-ऐश्वर्यमद। इन आठ प्रकार के भेदों में प्राय सभी तरह के मदों का समावेश हो जाता है। इन पर या इन मे से किसी भी वस्तु (जाति आदि) पर अभिमान करना नीच गोत्र के वन्ध का कारण है और निरभिमान भाव मे प्रवृत्त होना निर्जरा या शुभ गोत्र के वन्ध का कारण है। अतर इतना ही हैं कि अभिमान करने से ये वस्तुएं अशुभ, हीन एवं विकृत रूप मे प्राप्त होती हैं और अन्यथा शुभ रूप में। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह भेद कर्म जन्य ही है, इसके कारण आत्मा के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता। न तो केवल उच्च गोत्र की प्राप्ति से आत्मा मे महानता आ पाती है और न नीच गोत्र की प्राप्ति से हीनता ही। क्योंकि उभय गोत्र की कर्म प्रकृतियों के समूह समान-तुल्य ही हैं और प्रत्येक आत्मा इन दोनों गोत्रों का अनन्त वार अनुभव कर चुकी है। आज उच्च गोत्र मे दिखाई देने वाली आत्मा भी और तो क्या भगवान महावीर जैसे तीर्थंकरों की आत्मा भी अनेक वार नीच गोत्र के कर्दम से संस्पर्शित हो आई है। फिर भी उसकी चेतना मे, उसकी अनन्त चतुष्टय की शक्ति मे कोई न्यूनता आई हो, ऐसा परिलक्षित नहीं होता। आगम मे हरिकेशी मुनि का उदाहरण आता है। उसके अनुशीलन-परिशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशुभ गोत्र कर्म के उदय से प्राप्त नीच गोत्र आत्म विकास में वाधक नह है। साधना के पथ पर गतिशील साधक के मार्ग को अवरुद्ध करने में समर्थ

नहीं है। अतः साधक को प्राप्त उच्च या नीच गोत्र में हर्ष या शोक नहीं करना चाहिए।

उच्च या नीच गोत्र शीशे पर पड़ने वाला प्रतिबिम्ब मात्र है। जब शीशे के सामने काले रंग का पर्दा डाल दिया जाता है, तो वह कालिमा युक्त प्रतीत होने लगता है और लाल, हरे, पीले आदि रंग का पर्दा पड़ने पर वह भी तद्रूप प्रतीत होने लगता है। और उक्त आवरण के अनावृत्त होते ही, वह अपने शुद्ध रूप में परिलक्षित होने लगता है। उसके ऊपर इन विभिन्न रंगों का कोई स्थायी प्रभाव नहीं होता। उनके सान्निध्य से वह अपने स्वरूप को नहीं खो देता है। इसी प्रकार आत्मा पर भी उच्च और नीच गोत्र का प्रभाव क्षणिक ही रहता है। इससे आत्म द्रव्य में कोई अंतर नहीं आता। इसके प्रभाव से आत्मा उच्च और नीच नहीं बनती आत्मा के विकास और पतन या उच्चता और नीचता का आधार गोत्र नहीं अपितु उसका आचरण है। अपने आचरण की श्रेष्ठता के बल पर नीच माने जाने वाले चांडाल आदि कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी अपना आत्म विकास कर सकता है, संसारी आत्मा से ऊपर उठकर परमात्मा बन सकता है। अस्तु गोत्र को लेकर उच्चता एवं नीचता पर विवाद करना एवं भेद की दीवारें खड़ी करना किसी भी दशा में उचित एवं न्याय संगत नहीं कही जा सकतीं।

कर्मोदय से गोत्र की उच्चता एवं नीचता के झूले में आत्मा अनेक बार झूल आया है। प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'एगे' शब्द से सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से [illegible] कर दिया है कि किसी-किसी प्राणी को एक ही जन्म में उच्च और नीच गोत्र का अनुभव करना पड़ता है। इसलिए साधक को गोत्र के विषय में न तो अभिमान [illegible] चाहिए और न हर्ष एवं शोक ही करना चाहिए।

गोत्र शब्द का अर्थ

संसार में श्रेष्ठता एवं हीनता का विभाजन [illegible] प्रभाव एवं अभ्युदय पर आधारित है। जिस व्यक्ति [illegible] होता है, लोगों से सत्कार-सम्मान प्राप्त होता है, [illegible] हैं और जो तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है, [illegible] लिया जाता है। आचार्य शीलांक ने भी [illegible] व्याख्या की है। उन्होंने लिखा है—

"उच्चैर्गोत्रं मानसत्कारार्हं,

प्रज्ञापना सूत्र के २३ वें [illegible]

कर्म के विषय मे इस प्रकार लिखते हैं—

"गूयते-शब्द्यते उच्चावचै शब्दैर्यत् तद्गोत्रम्-उच्चनीचकुलोत्पत्तिलक्षण पर्याय विशेष तद्विपाकवेद्य कर्मापि गोत्र, कार्यकारणोपचाराद् यद्वा कर्मणोपादानविवक्षा गूयते-शब्द्यते उच्चावचै शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मण उदयात् (तद्) गोत्रम् ।"

'गोत्र' पद मे 'गो+त्र' दो शब्द है। 'गो' का अर्थ वाणी भी होता है और 'त्र' का अर्थ है त्राण करना। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वाणी का रक्षण करना गोत्र कहलाता है। वाणी या भाषा उच्च और नीच के भेद से दो प्रकार की है। अत जो उच्च—श्रेष्ठ वाणी, भाषा या विचार का रक्षण करता है, अथवा उसे धारण करता है, वह उच्च गोत्र वाला है और नीच वाणी को प्रश्रय देने वाला नीच गोत्र के नाम से पुकारा जाता है।

हम ऊपर बता आए हैं कि आठ प्रकार के मदो मे जाति एवं कुल का मद या अभिमान करने से नीच गोत्र का बन्ध होता है और अभिमान को अभिव्यक्त करने के लिए अन्य शारीरिक चेष्टाओं के साथ वाणी के साधन का भी प्रयोग होता है। भगवान महावीर के विषय मे कहा जाता है कि भगवान ऋषभ देव के समवशरण के बाहर त्रिदण्डिक सन्यासी के वेश मे साधना करते हुए अपने पिता भरत चक्रवर्ती के मुख से यह सुनकर कि तुम इस अवसर्पिणी काल मे मांडलिक राजा वासुदेव एवं अतिम —२४वें तीर्थंकर बनोगे उस त्रिदण्डिक के मन मे अपने कुल का अभिमान उद्बुद्ध हो गया और वह अभिमान शारीरिक उछल-कूद के साथ वाणी के द्वारा इस प्रकार प्रकट हुआ — 'मेरा दादा तीर्थंकर है, मेरा पिता चक्रवर्ती है और मैं माडलिक राजा, वासुदेव एवं तीर्थंकर बनूंगा। इस प्रकार मेरा कुल सर्व श्रेष्ठ है।' इसी का ही परिणाम है कि वे अपने अंतिम जन्म मे ब्राह्मण कुल में ८२ दिन तक गर्भ मे रहे।

इससे स्पष्ट होता है कि गोत्र का वाणी के साथ सबन्ध है। अभिमान की भाषा आध्यात्मिक दृष्टि से हेय मानी गई है। अत कुल एवं जाति का अभिमान करना नीच गोत्र के बन्ध का कारण माना गया है। अत नीच भाषा नीच कुल की प्रतीक है, तो उच्च भाषा श्रेष्ठ कुल की संसूचक है।

व्यवहार में भी हम देखते हैं कि भाषा जीवन को अभिव्यक्त करने का अच्छा साधन है। इसके आधार से हम मनुष्य जीवन की गहराई नाप सकते हैं। भाषा वैज्ञानिकों एवं मनोविज्ञान वेत्ताओं का यह अभिमत है कि भाषा का आचरण के साथ घनिष्ठ सबन्ध है। जीवन में जितना उच्च आचरण होगा भाषा भी उसी

कुछ परिवर्तन करना पड़ा। इतना तो मानना ही होगा कि भगवान महावीर के चिन्तन ने आज के विचारकों को काफी प्रभावित किया है और वे इस बात से सहमत हैं कि आत्म विकास के लिए उच्च या नीच कुल बाधक नहीं है। निम्नकुल में उत्पन्न व्यक्ति भी साधना के पथ पर गतिशील हो सकता है।

पाठभेद

कुछ प्रतियों मे 'पडिय-पडित' शब्द का उल्लेख मिलता है। और नागार्जुनीयास्तु पठन्ति—"एगमेगे खलु जीवे अईअद्धाए असइ उच्चागोए, असइं नीआगोए कंडगट्ठयाए नो हीणे नो अइरित्ते।" इस प्रकार उक्त पाठभेद से विभिन्न वाचनाओं की सिद्धि होती है, जोकि विद्वानों के अन्वेषण की अपेक्षा रखती है।

प्रस्तुत सूत्र मे जाति एव कुल मद के त्याग का उपदेश दिया गया। परन्तु इसके साथ अन्य ६ मद भी त्यागने योग्य है, इस बात को भी समझ लेना चाहिए। इस प्रकार साधक को अभिमान का पूर्णत. त्याग करके साधना के पथ पर गतिशील होना चाहिए। उसे न नीच गोत्र की प्राप्ति पर चिन्ता करनी चाहिए और न उच्च गोत्र की उपलब्धि पर हर्ष ही करना चाहिए।

प्रत्येक प्राणी को अच्छे-बुरे साधन शुभाशुभ कर्म के अनुसार मिलते हैं। अत. साधक को किसी भी प्राणी को दु ख नहीं देना चाहिए और शुभाशुभ कर्म फल का विचार करके हर्ष एव शोक का त्याग करके हर परिस्थिति मे समभाव की साधना करनी चाहिए। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—समिए एयाणुपस्सी, तंजहा-अन्धत्तं, बहिरत्तं, मूयत्तं, काणत्तं, कुराटत्तं, खुज्जत्तं, वडभत्त, सामत्तं, सबलत्तं, सह पमाएणं अणेगरूवाओ जोणीओ संधायइ विरूवरूवे फासे परिसंवेयइ ॥७६॥

छाया—समितःएतदनुदर्शी तद्यथा—अन्धत्वं, बधिरत्वं, मूकत्वं, काणत्वं, कुण्टत्वं, कुब्जत्वं, वडभत्वं, श्यामत्वं, शबलत्वं सह प्रमादेन अनेकरूपाः योनिः; संदधाति विरूपरूपान्, स्पर्शान् परिसंवेदयते ।

पदार्थ—समिए—समिति से युक्त होकर। एयाणुपस्सी—यह देखने वाला हो। तजहा—जैसे कि। अन्धत्त—अन्धापन। बहिरत्तं—बहरापन। मयत्तं—गूगापन। काणत्त—काणापन।

कुण्टत्त—हाथो की वक्रता। खुज्जत—कुब्जत्व-वामनपन। बडभत्तं—कुवडापन। सामत्तं—श्यामता-कालापन। सवलत्त—चितकवरापन। सह पमाएण—प्रमाद के कारण से होता है, और प्रमादी जीव। अणेगरूवाओ—नाना प्रकार की। जोणीओ—योनियो मे। सधायइ—जन्म लेता है, और। विरूवरूवे—विभिन्न। फासे—स्पर्शो-दु खो का। परिसवेयइ—सवेदन करता है।

मूलार्थ—समिति युक्त जोव अर्थात् सयमी पुरुष कर्म विपाक को इस प्रकार देखना है कि ससार मे जीवो को अन्धापन, बहरापन, गू गापन, कानापन, हाथो की वक्रता, वामन रूप, कुबडापन, कालापन एव चितकवरा-पन आदि की प्राप्ति प्रमाद से होती है। प्रमादी जीव ही विभिन्न योनियो मे उत्पन्न होता है और वहा अनेक तरह के स्पर्शजन्य दु खो का सवेदन करता है।

हिन्दी विवेचन

संसार विभिन्न प्रकार के आकार-प्रकार युक्त शरीरधारी जीवों से भरा हुआ है। इस विभिन्नता एवं विचित्रता का कारण कर्म है। अपने कृत कर्म के अनुसार ही प्रत्येक प्राणी अच्छे या बुरे साधनों को प्राप्त करता है। इतना स्पष्ट होते हुए भी इस बात को वही जानता है, जो व्यक्ति समिति—सयम से युक्त है, अन्य व्यक्ति इस बात को सम्यक्तया नही जानता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'समिए' शब्द महत्वपूर्ण आदर्श की ओर निर्देश करता है। यह प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि किसो विषय को जानने का काम ज्ञान का है अर्थात् ज्ञानी व्यक्ति प्रत्येक बात को भली-भाति जान-देख लेता है। फिर यहा ज्ञान युक्त व्यक्ति का निर्देश नही करके समिति युक्त व्यक्ति का जो निर्देश किया गया है, उसके पीछे गभीर भाव अन्तर्निहत है।

समिति आचरण-चारित्र की प्रतीक है। और जैन दर्शन की यह मान्यता है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समन्वित साधना से मुक्ति प्राप्त होती है। ज्ञान और दर्शन सहभावी हैं। दोनों एक साथ रहते है, परन्तु चारित्र के सबंध मे यह नियम नहीं है। इसलिए ज्ञान के साथ चारित्र की भजना मानी है। इसलिए ज्ञान के साथ चारित्र हो भी सकता और नहीं भी हो सकता है। परन्तु चारित्र के साथ ज्ञान की नियमा मानी है अर्थात् जहां सम्यक् चारित्र होगा, वहा सम्यक्

दर्शन और ज्ञान अवश्य ही होगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समिति शब्द से ज्ञान और दर्शन का भी स्पष्ट बोध हो जाता है।' समिति युक्त व्यक्ति ज्ञान युक्त होता ही है।

ज्ञान विषय का अवलोकन मात्र करता है, आचरण नहीं। और यहां सूत्रकार को केवल विषय का बोध करना ही इष्ट नहीं है, प्रत्युत उस बोध को, ज्ञान को जीवन में क्रियात्मक रूप देने की प्रेरणा देना है। इसलिए सूत्रकार ने ज्ञान युक्त शब्द के स्थान में समिति युक्त शब्द का प्रयोग किया है। सम्यक् प्रकार से आचरण मे प्रवृत्तमान व्यक्ति ही कर्मजन्य दोनों का सम्यग् ज्ञान करके उन दोषों से अपने आपको बचा सकता है। वह अपने ज्ञान से इस बात को भली-भाति जान लेता है कि ससार मे अधे, बहिरे मूक, काने, वामन, कुबडे, विकृत हाथ-पैर वाले, चित्तकबरे, कुष्ट आदि रोगों से पीड़ित व्यक्ति अपने पूर्वभव मे किए गए प्रमाद युक्त आचरण का फल पा रहे हैं। अर्थात् प्रमाद के आसेवन से आत्मा विभिन्न योनियों मे जन्म लेता है और उक्त विभिन्न प्रकार की शारीरिक विकृतियों एव स्पर्श जन्य दुखों का संवेदन करता है। इसलिए संयमी पुरुष को प्रमाद से बचना चाहिए, उसे अपनी साधना मे सदा जागरुक रहना चाहिए।

समिति का अर्थ है—विवेक के साथ सयम मार्ग में प्रवृत्त होना। और वह पाच प्रकार की है— १-इर्यासमिति, २-भाषासमिति, ३-एषणासमिति, ४-आदान-निक्षेप समिति, और ५-उत्सर्ग समिति।

१. इर्यासमिति— विवेक पूर्वक गमनागमन करना।
२. भाषासमिति — विवेक पूर्वक सभाषण करना।
३. एषणासमिति— विवेक पूर्वक आहार आदि की गवेषणा करना।
४. आदाननिक्षेपसमिति— वस्त्र-पात्र आदि विवेक से रखना एवं उठाना।
५ उत्सर्गसमिति — मल-मूत्र आदि का विवेक पूर्वक उत्सर्ग करना।

उक्त समिति से युक्त साधक प्रमाद एवं तज्जन्य अशुभ कर्मों के फल को भली-भाति देखकर, सदा उनसे बचने का प्रयत्न करता है। वह प्रत्येक क्रिया में सावधानी रखता है और सदा अप्रमत्त भाव से साधना पथ पर गतिशील होने का प्रयत्न करता है।

अन्धत्व आदि के दो भेद किए है—१-द्रव्य और २-भाव। आखों मे देखने की शक्ति का अभाव द्रव्य अन्धत्व है और ज्ञान चक्षु का अनावृत्तना नहो

भाव अन्धत्व है। और उभय दोषों से आत्मा विभिन्न दुःखों एवं कष्टों का संवेदन करती है। द्रव्य अन्धत्व से वह पराधीनता के दुःख का अनुभव करती है और भाव अन्धत्व के कारण नरक-तिर्यंच आदि विभिन्न योनियों में अनेक प्रकार के कष्टों का संवेदन करती है। अन्धत्व की तरह अन्य दोषों को भी समझ लेना चाहिए।

अन्धत्वादि दोषों की प्राप्ति प्रमाद से होती है। प्रमाद के कारण जीव संसार में परिभ्रमण करते हैं। अतः जो जीव प्रमाद के वश हिताहित में विवेक नहीं करते अर्थात् अपने अज्ञान के कारण हित को अहित एवं अहित को हित समझते हैं, उनकी जो स्थिति होती है, उसका निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से अबुज्झमाणे हओवहए जाईमरणं अणुपरियट्टमाणे, जीवियं पुढो पियं इहमेगेसिं माणवाणं खित्तवत्थुममायमाणाणं, आरत्तं विरत्तं मणिकुण्डलं सह हिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्झति तत्थेव रत्ता, न इत्थ तवो वा दमो वा नियमो वा दिस्सइ, संपुण्णं बाले जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विप्परियासमुवेइ ॥८०॥

कहते हैं, कि । इत्थ—यहा पर । तवो—तप । वा—अथवा । दमो—दम-इन्द्रिय और मन का दमन । वा—अथवा । नियमो—अहिंसा आदि । न दिस्सइ—फलित नहीं देखे जाते है । सपुण्णं—अत्यन्त । बाले—अज्ञानी जीव । जीविउकामे— असयमित जीवन की कामना वाले । लालप्पमाणे—भोगो के लिए अत्यन्त प्रलाप करने वाले । मूढे—मूर्ख । विप्परियासमुवेइ—विपरीत भाव को प्राप्त होते है ।

मूलार्थ—कर्म स्वरूप के वोध से रहित अज्ञानी जीव शारीरिक मानसिक दु खो एव अपयश को प्राप्त करता हुआ, जन्म-मरण के चक्र मे प्ररिभ्रमण करता रहता है । खेत मकान आदि मे आसक्त मनुष्यो को असयति जीवन ही प्रिय लगता है और रगे हुए एव भिन्न रग युक्त वस्त्रो, चन्द्रकान्त आदि मणियो, कुण्डल एव स्वर्ण आदि के साथ स्त्रियो को प्राप्त करके, उनमे आसक्त होने वाले मनुष्य यह कहते है कि इस लोक मे तपश्चर्या इन्द्रिय एव मनोनिग्रह एव अहिंसा आदि नियमो का कोई फल दिखाई नही पडता । अत्यन्त अज्ञानी जीव, असयम जीवन के इच्छुक विपय-भोगो के लिए अत्यन्त प्रलाप करता हुआ मूढता को प्राप्त होकर विपरीत आचरण करता है ।

हिन्दी विवेचन

यह सूर्य के उजाले की तरह स्पष्ट है कि सम्यग्-ज्ञान से रहित विपयासक्त प्राणी कर्म जन्य फल को नहीं जानते है । अत वे तप, सयम, नियम आदि पर विश्वास नहीं करके, भौतिक सुख-साधनों मे आसक्त रहते है। और रात-दिन खेत-मकान, वस्त्र, स्त्री आदि भोगोपभोग साधनों मे ही लिप्त रहते हैं और उन्हीं मे सुख की अनुभूति करते हुए विपरीत बुद्धि को प्राप्त होते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'हओवहए भवइ' शब्द का अर्थ है— ये विषयासक्त प्राणी विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक रोगों से, दु खों से हत पीड़ित होते हैं और दूसरे व्यक्तियों के द्वारा तिरस्कृत एवं अपमानित होने से उपहत—विशेष पीड़ित होते हैं । या उच्च गोत्र के अभिमान से हत होते हैं और नीच गोत्र मैं तिरस्कार का संवेदन करते हुए उपहत होते हैं। इस प्रकार ये प्रमादी प्राणी विषयों में आसक्त होकर जन्म-मरण के प्रवाह मे प्रवहमान रहते हैं ।

विषयों में अत्यधिक ममता-मूर्छा के कारण उसके विचारों में विपरीतता आ जाती है। इसीलिए कहा गया है कि वह 'विप्परियासमुवेइ' अर्थात् विपरीतता को प्राप्त होता है। तत्त्व में अतत्त्व और अतत्त्व मे तत्त्व बुद्धि रखने का नाम विपर्यास है। यही विपरीत-विचारणा आत्मा को ससार मे परिभ्रमण कराती है।

सासारिक भोगों की पूर्ति धन एव स्त्री दोनों की प्राप्ति होने पर होती है। धन की प्राप्ति हो परन्तु स्त्री का अभाव हो तो वैषयिक सुख की पूर्ति नहीं हो सकती और वैषयिक सुख का साधन स्त्री तो हो, परन्तु धन का अभाव हो तब भी भोगोपभोग का पूरा आनन्द नहीं आ सकता। क्योंकि भोगेच्छा की पूर्ति के साधनों को जुटाने के लिए धन की अपेक्षा रहती है। अत विषय-वासना की पूर्ति के लिए दोनो साधन अपेक्षित हैं। सूत्रकार ने यही बात 'सह हिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्झति' शब्द से अभिव्यक्त की है। और साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि विषयासक्त प्राणी भोगों के लिए विभिन्न प्रकार के प्रलाप करते रहते हैं। अर्थात् भोग भोगते हुए भी उन्हें तृप्ति नहीं होती और न वास्तविक सुख की ही अनुभूति होती है।

अत साधक को वासना का परित्याग करके आत्म विकास की ओर बढ़ना चाहिए। अब सूत्रकार आत्म साधना के पथ पर बढ़ने वाले साधको के विषय में कहते हैं —

मूलम्— इणमेव नावकंखंति, जे जणा धुवचारिणो। जाईमरणं परिन्नाय, चरे संकमणे दढ़े। नत्थि कालस्स णागमो, सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं, तं परिगिज्झ दुपयं चउप्पयं अभिजुंजिया णं संसिंचियाणं तिविहेण जाऽवि से तत्थ मत्ता भवइ अप्पा वा बहुया वा, से तत्थ गड्ढिए चिट्ठइ, भोयणाए। तओ से एगया विविहं परिसिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवइ तंपि से एगया दायाया वा विभयंति अदत्तहारो वा से अवहरंति रायाणो वा से विलुम्पंति, नस्सइ वा से विणस्सइ वासे, अगारदाहेण वा से डज्झइ। इय से परस्सऽट्ठाए

कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण संमूढे विप्परियासमुवेइ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, अणोहंतरा एए, नो य ओहं तरित्तए, अतीरंगमा एए, नो य तीरं गमित्तए, अपारंगमा एए, नो य पारं गमित्तए, आयाणिज्जं च आयाय तंमि ठाणे न चिट्ठइ, वितहं पप्पऽखेयन्ने तंमि ठाणंमि चिट्ठइ ॥८१॥

छाया— इदमेव नावकाङ्क्षन्ति ये जनाः ध्रुव चारिणः जाति मरणं परिज्ञाय, चरेत् संक्रमणे दृढः ! नास्ति कालस्य नागमः सर्वे प्राणिनः प्रियायुषः, सुखास्वादाः, दुःख प्रतिकूलाः अप्रिय वधाः प्रिय जीविनः, जीवितुकामाः सर्वेषां जीवितं प्रियं तत् परिगृह्य द्विपदं चतुष्पदं अभियुज्य संसिच्य त्रिविधेन याऽपि तस्य तत्र मात्रा भवति अल्पा वा बह्वीवा स तत्र गृद्धः तिष्ठति भोजनाय ततः तस्यैकदा विविध परिशिष्टं संभूतं महोपकरण भवति तमपि तस्य एकदा दायादाः विभजन्ते, अदत्तहारो वा तस्य अपहरति राजानो वा तस्य विलुम्पन्ति, नश्यति वा तस्य विनश्यति वा तस्य अगार दाहेन (गृहदाहेन) वा तस्य दह्यते इति स परस्मै अर्थाय क्रूराणिकर्माणि बालः प्रकुर्वाण तेन दुःखेन संमूढः विपर्यासमुपैति मुनिना खलु एतत् प्रवेदितं अनोघन्तरा एते न च ओघ तरितुं अतीरंगमाः एते नच तीरं गन्तुम् अपारगमाः एते नच पारं गन्तुम् आदानीयं चादाय तस्मिन् स्थाने न तिष्ठति वितथं प्राप्याखेदज्ञः तस्मिन् स्थाने तिष्ठति ।

पदार्थ—जे—जो । जण—जन । धुवचारिणो—ध्रुवचारी मोक्ष साधक ज्ञान दर्शनादि सम्यग् आचरण करने वाले है वे । इणमेव—पूर्वोक्त असयम जीवन को । नावंकखंति—नहीं चाहते । हे शिष्य ! तू । जाइमरण—जन्म-मरण के स्वरूप को । परिन्नाय—जानकर । सकमणे—चारित्र मे । दढे—दृढ होकर । चरे—चर-विचर । कारण कि । कालस्स—काल का । णागमो—अनागमन । नत्थि—नही है, अर्थात् मृत्यु का समय अनिश्चित है, और । सव्वे—सब । पाणा—प्राणियो को । पियाउआ—अपनी आयु प्रिय है तथा सब जीव । सुह साया—सुख चाहने वाले हैं और । दुक्ख पडिकूला—दु.ख सब को प्रतिकूल है । अप्पियवहा—वध सबको अप्रिय

है। पियजीविणो—जीवन सब को प्रिय है और वे जीव। जीविउकामा—जीवन की इच्छा करने वाले है और। सव्वेसिं—सर्व जीवो को। जीविय—असंयममय जीवन। पियं—प्रिय है। तं—उस असयममय जीवन को। परिगिज्झ—ग्रहण करके। दुप्पयं—द्विपाद-मनुष्यादि नौकर चाकर। चउप्पयं—चतुष्पाद-गो महिषी और अश्व आदि पशुओ को। अभिजुञ्जिया—कार्य में नियुक्त करके तथा। समिचया—धन का सचय करके। तिविहेण—तीन करण व तीन योग से। जाऽवि—जो कुछ भी। से—उसे। तत्थ—उस मे। मत्ता—माया (धन) आदि पदार्थों की इयत्ता भवई—प्राप्त होती है। अप्पा वा—अल्प अथवा। बहुया वा—बहुत धन मात्रा के। से—वह व्यक्ति। तत्थ—धन मात्रा के। भोयणाए—उपभोग के लिए। गड्ढिए चिट्ठइ—आसक्त बना रहता है। तओ—तत्पश्चात्। से—उसके पास। एगया—किसी समय। विविह्—नाना प्रकार का परिसिट्ठं—भोगने से बचा हुआ। संभूयं—सभूत पर्याप्त। महोवगरणं—महा उपकरण-द्रव्य समूह एकत्रित। भवइ—हो जाता है। से—उसकी। तंपि—उस एकत्रित धन राशि का भी। एगया—एक समय-भाग्य के क्षय होने पर। दायाया—सम्बन्धी जन। विभयंति—बांट लेते हैं। वा—अथवा। अदत्तहारो—दस्यु-चोर। से—उस के धन को। अवहरंति—चुरा ले जाते हैं। वा—अथवा। रायाणो—राजा लोग। से—उसके धन को। विलुम्पंति—लूट लेते हैं। वा—अथवा। से—उसका वह धन। नस्सइ—व्यापारादि में नष्ट हो जाता है। वा—अथवा। से—उसका वह धन। विणस्सइ—अन्य प्रकार से नष्ट हो जाता है। वा—अथवा। से—वह उस का धन। अगारदाहेण—घर के दग्ध होने से। डज्झई—जल जाता है। इय—इस प्रकार। से—वह धन के सम्पादन करने वाला। परस्सअट्ठाए—दूसरो के लिए। कूराइ—क्रूर। कम्माइ—कर्म। पकुव्वमाणे—करता हुआ। तेण—उस। दुक्खेण—कर्म विपाक जन्य दुःख से। संमूढे—विवेक शून्य होता हुआ। विपरियासमुवेइ—विपर्यास भाव को प्राप्त होना है विकल बुद्धि वाला हो जाता है। हु—निश्चय ही। एयं—यह विषय। मुणिणा—मुनि, तीर्थंकर देव ने। पवेइयं—सम्यक् प्रकार से प्ररूपित किया है कि। एए—ये। अन्यतीर्थी लोग सब ज्ञान और चारित्र से हीन। अणोहंतरा—अनोघन्तर हैं—अर्थात् इन्हो ने ससार सागर को अथवा आठ प्रकार के कर्मो के ओघ को नहीं तरा है। नो य—और नाहि वे। ओहं—ससार समुद्र को। तरित्तए—तैरने मे समर्थ ही हैं। एए—ये सब। अतीरंगमा—तीर को प्राप्त नहीं कर पाए हैं। नो य—और नाहि। तीरंगमित्तए—तीर को प्राप्त-करने मे समर्थ ही हैं। एए—ये सब। अपारंगमा—पार को प्राप्त नहीं कर पाए हैं। नो य—और नाहि। पारंगमित्तए—पार को प्राप्त करने मे समर्थ ही हैं। आयाणिज्जं—आदानीय श्रुत-ज्ञान को। आयाय—ग्रहण करके। तम्मि ठाणे—उस सदस स्थान में। अन्नाणे—अज्ञानी जीव। न चिट्ठइ—नहीं ठहरता है अपितु। वितहं—मिथ्या उपदेश को। पप्प—प्राप्त करके। तम्मि—उस। ठाणम्मि—असयम स्थान में। चिट्ठइ—स्थित रहता है।

मूलार्थ—हे शिष्य ! जो मोक्ष के साधक हैं वे इस असयम जीवन की इच्छा नही रखते है। अतः तुम जन्म मरण के स्वरूप को जानकर संयम मार्ग मे दृढ होकर चलो।

काल-मृत्यु के आने का कोई समय नियत नही है। न जाने कब आ-जाए। सब प्राणियो को जीवन प्रिय है, सभी सुख की अभिलाषा रखते हैं, और दुःख सब को प्रतिकूल है, सभी को वध अप्रिय और जीवन प्रिय है, सभी जीवन की कामना करने वाले है, सब जीवो को जीवन प्रिय है, असयम जीवन के आश्रित होकर द्विपद-मनुष्य,दास दासी आदि और चतुष्पद पशु-गोमहिषी और अश्व आदि को उन उन कार्यो मे नियुक्त करके और इस प्रकार धन का सचय करके उस एकत्रित धन की अल्प अथवा अधिक मात्रा के उपभोग करने मे प्राणी मन, वचन और काय से आसक्त रहता है, किसी समय लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से बहुत सा धन भोगने के पश्चात् भी उसके पास शेष रह जाता है। किसी समय अन्तराय कर्म के उदय से अथवा भाग्य के क्षय हो जाने पर उस सचित धन को उसके सगे-सम्बन्धी आपस मे बाट लेते है, चोर चुरा लेते है, राजा लूट लेता है, व्यापार अथवा अन्य प्रकार से उसका विनाश हो जाता है एव घर मे आग लगने से वह दग्ध हो जाता है। इस प्रकार वह अज्ञानी जीव दूसरो के लिए अत्यन्त क्रूर कर्मो को करता हुआ उस दु.ख से मूढ होकर विकलता को प्राप्त हो जाता है, तीर्थंकर देव ने ही यह प्रतिपादन किया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से रहित ये सब अन्यतीर्थी लोग,ससार समुद्र को न तो तर ही पाए है और न तरने मे समर्थ हो है। तथा ये सब न तो तीर-का किनारे को प्राप्त हुए है और न प्राप्त करने मे समर्थ हो है। अतएव ये सब पार नही पहुचे है और पार होने मे समर्थ भी नही है। श्रुतज्ञान को धारण करने पर भी अखेदज्ञ, अकुशल जीव सयम स्थान मे स्थित नही रहता है अपितु मिथ्या उपदेशो को

प्राप्त करके असंयम स्थान मे स्थित रहता है ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे साधना के प्रशस्त मार्ग का तथा उसके प्रतिबन्ध कारणो का विवेचन किया गया है। इसके लिए सूत्रकार ने 'ध्रुव' शब्द का प्रयोग किया है। ध्रुव का अर्थ स्थायी होता है और मोक्ष में आत्मा सदैव स्थित रहती है। कर्म बन्धन से मुक्त होने के बाद आत्मा फिर से ससार में नहीं लौटती है। इसलिए मोक्ष को ध्रुव कहा है। और इसके विपरीत संसार अध्रुव कहलाता है। और इसी कारण सासारिक वैषयिक सुख भी अस्थिर, क्षणिक एव अध्रुव कहलाते हैं। अत मोक्षाभिलाषी साधक क्षणिक, विनश्वर और परिणाम में दुख रूप विषय-भोगों की आकांक्षा नही रखते, इतना ही नही, अपितु वे तो प्राप्त भोगों का त्याग करके साधना के पथ पर गतिशील होते हैं। क्योंकि वे जानते है कि ये ऊपर से आकर्षक एवं सुहावने प्रतीत होने वाले विषय सुख आत्मा को पतन के गर्त में गिराने वाले हैं। इस लिए वे उनके प्रलोभन में नहीं फसते।

प्रथम तो भौतिक सुख-साधन ही अस्थिर हैं। जो धन-वैभव आज दिखाई दे रहा है, वह कल ही नष्ट हो सकता है। और परिक्षीण होने पर उसकी समाप्ति के अनेक कारण उपस्थित हो जाते हैं। कभी परिवार में विभक्त हो जाने के कारण ऐश्वर्य की शक्ति कम हो जाती है या चोर लूट ले जाते हैं, नदी आदि के प्रवाह में बह जाता है, आग में जल जाता है या व्यापार में हानि हो जाती है। इस प्रकार सपत्ति के स्थिर रहने का कोई निश्चय नहीं है। और दूसरे यह जीवन भी अस्थिर है। कोई नहीं जानता कि काल किस समय आकर सारे बने-बनाए खेल को ही बिगाड़ दे। समस्त वैभव एव परिवार यहीं पड़ा रहता है और व्यक्ति अगले लक्ष्य पर चल पडता है। उसकी समस्त अभिलाषाएं, भोगेच्छाएं मन मे ही रह जाती है, सब भोग के साधन यहीं रह जाते हैं। वह तो केवल कर्म बन्धन का बोझ लेकर चल पड़ता है। अस्तु सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अभाव में व्यक्ति भोगेच्छा की पूर्ति के लिए अनेक पाप कर्म करता है, विषय-वासना मे आसक्त रहता है और कभी-कभी पापकर्म को बाध कर भी प्राप्त किए गए भोगों को भोग नहीं सकता। इस लिए साधक को इन भोगों से अलग रहना चाहिए। क्योंकि विषय-वासना में आसक्त व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'ध्रुव चातिणो' का अर्थ है— 'ध्रुवो नोक्षस्तत्कारणं च ज्ञानादि ध्रुव तदाचरितुशील येषां ते" अर्थात्— ध्रुव नाम मोक्ष का है, अत उस

के साधन भूत ज्ञानादि साधन भी ध्रुव कहलाते है। उनका सम्यक्तया आचरण करने वाला ध्रुवचारी कहलाता है इसके अतिरिक्त 'धूत चारिणो' पाठान्तर भी मिलता है। इसका अर्थ है— 'धुनातीति धूतं – चारित्र तच्चारिण' अर्थात्— कर्म रज को धुनने—झाड़ने वाले साधन को धूत कहते हैं। सम्यक् चारित्र से कर्म रज की निर्जरा होती है। अत सम्यक्चारित्र को धूत कहा है और उनको आराधना करने वाले मुनि को धूतचारी कहा गया है।

"सकमणे दढे' पद का अर्थ है— सक्रम्यतेऽनेनेति सक्रमण चारित्र तत्र दृढ '– विश्रोतसिकारहित, परीषहोपसर्गे निष्प्रकम्प।" अर्थात्— सक्रमण चारित्र का नाम है। अत परीषह एव उपसर्ग उपस्थित होने पर भी दृढता पूर्वक चारित्र का परिपालन करने वाले साधक को 'सकमणे दढे'— चारित्र मे दृढ़ कहा जाता है। साधक की कसौटी परीषह के समय ही होती है। सकट के समय ही विचलित नहीं होने वाला मुनि ही आत्म साधना के पथ पर आगे बढ़ता है।

'सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया . . . . .' आदि पाठ से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि भगवान महावीर के युग मे हिंसा का प्राबल्य था। यों तो हर युग मे हिंसक व्यक्ति मिल ही जाते हैं। परन्तु उस युग मे हिंसा का प्रचार इतना बढ गया था कि धर्म स्थान भी वध स्थान से बन रहे थे। यज्ञ की वेदियें खून से रगी रहती थीं। धर्म के नाम पर हजारों-लाखों पशुओं की गर्दनों पर छुरिए चलती थीं। यही कारण है कि भगवान महावीर ने हिंसक यज्ञों का विरोध किया। और लोगों को यह बताया कि ससार का प्रत्येक जीव सुख चाहता है, दु ख सबको अप्रिय लगता है, सभी प्राणी दु ख की एव मृत्यु की दारुण वेदना से बचना चाहते हैं, जीवन सबको प्रिय है। इस लिए प्रबुद्ध पुरुष को किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। दशवैकालिक सूत्र मे यही कहा है*।

कुछ प्रतियों में "सव्वे पाणा पियायाया" यह पाठान्तर भी मिलता है। इसका अर्थ है— सब प्राणियों को अपनी आत्मा प्रिय है। इसका फलितार्थ यह निकलता है कि कोई भी आत्मा अपने पर होने वाले आघात को नहीं चाहता है। अत साधक को चाहिए वह किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुचाए।

जो व्यक्ति हिंसा, झूठ आदि पापों मे आसक्त है उन व्यक्तियों को प्रस्तुत सूत्र मे अनोघतर कहा है। ओघ दो प्रकार का होता है— १-द्रव्यओघ और २-भावओघ। नदी के प्रवाह को द्रव्य ओघ कहते है। और अष्टकर्म या संसार को भावओघ कहते

† सव्वे जीवा वि इच्छन्ति।

हैं और इस संसार रूपी सागर को पार करने वाले व्यक्ति को ओघतर कहते हैं। परन्तु वही व्यक्ति इसे तैर कर पार कर सकता है, जो हिंसा आदि दोषों से मुक्त है। उक्त दोषों में आसक्त एवं प्रवृत्त व्यक्ति इसे पार करने में असमर्थ है। इसलिए सूत्रकार ने उसे अनोघतर, अतीरंगम और अपारगम कहा है। यहा उक्त शब्द भाव ओघ अर्थात् संसार सागर के अर्थ मे प्रयुक्त हुए हैं। (तीर और पार शब्द के अर्थ मे इतना ही अन्तर है— 'तीर' शब्द मोह कर्म का क्षय को व्यक्त करता है और 'पार' शब्द शेष अन्य तीन घातिक कर्मों के क्षय का संसूचक है। अथवा 'तीर' शब्द से चारों घातिक कर्मों का क्षय और 'पार' शब्द से चारों अघातिक कर्मों का क्षय करने का अर्थ भी स्वीकार किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिंसा आदि पापों में प्रवृत्ति करने वाले व्यक्ति अष्ट कर्मों का क्षय करके संसार सागर को पार नहीं कर सकते हैं।)

इससे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह उपदेश किसके लिए है ? प्रबुद्ध पुरुष के लिए या मूढ़ व्यक्ति के लिए ? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उद्देसो पासगस्स नत्थि बाले पुण निहे कामसमणुन्ने असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ, त्तिबेमि ॥८२॥

छाया—उद्देश (उपदेशः) पश्यकस्य नास्ति, बालः पुनस्निहः कामसमनोज्ञः अशमितदुःखः दुःखी दुःखानामेव आवर्त्तमनुपरिवर्तते इति ब्रवीमि।

पदार्थ—उद्देसो—उपदेश। पासगस्स—तत्वज्ञ-प्रबुद्ध पुरुषो के लिए। नत्थि—नही है। बाले पुण—फिर अज्ञानी व्यक्ति। निहे—राग युक्त। कामसमणुण्णे—काम भोगो का आसेवन करने वाला। असमिय दुक्खे—जिसके अभी तक दुख उपशान्त नही हुए है, ऐसा। दुक्खी—दुखी प्राणी। दुखाणमेव—दु'खो के। आवट्टं—चक्र मे। अणुपरियट्टइ—परिभ्रमण करता रहता है।

मूलार्थ—तत्वज्ञ पुरुष के लिए उपदेश की आवश्यक्ता नही होती। अज्ञानी जीव राग-युक्त और विषय-भोगो मे आसक्त होता है अत: उसके दुःख उपशांत नही होते है ऐसा दुःखी प्राणी दु.खो के चक्र मे ही परिभ्रमण करता रहता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ या प्रबुद्ध और बाल दो प्रकृतियों का

चित्रण किया गया है। इसमें बताया गया है कि जो व्यक्ति तत्त्वज्ञ है, प्रबुद्ध है, उसके लिए किसी प्रकार के उपदेश की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह विषय-वासना से प्राप्त होने वाले कटु फल को भली भांति जानता है, अत वह उससे निवृत्त हो चुका है और उससे निर्लिप्त रहने के लिए अपनी साधना मे सदा सजग रहता है। परिणाम स्वरूप, वह पाप कर्म का बन्ध नहीं करता और न दु ख के प्रवाह मे प्रवहमान ही होता है।

इसके विपरीत, जो वासना के कटु फल को नहीं जानता है, ऐसा अज्ञानी व्यक्ति दु:खों का उपशमन करने के लिए विषय-भोगों का आसेवन करता है। जैसे गर्मी की ऋतु में पसीने से भीगा बालक खेलते-कूदते घर मे आता है और सारे वस्त्र उतार कर पसीना सुखाने के लिए नगे शरीर धूप मे जा खडा होता है। वह समझता है कि भीगे हुए वस्त्रों की तरह धूप मेरे पसीने को सुखा देगी। परन्तु परिणाम इसके विपरीत देखने में आता है, अर्थात् पसीना सूखने के स्थान मे अधिक आने लगता है। यही स्थिति भोगों से दु ख दूर करने वाले अज्ञानी जीवों की होती है। उससे दु ख कम नहीं होते अपितु बढ़ते हैं। क्योंकि दु ख का मूल कारण राग-द्वेष आसक्ति एवं मोह है और विषय भोग एव भौतिक ऐश्वर्य को सप्राप्त करने से उसका प्राबल्य रहता है। अत उससे दुखों की एव जन्म-मरण की परम्परा मे अभिवृद्धि होती है। ऐसा समझकर साधक को भोगों से सदा दूर रहना चाहिए। 'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् ही समझें।

❀ तृतीय उद्देशक समाप्त ❀

द्वितीय अध्ययन लोक-विजय

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में विषय-भोगों में आसक्त नहीं रहने का उपदेश दिया है। और चौथे उद्देशक के प्रारम्भ में भोगासक्त जीवों की जो दुर्दशा होती है, उसका सजीव चित्र चित्रित करके बताया है कि उन जीवों की भोगेच्छा, विषयाभिलाषा एवं ऐश्वर्य की तृष्णा तो पूरी होगी, या न होगी अर्थात् उसकी पूर्ति होने में असदिग्धता नहीं है। कभी आंशिक रूप से हो भी सकती है और कभी नहीं भी हो सकती है। अतः उसकी पूर्ति हो या न हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि भोगों की आशा, तृष्णा, आकांक्षा एवं अभिलाषा के शल्य की चुभन तो उसे अनवरत पीड़ित करती ही रहेगी। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तओ से एगया रोग समुप्पाया समुप्पज्जंति, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते एव णं एगया नियया पुव्विं परिवयंति. सो वा ते नियगे पच्छा परिवइज्जा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, भोगामेवा अणुसोयंति इहमेगेसिं माणवाणं ॥८३॥

छाया—ततः तस्य एकदा रोगसमुत्पादाः समुत्पद्यन्ते यैः वा सार्द्धं संवसति त एव एकदा निजकाः पूर्वं परिवदन्ति स वा तान् निजकान् पश्चात् परिवदेत् नालं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा शरणाय वा, ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं सातं भोगानेव अनुशोचन्ति इहैकेषां मानवानाम्।

पदार्थ—तओ—उस काम भोग के सेवन से। से—उस कामी व्यक्ति को। एगया—किसी समय असाता वेदनीय कर्म के उदय से। रोग समुप्पाया—रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जेहि वा सद्धिं—जिनके साथ। संवसइ—रहता है। ते एव णं—वे ही। नियया—स्वजन-स्नेही

पुव्वि — पहले । परिवयति — उसकी निन्दा करने लगते हैं । वा — अथवा । सो — वह रोगी । ते नियगे — उन सम्बन्धियो की । पच्छा — पीछे । परिवइज्जा — निन्दा करता है । कभी निन्दा न भी करे तब भी । ते — वे सम्बन्धी । तव — तेरी । ताणाए — रक्षा करने में । वा — अथवा तुझे । सरणाए — शरण देने मे । नालं—समर्थ नही हैं, तथा । तुमपि — तू भी । तेसिं—उनकी । ताणाए—रक्षा करने में । वा—अथवा । सरणाए—शरण देने में । नाल—समर्थ नही है, यह । जाणित्तु—जानकर कि । दुक्खं—दुख और । सायं — सुख को । पत्तेय—प्रत्येक प्राणी अपने कृत कर्मानुसार स्वय भोगता है, अत. रोगोत्पत्ति के समय मन मे संकल्प-विकल्प एव दुर्भावना नही लानी चाहिए ।

परन्तु कुछ प्राणी । भोगामेव—भोगो का ही । अणुसोयति — चिन्तन करते रहते हैं । इहमेगेसि माणवाणं — इस ससार मे कुछ ही मनुष्यो को भोग विषयक अध्यवसाय होता है ।

मूलार्थ—आसक्ति पूर्वक काम-भोगो के आसेवन से अथवा असाता वेदनीय कर्म के उदय से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते है । ऐसा रोगी जिनके साथ रहता है वे सम्बन्धी उसका तिरस्कार एव उसकी निन्दा करने लगते है और वह भी पीछे से उनको निंदा करता है यदि कभी ऐसी स्थिति न भी आए तब भी वे सम्बन्धी उस की रक्षा करने एवं उसे शरण देने मे समर्थ नही है, और न ही उनका रक्षण करने एव उन्हे शरण देने मे वह समर्थ है ।

यह जान कर कि प्रत्येक प्राणी अपने शुभाशुभ कृत कर्म के अनुसार सुख-दुःख का संवेदन करता है । अतः रोग आदि कष्ट के समय व्यक्ति को अधीर एव व्याकुल नहीं होना चाहिए, कुछ प्राणी ऐसे भी है जो उस वेदना से बचने के लिए अनवरत भोगो का चितन करते रहते है, रात-दिन विषय वासना मे ही सलग्न रहते है ।

हिन्दी विवेचन

ससार मे कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं कि जो दिन-रात विषय-भोगों में निमज्जित रहते हैं । वैषयिक जीवन को ही सुखमय मानते हैं । अत अत्यधिक भोगों के कारण या असाता-वेदनीय कर्मोदय से उन्हें रोग उत्पन्न हो जाता है । और उस भयकर व्याधि के समय यथोचित सेवा-शुश्रूषा की व्यवस्था न होने से रोगी एव परिवार के व्यक्तियों मे परस्पर कटुता भी उत्पन्न हो जाती हैं । और फल स्वरूप एक-दूसरे

सिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवइ, तंपि से एगया दायाया विभयन्ति, अदत्ताहारो वा से हरति, रायाणो वा से विलुम्पन्ति नस्सइ वा से विणस्सइ वा से, अगारदाहेण वा से डज्झइ, इय से परस्स अट्ठाए कूराणि कम्माणि बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ ॥८४॥

छाया—त्रिविधेन यापि तस्य तत्र मात्रा भवति अल्पा वा बह्वी वा तस्य तत्र गृद्धस्तिष्ठति भोजनाय ततस्तस्य एकदा विपरिशिष्टं संभूतं महोपकरणं भवति, तदपि तस्यैकदा दायादाः विभजन्ते, अदत्तहारो वा तस्य हरति, राजानो वा तस्य विलुम्पन्ति, नश्यति वा तस्य विनश्यति वा तस्य, अगारदाहेन वा तस्य दह्यते अतः स परस्मै अर्थाय क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणस्तेन दुःखेन मूढो विपर्यासमुपैति ।

पदार्थ—तिविहेण—तीन करण और तीन योग से एकत्रित की हुई। जावि—जो कुछ भी। से—उसकी। तत्थ—वहा पर। मत्ता—अर्थ मात्रा। भवइ—होती है। अप्पा वा बहुगा वा—अल्प या बहुत। तत्थ—उस अर्थ-द्रव्य मे। भोयणाए—उसका उपभोग करने के लिए। से—वह व्यक्ति। गड्ढिए चिट्ठइ—आसक्त बना रहता है। तओ—तत् पश्चात्। से—उसके पास। एगया—किसी समय। विपरिसिट्ठ—भोग के पश्चात् शेष बचा हुआ। संभूयं—प्रचुर मात्रा मे। महोवगरण—महान् धन। भवइ—एकत्रित हो जाता है। से—उसके-तंपि—उस एकत्रित धन को भी। एगया—किसी समय। दायाया—सगे सम्बन्धी। विभयंति—परस्पर बाट लेते हैं। अदत्ताहारो वा—अथवा चोर। से हरति—उस धन को चुरा लेते हैं। रायाणो वा—राजा लोग। से विलुम्पति—उस धन को विभिन्न कर के रूप मे लूट लेते हैं। वा—अथवा। से—उसका धन। नस्सइ—नष्ट हो जाता है। वा से—या उसका धन। विणस्सइ—विनष्ट हो जाता है। वा—अथवा। अगारदाहेण—घर में आग लग जाने से। से—उसका धन। डज्झइ—जल जाता है। इय—इस प्रकार से। से—वह अज्ञानी जीव। परस्सट्ठाए—दूसरो के लिए। कूराणि कम्माइ—क्रूर कर्म। पकुव्वमाणे—करता हुआ। तेण—उस। दुक्खेण—दुख से। मूढे—मूढ बना हुआ। विप्परियासमुवेइ—विपरीतभाव को प्राप्त हो जाता है।

मूलार्थ—त्रिकरण और त्रियोग से एकत्रित की हुई सपत्ति की अल्प या बहुत मात्रा के उपभोग मे वह व्यक्ति आसक्त रहता है। और उपभोग करने के बाद अवशिष्ट विशाल धन राशि को जिसे उसने अपने कष्ट के समय या पुत्र आदि के लिए सग्रह करके रखा था, उसके परिजन आपस में बाट लेते है या विभिन्न कर लगाकर तथा अन्य किसी बहाने से राजा ले लेता है, चोर चुरा लेता है या व्यापार मे हानि होने से वह नष्ट, विनष्ट हो जाती है या घर मे आग लगने से जल जाती है। इस तरह उस धन का नाश हो जाता हैं और उसका सग्रह कर्त्ता अज्ञानी जीव दूसरो के लिये क्रूर कर्म कर के उपार्जित धन का नाश होने पर विमूढ या विक्षिप्त होकर विपरीत भाव को प्राप्त होता है।

हिन्दी विवेचन

मनुष्य धन के लिए दूसरों का हिताहित नहीं देखता। वह येन-केन-प्रकारेण धन बटोरने मे लगा रहता है और दिन-रात उसका संचय करता रहता है। परन्तु वह धन कभी स्थायी नहीं रहता। कभी परिजन उसे बाट कर खा जाते हैं, तो कभी राजा विभिन्न प्रकार के —कर लगाकर या निर्माण योजना आदि के बहाने उससे धन ले लेता है। कभी चोर-डाकू उसे लूट ले जाते हैं, तो कभी व्यापार आदि में घाटा पड़ जाने से उसका नाश हो जाता है या कभी घर मे आग लग गई तो उसमें जलकर भस्म हो जाता है। इस तरह अनेक प्रकार से उसका ह्रास हो जाता है। परन्तु उससे आत्मा का जरा भी हित नहीं होता। इतना अवश्य है कि उसके लिए किए गए क्रूर कार्य से कर्मबन्ध हो जाता है, जिससे आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है और इतनी कठिनता एवं पाप कार्य से प्राप्त धन के यों ही चले जाने से मन में अत्यधिक वेदना एव संकल्प-विकल्प होता है और कभी-कभी मनुष्य विक्षिप्त भी हो जाता है और उस मूढ़ अवस्था में विपरोत आचरण करने लगता है।

इस तरह विषय- भोगों के कटु परिणाम को जान कर मुमुक्षु पुरुषों को उसमे आसक्त नहीं बनना चाहिए। तो उसे क्या करना चाहिए ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है ? इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आसं च छंदं च किगिंच धीरे! तुमं चेव तं सल्ल-

माहट्टु, जेण सिया तेण नो सिया, इणमेव नावबुज्झंति जे जणा मोहपाउडा, थीभि लोए पव्वहिए, ते भो ! वयंति एयाइं आयय-णाइं, से दुक्खाए मोहाए माराए नरगाए नरगतिरिक्खाए, सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ उआहु वीरे, अप्पमाओ महामोहे, अलं कुसलस्स पमाएणं, संतिमरणं संपेहाए भेउरधम्मं, संपेहाए, नालं पास अलं ते एएहिं ॥८५॥

छाया—आशां च छन्द च वेविच्च धीर ! त्वमेव तच्छल्यमाहृत्य येन स्यात् तेन नो स्यात् इदमेव नावबुध्यन्ते ये जनाः मोहप्रावृत्ताः, स्त्रीभिः लोकः प्रव्यथितः ते भो ! वदन्ति एतानि आयतनानि, एतद् दुःखाय, मोहाय, माराय, नरकाय नरकतिरश्चे (नरक तिर्यग् योन्यर्थम्) सतत मूढो धर्मं नाभि-जानाति उदाह—वीरः अप्रमादः महामोहे अलं कुशलस्यप्रमादेन शांति मरणं संप्रेक्ष्य भिदुर-धर्मं संप्रेक्ष्य, नालं पश्य अलं ते (तत्र) एभिः।

पदार्थ—धीरे—हे धीर पुरुष ! तू। आस च—भोग आकाक्षा। छन्दं च—और भोगो के सकल्प को। विगिंच—त्याग दे। तुमं चेव—तू ही। त सल्लमाहट्टु—उस भोगेच्छा रूप काटे को स्वीकार करके दु ख पा रहा है। जेण सिया—जिस धन-सपत्ति आदि साधन से भोगोपभोग प्राप्त हो सकते हैं। तेण नो सिया—उस धन से वे नही भी प्राप्त होते हैं। जे जणा—जो मनुष्य। मोह पाउडा—मोह से आवृत्त हैं। इणमेव—इस तत्त्व को। नावबुज्झन्ति—नही जानते हैं। थीभि—स्त्रियो द्वारा। लोए—लोक। पव्वहिए—दु खित हैं। ते—वे कामी पुरुष। वयंति—कहते हैं। भो—हे मनुष्यो! एयाइ—ये स्त्री आदि। आययणाइ—भोगो-पभोग के स्थान हैं। से—उनका यह कहना। दुक्खाए—दु ख के लिए। मोहाए—मोह की अभिवृद्धि करने के लिए। माराए—मृत्यु के लिए। नरगाए—नरक के लिए। नरग तिरि-क्खाए—नरक के पश्चात् तिर्यंच गति के लिए होता है। सयय—निरन्तर। मूढे—मूढ बना हुआ जीव। धम्म—धर्म को। नाभिजाणइ—नही जानता है। वीरे—वीर प्रभु ने। उदाहु—दृढता पूर्वक कहा है कि। अप्पमाओ—प्रमाद नही करना चाहिए। महामोहे—महा मोह की कारणभूत स्त्रियो के साथ (आसक्ति रूप) प्रमाद का सेवन नही करना चाहिए। अल कुसलस्स पमाएण—बुद्धिमान व्यक्ति को प्रमाद से दूर रहना चाहिए। सति मरण—शान्ति—मुक्ति

एवं उदास सा रहता है। फिर भी, वे साधन, वे विषय-भोग उसकी चिन्ता को, वेदना को मिटा नहीं सकते। वे तो वासना की आग को और अधिक प्रज्वलित कर देते हैं। विषय-भोग एक तरह से प्रज्वलित आग मे मिट्टी के तेल का काम करते हैं। इससे तृष्णा की ज्वाला सदा बढ़ती रहती है। अत. साधक को भोगेच्छा का सर्वथा त्याग करना चाहिए। बुद्धिमान वही है, जो तृष्णा एवं आकाक्षा के शल्य को जीवन से निकाल देता है। और वही अपने जीवन मे वास्तविक सुख एवं आनन्द की अनुभूति करता है।

परन्तु, जो व्यक्ति अज्ञान एवं मोह से आवृत्त हैं, वे ऐसा कहते हैं कि विषय-भोग एव भोगों के साधन स्त्री आदि सुख के स्थान है। पर, ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि मे ये साधन दु ख के कारण बनते है। कामेच्छा—भोगाकांक्षा मोह कर्म के उदय से है। अत उसमें आसक्त होने से मोह कर्म का नाश न होकर और उसकी उदीरणा होती है, इससे तृष्णा एवं आकांक्षा मे अभिवृद्धि होती है और उससे कर्म बन्धन होता है और परिणाम स्वरूप आत्मा अनेक तरह के दु खों का सवेदन करता है। अत भोग के सभी साधन मोह को बढाने वाले हैं, परन्तु काम-विकार या मैथुन मोह को अधिक उत्तेजित करने वाला है, इससे भोगेच्छा एवं तृष्णा को वेग मिलता है और इसकी पूर्ति के लिए स्त्री का सहयोग अपेक्षित है। इसी कारण सूत्रकार ने महामोह शब्द से इसी भाव को अभि-व्यक्त किया है। और यह स्पष्ट कर दिया है कि इससे तृष्णा एवं वासना का उपशमन नहीं होता, अपितु उसका अभ्युदय होता है। अत विषय-वासना की तृष्णा या भोगेच्छा को मोह, मृत्यु, नरक एव तिर्यञ्च गति का कारण कहा है, संसार एवं दु.ख की परम्परा को बढ़ाने वाली बताया है। अत उसके भयावह परिणामों को देख—जान कर मुमुक्षु पुरुष को सदा-सर्वदा उससे बचकर रहना चाहिए। और साधना मे कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए, यही भगवान महावीर का आदेश है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'थीभि' को व्याकरण के अनुसार 'हि' का आदेश होना चाहिए था, परन्तु आर्ष वचन होने के कारण यहां 'हि' का आदेश नहीं हुआ*। मैथुन मोह का प्रधान कारण होने के कारण महामोह शब्द से स्त्री अर्थ स्वीकार किया गया है। वृत्तिकार ने भी इसी बात की पुष्टि की है।

---

*प्राकृत व्याकरण के नियम से 'भिस्' प्रत्यय को 'भिसोहिहिँहिं (प्राकृत व्याकरण ८।३।३७) इस सूत्र से हिं हिँ हि, ये तीन आदेश होते हैं। यथा—वच्छेभि के स्थान मे वच्छेहिं, वच्छेहिँ, वच्छेहि तीन रूप बनते हैं। परन्तु यहा 'थीभि' के स्थान मे हि आदि का प्रयोग नही हुआ, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आर्ष वाक्य मे भिस् का विना आदेश के भी प्रयोग हो सकता है।

'संतिमरण' अर्थात् शान्ति और मरण शब्द से मोक्ष एव ससार का अर्थ ग्रहण किया गया है। संपूर्ण कर्मों का क्षय होने पर ही आत्मा को परम शान्ति मिलती है और यह स्थिति मोक्ष मे ही संभव है, इसलिए शान्ति शब्द का तात्पर्य मोक्ष है। जिस स्थान में प्राणी वार-वार मरण को प्राप्त होते हैं, उसे संसार कहते हैं। अत· मोक्ष एव ससार दोनों के स्वरूप का सम्यक्तया ज्ञान करके साधक को प्रमाद का परित्याग करना चाहिए।

यदि 'संतिमरणं' इसमें द्वन्द समास के स्थान पर तत्पुरुष समास करते हैं, तो इसका अर्थ यह होगा कि मृत्यु के अन्तिम क्षण तक उपशम भाव मे प्रवृत्तमान व्यक्ति को जिस महान् फल की प्राप्ति होती है, उसका विचार करते हुए बुद्धिमान पुरुष को प्रमाद से सर्वथा दूर रहना चाहिए*।

भोगेच्छा जीवन को दु खमय वना देती है, इस वात को प्रस्तुत सूत्र मे वताया गया है। इसी वात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एवं पस्स मुणी ! महब्भयं, नाइवाइज्ज कंचण, एस वीरे पसंसिए, जे न निव्विज्जइ आयाणाए, न मे देइ न कुप्पिज्जा थोवं लद्धुं न खिंसए, पडिसेहिओ परिणामिज्जा, एयं मोणं समणुवासिज्जासि, त्तिबेमि ।८६।

छाया—एवं पश्य मुने ! महद्भयं नातिपातयेत् कञ्चन एष वीरः प्रशंसितः, यो न निर्विद्यते आदानाय, न मे ददाति न कुप्येत्, स्तोकं लब्ध्वा न निन्देत्, प्रतिषिद्धः परिणमेत्, एतन्मौनं समनुवासयेः, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—मुणि—हे मुनि ! एय पस्स—ऐसा समझ कि। महब्भय—काम-भोग महाभय का कारण हैं अत· । कचण—किसी प्राणी को। नाइवाइज्जा— पीडा नहीं पहुचानी

---

* शमनं शान्ति —अशेष कर्मापगमोऽतोमोक्ष एव शान्तिरिति, म्रियन्ते प्राणिन· पौन पुन्येन यत्र चतुर्गतिके संसारे स मरण·—ससार शान्तिश्च मरणच शान्तिमरण, समाहारद्वन्दस्तत् 'संप्रेक्ष्य' पर्यालोच्य प्रमादवत·, ससारानुपरमस्तत्परित्यागाच्च मोक्ष इत्येतद्विचार्येति हृदयं, स चा कुशल· प्रेक्ष्य विषयकषायप्रमादं न विदध्यात्। अथवा शान्त्या उपशमेन मरणं-मरणावधि यावत तिष्ठतो यत्फलं भवति तत्पर्यालोच्य प्रमाद न कुर्यादिति। —आचाराग वृत्ति

चाहिए। एस — वह। वीरे — वीर व्यक्ति। पससिए — इन्द्रादि द्वारा प्रशसा को प्राप्त करता हैं। जे — जो। आयाणाए — सयम का पालन करने मे। न निव्विज्जइ — खेद का अनुभव नही करता है।

न मे देइ — यह गृहस्थ मुझे नही देता है, यह विचार कर। न कुप्पिज्जा — उस पर क्रोध न करे। थोव — अल्प। लद्धु — प्राप्त होने पर। न खिसए — उस गृहस्थ का निन्दा न करे। पडिसेहिए — प्रतिषेध-इन्कार कर देने पर। परिणमिज्जा — उस स्थान से वापिस लौट आए। एय मोणं — इस प्रकार मुनित्व-सयम की। समणवासिज्जासि — सम्यक्तया आराधना करनी चाहिए। त्तिबेमि — इस प्रकार मै कहता हूँ।

मूलार्थ—हे मुनि। तू देख कि काम भोग महाभय के उत्पादक हैं। अत सयमी को किसी भी प्राणी की हिसा नही करनी चाहिए। जो व्यक्ति सयम के परिपालन करने मे किसी भी तरह खेदानुभव नही करता, उसकी इन्द्रादि भी प्रशसा करते हैं।

मुनि को कभी कोई गृहस्थ भिक्षा न दे तो उस पर क्रोध नही करना चाहिए। और न अल्प परिमाण मे देने पर देनेवाले की निन्दा करनी चाहिए, और गृहस्थ के निषेध कर देने पर मुनि को उसके घर मे खडे नही रहना चाहिए, प्रत्युत वहा से वापिस आ जाना चाहिए। इस प्रकार मुनित्व-सयम का सम्यक्तया आराधन करना चाहिए। ऐसा मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

भोग का अर्थ केवल काम-वासना एवं मैथुन सेवन ही नहीं है, प्रत्युत भौतिक पदार्थों की आकाक्षा, लालसा मात्र का भोगेच्छा मे समावेश किया गया है। अत इसका तात्पर्य यह है कि पदार्थों में आसक्त होना, ममत्व भाव रखना भोग है और यह लोक कहावत प्रसिद्ध है कि "भोग रोग का घर है।" यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है कि काम-भोग महाभय के उत्पादक हैं। उनसे वर्तमान जीवन में अनेक रोगों एव दुःखों का संवेदन करना पड़ता है तथा भविष्य में विभिन्न योनियों में अनेक कष्टों को भोगना पड़ता है। अस्तु आगमों का यह कथन नितान्त सत्य है—"खणमित्त सुक्खा बहु काल दुक्खा" अर्थात् काम-भोग क्षणिक सुख रूप प्रतीत होते हैं, अत साधक को भोगों में आसक्त नहीं होना चाहिए। यहा तक कि शरीर निर्वाह के लिए स्वीकार करने

याले आहार, वस्त्र-पात्र आदि साधनों मे भी आसक्त नहीं रहना चाहिए और न इनके लिए किसी भी प्राणी को मानसिक, शाब्दिक और शारीरिक कष्ट ही पहुचाना चाहिए।

यदि मुनि किसी गृहस्थ के घर मे भिक्षा के लिए गया, वहा उसे अपनी विधि के अनुसार आहार आदि उपलब्ध नहीं हुआ या गृहस्थ ने उसे आहार आदि दिया नहीं या किसी गृहस्थ ने उसे थोड़ा सा आहार दिया या किसी ने अपने घर से खाली हाथ ही लौट जाने के लिए कह दिया। इस प्रकार के अनेक विकल्पों के उपस्थित होने पर भी साधु अपनी धैर्यता एवं उपशान्त भावना का परित्याग करके उनके संकल्प-विकल्प के जाल में उलझ न जाए। चाहे जैसी स्थिति-परिस्थिति क्यों न उत्पन्न हो, पर साधक को प्रत्येक परिस्थिति मे सदा-सर्वदा समभाव रखना चाहिए गृहस्थ के न देने पर, उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए और थोड़ा देने पर उसकी निन्दा भी नहीं करनी चाहिए और उसके इन्कार कर देने पर उसके घर में नही ठहरना चाहिए और न दीनता के भाव प्रकट करने चाहिएं। क्योंकि साधु आहार आदि पदार्थों का उपभोग केवल सयम साधना के लिए करता है, न कि पदार्थों का स्वाद चखने के लिए। अत. उसे समय पर जैसा भी पदार्थ मिल जाए उसमे सन्तोष करना चाहिए और यदि कभी परिस्थिति वश पदार्थों का संयोग न मिले, तो उसे सहज ही तप का सुअवसर समझकर सन्तोष करना चाहिए। परन्तु उन पदार्थों मे आसक्त हो कर साधना के विपरीत आचरण नही करना चाहिए। इस प्रकार भोगो की आसक्ति से दूर रहने वाला मुनि इन्द्रादि के द्वारा प्रशंसा को प्राप्त होता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'महब्भय' शब्द आत्म विकास की साधना मे प्रवर्त्तमान व्यक्ति के लिए बड़ा महत्वपूर्ण है। इस शब्द से यह अभिव्यक्त किया है कि विषय-भोग में आसक्त व्यक्ति सदा–सर्वदा भयभीत रहते हैं। भौतिक शक्ति एवं धन-वैभव से संपन्न होने पर भी वे निर्भयता के साथ नहीं घूम-फिर सकते। जितने भौतिक साधन अधिक होंगे उन्हें उतना ही अधिक भय होगा। रूस और अमेरिका का उदाहरण हमारे सामने है, दोनों आज के युग की महान् भौतिक शक्ति अणु आयुधों से संपन्न होने पर एक-दूसरे से अत्यधिक भयभीत हैं। इससे स्पष्ट होता है कि विषय-भोग भय मे अभिवृद्धि करने वाले हैं। अत उनका परित्याग करने वाला वीर पुरुष ही निर्भय हो सकता है। उसे ससार के किसी भी कोने में किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। वह निर्भयता का देवता स्वयं निर्भय बनकर संसार को निर्भय बनाता हुआ यत्र—तत्र—सर्वत्र शात भाव से विचरण करता है। अत साधक को विषयों की आसक्ति का त्याग करके निर्भय बनना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में अभिव्यक्त मुनिवृत्ति को 'मोण'—मौन शब्द से व्यक्त किया गया है। क्योंकि प्रतिकूल परिस्थिति के उपस्थित होने पर भी मुनि न तो मन में किसी प्रकार के संकल्प-विकल्प लाता है और न वाणी द्वारा उसे व्यक्त करता है। अत. मुनित्व की साधना को मौन कहा गया है—'मुनेरिद मौन—मुनिभिर्मुमुक्षुभिराचरितम्' इत्यर्थः।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्व उद्देशक की तरह ही समझना चाहिए।

= चतुर्थ उद्देशक समाप्त =

संनिहि संनिचओ कज्जइ, इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए ॥८७॥

छाया— यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः लोकस्य (लोकाय) कर्म समारम्भाः क्रियन्ते तद्यथा आत्मने तस्य पुत्रेभ्यः दुहितृभ्यः स्नुपाभ्यः ज्ञातिभ्यः धातृभ्य राजभ्यः दासेभ्यः दासीभ्यः कर्मकरेभ्य· कर्मकरीभ्यः आदेशाय पृथक् प्रहेणकाय श्यामाशाय,प्रातराशाय संनिधिः सनिचयः क्रियते इहैकेषां मानवानां भोजनाय ।

पदार्थ—विरूवरूवेहिं – विभिन्न प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रो से । जमिण कम्म-समारभा —ये पचन-पाचनादि कर्म समारभ । लोगस्स कज्जंति —लोगो के लिए किए जाते हैं। तजहा —जैसे कि । अप्पणो से —अपने लिए। पुत्ताण —पुत्रो के लिए। धूयाण —पुत्रियो के लिए। सुण्हाणं —पुत्रवधुओ के लिए। नाईण —जाति भाईयो के लिए । धाईण —धाय माताओ के लिए। राईणं-राजाओ के लिए दासाण-दासो के लिए। दासीण-दासियो के लिए। कम्मकराण-कर्मचारियों के लिए। कम्मकरीण – कर्मचारिणियो के लिए। आएसाए-अतिथियो-पाहुनो के लिए। पुढोपहेणाए —पुत्रादि मे पृथक्-पृथक् बाटने के लिए। सामासाए —सायकालीन भोजन के लिए। पायरासाए —प्रात· कालीन भोजन के लिए । सनिधि —विनाशशील एव सनिचय-चिरस्थायी द्रव्यो का सग्रह। कज्जइ —किया जाता है। इह – इस ससार मे । एगेसिमाणवाण —किन्ही मनुष्यो को। भोयणाए – भोजन कराने के लिए। सनिहि सनिचओ कज्जइ —द्रव्य का सग्रह किया जाता है।

मूलार्थ—विभिन्न शस्त्रो से पचन-पाचनादि कर्म समारभ किए जाते है। जैसे कि अपने लिए एव पुत्र-पुत्रियो, पुत्रवधुओ, जाति भाइयो, धाय माताओ, राजाओ, दास–दासियो, कर्मचारी कर्मचारीणियो तथा अतिथियो को सायकालीन एव प्रातः कालीन भोजन कराने के लिए या किन्ही मनुष्यो को भोजन कराने के लिए द्रव्य एवं घृत, चीनी, अन्न आदि पदार्थो का संग्रह किया जाता है।

हिन्दी विवेचन

मनुष्य कर्म समारंभ में क्यों प्रवृत्त होता है ? इसके अनेक कारणों को सूत्रकार ने स्पष्ट कर दिया है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका जीवन समाज एवं परिवार के साथ सबद्ध है। वह अकेला नहीं रह सकता।

वह त्रि-करण और त्रि-योग से सदोष आहार का त्याग करके शुद्ध संयम में प्रवृत्ति करे।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'समुट्ठिए' शब्द का अर्थ है — सम्यक्त या उत्थित अर्थात् सम्यक् प्रकार से सयम मार्ग में प्रवृत्ति करने वाला साधक। संयम मार्ग में प्रवर्त्तमान होकर जिस मुनि ने घर, परिवार एवं धन-वैभव आदि का सर्वथा त्याग कर दिया है, उसे अनगार कहते है। आर्य वह है— जिसने त्यागने योग्य धर्मों - अधर्म का त्याग कर दिया है। और श्रुत के अध्ययन से जिसकी बुद्धि शुद्ध एव निर्मल हो गई है, उसे आर्यप्रज्ञ कहते हैं। सत्य एव न्याय मार्ग के द्रष्टा को आर्यदर्शी कहते है। 'अयसधित्ति' का तात्पर्य है—साधु जीवन की समस्त क्रियाओं को यथा विधि एव यथा समय अर्थात् जिनके लिए आगम में जिस उपाय एव समय का विधान किया है तद्रूप उनका आचरण करने वाला।

'आमगन्ध' शब्द का अशुद्ध एव आधाकर्म आदि दोष अर्थ किया गया है। 'आम' शब्द प्राय सभी भारतीय परम्पराओं मे प्रयुक्त हुआ है। वैदिक ग्रथों में यह शब्द अपक्व अन्न आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है। और पालि ग्रथों मे इसका पाप के अर्थ मे प्रयोग किया गया है, शारीरिक रोग की भाति पाप भी आध्यात्मिक रोग है। इस अपेक्षा से 'निराम' का अर्थ होगा — निष्पाप, क्लेश रहित और 'आमगन्ध' का अर्थ होगा पाप की गन्ध। किन्तु टीकाकार ने प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'आमगन्ध' का अर्थ— आधाकर्म आदि दोषों से दूषित अशुद्ध आहार किया है। अत समस्त दोषों से रहित शुद्ध आहार को ग्रहण करके संयम साधना मे सलग्न रहना ही साधु का प्रमुख उद्देश्य है।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम् — अदिस्समाणो कयविक्कयेसु, से ण किणे न किणावए किणंतं न समणुजाणाइ, से भिक्खू कालन्ने बालन्ने मायन्ने खेयन्ने खणयन्ने विणयन्ने ससमयपरसमयन्ने भावन्ने परिग्गहं अममायमाणो कालाणुट्ठाई अपडिराणे ॥८६॥

छाया — अदृश्यमानः क्रयविक्रयौ स न क्रीणीयात् न क्रापयेत् क्रीणन्त-

✻ अयसधीति— सन्धान—सन्धीयते वाऽसाविति सन्धि, अय सन्धिर्यस्य साधो रसावयंसन्धिः छान्दसत्वाद्विभक्तेरलुगित्यसन्धि — यथाकालमनुष्ठानविधायी, यो यस्य वर्त्तमान कालः कर्त्तव्यतयोपस्थितस्तत्करणतया तमेव सन्धत्त इति।

—आचाराग वृत्ति।

मपि न समनुजानीयात् स भिक्षुः कालज्ञः बलज्ञः मात्रज्ञः क्षेत्रज्ञः खेदज्ञः क्षणज्ञः विनयज्ञः स्वसमयपरसमयज्ञः भावज्ञः परिग्रहममभीकुर्वन् (अस्वीकुर्वन्) कालानुष्ठायी अप्रतिज्ञः।

पदार्थ—**कय विक्कयेसु**—खरीदने और वेचने मे। **अदिस्समाणे**—अदृश्यमान्—अर्थात् न क्रय-विक्रय करता हुआ और न उसका उपदेश देना हुआ। **से**—वह भिक्षु। **णकिणे**—धर्मोपकरणादि न खरीदे। **ण किणावए**—न अन्य से मोल मगवावे। **किणतं**—खरीद रहे व्यक्ति का। **न समणुजाणइ**—अनुमोदन भी न करे। **से भिक्खू**—वह भिक्षु। **कालन्ने**—समय का ज्ञाता। **वालन्ने**—आत्म वल का ज्ञाता। **मायन्ने**—अहारादि के प्रमाण का जानकार। **खेयन्ने**—अभ्यास के जानने वाला या ससार के पर्यटन के श्रम को जानने वाला। **खणयन्ने**—अवसर का जानकार। **विणयन्ने**—विनय के स्वरूप को जानने वाला। **ससमय परसमयन्ने**—स्वमत और परमत के स्वरूप का परिज्ञाता। **भावन्ने**—दाता और श्रोताओ के भाव को जानने वाला। **परिग्गह**—परिग्रहको। **अममायमाणे**—न स्वीकार करता हुआ। **कालाणुट्ठाई**—यथा समय क्रियानुष्ठान करनेवाला। **अपडिन्ने**—दुष्ट प्रतिज्ञा से रहित, तथा निदानादि कर्म न करने वाला।

स्वय क्रय-विक्रय कार्य को नही करता हुआ और न उसका उपदेश देता हुआ वह भिक्षु, न तो स्वय वस्तु खरीदे और न दूसरो से मोल मगावे तथा मूल्य से खरीदने वाले का अनुमोदन भी न करे। वह भिक्षु, काल-समय का, आत्मबल का, आहारादि के प्रमाण का ससार के परिभ्रमण के कष्ट का, अवसर का, विनयका ज्ञाता, स्वमत और परमत के स्वरूप का, दाता और श्रोताओ के भाव का परिज्ञाता हो और यथा समय क्रियानुष्ठान करने वाला, परिग्रहका त्यागी एव दुराग्रह से रहित अर्थात् दुष्ट प्रतिज्ञान करने वाला हो।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधु वृत्ति का विवेचन किया गया है। साधु परिग्रह—धन वैभव, मकान, परिवार आदि का सर्वथा त्यागी होता है, अत वह क्रय-विक्रय की प्रवृत्ति में प्रवृत्त नहीं होता। क्रय शक्ति की प्रवृत्ति द्रव्य के माध्यम से होती है और मुनि द्रव्य का त्यागी होता है। इसीलिए वह अपने उपयोग मे आने वाले आहार, वस्त्र-पात्र आदि किसी भी पदार्थ को न स्वयं खरीदता है और न किसी व्यक्ति को खरीदने के लिए प्रेरित करता है और उसके लिए खरीद कर लाई वस्तु को वह स्वीकार भी

चाहिए ? उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार लिखते हैं—

मूलम्—समुट्ठिए अणगारे आरिए आरियपन्ने आरियदंसी अयंसंधित्ति अदक्खु, से नाईए नाइयावए न समणुजाणइ, सव्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधो परिव्वए ॥८८॥

छाया—समुत्थित अनगारः आर्यः, आर्यप्रज्ञ, आर्यदर्शी अयसन्धिः इति अद्राक्षीत् स नाददीत् नादापयेत् (नाद्यात्) न समनुजानाति, सर्वाम गन्ध परिज्ञाय निरामगन्धः परिव्रजेत्।

पदार्थ—समुट्ठिए—सयम साधना मे उद्यत-सजग। अणगारे—मुनि। आरिय—आर्य-चारित्र निष्ठ। आरियपन्ने—आर्य प्रज्ञा सपन्न-सम्यग्ज्ञान से युक्त। आरियदसी—न्याय मार्ग का दृष्टा। अयसंधित्ति—साधु समाचारी–क्रियाओ का यथाकाल परिपालक। अदक्खु—समय का द्रष्टा या परिज्ञाता। से—वह मुनि। नाईए—अकल्पनीय आहार न स्वय ग्रहण करे। न इयावए—न दूसरे मुनियों को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करे। न समणुजाणइ—और न अकल्पनीय आहार ग्रहण करने वाले मुनि का समर्थन ही करे। सव्वामगंध—समस्त आधाकर्म आदि दोष युक्त आहार को। परिन्नाय—ज्ञ परिज्ञा से जानकर एव प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर। निरामगधो—समस्त दोषो से रहित आहार को ग्रहण करे और। परिव्वए—सयम साधना का सम्यक्तया पालन करे।

मूलार्थ—सयम साधना मे प्रवर्त्तमान अनगार, जो कि आर्य है, आर्य-प्रज्ञावान है, आर्यदर्शी-न्याय मार्ग का द्रष्टा है, यथासमय अनुष्ठान सयम का आचरण करने वाला है, वह न स्वय दोष युक्त आहार ग्रहण करे, न दूसरे मुनि को दोष युक्त आहार स्वीकार करने के लिए कहे और न दोष युक्त आहार लेने वाले का समर्थन ही करे। परन्तु सदा-सर्वदा निर्दोष आहार को स्वीकार करके भाव पूर्वक सयम-साधना मे सलग्न रहे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में संयम मार्ग में प्रवर्त्तमान अनगार को निर्दोष आहार की गवेषणा करने एवं सयम मार्ग की क्रियाओं के परिपालन करने का सामान्य रूप से उपदेश दिया गया है। और साधक को इस बात के लिए सावधान किया गया है कि

करता है। 'से न किणे. . . . . . .' इत्यादि पाठ इस बात का संसूचक है। इसका तात्पर्य यह है कि साधु अपनी संयम साधना मे आवश्यक उपकरण आदि को न स्वयं खरीदे, न अन्य व्यक्ति को खरीदने के लिए उपदेश दे और न खरीदते हुए व्यक्ति का समर्थन या अनुमोदन ही करे।

पूर्व सूत्र में 'निरामगन्धो परिव्वए' पाठ में प्रयुक्त 'निराम और गन्ध' शब्द हनन एवं पचन आदि क्रिया से होने वाली हिंसा का त्रि-करण और त्रि-योग से त्याग करने का उपदेश दिया है और प्रस्तुत सूत्र मे क्रय-विक्रय के द्वारा होने वाले दोष का सर्वथा त्रि-करण और त्रि-योग से त्याग करने का निर्देश किया है। जैसे आधाकर्म आदि कार्य में हिंसा होती है। उसी प्रकार क्रय-विक्रय की क्रिया भी हिंसा आदि दोष का कारण है। क्योंकि क्रय-विक्रय में पैसे की, धन की आवश्यक्ता रहती है और पैसे की प्राप्ति हिंसा आदि दोषों के विना संभव नहीं है।

अत हिंसा आदि दोषों के सर्वथा त्यागी मुनि के लिए अधाकर्म एवं क्रय आदि दोषों से युक्त आहार वस्त्र, पात्र, मकान आदिग्रहण करने योग्य नहीं हैं। साधु को पूर्णतया शुद्ध, एषणीय एव निर्दोष आहार की गवेषणा करनी चाहिए और तद्रूप ही स्वीकार करना चाहिए।

निर्दोष सयम का परिपालन करने वाला साधु कैसा होता है, इसका वर्णन 'से भिक्खु कालन्ने. . . . .' आदि पदों मे किया है। वह काल—समय का, आत्म-शक्ति का*, आहार आदि के परिमाण का परिज्ञाता होता है। और 'खेयन्ने' अर्थात् खेदज्ञ होता है। खेद अभ्यास को भी कहते हैं†। अत अभ्यास के द्वारा पदार्थों का ज्ञाता, ससार पर्यटन एवं क्षेत्र को भी खेद कहते है। इस दृष्टि से खेदज्ञ का अर्थ होगा— संसार परिभ्रमण के लिए किए जाने वाले श्रम को एवं क्षेत्र के स्वरूप को जानने वाला। खणयन्ने' अर्थात् भिक्षा एव अन्य सयम क्रियाओं के समय को जानने वाला। प्रत्येक व्यक्ति के आतरिक भावों का परिज्ञाता। और स्व-परमत का विशिष्ट ज्ञाता होना चाहिए। जो साधु स्व-परमत का ज्ञाता नहीं होगा, वह अन्य मतावलम्बी व्यक्तियों द्वारा या किसी भी व्यक्ति द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर भली-भाति नहीं दे सकेगा।

'अपडिन्ने' का अर्थ है—कषाय के वश किसी भी प्रकार की प्रतिज्ञा न करने

---

* बालन्ने, पद मे छन्द के कारण दीर्घता की गई है।

† खेद अभ्यासस्तेन जानाति खेदज्ञ।

वाला। क्योंकि कषायों के वेग एव आवेश के समय विवेक दब जाता है, अत ऐसी अविवेक की स्थिति में की गई प्रतिज्ञा स्व और पर के लिए अहितकर भी हो सकती है। जैसे टीका मे उल्लेख आता है कि स्कन्धाचार्य ने अपने शिष्यों को यन्त्र मे पीलते हुए देखकर क्रोध के आवेश मे नगर, राजा एव पुरोहित आदि का विनाश करने की प्रतिज्ञा की थी। अभिमान के वेग मे बाहुबली ने अपने से पहिले दीक्षित हुए लघु भ्राताओं को वन्दन नहीं करने की प्रतिज्ञा की थी। इस प्रकार माया एवं लोभ के वश स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए तप आदि साधना की प्रतिज्ञा करना अर्थात् निदान पूर्वक तप करना। इस प्रकार की प्रतिज्ञाओं से आत्मा स्वयं पतन की ओर प्रवृत्त होता है। अत: सयमनिष्ठ मुनि को कषाय के वश कोई प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिए। उससे विवेक पूर्वक संयम-साधना में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में प्रतिज्ञा का जो निपेध किया गया है, वह एक अपेक्षा विशेष से किया गया है न कि प्रतिज्ञा मात्र का ही। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्---दुहओ छेत्ता नियाइ, वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं उग्गहणं च कडासणं एएसु चेव जाणिज्जा ॥६०॥

छाया—द्विधा छित्त्वा नियाति वस्त्रं, पतद्ग्रहं, कम्बलं पादपुञ्छनकम्, अवग्रहणं च कटासनमेतेषु चैव जानीयात्।

पदार्थ—दुहओ–राग और द्वेष से जो प्रतिज्ञा की हो उसका। छेत्ता—छेदन करके। नियाइ—जो मोक्ष पथ पर गतिशील है, उन्हे क्या करना चाहिए? वत्थ—वस्त्र पडिग्गह–पात्र। कम्बल—कम्वल। पायपुच्छण—रजोहरण। च-और। उग्गहणं–उपाश्रय आदि स्थान। कडासण—कटासन-सस्तारक और आसन विस्तर आदि। च–समुच्चय अर्थ मे। एव—अवधारणा अर्थ मे। एएसु—जो गृहस्थ साधु के लिए आरम्भ करके इन उपकरणो को देते हैं, उसे। जाणिज्जा–भली-भांति जाने अर्थात् सदोष उपकरणो का त्याग करके निर्दोष उपकरणो को ही स्वीकार करे।

मूलार्थ–राग-द्वेष युक्त की गई प्रतिज्ञा का छेदन करने वाला, मोक्ष-मार्ग पर गतिशील साधक वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, उपाश्रयादि स्थान और आसन आदि पदार्थों के लिए जो गृहस्थ आरम्भ करते हैं, उसे भली-

भाति जाने और उसमे सदोष का त्याग करके, निर्दोष पदार्थों को स्वीकार करे ।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र में जो अप्रतिज्ञा अर्थात् प्रतिज्ञा नहीं करने की बात कही गई है, उसका अभिप्राय प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट कर दिया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रकार ने पूर्व सूत्र में प्रतिज्ञा मात्र का निषेध नहीं किया है। उनका अभिप्राय राग-द्वेष युक्त प्रतिज्ञा का परित्याग करने से है। यह बात प्रस्तुत सूत्र से स्पष्ट हो जाती है कि मुनि राग-द्वेप युक्त प्रतिज्ञा का छेदन करके वस्त्र—पात्र आदि निर्दोष पदार्थों को ग्रहण करे ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि आहार, वस्त्र, पात्र आदि ग्रहण करने के लिए किए जाने वाले विविध अभिग्रहों का त्याग करने का नहीं कहा है। परन्तु यह कहा गया है कि राग-द्वेष या निदान पूर्वक कोई अभिग्रह प्रतिज्ञा न करे। क्योंकि राग-द्वेष से परिणामों में विशुद्धता नहीं रहती और परिणामों एवं विचारों का दूपित प्रवाह उस प्रतिज्ञा को स्पर्श किए विना नहीं रहता है। अतः दोप युक्त भावों से की गई प्रतिज्ञा में भी अनेक दोपों का प्रविष्ट होना स्वाभाविक है। जैसे मकान के चारों ओर लगी हुई आग की ज्वाला में अपने मकान का आग के प्रभाव से सर्वथा अछूता रहना असम्भव है। उसी प्रकार जिस साधक के मन मे राग-द्वेप की ज्वाला प्रज्वलित है, उस समय की गई विशुद्ध प्रतिज्ञा भी उस आग से निर्लिप्त नहीं रह सकती, उस पर उसका प्रभाव पड़े विना नहीं रहता। अत साधक को चाहिए कि वह राग-द्वेप की धारा का छेदन करे। यदि कभी राग-द्वेष की आग प्रज्वलित हो उठी हो तो पहले उसे उपशान्त करे, उसके बाद शान्त मन से प्रतिज्ञा धारण करे।

इससे स्पष्ट हुआ कि साधु राग-द्वेप का परित्याग करके सयम मे प्रवृत्ति करे। इससे उसके मन मे चञ्चलता नहीं रहेगी और दृष्टि मे धून्धलापन एवं विकार नहीं रहेगा। इससे लाभ यह होगा कि वह अपनी की गई प्रतिज्ञा तथा जीवन मे और की जाने वालो प्रतिज्ञाओं का भली-भाति परिपालन कर सकेगा। उसकी—साधु की प्रतिज्ञा है कि वह किसी भो प्रकार के दोप—हिंसा आदि का सेवन न करे और न उस के निमित किसी प्रकार का आरम्भ-समारम्भ किया जाए। इस प्रतिज्ञा का पालन राग-द्वेप का छेदन कर के ही किया सकता है। क्योंकि साधना मे सहायक भूत वस्त्र—पात्र आदि उपकरणों की आवश्यक्ता होती है और उनके लिए गृहस्थ अनेक प्रकार के दोप भी लगाकर साधु को दे सकता है। यदि साधु के मन मे राग-द्वेप है, या यों

वाला। क्योंकि कषायों के वेग एव आवेश के समय विवेक दब जाता है, अत ऐसी अविवेक की स्थिति मे की गई प्रतिज्ञा स्व और पर के लिए अहितकर भी हो सकती है। जैसे टीका मे उल्लेख आता है कि स्कन्धाचार्य ने अपने शिष्यों को यन्त्र में पीलते हुए देखकर क्रोध के आवेश मे नगर, राजा एव पुरोहित आदि का विनाश करने की प्रतिज्ञा की थी। अभिमान के वेग मे बाहुबली ने अपने से पहिले दीक्षित हुए लघु भ्राताओं को वन्दन नहीं करने की प्रतिज्ञा की थी। इस प्रकार माया एवं लोभ के वश स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए तप आदि साधना की प्रतिज्ञा करना अर्थात् निदान पूर्वक तप करना। इस प्रकार की प्रतिज्ञाओं से आत्मा स्वयं पतन की ओर प्रवृत्त होता है। अत. सयमनिष्ठ मुनि को कषाय के वश कोई प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिए। उससे विवेक पूर्वक सयम-साधना में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रतिज्ञा का जो निषेध किया गया है, वह एक अपेक्षा विशेष से किया गया है न कि प्रतिज्ञा मात्र का ही। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्---दुहओ छेत्ता नियाइ, वत्थं पडिग्गहं कबलं पायपुंछणं उग्गहणं च कडासणं एएसु चेव जाणिज्जा ॥९०॥

छाया—द्विधा छित्त्वा नियाति वस्त्रं, पतद्ग्रहं, कम्बलं पादपुञ्छनकम्, अवग्रहणं च कटासनमेतेषु चैव जानीयात्।

पदार्थ—दुहओ–राग और द्वेष से जो प्रतिज्ञा की हो उसका। छेत्ता—छेदन करके। नियाइ—जो मोक्ष पथ पर गतिशील हैं, उन्हे क्या करना चाहिए? वत्थ—वस्त्र पडिग्गहं–पात्र। कम्बल—कम्बल। पायपुंच्छण—रजोहरण। च-और। उग्गहणं-उपाश्रय आदि स्थान। कडासण—कटासन-सस्तारक और आसन विस्तर आदि। च–समुच्चय अर्थ मे। एव—अवधारणा अर्थ मे। एएसु—जो गृहस्थ साधु के लिए आरम्भ करके इन उपकरणो को देते हैं, उसे। जाणिज्जा–भली-भांति जाने अर्थात् सदोष उपकरणो का त्याग करके निर्दोष उपकरणो को ही स्वीकार करे।

मूलार्थ–राग-द्वेष युक्त को गई प्रतिज्ञा का छेदन करने वाला, मोक्ष-मार्ग पर गतिशील साधक वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, उपाश्रयादि स्थान और आसन आदि पदार्थों के लिए जो गृहस्थ आरम्भ करते हैं, उसे भली-

कहिए कि पात्र आदि देने वाले गृहस्थ के प्रति अनुराग है, तो वह अपने साधना पथ से फिसल जायगा और अपनी प्रतिज्ञा को भूल कर सदोष—निर्दोष की विना जाच किए ही उन उपकरणों को ले लेगा। इसलिए सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे साधक को यह आदेश देते हुए कहा है कि वह राग-द्वेष का छेदन करके वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, आसन आदि के दोषों का परिज्ञान करे, यह देखे कि ये साधन गृहस्थ के यहा किस प्रयोजन से आए हैं। वह अपने उपभोग के लिए इन्हें लाया है या मेरी आवश्यकता को पूरा करने के लिए, इसका सम्यक्तया परीक्षण करे। परीक्षण के वाद यदि वे साधन सदोष प्रतीत हों तो उनका परित्याग करके निर्दोष साधनों—उपकरणों की गवेषणा करे। इससे आहार-एषणा, वस्त्र-एषणा आदि का भी स्पष्ट निर्देश किया गया है।

'उग्गहण—अवग्रहण' शब्द का अर्थ प्रत्येक पदार्थ को आज्ञा से ग्रहण करने का है। उसके ५ भेद किए गए हैं—

(१-देवेन्द्र अवग्रह, २- राजअवग्रह, ३- गृहपतिअवग्रह, ४-शय्यातर अवग्रह-और ५- साधर्मिक अवग्रह। इनमे प्रथम अवग्रह को छोडकर शेष चारों अवग्रह स्पष्ट हैं। देवेन्द्र अवग्रह ज़रा अस्पष्ट है। कुछ लोग सोचते होंगे कि देवेन्द्र की आज्ञा कैसे ली जाती है और वह आज्ञा कैसे देता होगा? भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशक २ मे वर्णन आता है कि एक वार शक्रेन्द्र ने भगवान महावीर से कहा था कि मैं आपके साधुओं को पृथ्वी पर पडे हुए तृण-काष्ठ आदि ग्रहण करने की आज्ञा देता हूँ। देवेन्द्रअवग्रह का यही अभिप्राय है। और इस पर से ही यह परम्परा है कि जगल आदि मे जहां कोई व्यक्ति नहीं होता है, वहा तृण—ककर आदि लेने की आवश्यकता होती है, तो शक्रेन्द्र की आज्ञा लेते हैं।)

'कडासण-कटासन' पद मे प्रयुक्त 'कट' शब्द से सस्तारक और 'आसन' शब्द से शय्या, मकान आदि ग्रहण किया है। अत वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, शय्या—सस्तारक आदि की सदोषता-निर्दोषता का भली-भाति परिज्ञान करे और उसमें सदोष का त्याग करके निर्दोष पदार्थों को स्वीकार करे।

यह सत्य है कि जीवन निर्वाह के लिए निर्दोष आहार आदि ग्रहण करने का आदेश दिया गया है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि निर्दोष पदार्थ होने से वह चाहे जितना ग्रहण करले। उसमे भी मर्यादा है, परिमाण है। साधु अपने परिमाण से अधिक आहार को ग्रहण नहीं करे। इस वात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लद्धे आहारे अणगारो मायं जाणिज्जा, से जहेयं भगवया पवेइयं, लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुत्ति न सोइज्जा, बहुंपि लद्धुं न निहे, परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा ॥६१॥

छाया—लब्धे आहारे अनगारः मात्रां जानीयात् तद्यथा इदं भगवता प्रवेदितं, लाभः इति न माद्यथेत् (मदं न विदध्यात्) अलाभः इति न शोचयेत् बहु अपि लब्ध्वा न निहेत् (न संनिधिं कुर्यात्)।

पदार्थ—लद्धे आहारे—आहार के प्राप्त होने पर। अणगारो—अनगार मुनि। मायं जाणिज्जा—मात्रा-परिमाण को जाने। से भगवया—उस भगवान ने। जहेयं—जैसा कि वह। पवेइयं—प्रतिपादन किया है कि। लाभुत्ति—मुझे आहार आदि का लाभ हुआ, है ऐसा जानकर। न मज्जिज्जा—अभिमान न करे और। अलाभुत्ति—मुझे आहार आदि की प्राप्ति नहीं हुई, ऐसा समझकर। न सोइज्जा—शोक या खेद न करे और। बहुंपि लद्धुं—बहुत मिलने पर। न निहे—सग्रह न करे अर्थात्—मर्यादित काल से अधिक समय तक प्रथम प्रहर का लाया हुआ आहार चतुर्थ प्रहर तक और रात्रि मे सञ्चय करके नही रखे, इस तरह। परिग्गह—परिग्रह से। अप्पाणं अपनी आत्मा को। अवसक्किज्जा—पीछे हटावे।

मूलार्थ—आहार के प्राप्त होने पर मुनि उसके परिमाण को जानते है। और भगवान ने जिस प्रकार प्रतिपादन किया है उसी प्रकार आचरण करे। अर्थात् आहार की प्राप्ति होने पर गर्व एव अभिमान नही करे और न मिलने पर खेद या शोक न करे। अधिक आहार मिलने पर उसे मर्यादा से अधिक समय तक—प्रथम प्रहर का लाया हुआ आहार-पानी चतुर्थ प्रहर तक नही रखे और दिन मे लाया हुआ आहार रात्रि मे सग्रह करके नही रखे। अपने आप को परिग्रह से दूर रखे।

हिन्दी विवेचन

आहार आदि पदार्थ लेते समय केवल सदोषता-निर्दोषता का ज्ञान करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु परिमाण का भी ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि बिना परिमाण को जाने पात्र भर लेने से संयम के स्थान मे असंयम का पोषण हो जाता है। यदि परिमाण से अधिक आहार ले लिया है, तो उस गृहस्थ को अपने एव अपने परिवार

के लिए फिर से आरम्भ करना पडेगा। दूसरा अर्थ यह है कि अपने आहार की मात्रा का ज्ञाता हो। शरीर निर्वाह के लिए जितने आहार की आवश्यक्ता है, उतना ही ग्रहण करे। जिसे अपना आहार का परिमाण ज्ञात नहीं है, तो अधिक आहार आ जाने से, वह खा नहीं सकेगा इससे अयतना होगी और यदि कभी खा लिया तो मर्यादा से अधिक आहार करने के कारण उसे आलस्य—प्रमाद आएगा या वह बीमार हो जायगा, जिसके कारण वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सम्यक्तया साधना नहीं कर सकेगा। इसलिए मुनि को गृहस्थ के घर की स्थिति-परिस्थिति एवं अपने आहार की आवश्यक्ता, का परिज्ञान होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त भगवान की यह आज्ञा है कि आहार उपलब्ध हो या न हो दोनों अवस्थाओं मे मुनि को समभाव रखना चाहिए। आहार के मिलने पर मुनि को गर्व नहीं करना चाहिए और न मिलने पर खेद नहीं करना चाहिए। और अधिक आहार प्राप्त हो जाने पर उसे मर्यादित काल से अर्थात् प्रथम प्रहर मे लाया हुआ चतुर्थ प्रहर तक नहीं रखना चाहिए और आगामी दिन मे खाने की अभिलापा से रात को भी सग्रह करके नहीं रखना चाहिए। इससे लालसा एव तृष्णा की अभिवृद्धि होती है। और तृष्णा, आसक्ति या लालसा को ही परिग्रह कहा गया है। अत साधक को परिग्रह से सदा दूर रहना चाहिए। आहार आदि का संग्रह करके नहीं रखना चाहिए।

इन वस्त्र आदि पदार्थों पर आसक्ति रखने से परिग्रह का दोष लगता है। इस लिए मुनि को वस्त्र आदि किसी पदार्थ पर मूर्छा या आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। इसी बात का आदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अन्नहा णं पासए परिहरिज्जा, एस मग्गे आयरिएहिं पवेइए, जहित्थ कुसले नोवलिंपिज्जासि त्तिबेमि ॥९२॥

छाया—अन्यथा पश्यकः परिहरेत् एष मार्ग आर्यैः प्रवेदितः यथाऽत्रकुशलः नोपलिम्पयेत् इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—ण—वाक्यालकारार्थ मे प्रयुक्त हुआ है। अन्नहा—अन्य प्रकार से। पासए—देखता हुआ। परिहरिज्जा—परिग्रह को दूर करे। एस—यह। मग्गो—मार्ग। आयरिएहिं—आर्य तीर्थंकरो द्वारा। पवेइए—प्रतिपादित है। जहित्थ—जो यहा धर्म सामग्री प्राप्त है, उसमे। कुसले—कुशल—तत्त्वो का परिज्ञाता। नोवलिंपिज्जासि—अपनी आत्मा पाप कर्म से लिप्त न करे। त्तिबेमि इस प्रकार मैं कहता हूं।

भी त्याग कर देता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जब तक शरीर का अस्तित्व है, तब तक साधक को भी वस्त्र-पात्र आदि बाह्य उपकरणों का आश्रय लेना पड़ता है। इसलिए सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे यह स्पष्ट कर दिया है कि वस्त्र-पात्र आदि रखना परिग्रह नहीं है, परिग्रह है—उसमे राग-द्वेप एवं ममत्व भाव रखना। अत. भगवान की यह आज्ञा है कि साधक उपकरणों में आसक्ति न रखे। इस बात को सूत्रकार ने 'एस मग्गे आयरिएहिं पवेइए' इस वाक्य के द्वारा व्यक्त किया है कि उपरोक्त मार्ग आर्यपुरुषों द्वारा प्ररूपित है। आर्य का अर्थ तीर्थंकर किया गया है।

अत विचारशील व्यक्ति को आर्य द्वारा प्ररूपित मार्ग पर निर्द्वंद भाव से गतिशील होना चाहिए। और अपने आपको समस्त पाप कर्मों से सदा अलिप्त रखना चाहिए। यहा उद्देशक के मध्य में 'त्तिबेमि' का प्रयोग अधिकार की समाप्ति के लिए हुआ है।

प्रस्तुत सूत्र में परिग्रह के त्याग की वात कही गई है। परिग्रह का त्याग तभी संभव है, जबकि लालसा-वासना एवं आकांक्षा का त्याग किया जाएगा। अत सूत्रकार आगामी सूत्र में काम-वासना के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं—

मूलम्—कामा दुरतिक्कमा, जीवियं दुप्पडिवूहगं, कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ जूरइ, तिप्पइ परितप्पइ ॥९३॥

छाया—कामाः दुरतिक्रमाः जीवितं दुष्प्रतिबृंहणीयं कामकामी खलु अयं पुरुषः स शोचते, खिद्यते तेपते परितप्यते।

पदार्थ—कामा – काम-भोग। दुरितकम्मा – दुरतिक्रम–छोडने कठिन है। जीविय—जीवन। दुप्पडिवूहग – वृद्धि नही पा सकना, इसलिए। खलु – निश्चय से। कामकामी – काम भोगो का इच्छुक। अय परिसे–यह पुरुष अनेक दुःखो का सवेदन करता है जैसे। से—वह कामी व्यकित। सोयइ—शोक करता हैं। जूरइ—मन मे खेद मानता है। तिप्पइ—रुदन करता है। परितप्पइ—परिताप को प्राप्त करता है, अर्थात् सब तरह से पश्चाताप करता है।

मूलार्थ--काम-भोगो का परित्याग करना अति दुष्कर है। जीवन सदा क्षोण होता है, उसे बढाया नही जा सकता है, अत कामेच्छा से युक्त व्यक्ति अपनी वासना की पूर्ति न होने से शोक करता है, खेद करता ोता है, और सबप्रकार से पश्चाताप करता है।

हिन्दी विवेचन

जीवन में अन्य विकारों की अपेक्षा काम को सबसे बलशाली शत्रु माना है। उस पर विजय पाना बहुत ही कठिन है। इसी कारण सूत्रकार ने इसे 'दुरितकम्मा' कहा है अर्थात् इसे परास्त करना दुष्कर है। साधारण मनुष्य तो क्या, कभी कभी महान् साधक भी इसके प्रहार से विचलित हो उठते हैं, उसके सामने नतमस्तक हो जाते हैं।

काम के दो भेद हैं— १-इच्छा-वासना रूप काम और २- मैथुन सेवन रूप काम। दोनों प्रकार के काम का उद्भव मोहनीय कर्म के उदय से होता है। हास्य, रति आदि से इच्छा आकांक्षा एवं वासना उद्बुद्ध होती है और वेदोदय से मैथुन सेवन की प्रवृत्ति होती है। अत. काम-भोग मोहनीय कर्मजन्य हैं और जब तक मोह कर्म का सद्भाव रहता है, तब तक उनका सर्वथा उन्मूलन कर सकना कठिन है। इसलिए सूत्रकार ने इसे जीतना दुष्कर कहा है। क्योंकि मोह कर्म को सब कर्मों का राजा माना गया है। इसलिए घातक कर्मों का क्षय करने वाले सर्वज्ञ सबसे पहिले मोह कर्म का ही नाश करते हैं। क्योंकि राजा को परास्त करने पर शेष शत्रु तो स्वय ही पराजित हो जाते हैं, फिर उनका नाश करने मे देरी नहीं लगती। परन्तु राजा को या मोह कर्म को जीतना आसान काम नहीं है। यह इतना भयकर है कि बड़े २ योद्धाओं के दान्त खट्टे कर देता है। इसलिए साधक को इस पर विजय पाने के लिए सदा सावधान रहना चाहिए। अपने मन, वचन एव शरीर को वासना की ओर प्रवृत्त नही होने देना चाहिए।

वासना एक ऐसी भूख है, जो कभी शात नही होती। काम-भोग को आग कहा गया है और आग ईंधन डालने पर शॉत नही, अपितु अधिक प्रज्वलित होती है। यही बात विषय-वासना की है, वह पदार्थों के भोगोपभोग से शात नहीं होती है, अपितु अधिक उग्र बनती जाती है। हम सदा देखते हैं कि एक इच्छा पूरी भी नहीं हो पाती है कि दूसरी इच्छा जाग उठती है। उसके समाप्त होते, न होते तीसरी, चौथी आदि जागती रहती हैं, उनका कभी भी अन्त नही आता। इसलिए मानव को कभी भी सन्तोष की प्राप्ति नहीं होती। यदि कभी भाग्य से इच्छाएं पूरी भी हो जाएं, तब भी मनुष्य सुख को नही पा सकता। क्योकि आखिर यह जीवन भी तो सीमित है। और वासना असीम है, अनन्त है, और उसकी अभिवृद्धि के साथ साथ जीवन को बढाया नहीं जा सकता। इसलिए वासना, इच्छा एव आकांक्षा मन मे ही रह जाती है और मानव आगे की यात्रा के लिए चल पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि वासना की आग मनुष्य को सदा जलाती रहती है और उसमें प्रज्वलित

मनुष्य विषय-वासना की पूर्ति न हो सकने के कारण उसके लिए चिन्ता-शोक करता है, मन में खेद करता है और रोने लगता है। इस प्रकार वासना के ताप से सदा सन्तप्त रहता है।

इसलिए साधक को प्रमाद का त्याग करके सदा विषय-भोगों से दूर रहना चाहिए। क्योंकि जो व्यक्ति काम-भोग के दुष्परिणाम को जानकर विषय-भोगों में नहीं फसता, वह सदा सुखी रहता है और पूर्ण सुख-शाति को प्राप्त करता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहो भागं जाणइ, उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ, गड्ढिए लोए अणुपरियट्टमाणे, संधिं विइत्ता इह मच्चिएहिं, एस वीरे पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए, जहा अंतो तहा बाहिं जहा बाहिं तहा अंतो, अंतो अंतो पूइदेहंतराणि पासइ पुढोवि सवंताइं पंडिए पडिलेहाए ॥६४॥

छाया—आयतचक्षुः लोकविदर्शी (लोक विपश्यति) लोकस्याधो भागं जानाति ऊर्ध्वं भागं जानाति तिर्यग्भागं जानाति गृद्धो लोकः अनुपरिवर्तमानः सन्धि विदित्वा इहमर्त्येषु एष वीरः प्रशंसित यो बद्धान् प्रतिमोचयति यथा अन्तस्तथा बहिस्तयथा बहि थान्तः, अन्तेऽन्ते पूतिदेहान्तराणि पश्यति पृथगपि स्रवन्ति पण्डितः प्रत्युपेक्षेत।

पदार्थ—आययचक्खू—दीर्घदर्शी। लोगविपस्सी—लोक के स्वरूप को जानने वाला। लोगस्स—लोक के। अहोभाग—अधो भाग को। जाणइ—जानता है। उड्ढं भागं—ऊर्ध्व भाग को। जाणइ—जानता है। तिरिय भाग—तिर्यग् भाग को। जाणइ—जानता है। गड्ढिए लोए—प्रमादी लोग काम भोगो मे मूर्छित हैं। अणुपरियट्टमाणे—ससार चक्र मे परिभ्रण करने वाला। इह मच्चिएहि—इस मनुष्य लोक मे। संधि विइत्ता—ज्ञानादि के प्राप्त करने का अवसर जानकर, जो काम-भोगो का परित्याग करता है। एस वीरे—वही वीर है। पसंसिए—वही प्रशसा के योग्य है। जो बद्धे—जो बन्धे हुओ को पडिमोयए—बन्धनो से मुक्त करता है। जहा—जैसे। अन्तो—अन्दर से यह शरीर मल-मूत्र

से अपवित्र है, उसी प्रकार । वाहिं-बाहिर से भी मल युक्त है फिर । जहा—जैसे । बाहि—बाहिर से मलयुक्त है, उसी प्रकार । अन्तो—भीतर से भी है । अन्तो अन्तो—शरीर के मध्य २ मे । पूइदेहन्तराणि—पूति-शरीर के अन्तर्भग मे पूति व देह की अवस्था को । पासइ—देखता है । पुढोवि—पृथक् २ ही । सवताइ—स्रवते है — अर्थात् नवद्वारो से मल का स्राव होता रहता है, अत' । पडिए—पडित पुरुष । पडिलेहाए—इनका प्रत्यवेक्षण करे, इनके स्वरूप को देखे ।

मूलार्थ— दीर्घदर्शी लोक के स्वरूप को जानने वाला, लोक के अधोभाग, ऊर्ध्व भाग और तिर्यग्भाग को जानता है । और वह यह भी जानता है कि काम मे मूर्छित जन ससार चक्रमे परिभ्रमण कर रहा है, इस मनुष्य लोक मे और मनुष्य जन्म मे ज्ञानदि प्राप्त करने के अबसर को जान कर जो काम से निवृत्त हो गया है, वही वीर और विद्वानो द्वारा प्रशसित है । स्वय बन्धन-मुवत होने से वहो दूसरो को भी बन्धन से मुक्त करा सकता है। जैसे यह शरोर मल-मूत्रादि के कारण भोतर से दुर्गन्ध युक्त है, उसी प्रकार बाहिर से भो है । तथा जिस प्रकार बाहिर से है उसी प्रकार भोतर से है। शरीर के भीतर-देहके विभागो मे दुर्गन्ध भरी हुई होती है और शरीर के नवो द्वारों मे ने वह मलके रूप में बाहिर निकलती रहती है । अत पुरुष इसके यथार्थ स्वरूप का अवश्य ही अवलोकन करे ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे यह बताया गया है कि भोगों से वही व्यक्ति विरक्त हो सकता है, जो दीर्घदर्शी है। अर्थात् जो केवल वर्तमान के भोगजन्य सुखों को ही नहीं देखता अपितु ऊर्ध्व, अधो एवं तिर्यक् क्षेत्र में भोगो से प्राप्त होने वाली स्थिति को भी देखता है । इसलिए उसे आयतचक्षु—दीर्घदर्शी के साथ लोक दर्शी भो कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि वह सम्यग् ज्ञान के द्वारा लोक के स्वरूप को जान लेता है। उसे यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक का आधार विषय-वासना ही है। यह हम पहिले ही देख चुके हैं कि विषय-वासना मोहनीय कर्म जन्य है और मोह कर्म ही लोक मे परिभ्रमण कराने वाला है । इसके वशीभूत जीव विभिन्न गतियों में शुभाशुभ अनेक वेदनाओं का संवेदन करता है । इस प्रकार प्रबुद्ध साधक मोहकर्म के विपाक को जानकर वासना का परित्याग करता है, वह भोगों से सदा दूर

रहता है।

वह विषय-वासना से निवृत्त होकर अपने कर्म के बन्धन को तोडता है और दूसरों के कर्म बन्धन काटने में भी सहायक बनता है। यह सत्य है कि आत्मा स्वय ही अपने बन्धनों को तोड़ती है। कोई भी शक्ति न उसे बन्धनों से बाध सकती है। और न मुक्त ही कर सकती है। फिर भी, यहा जो बन्धन तोडने मे सहायक शब्द का प्रयोग किया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि विषय-वासना से मुक्त बना जीव किसी भी बद्ध जीव के बन्धन तोडता नहीं है, प्रत्युत उसे बन्धन तोडने का मार्ग दिखा देता है, उपाय बता देता है, इसी कारण उसे निमित्त रूप से सहायक माना है। बन्धन तोड़ने का प्रयत्न तो आत्मा को ठीक करना होगा। वह तो केवल पथप्रदर्शक बन सकता है।

उसने जीवन के वास्तविक स्वरूप को जान लिया है कि वह मल-मूत्र से भरा हुआ है। जैसे शरीर के अन्दर मल-मूत्र है, उसी प्रकार वाहिर भी मल लगा हुआ है और जैसे वाहिर से मल-युक्त है उसी प्रकार भीतर से भी है। और उसके नव द्वारों से सदा मल का प्रस्रवण होता रहता है। इस प्रकार अपवित्रता के भडार को देखकर वह अशुचि भावना भाता है और दूसरों को भी इस भावना को भाने के के लिए प्रेरित करता है। उनका ध्यान भी इस अशुचि के पुतले से निवृत्त होने की ओर लगाता है।

प्रस्तुत सूत्र मे अशुचि भावना का बडा ही सुन्दर विवेचन किया गया है। साधक अपने अन्दर एव वाहिर भरी हुइ अपवित्रता को तथा समय-समय पर होने वाले कुष्ट आदि रोगों से होने वाली शारीरिक विकृति एव घाव आदि से झरने वाले रक्त, पीप आदि को देखकर वह सोचता है कि यह शरीर कितना विकृत है। और इसके भोग भी क्या हैं— मात्र अशौच्य को वढाने वाले। उससे मानसिक, वाचिक एव शारीरिक अशुद्धि की ही अभिवृद्धि होती है। अत प्रबुद्ध साधक इस भावना के द्वारा भोगों की निस्सारता को जानकर उससे निवृत्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त "आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहोभाग जाणइ उड्ढ भाग जाणइ, तिरियं भाग जाणइ" वाक्य मे 'ॐ' की ध्वनि भी स्पष्ट प्रतिभासित होती है। क्योंकि जो महापुरुष तीनों लोक के स्वरूप को भली-भाति जानता है और सासारिक विषय-भोगों से सर्वथा निवृत्त होकर अनन्त सुख पा चुका है, वही दीर्घदर्शी है और ऐसा महापुरुष ही संसार मे फसे हुए व्यक्तियों को

मुक्त बनने की राह बता सकता है। अस्तु तीन लोक के स्वरूप को स्पष्ट रूप से जानने वाला सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होता है। उसके स्वरूप को 'ॐ' शब्द से भी अभिव्यक्त किया जाता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'अहोभाग' उड्ढभाग और 'तिरिय' यध्म भाग' तीनों शब्दों के आदि के एक एक अक्षर को लेकर 'अ+उ+म्' तीनों का संयोग किया जाए, अर्थात् 'आद गुण.' सूत्र से 'अ+उ' मे गुण किया जाए तो 'ओम् या ॐ' शब्द की सिद्धि हो जाएगी। इससे स्पष्ट होता है कि 'ॐ' शब्द तीन लोक के स्वरूप को भली-भाति जानने वाले सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी का परिबोधक है' योगदर्शन मे इसी भाव का समर्थन किया गया है*।

जबकि प्रस्तुत सूत्र उक्त शब्दों को लेकर टीकाकार या वृत्तिकार आदि ने 'ॐ' शब्द की कल्पना नहीं की है। परन्तु मेरी समझ से प्रस्तुत सूत्र की रचना करते समय सूत्रकार के मन मे यह कल्पना रही होगी। इसका आधार यह है कि उन्होंने 'अधो' 'तिर्यक्' और 'ऊर्ध्व' के क्रम से तीनो लोक निर्देश न करके आकार आदि क्रम से निर्देश किया। इससे यह कल्पना की जा सकती है कि सूत्रकार को इन पदों से 'ॐ' को सिद्ध करना ही अभीष्ट रहा है।

इसके अतिरिक्त जैनों का पञ्च परमेष्ठी मन्त्र भी 'ॐ' का प्रतीक माना गया है। 'अरिहन्त' 'अशरीरी' 'सिद्ध' और 'आयरिय' उक्त तीन पदों के 'अ+अ+आ' आदि अक्षरों का 'अक सवर्णे दीर्घ' सूत्र से दीर्घ करने पर 'आ' बनता है। और 'आ' मे उपाध्याय के 'उ' का संयोग करने पर 'आ+उ' 'आदगुण.' सूत्र से 'ओ' बन जाता है और उसमे 'मुनि' पद के 'म्' का सयोग करने पर 'ओम्—ॐ' शब्द सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने नमस्कार मन्त्र से 'ॐ' शब्द सिद्ध किया है। इससे स्पष्ट होता है कि 'ॐ' शब्द के पञ्च पदों से जिन गुणों का बोध होता है, वे समस्त गुण जिसमे पुञ्जीभूत हों अर्थात् अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख एव बल-वीर्य से सम्पन्न हो वह सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी आत्मा का संसूचक है।

यह ठीक है कि 'ॐ' शब्द का प्रयोग वैदिक परम्परा मे होता रहा है। जैन आगमों मे इसका साधना के रूप मे प्रयोग नहीं हुआ। परन्तु जैन परम्परा मे आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। और उक्त शब्द को अपनी संस्कृति एव सिद्धात के अनुरूप ढाल लिया। तब से जैन संस्कृति मे भी इसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

---

* तस्य वाचक प्रणव — पातञ्जल योगदर्शन, १. २७

निष्कर्ष यह निकला कि जो अपने ज्ञान से या सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित श्रुत-ज्ञान से तीन लोक के स्वरूप एव कर्मों के फल तथा काम-भोग के दुष्परिणाम को जानकर भोगों का सर्वथा परित्याग कर देता है। वास्तव मे वह वीर है, प्रशसा के योग्य है और वह सर्व कर्म वन्धन से मुक्त वनता है और दूसरों को भी मुक्ति का पथ वताता है।

इस प्रकार अशुचि भावना के द्वारा साधक भोगों से निवृत्त होता है। उसके वाद अर्थात् काम—वासना से निवृत्त होने के पश्चात् साधक को क्या करना चाहिए? अपनी साधना को किस प्रकार गति-प्रगति देनी चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से मइमं परिन्नाय मा य हु लालं पच्चासी, मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावायए, कासंकासे खलु अयं पुरिसे, वहुमाई कडेण मूढे, पुणो तं करेइ लोहं वेरं वड्ढेइ अप्पणो, जमिणं परि-कहिज्जइ इमस्स चेव पडिबूहणयाए, अमराय महासड्ढी अट्टमेयं तु पेहाए अपरिणाए कंदइ ॥९५॥

छाया—स मतिमान् परिज्ञाय मा च लालां प्रत्याशी मा तेषु तिरश्चीन-मात्मानमापादयेतः, अकार्षं करिष्ये खलु अयं पुरुषः वहुमायी कृतेन मूढ़ पुनस्तत् करोति लोभं वैर वर्द्धते आत्मनः यदिदंपरिकथ्यते अस्य चैव परिबृंहणार्थं अमरायते (अमरायमाणः) महाश्रद्धी, आर्तमेतं (अमरायमाणं) तु प्रेक्ष्यापरिज्ञाय क्रन्दते।

पदार्थ—से—वह। मइमं—मतिमान्। परिण्णाय—परिज्ञात-जानकर। य—समुच्चय अर्थ मे। ह—वाक्यालँकार अर्थ मे है। लाल—मुख की लाल को। मा—मत। पच्चासी—प्रत्याश न करे अर्थात् छोडे हुए काम-भोगो को वालक की लालवत् फिर से सेवन न करे। मा—मत। तेसु—उन अव्रतो मे। तिरिच्छ—प्रतिकूल भाव रूप से। अप्पाणं—अपनी आत्मा को। आवायए—स्थापन न करे अर्थात् ज्ञान आदि के मार्ग से आत्मा को प्रतिकूल न करे और अज्ञान, अविरति, मिथ्यादर्शनादि के अनुकूल न करे, किन्तु। कासकासे—यह कार्य मैंने कर लिया है और यह मैं करूंगा। खलु—निश्चय। अय—यह। पुरिसे—पुरुष शाति का।

का अनुभव नही कर सकता, अपितु वह पुरुष । **बहुमाई**—बहुत माया । **कडेण**—करने से **मूढे**—मूढ हो जाता है। **पुणो**—फिर । **तं**—वह लोभानुष्ठान । **करेइ**—करता है तथा । **लोहं**—लोभ । **करेइ**—करता है और जिससे । **अप्पणो वेर**—आत्मा के साथ वैर भाव । **वड्ढेइ**—बढता है। **जमिणं**—जिससे यह । **परिकहिज्जइ**—कहा जाता है, कि । **च**-और एव-शब्द पूर्ववत् जानने । **इमस्स**—इस शरीर की । **पडिबूहणाए**—वृद्धि के लिए, वह पूर्वोक्त क्रियाये करता है। **थ**-और । **अमराए**—देव के समान आचरण करता है। **महासड्ढी**—काम भोगो मे अत्यन्त श्रद्धा-अभिलाषा रखने वाला। **एयं**—यह । **तु**—वितर्क अर्थ मे है। **अट्ठ**—काम-भोग आर्त ध्यान का मुख्य कारण है, अतः। **पेहाए**—यह देखकर, काम-भोगो मे निवृत होना चाहिए। किन्तु जो लोग काम भोगो से निवृत नही होते, अव उनके विषय मे कहते है। **अप्परिण्णाय**—काम भोगो के विपाक को न जानने से अर्थात् ज्ञ और प्रत्याख्यान परिज्ञा से तद्विषयक सम्यक् बोध को प्राप्त न करने से। **कंदइ**—वह कामी पुरुष अनेक प्रकार से आक्रोश करता है। शोक सन्ताप को प्राप्त होता है।

मूलार्थ--वह वुद्धिमान् साधु मुख की लाल को चाटने वाले बालक की भांति वमन किये-त्यागे हुए काम भोगो को फिर से भोगने की इच्छा न करे। तथा अपने आत्मा को प्रतिकूल मार्ग मे न ले जाये अर्थात् ज्ञान से विपरीत दिशा मे न ले जाए। मैं ने यह काम कर लिया है और यह काम मै करूंगा इस प्रकार की चिन्ता करने वाला पुरुष कभी भी शान्ति का अनुभव नही कर सकता। वह अत्यन्त मायावी होने से अधिक छ्ल कपट करने के कारण मूर्ख हो जाता है। फिर लोभ करता है और अपनी आत्मा के साथ वैर को बढाता है। जिससे ऐसा कहा जाता है कि इस शरीर को वृद्धि के लिए आरम्भ करता हुआ अपने आत्मा को देवो के समान मानता है, तथा विषय भोगो मे आसक्त होने के कारण, वह आर्तध्यान के वश होकर अनेक प्रकार की चिन्ताओ से आवृत्त हो जाता है। हे शिष्य! तू इस स्वरूप को भली-भांति जानकर काम भोगो की आशा का परित्याग कर? तथा जिन जीवो ने काम भोगो को वास्तविकता को नही जाना अर्थात् उनको तुच्छ निस्सार और अनर्थकारी जानकर त्याग नही किया है, वे उनकी अप्राप्ति से तथा प्राप्त होकर नष्ट हो जाने से

निरन्तर शोक और सन्ताप का ही अनुभव करते है ।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र मे अशुचि भावना के द्वारा त्याग पथ पर गति करने का आदेश दिया गया है और प्रस्तुत सूत्र मे उस पथ पर दृढ़ता के साथ आगे बढने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है कि साधक को त्यागे हुए भोगों को फिर से प्राप्त करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। इसके लिए बालचेष्टा का बहुत ही सुन्दर उदाहरण दिया गया है। जैसे अबोध बालक अपनी गिरती हुई लाल को फिर से मुह मे लेकर चूसने लगता है। इस प्रकार प्रबुद्ध साधक त्यागे हुए भोगों की लाल को फिर से आस्वादन करने की कामना भी न करे। और ज्ञान, दर्शन एव चारित्र के पथ पर गतिशील आत्मा को विपरीत दिशा में न देखने दे अर्थात् अपने मन को विषय-वासना एव अव्रत आदि की ओर न दौड़ने दे। क्योंकि इच्छित भोग कभी पूरे नहीं होते और जो प्राप्त हुए हैं उनका भी वियोग होता रहता है, इस प्रकार आशा की अपूर्ति एवं प्राप्त के वियोग से कामी व्यक्ति का मन सदा शोक एवं चिन्तना से सन्तप्त रहता है। और विषयों की तृष्णा एव आसक्ति से इस जीवन में विभिन्न दुख उठाने पडते है और परलोक मे भी आत्मा दुख के महागर्त मे गिरती है, अत साधक को भोगों मे आसक्त होने वाले प्राणियो की स्थिति को देखकर सदा उससे दूर रहना चाहिए ।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त "तिरिच्छमप्पाणमावायए — तिरश्चीनमात्मानमापादये" पाठ का तात्पर्य यह है—कि विचार शील पुरुष अविरति, मिथ्यादर्शन आदि दोषों मे अपनी आत्मा को नहीं लगावे । परन्तु उसे ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की ओर मोडे और निरन्तर उसी साधना मे सलग्न रहे जिससे शीघ्र ही कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त होकर निर्वाण पद को पा सके।

'अमराए' पद का अर्थ है—"अमरायतेऽनमर सन् द्रव्ययौवनप्रभुत्वरूपावसक्तोऽमर इवाचरति अमरायते" अर्थात् जो व्यक्ति अपने धन, यौवन, अधिकार और रूप के गर्व मे देव न होते हुए भी आप आपको देव तुल्य मान कर भोगों मे आसक्त रहता है, परिणाम स्वरूप विभिन्न वेदनाओं एव चिन्ताओं का संवेदन करता है। इस बात का 'अट्टमेय तु पेहाए' पद से व्यक्त किया गया है। अत उनकी शारीरिक एव मानसिक पीडाओं को देखकर मुमुक्षु पुरुष को भोगों मे अपने मन को नही लगाना चाहिए।

अब सूत्रकार प्रस्तुत विषय का उपसहार करते हुए कहते हैं—

मूलम्—से तं जाणह जमहं बेमि, तेइच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता छित्ता भित्ता लुम्पइत्ता विलुम्पइत्ता उद्दवइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मन्नमाणे, जस्सवि य णं करेइ, अलं बालस्स संगेणं, जे वा से कारइ बाले, न एवं अणगारस्स जायइ, त्तिबेमि ॥९६॥

छाया—तचद् जानीत यदहं ब्रवीमि चिकित्साँ (काम चिकित्सां) पण्डितः प्रवदन् स हन्ता, छेत्ता भेत्ता, लुम्पयिता विलुम्पयिता, अपद्रावयिता अकृतं करिष्ये इति मन्यमानः यस्यापि च यत् करोति अलं बालस्य संगेन यो वा एतत् कारयति बालः न एमवनगारस्य जायते इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह। तं—अतः। जं—जो। अहं—मैं। बेमि—कहता हूँ, उसको। जाणह—जानो। पंडिए—पाडित्याभिमानी जन। तेइच्छ—कामचिकित्सा को। पवयमाणे—कहता हुआ। से—वह फिर। हंता—जीवो का हनन करता है। छित्ता—छेदन करता है। भित्ता—भेदन करता है। लुपइत्ता—लुम्पन करना है। विलुम्पइत्ता—विलुम्पन करता है। उद्दवइत्ता—प्राणो का नाश करता है। अकड—अकृत कार्य। करिस्सामित्ति—मैं करूंगा इस प्रकार। मन्नमाणे—मानता हुआ। जस्सवि—जिसकी भी। करेइ—काम चिकित्सा करता है। अपि— अपनी तथा अन्य और दोनो की करता है, ऐसा जानना। च और णं का अर्थ पूर्व की भाति समझना। अलं बालस्स संगेणं —बालक के सँग से अल पर्याप्त है अर्थात् उसका सग नही करना चाहिए। वा—अथवा। से—वह। बाले—बाल अज्ञानी जन जो। करेइ—काम चिकित्सा करवाता है, उससे भी। अल-बस। एवं—इस प्रकार की क्रियाओ का अनुशासन करना। अणगारस्स—अनगार साधु को। न—नही। जायइ—कल्पता है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ-जो मै कहता हू उसको जानो तथा धारण करो, कामचिकित्साका उपदेशक पाडित्याभिमानो व्यक्ति, जोवों का हनन करता है, छेदन करता है, भेदन करता है, लूटता है, गला काटता है और प्राणों का विनाश करता है, और मै अकृत जिसे अभी तक किसी ने नही किया है, ऐसा काम करूगा, इस प्रकार मानता हुआ अपनी वा पर की अथवा दोनो की चिकित्सा करता है। इस प्रकार कामचिकित्सा वा व्याधिचिकित्सा

करने वाले बाल-अज्ञानो जीवो का सग नही करना चाहिए -। अत. इन क्रियाओ के अनुष्ठान मे अनगार को कभी प्रवृत्त नही होना चाहिए इसका तात्पर्य यह है कि अनगार-मुनि को उक्त सदोष क्रियाए करनी नही कल्पती है ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधु को काम एवं रोग चिकित्सा करने का निषेध किया गया है । क्योंकि उक्त चिकित्साओं मे अनेक जीवों की हिंसा होती है, अत साधक को किसी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए । काम चिकित्सा का वात्स्यायन सूत्र मे विस्तृत विवेचन किया गया है। उसमे कामसेवन के त्रिविध आसनों, प्रकाम भोजन एव पौष्टिक ओषधियों का उल्लेख किया गया है। इससे काम-वासना उद्दीप्त होती है और मनुष्य भोग की ओर प्रवृत्त होता है । वस्तुत यह काम की चिकित्सा नहीं, अपितु उसको बढ़ाने वाली है । चिकित्सा का अर्थ है — औषध आदि प्रयोगों से रोग का उपशमन या नाश करना । काम भी एक रोग है और इसका मूल है मोह कर्म। अत मोह कर्म का उपशमन करना या क्षय करना वास्तव में काम चिकित्सा है। परन्तु अक्षरी पांडित्य के अभिमानी भोग प्राप्ति की योग्यता को चिकित्सा का रूप देते हैं । जो वस्तुत' काम के रोग को बढ़ाने वाली है। उस से मोह कर्म की उदीरणा होती है और मनुष्य की भोगेच्छा में अभिवृद्धि होती है। मोह कर्म संसार मे परिभ्रमण कराने वाला है । अत साधु को ऐसी चिकित्सा करना नहीं कल्पता।

इस प्रकार रोग चिकित्सा मे जडी-बूटी आदि से तथा स्वर्ण भस्म आदि रासायिनिक औषधों को बनाने या बनाने की विधि बताने मे पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति एव त्रस प्राणियों की हिसा होती है। और सी प्रवृत्ति मे लगे रहने से आध्यात्मिक चिन्तन मे भी विघ्न उपस्थित होता है । क्योंकि रोगी रात-दिन उसे घेरे रहेंगे, 'अत वह अपनी साधना नहीं कर सकेगा और इसके कारण गृहस्थों मे घनिष्ट परिचय बढने से अन्य दोषों में प्रवृत्ति होना भी सम्भव है। इसलिए साधक को काम एव व्याधि चिकित्सा में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए और न ऐसी चिकित्सा करने वाले बाल-अज्ञानी व्यक्तियों का संसर्ग ही करना चाहिए।

यह प्रश्न हो सकता है कि अपने शरीर मे काम की पीड़ा पीड़ित करने लगे या रोग उत्पन्न हो जाए उस समय क्या करे ? काम की चिकित्सा के लिए वह काम शास्त्र मे प्रयुक्त किसी भी प्रयोग का सेवन न करे। क्योंकि उससे काम

व्याधि को उत्तेजना मिलती है, रोग उपशात न होकर अधिक बढ़ता है। उसके लिए आगमों में बताई गई तप, आतापना स्वाध्याय, ध्यान एवं सेवा-शुश्रूषा की विधि को स्वीकार करके काम-वासना पर विजय प्राप्त करे अर्थात काम के मूल मोह को उन्मूलन करने का प्रयत्न करे।

रोग को उपशांत करने के लिए साधु अपनी मर्यादा के अनुसार चिकित्सा कर भी सकता है या दूसरे से करवा भी सकता है। इसके लिए सावद्यऔषध के त्याग का विधान है, निर्दोष औषध ग्रहण कर सकता है।

इस प्रकार प्रस्तुत उद्देशक मे यह बताया गया है कि साधु को सदोष आहार एव वस्त्र–पात्र, स्थानादि को स्वीकार नहीं करना चाहिए और उक्त निर्दोष वस्तुओं में परिमाण-मर्यादा का ज्ञान होना चाहिए अर्थात् उक्त वस्तुओं को मर्यादा से अधिक न लिया जाए और उनमें आसक्ति एवं ममत्व भाव नहीं रखे। इसके बाद काम—वासना का सर्वथा परित्याग करे। जिनके संसर्ग से काम की वासना एव हिसा की प्रवृत्ति के भावों को उत्तेजना मिलने की संभावना हो, उनका संसर्ग भी नहीं करना चाहिए। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि साधक को आहार, उपधि सम्बन्धी सदोषता आसक्ति एवं भोगेच्छा का सर्वथा त्याग करके निर्विकार एव निर्दोष भाव से संयम साधना में सलग्न रहना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् ही समझें।

॥ पञ्चम उद्देशक समाप्त ॥

द्वितीय अध्ययन लोक-विजय

षष्ठम उद्देशक

पाचवें उद्देशक मे यह बताया गया है कि सयम का सम्यक्तया परिपालन करने के लिए वह आहार आदि का ग्रहण करे, परन्तु उसमे आसक्त नहीं बने। प्रस्तुत उद्देशक मे भी मुख्यतया इसी बात का वर्णन किया गया है कि मुनि को आहार आदि में मूर्छा भाव नहीं रखना चाहिए। प्रस्तुत उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार निम्नोक्त है—

मूलम्—से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय तम्हा पावकम्मं नेव कुज्जा, न कारवेज्जा ॥९७॥

छाया—स तत् संबुद्ध्यमान. आदानीयं समुत्थाय तस्मात् पाप कर्म नैव कुर्यात्, न कारयेत् ।

पदार्थ—से—वह। त—उस चिकित्सा के फल को। सबुज्झमाणे—जानता हुआ आयाणीय—ज्ञान, दर्शन, चारित्र को स्वीकार करे। समुट्ठाय—सयम साधना मे सावधान होकर। तम्हा—इस लिए। पाव कम्म—पाप कर्म को। नेव कुज्जा—न स्वय करे, और न। कारवेज्जा—न अन्य से करावे।

मूलार्थ--वह मुनि चिकित्सा के फल को जानता हुआ ज्ञान, दर्शन और चारित्र को स्वीकार करके, सावधानी पूर्वक सयम का परिपालन करे। किन्तु न तो स्वय पाप कर्म मे प्रवृत्ति करे और न अन्य को पाप कर्म मे प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करे।

हिन्दी विवेचन

पचम उद्देशक के अन्तिम सूत्र में यह बता आए हैं कि काम एवं व्याधि चिकित्सा अनेक दोषों से युक्त है। उसमे अनेक प्राणियों की हिसा होती है और उस से साधु जीवन में अनेक दोषों के प्रविष्ट होने की सभावना रहती है। अत, साधु को उसके दुष्परिणाम को जानकर ज्ञान, दर्शन और चारित्र में प्रवृत्ति

करते हुए समस्त पाप कार्यों से बचकर रहना चाहिए। न स्वयं कोई पाप कर्म करना चाहिए और न अन्य व्यक्ति से पाप कर्म करवाना चाहिए। क्योंकि इससे उसके अन्य महाव्रतों में भी दोष लगता है।

पाचों महाव्रतों का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रहा हुआ है। एक में दोष लगने पर दूसरा दूषित हुए विना नहीं रहता। इसी वात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सिया तत्थ एगयरं विप्परामुसइ छसु अन्नयरंमि कप्पइ, सुहट्ठी लालप्पमाणो, सएण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ, सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वइ, जंसिमे पाणा पव्वहिया, पडिलेहाए नो निकरणयाए, एस परिन्ना पवुच्चइ, कम्मोवसंती ॥६८॥

छाया—स्यात्तत्र एकतरं विपरामृशति षट्स्वन्यतरस्मिन् कल्प्यते सुखार्थी लालप्यमानः स्वकीयेन मूढः विपर्यासमुपैति स्वकीयेन प्रमादेन पृथग् वयं (व्रतं) प्रकरोति यस्मिन् इमे प्राणिनः प्रव्यथिताः प्रत्युपेक्ष्य नो निकरणाय एषा परिज्ञा प्रोच्यते कर्मोपशान्ति ।

पदार्थ—सिया—कदाचित्। तत्थ—उस से। एगयर—किसी एक पृथ्वी आदि काय का। विप्परामुसइ—समारम्भ-किसी एक आस्रव से आरम्भ करता है, तो। छसु—६ काय मे। अन्नयरसि—किसी एक काय का आरम्भ करने पर। कप्पइ—प्राय. ६ काय का आरम्भ हो जाता है। सुहट्ठी—सुखाभिलाषी। लालप्पमाणे—अधिक प्रलाप करता हुआ या अपने मन, वचन और काय को उस क्रिया मे लगाता हुआ। सएण—स्वकीय, दुक्खेण—दु ख से। मूढे—वह मूढ। विप्परियासमुवेइ—विपरीत भाव को प्राप्त होता है, और फिर। सएण—स्वकीय। विप्पमाएण—प्रमाद से। पुढो—पृथक्-पृथक्। वय—वृत का। पकुव्वइ—भेदन करता हैं। जसिमे—इस ससार मे ये। पाणा—प्राणी। पव्वहिया—विभिन्न दु खो से सतप्त एव पीडित होते हैं। पडिलेहाए—ऐसे कर्म फल को जानकर या विचार कर। नो निकरणयाए—जिस से दु ख की अभिवृद्धि होती है, वैसा कर्म न करे। एस—यह। परिन्ना—परिज्ञा पवुच्चइ—कही जाती है, जिससे। कम्मोवसंति—कर्म उपशात हो जाते हैं

मूलार्थ—कई बार ऐसा भी होता है कि एक काय की हिंसा करते हुए ६ काय की हिंसा हो जाती है और एक प्राणातिपात विरमण व्रत का भंग करने से अन्य व्रतो का भी भग हो जाता है। भौतिक सुखाभिलाषी व्यक्ति भोगो के लिए प्रलाप करता है अपने कर्मोदय से मूढता एव विपरीत भाव को प्राप्त होता है। और विभिन्न प्रकार से प्रमाद का सेवन करने से वह व्रतो का भग करता है और परिणाम स्वरूप अनेक योनियो मे परिभ्रमण करता हुआ दु ख का सवेदन करता है। पाप कर्म मे सलग्न प्राणी विभिन्न दु खो को भोगते है। अत साधक को पाप कर्म का कभी भी सेवन नही करना चाहिए। यही तेजस्वी एव शक्तिशाली प्रतिज्ञा है, इस से कर्मो का सर्वथा क्षय हो जाता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे यह वताया गया है कि एक काय की हिसा से ६ काय की हिसा भी हो जाती है। इसका विस्तृत विवेचन प्रथम अध्ययन में कर चुके हैं। यहां यह विशेष रूप से वताया गया है कि जैसे एक काय की हिसा से ६ काय की हिंसा होती है, उसी प्रकार एक महाव्रत के भंग होने पर शेष महाव्रत भी भंग हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि पांचों महाव्रत एक-दूसरे से संवद्ध हैं। और एक दूसरे पर आधारित हैं। जैसे साधु किसी प्राणी की हिंसा करता है तो वह केवल अहिसा व्रत से ही च्युत नहीं होता है, अपितु अन्य व्रतों से भी गिरता है। उसकी हिंसा नहीं करने की प्रतिज्ञा असत्य हो गई, इस लिए उसका दूसरा व्रत दूषित हो जाता है। और जीव की विना आज्ञा उसके प्राणों का अपहरण करने रूप चोरी करता है। जो व्यक्ति हिसा के कार्य में प्रवृत्त होता है, वह किसी कामनावश होता है और कामना-वासना अब्रह्मचर्य है और उस सजीव प्राणी को ग्रहण करने रूप परिग्रह तो है ही। इस प्रकार जो साधु झूठ वोलता है, वह व्यक्ति के मन को आघात पहुंचाने रूप हिंसा करता है, वीतराग आज्ञा का उल्लंघन रूपी चोरी करता है। यह झूठ भी किसी कामना-वासना एवं आसक्तिवश वोलता है। इसलिए चौथा एवं पांचवा महाव्रत भी भंग हो जाता है। इसी प्रकार अन्य व्रतों के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक व्रत में दोष लगने से, शेष व्रत भी दूषित हो जाते है।

प्रश्न—फिर मनुष्य पाप कर्म मे क्यों प्रवृत्त होते हैं ?

वात तो ठीक है। परन्तु इसका कारण यह है कि मनुष्य अपने सुख के लिए या यों कहिए कि अपने स्वार्थ को साधने के लिए पाप कम मे प्रवृत्त होता है। जव मनुष्य के जीवन मे स्वार्थ की भावना जागृत होती है उस समय वह ससार के प्राणियों के हित को तो क्या अपने हित को भी भूल जाता है। पदार्थों एवं भौतिक सुखों का मोह एवं तृष्णा मनुष्य की हिताहित की दृष्टि को आवृत्त कर लेती है। वह सव कुछ जानते हुए भी मूढ़ वन जाता है। इसके लिए एक उदाहरण दिया जाता है—

एक राजा को भयंकर रोग हो गया। कई राजवैद्यों से चिकित्सा कराने पर भी वह स्वस्थ नहीं हो पाया। एक अनुभवी वैद्य को वुलाया, उसने राजा के रोग को शात कर दिया और साथ मे यह भी कह दिया कि इस रोग का मूल कारण आम्र-फल है। अत· यदि आप स्वस्थ एवं कुछ दिन जीवित रहना चाहते हैं, तो कभी भी आम न खाएं। राजा ने स्वीकार कर लिया। समय वीतता चला गया, एक दिन राजा उद्यान में घूम रहा था। आम की मौसम थी। आमके वृक्षों की शाखाएं मधुर पक्के फलों से लदी हुई विनम्र शिष्य की भाति झुक रही थीं। आम्र फलों की मधुर सुवास चारों ओर फैल रही थी। फलों की सुवास एव उनके सौंदर्य को देखकर राजा का मन ललचा गया। मत्री ने उसे रोकना भी चाहा, परन्तु तृष्णा ने राजा के मन पर अधिकार जमा लिया था। अत· सव के उपदेश को ठुकराकर वह आम खा ही गया और उसका परिणाम महावेदना के रूप में प्रकट हुआ और उसने राजा के प्राण भी ले लिए।

कहने का तात्पर्य यह है कि स्वार्थ, तृष्णा एवं मोह के वश मनुष्य अपना हित भी भूल जाता है। तो ऐसी स्थिति मे दूसरों के हित को देखने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसी कारण क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि दोषों मे आसक्त व्यक्ति को भी अंधा कहा गया है। उनके वाहिरी आख तो रहती है, परन्तु आत्म-ज्ञान पर मोह, अज्ञान एवं कषायों का गहरा अवगुण्ठन पड़ा रहने से वह हिताहित को नहीं देख पाता। इस लिए वह पाप कार्य मे प्रवृत्त होता है।

'लालप्पमाणे' का अर्थ है— वार-वार प्रवृत्ति करना 'विप्परियासमुवेइ' का अर्थ है— 'हितमप्यहितवुद्ध्याऽधिष्ठत्यहित च हितवुद्ध्येति' अर्थात् हित के कार्य को अहितकर एव अहित के कार्य को हितप्रद समझना। इसे वुद्धि की विपरीतता भी कहते है। 'पुढो वय पकुव्वइ, पृथग्-विभिन्न व्रतं करोति यदि वा-का तात्पर्य यह है—पृथु- विस्तीर्ण 'वयमिति वयन्ति पर्यटन्ति प्राणिन स्वकीयेनकर्मणा यस्मिन् स वय —ससारस्त करोति, तथा वय. अवस्था विशेष·" अर्थात् यह जीव व्रत का भंग करता है और परिणामस्वरूप ससार मे परिभ्रमण

करता है।

इसका निष्कर्ष यह निकला कि प्रमाद के वश मनुष्य अपने पथ से भटक जाता है और विभिन्न दुष्कार्यों में संलग्न होता है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को प्रमाद का त्याग करके सयम में प्रवृत्त होना चाहिए। जिसके कारण वह सारे कर्मों को क्षय करके पूर्ण सुख को प्राप्त कर सके।

व्यक्ति सुख-दुःख जो कुछ भी पा रहा है, वह स्वकृत कर्म का फल है। स्वय प्रमाद एवं आसक्ति का सेवन करके ही वह मूढ भाव को प्राप्त होता है। अत सबसे पहिले आसक्ति, ममत्व एवं मूर्छा भाव का त्याग करना चाहिए। इसका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे ममाइयमइं जहाइ से चयइ ममाइयं, से हु दिट्ठपहे मुणी जस्स नत्थि ममाइयं, तं परिन्नाय मेहावी विइत्ता लोगं वंता लोगसन्नं से मइमं परिक्कमिज्जासि त्तिबेमि ॥

नारइं सहइ वीरे, वीरे न सहइ रतिं ।
जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे न रज्जइ ॥६६॥

छाया—यो ममायित मतिं जहाति, स त्यजति ममायितं, स खलु दृष्ट-पथः मुनिः यस्य, नास्ति ममायितं, तं परिज्ञाय मेधावी विदित्वा लोकं वांत्वा लोके संज्ञां स मतिमान् प्राक्रमेत, इति ब्रवीमि।

नारतिं सहते वीरः, वीरो न सहते रतिं ।
यस्माद् अविमनो वीरः, तस्माद् वीरो न रज्यति ॥१॥

पदार्थ—जे—जो। ममाइयमइं—ममत्व बुद्धि को। जहाइ—छोडता है। से-वह। ममाइय—स्वीकृत परिग्रह को। चयइ—छोडता है। से—वह। हु-निश्चय ही। मुणी—मुनि। दिट्ठपहे—मोक्ष पथ को देखने वाला है, तथा। जस्स—जिसके। ममाइयं—स्वीकृत परिग्रह नत्थि—नही है, तथा। तं—उस परिग्रह के स्वरूप को। परिन्नाय—जानकर। मेहावी—बुद्धिमान्, फिर। विइत्ता—जानकर। लोगं—लोक को। लोगसन्नं—लोक सज्ञा को। वंता—वमन कर जो विचरता है। से—वह है। मइमं—मतिमान्। परिक्कमिज्जासि—संयमानुष्ठान मे

पराक्रम करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

वीरे—वीर पुरुष। **अरइ**—सयम मे अरति को। **न सहइ**—सहन नही करता। और फिर। **वीरे**—वीर पुरुष। **रतिं**—असयम मे रति को। **नसहइ**—सहन नहीं करता। **जम्हा**—जिससे। **वीरे**—वीर पुरुष का। **अविमणे**—मन दूषित न हो। **तम्हा**—इसलिए। **वीरे**—वीर पुरुष। **न रज्जइ**—शब्दादि विषय एव परिग्रह मे मूर्छित नही होता है।

मूलार्थ—जो व्यक्ति ममत्व भाव का परित्याग करता है, वह स्वीकृत परिग्रह का त्याग कर सकता है। जिसके मन मे ममत्व भाव नही है वह मोक्ष मार्ग का द्रष्टा है। अतः जिसने परिग्रह के दुष्परिणाम को जानकर उसका त्याग कर दिया है, वह बुद्धिमान है। क्योकि जो लोक के स्वरूप को जानकर लोक सज्ञा का त्याग करता है, वही प्रबुद्ध पुरुष संयम साधना मे पुरुषार्थ करता है।

वीर पुरुष सयम में अरति और असयम मे रति का सहन नही करते। वे रति-अरति दोनो का त्याग करते है। इसलिए वीर पुरुष शब्दादि विषयो मे आसक्त नही होते।

हिन्दी विवेचन

मुनि के लिए यह आवश्यक है कि वह परिग्रह का सर्वथा त्याग करे। पूर्ण अपरिग्रही व्यक्ति ही मुनित्व को स्वीकार कर सकते हैं। और इसके लिए—पूर्ण अपरिग्रही बनने के लिए केवल बाह्य पदार्थों का त्याग करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उनकी ममता, आसक्ति एव मूर्छा का परित्याग करना आवश्यक है। हम यो भी कह सकते हैं कि ममत्व का त्याग करने पर ही व्यक्ति अपरिग्रह की ओर बढ सकता है। जब तक पदार्थों की लालसा, भोगेच्छा एवं आसक्ति मन में चक्र काट रही है, तब तक बाह्य पदार्थों का त्याग कर देने पर भी उसे अपरिग्रही या त्यागी नहीं कहा है। आगम मे स्पष्ट शब्दों मे कहा है—"कि जो साधक वस्त्र, सुगंधित पदार्थ, पुष्पमाला, आभूषण, स्त्री आदि का उपभोग करने मे स्वतन्त्र नहीं है या उसे ये साधन उपलब्ध नहीं हैं; परन्तु उसके मन में भोगेच्छा अवशेष है तो वह त्यागी नहीं कहा जा सकता है। त्यागी वही कहला सकता है, जो कंतकारी, प्रियकारी प्राप्त भोगों को भोगने में स्वतन्त्र एवं समर्थ होते हुए भी उनका एवं उनकी वासना का

त्याग कर देता है॥ ।

इससे स्पष्ट होता है कि आसक्ति का त्याग करने वाला व्यक्ति ही परिग्रह का त्याग कर सकता है। अत साधक के लिए यह आवश्यक है, कि वह पहिले आसक्ति के कारणों का परिज्ञान करे। इसमें यह बताया गया है कि लोक से आहार, वस्त्र आदि भोग्य पदार्थो की इच्छा-आकाक्षा मन मे जाग-सकती है। अत मुनि को लोक-सज्ञा का परित्याग करके सयम मे सलग्न रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र मे उल्लिखित गाथा के चारों पदों मे 'वीर' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि संयम साधना में अरति का, असयम मे रति का, मन में अमध्यस्थ भाव का, और शब्दादि विषयों मे आसक्ति उत्पन्न होने का, प्रसग उपस्थित होने पर भी जो अपने मन को, विचार को एवं आत्मा को उस प्रवाह मे नहीं बहने देता, वही वास्तव मे वीर है। योद्धा का वीरत्व तभी माना जाता है, जब वह बलवान शत्रु के बाणों के प्रवाह मे, भीषण बम वर्षा मे भी अपने मार्ग को छोडकर नहीं भागता, अपितु शत्रु को परास्त करके छोड़ता है। इसी प्रकार विषय-वासना एव कषायों के प्रबल झोकों मे भी जो लड़खड़ाता नहीं, उसे ही वीर कहा गया है। और ऐसे सयमनिष्ठ साधक का बार-बार वीर शब्द का प्रयोग करके आदर-सत्कार किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'दिट्ठपहे' पद भी इस अर्थ को परिपुष्ट करता है। इसका अर्थ है—दृष्टो ज्ञानादिको मोक्षपथो येन स दृष्टपथ" जिस व्यक्ति ने ज्ञानादि रूप मोक्ष-मार्ग को सम्यक्तया देख लिया है, उस मुनि को दृष्टपथ कहा गया है। यदि इसे 'दृष्ट भय' पढा जाए तो इसका अर्थ होगा— सात भय का परिज्ञान करके उनकी उत्पत्ति के मूल कारण परिग्रह का जिसने त्याग कर दिया है।

'मइम' का अर्थ है—बुद्धिमान्। अर्थात् जिसमे सत्-असत् को समझने की बुद्धि है। इससे यह सिद्ध होता है कि विचारशील एव विवेकवान व्यक्ति सयम से प्रतिकूल परिस्थितियों एव वातावरण के उपस्थित होने पर भी अपने ध्येय से विचलित नहीं होता, वह समस्त विकारों पर विजय पा लेता है, इसलिए उसे वीर शब्द से सबोधित किया गया है।

॥ वत्थगन्धमलकार इत्थिओ सयणाणि य। अच्छन्दा जे न भुञ्जन्ति न से चाइत्ति वुच्चइ ॥
जे य कन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ। साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥
—दशवैकालिक २, २,३।

'वीर' शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ यह है— "विशेषेणेरयति—प्रेरयति अष्ट प्रकार कर्म्मारिषड्वर्गं वेति वीर." अर्थात् जो आठ प्रकार के कर्मों को आत्मा से सर्वथा पृथक् करता है अथवा काम-क्रोध आदि ६ आंतरिक शत्रुओं को परास्त करता है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि वीर पुरुष ही निर्वाण पद को प्राप्त कर सकता है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सद्दे फासे अहियासमाणे, निव्विंद नंदिं इह जीवियस्स।
मुणि मोणं समायाय, धुणे कम्मसरीरगं ॥२॥
पंतं लूहं सेवंति वीरा संमत्तदंसिणो।
एस ओहंतरे मुणी, तिन्ने मुत्ते विरए वयाहिए ॥३॥
त्तिबेमि ॥१००॥

छाया—शब्दान् स्पर्शान् अध्यासमानः सम्यक् सहमानः, निर्विंदस्व नन्दिमिह जीवितस्य मुनिर्मौनं समादाय धुनीयात् कर्म शारीरिकं प्रान्तं रूक्षं सेवन्ते वीराः। सम्यक्त्व दर्शिनः एष ओघंतरो मुनिस्तीर्णमुक्तः विरत व्याख्यातः इति ब्रवीमि

पदार्थ—सद्दे—शब्द। फासे—स्पर्श को। अहियासमाणे—सम्यक् प्रकार से सहता हुआ, हे शिष्य! निव्विंद—तू निवृत्त हो। नंदि—राग और द्वेष से, तथा। इह—इस मनुष्य लोक में। जीवियस्स—असंयम मय जीवन के सम्बन्ध से। नंदि—राग से निवृत्त हो। मुणीमोण समायाय—यही मुनि का मौन भाव है, इसी को ग्रहण करके। धुणे कम्म सरीरग—कर्म शरीर और औदारिक शरीर को धुन देवे। पंतं—तथा जो स्वाभाविक रस रहित वा स्वल्प। लूहं—राग रहित रूक्षाहार। सेवन्ति—सेवन करते हैं। वीरा—वीर पुरुष। सम्मत्तदंसिणो—सम्यक्त्वदर्शी वा परमार्थके देखने वाले। एस—यह। मुणी—मुनि। ओहंतरे—भवौघ संसार-सागर को तैरता है, तथा। तिन्ने—संसार समुद्र को पार कर जाता है, तथा। मुत्ते—परिग्रह से मुक्त हुआ। विरए—विषयादि से विरक्त हुआ। वियाहिए—कहा गया। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू शब्द और स्पर्श आदि को सम्यक्तया सहन करता हुआ राग और द्वेष से रहित हो, तथा असंयम जीवन के संबन्ध

मे हर्ष मत कर, हे मुने ! तू मौन भाव को ग्रहण करके कार्मण शरीर को धुन दे। समदर्शी आत्माए प्रांत और रूक्ष आहार का सेवन करती हैं, वे ही वीर है यह मुनि ससार सागर को पार कर गया, अत उसे तीर्ण, मुक्त विरत कहा गया है, इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को शब्दादि विषयों को भली-भांति जानकर उनमे आसक्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि उनमें आसक्त होने से अनुकूल विषयों पर राग-भाव और प्रतिकूल विषयों पर द्वेष भाव आना स्वाभाविक है और राग-द्वेष ही कर्म बन्ध के मूल कारण हैं। यह बात ठीक है कि मनुष्य के सामने, जहा तक साधक के सामने भी ये विषय आते हैं, अनुकूल एवं प्रतिकूल शब्द, गंध, रूप, रस और स्पर्श का सयोग भी मिलता रहता है। अत इसका यह अर्थ नहीं है कि साधु कान-आख आदि बन्द करके चले या बैठा रहे। विषयों से बचने का तात्पर्य इतना ही है कि उनमें आसक्त न हो, अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी प्रकार के विषयों की ओर ध्यान न दे। अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी प्रकार का प्रसग उपस्थित होने पर समभाव का त्याग न करे, अर्थात् विषमता के प्रवाह मे न बहे।

इसलिए यह आदेश दिया गया है कि मुनि विषयों मे राग-द्वेष न करे। यही उसका मौन है। वस्तुत देखा जाए तो मौन का अर्थ केवल नहीं बोलना ही नहीं है। नहीं बोलना, यह व्यवहारिक या द्रव्य मौन है। इसमे केवल शब्द के विषय-भाषा को रोका जाता है, उसमे भी बोलने पर ही प्रतिबन्ध है, न कि सुनने पर भी। श्रोत्र-इंद्रिय की प्रवृत्ति द्रव्य मौन मे खुली रहती है, अत मौन का यथार्थ अर्थ है—शब्दादि विषयों मे राग-द्वेप नही करना। क्योंकि कर्म बन्ध राग-द्वेष से होता है। केवल इन्द्रियों के साथ शब्दादि विषयों का सम्बन्ध होने मात्र से कर्म का बन्ध नहीं होता है, जब तक कि उसके साथ राग-द्वेष की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए साधक को राग-द्वेप से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

इससे यह होगा कि राग-द्वेप से निवृत्त हो जाने पर नए कर्मों का बन्ध नहीं होगा और पुराने कर्म की निर्जरा करके वह कार्मण शरीर को ही नष्ट कर देगा, जिस के आधार पर जीव औदारिक आदि शरीर धारण करता है और विभिन्न योनियों मे भटकता फिरता है। ससार का सारा खेल कर्म पर ही आधारित है, उसका नाश होने पर खेल की समाप्ति स्वतं ही हो जायगी। नींव उखाड फैंकने पर गगन चुम्बी

भवनों का स्थित रहना नितात असंभव है। इसी प्रकार कर्म का उन्मूलन ही संसार का उन्मूलन है। और उसके लिए कर्म के मूल कारण राग-द्वेष को समाप्त करना आवश्यक है। अत मुनि को चाहिए कि वह विषयों से सदा मौन रहे अर्थात् राग-द्वेष से निवृत्त होने का प्रयत्न करे। यही कर्मों को नष्ट-विनष्ट करने का प्रशस्त मार्ग है।

'समत्तदसिणो—पाठ भी इसी बात को पुष्ट करने के लिए दिया है। जो समदर्शी है—अनुकूल एव प्रतिकूल विषयों के उपस्थित होने पर भी जिसकी दृष्टि मे विषमता नहीं आती, वही वीर पुरुष कर्म की विषाक्त लता को निर्मूल कर सकता है। अत: हम कह सकते हैं कि संसार-सागर को पार करने के लिए समता की नौका को स्वीकार करना अनिवार्य है। समभाव की साधना जितनी विकसित होती जाएगी, उतना ही राग-द्वेष कम होता जाएगा और राग-द्वेष के घटने का अर्थ है—संसार का घटना। जब हमारी आत्मा मे समभाव की पूर्ण ज्योति प्रज्वलित हो उठेगी, तो राग-द्वेष का अस्तित्व भी समाप्त हो जाएगा और उसके साथ संसार का भी अन्त ही समझिए।

अत मुनि को चाहिए कि वह परिग्रह एव विषयों की आसक्ति का परित्याग करे। क्योंकि आसक्ति मे परिणामों एव विचारों मे विषमता आती है, राग-द्वेष के भाव उद्बुद्ध होते हैं। इसलिए उसके मूलकारण आसक्ति का त्याग करने वाला साधक ही बाह्य परिग्रह से भी निवृत्त होता है और एक दिन समस्त कर्मों एवं कर्म जन्य साधनों से मुक्त होकर निर्वाण पद को प्राप्त करता है। 'ब्रवीमि' का अर्थ पूर्ववत समझना चाहिए।

जो व्यक्ति परिग्रह एव विषयों की आसक्ति से मुक्त एवं विरत नहीं हुआ है, उसकी क्या स्थिति होती है? इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—दुव्वसुमुणी अणाणाए, तुच्छए गिलाइ वत्तए, एस वीरे पसंसिए, अच्चेइ लोयसंजोगं, एस नाए पवुच्चइ ॥१०१॥

छाया—दुर्वसुमुनिः अनाज्ञया तुच्छः ग्लायति वक्तुम् एष वीरः प्रशंसितः अत्येति लोकसंयोगं एष न्यायः प्रोच्यते।

एस — यह । नाए — न्याय-सगत । पवुच्चइ — कहा जाता है ।

मूलार्थ — जो साधक मोक्षमार्ग पर गति करने के योग्य नही है, वह आज्ञा से बाहिर है और ज्ञानादि से भी रहित है। अतः वह शुद्ध मार्ग की प्ररुपणा करने मे ग्लानि का अनुभव करता है। परन्तु प्रवुद्ध साधक वास्तविक मार्ग को वताने मे नही सकुचाता। इसलिए वह वीर प्रशसनीय है और वह लोक के सयोग से भी मुक्त हो जाता है। ऐसा कहना न्याय सगत कहा जाता है।

हिन्दी विवेचन

आगम मे कहा गया है कि 'आणाए धम्म' अर्थात् भगवान की आज्ञा में धर्म है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि आज्ञा मे कौन है ?

इसी प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि जो मोक्ष के योग्य है, वही भगवान की आज्ञा मे है। मोक्ष की योग्यता सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र पर आधारित है। इससे स्पष्ट हो गया कि जिस व्यक्ति को सम्यग् ज्ञान का आलोक नहीं, वह अज्ञान के अन्धकार मे इधर-उधर टकराता फिरेगा, किन्तु मोक्ष मार्ग पर गति नहीं कर सकेगा। क्योंकि उसे उस मार्ग का ज्ञान ही नहीं और जब ज्ञान ही नहीं तब उस पर चलने का तो प्रश्न ही नही उठता इसलिए यह कहा गया कि सम्यग् ज्ञान से रहित व्यक्ति भगवान की आज्ञा में नहीं है और ज्ञानाभाव के कारण ही वह शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा करने मे हिचकिचाता है। इसके विपरीत ज्ञानसंपन्न व्यक्ति भगवान की आज्ञा मे है, क्योंकि वह भगवान द्वारा प्ररूपित शुद्ध मार्ग पर चलने एवं उसकी प्ररूपणा करने मे सकुचाता नहीं है। अत भगवान को आज्ञा मे प्रवर्त्तने वाला साधक ही मोक्ष मार्ग के योग्य है। इस मार्ग को न्याय मार्ग भी कहा गया है। क्योंकि ससार संबन्ध का त्याग करने वाला मुनि ही इसे स्वीकार करता है।

'दुव्वसुमुणी-दुर्वसुमुनि' का अर्थ है—भव्यजीव मुक्ति के योग्य है। क्योंकि 'वसु' का अर्थ द्रव्य माना है और भव्य सज्ञक जीव द्रव्य ही मुक्ति योग्य है। अत. अभव्य जीव को 'दुर्वसुमुनि' कहा है। कारण कि उस में मोक्ष जाने की योग्यता नहीं अर्थात् साधुवेश ग्रहण कर लेने पर भी मोक्ष के आधारभूत सम्यग् ज्ञान आदि

का अभाव होने से वह मोक्ष के अयोग्य है। ❀और इसी कारण वह शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा नहीं कर सकता।

इससे स्पष्ट है कि ज्ञान युक्त व्यक्ति ही इस पथ पर चल सकता है और इसका उपदेश देकर दूसरों को भी सन्मार्ग बता सकता है। इस लिए उपदेश का भी महत्व माना गया है। उपदेश के महत्व को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जं दुक्खं पवेइयं इह माणवाणं तस्स दुक्खस्स कुसला परिन्नमुदाहरंति, इइ कम्मं परिन्नाय सव्वसो जे अणन्नदंसी से अणन्नारामे जे अणारामे से अणन्नदंसी, जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ, जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ ॥१०२॥

छाया—यद् दुःखं प्रवेदितमिह मानवानां तस्य दुःखस्य कुशलाः परिज्ञामुदाहरन्ति, इति कर्म परिज्ञाय सर्वशो योऽनन्यदर्शी सोऽनन्यारामो योऽनन्यारामः स अनन्यदर्शी यथा पुण्यवतः कथ्यते तथा तुच्छस्य कथ्यते यथा तुच्छस्य कथ्यते तथा पुण्यवतः कथ्यते।

पदार्थ—जं—जो। दुक्ख—दुःख का कारण। पवेइय—प्रतिपादन किया है। इह—इस संसार मे। माणवाणं—जीवो को। तस्स—उस। दुक्खस्स—दुःख रूप कर्म को। कुसला—निपुण पुरुष। परिन्नमुदाहरंति—ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर इस प्रकार कहते है। इइ कम्म—इस प्रकार कर्म को। परिन्नाय—जान कर सव्वसो—सर्व प्रकार से। जे—जो। अणन्नदसी—यथावस्थित पदार्थों को देखने वाला है। से—वह। अणन्नारामे—मोक्ष मार्ग के विना अन्यत्र रमण नही करता। जे—जो। अणन्नारामे—मोक्ष मार्ग के विना अन्यत्र नही रमता है। से—वह। अणन्नदसी—अनन्यदर्शी—यथार्थ दर्शी है। जहा—जैसे। पुण्णस्स—पुण्यवान् के आगे। कत्थइ—धर्म कथादि कहता है। तहा—उसी प्रकार

❀ वसु—द्रव्यम्, एतच्च भव्येऽर्थे व्युत्पादितं 'द्रव्य च भव्य' इत्यनेन, भव्यश्च-मुक्ति-गमनयोग्य, ततश्च मुक्तिगमनयोग्यं यद्द्रव्य तद्वसु, दुष्ट वसु दुर्वसु दुर्वसु चासौ मुनिश्च दुर्वसुमुनि.—मोक्षगमनायोग्य।

—आचाराग वृत्ति।

तुच्छस्स—निर्धन के आगे । कत्थइ—कहता है, फिर । जहा—जैसे । तुच्छस्स—निर्धन के आगे । कत्थइ—कहता है । तहा—वैसे ही । पुण्णस्स—पुण्यवान के आगे । कत्थइ—कहता है । (केवल समभाव और निर्जरा के लिए ही उक्त दोनो के आगे धर्म कथादि कहता है) ।

मूलार्थ—इस ससार मे जावो के लिए, जो दुःख के कारण बताए गए है, कुशल पुरुष उनका परिज्ञान करके त्याग कर देता है। इस प्रकार वह कर्म के स्वरूप को जानकर उससे छूट जाता है। जो यथार्थ द्रष्टा है वह मोक्ष पथ के अतिरिक्त अन्यत्र रमण नही करता। और जो मोक्ष-मार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र नही रमता है, वही अनन्यदर्शी यथार्थ द्रष्टा है। अतः वह जैसे ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति का धर्मोपदेश देता है, मोक्ष मार्ग का पथ बताता है, उसी प्रकार निर्धन व्यक्ति को भो उपदेश देता है। जिस भाव से निर्धन को उपदेश देता है, उसी भाव से ऐश्वर्यवान् को भी उपदेश देता है। तात्पर्य यह है कि उसकी उपदेश धारा मे प्राणी मात्र के प्रति समभाव एव हित बुद्धि रही हुई है, उसमे बडे-छोटे का भेद नही रहता।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि जो साधक कुशल-बुद्धिमान है, वह ससार मे उपलब्ध होने वाले दु खों के कारण को जानकर उस मार्ग का परित्याग कर देता है। इस प्रकार वह दु खों एवं कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। फिर ऐसे व्यक्ति का मन संसार में नहीं लगता। वह संसार से ऊपर उठ जाता है। इसी बात को सूत्रकार ने इन शब्दों में व्यक्त किया है कि "जो अनन्यदर्शी है वह अनन्याराम है और जो अनन्याराम है वह अनन्यदर्शी है।" इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जो यथार्थ द्रष्टा है—संसार एवं आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानता-पहचानता है, वह मोक्ष मार्ग से अन्यत्र गति नहीं करता। क्योंकि उसका लक्ष्य, उसका ध्येय आत्मा को समस्त कर्म बन्धनों से मुक्त-उन्मुक्त करना है। इसलिए उसके पग उसी पथ पर ही उठेंगे। जिसके पग उस मोक्ष—पथ पर बढ़ रहे हैं तो समझना चाहिए कि वह यथार्थ द्रष्टा है। इससे यह बात सिद्ध की है कि सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र का समन्वय ही मोक्ष मार्ग है। उक्त त्रिपथ की समन्वित साधना ही से आत्मा समस्त

दुःखों से सर्वथा छुटकारा पा सकता है। यह ठीक है कि इस सूत्र में दर्शन और चारित्राचार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। परन्तु ज्ञान और दर्शन दोनों सहभावी हैं। विना ज्ञान के दर्शन, दर्शन के विना ज्ञान का अस्तित्व नहीं रहता है। इसलिए 'अनन्यदर्शी और अनन्याराम' के द्वारा ज्ञान, दर्शन, और चारित्र की समन्वित साधना से ही निर्वाण पद बताया गया है।

इसलिए साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह पहिले कर्मों के स्वरूप को जाने। क्योंकि दुःख के मूल कारण कर्म ही हैं। अतः उनके स्वरूप का बोध हुए विना उनका त्याग कर सकना कठिन है। यह प्रश्न हो सकता है कि कर्मों का स्वरूप किस प्रकार जाना जाए? इसके लिए आगम मे बताया गया है—कर्म की मूल प्रकृतियें आठ है। और उनका चार प्रकार से बन्ध होता है—१— प्रकृतिबन्ध, २—स्थितिबन्ध, ३—अनुभागबन्ध और ४— प्रदेशबन्ध। इनके स्वरूप को समझने से कर्म का स्वरूप भलीभांति समझ में आ जाता है*।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अणन्नदसी और अणन्नारामे' पाठ की व्याख्या इस प्रकार की गई है- "अन्यद्द्रष्टृशीलमस्येत्यन्यदर्शी यस्तथा नासावनन्यदर्शी—यथावस्थितपदार्थद्रष्टा, कश्चैव भूतो? यः सम्यग्दृष्टिर्मौनीन्द्रप्रवचनाविर्भूततत्त्वार्थो, यश्चानन्यदृष्टिः सोऽनन्यारामो—मोक्षमार्गादन्यत्र न रमते।" अर्थात् जो व्यक्ति यथार्थ द्रष्टा होता है, वह जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित सिद्धात के अतिरिक्त अन्यत्र रमण नहीं करता और जो अपने चिन्तन-मनन, विचारणा एवं आचरण को अन्यत्र नहीं लगाता वही तत्त्वदर्शी है, परमार्थदर्शी है। और ऐसे ही तत्त्वदर्शी पुरुष तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित मोक्ष मार्ग का पथ बता सकते हैं, यथार्थ उपदेश दे सकते है। क्योंकि उनके उपदेश में समभाव की प्रमुखता रहती है। वे महापुरुष समदर्शी होते है। उनके मन मे धनी, निर्धन का, छूत-अछूत का, पापी-धर्मी का कोई भेद नहीं होता। उनका ज्ञान-प्रकाश उनकी उपदेश धारा किसी व्यक्ति विशेष, जाति विशेष, संप्रदाय विशेष, वर्ग विशेष के बन्धनों से आबद्ध नहीं होती। वे जिस विशुद्ध भाव से एक ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति को उपदेश देते हैं, उसी भाव से घर-घर की खाक छानने वाले भिखारी को भी देते हैं। और जिस भाव से एक निर्धन को देते है, उसी भाव से एक धनी को देते हैं। ऐसा नहीं कि गरीब को जो कुछ मन मे आया, वह कह दिया और सेठ जी के आते ही ज़रा चिकनी-चुपड़ी बाते बनाने लगे। आगम में अनाथी मुनि का उदाहरण आता

* इस विषय मे विशेष जानकारी करने के लिए पाठक मेरे द्वारा लिखित 'जीव कर्म सम्वाद' निबन्ध पढ़ें।

है। वे उस युग के एक महान् ऐश्वर्य सम्पन्न एवं शक्तिशाली सम्राट श्रेणिक को भी अनाथ कहते हुए नहीं हिचकिचाते और निर्भयता के साथ श्रेणिक की अनाथता को सिद्ध कर देते है। जिसे श्रेणिक स्वयं स्वीकार कर लेता है। उस महामुनि ने केवल श्रेणिक की अनाथता नहीं बताई थी, अपितु समस्त पूञ्जीपतियो के धन-सम्पत्ति और राजाओं के ऐश्वर्य एवं सैनक शक्ति के मिथ्याभिमान एव अहकार को अनावृत्त करके रख दिया था। तो कहने का तात्पर्य यह है कि भव्य प्राणियों को सन्मार्ग पर लाने के लिए वे यथार्थ द्रष्टा कभी भी छोटे-बडे का भेद नहीं करते। वे सबको समान भाव से उपदेश देते है।

उपदेष्टा को सबके प्रति समभाव रखना चाहिए, उसके मन मे भेद भाव नहीं होना चाहिए। परन्तु इसके साथ उसे परिषद् अर्थात् श्रोताओं की योग्यता परिस्थिति एवं वहा के देश काल का भी ज्ञान होना चाहिए। यदि उसे इन बातों का पूरा-पूरा बोध नहीं है, तो उससे अहित होने की भी सभावना हो सकती है। अत उपदेष्टा कैसा होना चाहिए, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अवि य हणे अणाइयमाणे; इत्थंपि जाण सेयंति नत्थि, केयं पुरिसे कं च नए ?, एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे परिमोयए, उड्ढं अहं तिरियं दिसासु, से सव्वओ सव्वपरिन्नाचारी, न लिप्पइ छणपएणं वीरे, से मेहावी अणुग्घायणखेयन्ने, जे य बन्ध पमुक्खमन्नेसी कुसले पुण नो बद्धे नो मुक्के ॥१०३॥

छाया—अपि च हन्यात् अनाद्रियमाणः अत्रापि जानीहि श्रेय इति नास्ति कोऽयं पुरुषः कं च नतः ?, एष वीरः प्रशसितः यो बद्धान् प्रतिमोचकः ऊर्ध्वं अधः तिर्यग् दिशासु स सर्वतः सर्वपरिज्ञाचारी न लिप्यते क्षणपदेन वीरः, स मेधावी अणोद्घातन खेदज्ञः यश्च बंधप्रमोक्षान्वेषी कुशलः पुन नो बद्धः नो मुक्तः।

पदार्थ—जाण—हे शिष्य ! तू यह जान कि। इत्थंपि—यहा पर भी। अपि—अपि शब्द सभावनार्थक है, जैसे कोई व्यक्ति। अणाइयमाणे—साधु के वाक्य का अनादर करता है। य हणे—और दण्ड आदि से मारता है, तो। सेयतिनत्थि—इस प्रकार कथा करनी श्रेयस्कर नही है (कारण कि—राजादि के प्रतिकूल कही गई कथा लाभ के बदले हानि का ही कारण बन जाती

है। तब किस प्रकार से धर्म कथा करनी चाहिए ?, केयं—कौन-यह। पुरिसे—पुरुष है। च और फिर। कं—किस देव को। नए—नमस्कार करने वाला है अर्थात् किस देव को मानता है (इस प्रकार जानकर धर्मकथा करनी चाहिए)। एस—यह व्याख्यान की विधि को जानने वाला। वीरे—कर्मों के विदारण मे समर्थ पुरुष। पसंसिए—प्रशसा के योग्य है, क्योंकि वह। जे—जो व्यक्ति। बद्धे—आठ प्रकार के कर्मों से बद्ध है उनको। परिमोयए—कर्म बन्धन से मुक्त कराने मे समर्थ है। तथा वह। उड्ढ—ऊर्ध्व। अह—नीचे तिरियं—मध्य। दिसासु—दिशाओ मे-जो जीव रहते हैं उनको कर्म बन्धन से मुक्त कराने मे समर्थ है। से—वह वीर पुरुष। सव्वओ—सर्व प्रकार से। सव्व परिन्नाचारी—सर्व परिज्ञाओ के आचरण करने वाला अर्थात् विशिष्ट ज्ञान से युक्त। छण पएण—हिंसा के पदसे। न लिप्पइ—लिप्त नहीं होता। वीरे। अतः वह वीर है। से—वह। मेहावी—बुद्धिमान् है। तथा वह। अणुग्घायणखेयन्ने—कर्मों के नाश करने मे निपुण है। य—और वह। बंधपमुक्खमन्नेसी—बन्ध और मोक्ष का अन्वेषक-अन्वेषण करने वाला है। कुसले—चार प्रकार के घातिकर्मों का क्षय करने वाला-तीर्थंकर वा सामान्य केवली। पुणो—फिर वह। नोबद्धे—न तो घातिकर्मों से बद्ध होता है। नोमुक्के-और न मुक्त अर्थात् भवोपग्राही कर्म के सद्भाव से वह मुक्त भी नहीं।

मूलार्थ—ऐसा होना भी सभव है कि श्राताओ के अभिप्राय और योग्यता आदि का ज्ञान प्राप्त किये बिना उनको दिया गया धर्मोपदेश निष्फल या विपरीत फल देने वाला हो। अर्थात् उपदेश को सुनकर श्रोताओ मे से कोई मुख्य श्रोता उठकर उपदेशक साधु के वचन का अनादर करता हुआ उसे मारने या ताडना तर्जना करने पर भी उतारु हो जाय तो यह असम्भव नही, इसलिए परिषद् के अभिप्राय को जाने बिना धर्मोपदेश करना भी श्रेयस्कर नही है अत उपदेशक के लिए उपदेश देनेसे पहिले यह जानना बहुत आवश्यक है कि जिसको वह उपदेश देने लगा है वह कौन, किस विचार का और किस देवता को मानता है ? इन सब बातो का ज्ञान रखने वाला वीर पुरुष प्रशसा के योग्य है तथा वह ऊची नीची और मध्य दिशा मे उत्पन्न होने वाले जीवो को आठ प्रकार के कर्मो के बन्धन से मुक्त कराने मे समर्थ है, और सब प्रकार से सर्व परिज्ञा के अनुसार चलने वाला परम बुद्धिमान, कर्मो के नाश करने मे समर्थ और बन्ध मोक्ष का यथावत् अन्वेषण करने वाला है। एव वह कुशल अर्थात

ज्ञान, दर्शन और चारित्र को प्राप्त करने वाला, मिथ्यात्व और कपाय के उपशम से न तो बद्ध है और न मुक्त है अथवा कुशल अर्थात् चार प्रकार के घातिकर्मो का क्षय करने वाला (तोर्थंकर वा सामान्य केवलो) न तो वद्ध है और (भवोपग्राही कर्म के सद्भाव से) न ही मुक्त है तात्पर्य कि घातिकर्मो के क्षय ` उसको कर्म का बन्ध नही होता इस लिए वह वद्ध नही और नाम गोत्र आदि अघातिकर्मो का वहा सद्भाव है, अत वह कर्मो से सर्वथा मुक्त भी नही कहा जा सकता।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह वताया गया है कि उपदेशक को स्व और पर सिद्धान्त के साथ श्रोताओं की स्थिति, योग्यता एवं मान्यता का भी ज्ञान होना चाहिए। यदि वह परिषद् मे उपस्थित व्यक्तियों की मान्यता से परिचित नहीं है, तो ऐसी स्थिति में दिया गया उपदेश और रूप मे परिणत हो सकता है, उसका परिणाम उपदेशक की आशा के विपरीत आ सकता है।

श्रोताओं के विचारों को जाने विना दिया गया उपदेश कभी कभी उनकी उत्तेजना को वढ़ा देता है। अपने विश्वासों एव मान्यताओं से विपरीत विचार सुनकर उनके विचारों मे आवेश आ जाना स्वाभाविक है और फिर उन्हें संभालना वक्ता के लिए कठिन हो जाता है। आजकल सभाओं मे कई बार ऐसे प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं। इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि धर्मोपदेशक मुनि को श्रोताओं के अभिप्राय का, उन की मान्यताओं का बोध होना चाहिए। अन्यथा उसके उपदेश से लोगों मे उनके प्रति अनादर का भाव उत्पन्न होगा और परिणाम स्वरूप वे उपदेशक को तिरस्कार एव अपमान जन्य शब्दों से विभूषित कर सकते हैं। यदि कहीं अधिक उग्रवादी व्यक्ति हुए तो डडे आदि का भी प्रयोग कर सकते हैं। अत जो वक्ता देश, काल एवं श्रोताओं की मान्यताओं से परिचित होता है, वह परिषद् में कभी भी अपमान को प्राप्त नहीं होता

उपदेश का उद्देश्य लोगों को यथार्थ मार्ग दिखाना है। इसलिए उपदेशक को वड़ी सतर्कता से काम लेना पड़ता है। उसका काम इतना ही है कि वह उपदेश के द्वारा उनके मन मे सत्य-अहिंसा आदि आत्म गुणों की ज्योति जगाकर उन्हें आत्म चिन्तन एव सदाचार की ओर गतिशील कर दे। और यह काम तभी हो सकेगा जब कि वह उनके विचारों से परिचित होगा और उन्हीं की भाषा मे उन्हें समझाने मे प्रवीण होगा। उत्तराध्ययन सूत्र के पच्चीसवें अध्ययन मे जयघोष-विजयघोष के प्रकरण मे उपदेशक

की शैली का वडा ही सुन्दर वर्णन किया गया है। दोनों व्यक्ति ब्राह्मण कुल में जन्मे थे, परन्तु एक श्रमण-निर्ग्रन्थ बन गया और दूसरा वैदिक यज्ञ-याज्ञ मे उलझ रहा है। एक समय मुनि जयघोष वाराणसी मे पधारते है और भिक्षा के लिए विजयघोष के यहा जा पहुचते हैं। विजयघोष मुनि को यह कह कर भिक्षा देने से इन्कार कर देता है कि मैं वेद मे पारंगत एवं वैदिक धर्म का अनुष्ठान करने वाले ब्राह्मण को ही भिक्षा दू गा। मुनि इससे रुष्ट नहीं होते है, वे समभाव पूर्वक खड़े रहते हैं और उसे वैदिक विश्वासों के अनुसार धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझाते हैं। वे उसे याज्ञिक भाषा मे तत्त्व का उपदेश देते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि विजयघोष के मन मे श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह चिन्तन की गहराई में उतरता है और वास्तविकता को समझकर साधना के यथार्थ पथ पर गतिशील हो उठता है, मुनि धर्म को स्वीकार कर लेता है। और उत्कृष्ट साधना के द्वारा समस्त कर्मों को तोडकर दोनों महामुनि मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वक्ता को वोलने से पहिले श्रोता के विचारों का ज्ञान होना ज़रूरी है। उस यह भी समझ लेना चाहिए कि यह किस मत का है और यदि कोई उससे प्रश्न पूछ रहा हो तो उस समय भी यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रश्न कर्ता का उद्देश्य क्या है ? वह समझने की दृष्टि से पूछ रहा है या वक्ता की परीक्षा करने के लिए या उसे निरुत्तर करने या हराने की दृष्टि से पूछ रहा है। उक्त सारी परिस्थितियों एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानने वाला वक्ता ही उपदेश देने योग्य है। वह श्रोताओं के तथा प्रश्नकर्ता के मन का यथार्थ समाधान कर सकता है। उन्हें यथार्थ मार्ग वता सकता है। वह उन्हें कर्म वन्धन से मुक्त होने का मार्ग वताने मे भी योग्य है। क्योंकि वह ज्ञान सम्पन्न और सदा-सर्वदा हिसा आदि दोषों से दूर रहता है। इसलिए वह प्रवुद्ध पुरुष कर्मों को क्षय करने मे निपुण है और वह प्रकृति-वन्ध, स्थितिवन्ध, अनुभागवन्ध और प्रदेशवन्ध, इन चार प्रकार के कर्मवन्धों से वचने एवं पूर्व वन्धे हुए वन्धनों से मुक्त होने के प्रयत्न मे सदा संलग्न रहता है। ऐसे महापुरुष को वीर, मेधावी, कुशल, खेदज्ञ आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त "अणुग्घायण खेयन्ने" और "वन्धपमुक्खमन्नेसी" दोनों शब्दों की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है—"जिस के प्रभाव से यह जीव संसार मे परिभ्रमण करता है, उसको अण-कर्म कहते हैं। उस कर्म का जो सर्वथा क्षय करने मे समर्थ है, उसे खेदज्ञ कहते हैं।" इसका तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति कर्मों को क्षय करने की विधि जानता है, वही मुमुक्षु—कर्म करने के लिए उद्यत पुरुषों मे कुशल एव वीर माना जाता है। जो चारों प्रकार के वन्ध एवं वन्धन से छूटने के उपाय में

संलग्न है, उसे वन्ध-मोक्षान्वेपक कहते हैं। परन्तु यहा इतना ध्यान रखना चाहिए कि 'अणुग्घायणखेयन्ने' शब्द से मूल और उतर कर्म प्रकृतियों के भेद से विभिन्न योग निमित से आने वाले कषायमूलकवध्यमान कर्म की जो वद्ध, स्पृष्ट निधत्त और निकाचित रूप अवस्था है, उसको तथा उसे दूर करने के उपाय को जो जानता है, लिया गया है और वन्धपमुक्खमन्नेसी, शब्द से कर्म वन्धन से छूटने के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान अपेक्षित है, इसलिए यहा पुनरुक्ति दोप का प्रसंग उपस्थित नहीं होता है*।

प्रश्न— इस विवेचन से मन मे यह जानने की इच्छा होती है कि कर्मों को सर्वथा क्षय करने में निपुण एवं वन्धमोक्ष का अन्वेपक पुरुप छद्मस्थ है या वीतराग — सर्वज्ञ है ?

उत्तर— इसका समाधान यह है कि ऐसा व्यक्ति छद्मस्थ ही हो सकता है, न कि केवली। क्योंकि उक्त विशेषण केवली पर घटित नहीं होते हैं। इसलिए उसे असर्वज्ञ ही समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त 'कुसले' शब्द केवली और छद्मस्थ दोनों का परिचायक है। यदि उसका अर्थ यह करें कि जिसने घातिक कर्मों का सर्वथा क्षय कर दिया है, उसे कुशल कहते हैं। तो कुशल शब्द तीर्थंकर या सामान्य केवली का बोधक है और जव इसका यह अर्थ करते हैं— जो मोक्षाभिलापी है और कर्मों को क्षय करने का उपाए सोचने एव उसका प्रयोग करने मे सलग्न है, उसे कशल कहते हैं। तो कुशल सब्द से छद्मस्थ साधक का बोध होता है।

इसके अतिरिक्त केवली ने चारों घातिककर्मों का क्षय कर दिया है, इसलिए वह कर्मों से आवद्ध नहीं होता, परन्तु अभी तक उस में भवोपग्राही–वेदनीय, नाम गोत्र और आयु कर्म का सद्भाव है, अत वह मुक्त भी नहीं कहलाता। इसलिए 'कुसले' शब्द के आगे 'नो बद्धे न मुक्के" शब्दों का प्रयोग किया गया है। परन्तु छद्मस्थ साधक के अर्थ में कुशल शब्द का अर्थ — ज्ञान, दर्शन और चारित्र को प्राप्त करके उस पथ

---

*अणोद्घातनस्य खेदज्ञ अणत्यनेन जन्तुगणश्चतुर्गतिक संसारमित्यण-कर्म तस्योत्प्राबल्येन घातन अपनयन तस्य तत्र वा खेदज्ञो–निपुण इह हि कर्मक्षपणोद्यताना मुमुक्षूणा य कर्मक्षपण विधिज्ञ' स मेधावी कुशलो वीर इत्युक्त भवति। २–यश्च प्रकृति स्थित्यनुभाव प्रदेशरूपस्य चतुर्विधस्यापि वन्धस्य य प्रमोक्ष तदुपायो वा तमन्वेष्टु-मृगयितु शीलमस्येत्यन्वेषी, यश्चैव भूत स वीरो मेधावी खेदज्ञ इतिपूर्वेण सम्बन्ध, अणोद्घातनस्य खेदज्ञ इत्यनेन मूलोत्तर प्रकृतिभेद भिन्नस्य योगनिमित्तायातस्य कषायस्थितिकस्य कर्मणो बध्यमानावस्था बद्धस्पृष्ट निधत्त निकाचित रूपा तदपनयनोपाय च वेत्तीत्येतदभिहित,अनेन चापनयनानुष्ठानमिति न पुनरुक्त दोषानुषंग प्रसजति।

गतिशील साधक है*। मिथ्यात्व एवं कषाय के उपशम से उसकी आत्मा में ज्ञान का उदय है, इसलिए वह संसार में परिभ्रमण कराने वाले मिथ्यात्व आदि से बद्ध नहीं है, परन्तु अभी तक उसने उनको क्षय नहीं किया है, उनका अस्तित्व है, इसलिए वह मुक्त भी नहीं है।

इसलिए मुमुक्षु पुरुष को किस प्रकार प्रवृत्ति करनी चाहिए, इसका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से जं च आरभे जं च नारभे, अणारद्धं च न आरभे, छणं-छणं परिणाय लोगसन्नं च सव्वसो ॥१०४॥

छाया—स यच्चारभते, यच्च नारभते, अनारब्धं च नारभते, क्षणं-क्षणं परिज्ञाय लोकसज्ञां च सर्वशः।

पदार्थ—से—वह कुशल साधक। ज—जिस—कर्मों को क्षय करने के लिए सयमानुष्ठान को। आरभे—आरभ करता है। च—समुच्चयार्थक है। जं च—और जिन मिथ्यात्वादि ससार परिभ्रमण के कारणो को। नारभे—आरंभ नही करता है। च-और। अणारद्धं—जो आचरणीय नही है। नारभे-उन्हे स्वीकार न करे, किन्तु। छण-छणं—जिन-जिन कारणो से हिंसा होती ह, उन्हे। परिण्णाय—जानकर। च—तथा। सव्वसो लोगसन्न—सर्व प्रकार से आहार आदि लोक सज्ञाओ का भी परित्याग करदे। अर्थात् त्रिकरण त्रियोग से सज्ञा का परित्याग कर दे।

मूलार्थ--वह कुशल मुनि कर्मों का क्षय करने के लिए सयम साधना को स्वीकार करता है। अतः वह मिथ्यात्व, अविरति आदि ससार परिभ्रमण के कारणो एव सर्वज्ञो द्वारा अनाचरणीय आचार को स्वीकार नही करता है। और वह हिंसा के स्थान को तथा लोकसज्ञा आदि के स्वरूप को भली-भाति जानकर उनका सर्वथा परित्याग कर देता है।

---

* कुशलोऽत्र क्षीणघातिकर्मांशो विवक्षित स च तीर्थकृन् सामान्य केवली वा छद्मस्थो हि कर्मणा बद्धो मोक्षार्थी तदुपायान्वेषक, केवली तु पुनर्घातिकर्म क्षयान्नो बद्धो भवोपग्राहिकर्मसद्भावान्नो मुक्त कुशल· — अवाप्त ज्ञान दर्शन चारित्रोमिथ्यात्वद्वादश कषायोपशमसद्भावान् तदुदयवानिव न बद्धोऽद्यापि तत्सत्कर्मतासद्भावान्नो मुक्त इति।

आचाराग वृत्ति.।

हिन्दी विवेचन

संसार का कारण कर्म है और उनसे सदा मुक्त होना यह साधक का उद्देश्य है, लक्ष्य है। इसलिए वह मुनि कुशल कहा गया है, जो संयम साधना के द्वारा कर्मों को क्षय करने का प्रयत्न करता है। वह प्रबुद्ध साधक मिथ्यात्व, अविरति आदि दोषों को ग्रहण नहीं करता और वह न ऐसे आचार को स्वीकार करता है, जो केवली भगवान द्वारा अनाचरित है*।

'छणं—छणं' शब्द का अर्थ है— हिंसा†। अतः मुनि हिंसा का त्याग कर के संयम साधना मे प्रवृत्त होता है। उसके लिए वह लोक संज्ञा आदि का भी त्याग कर देता है। लौकिक सुख एवं परिग्रह का त्याग कर देने पर ही वह आत्म सुख का अनुभव कर सकता है‡।

इससे स्पष्ट हुआ कि कर्मों को क्षय करने के लिए हिंसा आदि दोषों एव अनाचरणीय क्रियाओं का त्याग करके जो शुद्ध संयम में प्रवृत्ति करता है, वह साधक अपना आत्म विकास करते हुए दूसरे को भी यथार्थ मार्ग बताता है।

वस्तुतः उपदेश की किसको आवश्यकता होती। है और संसार मे कौन परिभ्रमण करता है? इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उद्देसो पासगस्स नत्थि, बाले पुण निहे कामसमणुन्ने असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ, त्तिबेमि ॥१०५॥

छाया—उद्देशः (उपदेशः) पश्यकस्य नास्ति, बालः पुनर्निह कामसमनुज्ञः अशमित दुःख दुःखी दुःखानामेवावर्त्तमनुपरिवर्त्तते, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—उद्देसो—उपदेश। पासगस्स—यथाद्रष्टा को। नत्थि—नही है, किन्तु जो। बाले–अज्ञानी है। पुण–फिर। निहे—स्नेह करने वाला। कामसमणुन्ने—काम-भोगो के अभिलाषी को। असमिय दुक्खे—असीम दुःख होता है। दुक्खी–वह बार-बार दुःख का संवेदन

---

* अनारब्धं—अनाचीर्णं केवलिभिर्विशिष्टमुनिभिर्वा तन्मुमुक्षुर्नारभते—न कुर्यादित्युपदेशो, यच्च मोक्षागमाचीर्णं त कुर्यादित्युक्त भवति। —आचाराग वृत्ति।

† 'क्षणु हिंसाया' क्षणन क्षणो—हिंसन कारणे कार्योपचारात् येन येन प्रकारेण हिंसोत्पद्यते तत्तत् ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत्। —आचाराग वृत्ति

‡ लोकस्य—गृहस्थ लोकस्य सज्ञान सज्ञा—विषयाभिष्वंगजनितसुखेच्छा परिग्रह सज्ञा वा ता च ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यान परिज्ञया च परिहरेत्। —आचाराग वृत्ति

तृतीय अध्ययन-शीतोष्णीय

प्रथम उद्देशक

प्रथम अध्ययन मे आत्मा एवं कर्म के सम्बन्ध तथा पृथ्वी आदि ६ कायो में जीव की सजीवता एव उनकी हिंसा से विरत होने का उपदेश दिया गया है। दूसरे अध्ययन में कषायों पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है। परन्तु कषायों का उद्भव पदार्थों के निमित से होता है। अच्छे और बुरे पदार्थों को देखकर तथा अनुकूल एवं प्रतिकूल संयोग मिलने पर या परिस्थितियों के उपस्थित होने पर भावना में, विचारों में उत्तेजना एव अन्य विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अत प्रत्येक परिस्थिति एव सयोग में—भले ही वह अनुकूल हो या प्रतिकूल, समभाव रखना चाहिए। प्रत्येक स्थिति मे साम्यभाव को बनाए रखने वाला व्यक्ति ही कषायों पर विजय पा सकता है। अत प्रस्तुत अध्ययन में यह बताया गया है कि अनुकूल एव प्रतिकूल दोनों प्रकार के परीषहों के उपस्थित होने पर उनका संवेदन न करे।

प्रस्तुत अध्ययन का 'शीतोष्णीय' नाम है। 'शीतोष्णीय' शब्द का अर्थ है—ठण्डा और गर्म। परन्तु इसके अतिरिक्त निर्युक्तिकार ने इसका आध्यात्मिक अर्थ करते हुए बताया है—परीषह (कष्ट सहन), प्रमाद उपशम, विरति और सुख शीत हैं और परीषह, तप, उद्यम, कषाय, शोक, वेद, कामाभिलाषा, अरति और दुःख उष्ण हैं। परीषहों की गणना शीत और उष्ण दोनों मे करने का कारण यह है—स्त्री और सत्कार परीषह मन को लुभाने वाले होने से शीत हैं और शेष बीस परीषह प्रतिकूल होने से उष्ण हैं। एक विचारणा यह भी है कि तीव्र परिणामी उष्ण और मन्द परिणामी शीत हैं।

व्यवहार मे भी, जो व्यक्ति धर्म एव व्यवसाय के कार्य मे प्रमादी—आलसी या सुस्त होता है, उसे ठण्डा और जो मिहनती—परिश्रमी होता है, उसे उष्ण—तेज या गर्म कहते हैं। जब कोई व्यक्ति आवेश में होता है, तो झट कह दिया जाता है कि यह क्रोध मे जल रहा है। अत. जिस व्यक्ति के क्रोध आदि उपशात हो गए हैं, उसे शीतल या उपशात कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जो परीषह मन के अनुकूल हैं, उन्हें शीत कहा है और जो प्रतिकूल हैं, उन्हें उष्ण कहा गया है।

निर्युक्तिकार ने मोक्ष सुख को शीत एवं कषाय को उष्ण कहा है। क्योंकि मोक्ष मे किसी प्रकार का द्वन्द नही है, एकान्त सुख है और कषाय मे तपन है, दु:ख है, द्वन्द है, इसलिए निर्वाण सुख शीत और कषाय उष्ण है। तात्पर्य यह है कि सुख शीत है और दु:ख मात्र उष्ण है*।

प्रस्तुत अध्ययन में इसी आभ्यन्तर और बाह्य शीतोष्ण का विवेचन किया गया है। क्योंकि श्रमण शीत-उष्ण या अनुकूल प्रतिकूल स्पर्श, सुख-दु:ख, कषाय परीषह, वेद, कामवासना और शोक आदि के उपस्थित होने पर उन्हें सहन करता है और समभाव पूर्वक तप-सयम की साधना मे संलग्न रहता है। वह अपनी साधना में सदा सजग रहता है। यही प्रस्तुत अध्ययन मे बताया गया है कि श्रमण वह है—जो अपने जीवन मे सदा—सर्वदा विवेकपूर्वक गति करता है, वह सदा जागृत रहता है। इसका प्रथम सूत्र निम्नोक्त है—

मूलम्—सुत्ता अमुणी, सया मुणिणो जागरंति ॥१०६॥

छाया—सुप्ता अमुनयः सदा मुनयः जाग्रति।

पदार्थ—अमुणी—मिथ्यादृष्टि। सुत्ता—भाव निद्रा मे सोए पड़े हैं, किन्तु मुणिणो—प्रबुद्ध पुरुष। सया—सदा। जागरंति—जागते हैं।

मूलार्थ—अज्ञानी लोग सदा सोए रहते है और मुनि-ज्ञानी जन सदा जागते है।

हिन्दी विवेचन

जागरण और सुषुप्ति जीवन की दो अवस्थाएं हैं। मनुष्य दिन भर की शारीरिक, मस्तिष्क एवं मानसिक थकान को दूर करने के लिए कुछ देर के लिए सोता है और फिर जागृत होकर अपने काम मे लग जाता है। इस प्रकार सांसारिक प्राणी जागते और सोते रहते हैं। परन्तु, यहां जागरण और सुषुप्ति का साधारण अर्थ मे नहीं, अपितु आध्यात्मिक अर्थ मे प्रयोग किया गया है और इसके द्वारा मुनित्व एवं अमुनित्व का लक्षण बताया गया है। जो सुषुप्त हैं, वे अमुनि है, बोध मे रहित हैं और जो सदा जागते रहते हैं, वे मुनि हैं, प्रबुद्ध पुरुष हैं।

---

* निव्वाणसुहं साय सीईभूयं पयं अणाबाहं। इहमवि जं किंचि सुहं तं सीयं दुक्खमवि उण्हं ॥
[illegible] निक्कामो सोऽभिमुणो उज्जतेमो य। उण्हपरो होइ तओ कसायमाईवि ज [illegible] ॥

सुपुप्ति और जागरण के दो भेद हैं—१-द्रव्य और २-भाव। निद्रा लेना एव समय पर जागृत होना द्रव्य सुपुप्ति या जागरण है और विषय, कषाय, प्रमाद, अव्रत आदि मे आसक्त एव संलग्न रहना भाव सुपुप्ति—निद्रा है और त्याग, तप एवं सयम मे विवेक पूर्वक लगे रहना भाव जागरण है। असयम, अव्रत एव मिथ्यात्व को वढ़ाने वाली क्रिया भाव निद्रा है और सयम, व्रत एव सम्यग्ज्ञान मे अभिवृद्धि करने वाली प्रवृत्ति भाव जागरण है।

इससे स्पष्ट होता है कि जीवन विकास के लिए भाव निद्रा प्रतिवन्धक है। क्योंकि भाव निद्रा मे उसका विवेक सोया रहता है, इसलिए वह अपनी आत्मा का हिताहित नहीं देख पाता और अनेक पापों का सग्रह कर लेता है। आगम मे अविवेक पूर्वक की जाने वाली क्रिया को पाप कर्म के वन्ध का कारण माना है। यह सत्य है कि प्रत्येक प्रवृत्ति मे क्रिया लगती है। परन्तु जहां विवेक चक्षु खुले हैं, यतना के साथ प्रवृत्ति हो रही है, तो वहा पाप कर्म का वन्ध नहीं होगा और जहा विवेक चक्षु वन्द हैं, वहा पाप कर्म का वन्ध होता है। इससे यह साफ हो गया कि पतन का कारण भाव निद्रा ही है। द्रव्य निद्रा इतनी हानि नहीं पहुचाती, जितनी भाव निद्रा आत्मा का अहित करती है। यही कारण है कि भाव निद्रा मे निमग्न व्यक्तियों को द्रव्य से जागृत होने पर भी सुपुप्त कहा है और भाव जागरण वाले जीवों को द्रव्य निद्रा लेते समय भी जागृत कहा है। साधु को द्रव्य निद्रा के समय भी जागता हुआ माना है। इसका कारण यह है कि उसकी प्रत्येक क्रिया सयम के लिए होती है और उसके साथ विवेक की चक्षु खुली होती है। सयम मे तेजस्विता लाने के लिए वह सोता है। उसका शयन सोने के लिए जागने के लिए है, सुपुप्ति से मुक्त होने के लिए। आगम मे जहा साधु समाचारी—दिन रात की चर्या का उल्लेख किया गया है वहा वताया है कि साधु तीसरे पहर निद्रा से मुक्त होवे।*

साधु का जीवन सयम मय है। उसका प्रत्येक समय संयम मे बीतता है। वह दिन मे या रात मे, अकेले मे या व्यक्तियो के समूह मे, सुपुप्त अवस्था मे या जाग्रत अवस्था मे किसी भी तरह का पाप कर्म नहीं करता, किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता एव न झूठ, स्तेय आदि दोषो का सेवन ही करता है।* इसलिए

* तइयाए निद्दमोक्खं तु।

—उत्तराध्ययन सूत्र २६, ४६

* दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन ४।

साधु को सदा-सर्वदा जाग्रत ही कहा है । जयन्ती श्राविका के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने अधार्मिक व्यक्तियो को सदा सुषुप्त और धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को सदा जागरणशील कहा है। और जो मनुष्य सदा पाप एवं अधर्म मे सलग्न रहते हैं, उन्हे आलसी कहा है और जो सदा धर्म में, सत्कार्य मे एवं आत्म-चिन्तन मे संलग्न रहते हैं, उन्हे दक्ष, प्रवीण, चतुर कहा है† ।

भगवद्गीता मे भी इसी बात को इन शब्दों मे कहा गया है कि जिसे सब लोग रात्रि समझते हैं उसमे संयमी जागता है और जब समस्त प्राणी जागते हैं तो ज्ञानवान उसे रात्रि समझता है‡ । तात्पर्य यह है कि विषय-भोगों की आसक्ति भाव निद्रा है और उनसे विरक्ति जागरण है। अत. भोगी व्यक्ति भोगो मे आसक्त होने से सदा सोए रहते हैं और त्यागी व्यक्ति उनसे निवृत्त होते हैं इस लिए वे सदा जागते रहते हैं। हम यों भी कह सकते हैं कि अज्ञान निद्रा है और ज्ञान जागरण है।

अज्ञान एवं मोह के कारण ही मनुष्य भोगों मे फसता है और परिणाम स्वरूप वह अनेक दु.खों को प्राप्त करता है । और ये दु.ख अहितकर हैं, इस बात को जान कर उससे दूर रहने वाला व्यक्ति ही मुनि है । इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं, समयं लोगस्स जाणित्ता, इत्थ सत्थोवरए, जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गंधा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति ॥१०७॥

छाया—लोके जानीहि अहिताय दुःख समयं लोकस्य ज्ञात्वा अत्र शस्त्रोपरतः, यस्य इमे शब्दाश्च, रूपाश्च, रसाश्च, गन्धाश्च, स्पर्शाश्च अभिसमन्वागताः भवन्ति ।

पदार्थ—जाण—हे शिष्य ! तू यह समझ कि । लोयंसि—लोक मे । दुक्खं—दु ख ।

† भगवती सूत्र, शतक १२, उद्देशक २।

‡ या निशा सर्वभूताना, तस्या जागर्ति सयमी
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुने ॥
गीता, २, ६९ ।

अहियाय – अहितकर है। लोगस्स समय – लोक के संयमानुष्ठान को। जाणित्ता – जानकर। जस्सिमे – जिस मुनि को, ये। सद्दा – शब्द। य – और। रूवा – रूप। य – और। रसा-रस य – और। गंधा – गंध। य – और। फासा – स्पर्श। य – समुच्चय अर्थ में। अभिसमन्नागया अभिसमन्वागत। भवंति – होते है, वह। इत्थ – इस लोक मे। सत्थोवरए – शस्त्र से उपरत होता है।

मूलार्थ--हे शिष्य! तू यह जान कि लोक मे दु ख अहितकर है। इसलिए लोक मे सयमानुष्ठ न एव समभाव को जान कर शस्त्र का त्याग कर दे। जिस मुनि के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श अभिसमन्वागत होते है, वास्तव मे वही शस्त्रो से उपरत होता है या वही मुनि है।

हिन्दी विवेचन

अज्ञान एवं मोह आदि से पाप कर्म का बन्ध होता है। और अशुभ कर्म का फल दु ख रूप मे प्राप्त होता है। इस प्रकार सूत्रकार ने अज्ञान को दुःख का कारण बताया है और ज्ञान को दु ख से मुक्त होने के कारण कहा है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे इस बात पर जोर दिया गया है कि साधक को संयम एवं आचार के स्वरूप को जानकर उसका परिपालन करना चाहिए। और शब्दादि विषयों राग-द्वेष मूलक प्रवृत्ति से निवृत्त हो कर ६ काय की हिसा रूप शस्त्र का त्याग कर देना चाहिए, वास्तव मे विषय में राग-द्वेष एवं हिसा जन्य शस्त्रो का परित्याग ही मुनित्व है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'समय' शब्द के दो अर्थ होते हैं—"समय.--आचारोऽनुष्ठान तथा २ समता—समशत्रु-मित्रता समात्मपरता वा' अर्थात् 'समय' शब्द आचार का भी परिबोधक है और इसका अर्थ यह भी होता है कि प्रत्येक प्राणी पर समभाव रखना।

'लोयसि अहियाय दुक्ख' वाक्य का तात्पर्य यह है कि अज्ञान और मोह दु ख का कारण है। मोह और अज्ञान के कारण ही जीव नरकादि योनियों मे विभिन्न दु.खों का संवेदन करता है। इसलिए नरकादि मे प्राप्त होने वाले दु खों को अहितप्रद कहा है। अत इन दु.खों से छूटने का उपाय है—अज्ञान एव मोह का त्याग करना।

'अभिसमन्नागया' का अर्थ है—जिस आत्मा ने शब्दादि विषयों के स्वरूप को जान लिया है और उनमे उस की राग-द्वेष मय प्रवृत्ति नही है, वही मुनि है और उसी ने लोक के स्वरूप को जाना है※।

※ 'अभिसमन्वागता' इति, अभि — आभिमुख्येन सम्यग्—इष्टानिष्टावधारणतयाऽ

जो प्रबुद्ध पुरुष शब्दादि विषयों के परिणाम को जानकर उनका परित्याग कर देते हैं, उन्हें किस गुण की प्राप्ति होती है। इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से आयव नाणवं वेयव धंम्मवं बंभवं पन्नाणेहिं परियाणइ लोयं, मुणीति वुच्चे, धम्मविऊ उज्जू, आवट्टसोए संगमभिजाणइ ॥१०८॥

छाया—स आत्मवान् (आत्मवित्) ज्ञानवान् (ज्ञानवित्), वेदवान् (वेदवित्), धर्मवान् (धर्मवित्), ब्रह्मवान् (ब्रह्मवित्), प्रज्ञानैः परिजानाति लोकं मुनिः इति वाच्यः धर्मवित् रिजु आवर्त्त स्रोतसि संगमभिजानाति।

पदार्थ—से—वह मुमुक्षु पुरुष। आयवं—आत्मवान्। नाणव—ज्ञानवान्। वेयव—वेदवित्—आगमो का परिज्ञाता। धम्मव—धर्म स्वरूप का ज्ञाता। बंभव—ब्रह्म को जानने वाला। पन्नाणेहिं—मति-श्रुत ज्ञान आदि से। लोय—लोक के स्वरूप को। परियाणइ—जानता है। मुणीतिवुच्चे—उसे मनि कहते है, क्योकि। धम्मविऊ—धर्म के स्वरूप का परिज्ञाता। उज्जू—सरल आत्मा। आवट्ट सोए—ससार चक्र और विषयाभिलाषा के। संगं—सम्बन्ध को। अभिजाणइ—जानता है।

मूलार्थ—वह प्रबुद्ध पुरुष आत्म स्वरूप का जानता है, ज्ञानयुक्त है, वेद-आगमो का ज्ञाता है, धर्म को जानने वाला है, ब्रह्म को जानने वाला है, मति-श्रुत आदि ज्ञानो से लोक के स्वरूप को जानता है, अतः उसे मुनि कहते हैं। क्योकि वह धर्म के स्वरूप का ज्ञाता सरल आत्मा ससार चक्र एव विषयाभिलाषी के सम्बन्ध को भली-भांति जानता है।

हिन्दी विवेचन

साधना के क्षेत्र मे सब से पहले ज्ञान की आवश्यकता होती है। जब तक साधक को अपनी आत्मा का, लोक परलोक का बोध नहीं है, जीव अजीव की पहिचान नहीं है, तब तक वह सयम मे प्रवृत्त नहीं हो सकता। संयम का अर्थ है—दोषों से

अन्विति—शब्दादिस्वरूपावगमात् पश्चादागता-ज्ञाता: परिच्छिन्ना यस्य मुनेर्भवन्ति स लोक जानातीति सम्बन्ध.।

—आचाराग वृत्ति।

निवृत्त होना। अत दोषो से निवृत्त होने के लिए यह जानना आवश्यक है कि दोष क्या है? कौन सी प्रवृत्ति दोषमय और कौन सी निर्दोष प्रवृत्ति है? इसलिए आगम मे स्पष्ट भाषा मे कहा गया है कि साधक पहिले ज्ञान प्राप्त करे फिर क्रिया मे प्रवृत्ति करे।❀

प्रस्तुत सूत्र में भी मुनि जीवन का वास्तविक स्वरूप वताया गया है। इस में यह स्पष्ट कर दिया है कि वह ज्ञानवान हो, आत्म स्वरूप का, वेदों का, धर्म का, ब्रह्म स्वरूप का एव मति-श्रुत आदि ज्ञान से लोक के स्वरूप का ज्ञाता हो। जो साधक इनके स्वरूप को नहीं जानता है, वह सयम का भली-भाति पालन नहीं कर सकता। अत. साधक के लिए सब से पहिले आत्म स्वरूप को जानना जरूरी है। जो साधक आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोक के स्वरूप को जान सकता है। फिर उसके लिए वेद-आगम, ब्रह्म एव लोक के स्वरूप का परिज्ञान करना कठिन नहीं रह जाता है। और आत्मा एवं लोक के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर उसकी साधना मे, उसके आचरण मे सहज ही गति एव तेजस्विता आ जाती है। वह अपने आपको दोषों से वचाता चलता है। क्योंकि वह इस वात को भली-भांति जान चुका है कि इन दोषों मे आसक्त होने के कारण ही आत्मा लोक मे इधर-उधर भटकती फिरती है और विभिन्न योनियों मे अनेक दु खो का संवेदन करती है। इससे स्पष्ट हो गया कि दोषों से वचने के लिए पहिले ज्ञान की आवश्यकता है।

प्रस्तुत सूत्र मे आत्मज्ञान के बाद वेदवित् होने को कहा गया है। 'वेयव'—'वेदवित्' का अर्थ है जिस साधन के द्वारा जीवाजीव आदि के स्वरूप को जाना जाता है, उसे वेद कहते है। वह आचाराग आदि आगम हैं। अत उनके परिज्ञाता को वेदवित् कहते हैं❀।

इसके वाद धर्म के स्वरूप को जानने का उल्लेख किया गया है। इसका कारण यह है कि आचारांग आदि आगम साहित्य के द्वारा ही धर्म का स्वरूप स्पष्ट होता है। इस लिए पहिले श्रुत—साहित्य के अध्ययन का उल्लेख करके धर्म को जानने का विवेचन किया गया है।

आत्म स्वरूप, श्रुत एव धर्म के स्वरूप को जानने के बाद ब्रह्म के स्वरूप

❀ पढमं नाणं तओ दया। —दशवैकालिक सूत्र, ४, ६।

❀ वेद्यते जीवादि स्वरूपम् अनेनेति वेद —आचाराद्यागम त वेत्तीति वेदवित्।

आचाराग वृत्ति।

† ब्रह्म-अशेषमलकलङ्कविकलं योगीश वेत्तीति ब्रह्मवित्।

—आचारांग वृत्ति।

का सुगमता से बोध हो सकता है। क्योंकि ब्रह्म--परमात्मा आत्मा से भिन्न नहीं है। जब आत्मा अपने समस्त कर्म आवरणों को सर्वथा हटा देती है, तो वह परमात्मा के पद को प्राप्त कर लेती है। इसी अर्थ में ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है†। और ब्रह्म शब्द से १८ प्रकार के ब्रह्मचर्य को भी ग्रहण किया गया है‡। पहिले अर्थ में परमात्म स्वरूप को स्वीकार किया है और दूसरे अर्थ में ब्रह्मचर्य का बोध कराया है।

'प्रज्ञान' शब्द से मति-श्रुत आदि ज्ञान समझने चाहिए। क्योंकि मति-श्रुत आदि ज्ञान से ही लोक के स्वरूप का बोध होता है। और इसी ज्ञान के द्वारा साधक संसार परिभ्रमण एवं विषयाभिलाषा के सबन्ध को जान लेता है। 'आवट्टसोए संगमभिजाणइ' में 'संग' शब्द संबन्ध का परिचायक है। शास्त्रों में संसार परिभ्रमण एवं विषयाभिलाषा का स्थायी सबन्ध माना गया है। जब तक विषयाभिलाषा है तब तक ससार परिभ्रमण है। क्योंकि जहां राग-द्वेष की प्रवृत्ति है वहीं जन्म-मरण की परम्परा का पोषण होता है, संसार का संवर्द्धन होता है। अतः ससार परिभ्रमण से छुटकारा पाने के लिए राग-द्वेष का संग छोड देना चाहिए।

इस प्रकार आत्मा आदि का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके संयम मार्ग पर गतिशील साधक सुषुप्ति—भाव निद्रा का त्याग करके अपनी साधना में सदा सजग रहता है। क्योंकि जागरण शील साधक ही राग-द्वेष से बच सकता है। इसलिए सुषुप्त एव जागरण के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता ही अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है। अत. ऐसे ज्ञाता को किस गुण की प्राप्ति होती है, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं —

मूलम्—सीउसिणच्चाई से निग्गंथे अरइरइसहे, फरुसयं नो वेएइ, जागर वेरोवरए, वीरे एवं दुक्खापमुक्खसि, जरामच्चुवसोवणीए नरे सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ ॥१०६॥

छाया—शीतोष्णत्यागी स निर्ग्रन्थः अरतिरतिसहः परुषतां नो वेत्ति जागर वैरोपरतः, वीरः एवं दुःखात् प्रमोक्ष्यसि जरामृत्युवशोपनीतः नरः सततं मूढः धर्मं नाभिजानाति।

पदार्थ—सीउसिणच्चाई-शीतोष्ण का त्यागी। से निग्गंथे —वह निर्ग्रन्थ। अरइरइसहे—

† यदिवधा अष्टादशा ब्रमेति। —आचाराग वृत्ति.

अरति और रति को सहता हुआ । फरुसयंनोवेएइ—परुपता—कठोरता का अनुभव नही करता । जागर—असयम रूप भाव निद्रा से जागता है । वेरोवरए—वैर से उपरत हो गया है, उसे गुरु कहते हैं । एव—इस प्रकार । वीरे—हे वीर ! दुक्खापमुक्खसि—तू दु.खो से मुक्त हो जाएगा और दूसरों को भी मुक्त करेगा । परन्तु जो उक्त गुणो से रहित है, वह । नरे—मनुष्य । जरामच्चुवसोवणीए—जरा और मृत्यु के वशीभूत हुआ । धम्मं नाभिजाणइ—धर्म के स्वरूप को नही जानता । क्योकि मोह कर्म के उदय से वह । मूढे—मूढ–भाव निद्रा मे सुप्त है ।

मूलार्थ—निर्ग्रन्थ-मुनि असयम-भावनिद्रा का त्यागी होने के कारण जागरणशील है और वैर-विराध से निवृत्त हो चुका है। इस लिए वह शीतोष्ण का त्यागी, अरति और रति को सहता हुआ कठिन परीषहो के उपस्थित होने पर भी कठोरता का अनुभव नही करता । गुरु कहते है कि हे वीर ! इस प्रकार के श्रेष्ठ आचरण के द्वारा तू दुःखो से सर्वथा मुक्त हो जाएगा तथा दूसरो को भी मुक्त करने मे समर्थ होगा ।

परन्तु जो जागरणशील नही, वह जरा और मरण के वशीभूत होकर मोह से मूढ बना हुआ दु खो के प्रवाह मे बहता रहता है । वह धर्म के स्वरूप को भी नही जान पाता, इसलिए वह दु खो से मुक्त भी नही हो सकता ।

हिन्दी विवेचन

साधक का लक्ष्य है—मोक्ष अर्थात् कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होना । इसी लक्ष्य को, साध्य को सिद्ध करने के लिए वह साधना करता है । जब साधक अपने साध्य में तन्मय होता है, तो उसे उस समय बाह्य संवेदन की अनुभूति नहीं होती । क्योंकि अनुकूल एव प्रतिकूल विषयों का अनुभव मन के द्वारा होता है । जब इन्द्रियों के साथ मन का संबन्ध जुड़ा होता है, तो हमें उसके द्वारा अच्छे-बुरे विषयों का अनुभव एवं उससे सुख-दु ख का संवेदन होता है । परन्तु जब मन का सम्बन्ध साध्य के साथ जुड़ा होता है, वह अपने लक्ष्य मे तन्मय होता है, तो उस समय उसे इन्द्रियों के साथ विषयों का सबन्ध होते हुए भी उसकी अनुभूति नहीं होती, सुख-दु ख का सवेदन नहीं होता ।

कुछ वर्ष हुए प्रो० भंसाली* के जीवन की एक घटना समाचार पत्रों मे छपी थी । गर्मी का महीना था। वे नंगे सिर नंगे पैर सेवाग्राम से वर्धा को जा रहे थे। उधर से महादेव देसाई अपने दो तीन साथियों के साथ वर्धा से सेवाग्राम आ रहे थे । पैरों में जूते पहने हुए, सिर पर छाता ताने हुए चले आ रहे थे। फिर भी गर्मी के कारण परेशान हो रहे थे। मार्ग मे भंसाली जी को नंगे सिर नंगे पांव मस्ती में झूमते हुए आते देखा, तो सब हैरान रह गए। निकट आते ही महादेव भाई ने पूछा—क्यों भसाली जी गर्मी नहीं लगती ? महादेव भाई का स्वर सुनते ही वे एकदम चौंक उठे। और ऊपर को देखते हुए बोले—क्या गर्मी पड़ रही है ? और आगे बढ़ गए।

आगमों में भी वर्णन आता है कि साधु दिन के तीसरे पहर अथवा बारह बजे के बाद भिक्षा के लिए जाते थे। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनको गर्मी नहीं लगती थी। उष्णता का स्पर्श तो होता था, परन्तु मन आत्म-साधना में संलग्न होने के कारण उस कष्ट की अनुभूति नहीं होती थी। कभी-कभी चिन्तन में इतनी तन्मयता हो जाती कि उन्हें पता ही नहीं लगता कि गर्मी पड़ रही है या नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि जब साधक अपने लक्ष्य या साध्य को सिद्ध करने में तन्नमय हो जाता है, तो उस समय वह अनुकूल एव प्रतिकूल परीषह को आसानी से सहन कर लेता है ।

प्रस्तुत सूत्र मे यही बताया गया है कि मोक्ष की तीव्र अभिलाषा रखने वाला साधक शीतोषण परीषह को समभाव पूर्वक सहन कर लेता है। और यह वैर-विरोध से निवृत्त होकर सयम साधना में संलग्न हो जाता है। और इस प्रक्रिया के द्वारा वह समस्त कर्म बन्धन तोड़कर मुक्त हो जाता है और अन्य प्राणियों को मोक्ष का मार्ग बताने मे समर्थ होता है।

इसके विपरीत जिसका मन साधना में नहीं लगा है, जिसके समक्ष कोई लक्ष्य नहीं है, और जिसके मन मे साध्य में तन्मयता एवं एकरूपता नहीं है, वह मोह के वश ससार मे परिभ्रमण करता है। विषयों की आसक्ति एवं मोह के कारण वह धर्म के स्वरूप को नहीं समझ पाता, इसलिए वह बार-बार जन्म मरण के प्रवाह मे बहता हुआ विभिन्न दु खों का संवेदन करता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त "सिउसिणच्चाई' पद का पांचों आचार के अनुसार [illegible]

* प्रो० भंसाली गान्धी जी के सत्याग्रह आन्दोलन के एक सैनिक थे और [illegible] मास पहले अणु परीक्षण बन्द करने के विरोध मे आपने ६१ दिन का अनशन किया [illegible]।

अर्थ किया जाता है। वह इस प्रकार है —

ज्ञानाचार विषयक-आगम, ग्रंथ आदि को मन्दता से पढ़ना शीत कहा जाता है और अतिशीघ्रता से पढना उष्ण। ये दोनों दोष हैं, अत अतिमन्द एव शीघ्र गति का त्याग करके आगम आदि को स्वाभाविक गति से पढ़ना चाहिए।

२—दर्शनाचार विषयक दर्शन परीषह शीत कहा है और अक्रोश आदि को उष्ण। अथवा सत्कार आदि परीषह को शीत और वध परीषह को उष्ण कहा है इन सब परीषहों को शान्तभाव से सहन कर लेना चाहिए।

३—चारित्राचार विषयक—शीतोष्ण—अनुकूल या प्रतिकूल स्पर्शों के द्वारा सयम से विचलित नहीं होना।

४—तपाचार विषयक— आगम मे ब्रह्मचर्य को सर्वश्रेष्ठ तप कहा है। अत उसकी सुरक्षा के लिए शीतोष्ण स्पर्श वाली योनि (स्त्री) से सम्बन्ध न करे।

५—वीर्याचार विषयक— मन्दगति को शीत और अति शीघ्र गति को उष्ण कहा है। साधु को अति मन्द एवं शीघ्र गमनागमन का त्याग कर देना चाहिए। इस के अतिरिक्त पडितवीर्य ज्ञानवल को शीत और वालवीर्य—अज्ञान को उष्ण कहा है। प्रथम का फल निर्वाण है और द्वितीय का ससार परिभ्रमण। अत वालवीर्य का परित्याग करके ज्ञान की साधना में संलग्न होना चाहिए।

'फरुसय नो वेएइ' का अर्थ है— मोक्षाभिलाषी पुरुष कठोर परीषहों को दुःख रूप नहीं, अपितु अपना सहायक मानता है। यदि तप साधना से शरीर मे कोई वेदना हो जाए तो वह उसका सवेदन नहीं करता, हाय-हाय नहीं करता। परन्तु शातभाव से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता रहता है।

'वेरोवरए' का अर्थ है—वैर से निवृत्त होना। वैर से निवृत व्यक्ति ही आत्म-विकास के पथ पर आगे वढ सकता है और निर्वैरता के कारण ही वह अपनी साधना मे सदा सजग रहता है।

'दुक्खापमुक्खसि' इस पद का तात्पर्य यह है कि वैर-विरोध से निवृत्त व्यक्ति ही समस्त दुःखों से मुक्त हो सकता है। इसके विपरीत वैर-विरोध में फसा हुआ व्यक्ति संसार मे परिभ्रमण करता है।

प्राणी जरा और मृत्यु के प्रहारों से प्रताड़ित हो रहा है। इससे बचने के लिए मनुष्य का आचरण कैसा होना चाहिए इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—पासिय आउरपाणे अप्पमत्तो परिव्वए, मंता

य मइमं पास, आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा, माई पमाई पुण एइ गब्भं, उवेहमाणो सद्दरूवेसु उज्जू माराभिसंकी मरणापमुच्चइ, अप्पमत्तो कामेहिं, उवरओ पावकम्मेहिं, वीरे आयगुत्ते खेयन्ने, जे पज्जवज्जायसत्थस्स खेयन्ने से असत्थस्स खेयन्ने, जे असत्थस्स खेयन्ने से पज्जवज्जाय सत्थस्स खेयन्ने, अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ, कम्मुणा उवाही जायइ कम्मं च पडिलेहाए ॥११०॥

छाया—दृष्ट्वा आतुरप्राणान (प्राणिनः) अप्रमत्तः परिव्रजेत् मत्वा च मतिमन्! पश्य? आरंभजं दुःखम्, इदमिति ज्ञात्वा मायी प्रमादी पुनरेति गर्भम्, उपेक्षमाणः शब्दरूपेषु ऋजुः, माराभिशंकी मरणात् प्रमुच्यते, अप्रमत्तः कामैरुपरतः पाप कर्मभ्यः वीरः आत्म गुप्तः खेदज्ञो य पर्यवजातशस्त्रस्य खेदज्ञः स अशस्त्रस्य खेदज्ञ यः अशस्त्रस्य खेदज्ञ. स पर्यवजात शस्त्रस्य खेदज्ञः अकर्मणः व्यवहारो न विद्यते कर्मणोपाधिर्जायते कर्म च प्रत्युपेक्ष्य।

पदार्थ—आउर पाणे—दुःखी प्राणियों को। पासिय—देखकर। अप्पमत्तो—अप्रमत्त भाव से। परिव्वए—संयम मार्ग का अनुसरण करे। य—और। मइम—हे मतिमन्। पास—भाव सुप्त को देख? मत्ता गुण और दोष को मानकर तू मत शयन कर? आरंभजं—आरम्भ से उत्पन्न हुआ। इणं—यह। दुक्ख—दुःख। ति—इस प्रकार। णच्चा—जानकर। माई—छल करने वाला। पमाई—प्रमाद करने वाला। गब्भ—गर्भ में। एइ—आता है; किन्तु जो। सद्दरूवेसु—शब्द और रूपादि विषयों में। उवेहमाणो—रागद्वेष न करता हुआ। उज्जू—ऋजुमति होता है। माराभिसंकी—मरण से उद्विग्नचित्त वाला। मरणापमुच्चइ—मरण से विमुक्त हो जाता है। कामेहिं—काम-भोगों से। अप्पमत्तो—अप्रमत है और। पावकम्मेहिं—पाप कर्मों से। उवरओ—उपरत है। वीरे—वह वीर। आयगुत्ते—आत्मगुप्त है। खेयन्ने—खेदज्ञ है। जे—जो। पज्जवज्जाय सत्थस्स—शब्दादिविषयों की प्राप्ति के लिए जो हिंसादि क्रियाएं की जाती हैं, जो उनका। खेयन्ने खेदज्ञ है। से—वह। असत्थस्स—संयम का खेयन्ने—खेदज्ञ है। जे—जो असत्थस्स—संयम का। खेयन्ने खेदज्ञ-जानने वाला है। से—वह। पज्जवज्जायसत्थस्स—पर्यवजात शस्त्रका। खेयन्ने—खेदज्ञ है और फिर। अकम्मस्स—

है और परिणाम स्वरूप विभिन्न योनियों में जन्म-जरा और मरण को प्राप्त करता है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति अप्रमत्त है, जागरणशील है, विवेकशील है, संयम-असंयम का परिज्ञाता है, वह आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त नहीं होता। उसकी प्रत्येक क्रिया संयम से युक्त होती है और वह प्रतिक्षण जागरूक रहता है, विवेक के साथ साधना में प्रवृत्त होता है, अतः वह पाप कर्म का बन्ध नहीं करता। परन्तु संयम एवं तप के द्वारा नए कर्मों के आगमन को रोकता है और पुरातन आबद्ध कर्मों की निर्जरा करता रहता है। इस प्रकार वह एक दिन कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त होकर अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है, अपने लक्ष्य पर जा पहुंचता है। अतः मुमुक्षु का कर्त्तव्य है कि असंयम से निवृत्त होकर संयम में प्रवृत्ति करे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'जे पज्जवजायसत्थस्स खेयन्ने' का अर्थ है— जो व्यक्ति शब्दादि विषयों की आकांक्षा की पूर्ति के लिए की जाने वाली क्रियाओं एवं उसके परिणाम का ज्ञाता है वही विशुद्ध संयम का परिज्ञाता हो सकता है*। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र का हेतुहेतुमद्भाव से वर्णन किया है। अर्थात् जो व्यक्ति संसार परिभ्रमण के कारणों का परिज्ञाता है, वह मोक्ष पथ का भी ज्ञाता हो सकता है।

'अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ' का अर्थ है—मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधक समस्त कर्म बन्धनों को तोड़ देता है। और वह आठ कर्मों से मुक्त व्यक्ति फिर से संसार में नहीं आता*। इससे यह स्पष्ट कर दिया है कि कर्म बन्धन से मुक्त आत्मा फिर से संसार में अवतरित नहीं होती? कर्म युक्त आत्मा ही जन्म-मरण के प्रवाह में बहती रहती है। कर्म रहित आत्मा जन्म मरण नहीं करती है। क्योंकि जन्म-मरण का मूल कारण कर्म है और सिद्ध अवस्था में कर्म का सर्वथा अभाव है। इसलिए परमात्मा या ईश्वर के अवतरित होने की कल्पना नितांत असत्य एवं कपोल कल्पित प्रतीत होती है। वस्तुतः कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मा अपने

---

* न विद्यते कर्माष्टप्रकारमस्येत्यकर्मा तस्य व्यवहारो न विद्यते।

आचारांग वृत्तिः।

* शब्दादीनां विषयाणां पर्यवाः—विशेषास्तेषु—तन्निमित्तं जातं शस्त्रं पर्यवजातशस्त्रं — शब्दादिविशेषोपादानाय यत्प्राण्युपघातकार्यानुष्ठानं तत्पर्यवजातशस्त्रं तस्य पर्यवजातशस्त्रस्य यः खेदज्ञो—निपुणः सोऽशस्त्रस्य निरवद्यानुष्ठानरूपस्य संयमस्य खेदज्ञः. यश्चाशस्त्रस्य संयमस्य खेदज्ञः स पर्यवजात—शस्त्रस्यापि खेदज्ञः, इत्यादि।—

आचारांग टीका।

है और परिणाम स्वरूप विभिन्न योनियों में जन्म-जरा और मरण को प्राप्त करता है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति अप्रमत्त है, जागरणशील है, विवेकशील है, सयम-असंयम का परिज्ञाता है, वह आरम्भ-समारम्भ मे प्रवृत्त नहीं होता। उसकी प्रत्येक क्रिया सयम से युक्त होती है और वह प्रतिक्षण जागरूक रहता है, विवेक के साथ साधना में प्रवृत्त होता है, अतः वह पाप कर्म का वन्ध नहीं करता। परन्तु सयम एवं तप के द्वारा नए कर्मों के आगमन को रोकता है और पुरातन आवद्ध कर्मों की निर्जरा करता रहता है। इस प्रकार वह एक दिन कर्म वन्धनों से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त होकर अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है, अपने लक्ष्य पर जा पहुचता है। अत. मुमुक्षु का कर्त्तव्य है कि असंयम से निवृत्त होकर संयम में प्रवृत्ति करे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'जे पज्जवज्जायसत्थस्स खेयन्ने' का अर्थ है— जो व्यक्ति-शब्दादि विषयों की आकांक्षा की पूर्ति के लिए की जाने वाली क्रियाओं एव उसके परिणाम का ज्ञाता है वही विशुद्ध संयम का परिज्ञाता हो सकता है❀। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र का हेतुहेतुमद्भाव से वर्णन किया है। अर्थात् जो व्यक्ति संसार परिभ्रमण के कारणों का परिज्ञाता है, वह मोक्ष पथ का भी ज्ञाता हो सकता है।

'अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ' का अर्थ है—मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधक समस्त कर्म वन्धनों को तोड़ देता है। और वह आठ कर्मों से मुक्त व्यक्ति फिर से संसार मे नहीं आता❀। इससे यह स्पष्ट कर दिया है कि कर्म वन्धन से मुक्त आत्मा फिर से संसार मे अवतरित नहीं होती ? कर्म युक्त आत्मा ही जन्म-मरण के प्रवाह में वहती रहती है। कर्म रहित आत्मा जन्म ग्रहण नहीं करती है। क्योंकि जन्म-मरण का मूल कारण कर्म है और सिद्ध अवस्था मे कर्म का सर्वथा अभाव है। इसलिए परमात्मा या ईश्वर के अवतरित होने की कल्पना नितात असत्य एवं कपोल कल्पित प्रतीत होती है। वस्तुत कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मा अपने

❀ न विद्यते कर्माष्टप्रकारमस्येत्यकर्मा तस्य व्यवहारो न विद्यते।

आचाराग वृत्ति.।

❀ शब्दादीना विषयाणा पर्यवा —विशेषास्तेषु—तन्निमित्तं जात शस्त्रं पर्यवजात शस्त्र — शब्दादिविशेषोपादानाय यत्प्राण्युपघातकार्यानुष्ठान तत्पर्यवजातशस्त्र तस्यपर्यवजातशस्त्रस्य य खेदज्ञो—निपुण सोऽशस्त्रस्य निरवद्यानुष्ठानरूपस्य सयमस्य खेदज्ञ यद्वाशस्त्रस्य संयमस्य खेदज्ञ, स पर्यवजात:—शस्त्रस्यापि खेदज्ञ, इत्यादि।—

आचाराग वृत्ति।

विशुद्ध स्वरूप में रमण करती है, फिर वह संसार में नहीं भटकती है।

अत मुमुक्षु को कर्मों की मूल एवं उत्तर प्रकृतियों को सर्वथा क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—कम्म मूलं च ज छणं, पडिलेहिय सव्वं समायाय दोहिं अन्तेहिं अदिस्समाणो तं परिन्नाय मेहावी विइत्ता लोगं वंता लोगसन्नं से मेहावी परिक्कमिज्जासि, त्तिबेमि ॥१११॥

छाया—कर्ममूलं च यत् क्षणं प्रत्युपेक्ष्य सर्वं समादाय द्वाभ्यामन्ताभ्याम-दृश्यमानः तं परिज्ञाय मेधाविन्! विदित्वा लोकं वान्त्वा लोकसञ्ज्ञां स मेधावी परिक्रमेत्—पराक्रमेत् इति ब्रवीमि।

पदार्थ—कम्ममूल—कर्म मूल को। पडिलेहिय—प्रत्युपेक्षण कर। च—समुच्चय अर्थ मे है, तथा। ज छणं—जो हिंसा है वही कर्म मूल है उसको छोड देवे। सव्व—सर्व। समायाय—उपदेश पूर्वक सयमग्रहण करके। दोहिंअतेहिं—दोनो से—राग और द्वेष से आत्मा को पृथक् करके तथा राग और द्वेष को। अदिस्समाणे—अदृश्यमान करता हुआ। तं—उस कर्म के कारणो को परिन्नाय—ज्ञपरिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर। मेहावी—बुद्धिमान लोग विषय कषाय रूप को। विइत्ता—जानकर अत। वता—छोड कर। लोगसन्न—लोक सज्ञा को। से वह मेहावी—मर्यादावर्त्ती बुद्धिमान पुरुष। परिक्कमिज्जासि—सयमानुष्ठान मे पराक्रम करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—प्रबुद्ध पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह हिसा आदि दोषो को कर्म का मूल जानकर और भगवान के उपदेश को जीवन मे ग्रहण करके राग-द्वेष से निवृत्त होता हुआ कर्मो को क्षय करने का प्रयत्न करे और मर्यादा का परिपालन करता हुआ सयम मे पुरुषार्थ करे। ऐसा मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

कर्म बन्ध के मूल कारण ५ हैं—१-मिथ्यात्व, २-अव्रत, ३-कषाय, ४-प्रमाद और ५-योग। इनके कारण ही जीव ससार मे परिभ्रमण करता है। इस बात को जिनेश्वर भगवान ने अपने उपदेश मे स्पष्ट कर दिया है और उससे मुक्त होने का मार्ग भी बताया है। अत भगवान के उपदेश को हृदयगम करके मुमुक्षु पुरुष को

उसके अनुरूप आचरण करना चाहिए। संसार के वास्तविक स्वरूप को समझकर राग-द्वेष से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

राग-द्वेष कर्म बन्ध के बीज हैं।। इसलिए मुख्य रूप से इन के त्याग का उपदेश दिया गया है। जो व्यक्ति राग-द्वेष का परित्याग कर देता है, उनका सर्वथा उन्मूलन कर देता है, फिर वह कर्म बन्धन से नहीं बन्धता है और परिणाम स्वरूप जन्म-मरण आदि समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

प्रस्तुत सूत्र मे 'अत' शब्द राग-द्वेष के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है*। अत बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का आराधन करके आत्मा को कर्ममल से मुक्त बनाने का प्रयत्न करे।

यहा 'मेधावी' शब्द का दो वार अर्थ हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष मर्यादा मे स्थित रहता है, वही आत्म विकास कर सकता है, संयम मे प्रवृत्त हो सकता है। अत ऐसा व्यक्ति ही वास्तव मे पडित एव बुद्धिमान होता है।

'तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए।

प्रथम उद्देशक समाप्त

। रागो य दोसो वि य कम्मीय। उत्तराध्ययन सूत्र-३२

* अन्तहेतुत्वादन्तो— राग-द्वेषौ ताभ्या सहादृश्यमान ताभ्यामनपदिश्यमानो या तत्कर्मेति।

—आचाराग वृत्ति।

तृतीय अध्ययन-शीतोष्णीय

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक मे भाव सुप्त एव जागरणशील पुरुष के स्वरूप को वताया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में प्रबुद्ध पुरुष पाप कर्म नहीं करता। पाप कर्म करने से जीव किस प्रकार दु खी होता है, इस उद्देशक मे इसका सजीव वर्णन किया गया है और कहा है कि आतकदर्शी—नरक आदि दुर्गति में मिलने वाले दुखों से बचने वाला कभी भी पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। भाव निद्रा में सुप्त पुरुष ही पाप की ओर प्रवृत्त होता है। इसलिए प्राय वह दु'खों एवं असातावेदनीय कर्म का संवेदन करता है। इन भावों को स्पष्ट अभिव्यक्त करने वाले प्रस्तुत उद्देशक का प्रथम सूत्र निम्न है—

मूलम्—जाइं च वुड्ढिं च इहऽज्ज ! पासे,
भूएहिं जाणे पडिलेह सायं।
तम्हाऽतिविज्जे परमंति णच्चा, संमत्तदंसी न करेइ पाव ॥४॥

छाया—जातिं च बृद्धिञ्च इहार्य पश्य। भूतैर्जानीहि प्रत्युपेक्ष्य सातं।
तस्मादतिविद्यः परमिति ज्ञात्वा, सम्यक्त्वदर्शी न करोति पापं।

पदार्थ—अज्ज—हे आर्य ! तू। जाइं—जन्म। च—और। वुड्ढिं—वृद्धत्व को इह—इस मनुष्य लोक में। पासे—देख। भूएहिं—जीवो के। साय—साता-सुख को। पडि-लेह—प्रतिलेखन कर के। जाणे—अपने समान जान अर्थात् सभी जीव मेरे समान सुख चाहते हैं। तम्हा—इसलिए। अतिविज्जे—तत्त्व निर्णायक विद्या एवं। परमं—मोक्ष को। णच्चा—जानकर। ति—पूर्णार्थ मे है। सम्मत्तदसी—सम्यग्दृष्टि। पाव न करेइ—पापकर्म नही करता है।

मूलार्थ—हे आर्य! तू इस लोक मे जन्म जरा (बुढापे) के दुःख को देख। और जीवो के सुख का प्रतिलेखन कर यह जान ले कि सभी जीव

सुख चाहते है। इसलिए तत्त्व एव मोक्ष का परिज्ञाता सम्यग् दृष्टि जीव पाप कर्म नही करता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे इस बात पर जोर दिया गया है कि साधक सबसे पहिले जन्म-जरा एवं मृत्यु के स्वरूप तथा जीवों के स्वभाव को जाने। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जन्म-जरा एवं मरण कर्म जन्य हैं और आरम्भ हिसा आदि दोषों का सेवन करने से कर्म का बन्ध होता है। क्योंकि हिसा से दूसरे प्राणियों को कष्ट होता है, दु.ख होता है। और कोई भी प्राणी दु ख नहीं चाहता। कारण कि जीव स्वभाव से सुखाभिलाषी हैं। सभी प्राणी सुख चाहते हैं। अत उन्हें कष्ट देना, परिताप देना, पीड़ा पहुंचाना पाप है। इस से कर्म का बन्ध होता है और परिणाम स्वरूप जीव जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान होता है तथा विभिन्न दु खों का सवेदन करता है।

अत: जन्म-जरा के स्वरूप एव जीवों के स्वभाव का ज्ञाता प्रबुद्ध पुरुष आरंभ-समारंभ से बचने का प्रयत्न करता है। सम्यग्दृष्टि पाप कर्म मे प्रवृत्त नहीं होता है। इससे स्पष्ट है कि पाप कर्म मे आसक्ति तब तक रहती है. जब तक आत्मा में सद्-ज्ञान की ज्योति नहीं जगती। अत. पाप का कारण अज्ञान है। यह ठीक है कि ज्ञान की प्राप्ति होने के बाद आरम्भ होता है, परन्तु अज्ञान दशा मे की जाने वाली प्रवृत्ति एवं ज्ञान पूर्वक होने वाली प्रवृत्ति में रात-दिन का अन्तर है। मिथ्यादृष्टि आरभ-समारभ मे संलग्न रहता है, आसक्त रहता है और हार्दिक इच्छा पूर्वक उसमें प्रवृत्ति करता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि उसमे आसक्त नहीं बनता, वह परिस्थितिवश उसमें प्रवृत्त होता है, फिर भी वह भावना से उस कार्य को त्याज्य ही समझता है।

कुछ लोग इसका यह अर्थ करते है कि सम्यग्दृष्टि को पाप कर्म नहीं लगता परन्तु यह अर्थ सामान्य सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा घटित नहीं होता। छठे गुणस्थान की अपेक्षा से यह कथन उचित है कि उक्त गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव को पाप कर्म नहीं लगता। परन्तु उसके नीचे के गुणस्थानों के लिए यह कथन ठीक नहीं है। इसके लिए हम यहां थोड़ा-सा गुणस्थान के विकासक्रम पर भी सोच ले तो यह विषय बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगा।

चौथे गुणस्थान से जीवन विकास आरम्भ होता है। इस गुणस्थान को स्पर्श करते ही मिथ्यादर्शन की क्रिया रुक जाती है। पांचवें गुणस्थान मे अप्रत्याख्यान की क्रिया नहीं लगती, छठे गुणस्थान में परिग्रह की क्रिया नहीं लगती, और वीतराग

गुणस्थान मे केवल इरियावहिया क्रिया लगती है और अयोगिगुणस्थान मे कोई क्रिया नहीं लगती। इससे स्पष्ट है कि पाप कर्म का बन्ध छठे गुणस्थान मे रुकता है। उक्त गुणस्थान मे अप्रत्याख्यान एवं परिग्रह—आसक्ति का अभाव रहता है। परन्तु पाचवे गुणस्थान मे पदार्थों के प्रति आसक्ति का पूर्ण त्याग नहीं होता और चौथे गुणस्थान मे जीव आसक्ति को त्याज्य समझता है, परन्तु वह उसका आंशिक त्याग भी नहीं कर सकता। इसलिए चौथे एवं पांचवे गुणस्थान मे रहा हुआ जीव आरम्भ-परिग्रह से सर्वथा निवृत्त नहीं होता। परन्तु उसकी भावना निवृत्त होने की रहती है और विवशतावश वह उसमे प्रवृत्त होता है। इसलिए यह कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव पाप कर्म में प्रवृत्ति नहीं करता है।

निष्कर्ष यह निकला कि दु खों से बचने के लिए ज्ञान का होना जरूरी है। प्रबुद्ध—ज्ञानी पुरुष ही पापों से बच सकता है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि "भूएहिं जाणे पडिलेह सायं" इसका तात्पर्य यह है कि जो यथार्थ ज्ञान के द्वारा मोक्ष के स्वरूप को जानकर उसे प्राप्त करने की साधना में संलग्न रहता है, वह पाप कर्म मे प्रवृत्त नहीं होता। क्योंकि वह पाप कर्म के दुष्फल—दु खद परिणाम से परिचित होता है*।

इससे स्पष्ट होता है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर साधक अपने आपको सदा पाप कर्म से निवृत्त करने का प्रयत्न करता है। वह पाप कर्म के दुखद परिणामों को जानकर उनसे बचने के लिए धर्म का आचरण करता है, संयम साधना में सलग्न होता है। यों कहना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि आत्माभिमुखी होता है। वह अपनी आत्मा को भूलाकर कोई कार्य नहीं करता।

पाप कर्म की उत्पत्ति का कारण राग-स्नेह है। इसके वशीभूत होकर मनुष्य विभिन्न दुष्कर्मों मे प्रवृत्त होता है। अत मुमुक्षु को राग भाव का त्याग करना चाहिए। इसी बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उम्मुञ्च पासं इह मच्चिएहिं, आरंभजीवी उभयाणुपस्सी

---

*भूतानि—चतुर्दशभूतग्रामास्तै सममात्मन सात—सुख प्रत्युपेक्ष्य पर्यालोच्य जानीहि, तथाहि—यथा त्वं सुखप्रिय एवमन्येऽपीति, यथा च त्व दुखद्विडेवमन्येऽपि जन्तव, 'एव मत्वाऽन्येषामसातोत्पादनं न विदध्या'।

—आचाराग वृत्ति।

मूलम्—अवि से हासमासज्ज, हंता नंदीति मन्नइ।
अलं बालस्स संगेण, वेरं वड्ढेइ अप्पणो ॥६॥

छाया—अपि स हासमासाद्य, हत्वा नन्दीति मन्यते।
अलं बालस्य संगेन वैरं वर्द्धयति आत्मन ॥

पदार्थ—अवि—सभावना अर्थ मे है। हास आसज्ज—हास्य को स्वीकार करके। से—वह, विषयासक्त पुरुष। हता—जीवो को मारकर। नदीति—आनन्द। मन्नइ-मनाता है। अल-वस—पर्याप्त है, वह। बालस्स—वाल-अज्ञानी के। संगेण—ससर्ग से। अप्पणो—अपनी आत्मा के साथ। वेर—वैर भाव को। वड्ढेइ—वढा रहा है।

मूलार्थ—वह विषयासक्त व्यक्ति हास्य को ग्रहण करके हसी-विनोद के लिए जीवो को मार कर प्रसन्न होता है। ऐसे अज्ञानी पुरुष के ससर्ग से आत्मा वैर भाव को बढता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि हास्य एवं अज्ञान से आत्मा में वैर भाव बढ़ता है। क्योंकि हास्य एव अज्ञान के वश मनुष्य हिंसा आदि पाप कार्य मे प्रवृत्त होता है और उसमें आनन्द एवं प्रसन्नता का अनुभव करता है। परन्तु मरने वाला प्राणी उस दु ख से बचने के लिए पूरा प्रयत्न करता है, अपनी सारी शक्ति लगा देता है। कारण यह है कि सभी प्राणी जीने के इच्छुक, हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसलिए हम देखते हैं कि वध गृह, बलिदान के स्थान पर या किसी अन्य स्थान में मारने के लिए लाए हुए बकरे आदि पशुओं को जब मारा जाता है, तो वे उसके कठोर बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं। और उनकी इस चेष्टा को रोकने के लिए घातक के मन मे क्रूरता और अधिक उग्र रूप धारण करती है और प्रतिक्षण द्वेष-भाव बढ़ता है। उधर मरने वाले प्राणी के मन मे भी बदले की भावना उद्बुद्ध होती है—भले ही वह दुर्बल होने के कारण अपनी चेष्टा में सफल नह होता, परन्तु प्रतिशोध की भावना उसके मन से नहीं निकलती। इस प्रकार दोन व्यक्ति वैर भाव का अनुबन्ध कर लेते हैं। इससे यह कहा गया कि ऐसा अज्ञानी व्यक्ति एव उसका ससर्ग करने वाला व्यक्ति भी वैर भाव को बढ़ाता है।

कछ लोग केवल विनोद एवं शौर्य प्रदर्शन के लिए शिकार करके प्रसन्न होते

हैं। कुछ लोग वेद विहित यज्ञों में एवं देवी-देवताओं को तुष्ट करने के लिए पशुओं का बलिदान करके आनन्द मनाते हैं। इस प्रकार स्वर्ग एवं पुत्र-धन आदि की प्राप्ति तथा शत्रुओं के नाश के लिए या धर्म के नाम पर मूक एवं असहाय प्राणी की हिंसा करना, धर्म की पवित्र मानी जाने वाली वेदी को निरपराधी प्राणियों के खून से रंग कर आनन्द मनाना भी पतन की पराकाष्ठा है और आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट बाल-भाव—अज्ञान है। इससे आत्मा पतन के महागर्त मे गिरता है।

इन सब पाप कार्यों का मूल कारण विषय-कषाय है। अत मुमुक्षु पुरुष को विषय-कषाय का परित्याग करके पाप कर्म से सर्वथा निवृत्त हो जाना चाहिए। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तम्हा तिविज्जो परमंति णच्चा आयकदंसी न करेइ पावं-अग्गंच मूलंच विगिंच धीरे पलिच्छिंदिया णं निक्कम्मदंसी ॥४॥

छाया—तस्मदतिविद्वान् परममितिज्ञात्वा, आतंकदर्शी न करोति पापम्।
अग्रञ्च मूलं च त्यज धीर! परिच्छिद्य निष्कर्मदर्शी ॥

पदार्थ—तम्हातिविज्जो—इसलिए प्रबुद्ध—विशिष्ट ज्ञानी पुरुष। परमंति—मोक्ष को सर्व श्रेष्ठ। णच्चा—जानकर वह। आंयंकदंसी—आतकदर्शी-नरकादि दुःखो के कारण एव परिणाम का द्रष्टा। पाव न करेइ—पाप कर्म को नही करता।

धीरे—हे धैर्यवान! तू। अग्ग—भवोपग्राही वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन कर्म चतुष्टय और। मूलं—आत्मा के मूल गुण के घातक-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म चतुष्टयको। च—समुच्चयार्थक। विगिंच—दूर कर। ण—वाक्यालकार मे। पलिच्छिंदिया—तप संयम के द्वारा कर्म वृक्ष के मूल एवं शाखा-प्रशाखा का छेदन करके। निक्कमदंसी—निष्कर्मदर्शी—कर्म रहित हो कर जगत का द्रष्टा बन जाता है अर्थात् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो जाता है।

मूलार्थ—इसलिए आतंकदर्शी नरकादि दुखो के कारण एव उसके परिणाम का यथार्थ द्रष्टा प्रबुद्ध पुरुष पाप कर्म मे प्रवृत्त नही होता। हे आर्य! तू आत्मा के मूल को प्रच्छन्न करने वाले घातिकर्म चतुष्टय और ससार मे रोक के रखने वाले अघातिकर्म चतुष्टय को दुर कर, धैर्यवान पुरुष तप साधना के द्वारा कर्म वृक्ष की शाखा-प्रशाखा एव मूल का

उन्मूलन करके आत्मा एवं लोक के स्वरूप का द्रष्टा, निष्कर्म अर्थात् कर्म आवरण से रहित सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाता है ।

हिन्दी विवेचन

प्रबुद्ध पुरुष पाप कर्म मे प्रवृत्त नहीं होता है। प्रबुद्ध पुरुष वह है, जो लोक के यथार्थ स्वरूप को जानता है। जो इस बात को भली-भाति जानता है कि यह जीव आरम्भ-समारम्भ आदि दुष्कर्मों मे प्रवृत्त होकर कर्म का सग्रह करता है और उसके परिणाम स्वरूप नरकादि लोक मे विभिन्न दु:खों का संवेदन करता है। इसके साथ वह यह भी जान लेता है कि जीव आरम्भ आदि दोष जन्य प्रवृत्ति से निवृत्त हो कर निष्कर्म बन जाता है और वही मार्ग—जिस पर चलकर जीव निष्कर्म बनता है मोक्ष मार्ग कहलाता है । अत लोक एव मोक्ष के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला साधक ही प्रबुद्ध पुरुष कहलाता है। और वह यथार्थ द्रष्टा पाप कार्य के दु खद परिणामों को जानता है, इसलिए वह पाप कार्य मे प्रवृत्ति नहीं करता है।

जब मनुष्य पाप कर्म से सर्वथा निवृत्त हो जाता है, तो वह दु ख एव भव परिभ्रमण के मूल एव उत्तर कारणों का समूलत नाश कर देता है। तथागत बुद्ध ने भी दु ख नाश करने का उपदेश दिया है। परन्तु बुद्ध एव महावीर के उपदेश मे पर्याप्त अन्तर है। बुद्ध की दृष्टि केवल भौतिक दु खों तक ही सीमित रही है। वे एक डाक्टर की भाति नशे का इन्जेक्शन देकर बाहरी वेदना को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। वे दु ख की मूल जड़ को नहीं पकड़ते और न उसके नाश का ही प्रयत्न करते हुए दिखाई देते हैं। परन्तु भगवान महावीर केवल भौतिक दु ख के नाश मे ही नहीं उलझे रहे। उन्होंने दु ख के मूलकारण को खोजा और एक निपुण चिकित्सक की तरह रोग को जड़ से उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया ।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'अग्ग च मूल च . ' पाठ इस बात को स्पष्ट कर रहा है कि भगवान महावीर या जैन दर्शन का मूल स्वर संसार वृक्ष के पत्तों को ही नहीं, अपितु उसकी जड़ को उखाडने का रहा है । उन्होंने अग्र भाग को भी समाप्त करने की बात कही, उसका भी मार्ग बताया है, परन्तु साधक का लक्ष्य केवल शाखा-प्रशाखाओं का नाश तक ही नहीं, अपितु उस विषाक्त वृक्ष को जड़ से उन्मूलन करने का है। जैन दर्शन ऊपर ऊपर से ही काट-छाट करने का पक्षपाती नहीं है, वह जड मूल से नाश करने का उपदेश देता है।

मूल कर्म चार हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म

क्योंकि ये आत्मा के मूल गुणों को प्रच्छन्न करने वाले हैं। उसके अनन्त ज्ञान दर्शन, अव्यवाध सुख और वीर्य—शक्ति को ढकने वाले हैं। शेष चार कर्म—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म आत्मा के मूल गुणों को प्रभावित नहीं करते हैं। उनका प्रभाव इतना ही रहता है कि वे आत्मा को संसार में रोके रखते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा के मूल गुणों के घातक पहिले चार कर्म हैं, इसलिए उन्हें घातिकर्म कहते हैं। उनके नाश का अर्थ है— संसार का नाश। यह सत्य है कि वृक्ष को जड़ से उखाड़ते ही शाखा-प्रशाखा एवं पत्ते आदि नष्ट नहीं हो जाते। परन्तु साथ में यह भी तो है कि मूल का नाश होने के बाद शाखा आदि का अस्तित्व थोड़े समय का ही रह जाता है। क्योंकि उन्हें पोषण मूल से ही मिलता है और उसके नाश होते ही उन्हें पोषण मिलना बन्द हो जाता है और परिणाम स्वरूप वे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। यही स्थिति संसार की है। मूल कर्मों के क्षय होते ही शेष कर्म आयुष्य कर्म की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाते हैं और यह जीव पूर्णतः निष्कर्म—कर्म आवरण से रहित बन जाता है।

निष्कर्म जीव किस गुण को प्राप्त करता है इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एस मरणापमुच्चइ, से हु दिट्ठभए मुणी; लोगंसि परमदंसी विवित्तजीवी उवसंते समिए सहिए सया जए काल-कंखी परिव्वए, बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं ॥११२॥

छाया—एष मरणात् प्रमुच्यते स खलु दृष्टभयो मुनिर्लोके परमदर्शी विविक्तजीवी उपशान्तः समितः सहितः सदायतः कालाकांक्षी परिव्रजेत् बहु च खलु पापकर्म प्रकृतम्।

पदार्थ—एस—वह निष्कर्मदर्शी। मरणा—मृत्यु से। पमुच्चइ—मुक्त हो जाता है, और। से हु—निश्चय ही वह। मुणी—मुनि। बहुं—बहुत। च—समुच्चयार्थ में। खलु। निश्चयार्थक है। पावकम्मं—पाप कर्म। पगडं—जो पूर्व में बंधा हुआ है या प्रकट है, उसे दूर करने के लिए वह। दिट्ठभए—भयों का द्रष्टा। लोगंसि—लोक में। परमदंसी—मोक्ष या संयम मार्ग का द्रष्टा। विवित्त जीवी—स्त्री, पशु और नपुंसक रहित निर्दोष उपाश्रय में रहने वाला या राग द्वेष रहित। उवसंते—उपशान्त रूप। समिए—पांच समिति से युक्त।

सहिए — ज्ञानवान् । सया — सदा । जए — यत्नशील । कालकखी — पंडित मरण का आकाक्षी । पव्विए — सयम मार्ग पर चले ।

मूलार्थ-निष्कर्मदर्शी जन्म-मरण से मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है अत निष्कर्म-दर्शी बनने का अभिलाषी मुनि पूर्व मे बान्धे हुए पाप कर्म को क्षय करने के लिए वह सात भयो का द्रष्टा लोक मे मोक्ष या सयम मार्ग का परिज्ञाता, शुद्ध एव निर्दोष स्थान-उपाश्रय मे ठहरने वाला, उपशात भाव मे रमण करने वाला, पाच समिति से युक्त एव सदा यत्नशील होकर पण्डितमरण की आकाक्षा रखते हुए सयम साधना मे सलग्न रहे ।

हिन्दी विवेचन

जन्म-मरण कर्मजन्य हैं । आयु कर्म के उदय से जन्म होता है और क्षय होने पर मृत्यु आ घेरती है । फिर आयु कर्म उदय होने पर अभिनव योनि मे जन्म होता है और उसका क्षय होते ही वह उस योनि के भौतिक शरीर को वहीं छोड़ कर चल देता है। इस प्रकार वह बार-बार जन्म मरण के प्रवाह में वहता है और बार-बार गर्भाशय एवं विभिन्न योनियों में अनेक दु खों का संवेदन करता है । अत. जब तक कर्म बन्ध का प्रवाह चालू है, तब तक आत्मा काल-चक्र से मुक्त नहीं होता। अत· मृत्यु पर विजय पाने के लिए जन्म के कारण कर्म का क्षय करना जरूरी है। जब जीव निष्कर्म हो जाता है; तब फिर वह मृत्यु के दु ख से मुक्त हो जाता है । कारण कि निष्कर्म आत्मा का जन्म नहीं होता और जब जन्म नही होता—तो फिर मृत्यु का तो प्रश्न ही नहीं उठता । मृत्यु जन्म के साथ लगी हुई है । हम यों भी कह सकते हैं कि जन्म का दूसरा रूप मृत्यु है। मनुष्य जिस क्षण जन्म लेता है. उसके दूसरे क्षण ही वह मृत्युकी ओर पाव बढ़ाने लगता है। इसलिए निष्कर्म बनने का अर्थ है— जन्म और मरण की परम्परा को सदा-सर्वदा के लिए समाप्त कर देना ।

इसलिए साधक को सब से पहिले निष्कर्मदर्शी बनना चाहिए। उसकी दृष्टि, भावना एव विचार-चिन्तन निष्कर्म बनने की ओर ही होनी चाहिए । जब मन में निष्कर्म बनने की भावना उद्बुद्ध होगी, तब ही वह उस ओर पांव बढा सकेगा और उस मार्ग में आने वाले प्रतिकूल एव अनुकूल साधनों को भली-भांति जान सकेगा । इसी दृष्टि को सामने रख कर कहा गया है—वह सप्त भय एवं सयम मार्ग का द्रष्टा है । उनके स्वरूप एव परिणाम को भली-भाति जानता है । इसलिए उसे 'परमदंसी' —परमदर्शी

अर्थात् सर्व श्रेष्ठ मोक्ष मार्ग का द्रष्टा कहा है।

वह ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न साधक आचार से भी सम्पन्न होता है। वह एकांत शांत एवं निर्दोष स्थान में ठहरता है और अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थिति के उपस्थित होने पर भी राग-द्वेष नहीं रखता हुआ समभाव से संयम साधना में संलग्न रहता है। सदा उपशांत भाव मे निमज्जित रहता है। और पांच समिति से युक्त होकर तप संयम के द्वारा पूर्व में बन्धे हुए पाप कर्मों का क्षय करने में सदा यत्नशील रहता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'परमदंसी' पद से यह अभिव्यक्त किया गया है कि साधक सम्यग्दर्शन और ज्ञान से सम्पन्न होता है। 'समिए' शब्द चारित्र का परिचायक है और 'विवित्त जीवी' और 'परिव्वए' शब्द तप एवं वीर्य आचार के ससूचक हैं। इस प्रकार इस सूत्र मे साधक का जीवन ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य पांचों आचार से युक्त बताया गया है।

साख्य दर्शन आत्मा को कर्म से आवद्ध नहीं मानता है। उसके विचार में आत्मा शुद्ध है, इसलिए बन्ध एवं मोक्ष आत्मा का नहीं, प्रकृति का होता है। परन्तु वस्तुत संसारी आत्मा वन्धन रहित नहीं हैं। क्योंकि वह निष्कर्म नहीं, अपितु कर्मयुक्त है। 'वहु पाव कम्म पगड' इस पाठ से इसी वात को स्पष्ट किया गया है कि वह वहुत पापकर्म से आवद्ध है।

अत: निष्कर्म व्यक्ति को पापकर्मों का सर्वथा क्षय कैसे करना चाहिए? इस का मार्ग वताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सच्चंमि*धिइं कुव्वहा, एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसइ ॥११३॥

छाया—सत्ये धृतिं कुरुध्वं अत्रोपरतो मेधावी सर्वं पापं-कर्म झोषयति।

पदार्थ—सच्चंमि—सयम मे। धिइं—धृति। कुव्वहा—कर। एत्थोवरए—इस सयम मे जो उपरत है वह। मेहावी—तत्त्वदर्शी। सव्व—सर्व। पावं कम्म—पाप कर्म को। झोसइ—क्षय-नष्ट कर देता है।

मूलार्थ—जो तत्त्वदर्शी पुरुष सयम मे संलग्न है, वह समस्त पाप-

* सच्चंसि—इति पाठान्तरम

कर्म को क्षय कर देता है। अत हे आर्य! सत्य-सयम मे धैर्य करो अर्थात् धैर्य के साथ सत्य सयम का परिपालन करो।

हिन्दी विवेचन

इस बात को हम देख चुके हैं कि हिंसा, असत्य, असंयम आदि दोषों से पाप कर्म का बन्ध होता है। और सयम से पाप कर्म का प्रवाह रुकता है एवं उसके साथ सत्य एवं तप आदि सद्गुण होने से पूर्व बन्धे हुए पाप कर्म का क्षय भी होता है। इस प्रकार संयम की साधना—आराधना से जीव कर्मों का आत्यांतिक क्षय कर देता है। इससे स्पष्ट हुआ कि सयम साधना का फल निष्कर्म—कर्म रहित होना है।

'एत्थोवरए' पद का अर्थ है— भगवान के वचनों पर विश्वास करके संयम में जो रत है—सलग्न हैं। और 'सव्व पाव कम्मं झोसइ' का तात्पर्य है—समस्त अवशिष्ट पाप कर्मों का क्षय करना❀। अत निष्कर्म बनने के लिए साधक को धैर्य के साथ सत्य संयम का परिपालन करना चाहिए।

जो संयम का परिपालन नहीं करते हैं। उन प्रमादी जीवों की स्थिति का चित्रण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्-- अरोगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पूरित्तए, से अरणवहाए, अरणपरियावाए, अरणपरिग्गहाए जणवयवहाए, जणवयपरियावाए, जणवयपरिग्गहाए ॥११४॥

छाया—अनेक चित्तः खलु अयं पुरुषः स केतनमर्हति पूरयितुं सोऽन्य-वधाय, अन्यपरितापाय, अन्यपरिग्रहाय, जनपदवधाय, जनपदपरितापाय, जनपदपरिग्रहाय —जनपदपरिवादाय।

पदार्थ—खलु—अवधारण अर्थ मे है। अयं अणेग चित्ते—यह अनेक चित्त वाला। पुरिसे—पुरुष। से केयण—वह लोभ रूप घर को। पूरित्तए—भरने की। अरिहए—इच्छा करता है। से—वह लोभ पूर्ति के लिए। अण्णवहाए—अन्य जीवों का वध करता है।

❀ 'अत्र' अस्मिन् संयमे भगवद् वचसि वा उप—सामीप्येन रतो—व्यवस्थितो। और, सर्वं अशेषं पापं, कर्मं, ससारार्णवपरिभ्रमणहेतुं झोषयति—शोषयति क्षयं नयतीति यावत्।

—आचारांग वृत्ति।

अण्णपरियावाए — अन्य प्राणियो को परिताप देता है । अण्णपरिग्गहाए — अन्य द्विपद-चतुष्पद आदि प्राणियो को अपने अधीन करता है । जणवयवहाए— जनपद का सहार करने के लिए प्रवृत्त होता है । जणवयपरिग्गहाए — जनपद को अपने अधीन बनाने का प्रयत्न करता है ।

मूलार्थ — अनेक चित्त वाला पुरुष अपनी अतृप्त तृष्णा को पूरो करने की आकाक्षा रखता है और इसके लिए वह अन्य जीवो एव जनपद का वध करने, उन्हे परिताप देने एव उन्हें अपने अधीन बनाने के लिए प्रवृत्त होता है ।

हिन्दी विवेचन

कषाय आत्म गुणों के नाशक हैं । क्रोध प्रेम का, मान विनय का और माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सभी गुणों का विनाश करता है। क्रोधादि एक-एक आत्म गुण के नाशक हैं, परन्तु लोभ इतना भयंकर शत्रु है कि वह गुण मात्र को नष्ट कर देता है। लोभ के नशे मे मनुष्य इतना बेईमान हो जाता है कि वह अच्छे-बुरे कार्य का भेद ही नहीं कर पाता। वह न करने योग्य कार्य भी कर बैठता है। लोभी मनुष्य अपनी अनन्त तृष्णा के गढ़े को भरने के लिए रात-दिन दुष्प्रवृत्तियों मे लगा रहता है।

स्वाद एवं धन के लोभ से मनुष्य अनेक पशु-पक्षी एवं मनुष्यों तक की हिंसा करते हुए संकोच नहीं करता। आज देश मे बढ़ती हुई हिंसा मनुष्यों के लोभ का ही परिणाम है । जिह्वा के स्वाद के लिए भी हिसा होती है, परन्तु इसके अतिरिक्त करोड़ों रुपए का पशुओं का चमड़ा, आते; जिगर, सींग एवं चर्बी विदेशों में भेजने के लिए भी प्रतिदिन हजारों पशुओं को मारा जाता है। इसके अतिरिक्त डाकू-लुटेरे राह चलते मनुष्यों को या गावों मे मनुष्यों को मार कर धन-माल लूट लेते हैं। बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों को अपने अधीन बनाकर उनके धन-वैभव से अपने राष्ट्र को सम्पन्न बनाने के लिए उन पर आक्रमण करके लाखों मनुष्यों को मार डालते हैं ! आज के अणु युग में ऐटमबम की शक्ति से पूरे जनपद (राष्ट्र) को देखते ही देखते राख का ढेर बनाया जा सकता है। नागासाकी और हिरोशिमा का उदाहरण हमारे सामने है। इन सब दुष्कर्मों का मूल कारण तृष्णा है। लोभ-लालच के वश ही मनुष्य पशु-पक्षी एवं व्यक्तियों का सहार करने के लिए प्रवृत्त होता है।

'जणवय परिग्गहाय'—जनपद परिवादाय का अर्थ है—लोगों को चोर-डाकू

आदि बताकर उनकी निन्दा करना*। जब कि सूत्र में क्रियापद का उल्लेख नहीं किया है, फिर भी यहा क्रिया का अध्याहार कर लेना चाहिए।

लोभ आत्मा के अध्यात्मिक विकास मे प्रतिबन्धक चट्टान है। इसलिए मुमुक्षु को लोभ के स्वरूप एवं उसके परिणाम को जानकर उसका त्याग कर देना चाहिए। इसी बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्--आसेवित्ता एतं(एवं)अट्ठं इच्चेवेगे समुट्ठिया, तम्हा तं बिइयं नो सेवे निस्सारं पासिय नाणी. उववायं चवणं णच्चा, अणण्णं चर माहणे, से न छणे न छणावए छणंतं नाणुजाणइ, निव्विंद नंदिं, अरए पयासु, अणोमदंसी, निसण्णे पावेहिं कम्मेहिं॥११५॥

छाया—आसेव्य एतम् (एवं) अर्थमित्येवैके समुत्थिताः तस्मात् तं द्वितीयं नो सेवेत, निस्सार दृष्ट्वा ज्ञानी उपपातं च्यवनं ज्ञात्वा अनन्यं चर, माहन! (मुने) स न क्षणुयात् नाप्यपरं घातयेत् घातयन्तं न समनुजानीयात्, निर्विन्दस्व नन्दिं अरक्तः प्रजासु (स्त्रीषु) अनवमदर्शी निषण्ण. पापकर्मभ्यः—पापैःकर्मभिः—पापकर्मसु।

पदार्थ—एवं—इस प्रकार। इच्चेवेगे—लोभवश भरत चक्रवर्ती आदि राजाओ ने अट्ठ—धन-ऐश्वर्य आदि भोगो को। आसेवित्ता—आसेवन-भोगकर भी। समुट्ठिया—सयम साधना मे सलग्न हो गए। तम्हा—इसलिए। त—उन त्यागे हुए भोगो को। बिइयं—दूसरी बार। नोसेवे—सेवन नही करे अर्थात् हिंसा, झूठ आदि असयम मे प्रवृत्ति न करे। निस्सार—विषयो की निस्सारता को। पासिय—देखकर। नाणी—ज्ञानी पुरुष है। उववाय—चवणं—देव भव को जन्म-मृत्यु के प्रवाह मे प्रवहमान। णच्चा—जानकर, विषय भोगो का सेवन न करे। अण्णाणं—ज्ञानादि। चर—ग्रहण करे। माहणे—वह माहन-मुनि है, अत। न छणे—न स्वय हिंसा को। न छणावए—न दूसरे व्यक्ति से हिंसा करवाए। छणत—हिंसा करते हुए

*जनपदाना—लोकाना परिवादाय-दस्युरयं पिशुनो वेत्त्येवं मर्मोद्घाटनाय।

—आचाराग वृत्ति

व्यक्ति को। नाणुसमणुजाणइ—अच्छा नही समझता है। अब चौथे व्रत के विषय मे कहते हैं—निव्विंदनन्दि—विषय भोगो से उत्पन्न हुए आनन्द को घृणित समझकर। पयासु—स्त्रियो मे। अरए—अनासक्त—राग रहित रहे। अणोमदसी— सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त, वह मुनि। पावेहिं कम्मेहिं—पाप कर्मों से। निस्सण्णे—निवृत्त हो जाता है।

मूलार्थ—लोभ के वश प्राप्त किए गए धन-वैभव एवं विषय-भोगो का आसेवन करके भी कई एक महापुरुष फिर से सावधान हो जाते है। दूसरी बार वे उन त्याज्य भोगो को भोगने की इच्छा नही करते। भोगो को निस्सार एव देव भव को भी जन्म और मृत्यु रूप जानकर वे विषय-वासना मे आसक्त नही होते। अतः हे मुनि! तू भोगो का त्याग, ज्ञान, दर्शन और चारित्र को स्वीकार कर अथवा सयम पथ पर चल।

सयमशील मुनि स्वयं हिसा नही करता, न अन्य से हिसा करवाता है और न हिंसा करने वाले को भी अच्छा समझता है। इसी प्रकार रत्न त्रय से युक्त मुनि विषय-भोगो से उत्पन्न आनन्द को घृणित समझकर स्त्रियो मे आसक्त नही बनता। वह संयम को आराधना करके पाप कर्म से मुक्त हो जाता है।

हिन्दी विवेचन

मनुष्य चलते-चलते गिरता भी है और उठता भी है। ऐसा नहीं है कि जो गिर गया वह गिरने के बाद कभी उठता ही नहीं है। यही स्थिति आध्यात्मिक जीवन की है। हिंसा आदि दोषो मे प्रवृत्त आत्मा पतन के गर्त मे गिरती जाती है। परन्तु अपने आप को सभालने के बाद वह पतन के गर्त से बाहिर निकल कर विकास के पथ की ओर बढ़ सकती है, अपना उत्थान कर सकती है। वह भी सिद्धत्व को प्राप्त कर सकती है। बस, आवश्यकता इस बात को है कि वह दोषों को दोष समझकर उनका परित्याग कर दे, अपने मन, वचन एव शरीर को पाप चिन्तन, पाप कथन एव पाप आचरण से हटा ले। इस प्रकार विचार एवं आचार में परिवर्तन होते ही जीवन बदल जाता है, मनुष्य पापी से धर्मात्मा बन जाता है। इसी अपेक्षा से कहा गया है कि मनुष्य को पापी से नहीं पापों से घृणा करनी चाहिए और पापों का ही तिरस्कार करना चाहिए। क्योंकि आज जो पापी है, आने वाले कल को धर्मात्मा भी बन सकता है। इसलिए बुरे एवं अच्छे का आधार व्यक्ति नहीं, आचरण है।

प्रस्तुत सूत्र मे भी यह बताया गया है कि कई लोभ वश पाप कर्म में प्रवृत्त होते हैं, दोषों का आसेवन करते हैं, परन्तु उसी जीवन में जागृत होकर उनका परित्याग करते है और फिर उन परित्यक्त भोगों एव दोषों की ओर घूमकर देखते भी नहीं। क्योंकि वे उनके वास्तविक स्वरूप से परिचित हो चुके हैं। उन्होंने यह जान लिया है कि ये भोग-विलास दुःख के कारण हैं और अस्थायी हैं। यहा तक कि देवों के भोग विलास भी स्थायी नहीं है। वे भी मृत्यु की चपेट मे आकर अपनी स्थिति से गिर जाते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वैषयिक सुख स्थिर नहीं है। ऐश्वर्य एव भोगों की दृष्टि से देव मनुष्य से अधिक सपन्न हैं। सामान्य देवों की भौतिक सम्पत्ति के समक्ष क्रोड़ अरवपति का वैभव भी तुच्छ सा प्रतीत होता है। ऐसे महाऋद्धि वाले एव ऐश्वर्य सम्पन्न देवों के सुख भी सदा नहीं रहते, कम उन्हें भी आ घेरते हैं; तो मनुष्य के लिए अभिमान करने जैसी बात ही क्या है? इस प्रकार भोगों की असारता, अस्थिरता एवं पूर्ति न होना तथा उनके दुःखद परिणाम को जानकर मुमुक्षु पुरुष विषय-भोगों में आसक्त नहीं होते और वासना के साधन स्त्री-पुरुष सयोग से सदा दूर रहते हैं।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्--कोहाइमाणं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे निरयं महंतं।
तम्हा य वीरे विरए वहाओ, छिंदिज्ज सोयं लहुभूयगामी ।७।
गंथं परिण्णाय इहऽज्ज! धीरे, सोयं परिण्णाय चरिज्ज दंते।
उम्मज्ज लद्धुमिह माणवेहिं, नो पाणिणं पाणे समारभिज्जासि त्तिबेमि ॥८॥

छाया—क्रोधादि मानं हन्याच्चवीरः, लोभस्य पश्य! नरकं महान्तम्।
तस्माच्च वीरः विरतो वधात्, छिद्यात् शोकं लघुभूतगामी ॥
ग्रन्थं परिज्ञाय इहाद्यैव धीरः स्रोतः परिज्ञाय चरेद् दान्तः।
उन्मज्ज लब्ध्वा इह मानवैः, नो प्राणिनां प्राणान् समारभेथाः ॥ इति ब्रवीमि

पदार्थ—कोहाइ—क्रोधादि । य— तथा । माण—मान को । वीरे—वीर पुरुष । हणिया—हनन करे-क्रोध, मान, माया को नष्ट करे और । लोभस्स—हे शिष्य ! तू लोभ को लोभ के विपाक को । पासे—देख जो । महंत —महान् । नरयं —नरक का कारण है। तम्हा—इसलिए । य—समुच्चय अर्थ मे । वीरे—वीर पुरुष । वहाओ—वध हिंसा से । विरयो-निवृत्त हो जाए, और । लहुंभूयगामी—मोक्ष गमन की इच्छा करने वाला साधक । छिंविज्ज सोय—भाव स्रोत को छेदन करे अब उपदेश विषय मे कहते है । गंथं—परिग्रह को । परिण्णाय—ज्ञ परिज्ञा से । जानकर तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर दिया है जिसने । धीरे—वह र्यवान । इहज्ज—इस मनुष्य लोक मे । अज्ज—अति शीघ्रता से । सोय-ससारश्रोत विषय स्रोत को रिण्णाय—जानकर और । दते—दमनेन्द्रिय होकर इन्द्रियो का दमन कर । चरिज्ज—सयम का आचरण कर । उम्मज्ज—तैरने का मार्ग । लद्धुं—प्राप्त होने पर वह । इह—इस । माणवेहि—मनुष्य लोक मे । पाणिण—प्राणियो के । पाणे—प्राणो का । नो समारभिज्जासि—समारम्भ न करे । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—वीर पुरुष क्रोध और मानादि का विनाश करे तथा महान नरक आदि के हेतु भूत लोभ को देखे, लोभ यह महान नरकादि दुखो का कारण है ऐसा अनुभव करे, इसलिए वीर पुरुष को वध से निवृत होना चाहिए, तथा मोक्ष गमन की इच्छा रखने वाला साधक प्रथम भाव श्रोत का छेदन करे तथा इस लोक मे दुख का मूल कारण धनादि पदार्थ ही है, ऐसा जानकर उनका- धनादि का तत्काल परित्याग करदे, एव भाव स्रोत को जानकर इन्द्रियो का दमन करता हुआ सयम को धारण करे, और इस लोक मे तरने का मार्ग प्राप्त करके प्राणियो की हिंसा न करे, इस प्रकार मै कहता हू ।

हिन्दी विवेचन

क्रोध, मान, माया और लोभ आत्मा को ससार मे परिभ्रमण कराने वाले है। इसलिए इन्हें कषाय कहा गया है । कषाय शब्द कष्+आय से बना है । 'कष' का अर्थ है—ससार और आय का अर्थ है—लाभ । जिस क्रिया से ससार की अभि-वृद्धि हो उसे कषाय कहते हैं और यह उपरोक्त चार प्रकार की है इसलिए जन-साधारण की भाषा मे इसे चांडाल-चौकडी भी कहते हैं. यह कषाय मोह कर्म के उदय का परिणाम है और सब कर्मो मे मोह कर्म को प्रधान माना गया है । अत साधक

को सबसे पहिले कषायों का नाश करना चाहिए। क्योंकि यह नरक एवं महादुःखों का कारण हैं। इसलिए साधक को कर्म आगमन के भाव स्रोत को नष्ट कर देना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में लोभ को स्पष्ट रूप से नरक का कारण बताया है। क्योंकि लोभ समस्त गुणों का विनाशक है और छद्मस्थ अवस्था के अन्तिम चरण तक उसका अस्तित्व रहता है। उसका क्षय करने पर ही आत्मा लघुभूत होता है और सर्व घातिकर्मों को क्षय कर शेष कर्मों का आत्यान्तिक क्षय करने की ओर बढ़ता है और आयुकर्म के क्षय के साथ समस्त कर्मों का क्षय करके निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है।

इस लिए हे आर्य! द्रव्य एवं भाव ग्रंथि—गांठ को जानकर और शोक एव दुःख के कारण का परिज्ञान करके संयम मार्ग में प्रवृत्त होना चाहिए, परिग्रह एवं वासना में गम्यमान इन्द्रियों एवं मन का दमन करना चाहिए, उसे उस मार्ग से हटाकर साधना में संलग्न करना चाहिए। इस प्रकार संसार के स्वरूप का भली—भांति अवलोकन कर के उससे पार होने का प्रयत्न करना चाहिए।

संसार से पार होने का साधन मनुष्य जन्म मे ही मिल सकता है। इस मानव शरीर के द्वारा ही आत्मा सर्व बन्धनों से मुक्त हो सकता है। अत ऐसे श्रेष्ठ साधन को—मानव जीवन को प्राप्त करके साधक को फिर से संसार बढ़ाने के साधन—हिंसा आदि मे प्रवृत्त न होकर, आरम्भ—समारम्भ एव दोष जन्य प्रवृत्ति का त्याग करके संयम साधना मे प्रवृत्त होना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्वोक्त समझें।

द्वितीय उद्देशक समाप्त

तृतीय अध्ययन-शीतोष्णीय

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक मे कष्ट सहिष्णुता का उपदेश दिया गया है। साधु को कठिन परीषह उत्पन्न होने पर भी घबराना नहीं चाहिए और कष्ट से विचलित होकर न प्राणियों की हिंसा एव अन्य पाप कार्य भी नही करने चाहिएं। अहिंसा की इस विराट् भावना को जीवन में साकार रूप देने के लिए आत्मदृष्टि को विशाल बनाने की आवश्यकता है। अपने अन्दर समस्त प्राणियों के हित एवं सुख का साक्षात्कार करना ज़रूरी है। जो व्यक्ति समस्त प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा के समान देखता है और यह समझता है कि प्रत्येक प्राणी जीना चाहते हैं, सुख चाहते हैं, व्याघात एव दु खों से बचना चाहते हैं, वही व्यक्ति हिंसा आदि दोषों से मुक्त-विमुक्त हो सकता है।

अत: हिसा आदि दोषों से बचने के लिए आत्मद्रष्टा बनना चाहिए। क्योंकि आत्मा ही हमारे दु:ख-सुख का, मुक्ति-बन्धन का आधार है। वस्तुत देखा जाए तो आत्मा ही हमारा मित्र है और शत्रु भी वही हो जाता है। अत जीवन विकास के लिए सहयोगी मित्रों को बाहिर ढूंढने की आवश्यकता नही है। वह मैत्री का अनन्त सागर अपने अन्दर ही लहर-लहर कर लहरा रहा है। उसका साक्षात्कार करने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि हम अन्तर्द्रष्टा बनें। यही बात प्रस्तुत उद्देशक में बताई गई है। इसका प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—संधिं लोयस्स जाणित्ता, आयओ बहिया पास, तम्हा न हंता न विघायए, जमिणं अन्नमन्नवितिगिच्छाए पडिलेहाए न करेइ पावं कम्मं. किं तत्थ मुणी कारणं सिया ? ॥११६॥

छाया—संधिं लोकस्य ज्ञात्वा आत्मनः बहिः पश्य। तस्मान्न हन्ता न व्यापादकः (न विघातयेत्) यदिदं अन्योन्यस्य विचिकित्सया प्रत्युपेक्ष्य न करोति पापं कर्म, किं तत्र मुनिः कारणं स्यात् ?

पदार्थ—संधि—अवसर-धर्म साधना के अवसरको **जाणित्ता**—जानकर। **लोयस्स**—लोक के जीवो को कष्ट नही देना, बल्कि उन्हे अपनी आत्मा के समान समझना चाहिए। **पास**—ऐसा देख, जैसे। **आयओ**—अपनी आत्मा को सुख प्रिय है, वैसे ही। **बहिया**—अन्य आत्माओ को भी सुख प्रिय है। **तम्हा**—इसलिए। **न हंता**—किसी जीव को नही मारना चाहिए। **न विघायए**—न उनकी विशेष रूप से घात-विघात करनी चाहिए। **जमिणं**—जो यह। **अन्नमन्न वितिगिच्छाए**—परस्पर भय या लज्जा के कारण। **पडिलेहाए**—प्रतिलेखन करके। **पाव कम्मं**—पाप कर्म। **न करेइ**—नही करता है, तो। **किं**—क्या। **तत्थ**—उस पाप कर्म के नही करने में। **मुणी**—मुनि। **कारणं सिया**—कारण है-मुनित्व है।

मूलार्थ—हे आर्य! लोक मे धर्म करने के अवसर को जानकर, तू प्रत्येक आत्मा को अपनी आत्मा के समान देख। और यह समझ कि मेरी ही तरह प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। इसलिए किसी प्राणी को हिंसा नही करनी चाहिए और न उनकी विशेष रूप से घात ही करनी चाहिए। जो व्यक्ति परस्पर भय एवं लज्जा को प्रतिलेखन-विशेष रूप से देख कर पाप कर्म नही करता है, तो क्या यह भी मुनित्व का कारण है?

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि मुनि संधि का परिज्ञाता हो। संधि शब्द का सामान्य रूप से जोड़ना अर्थ होता है। सधि भी दो प्रकार की मानी गई है—१-द्रव्य सन्धि और २-भाव सन्धि।

दीवार आदि मे छिद्र का होना द्रव्य सन्धि कहलाता है। और कर्म विवर को भाव सन्धि कहते हैं। भाव सन्धि भी तीन प्रकार की है—१-सम्यग्दर्शन, २-सम्यग्ज्ञान और ३-सम्यक्चारित्र की प्राप्ति।

१—उदय मे आए हुए दर्शनमोहनीय कर्म क्षय या क्षयोपशम और शेष का उपशमन करके सम्यक्त्व को प्राप्त करना भी भाव सन्धि है। इससे मिथ्यात्व का छिद्र रुक जाता है।

२—ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम करने से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। इससे आत्मदृष्टि का धुधलापन दूर होता है। आत्मा बाह्यद्रष्टा ही न रहकर आत्म द्रष्टा बन जाता है। अज्ञान के छिद्र नहीं रह पाते हैं।

३— चारित्रमोहनीय कर्म का देशत या सर्वत क्षयोपशम करने से आत्मा को देश एवं सर्व चारित्र—श्रावकत्व एवं साधुत्व की प्राप्ति होती है इससे अव्रत के द्वार बन्द हो जाते हैं।

'सन्धि' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—'सन्धनम् सन्धि —स च भाव सन्धिर्ज्ञानदर्शनचारित्राध्यवसायस्य कर्मोदयात त्रुटयत पुन: सन्धाम्—मीलनम्' अर्थात् स्खलित होते हुए ज्ञान, दर्शन, चारित्र का पुन संयोजन करना भाव सन्धि है।

सन्धि का अर्थ अवसर भी किया जाता है। संध्या एवं उषा काल को—दिन की समाप्ति एव रात के प्रारम्भ तथा रात की समाप्ति एवं दिन के उदय का संयोग काल होने से सन्धि काल कहलाते हैं। इसी प्रकार धर्म या सद्ज्ञान, अधर्म या अज्ञान रूप निशा का अवसान और आत्म विकास का उदय काल होने से उसे भाव सन्धि कहा है। इस दृष्टि से धर्म अनुष्ठान के अवसर को जानना भी सन्धि का परिज्ञान करना कहा जाता है।

प्रस्तुत सूत्र मे सन्धि' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। क्योंकि ज्ञानावरण दर्शनावरण एवं दर्शन और चारित्रमोहनीयकर्म का क्षयोपशम होने पर ही आत्मा मे धर्म की भावना उद्बुद्ध होती है और मनुष्य अपने अन्दर झाकने लगता है—आत्म द्रष्टा बनता है। यहीं से जीवन का अभ्युदय आरम्भ होता है। वह अपनी आत्मा के समान ही दूसरे प्राणियों की आत्मा को देखने लगता है और उसे यह अनुभूति होती है कि मेरे समान प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय है एव दु.ख अप्रिय है।

जब व्यक्ति आत्मद्रष्टा होता है तो वह स्वत हिंसा आदि दोषों से निवृत्त हो जाता है। उसे हिंसा आदि दोषों से बचने के लिए व्यवहार, भय और लज्जा की अपेक्षा नहीं रहती। परन्तु जिस व्यक्ति की अन्तर दृष्टि कुछ धूमिल है, वह एक दूसरे के भय एव लज्जा से हिंसा आदि पाप कर्म का सेवन नहीं करता है। तो वहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या उसमे मुनित्व है? इसका समाधान नकार की भाषा में दिया गया है।

मुनित्व का सम्बन्ध भावना से है। आगम में बताया गया है कि जो व्यक्ति वस्त्र; गन्ध, अलङ्कार, स्त्री आदि भोगोपभोग के साधनों का उपभोग करने में स्वतन्त्र न होने के कारण भोग नहीं करता है; परन्तु उसके मन मे भोगेच्छा अवशेष है, तो वह त्यागी नहीं है, उसे मुनि नहीं कह सकते ❀।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुनित्व भाव पूर्वक किए गए त्याग मे है। केवल लोक

❀दशवैकालिक सूत्र, सूत्र-२-२।

लज्जा या लोकभय की दृष्टि से किसी पाप मे प्रवृत्त नहीं होना ही मुनित्व नहीं है।

निश्चय नय की अपेक्षा से मुनित्व आत्मा मे राग-द्वेष के त्याग एवं सब प्राणियों के प्रति समानता के भाव मे है। परन्तु यह अन्तर्दृष्टि प्रत्येक व्यक्ति नहीं देख सकता। इसका साक्षात्कार सर्वज्ञ या स्वयं आत्मा ही कर सकता है। साधारणत मनुष्य व्यवहार को ही देख सकता है। इस दृष्टि से निश्चय के साथ व्यवहार का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है। और इसी कारण किसी भी वेष-भूषा एवं अवस्था में सर्वज्ञ होने के बाद भी वे महापुरुष स्वलिंग को धारण करते हैं। भरत चक्रवर्ती को गृहस्थ के वेश मे आरिसा भवन—काच के महल मे केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था। उसके बाद उन्होंने गृहस्थ लिंग का परित्याग करके मुनि वेश को स्वीकार किया। यह कार्य केवल व्यवहार का पालन मात्र है। इससे व्यवहार शुद्धि बनी रहती है। क्योंकि व्यवहार भी भाव या निश्चय शुद्धि का साधन है।

इस अपेक्षा से पारस्पारिक व्यवहार शुद्धि के लिए दोषों से बचना एकात रूप से अमुनित्व का परिचायक नहीं है। इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि व्यवहार के साथ निश्चय और निश्चय के साथ व्यवहार का सम्बन्ध जुडा रहे। लोक मर्यादा के साथ आत्म भावना धूमिल न पड़ने पाए। अस्तु आत्म के उज्ज्वल, समुज्ज्वल प्रकाश मे व्यवहारिकता का परिपालन करना मुनित्व है। जहा आत्म ज्योति दीप्त नहीं है, वहा केवल दिखाने मात्र के लिए व्यवहारिकता को निभाने मे मुनित्व का अभाव है, वहा द्रव्य ही रह जाता है।

मुनित्व भाव की साधना को सफल बनाने के लिए साधक को किस भाव की साधना करनी चाहिए, इसका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—समय तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसायए—

अणन्नपरमं नाणी, नो पमाए कयाइवि।

आयगुत्ते सयावीरे, जाया मायाइ जावए ॥१०॥

विरागं रूवेहिं गच्छिज्जा, महया खुड्डएहिं य, आगइं गइं परिण्णाय दोहिं वि अन्तेहिं अदिस्समाणेहिं से न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हम्मइ कंचणं सव्वलोए ॥११७॥

छाया—समतां तत्रोत्प्रेक्ष्य आत्मानं विप्रसादयेद्यत्। अनन्य परमज्ञानी नो प्रमादयेत् कदाचिदपि आत्म गुप्तः सदा वीरः यात्रामात्रया यापयेत्. विरागं रूपेषु गच्छेत्, महता क्षुल्लकेषु च आगतिं गतिं परिज्ञाय द्वाभ्यामप्यन्ताभ्यामदृश्यमानाभ्यां स न छिद्यते न भिद्यते न दह्यते न हन्यते केनचित् सर्व लोके।

पदार्थ- समयं — समता को। तत्थुवेहाए — उस संयम में पर्यालोचन करके-जो कुछ करता है वह सब मुनित्वका ही कारण है, अथवा। समय — आगम के। तत्थुवेहाए — अनुसार जो अनुष्ठान किया जाता है वह सब मुनित्व-मुनि भाव का ही कारण है, अत। अप्पाण — आत्मा को समता भाव से। विप्पसायए — प्रसन्न करे, तथा। नाणी — ज्ञानी पुरुष। अणन्नपरम — संयम में। कयाइवि — कभी भी। नो पमाए — प्रमाद न करे। आयगुत्ते — वह आत्मगुप्त। सया — सदा। वीरे — कर्म विदारण में समर्थ। जायामायाइ — संयम यात्रा मात्रा से। जावए — काल यापन करे। (अब आत्म गुप्तता के कारणों का निर्देश करते हैं)। आगइं गइं — संसार में आवृति-आगमन और गति-गमन अर्थात् संसार परिभ्रमण को। परिण्णाय — जानकर। अंतेहिं — राग-द्वेष। दोहिं वि — दोनों को। अदिस्समाणेहिं आत्मा से अदृश्य करता हुआ. अर्थात् रागद्वेष से निवृत्त होता हुआ। रूवेहिं — प्रिय रूपों में विराग-वैराग्य भाव को। गच्छेज्जा — प्राप्त करे, और। महया — दिव्य भाव से अर्थात् प्रावान्यरूप से पुनः। खुड्डएहिं — मनुष्य के रूपों में-भव में वैराग्य भाव उत्पन्न करके, फिर। से — उसका। सव्वलोए — समस्त लोक में कचण — किसी के द्वारा। न छिज्जइ — छेदन नहीं किया जाता। न भिज्जइ — भेदन नहीं किया जाता। न डज्झइ — दग्ध नहीं किया जाता। न हम्मइ — न हनन किया जाता है।

मूलार्थ—समता-समभाव मुनित्व का प्रधान कारण है। अतः संयम निष्ठ मुनि समता से आत्मा को प्रसन्न करे और संयम परिपालन में कभी भी प्रमाद न करे। इस तरह आत्मा को वश में रखने वाला वीर पुरुष सदा संयम से जीवन व्यतीत करे। और जीवों के आगमन एवं गमन के स्वरूप को जान कर, रागद्वेष से आत्मा को पृथक् करता हुआ, मानवी और दैवी रूपों में वैराग्य धारण करे, फिर वह इस लोक में किसी तरह भी छेदन-भेदन को प्राप्त नहीं होता, किसी द्वारा जलाया नहीं जाता और न उसका किसी द्वारा अवहनन ही होता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि जिस साधक के जीवन में समता

समभाव है, जो आगम के अनुरूप संयम साधना मे संलग्न है और जो इन्द्रिय एव नो-इन्द्रिय-मन का गोपन करके अपनी आत्मा मे केन्द्रित होता है—आत्म-द्रष्टा बनता है, वही मुनि है। इससे स्पष्ट है कि मुनित्व की साधना केवल वेश में नही, अपितु भावों के साथ अन्तर्वृत्ति को बदलने मे है। जब तक अन्त करण मे विषय-वासना एव राग-द्वेष की आग प्रज्ज्वलित है, तब तक बाहिर के त्याग एवं मात्र वेष धारण का विशेष मूल्य नहीं रह जाता है। क्योंकि मुनित्व वासना, ममता एवं आसक्ति के त्याग मे है, प्रत्येक परिस्थिति मे समभाव एवं सहिष्णुता को बनाए रखने मे है।

संयम को सर्वश्रेष्ठ माना गया है क्योंकि इस की साधना में स्व और पर का हित रहा हुआ है। इसमे किसी भी प्राणी को पीडा पहुचाने, कष्ट देने या मन को आघात पहुचाने के भाव नहीं रहते। संयमी पुरुप के मन मे सब प्राणियों के प्रति समता का भाव रहता है उसकी दृष्टि मे विकार एव वासना नहीं रहती वह मन एव इन्द्रियों को अपने वश मे रखता है। इसलिए वह मनुष्य-स्त्री एव देवी के रूप सौंदर्य को देखकर वासना के प्रवाह मे नहीं बहता है।

शब्दादि पाचों विषय मानव को भटकाने वाले हैं। परन्तु उनमे रूप की प्रधानता है। मानव सौंदर्य को देखकर कभी-कभी पागल हो उठता है, उस रूप को देखते हुए थकता ही नहीं। अत शब्दादि विषयों मे रूप अधिक आकर्षक है। परन्तु, इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि अनर्थ का मूल राग-द्वेप है, आसक्ति है। यदि जीवन मे राग-द्वेष या आसक्ति नहीं है, तो जीवन के साथ विषयों का सम्बन्ध होने पर भी कर्मबन्ध नहीं होता है। जो समभाव पूर्वक सयम साधना मे सालग्न है, उसके पाप कर्म का बन्ध नहीं होता। क्योंकि वह रूप आदि विषयों मे मुग्ध एव आसक्त नहीं होता। अत. समभाव की सधना ही मुनित्व की भावना है। इस साधना मे प्रवर्त्तमान साधक किसी भी प्राणी का छेदन भेदन एवं अवहनन नहीं करता है। और न अन्य व्यक्ति उसका छेदन-भेदन एव अवहनन करते है।

हिंसा मे प्रवृत्त होने का कारण राग द्वेष है। राग द्वेष से निवृत्त व्यक्ति हिंसा मे प्रवृत्त नहीं होता इस लिए वह ससार मे परिभ्रमण भी नहीं करता है। चार गति के आवागमन को समाप्त कर देता है। अत साधक को गति-आगति के स्वरूप को जानना चाहिए। उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता मुनि ही गमनागमन के दुःखों से बच सकता है। लोक में चार गतिएं मानी गई हैं—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। ससारी प्राणी अपने-अपने कृत कर्म के अनुसार इन गतियों मे गमनागमन करते है। इसके अतिरिक्त मोक्ष पाचवी गति मानी गई है। मनुष्य साधना के द्वारा मोक्ष में जा सकता है, परन्तु वहा से वापिस नहीं आना नहीं होता। क्योंकि वहा आत्मा की शुद्ध अवस्था रहती है, उस गति मे जाने वाले

जीव के कर्म एवं कर्म जन्य उपाधि नहीं रहती। इस लिए वह फिर से जन्म नहीं लेता। मानव ही उत्कृष्ट साधना के द्वारा सर्व कर्मों को नष्ट करके उक्त गति में जा सकता है। अतः मोक्ष गति मनुष्य भव की अपेक्षा से मानी गई है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'कंचण' शब्द का 'केनचित्' रूप बनता है। इसका अर्थ है—राग-द्वेष से रहित आत्मा को किसी के द्वारा छेदन-भेदन आदि का भय नहीं रहता, वह अभय का देवता स्वय निर्भय होकर प्राणी जगत को अभयदान देता है।

जो व्यक्ति लोक एवं गतागति के स्वरूप को नहीं जानते हैं अथवा जिन्हें यह ज्ञात नहीं है कि हम कहां से आए हैं? हमें कहां जाना है? तथा हमें किस वस्तु की प्राप्ति होगी? वही व्यक्ति ससार में दुःखो का अनुभव करता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार लिखते हैं—

मूलम्—अवरेणपुव्विं नसरंति एगे, किमस्स तीयं किं वागमिस्सं ?
भासंति एगे इह माणवाओ, जमस्स तीयं तमागमिस्सं ॥११॥
नाईयमट्ठं न य आगमिस्सं, अट्ठं नियच्छन्ति तहागया उ।
विहुयकप्पे एयाणुपस्सी, निज्झोसइत्ता खवगे महेसी ॥१२॥

छाया—अपरेण पूर्वं न स्मरन्त्येके, किमस्य अतीतं कि वागमिष्यति ?
भाषन्ते एके इह मानवाः, यदस्य अतीतं तदेवागमिष्यति ॥
नातीनार्थमनागत रूपतया, नियच्छन्ति अर्थं तथागतास्तु।
विधूतकल्पः एतदनुदर्शी, निर्झोपयिता क्षपकः महर्षिः ॥

पदार्थ—अवरेण—आगामी काल और। पुव्विं—अतीत काल को। एगे—कोई एक। न सरंति—स्मरण नहीं करते तथा। किमस्सतीयं—अतीत काल मे इस जीव का क्या हुआ? वा—अथवा। किं आगमिस्सं—आगामी काल मे क्या होगा तथा। एगे—कोई एक इह—इस मनुष्य लोक में। माणवाओ—मनुष्य। भासंति—कहते हैं, कि। जमस्स—जीव का जो यह पुत्रादि भेद। तीयं—अतीत काल मे था। तमागमिस्सं—वही आगामी काल मे होगा। नाईयमट्ठं—अतीत काल मे अर्थ को। य—पुनः। आगमिस्सं—आगामी काल के। अट्ठं—अर्थ-

को। न नियच्छन्ति – नही चाहते–ना ही अवधारणा करते हैं, तथा। नाईयमट्ठ – न अतीत काल के भोगादि को। न य आगमिस्स – और न आगामी काल के दिव्यागनादि सग को। नियच्छंति – चाहते हैं और न उनका स्मरण करते है। उ – तु पुन कौन? तहागया – तथागत-सर्वज्ञ। विहूयकप्पे – विधूत कल्प—शुद्धाचार के द्वारा कर्मों का नाश करने वाला। एयाणुपस्सी-इस प्रकार देखने वाला। महेसी – जो महर्षि–महायोगीश्वर है, वह। निज्झोसइत्ता – पूर्वोपचित कर्मों का क्षय करने वाला था। खवगे – कर्म क्षय करता है तथा आगामी काल मे कर्म क्षय करेगा।

मूलार्थ-कइ एक व्यक्ति पूर्व और अपर काल के स्वरूप का स्मरण नही करते-मैं पूर्व काल मे क्या था और आगामी काल मे क्या बनूगा? तथा इस लोक मे कई एक व्यक्ति इस प्रकार भी कहते है कि जो अतीत काल मे था वही आगामी काल मे होगा, अतीत काल के अर्थ को और आगामी काल के अर्थ को तथागत नही चाहते, तथा पर्याय की विचित्रता से जो अतीत काल का अर्थ है वहआगामी काल का अर्थ नही हो सकता, और विधूत कल्प शुद्ध सयम के परिपालक महर्षि अतीत, अनागत और वर्तमान तीनो कालो मे कर्मों का क्षय करते है।

हिन्दी विवेचन

मोह एवं अज्ञान से आवृत्त आत्मा अपने स्वरूप को नहीं जान सकती। वह न अपने पूर्व भव को देख सकती है और न भविष्य के स्वरूप को जान सकती है। इसलिए अज्ञानी लोग आत्मा के सम्बन्ध मे विभिन्न कल्पनाएं करते रहते है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जिस व्यक्ति का जो रूप इस समय है वही रूप इसके पूर्व भवों मे था और भविष्य मे भी वही स्वरूप रहेगा। सती प्रथा इसी परम्परा की देन थी। पति की मृत्यु होने पर उसके शव के साथ पत्नी के जीवित शरीर को इसलिए जला दिया जाता था कि आगामी भव मे फिर से दोनों पति-पत्नी के रूप में आबद्ध हो सकेंगे इन लोगों की यह मान्यता रही है कि पुरुष सदा पुरुष ही बनता है और स्त्री स्त्री ही बनती है। प्राणी के लैंगिक जीवन मे कोई अन्तर नहीं आता। परन्तु यह मान्यता असत्य है।

आत्मा की तरह लिंग नित्य नहीं है। क्योंकि लिंग कर्म जन्य है और कर्म में परिवर्तन होता रहता है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा अपने कृत कर्म के अनुसार कभी पुरुष वेद को प्राप्त करता है, कभी स्त्री वेद को, तो कभी नपुंसक वेद को वेदता है। जैन दर्शन की मान्यता है कि कर्म परिवर्तन के कारण आत्मा एक भव मे भी तीनों वेदों को वेद सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि वेदोदय का सम्बन्ध मोह कर्म जन्य वासना

की प्रबलता पर है। यदि वासना जल्दी जागृत होती है। और भोग के बाद शीघ्र ही शांत हो जाती है, तो वहा पुरुष वेद का उदय रहता है। और जहां वासना जागृत होने के बाद बहुत देर तक शांत नहीं होती है, तो वहां स्त्री वेद का उदय होता है। और जहा हर समय वासना की आग प्रज्वलित रहती है, वहां नपुंसक वेद का उदय समझना चाहिए। जिस समय पुरुष में वासना की प्रबलता रहती है और वह जल्दी शात नहीं होती है, तो उस समय वह लैंगिक रूप से पुरुष होते हुए भी स्त्री वेद को वेदता है और एक नारी के जीवन में वासना की स्वल्पता है, उसे जल्दी ही सन्तोष हो जाता है, तो वह स्त्री लिंग में पुरुष वेद का वेदन करती है। इस प्रकार मोह कर्म के शमन के साथ वेद के संवेदन में भी परिवर्तन आ जाता है।

इससे स्पष्ट है कि हर समय लिंग में एक रूपता नहीं रहती। अतः उक्त कथन तथागत—सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित नहीं है। क्योंकि पर्यायें सदा परिवर्तनशील हैं। उनमें सदा एक रूपता नहीं रहती। सर्वज्ञ इस बात को प्रत्यक्ष देखते हैं। इसलिए कहा गया है कि तथागत—सर्वज्ञ अतीत और अनागत काल की पर्यायों को एक रूप से स्वीकार नहीं करते। और न वे भूत एवं भविष्य काल के भोगों में आसक्त होते हैं और न विषय-भोगों की आकांक्षा ही रखते है। क्योंकि उन्होंने आकांक्षा के उत्पादक राग-द्वेष का ही क्षय कर दिया है।

'तथागत' शब्द का अर्थ है—सर्वज्ञ। इसकी व्याख्या करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं— "जो पुनरावृत्ति से रहित है और जो पदार्थ को यथार्थ स्वरूप-पूर्ण रूप से जानते हैं," उन्हें तथागत कहते हैं—अरिहंत, सिद्ध और सर्वज्ञ को तथागत कहा जाता है*।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'विहुय कप्पे—विधूत कल्प.' का अर्थ है— अष्टकर्मों को आत्मा से पृथक् करने वाला व्यक्ति[1]।

कर्म क्षय करने के लिए उद्यत मुनि जब धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में निमग्न होता है, तब उसे शारीरिक, मानसिक एवं भौतिक सुख-दु.ख की अनुभूति नहीं होती।

---

*तथैव—अपुनरावृत्त्या गतं—गमनं येषां ते—तथागताः—सिद्धा., यदि यथैव ज्ञेय तथैव गतं ज्ञानं येषा ते तथागता—सर्वज्ञा., ते तु नातीतमर्थमनागतरूपतयैव नियच्छंति-अवधारयन्ति, नाप्यनागतमतिक्रान्तरूपतयैव, विचित्रत्वात् परिणते., पुनरर्थग्रहण पर्यायरूपार्थार्थं, द्रव्यार्थतया त्वेकत्वमेवेति, यदिवा नातीतमर्थं विषयभोगादिक नाप्यनागत दिव्याङ्गनासङ्गादिक स्मरन्त्यभिलषन्ति वा, के ? तथागता—रागद्वेषाभावात्, पुनरावृत्तिरहिता, तु शब्दो विशेषमाहा-यथ' मोहोदयादेके पूर्वमागामि वाऽभिलषन्ति, सर्वज्ञास्तु नैवमिति। —आचारांग वृत्ति।

[1] विविधम्—अनेकधाधूतम्—अपनीतमष्टप्रकार कर्म्म येन स' विधूत', कोऽसौ ? कल्पः—आचारो, विधूतः कल्पो यस्य साधो सः विधूतकल्पः। —आचाराग वृत्तिः।

उस समय उसकी जो स्थिति होती है उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—का अरई के आणंदे ? इत्थंपि अग्गहे चरे, सव्वं हासं परिच्चज्ज आलीणगुत्तो परिव्वए, पुरिसा !—तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि ?॥११८॥

छाया—का अरतिः ? कः आनन्दः ? अत्रापि अग्रहः चरेत्, सर्वं हास्यं परित्यज्य आलीनगुप्तः परिव्रजेत्, हे पुरुष ! त्वमेव तव मित्रम् किं बहि मित्रमिच्छसि ?

पदार्थ—का अरई—क्या अरति है ? के आणंदे—क्या आनन्द है ? इत्थंपि—इस विषय मे। अग्गहे—अनासक्त होकर। चरे—विचरण करे, और। सव्व—सब प्रकार के। हास—हास्य को। परिच्चज्ज—परित्याग करे। आलीणगुत्तो—गुप्तेन्द्रिय होकर। परिव्वए—सयम का परिपालन करे। पुरिसा—हे पुरुष—आत्मन्। तुममेव—तू ही—सदनुष्ठान करने से। तुमं मित्तं—अपना मित्र है, फिर तू। बहिया—अपने आत्म स्वरूप से बाहिर अन्य को। किं मित्तमिच्छसि—मित्र बनाने की क्या इच्छा रखता है अथवा अपने से बाहिर मित्र ढूंडता क्यो फिरता है ?

मूलार्थ—हे आर्य ! धर्म ध्यान एव शुक्ल ध्यान मे सलग्न मुनि को यह अनुभूति नही होती कि भौतिक अरति-दुःख एवं आनन्द क्या है ? वह दुःख-सुख के संवेदन से अनासक्त होकर आत्म-चिन्तन मे तल्लीन होकर रहता है। इसलिए मुनि को कछुए की भाति मन एवं इन्द्रियो का गोपन करके सयम-साधना मे प्रवृत्त रहना चाहिए। क्योकि, वस्तुतः तेरी आत्मा ही तेरा मित्र है अर्थात् सदनुष्ठान मे प्रवृत्त आत्मा से हो तू कर्मो का आत्यान्तिक क्षय कर सकता है। अत हे पुरुष-आत्मन्! तू ही तेरा मित्र है फिर तु अपने से बाहिर अन्य मित्रो की क्यो इच्छा रखता है अर्थात् अपने मन को अन्यत्र से हटाकर अपनी आत्म ज्योति का जगा।

हिन्दी विवेचन

जीवन में योगा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये कर्म बन्धन के भी कारण हैं।

और निर्जरा के भी कारण है। जब योगों की विषय-वासना में प्रवृत्ति होती है, तो उनसे पाप कर्म का बन्ध होता है और जब इन्हें बाह्य पदार्थों से हटाकर संयम में, ध्यान एवं चिन्तन-मनन में लगाते हैं, तो ये निर्जरा के कारण बन जाते हैं। क्योंकि उस समय साधक की प्रवृत्ति आत्माभिमुख होती है। उसे इस बात का कोई ध्यान ही नहीं रहता कि बाहिर क्या कुछ हो रहा है? जिस समय वह आत्म चिन्तन में संलग्न रहता है, उस समय उसे शारीरिक अनुभूति भी नहीं होती है। इसलिए उसे यह भान नहीं रहता कि दुःख एवं आनन्द क्या है? जिस समय गजसुकुमाल मुनि के सिर पर सोमल ब्राह्मण ने प्रज्वलित अंगारे रखे तो उसको तीव्र वेदना हुई होगी, इसकी हम कल्पना कर सकते हैं। ऐसी बात नहीं है कि उनके शरीर को ताप नहीं हुआ हो? परन्तु उनका चिन्तन आत्म स्वरूप में था, इसलिए उन्हें उसकी अनुभूति नहीं हुई।

मनुष्य जब देहाभिमुख होकर सोचता है तो उसे अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों तथा स्पर्शों आदि में आनन्द एवं अरति (दुःख) की अनुभूति होती है। उस से उसके मन में राग-द्वेष की भावना जागृत होती है, विषयों की आसक्ति बढ़ती है और परिणाम स्वरूप संसार परिभ्रमण बढ़ता है। परन्तु साधक आत्माभिमुख होता है। अतः जब वह धर्मध्यान एवं शुक्ल ध्यान में संलग्न होता है तो उस समय उसे आनन्द एवं अरति का प्रसंग उपस्थित होने पर भी उसका संवेदन नहीं होता। क्योंकि उस समय योगों की प्रवृत्ति चिन्तन में लगी होती है, अतः साधक को आत्म अनुभूति के अतिरिक्त अन्य अनुभूति नहीं होती। दूसरा कारण यह है कि रति एवं अरति मोह जन्य है और वहां मोह कर्म का अभाव होने के कारण उभय विकारों की अनुभूति को पनपने का अवकाश ही नहीं मिलता।

इससे स्पष्ट हो गया कि जब साधक आत्म चिन्तन में तल्लीन होता है, तब उसे पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती है और ऐसी स्थिति में ही ध्यान एवं चिन्तन-मनन में तेजस्विता आ पाती है। आगम में भी कहा गया है कि जब साधक का मन लेश्या, अध्यवसाय, तीव्र अध्यवसाय, -आत्म चिन्तन में लगा होता है तथा उसे जिन वचनों में या आत्म-चिन्तन में अनुराग होता है, अपने योगों को आत्म-चिन्तन में अर्पित कर देता है; उसी की भावना रखता है और अन्यत्र कहीं भी उस का मन नहीं जाता है, तब उसे ध्यान कहते हैं*।

---

* तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते तदप्पिअकरणे, तब्भावणाभाविए, अणत्थ कत्थइ मणं अकरेमाणे... ।

—अनुयोगद्वार सूत्र २७ (मूल सुत्ताणि) पृ० ३४९ ।

ध्यान योगों को एकाग्र करने का साधन है और इसी साधना के वल से साधक एक दिन शुक्ल ध्यान के द्वारा योगों का निरोध कर अयोगि अवस्था को प्राप्त करता है और फिर समस्त कर्मों एव कर्म जन्य साधनों से सर्वथा मुक्त होकर निर्वाण पद को प्राप्त करता है, अपने साध्य को पा लेता है। अस्तु, ध्यान एवं आत्म-चिन्तन, मनन साध्य सिद्धि का साधन हैं। इसलिए साधक को हास्य आदि का परित्याग करके तथा विषय-वासना से मन एवं इन्द्रियों का गोपन करके, उसे ध्यान एव चिन्तन–मनन मे सलग्न होना चाहिए।

इसका निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को अपनी आत्मा पर निर्भर रहना चाहिए। उसमें अनन्त शक्ति विद्यमान है। अपना विकास करने मे वही समर्थ है। संसार की कोई भी शक्ति न उसे गिरा सकती है और न उसे उठा सकती है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे कहा गया है कि हे पुरुष—आत्मन्! तू ही अपना मित्र है फिर अपने को छोड़कर वाहिर मित्रों को कहां ढूंडता फिरता है? तुझे अपनी शक्ति को पाने के लिए वाहिर नहीं, अपने अंदर ही झांकने की आवश्यकता है। तू अपनी दृष्टि को वाहिर से हटाकर अपने अंदर मोड़ ले, फिर अनन्त ज्ञान-दर्शन की ज्योति से तू ज्योतिर्मान हो उठेगा, तेरे अंदर ही अनन्त सुख का सागर लहर-लहर कर लहराता दिखाई देगा और तेरे जीवन के कण कण में अनन्त शक्ति का संचार होने लगेगा। यह अनन्त चतुष्टय तेरे भीतर ही निहित है। इसे प्रकट करने के लिए अन्तर्द्रष्टा अर्थात् आत्म चिन्तन ध्यान में संलग्न होने की आवश्यकता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'पुरुष' को सम्बोधित किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि ध्यान एवं आत्म चिन्तन का अधिकारी पुरुष ही है†।

आत्म चिन्तन की पूर्व भूमिका का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जं जाणिज्जा उच्चालइयं तं जाणिज्जा दूरालइय, जं जाणिज्जा दूरालइयं तं जाणिज्जा उच्चालइयं, पुरिसा! अत्ताण-मेवं अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमुच्चसि, पुरिसा सच्चमेव सम-भिजाणाहि, सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ,

† पुरुषद्वारामंत्रण तु पुरुषस्यैवोपदेशार्हत्वात्तदनुष्ठानसमर्थत्वाच्चेति।

आचारांग वृत्ति।

सहिओ धम्ममायाय सेयं समणुपस्सइ ॥११६॥

छाया—यं जानीयादुच्चालयितारं तं जानीयात् दूरालयिकं, यं जानीयाद् दूरालयिकं तं जानीयादुच्चालयितारम्, पुरुष! आत्मानमेवाभिनिगृह्य एवं दुःखात् प्रमोच्यसि, पुरुष! सत्यमेव समाभिजानीहि सत्यस्य आज्ञयोपस्थितो मेधावी मारं तरति, सहितोधर्म्ममादाय श्रेयः समनुपश्यति।

पदार्थ—जं—जो। उच्चालइय—कर्म क्षय करना। जाणिज्जा—जानता है। तं—वह—मोक्ष मार्ग को। जाणिज्जा—जानता है। ज—जो। दूरालइयं—मोक्ष मार्ग को। जाणिज्जा—जानता है। त—वह। उच्चालइयं—कर्म क्षय करने के मार्ग को। जाणिज्जा—जानता है। पुरिसा—हे पुरुष! अत्ताणमेव—अपने आत्मा को ही। अभिणिगिज्झ—धर्म ध्यान से बाहिर जाते हुए को रोक—निरोध कर। एव—इस प्रकार तू। दुक्खा—दुख से। पमुच्चसि—छूट जाएगा। पुरिसा—हे पुरुष! सच्चमेव—सत्य और संयम को ही। समाभिजाणाहि—भली प्रकार जानकर आचरण कर। सच्चस्स—सत्य की। आणाए—आज्ञा मे। उवट्ठिए—उपस्थित हुआ। से—वह। मेहावी—बुद्धिमान व्यक्ति। मार—ससार को। तरइ—पार कर देता है। सहिओ—ज्ञानादि से वा हित से युक्त। धम्ममयाय—श्रुत और चारित्र रूप धर्म को ग्रहण करके। सेयं—पुण्य वा आत्म हित को। समणुपस्सइ—सम्यक् प्रकार से देखता है।

मूलार्थ-जो कर्म क्षय करने के मार्ग को जानता है, वह मोक्ष को भी जानता है और जो मोक्ष को जानता हे, वह कर्म क्षय करने के मार्ग को भी जानता है। हे पुरुष! तू अपने आत्मा का ही निग्रह कर, धर्म—ध्यान से विमुख जाते हुए आत्मा को रोक, इस प्रकार करने से तू दुखों से छूट जाएगा। हे पुरुष! तू सत्य संयम का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान कर, पालन कर, सूत्र की-आगम की आज्ञा में उपस्थित हुआ मेधावी-बुद्धिमान संसार को तैर जाता है और ज्ञानादि से युक्त हुआ श्रुत और चारित्र रूप धर्म को ग्रहण करके आत्महित को भली-भाति देखता है।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि साधक ध्यान के द्वारा योगों को एकाग्र करता है। मन, वचन एवं काया की बाह्य प्रवृत्ति को अपने अंदर मोड़ता है, आत्म चिन्तन में लगाता

है। इस से संयम साधना मे तेजस्विता आती है और वह इस साधना के द्वारा नए कर्मों के आगमन को रोकता है और पुरातन कर्मों का क्षय करता चलता है। इस प्रकार वह एक दिन समस्त कर्मों का सर्वथा क्षय करके मोक्ष को, निर्वाण को पा लेता है। क्योंकि कर्मों का आत्यन्तिक क्षय करना ही मोक्ष है अथवा संपूर्ण कर्म क्षय का ही दूसरा नाम मुक्ति है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में यह कहा गया है कि जो कर्म क्षय करना जानता है, वह मुक्ति को जानता है और जो मोक्ष को जानता है वह कर्म क्षय करने की प्रक्रिया को जानता है❋।

साधक अन्तर्मुखी साधना से ही कर्म क्षय करता है। इसलिए उसे आदेश देते हुए कहा गया है—तू अपनी आत्मा को वहिर्वृत्तियों से हटाकर धर्मध्यान या आत्म-चिन्तन की ओर मोड़। दूसरे शब्दों मे यों कहते है कि तू वाहिर से सिमट कर अपने अन्दर स्थित हो जा। इससे विषय-वासना की आसक्ति से आने वाले कर्म रुक जायेंगे और परिणाम स्वरूप तू दु.खों से मुक्त हो जाएगा।

इसके लिए सत्य-संयम का आचरण आवश्यक है। सत्य पथ पर गतिशील एवं सत्य—आगम की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला व्यक्ति संसार सागर से पार हो जाता है। क्योंकि विषयों में आसक्त रहने का नाम संसार है और जव वह विषयों से अपने को सवथा हटा लेता है, तो उसके लिए संसार दूर होता जाता है और मोक्ष निकट होता जाता है, इसलिए साधक को सत्य-संयम के परिपालन करने एवं आगम के अनुसार प्रवृत्ति करने का आदेश दिया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में सत्य शब्द सत्य, सयम एवं आगम तीनों अर्थ में प्रयुक्त हुआ है१।

❋ 'उच्चालइय' शब्द कर्मों को दूर करने का तथा 'दूरालइय' शब्द मोक्ष मार्ग का मसूचक है। सस्कृत मे इसका 'दूरालयं' रूप वनता है और इससे मत्वर्थीय प्रत्यय का सबध कर देने से 'दूरालयिक' रूप बन जाता है, जो मोक्षमार्गानुगामी आत्मा का परिवोधक है;

'दूरे सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यालयो दूरालय—मोक्षस्तन्मार्गो वा स विद्यते यस्येति मत्वर्थीयष्ठन् दूरालयिकस्तमिति।'

—आचाराग वृति।

१ सद्भ्यो हित सत्य:—सयमस्तमेवापर ब्यापारनिरपेक्ष समभिजानीहिआसेवना-परिज्ञया ममनुतिष्ठ, यदिवा सत्यमेव समभिजानीहि—गुरु साक्षिगृहीत प्रतिज्ञानिर्वाहको भव, यदिवा सत्य—आगमस्तत्परिज्ञान च मुमुक्षोस्तदुक्तप्रतिपालन। 'सच्चमेव समणुजाणाहि इस वाक्य मे प्रयुक्त सत्य शब्द के तीन अर्थ किए गए हैं और 'सच्चस्स' का अर्थ तो एक आगम ही किया है—"सत्यस्य—आगमस्याज्ञयोपस्थित सन्। —आचाराग वृत्ति।

'मार' शब्द का अर्थ संसार किया है, यह भी उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त 'मार' शब्द कामदेव के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है और वह अर्थ भी यहां अनुपयुक्त नही है। क्योंकि श्रुत और चारित्र धर्म का आराधक काम-वासना पर विजय पा लेता है और विषय-भोग का विजेता कर्म का क्षय करके जन्म-मरण रूप संसार सागर से पार हो जाता है।

"पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमुच्चसि" इस पाठ से अयोगी गुणस्थान की ओर संकेत किया गया है। इसमें कहा गया है कि हे पुरुष ! तू योगो का निरोध कर, जिससे तू सारे दु खों से छूट जायगा । योगों का पूर्ण निरोध चौदहवे अयोगी गुणस्थान मे ही होता है और इस गुणस्थान को स्पर्श करने के बाद जीव निर्वाण-पद को पा लेता है, समस्त कर्म बन्धन एवं कर्म जन्य उपाधि से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है ।

इतना स्पष्ट होने पर भी कुछ लोग प्रमाद का सेवन करते हैं, विषय कषाय मे आसक्त होते है। उनका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—दुहओ जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जंसि एगे पमायंति ॥१२०॥

छाया—द्विहतः [दुर्हतः] जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनार्थं (पुजनाय) यस्मिन्नेके प्रमाद्यन्ति।

पदार्थ—दुहओ — राग-द्वेष से पीडित जीव। जीवियस्स — जीवन के लिए। परिवदण परिवन्दनार्थ। माणण — मान के लिए। पूयणाए — पूजा के लिए। ज – उक्त निमित्तो से। एगे—कोई एक जीव। पमायंति — प्रमाद का सेवन करते है अर्थात् हिंसादि पाप मे प्रवृत्त होते है।

मूलार्थ — राग-द्वेष मे सतप्त कइ एक जीव अपने जीवन के मान-सम्मान के लिए, एव पूजा-प्रतिष्ठा के लिए प्रमाद-हिंसा आदि परिबन्दन, पापो का आसेवन करते है।

हिन्दी विवेचन

जब मनुष्य की दृष्टि देहाभिमुख या भौतिकता की ओर होती है, तब वह दु खो के नाश का उपाय भी बाह्य पदार्थों मे खोजता है। इसलिए वह अनुकूल पदार्थ एव

साधनों पर अनुराग करता है और वह प्रतिकूल साधनों पर द्वेष करता है। उनसे बचने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार राग,द्वेष मे सलग्न व्यक्ति अपने जीवन के लिए, वन्दन, सत्कार पाने के लिए, मान—सम्मान एवं पूजा-प्रतिष्ठा पाने के लिए अनेक प्रकार से प्रमाद का सेवन करता है। वह अपने स्वार्थ को साधने के लिए हिसा आदि अनेक दोषों का सेवन करता है और विषय—वासना मे अधिक आसक्त होने के कारण रात—दिन अव्रत का पोषण करने मे लगा रहता है। इससे वह पाप कर्म का वन्ध करके संसार मे परिभ्रमण करता है।

निष्कर्ष यह है कि राग—द्वेष के वश जीव हिसादि दोषों मे प्रवृत्त होकर पाप कर्मों का सग्रह करता है और परिणाम स्वरूप दु.खों के प्रवाह मे प्रवहमान रहता है।

अत· साधक को राग—द्वेष का त्याग कर देना चाहिए। जो व्यक्ति राग—द्वेष का परित्याग कर देते हैं। उनके विषय मे सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्--सहिओ दुक्खमच्चत्ताए पुट्ठो नो झंझाए, पासिमं दविए लोकालोकपवंचाओ मुच्चइ. त्तिबेमि ॥१२१॥

छाया—सहितोदुःखमात्रया स्पृष्टः नो झञ्झयेत् (नो व्याकुलितमतिर्भवेत्) पश्य! इमं द्रव्यः लोकालोक प्रपंचात् मुच्यते। इति ब्रवीमि।

पदार्थ- सहिओ—हित-ज्ञान आदि से युक्त। दुक्खमच्चत्ताए—दु ख मात्र से। पुट्ठो—स्पर्शित हुआ। नो झंझाए—व्याकुल न होवे। पासिम—हे शिष्य! तू इस बात को देख। दविए—द्रव्यभूत—मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधु। लोकालोकपवचाओ—लोक के प्रपंच से। मुच्चइ—मुक्त हो जाता है। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—ज्ञानवान साधु दु.खो से स्पर्शित होने पर भी आकुल व्याकुल नही होते। अतः हे साधक! तू मोक्षमार्ग पर चलने वाले साधुओं को देख। जो लोक के प्रपच से मुक्त हो जाते है। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

विचारशील, चिन्तनशील साधक कष्ट उपस्थित होने पर भी आकुल-व्याकुल नहीं होता। घबराता नहीं और न वह उन कष्टों को दूर करने के लिए कोई सावद्य अनुष्ठान ही करता है। वह समस्त दुःखों का मूल कारण कर्म को ही मानता है। अत·

वह अपनी शक्ति दुखों के मूल का उन्मूलन करने में लगा देते है। उसका प्रयत्न केवल भौतिक दु ख नाश का नहीं, वल्कि समस्त दुखो का एवं संसार भ्रमण के कारण कर्म का क्षय करने का रहता है। अतः वह अपनी वृत्ति को वाहिर से मोड़ कर अन्दर की ओर हटा लेता है। या यों कहिए कि सदा आत्म साधना में संलग्न रहता है।

इसलिए प्रस्तुत सूत्र में साधक को आदेश देते हुए कहा गया है कि तू साधु जीवन की साधना को देख। और अपने आचरण को उसके अनुरूप ढालने का प्रयत्न कर। क्योंकि संयम निष्ठ मुनि तप-संयम की साधना से मोक्ष पथ पर वढ़ता हुआ लोक-ससार के समस्त प्रपंचों से मुक्त हो जाता है।

निष्कर्ष यह रहा है कि साधु को ज्ञान के साथ धैर्यशील एवं सहिष्णु होना चाहिए। कष्ट एवं वेदना के समय भी उसे साहस, शांति एवं आत्म-चिन्तन का त्याग नहीं करना चाहिए। और जीवन से निराश होकर संकल्प—विकल्प में नहीं उलझना चाहिए। रोग उपशांति के लिए औषधि की आवश्यकता पडने पर निर्दोष एवं सात्विक औषध का सेवन करते हुए भी धैर्य एव आत्म चिन्तन मे संलग्न रहना चाहिए। क्योंकि जव योगों की प्रवृत्ति चिन्तन मे लगी रहेगी तो वाह्य वेदना की अनुभूति स्वत कम हो जाएगी। इससे आत्मा में शाति की अनुभूति होगी और पहिले के वन्धे हुए कर्मों की निर्जरा भी होगी। इसलिए साधक को कर्म वन्धन से मुक्त होने के लिए हर स्थिति-परिस्थिति में आत्माभिमुख होकर चलना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

तृतीय उद्देशक समाप्त

तृतीय अध्ययन-शीतोष्णीय

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक मे सयम, आत्म चिन्तन एव परीषहों के उपस्थित होने पर भी धैर्यता एवं सहिष्णुता बनाए रखने का उपदेश दिया है। वस्तुतः देखा जा तो अधैर्य एवं चंचलता का कारण कषाय, राग-द्वेष एव भय ही है। अत प्रस्तुत उद्देशक में इनके त्याग का उपदेश दिया गया है। उसका प्रारम्भ करते हुए कहा है—

मूलम्-से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च, एयं पासगस्स दंसणं, उवरयसत्थस्स, पलियंतकरस्स आयाणं सगड-ब्भि ॥१२२॥

छाया—सः वमिता क्रोधं च मानं च मायां च लोभं च एतत् पश्यकस्य दर्शनं, उपरत शस्त्रस्य पर्यन्तकरस्य आदानं स्वकृतभित् ।

पदार्थ—से—वह जो-त्यागी है। कोह— क्रोध को। च—और। मान—मान को। च—और। माय—माया को। च—और। लोभ—लोभ को। वंता—छोडता है। च—और आयाण—कर्माश्रव को छोडता है, वह। सगडब्भि—स्वकृत् कर्मों का भेदन करता है। एय—यह। दसण—अभिप्राय। उवरयसत्थस्स—द्रव्य और भाव शस्त्र से निवृत्त। पलियंतकरस्स—कर्मों का या ससार का अन्त करने वाले। पासगस्स—भगवान महावीर का है।

मूलार्थ—जो ज्ञान से युक्त सयमनिष्ठ मुनि है, वह कषाय-क्रोध, मान माया और लोभ का वमन-त्याग कर देता है। जो कर्मास्रव का परित्याग करता है, वह स्वकृत कर्मों का भेदन करता है। ससार और कर्मों का अन्त करने वाले तथा द्रव्य और भाव शस्त्र से रहित भगवान महावीर ने ऐसा उपदेश दिया है।

मूलार्थ—जो एक द्रव्य को जानता है, वह सब को जानता है, और जो सब को जानता है वह एक को जानता है।

हिन्दी विवेचन

जैन दर्शन में मूल रूप से दो तत्त्व माने हैं—जीव और अजीव। संसार के सभी रूपी-अरूपी पदार्थ इन दो तत्त्वों मे आ जाते हैं। और संसार में इन दोनों का इतना घनिष्ट सवंध हैं कि एक का ज्ञान होने पर दूसरे का या समस्त पदार्थों का परिज्ञान हो जाता हैं। जब व्यक्ति आत्मा का चिन्तन करता है, उसके स्वरूप को जानने का प्रयत्न करता है तो वह सहज ही अन्य तत्त्वों से परिचित हो जाता है। क्योंकि आत्मा असख्यात प्रदेशी, अरूपी एवं अनन्त चतुष्टय युक्त शुद्ध है। फिर भी अनंत आत्माए ससार मे परिभ्रमण कर रही हैं। इसका कारण यह है कि वे कर्म पुद्गलों से आवृत्त हैं। कर्म अजीव हैं, जड़ हैं। अत जब कर्म आवरण पर सोचते हैं, तो अजीव तत्त्व का बोध हो जाता हैं। अब प्रश्न यह होता है कि अजीव या कर्म आत्म को क्यों आवृत्त करते है? इस समस्या के समाधान मे गोता लगाने पर ज्ञात होता है कि आत्मा राग-द्वेष एवं कषाय युक्त परिणामों तथा योगों की प्रवृत्ति से शुभ और अशुभ कर्मों—जिन्हें पाप और पुण्य भी कहते हैं, का संग्रह करती है। शुभाशुभ कर्म आगमन के द्वार को शास्त्रीय भाषा में आस्रव कहते हैं। और इन आए हुए कर्मों का परिणामो की तीव्रता एवं मन्दता के अनुसार उनका तीव्र एवं मन्द बन्ध होता है। संयम के द्वारा आते हुए नए कर्मों को रोक दिया जाता है और तप के द्वारा पुराने कर्मों का क्षय कर दिया जाता है, इस प्रक्रिया से आत्मा एक दिन कर्म एवं कर्म जन्य साधनों से सर्वथा मुक्त हो जाती है, इन्हें क्रमश संवर, निर्जरा और बन्ध कहते है। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान करने वाला व्यक्ति अन्य तत्त्वों को भी जान लेता है। एक तत्त्व के परिज्ञान मे सब तत्त्वों का तथा सब तत्त्वों के परिज्ञान मे एक तत्त्व का ज्ञान हो जाता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक के साथ अनेक या समस्त का संबंध जुड़ा हुआ है और अनेक मे एक समाहित है। इसलिए सम्यक्तया एक का ज्ञान होने पर अनेक का बोध सहज ही हो जाता है। इस प्रकार आत्म चिन्तन की गहराई मे उतरने पर वह अज्ञान के आवरण को अनावृत्त करके पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लेती है और सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होकर संसार के प्राणियों को मोक्ष मार्ग दिखाती है।

सर्वज्ञ बनने के बाद तीर्थंकर क्या उपदेश देते हैं, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं —

मूलम्--सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं, जे एगं नामे से बहुं नामे;जे बहुं नामे से एगं नामे, दुक्खं लोगस्स जाणित्ता वंता लोगस्स संजोगं जंति धीरा महाजाणं, परेण परं जंति, नावकंखति जीवियं ॥१२४॥

छाया—सर्वतः प्रमत्तस्य भयं, सर्वतोऽप्रमत्तस्य नास्ति भयम्। यः एकं नामयति स बहून् नामयति यः बहून् नामयति स एकं नामयति दुःखं लोकस्य ज्ञात्वा वान्त्वा लोकस्य संयोगं यान्ति धीराः महायानं परेण परं यान्ति नावकांक्षन्ति जीवितम्।

पदार्थ—पमत्तस्स—प्रमादि व्यक्ति को। सव्वओ—सब तरह से। भय—भय है। अप्पमत्तस्स—अप्रमत्त को। सव्वओ—सर्व तरह से। भयं—भय। नत्थि—नही है। जे—जो। एग—एक अनन्तानुबन्धी क्रोध को। नामे—क्षय करता है। से—वह। बहु—बहुत से मानादि को भी। नामे—क्षय करता है। जे—जो। बहु—बहुतो को। नामे—क्षय करता है। से—वह। एगं—एकअनन्तानुबन्धिक्रोध को। नामे—क्षय करता है। लोगस्स—लोक के। दुक्खं—दुःख को। जाणित्ता—जानकर फिर। लोगस्स—लोक के। संजोग—सयोग को। वता-छोड कर। धीरा—धीर पुरुष। महाजाणं जन्ति—महायान को अर्थात् एक जन्म में ही दर्शनादि का ग्रहण करके मुक्त हो जाते है अथवा। परेणपरंजंति—परम्परा से आगे बढता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है। परन्तु। नावकंखन्ति जीविय—असयम जीवन की इच्छा नही करते।

मूलार्थ—प्रमत्त-प्रमादी जीव को सब तरह से भय है और अप्रमत्त को सर्व तरह से कोई भय नही। जो एक अनन्तानुबन्धी क्रोध को क्षय करता है वह अन्य बहुत सी कर्म प्रकृतियों को क्षय करता है, और जो बहुत सी कर्म प्रकृतियों को क्षय करता है। वह एक को क्षय करता है लोक के दुःख को जान कर और उस के सयोग को त्याग कर धीर पुरुष मोक्षमार्ग पर चलते हैं और वे अनुक्रम से मोक्ष को प्राप्त करते हैं। वे महापुरुष कभी भी असयममय जीवन की इच्छा नही करते।

हिन्दी विवेचन

भय मोह जन्य है। क्योंकि वह चारित्र मोहनीय कर्म की एक प्रकृति है। इसलिए असयम निष्ठ जीवन मे उसका उदय रहता है। इससे प्रस्तुत सूत्र मे यह बताया गया है कि प्रमादी व्यक्ति को सब प्रकार से भय है अर्थात् जहा प्रमाद है वहीं सब भय है। और जब आत्मा अप्रमत्त भाव मे विचरण करती है, तब मनुष्य को कोई भय नही रह जाता है। इसका कारण यह है कि प्रमादी व्यक्ति की दृष्टि मे भौतिक पदार्थों की मुख्यता है, अत उनके नाश या वियोग की स्थिति उत्पन्न होने ही मन मे भय एव कम्पन उत्पन्न हो जाता है। परन्तु अप्रमत्त मुनि का चिन्तन आत्माभिमुखी होता है, शरीर एवं अन्य भौतिक साधन उसकी दृष्टि मे केवल आत्म विकास के साधन मात्र हैं— इससे अधिक नही, इसलिए और साधनो का तो क्या देह के विनाश का प्रसग आने पर भी वह भयभीत नहीं होता। वह उसे उसी प्रसन्न भाव से त्याग देता है, जिस प्रसन्न भाव से पुरातन वस्त्र का परित्याग करता है। अत सयमनिष्ठ अप्रमत्त व्यक्ति को किसी भी प्रकार का भय नही होता, वह सदा निर्भय होकर विचरता है। वह अभय का देवता न स्वयं भयभीत होता है और न अन्य किसी भी प्राणी को भयभीत करता है।

जहां भय रहता है, वहां मोह कर्म की अन्य प्रकृतियां भी रहती है। और वस्तुत मोह कर्म ही सब कर्मों का राजा है। उसका नाश करने पर शेष कर्मों का नाश करना सरल हो जाता है। इस लिए कहा गया कि जो व्यक्ति मोह कर्म की एक प्रकृति अनन्तानुबन्धी क्रोध को क्षय कर देता है, वह शेष प्रकृतियों को भी क्षय कर देता है और जो मोह कर्म की बहुत सी प्रकृतियो को क्षय करता है वह अनन्तानुबन्धी क्रोध का भी नाश करता है या जो मोह कर्म को क्षय करता है, वह बहुत से कर्मों का अर्थात् तीन घातिकर्मों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म का उसी समय नाश करता है और शेष कर्मों का आयुकर्म के क्षय के साथ क्षय कर देता है। और जो बहुत से कर्मों का क्षय करता है, वह मोह कर्म का भी क्षय करता है।

इस प्रकार आत्मा समस्त दुखों से मुक्त हो जाता है। क्योंकि दुखों का मूल कारण कर्म है और विषय-वासना की आसक्ति एव राग-द्वेष से कर्म का बन्ध होता है। इसलिए साधक राग-द्वेष एवं विषयों की आसक्ति का परित्याग करके मोक्ष मार्ग पर चले। इससे वह उसी भव में या परम्परा से—कुछ भवों मे समस्त कर्मो का नाश करके निर्वाण पद पा लेता है।

प्रस्तुत सूत्र मे 'महाजाणं—महायान' शब्द का प्रयोग मोक्षमार्ग केअर्थ मे

किया गया है। ※इसके अतिरिक्त 'यान' शब्द का चारित्र अर्थ भी होता है। अत. 'महायान' का अर्थ हुआ — उत्कृष्ट चारित्र† । और धैर्यवान पुरुष चारित्र की आराधना करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं, अत इस अपेक्षा से चारित्र को भी महायान कहा है।

क्या चारित्र की आराधना से आत्मा उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेती है या वह देव, मनुष्य आदि गतियों में कुछ भव करके मोक्ष प्राप्त करती है? कुछ आत्माएं उसी भव में समस्त कर्मों से मुक्त हो जाती हैं और कुछ आत्माएं संयम के साथ सरागता होने के कारण सौधर्म आदि स्वर्गों में उत्पन्न होती हैं। और वहा मनुष्य एवं विशिष्ट स्वर्गों में उत्पन्न होता हुआ, एक दिन मोक्ष को प्राप्त करता है। प्रस्तुत सूत्र में इस बात को 'परेण पर जाति' पाठ से अभिव्यक्त किया है। 'परेण (तृतीयांत) और परं (द्वितीयान्त) इन दोनों शब्दों का कई अर्थों में प्रयोग होता है। जैसे—१-धीर पुरुष संयम की आराधना से स्वर्ग और परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करते हैं। २—आत्मा चतुर्थ गुणस्थान में चढ़ते हुए, पंचम गुणस्थान आदि में होता हुआ अयोगि केवली १४वें गुणस्थान में पहुच जाता है। ३—अनन्तानुबन्धी क्षय से दर्शन और चारित्र मोहनीय कर्म या घाति एवं अघाति कर्मों का क्षय कर देता है‡। इसके अतिरिक्त इन उभय शब्दों का 'परेण' —तेजोलेश्या से भी 'परं'— विशिष्टतर लेश्या को प्राप्त करना भी अर्थ होता है।

'नामे' यह क्रियापद है, जैसे—नामयति—क्षपयति लोकस्य संयोगं' पद में आत्मा के अतिरिक्त पुत्र, पत्नी आदि परिवार मे आसक्त रहना। अत: इसका अभिप्राय यह है कि मुनि को धन वैभव एवं पारिवारिक संबन्ध का त्याग करके संयम का परिपालन करना चहिए।

※महद्यान—सम्यग् दर्शनादित्रयं यस्य स महायानो मोक्षः। —आचाराग वृत्ति।

† यान्त्यनेन मोक्षमिति यानं—चारित्रं तच्चानेकभवकोटिदुर्लभ लब्धमपि प्रमाद्यतस्तथाविध कर्मोदयात् स्वप्नावाप्तनिधिसमतामवाप्नोत्यतो महच्छब्देन विशेष्यते, महच्च तद्यानं च महायानमिति। —आचाराग वृत्ति।

‡ यथा—"परेण-संयमेनोदिष्ट विधिना पर-स्वर्गं पारम्पर्येणापवर्गमपि यान्ति, यदि-वा परेण— सम्यग् दृष्टिगुणस्थानेन "पर"—देशवृत्यायोगिकेवलि पर्यंतं गुणस्थानक्रमधितिष्ठन्ति, परेण वा अनन्तानुबन्धि क्षयेणोल्लसत्कण्डकस्थाना: 'परं' "दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीयक्षयघातिभवोपग्राहीकर्मणांवा क्षयमवाप्नुवन्ति" एव विधाश्च कर्म क्षपणोद्यत जीवितं किय‌द् गत किं वा शेषमित्येवं नावकांक्षन्ति।"

जो आत्मा अनन्तानुबन्धी आदि कर्म प्रकृतियों का क्षय करने को तैयार होता है, उस समय उन्हीं का क्षय करता है या साथ में अन्य प्रकृतियों का भी क्षय करता है? इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ, पुढोवि एगं. सड्ढी आणाए मेहावी लोगं च आणाए अभिसमिच्चा अकुओभयं, अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं ॥१२५॥

छाया—एकं क्षपयन् पृथक् (अन्यदपि) क्षपयति, पृथगपि (अन्यदपि) श्रद्धी (श्रद्धावान्) आज्ञया मेधावी लोकं च आज्ञया अभिसमेत्याकुतोभयं, अस्ति शस्त्रं परेण परं, नास्ति अशस्त्रं परेण परम्।

पदार्थ—एगं—एक मोहनीय कर्म का। विगिंचमाणे—क्षय करता हुआ साधक। पुढो—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन अनेक कर्मों का। विगिंचइ—क्षय करता है। पुढोवि—ज्ञानावरणीय आदि अनेक कर्मों का क्षय करता हुआ साधक। एगं—एक कर्म का क्षय करता है।

आणाए—भगवत् प्रणीत आगम के अनुसार आचरण करने वाला। सड्ढी—श्रद्धावान और मेहावी—बुद्धिमान साधक द्वारा। लोगं—छः काय के जीव लोक को। आणाए—आगम के उपदेश से। अभिसमिच्चा—जानकर। अकुओभयं—किसी भी प्राणी को भय न हो, वैसा व्यवहार करना चाहिए। सत्थं—शस्त्र रूप असंयम। परेणपरं—तारतम्य वाला है। अत्थि—है, परन्तु। असत्थ—संयम। परेण परं नत्थि—तारतम्य—उतार चढाव वाला नहीं है।

मूलार्थ—मुनि एक अनन्तानुबन्धी क्रोध का क्षय करता हुआ दर्शन सप्तक का भी क्षय करता है और दर्शन सप्तक का क्षय करता हुआ एक अनन्तानुबन्धी क्रोध का क्षय कर देता है ऐसा श्रद्धावान भगवत् प्रणीत आज्ञा के अनुसार अनुष्ठान करता हुआ बुद्धिमान भगवान के उपदेश से लोक को जानकर किसी भी जीव को भय न दे। क्योंकि असंयम तारतम्य रूप वाला होता है परन्तु संयम उतार चढाव वाला नहीं होता।

हिन्दी विवेचन

जैन दर्शन विकासवादी है। वह आत्मा के स्वतन्त्र विकास पर विश्वास करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से विकास करके निर्वाण पद को प्राप्त करता है। प्रस्तुत सूत्र में इसी श्रेणिविकास का क्रम बताया गया है।

जब साधक क्षपकश्रेणी पर चढ़ता है तो वह अनन्तानुबन्धी कषाय, दर्शन—सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय इन सात प्रकृतियों को क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। उक्त गुणस्थान से ही उसका विकास आरम्भ होता है, दृष्टि में एक नया परिवर्तन आता है। उसका चिन्तन, मनन अब बाह्याभिमुखी नहीं अपितु आत्माभिमुख होता है।

इसके बाद वह अप्रत्याख्यानी कषाय, प्रत्याख्यानी कषाय एवं संज्वलन के क्रोध; मान, माया और लोभ का क्षय करता हुआ पांचवे, छटे, सातवे आदि गुणस्थानों को लांघकर तेरहवे गुणस्थान मे पहुंचता है और वहा से चौदहवे गुणस्थान को प्राप्त करके वहां समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय करके और मन, वचन एवं काय का निरोध करके निर्वाण पद को प्राप्त करता है। इस प्रकार साधक सदा कर्म बन्धन को शिथिल—ढीला करने की साधना मे लगा रहता है। कुछ साधक एक भव में समस्त कर्मों को क्षय करने मे समर्थ नहीं होते। उनकी साधना मे इतनी तेजस्विता नहीं होती कि वे शीघ्र गति से सभी सीढ़ियों को पार कर सकें। फिर भी उनका लक्ष्य संपूर्ण कर्म क्षय करने का होता है और वे उसी श्रेणी क्रम से उस लक्ष्य तक पहुचने का प्रयत्न करते हैं।

इसलिए कहा गया है कि मोक्षाभिलाषी साधक श्रद्धानिष्ठ होकर संयम मार्ग पर चलता है और भगवान की आज्ञा के अनुसार साधना मे प्रवृत्त होता है। अथवा ६ काय या कषाय रूप लोक एवं उसके आरम्भ—समारम्भ तथा कषाय सेवन से बढ़ने वाले संसार परिभ्रमण को जानकर किसी भी जीव को त्रास एवं भय नहीं देता। वह प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के समान जानता है। अतः दूसरे प्राणी को कष्ट देना अपनी आत्मा को कष्ट देना है, ऐसा जानकर वह सब को अभयदान देता है।

वस्तुतः भय संयम का शस्त्र है। असंयम सबसे भयंकर शस्त्र है। क्योंकि असंयत जीवन में एकरूपता नहीं रहती। अपने स्वार्थ की प्रमुखता के कारण दूसरे जीवों पर समदृष्टि नहीं रहती। इस लिए असंयत जीव अपने स्वार्थ को साधने के लिए

द्रव्य एव भाव शस्त्रों को तीक्ष्ण बनाता रहता है। अस्थि शस्त्र युग से लेकर अणु-बम एव हाईड्रोजन बम तक का इतिहास असंयम की विपाक्त भावना का परिणाम है। इसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ एवं राग-द्वेष आदि भाव शस्त्रों मे तीव्रता आती रहती है। परन्तु संयम अशस्त्र है, उसमें द्रव्य एवं भाव दोनों प्रकार के शस्त्रों का अभाव है। साधक ममभाव की दृष्टि लेकर आगे बढ़ता है। इसलिए उसमे तरतमता नहीं पाई जाती है। वह शस्त्र से दूर रहता हुआ, सदा आगे बढ़ता रहता है। उसकी साधना की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। फिर उसे सयम की भी आवश्यकता नही रहती है। क्योंकि साधना की उपयोगिता साध्य के प्राप्त होने तक ही है, उसके प्राप्त हो जाने के बाद उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती है। इस प्रकार संयम निष्ठ साधक श्रेणी विकास करता हुआ अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है।

साधक कषाय के यथार्थ स्वरूप को जानता है। जिस प्रकार वह क्रोध के स्वरूप एव परिणाम से परिचित है उसी प्रकार मान के एव अन्य कषायों के स्वरूप से भी परिचित है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से माया-दंसी, जे मायादंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पिज्जदंसी, जे पिज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मार-दंसी, जे मारदंसी से नरयदंसी, जे नरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी। से मेहावी अभिणिवट्टिज्जा कोहं च माणं च मायं च लोभं च पिज्जं च दोसं च मोहं च गब्भं च जम्मं च मारं च नरयं च तिरियं च दुक्खं च। एयं पासगस्स दंसणं

माया। लोभं च—लोभ। पिज्जं च—प्रेम-राग। दोस च—द्वेष। मोहं च—मोह। जम्मं च—जन्म। मारं च—मरण। नरय च—नरक। तिरिय च—तिर्यक् और। दुक्ख च—दुःख से। (चकार शब्द प्रेरणार्थ वा समुच्चय अर्थ वा पादपूर्णार्थ मे जानना चाहिये। तथा उक्त पदो का अर्थ द्वितीया विभक्ति का करना और भावार्थ मे पाचवी विभक्ति का भी हो सकता है) एय—यह। पासगस्स—तीर्थंकर देव का। दसण—दर्शन है, जो कि। उवरय सत्थस्स—शस्त्र-से उपरत हैं। पलियंतकरस्स—कर्मों का अन्त करने वाले है। किं—क्या। पासगस्स—पश्यक केवली भगवान को। ओवाहि—उपाधि है। अत्थि—है ? न विज्जइ—न विद्यते-नहीं है नत्थि—नही है। त्तिबेमि इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो क्रोध के देखने वाला है, वह मान के देखने वाला है, जो मान के देखने वाला है, वह माया के देखने वाला है, जो माया के देखने वाला है, वह लोभ के देखने वाला है, जो लोभ के देखने वाला है, वह राग के देखने वाला है, जो राग के देखने वाला है, वह द्वेष के दखने वाला है, जो द्वेष के देखने वाला है, वह मोह के देखने वाला है, जो मोह के देखने वाला है, वह गर्भ के देखने वाला है, जो गर्भ के देखने वाला है, वह जन्म के देखने वाला है, जो जन्म के देखने वाला है, वह मरण के देखने वाला है, जो मरण-मृत्यु के देखने वाला है, वह नरक के देखने वाला है, जो नरक के देखने वाला है, वह तिर्यक् के देखने वाला है, जो तिर्यक् के देखने वाला है, वह दु ख के देखने वाला है, मेधावी व्यक्ति क्रोध, मान, माया और लोभ को तथा राग-द्वेष और मोह का एव गर्भ, जन्म, मरण, नरक तिर्यक् और दुःख को छोड देता है, इनसे निवृत्त हो जाता है। यह तीर्थंकर देव का दर्शन अर्थात् सिद्धात है जो कि शस्त्र मे उपरत और संसार का अन्त करने वाले और स्वकृत कर्मों का भेदन करने वाले हैं। क्या तीर्थंकर अथवा केवली भगवान वे भी कोई उपाधि है ? उत्तर-तीर्थंकर वा केवली भगवान के कोई भी उपाधि नहीं है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे कषायों के कटु परिणाम को बताया गया है। ये ही

संसार परिभ्रमण एवं दुःख प्रवाह को बढ़ाने वाले हैं। अतः बुद्धिमान वह ही है; जो इनसे निवृत्त हो जाता है। तीर्थंकर भगवान का यही उपदेश है। वे असंयम रूप शस्त्र से रहित होते हैं। अत. वे संसार का अन्त करने वाले एवं उपाधि रहित माने गए हैं।

जिस वस्तु को ग्रहण किया जाए, उसे उपाधि कहते हैं। वह दो प्रकार की है— १- द्रव्य उपाधि और २- भाव उपाधि। स्वर्णादि भौतिक साधन सामग्री को द्रव्य उपाधि कहते हैं और अष्ट कर्म को भाव उपाधि कहते हैं*। सर्वज्ञ भगवान में द्रव्यउपाधि तो होती ही नहीं और भाव उपाधि में उन्होंने चार घाति-कर्मों का क्षय कर दिया है। इसलिए अवशिष्ट चार कर्म भी कर्म बन्धन के कारण नहीं बनते। केवल आयु कर्म के रहने तक उनका अस्तित्व मात्र रहता है। इसलिए उन्हें भी उपाधि रूप नहीं माना गया है। क्योंकि आयु कर्म के साथ उनका भी क्षय करके सिद्ध पद को प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार द्रव्य एवं भाव उपाधि संसार परिभ्रमण का कारण है और उसका परित्याग संसार नाश का कारण है। इसलिए साधक को द्रव्य एवं भाव उपाधि से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। यही प्रस्तुत अध्ययन का सार है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

चतुर्थ उद्देशक समाप्त

॥ तृतीय अध्ययन-शीतोष्णीय समाप्त ॥

---

*उपाधि.—विशेषण, उपाधीयत इति वोपाधिः, द्रव्यतो हिरण्यादिर्भावतोऽष्ट प्रकारं कर्म्म। —आचारांग वृ।

माया। लोभं च—लोभ। पिज्जं च—प्रेम-राग। दोसं च—द्वेष। मोहं च—मोह। जम्म च—जन्म। मारं च—मरण। नरय च—नरक। तिरिय च—तिर्यक् और। दुक्ख च—दुःख से। (चकार शब्द प्रेरणार्थ वा समुच्चय अर्थ वा पादपूर्णार्थ मे जानना चाहिये। तथा उक्त पदो का अर्थ द्वितीया विभक्ति का करना और भावार्थ मे पाचवी विभक्ति का भी हो सकता है) एय—यह। पासगस्स—तीर्थंकर देव का। दसण—दर्शन है, जो कि। उवरय सत्थस्स—शस्त्र-से उपरत हैं। पलियंतकरस्स—कर्मों का अन्त करने वाले है। किं—क्या। पासगस्स—पश्यक केवली भगवान को। ओवाहि—उपाधि है। अत्थि—है ? न विज्जइ—न विद्यते-नहीं है नत्थि—नही है। त्तिबेमि इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो क्रोध के देखने वाला है, वह मान के देखने वाला है, जो मान के देखने वाला है, वह माया के देखने वाला है, जो माया के देखने वाला है, वह लोभ के देखने वाला है, जो लोभ के देखने वाला है, वह राग के देखने वाला है, जो राग के देखने वाला है, वह द्वेष के दखने वाला है, जो द्वेष के देखने वाला है, वह मोह के देखने वाला है, जो मोह के देखने वाला है, वह गर्भ के देखने वाला है, जो गर्भ के देखने वाला है, वह जन्म के देखने वाला है, जो जन्म के देखने वाला है, वह मरण के देखने वाला है, जो मरण-मृत्यु के देखने वाला है, वह नरक के देखने वाला है, जो नरक के देखने वाला है, वह तिर्यक् के देखने वाला है, जो तिर्यक् के देखने वाला है, वह दुःख के देखने वाला है, मेधावी व्यक्ति क्रोध, मान, माया और लोभ को तथा राग-द्वेष और मोह का एव गर्भ, जन्म, मरण, नरक तिर्यक् और दुःख को छोड देता है, इनसे निवृत्त हो जाता है। यह तीर्थकर देव का दर्शन अर्थात् सिद्धात है जो कि शस्त्र मे उपरत और संसार का अन्त करने वाले और स्वकृत कर्मों का भेदन करने वाले हैं। क्या तीर्थंकर अथवा केवली भगवान के भी कोई उपाधि है ? उत्तर-तीर्थंकर वा केवली भगवान के कोई भी उपाधि नहीं है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे कषायों के कटु परिणाम को बताया गया है। ये ही

संसार परिभ्रमण एवं दुःख प्रवाह को बढ़ाने वाले हैं। अतः बुद्धिमान व ही है, जो इनसे निवृत्त हो जाता है। तीर्थंकर भगवान का यही उपदेश है। वे असंयम रूप शस्त्र से रहित होते हैं। अत. वे संसार का अन्त करने वाले एवं उपाधि रहित माने गए हैं।

जिस वस्तु को ग्रहण किया जाए, उसे उपाधि कहते हैं। वह दो प्रकार की है— १- द्रव्य उपाधि और २- भाव उपाधि। स्वर्णादि भौतिक साधन सामग्री को द्रव्य उपाधि कहते हैं और अष्ट कर्म को भाव उपाधि कहते हैं*। सर्वज्ञ भगवान में द्रव्यउपाधि तो होती ही नहीं और भाव उपाधि में उन्होंने चार घाति-कर्मों का क्षय कर दिया है। इसलिए अवशिष्ट चार कर्म भी कर्म बन्धन के कारण नहीं बनते। केवल आयु कर्म के रहने तक उनका अस्तित्व मात्र रहता है। इसलिए उन्हें भी उपाधि रूप नहीं माना गया है। क्योंकि आयु कर्म के साथ उनका भी क्षय करके सिद्ध पद को प्राप्त कर लेते है।

इस प्रकार द्रव्य एवं भाव उपाधि संसार परिभ्रमण का कारण है और उसका परित्याग संसार नाश का कारण है। इसलिए साधक को द्रव्य एवं भाव उपाधि से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। यही प्रस्तुत अध्ययन का सार है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

चतुर्थ उद्देशक समाप्त

॥ तृतीय अध्ययन-शीतोष्णीय समाप्त ॥

---

*उपाधि.—विशेषण, उपाधीयत इति वोपाधिः, द्रव्यतो हिरण्यादिर्भावतोऽष्ट प्रकारं कर्म्म। —आचारांग चूर्णि।

चतुर्थ-अध्ययन-सम्यक्त्व

प्रथम उद्देशक

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—सम्यक्त्व। तत्त्वार्थ की श्रद्धा करने को सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यक्त्व—यथार्थ श्रद्धा का महत्त्व बताते हुए निर्युक्तिकार ने कहा है— जैसे सारे प्रयत्न करने पर भी अन्धा व्यक्ति शत्रु पर विजय नहीं पा सकता, उसी प्रकार मिथ्यात्व संपन्न व्यक्ति धन-वैभव एवं परिजनों का त्याग करके, व्यवहार से निवृत्ति मार्ग को स्वीकार करके तथा तप एवं काय-क्लेश आदि अनेक कष्ट उठाकर भी वह राग-द्वेष रूपी शत्रु को परास्त करके मुक्ति नहीं पा सकता। अत कर्म शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए श्रद्धा सम्पन्न होना आवश्यक है। श्रद्धा युक्त व्यक्ति के ही ज्ञान, तप और चारित्र सफल होते हैं, मोक्ष के कारणभूत होते हैं। और सम्यक्त्व को स्पर्श करने के अनन्तर ही क्रमश उन्नति करके तीर्थंकर आदि पद की प्राप्ति सम्भव है। इसलिए जैन दर्शन में सम्यक्त्व का महत्त्व पूर्ण स्थान है। हम यों भी कह सकते हैं कि सम्यक्त्व मोक्ष साधना का मूल कारण है। इसी कारण आगमों मे मनुष्यत्व, शास्त्र श्रवण, संयम परिपालन आदि को दुर्लभ कहा है, परन्तु श्रद्धा को परम दुर्लभ कहा है*। अस्तु, श्रद्धा साधना का प्राण है, जीवन है।

प्रश्न हो सकता है कि किस बात पर श्रद्धा की जाए? कौन से तत्त्वों पर विश्वास रखा जाए? प्रस्तुत अध्ययन में इसी प्रश्न का समाधान किया गया है। इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक के पहले सूत्र मे साधना के मूल मंत्र, श्रद्धा रखने के तत्त्व एवं जैन दर्शन के उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया है। वह सूत्र इस प्रकार है—

मूलम्—से बेमि जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं

---

* सद्धा परम दुल्लहा। —उत्तराध्ययन सूत्र ३, ९

पराणविंति एवं परूविंति-सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघित्तव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे, निइए सासए समिच्च लोयं खेयराणेहिं पवेइए, तंजहा– उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा उवरयदंडेसु वा अणुवरएदंडेसु वा सोवहिएसुवा अणोवहिएसु वा संजोगरएसु वा असंजोगरएसु वा तच्च चेयं तहा चेयं अस्सिं चेयं पवुच्चइ ॥१२७॥

छाया—अथ ब्रवीमि ये अतीताः ये प्रत्युत्पनाः ये आगामिनः (अनागताः) अर्हन्तः भगवन्तः ते सर्वे एवमाचक्षते एवं भाषन्ते एवं ज्ञापयन्ति एवं प्ररूपयन्ति सर्वे प्राणा. सर्वाणि भूतानि सर्वे जीवाः सर्वे सत्त्वाः न हन्तव्याः न ज्ञापयितव्याः न परिग्राह्याः न परितापयितव्याः नापद्रावयितव्या एष धर्मः शुद्धः नित्यः शाश्वतः समेत्य लोकं खेदज्ञैः प्रवेदितः तद्यथा_उत्थितेषु वा अनुत्थितेषुवा उपस्थितेषुवा अनुपस्थितेषुवा उपरतदंडेषुवा अनुपरतदण्डेषुवा, सोपधिकेषुवा अनोपधिकेषुव ।संयोगरतेषुव वा असंयोगरतेषुवा तथ्यंचैतत तथा चैतत् अस्मिन् चैतत् प्रोच्यते।

पदार्थ—से – मै। बेमि – कहता हूँ ।[जे – जो। अईया – अतीत काल मे हो गए। य – और । पडुप्पन्ना – जो वर्तमान काल मे हैं तथा जो। आगमिस्सा – भविष्यत काल में होंगे। अरहंता – अर्हन्त। भगवंतो – भगवन्त। ते – वे। सव्वे – सव। एवमाइक्खति – इस प्रकार कहते हैं। एव – इस प्रकार। मासति—भाषण करते हैं। एव – इस प्रकार। पण्णविंति – प्रज्ञापन करते हैं। एव – इस प्रकार। परविंति – प्ररुपण करते है। सव्वे – सर्व। पाणा – प्राणी। सव्वे – सव। भूया – भूत। सव्वे – सव। जीवा – जीव। सव्वे – सव। सत्ता – सत्त्व। न हंतव्वा – न मारने चाहिए। न अज्जावेयव्वा – न दूसरो से मरवाने चाहिएं। न परिघितव्वा—

न किसी अन्य के द्वारा पकडवाने चाहिए। न परियावेयव्वा—न इनको परितापना देनी चाहिए। न उद्दवेयव्वा—न इनके ऊपर उपद्रव करना चाहिए अर्थात् प्राणो से वियुक्त न करना चाहिए। एस धम्मे- यह अहिंसा रूप धर्म। सुद्धे—शुद्ध है। निइए—नित्य है। सासए—शाश्वत है। लोय—जतु लोक के दु ख सागर के अवगाढ को। समिच्च—विचार कर। खेयण्णेहिं—जीवो के दु खो को जानने वालो ने। पवेइए—प्रतिपादन किया है। तंजहा—जैसे कि। उट्ठिएसु—जो धर्म सुनने के लिए तैयार हैं। वा—अथवा। अणुट्ठिएसु—जो अनुद्यत हैं। वा—अथवा। उवट्ठिएसु—जो धर्म सुनने के लिए उपस्थित है। वा—अथवा। अणुवट्ठिएसु—अनुपस्थित हैं। वा—अथवा। उवरयदडेसु—जो मन, वचन और काया के दड से उपरत हैं। वा—अथवा जो अणुवरयदंडेसु—दड से उपरत नही हैं। वा—अथवा। सोवहिएसु—जो उपधि से युक्त हैं। वा—अथवा। अणोवहिएसु—जो उपधि से रहित हैं। वा—अथवा। सजोगरएसु—माता-पिता के सयोग मे रक्त हैं। वा—अथवा। असजोगरएसु—जो संयोग रत नही हैं—एकान्त भावना के ऊपर आश्रित हैं, इनके प्रति भगवान ने धर्मदेशना दी है। एय—वह। तच्च—सत्य है। च—नियमार्थ है। तहा—तथा। चेय—एतद वस्तु अहिंसा धर्म। अस्सिं—इस मौनेन्द्र प्रवचन। में सम्यग् मोक्ष मार्ग के विधान करने वाली। चेय—यह शिक्षा। पवुच्चइ-प्रकर्ष से कही गई हैं।

मूलार्थ—आर्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू से कहते है कि हे आर्य! जिस प्रकार मैने भगवान के मुख से श्रवण किया है, उसी प्रकार मे तुम्हारे को कहता हू— जो अरिहंत भगन्त अतीत काल मे हो चुके है, वर्तमान काल मे है, तथा आगामी काल मे होगे, वे सब इस प्रकार भाषण करते है, इस प्रकार कहते हैं, इस प्रकार प्रज्ञापित करते हैं, इस प्रकार प्ररूपण करते है—सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्वो को न मारना चाहिए, न अन्य व्यक्ति के द्वारा मरवाना चाहिए, न बलात्कार से पकडना चाहिए, न परिताप देना चाहिए, न उन पर प्राणापहार-उपद्रव करना चाहिए, यह अहिंसा रूप धर्म ही शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत, है लोक के दुःखो का विचार कर खेदज्ञ पुरुषो ने इसका वर्णन किया है, जैसे कि-जो अहिंसा धर्म के सुनने के लिए उद्यत है अथवा अनुद्यत हैं, उपस्थित है, वा अनुपस्थित हैं, मन, वचन और काय रूप दण्ड से उपरत है वा अनुपरत हैं, सोपधिक है अथवा उपधि रहित हैं,

संयोग मे रत है वा सयोग से उपरत हैं, इन सबको अहिसा रूप धर्म सुनाना चाहिए। कारण कि यह धर्म सत्य है, मोक्ष प्रदाता है, जैनागम मे इस अहिंसा निष्ठ धर्म का प्रकर्ष रूप से वर्णन किया गया है । अत. प्रत्येक साधक को इस शुद्ध एव शाश्वत धर्म पर श्रद्धा रखनी चाहिए ।

हिन्दी विवेचन

जैन धर्म के मूल उद्देश्य को समझने के लिए प्रस्तुत सूत्र महत्त्वपूर्ण है। अहिंसा की निष्ठा का इससे अधिक वर्णन अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इसमें बताया गया है कि अतीत, अनागत एवं वर्तमान तीनों काल में रहने वाले समस्त तीर्थंकरों का यही उपदेश रहा है कि किसी भी प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्व की हत्या नहीं करनी चाहिए, उन्हें पीड़ा और सन्ताप नहीं देना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है। इसके आचरण से जीव दुर्गति के द्वार को बन्द करके सुगति या मोक्ष की ओर बढ़ता है, आत्म कल्याण के पथ पर अग्रसर होता है। इसलिए वृत्तिकार ने अहिंसा को इस महासाधना को दुर्गति के लिए अर्गला एवं सुगति के लिए सोपान रूप बताया है* ।

यह अहिंसा धर्म सर्व प्राणी जगत के लिए हितकर है, कल्याण रूप है। इससे समस्त जीवों को शांति मिलती है, सबको आत्म विकास का सुअवसर मिलता है, इसलिए इसका समस्त प्राणियों को उपदेश देना चाहिए, भले ही, वे सुनने के इच्छुक हों या न हों, सुनने के लिए उपस्थित हों या न हों, मन, वचन, काय से संवृत्त हों या न हों, सांसारिक उपाधि से मुक्त हों या न हो,धन-वैभव एवं परिवार मे अनासक्त हों या न हों अथवा हम एक शब्द में यों कह सकते हैं कि पापी एवं धर्मी सभी व्यक्तियों को यह उपदेश देना चाहिए । अहिंसा का मार्ग सबके लिए समान रूप से खुला है। साधना के क्षेत्र में ऊंच-नीच, अमोर-गरीव, धर्मी-अधर्मी का कोई भेद नहीं है। जीवन की श्रेष्ठता एवं निकृष्टता वीते हुए जीवन से नहीं नापी जाती। प्रत्युत वर्तमान एवं भविष्य के जोवन से नापी जाती है, अत जब साधक जागृत होता है, संयम एवं अहिंसा के पथ पर बढ़ता है, तभी से उसका जीवन विकास आरम्भ हो जाता है और वह विश्व के लिए वन्दनीय एवं पूजनीय बन जाता है अस्तु अहिंसा

* दुर्गत्यर्गलासुगतिसोपानदेश्य· । —आचारांग वृत्ति ।

धर्म का सभी प्राणियों को समान भाव से उपदेश देना चाहिए ।

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि तीनों काल मे होने वाले तीर्थंकर इसी अहिंसा धर्म का उपदेश देते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि धर्म अनादि-अनन्त है। यह बात अलग है कि कुछ क्षेत्रों में कुछ काल के लिए तीर्थंकर एवं तीर्थंकरों का शासन नहीं होता। परन्तु महाविदेह क्षेत्र में हर समय तीर्थंकरों का शासन रहता है। अत. कर्मभूमि मे धर्म की सरिता सदा बहती रहती है और धर्म का आधार अहिंसा है। क्योंकि अन्य व्रत, नियम एवं साधना इसी के आधार पर पल्लवित, पुष्पित एव फलित होती है और इससे प्रत्येक प्राणी को शाति मिलती है। साधक के मन मे भी शांति का सागर ठाठें मारता है। मन मे संकल्प-विकल्प एव कलुषता को पनपने का अवसर ही नही मिलता। इस कारण अहिंसा को धर्म का प्राण कहा गया है और धर्म अनादि काल से चला आ रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक काल में होने वाले तीर्थंकर सर्व क्षेमकरी अहिसा का उपदेश देते हैं।

अत. साधक को अहिंसा धर्म पर श्रद्धा रखना चाहिए। श्रद्धा के बाद वह क्या करे, इसको स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तं आइत्तु न निहे न निक्खिवे जाणित्तु धम्मं, जहा तहा, दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छिज्जा, नो लोगस्सेसणं चरे ॥१२८॥

छाया—तदादाय न गोपयेत्, न निक्षिपेत् ज्ञात्वा धर्मं यथा-तथा दृष्टैः निर्वेदं गच्छेत्, नो लोकस्यैषणां चरेत् ।

पदार्थ—त—सम्यग् दर्शन को। आइत्तु—स्वीकार करके। न निहे—उसका गोपन न करे। न निक्खिवे—न उसका परित्याग करे। धम्म—धर्म को। जहा-तहा—यथार्थ रूप से। जाणित्तु—जानकर। दिट्ठेहिं—इष्ट या अनिष्ट रूप आदि मे। निव्वेय—वैराग्य भाव गच्छिज्जा— धारण करे। नो लोगस्सेसण चरे—परन्तु, लोकेषणा को ग्रहण न करे।

मूलार्थ—सम्यक्त्व को स्पर्श करने के बाद उसकी आराधना में अपनी शक्ति का गोपन नही करना चाहिए और मिथ्यात्व के प्रवाह में बहकर उसका परित्याग भी नही करना चाहिए। इष्ट-अनिष्ट रूप, रस आदि मे वैराग्य भाव रखे अर्थात् उनमे आसक्त न बने, न प्रिय वस्तु पर राग करे और न अप्रिय पदार्थ पर द्वेष रखे और लोकेषणा—श्रद्धा विहिन लोगो

का अनुकरण करके इष्ट वस्तु को उपादेय एवं अनिष्ट वस्तु को हेय बुद्धि से ग्रहण न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अहिंसा में निष्ठा—श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति को दृढ़ शब्दों में कहा गया है कि वह अपनी शक्ति श्रद्धा को दृढ़ बनाने एवं उसके अनुरूप आचरण करने में लगावे। सम्यक्त्व का विस्तार करने मे कभी भी शक्ति का गोपन न करे और उसका परित्याग करने की भी न सोचे। सम्यक्त्व का प्रकाश धुंधला न पड़ जाए इसके लिए उसे उसके अतिचारों—दोषों से बच कर रहना चाहिए। लोकेषणा भी जीवन को गिराने वाली है। लोकेषणा से यहां पुत्र, धन, काम-भोग, विषय-वासना, विलासता आदि की इच्छा-कामना समझनी चाहिए। और यह विषयेच्छा कर्म-बन्ध एवं दुःखों की परम्परा को बढ़ाने वाली है। अतः मुमुक्षु को लोकेषणा से निवृत्त होना चाहिए।

जिस व्यक्ति के जीवन में लोकेषणा नहीं होती, उस के मन में कुमति भी नहीं होती है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स नत्थि इमा जाई अण्णा तस्स कओ सिया? दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं जं एयं परिकहिज्जइ, समेमाणा पलेमाणा पुणो २ जाइं पकप्पंति ॥१२६॥

छाया—यस्य नास्ति इयं ज्ञातिः तस्यान्या कुतः स्याद्? दृष्टं श्रुतं मतं विज्ञातं यदेतत् परिकथ्यते शाम्यन्तः प्रलीयमानाः पुनः पुनः जातिं प्रकल्पयन्ति।

पदार्थ—जस्स—जिस मुमुक्षु पुरुष के मन मे। इमा—यह। जाई—ज्ञाति—लोकैषणा बुद्धि। नत्थि—नही है। तस्स—उसके। अण्णा—सावद्य प्रवृत्ति। कओ—कहा से। सिया—हो। दिट्ठ—देखा हुआ। सुयं—सुना हुआ। मय—माना हुआ। विण्णायं—विशेषता से जाना हुआ। ज—जो। एय—यह। परिकहिज्जइ—मेरे द्वारा कहा जाता है अर्थात् जो कुछ मैं कहता हूं वह सब सर्वज्ञोक्त है। तथा जो सर्वज्ञोक्त कथनानुसार क्रिया नही करते उनकी जो दशा होती है अब उसके विषय मे कहते हैं— समेमाणा—भोगो में आसक्त एव। पलेमाणा-मनोज्ञ इन्द्रियो के अर्थ में मूर्छित होते हुए। पुणोपुणो—वार वार। जाइं—एकेन्द्रियादि जातियो में। पकप्पन्ति—परिभ्रमण करते हैं।

मूलार्थ – जिसको यह लोकेषणा नही है उसको अन्य-सावद्य-रूप प्रवृत्ति कहा से हो सकती है ? जो यह कहा जाता है कि वह सर्वज्ञों द्वारा देखा हुआ, सुना हुआ, माना हुआ और विशेषता से जाना हुआ है, कि जो जीव लोकेषणा के त्यागी नही, वे अत्यन्त आसक्ति रखने वाले मूर्छित और इन्द्रियो के अर्थो मे लीन होते हुए बार-बार एकेन्द्रियादि जाति मे परिभ्रमण करते है।

हिन्दी विवेचन

विषयेच्छा से मन मे पाप भावना उद्बुद्ध होती है। और उस तृष्णा एवं आकांक्षा को पूरी करने के लिए मनुष्य आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होता है। अत. जिस व्यक्ति के मन मे भोगेच्छा नहीं होती है, विषयों की तृष्णा एवं आकांक्षा नहीं रहती है, उसके मन मे पाप भावना भी नहीं जागती और परिणाम स्वरूप वह सावद्य कार्य मे प्रवृत्त भी नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि लोकेषणा, विषयेच्छा ही पाप एवं सावद्य कार्य का कारण है। ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा-जाना है। सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट होने के कारण इस मार्ग में सन्देह का अवकाश नहीं है। अतः साधक को लोकेषणा का त्याग करना चाहिए।

जो व्यक्ति विषयेच्छा का त्याग नहीं करते, रात-दिन भोगों में आसक्त रहते हैं, वे पाप कर्मों का बन्ध करते हैं और परिणाम स्वरूप एकेन्द्रिय आदि योनियों मे परिभ्रमण करते रहते हैं। इस प्रकार वे दु ख के प्रवाह मे बहते रहते हैं।

संसार की यथार्थ स्थिति को जानकर मनुष्य को इन दु खों से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। प्रश्न हो सकता है कि किस प्रकार का प्रयत्न करे? इस का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अहो अ राओ य जयमाणे धीरे सया आगयपण्णाणे पमत्ते बहिया पास अप्पमत्ते सया परिक्कमिज्जासि, त्तिबेमि ॥१३०॥

छाया—अहश्च रात्रिं च यतमानः धीरः सदागतप्रज्ञानः प्रमत्तान् बहिः पश्य ! अप्रमत्तःसन् सदा पराक्रमेथाः ।

पदार्थ – अहो – दिन। य – और। राओ – रात्रि। य—समुच्चयार्थ मे। जयमाणे—यत्न करता हुआ। धीरे – धैर्यवान पुरुष। सया – सदा। अागयपण्णाणे – जिसको विशिष्ट ज्ञान प्राप्त हो गया है। बहिया पमत्ते – धर्म से बाहिर प्रमादी लोगो को। पास – तू देख, और। अप्पमत्ते – अप्रमादी होकर। सया – सदा—उपयोग पूर्वक। परिक्कमिज्जासि – संयम पालन में पुरुषार्थ कर। तिबेमि – इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ-जिस साधक को विशिष्ट ज्ञान प्राप्त हो गया है, वह धैर्यवान यत्न पूर्वक सदा मोक्ष मार्ग की साधना मे सलग्न रहता है। हे आर्य ! तू प्रमादी जोवो को स्थिति को देख। जो रात-दिन धर्म से बाहिर विषयो में आसक्त है। उन्हें देख कर, तू स्वय प्रमाद का त्याग कर के विवेक पूर्वक सयम-साधना में पुरुषार्थ कर। ऐसा मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में प्रमत्त और अप्रमत्त व्यक्ति के जीवन का विश्लेषण किया गया है। अप्रमत्त व्यक्ति सहिष्णु होता है। वह बाह्य कष्टों से घबराकर संयम मार्ग का त्याग नहीं करता, अपितु धैर्यता पूर्वक कष्टों को सहन कर लेता है। भयंकर परीषह भी उसके मन को विचलित नहीं कर सकते। क्योंकि उसकी दृष्टि अंतर्मुखी होती है। आत्म साधना में तल्लीन वह साधक बाहिरी जीवन को भूल जाता है। उसे सुख-दुःख का संवेदन नहीं होता।

प्रमादी जीव की स्थिति इससे विपरीत है। उसकी दृष्टि शरीर एवं भौतिक पदार्थों पर लगी रहती है। वह रात-दिन शरीर को शृङ्गारने, परिपुष्ट बनाने एवं भौतिक सुखों की अभिवृद्धि करने का उपाय ढूण्ढने रहता है। उसका चिन्तन एवं प्रयत्न बाह्य सुखों को बढ़ाने तक ही सीमित रहता है। इसलिए वह अपने स्वार्थ को, पूरा करने के लिए दूसरों के स्वार्थ को, सुख को लूटने लगता है। इसलिए उसके जीवन को धर्म से बाहिर कहा गया है और साधक को सावधान किया गया है कि वह प्रमादी के आरम्भमय जीवन एवं उसके दुःखद परिणाम को जानकर उससे बचने का प्रयत्न करे। अर्थात् अपनी शक्ति संयम साधना में लगाए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

चतुर्थ-अध्ययन-सम्यक्त्व

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में सम्यक्त्व—श्रद्धा का विवेचन किया गया है। उसका प्रतिपक्षी मिथ्यात्व है। अत. मिथ्यात्व के हटने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। और मिथ्यात्व का नाश सम्यग् ज्ञान से होता है। अत. प्रस्तुत उद्देशक मे सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया गया है।

संसार परिभ्रमण का कारण बन्ध है और संसार समाप्ति का कारण संवर एव निर्जरा है। इस लिए साधक को इस बात का अवश्य बोध होना चाहिए कि किस भावना से बन्ध होता है और किस से बन्ध रुकता है अर्थात् संवर की साधना सधती है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा। जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा। एए पए संबुज्झमाणे लोयं च आणाए अभिसमिच्चा पुढो पवेइयं ॥१३१॥

छाया—ये आस्रवाः ते परिस्रवाः, ये परिस्रवा: ते आस्रवा। ये अनास्रवा ते अपरिस्रवा ये अपरिस्रवा ते अनास्रवा। एतानि पदानि सबुध्यमानः लोक च आज्ञयाप्यभिसमेत्य पृथक् प्रवेदितम्।

पदार्थ—जे—जो। आसवा आस्रव-कर्मबन्ध के स्थान है। ते—वे ही। परिस्सवा—निर्जरा के भी स्थान है। जे—जो। परिस्सवा—निर्जरा के स्थान है। ते—वे हीं। आसवा—आस्रव के भी स्थान है। जे—जो। अणासवा—संवर के स्थान है। ते—वे। अपरिस्सवा—कर्म आगमन के स्थान भी है। जे—जो। अपरिस्सवा—कर्म आगमन के स्थान है। ते—वे अणासवा—सवर के भी स्थान हैं। एए पए—इन पदो के अर्थ को। सबुज्झमाणे—समझते हुए च—और लोयं—लोक [के स्वरूप को। अभिसमिच्चा—विचार कर। आणाए—भगवान

की आज्ञा से—भगवान के उपदेशानुसार। पुढो—अलग-अलग-जीव, अजीव, कर्म बन्ध- संवरादि स्थानों का। पवेइय—प्रतिपादन किया है।

मूलार्थ-जो आस्रव के स्थान हैं वे निर्जरा के भी स्थान हैं, जो निर्जरा के स्थान हैं वे कर्म बन्ध के भी स्थान हैं। जो व्रतों के स्थान हैं वे कर्म आगमन के स्थान भी हैं और जो कर्म आगमन के स्थान हैं, वे व्रतों के भी स्थान हैं। इन पदों को समझकर तथा भगवान की आज्ञा के अनुसार लोक के स्वरूप का विचार करके कर्म बन्ध एवं निर्जरा आदि के स्थानों का अलग-अलग वर्णन किया है।

हिन्दी विवेचन

आस्रव एवं संवर के लिए स्थान एवं क्रिया की अपेक्षा भावना का अधिक मूल्य है। जो स्थान कर्म बन्ध का कारण है, वही स्थान विशुद्ध भावना वाले साधक के लिए निर्जरा, संवर एवं संयम साधना का कारण बन जाता है। और जो स्थान निर्जरा, संवर एवं साधना का सुरम्य स्थल है, वह परिणामों की अशुद्धता के कारण कर्म बन्ध का कारण बन जाता है। इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि मनुष्य लोक में कोई भी स्थान ऐसा नहीं है कि, जहां आस्रव, बंध, संवर एवं निर्जरा की साधना नहीं की जा सकती है। भावना के परिवर्तित होते ही आस्रव का स्थान संवर-साधना का स्थान बन जाता है और संवर की साधना भूमि आस्रव का स्थान ग्रहण कर लेती है। तो आस्रव एवं संवर भावना—परिणामों की अशुद्ध एवं विशुद्ध भावना पर आधारित है। इस चतुर्भंगी को उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट किया जाता है।

१-सम्यग्दृष्टि साधक जब वैराग्य भाव से आत्म-चिन्तन में गोते लगाने लगता है, तो उस समय आस्रव—कर्म बन्ध का स्थान भी उसके लिए संवर या निर्जरा का साधनास्थल बन जाता है। भरत चक्रवर्ती शीश महल में शृङ्गार करने गया था। शृङ्गार करने के अनन्तर अकस्मात् उनकी अंगुली की मुद्रिका गिर पड़ी। सारा शृङ्गार फीका सा लगने लगा। बस भावना परिवर्तित हो गई। बाह्य सजावट में लगा हुआ ध्यान आत्म-चिन्तन की ओर मोड़ खा गया और धीरे-धीरे शरीर पर से शृङ्गार का आवरण हटने लगा और उसके साथ ही आत्मा पर से कर्म का आवरण भी हटता गया और परिणाम स्वरूप वहीं शीश महल में भरत को निरावरण—केवल ज्ञान प्राप्त हो गया।

२-अज्ञानी व्यक्ति दुर्भावना के वश निर्जरा के स्थान में पाप कर्म का बन्ध

कर लेता है। एक दिन नाग श्री ब्राह्मणी ने भूल से ककडी के स्थान में कड़वे तुम्बे की सब्जी बना ली। जब चखने पर उसे तुम्बे की कटुकता का ज्ञान हुआ तो उस ने उसे एक ओर रख दिया और तुरन्त दूसरी सब्जी बना ली। कुछ देर पश्चात एक-एक महीने की तपस्या करने वाले धर्मरुचि मुनि उनके यहां भिक्षार्थ आए। और उसने उस तुम्बे को फैंकने के लिए बाहिर जाने के कष्ट से बचने तथा घर वालों से अपने अज्ञान को छुपाने के लिए सारी सब्जी मुनि के पात्र मे डाल दी। मुनि को दिया जाने वाला दान निर्जरा का कारण था। परन्तु दुष्ट परिणामों के कारण वह कर्म बन्ध का कारण बन गया।

३--जो अनास्रव—व्रत विशेष या सयम साधना सवर एव निर्जरा का स्थान है। साधना के सुरम्य भाव स्थल में स्थिर होकर साधक सारे कष्टों को नष्ट कर देता है। परन्तु भावना की अस्थिरता एव अविशुद्धता के कारण व्यक्ति निर्जरा के स्थान में कर्म बन्ध कर लेता है। कुण्डरीक राजर्षि का उदाहरण इसी गिरावट का प्रतीक है। जीवन के अन्तिम दिनों में वे वासना के प्रवाह मे बह गए और रात-दिन उसी के चिन्तन मे लगे रहे। एक दिन वेष त्याग कर फिर से राज्य सुख भोगने लगे और अति भोग के कारण भयकर व्याधि से पीड़ित होकर तीन दिन मे काल करके सातवीं नरक मे जा पहुचे। तो संयम कर्म निर्जरा का स्थान था, परन्तु भावना मे विकृति आते ही वह कर्म बन्ध का भी स्थान बन गया।

४--जो पापकर्म के स्थान हैं, शुभ अध्यवसायों के कारण वे निर्जरा के स्थान बन जाते हैं, चिलायती पुत्र बास पर नाटक कर रहा है। निकट भविष्य मे उसकी पत्नी होने वाली कन्या ढोलक बजा रही थी। दर्शक उसके नृत्य कौशल को देखकर वाह-वाह पुकार रहे थे परन्तु राजा का ध्यान नट के नृत्य पर नहीं, अपितु उस कन्या पर लगा हुआ था। राजा उसके सौंदर्य पर मुग्ध हो गया था। वह उसे अपनी रानी बनाना चाहता था। इस लिए वह चाहता था कि किसी प्रकार यह नट नीचे गिर कर समाप्त हो जाए तो इस कन्या को मैं अपने अधिकार मे कर लूं, और वह नट राजा को प्रसन्न करके धन पाने के लिए बार-बार बास पर उतर चढ़ रहा था। फिर भी पारितोषक नहीं मिल रहा था। इतने मे पास के घर में एक मुनि को भिक्षा लेते देख कर उसकी भावना में परिवर्तन आया, और परिणाम स्वरूप धन एवं भोग-विलास की आकाक्षा त्याग में बदल गई। वह कर्म बन्ध का स्थान निर्जरा का कारण बन गया। यह सब भावों का चमत्कार है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि कर्म बन्ध एव निर्जरा में भावों की प्रमुखता

है। परन्तु यह कथन निश्चय नय की अपेक्षा से है। व्यवहार नय की अपेक्षा से भावों के साथ स्थान एवं क्रिया का भी मूल्य है। परिणामों की विशुद्ध एवं अशुद्ध धारा को प्रत्येक व्यक्ति देख नही सकता। परन्तु व्यवहार को अल्प बुद्धि व्यक्ति भी भली-भांति जान लेता है। भावों के साथ स्थान एव व्यवहार शुद्धि को भी भुला नहीं देना चाहिए। क्योंकि धर्म स्थान एवं धर्म निष्ठ व्यक्तियों की संगति का भी जीवन पर प्रभाव होता ही है। संयति राजा शिकार खेलने गया था और अपने बाण से एक मृग को घायल भी कर दिया था, परतु वहीं मुनि से बोध पाकर संसार से विरक्त हो गया, मुनि बन गया। इस प्रकार जीवन को मांजने एवं विचारों को नया मोड़ देने मे संतों का, शास्त्रों का एवं धर्म स्थानों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। या हम यों कह सकते हैं कि व्यवहार शुद्धि के पथ से हम निश्चय दृष्टि से भी भावों की शुद्धि के सुरम्य स्थल तक पहुच जाते हैं।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'जे आसवा ते परिस्सवा . ...' इत्यादि पाठ में 'आसवा' से आस्रव स्थान, 'परिस्सवा' से निर्जरा के स्थान, 'अणासवा' से व्रत विशेष और 'अपरिस्सवा' से कर्म बन्ध के स्थान विशेष समझना चाहिए।

जीव भावों के द्वारा बन्ध के स्थान को निर्जरा का एवं निर्जरा के स्थान को बन्ध का कारण बना लेता है। आस्रव और निर्जरा के स्थान पृथक् पृथक् हैं। आस्रव में भी आठों कर्म के आठों स्थान भिन्न हैं और इसी प्रकार आठों कर्मों को रोकने वाले संवर एवं क्षय करने वाले निर्जरा स्थान भी भिन्न भिन्न हैं। अत मुमुक्षु पुरुष को आस्रव, संवर एवं निर्जरा के स्वरूप को भली-भाति जानकर भगवान की आज्ञा के अनुसार भावों को विशुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए*।

प्रबुद्ध पुरुष भी अपने उपदेश द्वारा आर्त एवं प्रमत्त जीवों को जगाते रहते हैं। वे किस प्रकार का उपदेश देते हैं इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आघाइ नाणी इह माणवाणं संसारपडिवन्नाणं संबुज्झमाणाणं विन्नाणपत्ताणं, अट्टावि संता अदुवा पमत्ता अहासच्चमिणं त्तिबेमि, नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि, इच्छा-

* आचाराग वृत्ति।

पणीया वंकानिकेया कालगहीया निचयनिविट्ठा पुढ़ो पुढ़ो जाइं पकप्पयंति ॥१३२॥

छाया—आख्याति ज्ञानी इह मानवानां संसारप्रतिपन्नानां सम्बुध्यमानाना विज्ञानप्राप्तानामार्त्ता अपिसन्तः अथवा प्रमत्ताः यथा सत्यमिदमिति ब्रवीमि, नानागमो मृत्युमुखस्यास्ति इच्छा प्रणीताः वंकानिकेताः कालगृहीताः निचयनिविष्टाः पृथक् पृथग् जातिं प्रकल्पयन्ति ।

पदार्थ—णाणी—ज्ञानी। इह—इस प्रवचन मे वा ससार मे। माणवाण—मनुष्यो को। ससार पडिवण्णाण—संसार प्रतिपन्नो को। सबुज्झमाणाणं—जो सम्यग् प्रकार से बोध को प्राप्त हुए हैं उनको— विण्णाण पत्ताण—विज्ञान प्राप्तो को। अट्टाविसता—किसी प्रकार से आर्त हुओ को। अदुवा—अथवा। पमत्ता—विषयो में निमग्न चित्त वालो को। आघाइ—धर्म को कहता है। सच्चमिण—यह विषय सत्य है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ। अहा—जैसे दुर्लभ सम्यक्त्व को प्राप्त कर, चारित्र के विषय मे प्रमाद न करना चाहिए, क्योकि। नाणागमो मच्चु मुहस्स अत्थि—ऐसे नही है कि मृत्यु के मुख मे कोई जीव नही आएगा, अपितु अवश्य ही आएगा। इच्छापणीया—इच्छा के वश होकर ससाराभिमुख हुए। वंकानिकेया—असयम के आश्रय भूत। कालगहीया—काल से गृहीत—पकडे हुए। निचय निविट्ठा—कर्म के निचय मे निविष्ट चित्त—सावद्य कर्म के करने मे अत्यन्त आसक्त। पुढो-पुढो—पृथक्-पृथक्। जाइं—एकेन्द्रियादि जाति को। पकप्पयंति—प्रकल्पन करते है अर्थात् एकेन्द्रियादि विभिन्न जातियो मे परिभ्रमण करते हैं।

मूलार्थ—प्रबुद्ध—ज्ञानी पुरुष इस संसार में ससार प्रतिपन्न, बोध एव विज्ञान का ज्ञाता, आर्त्त और प्रमत्त मनुष्यो को कहता है कि तुम्हे धर्म परिपालन या संयम-साधना मे कभी भी प्रमाद नही करना चाहिए। क्योकि यह कथन सत्य नही है कि ससारी जीव मृत्यु के मुख मे नही जाता अथवा वह अवश्य मरना है, और इच्छा आकाक्षा एव असंयम मे सलग्न ससाराभिमुख व्यक्ति आरम्भ-समारभ मे आसक्त होकर बार-बार जन्म-मरण करता है, एकेन्द्रिय आदि विभिन्न जातियो मे परिभ्रमण करता रहता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि प्रबुद्ध पुरुष आर्त्त एवं प्रमादी जीवों को सयम-साधना में संलग्न रहने के लिए सदा प्रेरित करता रहता है। परन्तु साथ मे यह भी बता दिया है कि उपदेश का प्रभाव उन्हीं जीवों पर पड़ता है, जो ज्ञान-विज्ञान से युक्त हैं। वस्तुत आत्म-स्वरूप को जानने या जानने की जिज्ञासा रखने वाले व्यक्ति ही उपदेश को सुनकर आचरण में ला सकते हैं। कभी कभी परिस्थितिवश ज्ञानी व्यक्ति भी भटक जाते हैं, परन्तु फिर से निमित मिलने पर वे साधना के पथ पर चल पडते है। चिलायति पुत्र जैसे हिसक मानव एवं शालिभद्र जैसे काम-भोगों मे आसक्त व्यक्ति भी प्रबुद्ध पुरुष का संकेत पाकर अपने जीवन को बदलने में देर नहीं करते ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अत्यन्त दुःखी एव अत्यधिक सुखी तथा मध्यम अवस्था के सभी पुरुष धर्मोपदेश के अधिकारी हैं। इसलिए प्रबुद्ध मानव प्रत्येक जीव को धर्मोपदेश देते रहते हैं। कि ससार मे कोई भी प्राणी ऐसा नही है, जो मृत्यु को प्राप्त नहीं करता हो, अर्थात् सभी प्राणी मरते है । जो जीव नहीं मरते हैं, वे संसारी नहीं अपितु सिद्ध हैं। ससारी जीव जब तक घातिकर्मों का क्षय नहीं कर लेता है, तब तक जन्म-मरण के प्रवाह में बहता रहता है; इसलिए मानव को कर्म क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए। जो व्यक्ति इस ओर प्रयत्न न करके विषय-वासना में आसक्त रहता है, ऐहिक एवं भौतिक सुखों को बटोरने में व्यस्त रहता है, वह पाप कर्म का बन्ध करता हैं और परिणाम स्वरूप एकेन्द्रिय आदि विभिन्न जातियों में परिभ्रमण करता है। इसलिए साधक को विषयेच्छा का त्याग करके संयम का परिपालन करना चाहिए ।

क्योंकि विषयासक्त जीव दु खों का संवेदन करते रहते हैं वे प्राणी किस प्रकार की वेदना एवं दु खों का संवेदन करते हैं। इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

मूलम्—इहमेगेसिं तत्थ तत्थ संथवो भवइ, अहोववाइए फासे पडिसंवेयंति, चिट्ठं कम्मेहिं कूरेहिं चिट्ठं परिचिट्ठइ, अचिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं नो चिट्ठं परिचिट्ठइ, एगे वयंति अदुवावि

नाणी, नाणी वयंति अदुवा वि एगे ॥१३३॥

छाया—इहैकेषां तत्र तत्र संस्तवः भवति अधः औपपातिकान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयन्ति, चिट्ठं—भृशं कर्मभिः क्रूरैः चिट्ठं-भृशम् परितिष्ठति अतिष्ठ क्रूरैः कर्मभिः नो तिष्ठं परितिष्ठति, एके-वदन्ति अथवापि ज्ञानी वदन्ति ज्ञानिनो अथवाप्येके ।

पदार्थ—इह—इस ससार मे। एगेसि—कई एक—मिथ्यात्व, अविरति—प्रमाद और विषय कषायादि से युक्त। तत्थ २—उन नरकादि गतियो मे —यातनाओ के स्थानो में। संथवो—संस्तव—बार-बार जाने से। भवइ—होता है। अहोववाइए—नीचे—नरकादि गतियो मे उत्पन्न होने वाले। फासे—दु ख रूप स्पर्श को। पडिसवेयंति—प्रतिसवेदन करते है, अनुभव करते हैं, कारण कि। चिट्ठ—अत्यर्थ। कूरेंहि—क्रूर। कम्मेहि—कर्मो के करने से। चिट्ठ—अत्यन्त। परिचिट्ठइ—दु ख स्थानो मे स्थित होता है—ठहरता है किन्तु जो। अचिट्ठ—नही है। कूरेहि कम्मेहि—क्रूर कर्मो से युक्त तो फिर। नो चिट्ठ परिचिट्ठइ—अत्यन्त दुःख रूप स्थानों में स्थित नही होता नही ठहरता, इस प्रकार से। एगे वयन्ति—वे एक—चौदह पूर्व के पाठी कहते है। अदुवावि—अथवा। नाणी—केवल ज्ञानी। अपि से—श्रुत केवली। वदंति—कहते है। नाणी-वयन्ति—ज्ञानी कहते हैं। अदुवावि—अथवा। एगे—कई एक—श्रुत केवली भी इसी प्रकार भाषण करते हैं। तात्पर्य कि जिस भाँति केवली भगवान कहते है उसी भाति श्रुत केवली भी कहते है।

मूलार्थ—इस ससार मे कई एक अत्यन्त क्रूर कर्म करने वाले जीव नरक तिर्यक् आदि योनियो मे नाना प्रकार के दुःख रूप स्पर्शो का अनुभव करते है अर्थात् अत्यन्त क्रूर कर्मो के फलस्वरूप चिरकाल तक नरक यातनाए भोगते है, और जो इस प्रकार के क्रूर कर्मो का बन्ध नही करते है वे अत्यन्त दुःख रूप स्थानो मे नही जाते अर्थात् उनको नरक यातनाए भोगनी नही पडती। इस प्रकार कई एक अर्थात् केवली भगवान कहते है और श्रुत केवली भी ठीक इसी प्रकार कहते है तथा चतुर्दश पूर्व धारी जिस प्रकार उक्त विषय का समर्थन करते है, ठीक उसी प्रकार केवलज्ञानी भी कहते है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि प्रमादी जीव विषय-कषाय मे आसक्त रहता है। अपनी अतृप्त वासना को पूरी करने की भावना से अनेक जीवो को दुःख एवं कष्ट देता है। अपने स्वार्थ को साधने के लिए अनेक प्राणियों का निर्दयता पूर्वक वध करता है। इस प्रकार क्रूर कर्म में प्रवृत्त होकर पाप कर्म का संग्रह करता है और परिणाम स्वरूप नरक-तिर्यंच आदि नीच योनियों में जन्म लेता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति प्रमाद का सेवन नहीं करते, वे आरम्भ-समारम्भ आदि दोषों से भी बचे रहते है और परिणाम स्वरूप नरक आदि गतियों की वेदना को भी नहीं भोगते।

इससे यह स्पष्ट होता है कि संसार परिभ्रमण का कारण कर्म है। प्रमाद के आसेवन से पाप कर्म का बन्ध होता है। और फलस्वरूप नरक आदि योनियों मे महावेदना का संवेदन करना होता है। यह कथन सर्वज्ञ पुरुषों ने अपने निरावरण ज्ञान में देखकर किया है। और उसी के अनुरूप श्रुत केवलियों ने किया है। श्रुत-केवलियों की निरूपण शक्ति सर्वज्ञों जैसी ही है। अतः इस बात को मानने में किसी प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए।

प्रश्न हो सकता है कि जब सर्वज्ञ एवं श्रुत केवली की तत्त्व निरूपण शैली एक समान है, तब फिर सर्वज्ञता एव छद्मस्थता मे क्या अन्तर रहा? इसका समाधान यह है कि सर्वज्ञ का ज्ञान निरावरण होता है। अतः वे बिना किसी भी सहायक के स्वयं अपनी आत्मा से लोक के समस्त पदार्थों को देखते-जानते हैं। परन्तु श्रुत केवली का ज्ञान निरावरण नहीं होता। वे सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों को हृदयंगम करके उसी का उपदेश देते हैं। इसलिए उनका उपदेश सर्वज्ञ वचनों के सदृश होता है।

श्रुत केवली वाद-विवाद को मिटाने में समर्थ हैं। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आवंती केयावंती लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवायं वयंति, से दिट्ठं च णे सुयं च णे मयं च णे विण्णायं च णे उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सुपडिलेहियं च णे-सव्वे पाणा सव्वे जीवा सव्वे भूया सव्वे सत्ता हंतव्वा अज्जा-

वेयव्वा परियावेयव्वा परिघित्तव्वा उद्दवेयव्वा, इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो, अणारियवयणमेयं. तत्थ जे आरिया ते एवं वयासी--से दुद्दिट्ठं च भे दुस्सुयं च भे दुम्मयं च भे दुव्विणायं च भे उड्ढं अहं तिरियंदिसासु सव्वओ दुप्पडिलेहियं च भे, जं णं तुब्भे एवं आइक्खह एवं भासह एवं परूवेह एवं पराणवेह--सव्वे पाणा ४ हंतव्वा ५, इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो, अणारियवयणमेयं, वयं पुण एवमाइक्खामो एवं भासामो एवं परूवेमो एवं पराणवेमो-सव्वे पाणा ४ न हंतव्वा १ न अज्जावेयव्वा २ न परिघित्तव्वा ३ न परियावेयव्वा ४ न उद्दवेयव्वा ५, इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो, आयरियवयणमेयं पुव्वं निकाय समयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामि, हंभो पवाइया ! किं भे सायं दुक्खं असाय ?,समिया पडिवरणो यावि एवं बूया--सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं, त्तिबेमि ॥१३४॥

छाया—यावन्त केचन लोके श्रमणाश्च ब्राह्मणाश्च पृथक् पृथग् विवादं वदन्ति तद् दृष्टं च न.(अस्माभिःअस्माकंवा-) श्रुतं च नः मतं च नः, विज्ञातं च नः, ऊर्ध्वमधः तिर्यग् दिक्षु सर्वतः सुप्रत्युपेक्षितं च नः सर्वे प्राणाः सर्वे जीवाः सर्वे भूताः सर्वे सत्त्वा हन्तव्याः आज्ञापयितव्याः परितापयितव्याः परिगृहतव्या अपद्रापयितव्याः अत्रापि जानीथ नास्त्यत्र दोषः अनार्य वचन-

मेतत् तत्र ये आर्याः ते एवमावादिषुः तद् दुर्दृष्टं च युष्माभिः दुःश्रुतं च युष्माभिः दुर्मतं च युष्माभिः दुर्विज्ञातं च युष्माभिः ऊर्ध्वमधः तिर्यग् दिक्षु सर्वत दुष्प्रत्युपेक्षितं युष्माभिः यदेतत् यूयमेवमाचक्षध्वे एवं भाषध्वे एवं प्ररूपयथ एवं प्रज्ञापयथ सर्वप्राणा.४ हन्तव्या ५ अत्रापिजानीथ नास्त्यत्र दोषोऽनार्यवचनमेतत् वयं पुनरेवम् आचक्षामहे एवं भाषामहे एवं प्ररूपयामः एवं प्रज्ञापयामः सर्वे प्राणाः४ न हन्तव्या१ न आज्ञापयितव्याः न परिगृहतव्या ३ न परितापयितव्याः४ न अपद्रापयितव्याः५ अत्रापि जानीथ नास्त्यत्र दोपः आर्यवचनमेतत् पूर्वं निकाच्य समयं प्रत्येकं--प्रत्येकं प्रश्नयिष्यामि भो प्रवादुका ! किं युष्माकं सातं दुःखं उतासातम् ? सम्यक् प्रतिपन्नान् चापि एवं ब्रूयात् सर्वेषां प्राणिनां सर्वेषां भूतानां सर्वेषाँ जीवाना सर्वेषा सत्त्वानाम् असातम् अपरिनिर्वाणं महद्भयं दुःखमिति इति ब्रवीमि।

पदार्थ— आवन्ति जितने। केयावन्ति—कितने एक। लोयंसि—लोक मे। **समणा**—श्रमण। य—और माहणा—ब्राह्मण य—समुच्चयार्थक है। पुढो—पृथक्-पृथक्। विवादं—विवाद को। वयन्ति—कहते हैं। से—जो मैंने। दिट्ठ—देखा है। च—शब्द उत्तरापेक्षी वा समुच्चयार्थक है। णे—हमने। सुयं—सुना है। णे—हमने। मयं—माना है। णे—हमने। विण्णायं—जाना है। णे—हमने। उड्ढं—ऊंची। अहं—नीची। तिरियं—तिर्यक्। दिसासु—दिशाओ में। सव्वओ—सर्व प्रकार से। सुपडिलेहियं—सुष्टु प्रकार से पर्यालोचन किया है। णे—हमने वा हमारे तीर्थंकरो ने। च—प्राग्वत् जानना चाहिए। सव्वे—सब। पाणा—प्राणी। सव्वेजीवा—सब जीव। सव्वे भूया—सब भूत। सव्वेसत्ता—सब सत्त्व। हंतव्या—हनन करने चाहिए। अज्जावेयव्वा—उनसे आज्ञा से काम कराना चाहिए। परियावेयव्वा—उन्हे परिताप देना चाहिए। परिघेत्तव्वा—उन्हे पकडना चाहिए। उदवेयव्वा—उन्हे मरणान्त कष्ट देना चाहिए। इत्थावि—धर्म चिन्ता मे वा यज्ञादि मे। जाणह—समझो। नत्थित्थदोसो। यहा पर अर्थात् यज्ञादि के लिए पशुओ के मारने में कोई दोष नही है। अणारियवयणमेयं—पापानुबन्धी होने से यह कथन अनार्यो का है। तत्थ—वाक्योपन्यास अथवा निर्धारण में जानना, यहा पर। जे—जो। आयरिया आर्य है। ते—वे। एवं—इस प्रकार। वयासी—कहते हैं। से भे दुद्दिट्ठं—यह तुम्हारा देखना दुष्ट है। च—उत्तरापेक्षी वा समुच्चयार्थका है। भे दुस्सुयं—तुम्हारा यह सुनना मिथ्या है। च—पुन.। भे दुम्मयं—तुम्हारा यह मानना मिथ्या है। भे दुव्विण्णायं—तुम्हारा यह विज्ञान विशेष रूप में ज्ञात भी—मिथ्या है दुर्विज्ञात है। च—प्राग्वत्। भे—आपके द्वारा। उड्ढं—ऊंची। अहं—नीची। तिरियं—तिर्यक्। दिसासु—

दिशाओ मे। सव्वओ—सब प्रकार से। दुप्पडिलेहियं—दुष्प्रतिलेखित वा दुष्प्रत्युपेक्षित है। च—और। भे—आपने। ण—वाक्यलकार मे। ज—जो वक्ष्यमाण। तुब्भे—तुम लोग। एव—इस प्रकार। आइक्खह—कहते हो। एवं—इस भांति। भासह—भाषण करते हो। एव—इस भांति। परूवेह—प्ररूपण करते हो। एवं—इस भांति। पण्णावेह—प्रज्ञापन करते हो। सव्वेपाणा ४—सब प्राणी—भूत जीव और सत्त्व। हतव्वा ५—मारने चाहिए, आज्ञा द्वारा उनसे काम लेना चाहिए, परिताप देना चाहिए, पकडना चाहिए और मरणात कष्ट देना चाहिए। इत्थवि—इन यज्ञादि मे। जाणह—जान लो। नत्थित्थ दोसो—इन क्रियाओं में कोई दोष नहीं है। अणारिय वयणमेय—हिंसा युक्त होने से—यह सब अनार्य वचन हैं। वयं—हम। पुण—फिर। एव—इस प्रकार। आइक्खामो—कहते हैं। एव—इस प्रकार। भासामो—भाषण करते है। एव—इस प्रकार। परूवेमो—प्ररूपण करते है। एवं—इस प्रकार पण्णवेमो—प्रज्ञापन करते हैं। सव्वेपाणा ४—सब प्राणी, सब भूत सब जीव और सब सत्त्व। न हतव्वा—नही मारने चाहिए। न अज्जावेयव्वा—उनसे बलात् काम नही लेना चाहिए। न परि घित्तव्वा—नही पकडना चाहिए। न परियावेयव्वा—उन्हे परिताप नहीं देना चाहिए। न उद्दवेयव्वा—ना ही मरणात कष्ट देना चाहिए। इत्थवि—इस स्थान पर भी तुम। जाणह—जान लो। नत्थित्थ दोसो—इस अहिंसा रूप क्रिया मे कोई दोष नहीं। आयरिय-वयणमेय—यह आर्यवचन है। पुव्व—पहले। समय—आगम को। निकाय—व्यवस्था करके फिर। पत्तेय पत्तेयं-प्रत्येक को। पुच्छिस्सामि—पूछूंगा। हंभो पवाइया—हे प्रवादको, वादिलोगो किं—क्या। भे—आपको। साय दुक्ख असायं—साता में दुःख है कि वा असाता मे? अथवा दुःख यह साता रूप मन को प्रसन्न करने वाला हैं या मन के प्रतिकूल असाता रूप है? दुःख को साता रूप मानना लोक, आगम और अनुभव के विरुद्ध है और यदि असाता रूप कहे तब तो इस प्रकार से। समियापडिवण्णेयावि—यथार्थता को प्राप्त होने वाले यथार्थ कहने वाले उन वादियों के प्रति। एवं—इस प्रकार। बूया—कहना चाहिए। सव्वेसिं पाणाण—सब प्राणियो को। सव्वेसिं भूयाणं—सर्व भूतो को। सव्वेसिंजीवाण—सर्व जीवों को। सव्वेसिंसत्ताण—सर्व सत्त्वो को। असाय—असाता। अपरिनिव्वाण—अनिर्वृत्ति रूप। महब्भय—महान भय है। दुक्खं—दुःख रूप है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—इस लोक मे जितने मनुष्य हैं उनमे कितने एक श्रमण और ब्राह्मण पृथक् २ विवाद करते हुए इस प्रकार कहते है-हम ने देख लिया है, सुन लिया है, मान लिया और जान लिया है, इतना ही नही किन्तु ऊर्ध्व अधः और तिर्यगादि सभी दिशाओ में भली भाति पर्यालोचन कर लिया

है कि सभी प्राणो, सभी भूत, सभी जीव और सत्व (यज्ञादि के वास्ते; हनन करने चाहिए) उनसे वलात्- काम लेना चाहिए, उनको परिताप देना चाहिए, उनको पकडना और मरणान्त कष्ट पहुचाना चाहिए' धार्मिक क्रियानुष्ठान के सम्पादनार्थ इस काम मे कोइ दोष नही है, परन्तु यह, अनार्य वचन है अर्थात् जो आर्य नही, यह उनका कथन है, और जो आर्य है वे इस प्रकार कहते है कि तुमने भली प्रकार से नही देखा, भली प्रकार से नही सुना, भली प्रकार से नही माना भली, प्रकार से नही जाना, और तुमने ऊची, नीची और तिरछी आदि सभी दिशाओ मे भली प्रकार से पर्यालोचन भी नही किया ? जो कि तुम इस प्रकार कहते हो, इस प्रकार भाषण करते हो, इस प्रकार प्ररूपण करते हो और इस प्रकार प्रज्ञापन करते हो कि— सर्व प्राणी, सर्व भूत, सर्व जीव और सर्व सत्त्व (यज्ञादि के वास्ते मारने चाहिए), जान लो कि इसमें कोइ दोष नही ? परन्तु यह कथन अनार्यो का है, आर्यो का नही ? और जो हम आर्य है, वे इस प्रकार कहते है, इस प्रकार भाषण करते, इस प्रकार प्ररूपणा और प्रज्ञापना—करते है कि सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव और सभी सत्त्व न तो मारने चाहिए न उनसे वलात् काम कराना चहिए न उन्हे सन्ताप देना चाहिए एव न उन्हं पकड़ना और न उन पर उपद्रव करना चाहिए, यहा पर भी जान लो, समझ लो कि इस काम में कोई भी दोष नही है ! यह आर्य वचन है अर्थात् आर्य पुरुषों का कथन है जो कि निर्दोष है । हे प्रवादियो ! तुम पहिले अपना समय-आगम विहित सिद्धात स्थापित करो, फिर मैं तुम मे प्रत्येक को पूछू गा कि दु.ख साता में है या असाता में ? यदि कोई इसका यथार्थ उत्तर दे कि दु.ख असाता में है साता मे नही तो उनके प्रति इस प्रकार कहना चाहिए कि सब प्राणियो को, सब भूतों को; सब जीवो और सब सत्त्वों को असाता, अनिर्वृत्ति रूप है, महा भय रूप है और महादुःख रूप है। इस प्रकार मै कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में आर्य—अनार्य या सम्यक्त्व—मिथ्यात्व का स्पष्ट एव सरल विवेचन किया गया है। दुनिया में अनेक विचारक हैं। परन्तु तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान न होने से उन सब की विचारधारा परस्पर टकराती है। इस लिए श्रमण—बौद्ध, सांख्य आदि मत के भिक्षु और ब्राह्मणों—वैदिक धर्म को मानने वालों का परस्पर सघर्ष होता रहता है। भागवत के मानने वालों का कहना है कि २५ तत्त्वों का परिज्ञान कर लेने से जीव का मोक्ष हो जाता है। यह आत्मा सर्व व्यापी, निष्क्रिय निर्गुण और चेतना है, संसार में निर्विशेष सामान्य ही एक तत्त्व है।

वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि द्रव्य आदि ६ पदार्थों का ज्ञान कर लेने से मोक्ष हो जाता है। यह आत्मा समवाय, ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, द्वेष आदि गुणों से युक्त है और सामान्य एवं विशेष दोनों परस्पर निरपेक्ष और स्वतन्त्र तत्त्व हैं।

बौद्ध विचारकों ने आत्मा को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माना। उनके विचार मे सभी पदार्थ क्षणिक हैं। आत्मा भी प्रतिक्षण नई-नई उत्पन्न होती है। और पुरानी आत्मा का नाश होता रहता है। इस प्रकार वह अनित्य है, अशाश्वत है।

मीमांसक सर्वज्ञ एवं मुक्ति को नहीं मानते। कुछ विचारक पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय पदार्थों को सजीव नहीं मानते। कुछ वनस्पति को निर्जीव मानते हैं। कुछ नास्तिक शरीर के अतिरिक्त आत्मा की सत्ता को ही नहीं मानते। कुछ लोगों का कहना है कि हमारे महर्षि सब जीवों को जानते हैं। उनका उपदेश है कि वेद विहित यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठान में किसी भी प्राणी का वध करना या उसके अंगों का छेदन-भेदन करना दोष युक्त नहीं है। उक्त क्रिया से उन जीवों का कल्याण होता है, इन्हें स्वर्ग आदि शुभ गति की प्राप्ति होती है※। वेद विहित यज्ञ में की गई हिंसा हिंसा नहीं है। वह मास अभक्ष्य नहीं, भक्ष्य है। जो व्यक्ति वह मास नहीं खाता है, वह प्रेत्य होता है※। श्राद्ध और मधुपर्क मे आमन्त्रित व्यक्ति यदि मांस नहीं खाता है, तो वह मरकर २१ जन्म तक पशु होता है†। इस प्रकार वेद विहित हिंसा मे पाप

※ यज्ञार्थं पशव: सृष्टा: स्वयमेव स्वयंभुवा,यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञेवधोऽवध।
औषध्य पशवोवृक्षास्तिर्यञ्च पक्षिणस्तथा, यज्ञार्थं निधनं प्राप्ता प्राप्नुवन्त्यसृती पुन:।
—मनु स्मृति, ५ ३८, ४०

※नियुक्तस्तु यथान्याय यो मांस नात्ति मानव:,
स प्रेत्य पशुता यातिसंभवानेक विंशतिम्। मनु, ५, ३५,

† श्राद्धे मधुपर्के च यथान्यायंनियुक्त. सन् यो मनुष्यो मांसं न खादति स मृत: सन् एकविंशति जन्मानि पशुर्भवति।

नहीं लगता। उसमें धर्म ही होता है।

उक्त कथन आर्यत्व का नहीं, अनार्यत्व का संसूचक है। क्योंकि आर्य पुरुष किसी भी स्थिति मे हिंसा में धर्म नहीं मानते हैं। हिंसा हिंसा ही है, वेद आदि धर्म ग्रंथों में उल्लेख होने मात्र से वह अहिंसा नहीं हो सकती। अपने स्वाद का पोषण करने एवं स्वार्थ को साधने हेतु किसी प्राणी को मारना या परिताप देना पाप ही है। ऐसी स्थिति में धर्म के नाम पर हिंसा करना तो पाप ही नहीं, महापाप है, पतन की पराकाष्ठा है। धर्म सब प्राणियों का कल्याण करने वाला है, सब को शान्ति देने वाला है। उसके नाम पर जीवों को त्रास देना धर्म की हत्या करना है।

यह तो सूर्य के उजाले की भांति साफ है कि हिंसा में धर्म नहीं है। धर्म वही है, जिसमें प्राणीमात्र के हित की भावना रही हुई है। और ऐसी क्रिया में हिंसा आदि पाप कार्यों का सर्वथा निषेध किया गया है। इसलिए हिंसा आदि पाप कार्यों से निवृत्त व्यक्ति ही आर्य हैं और वे ही मोक्ष मार्ग पर चलने के अधिकारी हैं।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

चतुर्थ अध्ययन-सम्यक्त्व

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक मे कर्मबन्ध एवं निर्जरा तथा संवर के स्वरूप को बताया गया है। उसके ज्ञान के बाद यह जरूरी है कि कर्म के आगमन के द्वार को रोककर पूर्व बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा करके कर्मों का आत्यन्तिक क्षय किया जाए। इस लिए प्रस्तुत उद्देशक मे निर्जरा के साधन तप का उल्लेख किया गया है। सम्यग् ज्ञान पूर्वक किए गए तप से कर्म नष्ट होते हैं। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उवेहि णं बहिया य लोगं, से सव्वलोगंमि जे केइ विण्णू, अणुवीइ पास निक्खित्तदंडा, जे केइ सत्ता पलियं चयंति, नरा मुयच्चा धम्मविउत्ति अंजू, आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा, एवमाहु संमत्तदंसिणो, ते सव्वे पावाइया दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति इय कम्मं परिण्णाय सव्वसो ॥१३५॥

छाया—उपेक्षस्व (णं) बहिः लोकं स सर्व-लोके ये केचिद् विज्ञाः अनुविचिन्त्य पश्य निक्षिप्त दण्डा ये केचित् सत्त्वाः पलितं—कर्म त्यजन्ति नराः मृतार्चा धर्मविदः इति ऋजवः आरम्भज दुःखमिदमिति ज्ञात्वा एवमाहुः सम्यक्त्व दर्शिनः—समस्त दर्शिनः ते सर्वे प्रावादिकाः दुःखस्य कुशला परिज्ञा मुदाहरन्ति इति कर्म परिज्ञाय सर्वशः।

पदार्थ—णं—वाक्यालंकार में प्रयुक्त हुआ है। लोग—अन्य धर्मावलम्बी व्यक्तियों को। बहिया—धर्म से बाहिर आचरण करते देख कर। उवेहि—उपेक्षा करनी चाहिए। से—वह। सव्वलोगंमि—समस्त लोक में। जे—जो। केइ—कोई—लोक मे विद्वान है, उनमे भी श्रेष्ठ। विण्णू—विद्वान हो जाता है। अणुवीइ—ऐसा विचार कर। पास—तू देख। निक्खित्त दंडा—

जिन्हों ने दंड को त्याग दिया है। जे केइ—जो कोई धर्म के ज्ञाता । सत्ता—प्राणी हैं, वे पलियं—कर्म को। चयंति—छोड देते हैं। नरा—मनुष्य ही कर्म क्षय करने मे समर्थ है। मुणच्चा—जो शरीर को शृंगारित नहीं करने वाला है, तथा कषाय विजेता है । धम्मविउत्ति—श्रुत और चारित्र रूप धर्म का ज्ञाता है। अंजू—सरल प्रकृति का है । आरंभजं दुक्खमिणति—आरम्भ से उत्पन्न होने वाले दुःख को। णच्चा—जानकर। एवमाहु—इस प्रकार कहते हैं। समत्तदंसिणो—सम्यग्दृष्टि । ते सव्वे पावाइया—तथा वे सब यथार्थ वक्ता तीर्थंकरादि। दुक्खस्स—दुःख के कारण में। कुसला—कुशल। परिण्णं—परिज्ञा को। उदाहरंति—कहते हैं। इय—इस प्रकार। सव्वसो—सब प्रकार से। कम्म—कर्म को। परिण्णाय—जानकर उनके स्वरूप को भी बताते हैं।

मूलार्थ—हे आर्य ! तू अन्यधर्मावलम्बी लोगों को देख और उन्हे धर्म से बाहर आचरण करते हुए जान कर उनमें मध्यस्थ भाव रख। इस लोक में जो अक्षरी ज्ञान में निपुण एव विद्वान हैं, त्यागी व्यक्ति उनसे भी अधिक विद्वान है। जिसने मन, वचन और काय दण्ड का त्याग कर दिया है। जो धर्म के परिज्ञाता, कर्मों का त्याग करने वाले,शरीर का शृंगार नहीं करने वाले और सरल स्वभाव के हैं, वे आरम्भ से उत्पन्न होने वाले दुःख को जानकर उनका वर्णन करते हैं। वे सम्यग्दृष्टि कहते हैं कि सभी तीर्थंकर दुःख के कारणो को जानने मे कुशल हैं एव परिज्ञा का उपदेश देता है। इस तरह सब प्रकार से कुशल व्यक्ति कर्म के स्वरूप को जानकर उसका यथार्थ विवेचन करते है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में सम्यक्त्व को दृढ़ बनाए रखने का उपदेश दिया है। धर्म-निष्ठ व्यक्ति को विपरीत बुद्धि एव आचरण में प्रवृत्त व्यक्तियों का साथ नहीं करना चाहिए। वे कितने भी पढ़े-लिखे एवं प्रौढ़ विद्वान भी क्यों न हों, परन्तु सम्यग् ज्ञान एवं आचरण के अभाव के कारण, वे वास्तविक त्याग-निष्ठ मुनि की समता नहीं कर सकते। इसलिए त्यागी सन्त को उनसे भी अधिक विद्वान कहा है। इसका कारण यह है कि जो सम्यग्दृष्टि है; वह संसार के स्वरूप को भली-भांति जानता है और यह भी जानता है कि आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होने से पाप कर्म का बन्ध होगा और संसार परिभ्रमण बढ़ेगा। इसलिए वह अपने योगों को हिंसा

आदि दोषों से बचाकर रखता है। परन्तु, जिसे अपने स्वरूप एवं लोक का यथार्थ ज्ञान नहीं है, वह अक्षरी ज्ञान से संपन्न होने पर भी आरम्भ समारम्भ एवं पापों से बच नहीं सकता और हिंसादि दोषों मे प्रवृत्त होने के कारण पाप कर्म का संग्रह करके संसार मे परिभ्रमण करता है। अत. त्यागी मनुष्य ही वास्तव में विद्वान है।

दु ख का मूल कारण कर्म ही है औरकर्म का बीज राग-द्वेष एवं हिंसा आदि दोपजन्य प्रवृत्ति है। इस लिए तीर्थंकरों ने सब प्रकार के कर्मों को छोड़ने का उपदेश दिया है। क्यो कि कर्म छोड़ने का अर्थ है—राग-द्वेष का क्षय करना। राग-द्वेप कर्म का मूल है, और जब मूल का नाश हो जाएगा तो फिर कर्म वृक्ष तो स्वत· ही सूखकर ठूंठ हो जाएगा, नि सत्त्व हो जाएगा। इससे स्पष्ट है कि तीर्थंकरों ने हिंसा आदि दोप का त्याग करके वीतराग अवस्था को प्राप्त करने का उपदेश दिया है।

निष्कर्ष यह निकला कि कर्म क्षय का सर्व श्रेष्ठ मार्ग है— सत्य और संयम का परिपालन और वह महापुरुषों की सगति से ही प्राप्त हो सकता है। अत, साधक को अपनी निष्ठा—श्रद्धा को शुद्ध बनाए रखने एवं तप तथा त्याग मे तेजस्विता लाने के लिए ज्ञान एवं चारित्र हीन व्यक्तियों की सगति का त्याग करके चारित्र-निष्ठ व्यक्तियों की सेवा करनी चाहिए, उनके पास बैठना चाहिए।

ससार एवं कर्मों के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान होने से श्रद्धा मे दृढ़ता आ-जाती है। अत. उसके बाद साधक को कर्मों को क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए। कर्म क्षय की साधना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, एगमप्पाण संपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थइ। एवं अत्तसमाहिए अणिहे, विगिंच कोहं अविकंपमाणे ॥१३६॥

छाया—इह आज्ञाकांक्षी पंडितोऽस्नेहः आत्मानमेकं संप्रेक्ष्य धुनियात् शरीरकं, कष आत्मानं, जर आत्मानं—यथा जीर्णानि काष्ठानि हव्यवाहः प्रमथ्नाति एवमात्मसमाहितः अस्नेहः परित्यज क्रोधमविकम्पमानः।

पदार्थ—इह—इस जिन शासन मे। आणाकंखी—भगवान की आज्ञा का आकांक्षी।

पंडिए—पंडित। अणिहे—स्नेह—राग-द्वेष रहित होकर। एगमप्पाण—अपने एक आत्मा को। संपेहाए—भली-भाति देखे, और वह। सरीर धुणे—शरीर को सुखावे। अप्पाणं कसेहि—शरीर को कृश करे। अप्पाण जरेहि—शरीर को जीर्ण करे। जहा—जैसे। जुन्नाइं कट्ठाइं—पुराने काष्ठ को। हव्वावाहो—अग्नि। पमत्थइ—शीघ्र ही भस्म कर देती है। एव—इसी प्रकार। अत्तसमाहिए—समाधिस्थ आत्मा। अणिहे—स्नेह रहित होकर तप रूप अग्नि से कर्म रूप काष्ठ को जलाकर भस्म कर देता है। अत. हे शिष्य ! तू। कोह— क्रोध आदि का। विगिंच—परित्याग करके। अविकंपमाणे—कप रहित—निश्चल, स्थिर हो।

मूलार्थ—इस जिन शासन मे भगवान की आज्ञा के अनुरूप चलने वाला पंडित पुरुष स्नेह-राग रहित होकर अपनी आत्मा के एकत्त्व भाव को समझकर शरीर को सुखा लेता है। अतः हे आर्य ! तू तप के द्वारा शरीर कर्मों को कृश एव जीर्ण करने का प्रयत्न कर। जैसे अग्नि पुराने काष्ठ को तुरन्त जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार स्नेह-राग रहित समाधिस्थ साधक तप रूप अग्नि के द्वारा कर्म रूप काष्ठ को जला देता है। इसलिए हे आर्य तू ! क्रोध का परित्याग करके निष्कम्प-स्थिर मन वाला बनने का प्रयत्न कर।

हिन्दी विवेचन

संसार में कर्मबन्ध का कारण स्नेह-राग भाव है। स्नेह का अर्थ चिकनाहट भी होता है। इसी कारण तेल को भी स्नेह कहते हैं। हम देखते हैं कि जहां स्निग्धता होती है, वहां मैल जल्दी जम जाता है। इसी प्रकार जिस आत्मा में राग भाव रहता है, उससे ही कर्म आकर चिपकते हैं, राग मात्र से रहित आत्मा के कर्म बन्ध नहीं होता। यही बात प्रस्तुत सूत्र मे बताई गई है कि पंडित पुरुष राग रहित होकर आत्मा के एकत्व स्वरूप का चिन्तन करके शरीर अर्थात् कर्मों को पतला कर देता है और एक दिन निष्कर्म हो जाता है।

'अणिहे' शब्द का संस्कृत में 'अनिहत' रूप भी बनता है। इसका अर्थ होता है—जो विषय-कषाय आदि भाव शत्रुओ से अभिहत न हो। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वीतराग आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला साधक आन्तरिक शत्रुओं से परास्त नहीं होता है। ऐसा साधक ही स्नेह-राग भाव से निवृत्त होकर आत्म समाधि मे सलग्न हो सकता है। इस लिए साधक को राग-भाव का त्याग करके तप के द्वारा शरीर को कृस एवं जीर्ण बनाना चाहिए। क्योंकि प्रज्वलित अग्नि में जीर्ण काष्ठ जल्दी

ही जल जाता है, उसी प्रकार तप से जीर्ण-शीर्ण बने कर्म भी जल्दी नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार आत्म समाधि प्राप्त करने के लिए साधक को राग भाव एवं क्रोध आदि अर्थात् कषायों का परित्याग कर देना चाहिए। क्योंकि क्रोध आदि विकारों से आत्मा मे सदा व्याकुलता बनी रहती है। योगों मे स्थिरता नहीं आ पाती। मानसिक वैचारिक चचलता एव शारीरिक कंपन को दूर करके निष्कर्म बनने के लिए क्रोध आदि विकारों का त्याग करना आवश्यक है। इससे आत्म चिन्तन मे स्थिरता आती है।

प्रश्न यह है कि वीतराग आज्ञा का परिपालन करने वाले साधक को योगों के स्थिर होने पर किस वस्तु का चिन्तन करना चाहिए? इसका समाधान करते हुए सूत्र, कार कहते हैं—

मूलम्—इमं निरुद्धाउयं संपेहाए, दुक्खं च जाण, अदु आगमेस्सं, पुढ़ो फासाइं च फासे, लोयं च पास विफंदमाणं, जे निव्वुडा पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया, तम्हा अतिविज्जो नो पडिसंजलिज्जासि, त्तिबेमि॥१३७॥

छाया—इद निरुद्धायुष्कं संप्रेक्ष्य दुःखं च जानीहि अथवा आगामि [दु खम्] पृथक् स्पर्शाञ्च स्पृशेल्लोकं च पश्य विस्यन्दमान ये निवृत्ताः पापेषु कर्मसु अनिदानास्ते व्याख्याताः तस्मादतिविद्वान् न प्रतिसंज्वलेः, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—इमं—यह मनुष्य भव। निरुद्धाउयं—परिमित आयु वाला है, यह। सपेहाए—विचार कर, और। दुक्ख—क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले दु'खो को। जाण—जान। अदु—अथवा। आगमेस्स—भविष्य मे उत्पन्न होने वाले दु.खो का, और। पुढ़ो—पृथक् पृथग नरको मे। फासाइफासे—दु खो का स्पर्श करता है। च—समुच्चय अर्थ मे। च—और। विफदमाण—दु'खो को दूर करने के लिए इधर-उधर भागते हुए। लोय—लोक को। पास—देख। जे—जो। निव्वुडा—क्रोध आदि से निवृत्त हैं। पावेहि—पाप कर्मों से निवृत्त हैं। अणियाणा—निदान कर्म से रहित हैं। ते—वे। वियाहिया—इच्छा, आकाक्षा रहित हैं, ऐसा कहा गया है। तम्हा—इस लिए। अतिविज्जो—प्रबुद्ध पुरुष। नो पढिसजलिज्जासि—अपने हृदय मे क्रोध को प्रज्वलित न करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू इस मनुष्य जन्म को अल्पायुष्क समझकर

इसी जीवन मे क्रोध से होने वाले शारीरिक और मानसिक दुःखो को देख। इसके अतिरिक्त क्रोध से उत्पन्न होने वाले आगामी जन्मो के दुःखो को समझ। क्योकि क्रोध के कारण ही जीव नरकादि योनियो मे भिन्न भिन्न प्रकार के कष्टो को अनुभव करते है। दुःख के वशवर्ती बना हुआ यह जीव उनसे बचने के लिए इधर-उधर भागता फिरता है यह भी तू देख। जो क्रोधादि विकारों एव पापकर्मो से निवृत्त हो गए है और निदान से रहित है। वे ही इच्छा रहित कहे जाते है। अत. विद्वान पुरुष को कभी अपने हृदय मे क्रोध को प्रज्वलित नही करना चाहिए। इस प्रकार मै कहता हू।

हिन्दी विवेचन

जीवन सदा एक सा नहीं है। जन्म के बाद मृत्यु का आगमनन आरम्भ हो जाता है। प्रतिक्षण आयु कम होती रहती है। इस प्रकार मानव आयुष्य परिमित है। इसलिए साधक को सदा सावधान रहना चाहिए। और विवेक पूर्वक संयम का परिपालन करना चाहिए। क्योंकि क्रोध आदि कषायों से विभिन्न दुःख एवं संक्लेश उत्पन्न होते हैं। क्रोध केवल वर्तमान के लिए ही दु.ख रूप नहीं है, अपितु भविष्य मे भी वह मनुष्य को दु.ख के गर्त मे गिरा देता है। कषायों के वश मानव नरक आदि योनियों मे अनेक दु.खों का संवेदन करता है। इस लिए साधक को दु.ख के मूल क्रोध आदि कषायों एवं पाप कर्मों से निवृत्त होकर तप आदि साधना मे किसी भी प्रकार का निदान—कामना नहीं करनी चाहिए।

निष्कर्ष यह निकला कि साधक को शांत एवं निष्पाप जीवन के साथ आकांक्षा का त्याग करना चाहिए। निराकांक्षी साधक ही समस्त कर्मों को क्षय करने मे समर्थ होता है। और वास्तव मे वही महाविद्वान एवं प्रबुद्ध पुरुष है— जो क्रोध को प्रज्वलित नहीं होने देता है। क्रोध एवं कामना रहित व्यक्ति सदा सुख-शान्ति का अनुभव करता है। उसे कभी भी दुःख का अनुभव नहीं होता। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को कषाय एवं कामना का त्याग कर सदा संयम मे संलग्न रहना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझे।

। तृतीय उद्देशक समाप्त।

चतुर्थ अध्ययन-सम्यक्त्व

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में निष्काम तप का वर्णन किया गया है। तप का संयम साधना के साथ सम्बन्ध है। वह भी चारित्र का एक अंग है। इसलिए प्रस्तुत उद्देशक में संयम—साधना—चारित्र का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्-आवीलए, पवीलए, निप्पीलए जहित्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं, तम्हा अविमणे वीरे, सारए समिए सहिए सया जए, दुरणुचरो मग्गो वीराणं अनियट्टगामीणं, विगिंच मंससोणियं, एस पुरिसे दविए वीरे, आयाणिज्जे वियाहिए, जे धुणाइ समुस्सयं वसित्ता बंभचेरंसि ॥१३८॥

छाया—आपीडयेत्, प्रपीडयेत्, निष्पीडयेत् त्यक्त्वा पूर्व संयोगं हित्वोपशमं तस्मादविमनाः वीरः स्वारतः समितः, सहितः सदा यतेत, दुरनुचरो मार्गः वीराणामनिवर्तगामिनां विवेचय मांसशोणितं, एष पुरुष द्रविकः, वीरः आदानीयः व्याख्यातः यो धुनाति समुच्छ्रयं उषित्वा ब्रह्मचर्ये।

पदार्थ—पुव्वसंजोग—मुमुक्षु पुरुष पूर्व संजोग को। जहित्ता—छोडकर। उवसमं—हिच्चा—उपशम को प्राप्त कर, मन, वचन और काय योग का दमन करने के लिए। आवीलए—थोडा तप करे, फिर। पवीलए—विशिष्ट रूप से करे। निप्पीलए—उससे भी उत्कृष्ट अर्थात् घोर तपश्चर्या करे। तम्हा—इसलिए। अविमणे—वैमनस्य से रहित। वीरे—वीर पुरुष। सारए—सम्यक् रूप से। समिए सहिए—समिति और ज्ञान से युक्त। सया—सदा। जए—संयम पालन मे संलग्न रहे, क्योंकि। दुरनुचरो—जो दुष्करता से आचरित किया जाए, वह। वीराणमग्गो—वीरो का मार्ग है। अनियट्टगामीणं—मोक्ष गमन का इच्छुक। विगिंच—तपके

तप-साधना का प्रमुख उद्देश्य कार्मण शरीर को कृश करना है। कार्मण शरीर की कृशता से ही आत्म गुणो का विकास होता है। इस अपेक्षा से आपीड़न आदि शब्दों का यह अर्थ होगा—चौथे से सातवें गुणस्थान तक आपीड़न—सामान्य तप, आठवे और नवमे गुणस्थान मे प्रपीड़न-विशेष तप और दसवे गुणस्थान में निष्पीड़न-मास-क्षमण आदि तप अथवा औपशमिक श्रेणी में आपीड़न तप, क्षपक श्रेणी मे प्रपीड़न तप और सूक्ष्मसंपराम आदि शैलेसि अवस्था में निष्पीड़न तप होता है। तप साधना के लिए यह शास्त्रीय पद्धति है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि असयम का त्याग करके उपशम भाव को प्राप्त व्यक्ति तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा करता है। जो व्यक्ति ज्ञान एव समिति से युक्त है, वही तप एवं संयम मार्ग पर चल सकता है। साधना का, मुक्ति का, संयम का मार्ग कायरों का नहीं, वीरों का है। इसका आचरण करना सरल नहीं है। वही व्यक्ति इस पथ पर चल सकता है, जो ससार के स्वरूप को भली-भाति जानता है और ब्रह्मचर्य से युक्त है। ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति कर्मों को शीघ्र ही क्षय कर देता है। परन्तु उसके पालन के लिए इन्द्रिय एव मन को विशेष रूप से वश मे रखना होता है। और उन्हें वश मे रखने का उपाय है— तप। अर्थात् जिव्हा को नियन्त्रण मे रखना। कहा भी जाता है कि—"एक इन्द्रिय—जिव्हा को भूखी रखने पर शेष चारों इन्द्रिएं तृप्त रहती हैं और एक जिव्हा का पोषण करने पर चारो इन्द्रिएं बुभुक्षित होकर इधर उधर उछल-कूद मचाती हैं।"

जिव्हा के पोषण से या प्रकाम भोजन से शरीर मे मांस-खून एवं चर्बी बढेगी। इससे विकार भाव जागेगा। मन एव अन्य इन्द्रिए विषय-भोगों की ओर आकर्षित होंगी इसलिए ब्रह्मचर्य का परिपालन करने वाले साधक के लिए यह बताया गया है कि वह तपश्चर्या के द्वारा मास और शोणित को सुखा दे। मांस और शोणित की शक्ति निर्बल होने पर ब्रह्मचर्य की साधना भली-भाति सध सकेगी। और इस प्रकार साधक कर्म क्षय करने मे सहज ही सफलता प्राप्त कर लेगा।

जो साधक पूर्ण आसक्ति का त्याग नही करता उसकी क्या स्थिति होती है, इस संबन्ध मे सूत्रकार कहते है—

मूलम्—नित्तेहिं पलिच्छिन्नेहिं आयाणसोयगढ़िए बाले, अव्वोच्छिन्नबंधणे अणभिक्कंतसंजोए तमंसि अवियाणओ

आणाए लंभो नत्थि, त्तिबेमि ॥१३९॥

छाया—नेत्रैः परिच्छिन्नैः आदान श्रोतोगृद्धो बालः (अज्ञ) अव्यवच्छिन्न बन्धनोऽनभिक्रान्तसंयोगः तमसि अविजानतः आज्ञायाः लाभो नास्ति, इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—निर्त्तेहिं—चक्षु आदि इन्द्रिय को विषय से निवृत्त करके। पलिच्छिन्नेहिं—फिर मोह कर्म के उदय मे। आयाण सोय गढिए—कर्म आने के स्रोत में आसक्त, वह। बाले—अज्ञानी जीव। अव्वोच्छिन्नबंधणे—जिसने कर्म बन्ध का छेदन नहीं किया है। अणाभिक्कंतं संजोए—जिसने सयोग का त्याग नहीं किया है। तमसि—जो मोह अन्धकार में स्थित है। अवियाणओ—जो मोक्ष के उपाय—साधन को नही जानता है, उस व्यक्ति को। आणाए—तीर्थंकर की आज्ञा का। लंभो नत्थि—लाभ प्राप्त नहीं होता। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो व्यक्ति विषयो से इन्द्रियो का निरोध करने पर भी मोह कर्म के उदय से आस्रव मे आसक्त हो गया है। और जिसने कर्म बन्ध के कारण राग-द्वेष का छेदन नही किया है, विषयो के सयोग को नही त्यागा है और जो मोह अन्धकार से बाहिर नही निकला है तथा मोक्ष मार्ग को नही जानता है, वह अज्ञानी व्यक्ति तीर्थंकर की आज्ञा का लाभ नही उठा सकता। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे प्रमादी मानव की मानसिक निर्बलता को बताया गया है। वह अपने आपको विषयों से निवृत्त कर लेता है। और इन्द्रियों को भी कुछ समय के लिए वश मे रख लेता है। परन्तु फिर से मोह कर्म का उदय होते ही विषयों मे आसक्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि उसने आस्रव एवं बन्ध के मूल कारण राग-द्वेष का उन्मूलन नहीं किया। और न मोह कर्म का ही छेदन किया है। इसके अतिरिक्त उसे मोक्ष मार्ग का भी पूरा बोध नहीं है। इसी कारण वह मोह कर्म का थोड़ा-सा झोंका लगते ही अपने मार्ग से फिसल जाता है।

इसलिए साधक को सब से पहिले साध्य एवं साधन का ज्ञान होना चाहिए। मार्ग का यथार्थ बोध होने पर ही वह उस पथ पर सुगमता से चल सकेगा और

मार्ग मे आने वाली कठिनाईयों को भी दूर कर सकेगा। अत. जिसे उस पथ का बोध नहीं है वह संसार की हवा लगने ही इधर-उधर भटक जाता है। इसी कारण उसे तीर्थंकर की आज्ञा का भी लाभ प्राप्त नहीं होता। क्योंकि न तो उसे उस मार्ग का बोध ही है और न उस पथ के प्ररूपक पर निष्ठा ही है, ऐसी स्थिति मे उसे लाभ कैसे मिल सकता है।

ऐसी आत्मा को न पीछे बोधि लाभ हुआ है, न अब होता है और न भविष्य मे होगा। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया?, से हु पन्नाणमंते बुद्धे आरंभोवरए, सम्ममेयंति पासह, जेण बंधं वहं घोरं परियावं च दारुणं पलिछिंदिय बाहिरगं च सोयं, निक्कमदंसी, इह मच्चिएहिं, कम्माणं सफलं दट्ठूण तओ निज्जाइ वेयवी ॥१४०॥

छाया—यस्य नास्ति पुरा पश्चात् मध्ये तस्य कुतः स्यात्? स खलु प्रज्ञानवान् बुद्धः आरम्भोपरतः सम्यगेतत् पश्यतः येन बन्धं वधं घोरं परितापंच दारुण परिच्छिन्द्य बाह्यं च स्रोतः निष्कर्मदर्शी इह मर्त्येषु कर्मणां सफल दृष्ट्वा ततः निर्याति वेदवित्।

पदार्थ—जस्स—जिसको। पुरा—पूर्वकाल में सम्यक्त्व का लाभ। नत्थि—नहीं हुआ और। पच्छा—ना ही आगामी काल मे सम्यक्त्व का लाभ होगा तो फिर। तस्स—उसको। मज्झे—मध्य जन्म में। कुओ—कहा से। सिया—सम्यक्त्व का लाभ होगा। हु—जिससे भोगो से निवृत्त हो गया है, इस लिए। से—वह। पन्नाणमन्ते—प्रज्ञावान है। बुद्धे—तत्त्वों को जानने वाला है। आरम्भोवरए—आरम्भ से उपरत हो गया है, हे शिष्यो! तुम। सम्म-मेयन्ति—सम्यग् शोभन रूप इस सम्यक्त्व को। पासह—देखो क्योंकि। जेण—जिस कारण से। बधं—बन्ध को। वहं—वध को। घोरं—घोर रूप। च—और। परियावं—परिताप को। दारुण—दारुण रूप असहनीय को। पलिछिन्दिय—दूर करके। च—पुन। बाहिरंग—बाहिर के धन-धान्यादि। सोयं—स्रोत को भी दूर कर दिया है। निक्कमदसी—मोक्ष वा संवर

सम्यक्त्व को प्राप्त करके मुक्ति की ओर पग बढ़ाएगा ही।

जिन जीवों को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो चुकी है, वे किसी भी प्राणी को मारने, काटने एवं पीड़ा पहुंचाने आदि आरम्भ एव हिंसा जन्य कार्यों से अलग रहते हैं। वे आस्रव के द्वार को रोकते हुए सदा संयम-साधना में संलग्न रहते हैं। इसलिए उन्हें निष्कर्मदर्शी कहा गया है। नकी दृष्टि संवरमय होती है। वे कर्म के दु.खद फल को जानते हुए उससे—कर्म बन्ध से सदा बचकर रहने का प्रयत्न करते हैं।
वह प्रज्ञावान् भी होगा ही। और जो प्रज्ञावान् होगा वह बुद्ध-बोध युक्त होगा ही।

यह सत्य है कि प्रत्येक कर्म फल युक्त होता है, कोई भी कर्म निष्फल नहीं होता। उसमें इतना अन्तर हो सकता है कि कुछ कर्म विपाकोदय रूप से वेदन किए जाते हैं। तो कुछ कर्म प्रदेशोदय से ही अनुभव कर लिए जाते हैं। कर्म आगमन के मार्ग को आस्रव कहते हैं। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योग इन पाच कारणों से कर्म का बन्ध होता है। जो व्यक्ति जीवाजीव आदि पदार्थों का ज्ञाता है वह आस्रव से निवृत्त होने का प्रयत्न करता है।

तत्त्वों के जानने वाले व्यक्ति को प्रज्ञावान् कहते हैं। वह आगम के द्वारा संसार एवं संसार परिभ्रमण के कारण कर्म तथा कर्म-बन्ध के कारण को भली-भांति जानता है। प्रस्तुत सूत्र मे आगम के लिए वेद शब्द का प्रयोग किया गया है। वेद का अर्थ है—जिसके द्वारा संपूर्ण चराचर पदार्थों का ज्ञान हो उसे वेद कहते हैं और वे सर्वज्ञोपदिष्ट आगम हैं। उसके परिज्ञाता उसके अनुरूप आचरण करने वाले साधक कहलाते है।

निष्कर्ष यह निकला कि आत्मविकास एवं साध्य को सिद्ध करने का मूल सम्यक्त्व है। अत: मुमुक्षु पुरुष को सम्यक्त्व प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस सम्बन्ध मे सभी तीर्थंकरों का यही अभिमत है, इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे खलु भो! वीरा ते समिया सहिया सया-जया संघड़दंसिणो आओवरया अहातहं लोयं उवेहमाणा, पाईणं पडिणं दाहिणं उईणं इय सच्चंसि परि (चिए) चिट्ठिंसु साहिस्सामो नाणं, वीराणं समियाणं, सहिशणं सया जयाण

संघड़दंसिणं, आओवरयाण अहातह लोयं समुवेहमाणाणं किमत्थि उवाही? पासगस्स न विज्जइ नत्थि. त्तिबेमि ॥१४१॥

छाया—ये खलु भो ! वीराः ते समिताः सहिताः सदायता निरन्तरदर्शिन आत्मोपरताः यथातथं लोकम् उपेक्षमाणाः प्राच्यां प्रतीच्यां दक्षिणायाम् उत्तरस्यामिव सत्ये परिचिते तस्थुः कथयिष्यामि ज्ञानं वीराणां समितानां सहितानां दायतानां निरन्तर स दर्शिना आत्मोपरताना यथातथ लोक समुत्प्रेक्षमाणाना किमस्ति उपाधिः पश्यकस्य न विद्यते नास्ति, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—खलु—वाक्यालकार मे है। भो—हे आर्य! जे—जो। वीरा—कर्म विदारण में समर्थ। ते—वे। समिया—समितियो से युक्त। सहिया—ज्ञान से युक्त। सयाजया—सदा यत्न करने वाले। सघड दंसिणो—निरन्तर देखने वाले। आओवरया—पाप कर्मो से उपरत हुए। जहातह—यथा तथा। लोयं—लोक को। उवेहमाणा—देखते हुए। पाईण—पूर्व दिशा में। दाहिण—दक्षिण दिशा मे। पडिण—पश्चिम दिशा मे। उइणं—उत्तर दिशा मे। इय—इस प्रकार। सच्चंसि—सत्य मे। परिचिए—परिचित विषय मे। परिचिट्ठिसु—ठहरे हुए स्थिति वाले। सहिस्सामो—मैं तुम्हारे प्रति कहूँगा—सुधर्मा स्वामी अपने शिष्यो के प्रति कहते हैं। हे शिष्यो मैं तीन काल के तीर्थंकरो का अभिप्राय तुम्हारे प्रति कहूँगा तुम सुनो विनत। वीराणं—वीरो का। समियाणं—समिति वालो का। सहियाण—ज्ञानयुक्तो का। सयाजयाण—सदा यत्न करने वालो का। संघडदंसीणं—निरन्तर देखने वालो का। आओवरयाण—जिनका आत्मा पापो से निवृत्त है। अहातहं—यथा-तथा। लोय—लोक के। समुवेहमाणाण—समुत्प्रेक्षया वालो का। नाण—जो ज्ञान है। किमत्थि उवाही—क्या केवल ज्ञानी को भी कर्म जनित उपाधि है? नत्थि—नही होती हैं। त्तिवेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—हे आर्यो? वे वीर पुरुष जो समित्तियो से युक्त ज्ञान से सयुक्त सदायत्न शील निरन्तर देखने वाले पूर्व पश्चिम दक्षिण और उत्तर दिशा मे व्यवस्थित, स्थिर सत्य व तप सयम मे अवस्थित थे मैं उन वीर पुरुषो का ज्ञान तुम्हारे प्रति सुनाऊंगा जो कि समित- समिति युक्त ज्ञान-युक्त सदा यत्नशील, निरन्तर देखने वाले पापो से उपरत, और यथावस्थित लोक के स्वरूप को देखने वाले हैं, वे कहते हैं सत्य मे सयम मे ठहरो?

क्या केवल ज्ञानी को भी कर्म जनित उपाधि होती है अर्थात् नही होती, इस प्रकार मै कहता हू ।

हिन्दी विवेचन

अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों काल मे होने वाले तीर्थंकर सत्य और सयम की साधना से कर्मों का नाश करते हैं। सत्य किसी एक देश, वस्तु विशेष या काल विशेष में सीमित नहीं, अपितु समस्त लोक व्यापी है और सब काल मे स्थित रहता है। अत सभी तीर्थंकरों के उपदेश मे एकरूपता रहती है। तीर्थंकर सम्यक्त्व को मुक्ति का मूल कारण बताते हैं । क्योंकि सम्यक्त्व प्रकाश मे अपना विकास करता हुआ व्यक्ति सब कर्मों का नाश कर देता है । अत' इस प्रयत्न में सलग्न व्यक्ति ही वीर कहलाता है। वह वीर साधक ५ समिति और तीन गुप्ति की साधना से ज्ञानवारण कर्म को अनावृत करके विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करता है और आयु कर्म के क्षय के साथ समस्त कर्म आवरण को नष्ट करके निरावरण आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।

चार घातिकर्मों को क्षय करने पर आत्मा मे अनन्त चतुष्टय ज्ञान, दर्शन सुख और बल-वीर्य-शक्ति का उदय होता है । उस निरावरण ज्ञान के प्रकाश में वह सारे संसार एव लोक में स्थित सभी तत्त्वों को यथार्थ रूप से देखने लगता है। उससे ससार का कोई रहस्य गुप्त नहीं रहता । और वह महापुरुष कर्मों के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है । इससे यह स्पष्ट हुआ कि सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के बल पर वह कर्मों के क्षय करने मे समर्थ होता है और एक दिन आत्म—विकास की चरम सीमा—१४वें गुणस्थान को लांघकर अपने साध्य—सिद्ध अवस्था को पालेता है। अत मुमुक्षु पुरुष को रत्नत्रय की आराधना मे प्रमाद नहीं करना चाहिए। अर्थात् अप्रमत्त भाव से सयम का परिपालन करना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

चतुर्थ अध्ययन समाप्त

पंचम अध्ययन लोकसार

प्रथम उद्देशक

चतुर्थ अध्ययन में सम्यक्त्व का विवेचन किया गया है। सम्यक्त्व के बाद सम्यक् चारित्र का स्थान है। क्योंकि सम्यग् दर्शन का महत्त्व चारित्र के विकास में है। इस लिए लोक में चरित्र ही सार रूप माना गया है। प्रस्तुत अध्ययन का नाम भी लोकसार है। अत: इस अध्ययन मे चारित्र का विस्तृत विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन के नाम पर विचार करते हुए वृत्तिकार ने प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा है—

"लोगस्स उ को सारो ? तस्स य सारस्स को हवइ सारो ?
तस्स य सारो सारं जइ जाणसि पुच्छिओ साह !

अर्थात्—गुरुदेव ! इस चौदह राजुलोक का सार क्या है ? तथा उस लोक के सार का सार तत्त्व एवं उस सार का भी सार तत्त्व क्या है ? इसका समाधान करते हुए वृत्तिकार कहते हैं—

लोगस्स सारो धम्मो धम्मंपि य नाणसारियं विंति
नाणं संजमसारं संजमसारं च निव्वाणं ॥

अर्थात्—लोक का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार संयम है, और संयम का सार निर्वाण-मोक्ष है। निष्कर्ष यह रहा कि लोक का सार संयम है और संयम-साधना से मुक्ति प्राप्त होती है। संयम-साधना के अभाव मे कोई भी व्यक्ति मोक्ष को नहीं पा सकता है। अत: सूत्रकार असंयमी—असाधु जीवन किसका होता है अर्थात् मुनित्व का अभाव किस मे है, इस बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

मूलम्—आवंती केयावंती लोयंसि विप्परामुसंति अट्ठाए अणट्ठाए, एएसु चेव विप्परामुसंति, गुरू से कामा, तओ से मारंते, जओ से मारंते तओ से दूरे, नेव से अंतो नेव दूरे ॥१४२॥

छाया—यावन्तः केचन लोके विपराम्शन्ति अर्थायानर्थाय एतेषु विपरामृशन्ति गुरवः तस्य कामाः ततः स मारान्तः (मारान्तर्वर्ती) यतः सः मारान्तः ततः सः दूरे नैवासौ अन्तः नैवदूरे ।

पदार्थ—आवन्ती - जितने जीव असयत हैं, उनमे । केयावन्ती - कितने एक । लोयंसि - लोक मे । विघरामुसन्ति - अनेक विषयाभिलाषा से अनेक जीवो की घात करते हैं । अट्ठाए - प्रयोजन से । अणट्ठाए - निश्प्रयोजन से, फिर वे जीव । एएसु - इन्ही ६ कायो मैं च - पुन । एव - अवधारणार्थ मे । विघरामुसन्ति - उत्पन्न होते है तथा अनेक प्रकार के दु खों का संवेदन करते है, फिर । से - उसको । गुरुकामा - काम भोगो का परित्याग करना कठिन हो जाता है । तओ - तदनुसार । से - वह । मार-ते - जन्म-मरण के प्रवाह मे प्रवहमान रहता है । जओ - जिससे । से - वह । दूरे - मोक्ष से दूर रहता है । से - वह । नेव - अन्तो विषय सुख के अन्तर्वर्ती भी नही है, और । नेव दूरे - न उससे दूर ही है ।

मूलार्थ—ससार मे जितने भी असयत जीव है, उनमे कई जीव अनेक तरह से प्रयोजन से या निष्प्रयोजन ही अनेक जीवो की हिंसा करते है। इस कारण वे इन्ही ६ काय के जोवो मे उत्पन्न होते रहते है वे मोक्ष से दूर है । विषय भोगो के इच्छुक होने के कारण ससार से दूर भी नही है और विषय सुख का उपभोग भो नहो कर सकते है ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे हिसा एवं हिंसाजन्य फल का उल्लेख किया गया है । कुछ असयत मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए अनेक जीवों की हिसा करते रहते हैं । अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए तो स्पष्ट रूप से हिसा होती ही है। परन्तु कुछ लोग धर्म एव मोक्ष के नाम पर किए जाने वाले यज्ञों एव अन्य क्रियाकाण्डों में-पंचाग्नि, होम, धूप-दीप आदि मे अनेक जीवों की हिंसा करते हैं, वे प्रयोजन से या निष्प्रयोजन ही केवल मौज-शौक के लिए दूसरे प्राणियों का प्राण ले लेते हैं। जैसे मनोविनोद के लिए शिकार आदि दुष्कर्मों के द्वारा प्राणियों की हिसा करते हैं। और परिणामस्वरूप पाप कर्म का वन्ध करके उन्हीं ६ काय के जीवों में उत्पन्न होते रहते हैं, जन्म-मरण के प्रवाह मे प्रवहमान रहते हैं।

ऐसे व्यक्ति मोक्ष से दूर रहते हैं। क्योंकि सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परिपालन करना मोक्ष मार्ग है । और विषयाभिलाषी प्राणी रत्नत्रय की आराधना-साधना कर नहीं सकता । वह रात-दिन विषय-वासना में आसक्त रहता है, अत. मोक्ष से दूर कहा गया है।

विषयासक्त व्यक्ति रात-दिन भोगों में संलग्न रहता है। अतिभोग के कारण उसकी इन्द्रियें जर्जरित हो जाती हैं, शरीर दुर्बल एवं रोग से घिर जाता है। इस तरह वह विषय जन्य सुख से वंचित रहता है और मानसिक भावों से उस में लीन रहने के कारण वह संसार से दूर नहीं होता है। क्योंकि उसका चिन्तन सदा विषय-वासना में ही लगा रहता है। अतः वह निरन्तर जन्म मरण के प्रवाह में बहता रहता है।

सम्यक्त्व की साधना करने वाले व्यक्ति के अध्यवसाय किस तरह के रहते हैं? इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से पासइ फुसियमिव कुसग्गे पणुन्नं निवइयं वाएरियं एवं बालस्स जीवियं मंदस्स अवियाणओ, कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परिआसमुवेइ, मोहेण गब्भं मरणाइ एइ, एत्थ मोहे पुणो-पुणो ॥१४३॥

छाया—स पश्यति उदकबिन्दुमिव कुशाग्रे प्रणुन्नं निपतितं वातेरितमेवं बालस्य जीवितं मन्दस्य अविजानतः क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणः तेन दुःखेन मूढः विपर्यासमुपैति मोहेन गर्भमरणादिमेति अत्र मोहः पुनः पुनः।

पदार्थ— वह। सम्यग् दृष्टि व्यक्ति ससार को असार। पासइ—देखता है। कुसग्गे—कुशा—तिनके के अग्रभाग पर स्थित। फुसिमिव—जल विन्दु की तरह। बालस्स—बालक का। जीवियं—जीवन है। पणुन्न—कुशाग्र पर स्थित वह जल बिन्दु अन्य जल बिन्दु से या। वाएरिय—वायु से प्रेरित हुआ। निवइय—गिर जाता है। एव—इसी प्रकार बाल्यकाल का जीवन समझना चहिए। मंदस्स—विवेक विकल। अवियाणओ—परमार्थ को नही जानता हुआ। बाले—बाल जीव। कूराइं—क्रूर। कम्माइं—कर्म। पकुव्वमाणे—करता हुआ। तेण—उस दुश्कर्म के फल स्वरूप। दुःखेण—दु ख से वह। मूढे—मूढ। विप्परियासमुवेइ—विपर्यास भाव को प्राप्त हो जाता है। मोहेण—मोह से मोहित व्यक्ति। गब्भ—गर्भ को एव। मरणाइ एइ—मृत्यु को प्राप्त होता है। एत्थ मोहे—इस मोह कर्म से। पुणो पुणो—बार बार चार गति में परिभ्रमण करता है।

मूलार्थ—वह सम्यक्त्वी प्राणी जैसे बाल जीवन को कुशाग्र पर स्थित जल बिन्दु की तरह असार देखता है। कुशाग्र पर स्थित जल बिन्दु दूसरो

बून्द या हवा के झोके की प्रेरणा से शीघ्र ही गिर पडता है, उसी तरह बाल्य काल भी कुछ दिनो मे बीत जाता है। परन्तु विवेकहीन प्राणी इस परमार्थ सत्य को नही जानता। अतः वह अज्ञानी व्यक्ति क्रूर कर्मो को करता हुआ तज्जन्य दुःखानुभूति से मूढ होकर विपरीत मार्ग का अनुगामी बन जाता है और मोह से आवृत होकर जन्म मरण के प्रवाह मे बहता रहता है।

हिन्दी विवेचन—

दुनिया की प्रत्येक वस्तु परिवर्तन शील है। प्रत्येक पदार्थ की पर्यायों मे प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। काल की गति के साथ-साथ जीवन की धारा भी बदलती रहती है। बाल्य काल के बाद जवानी आती है, यौवन का स्थान प्रौढता ग्रहण करती है, प्रौढ़ावस्था को परास्त करके बुढ़ापा मनुष्य को बुरी तरह से पछाड देता है काल मानव को एकदम परास्त कर देता है। उसके सामने किसी की शक्ति नहीं चलती। आणविक शक्ति भी उसका सामना नहीं कर सकती। यह स्थिति हमारे सामने से गुजरती है। फिर मोह कर्म से आवृत एवं विषयासक्त व्यक्ति जीवन की क्षणिकता की तरफ से आंख मूंदकर रात-दिन दुष्कर्मों मे संलग्न रहता है। परिणामस्वरूप पाप कर्म को बाध करके संसार मे परिभ्रमण करता रहता हैं।

परन्तु सम्यग्दृष्टि इस बात को भलीभाति जानता है। वह जीवन की अस्थिरता से अपरिचित नहीं है। क्योंकि वह दर्शन मोह का क्षय या क्षयोपशम कर चुका है। इस से स्पष्ट होता है कि ससार परिभ्रमण एव दुष्कर्मों मे प्रवृत्ति का कारण मोह कर्म का उदय है। अत मोह कर्म का नाश करने से आत्मा में विशिष्ट ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित होते देर नहीं लगती। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—संसयं परिआणओ संसारे परिन्नाए भवइ, संसयं अपरियाणओ संसारे अपरिन्नाए भवइ ॥१४४॥

छाया—संशयं परिजानतः संसारः परिज्ञातो भवति, संशयमपरिजानतः संसारोऽपरिज्ञातो भवति।

पदार्थ—संसयं—जो संशय को। परिआणयो—जानता है, वह। ससारे—संसार के स्वरूप का। परिन्नाएभवइ— जानता है जोससयं—सशय को। अपरियाणओ—नहीं जानता

है, वह। संसारं—संसार को भी। अपरिन्नाए भवइ—नहीं जानता है।

मूलार्थ—जो व्यक्ति सशय को जानता है, वह ससार के स्वरूप का परिज्ञाता होता है। और जो सशय को नही जानता है, वह ससार के स्वरूप को भी नही जानता।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में पदार्थ ज्ञान और संशय का अविनाभाव संबन्ध माना गया है। यहां संशय का अर्थ है—पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने की जिज्ञासा वृत्ति। इससे स्पष्ट होता है कि संशय ज्ञान के विकास का कारण भी है। जब मन में जानने की जिज्ञासा वृत्ति उद्‌बुद्ध होती है, तो मनुष्य उस ओर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार वह ज्ञान के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ता रहता है।

सशय—जिज्ञासा वृत्ति दो प्रकार की होती है— १-अर्थगत और २-अनर्थ-गत। मोक्ष एवं मोक्ष के कारण भूत सयम आदि को जानने की जिज्ञासा वृत्ति को अर्थगत संशय कहते हैं और संसार एवं संसार परिभ्रमण के कारणों को जानने की जिज्ञासा वृत्ति को अनर्थगत संशय कहते हैं। दोनों प्रकार के संशय से ज्ञान में अभिवृद्धि होती है। और संसार एवं मोक्ष दोनों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला व्यक्ति ही हेय वस्तु का त्याग करके उपादेय को स्वीकार करता है। इस लिए यह कहा गया है कि जो व्यक्ति संशय को जानता है, वह संसार के स्वरूप को जानता है और जो संशय को नहीं जानता है वह संसार को यथार्थत. नहीं जान सकता।

संशय ज्ञान कराने में सहायक है। परन्तु यदि वह जिज्ञासा की सरल भावना का परित्याग करके केवल सन्देह-शका करते रहने की कुटिल वृत्ति अपना ता है, तो वह संशय पतन का कारण बन जाता है। उससे पदार्थ ज्ञान नहीं होता, अपितु व्यक्ति और अधिक अज्ञान अन्धकार से आवृत हो जाता है। इसी दृष्टि से कहा गया है—"सशयात्मा विनश्यति" अर्थात् संशयशील आत्मा का विनाश होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि संशय पदार्थ ज्ञान के लिए होना चाहिए। भगवती सूत्र में गौतम स्वामी के लिए जात संशय, संजात संशय और समुत्पन्न सशय ऐसा तीन बार उल्लेख किया गया है*। जात संशय की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार

*भगवती सूत्र।

अभय देव सूरि ने लिखा है— 'जात' संशयो यस्य स 'जातसंशय', संशयस्तु अनवधारितार्थं ज्ञानं ज्ञातसंशयः इदं वस्त्वेवं स्यादेवमिति।" अर्थात् जो ज्ञान पहिले धारण नहीं किया गया है उस की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले संशय को जात संशय कहते हैं। इस प्रकार यह संशय ज्ञान वृद्धि मे कारणभूत है। इससे पदार्थों का यथार्थ बोध होता है और उनकी हेयोपादेयता का भी परिज्ञान होता है।

हेय एवं उपादेय वस्तु का त्याग एवं स्वीकार कौन कर सकता है? इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे छेए से सागारियं न सेवइ, कट्टु एवमवियाणओ बिइया मंदस्स बालया, लद्धा हुरत्था पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाय त्तिबेमि ॥१४५॥

छाया—यच्छेकः स सागारिकं—मैथुनं न सेवते कृत्वा एवमविजानतः द्वितीया मंदस्य बालता लब्धानपि अर्थान् प्रत्युपेक्ष्य आगम्य आज्ञापयेत् अनासेवनतया, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—जे—जो साधक निपुण है। से—वह। सागारियं—मैथुन कर्म को। न सेवइ—सेवन नहीं करता है, परन्तु जो अज्ञानी व्यक्ति मैथुन का आसेवन करता है, वह उस का सेवन। कट्टु—करके भी गुरु के पूछने पर। एव—इस प्रकार। अवियाणओ—अपलाप करता है कि मैंने मैथुन का आसेवन नहीं किया है, यह। मन्दस्स—उस मन्दमति वाले व्यक्ति की। बिइया—दूसरी। बालया—अज्ञानता है। इसलिए मतिमान पुरुष को। लद्धा—विषयो का सयोग मिलने पर भी। हुरत्था—उसके विपाक को। पडिलेहाए—विचार कर। आगमित्ता—जानकर। अणासेवणय—उनका सेवन नही करना चाहिए। आणविज्जा—और अन्य व्यक्तियो को विषयो से दूर रहने की आज्ञा देनी चाहिए। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो साधक कुशल है, निपुण है, वह विषय-भोगो का आसेवन नही करता। परन्तु कुछ दुर्बुद्धि साधक विषय-वासना का सेवन करके भी गुरु आदि के पूछने पर उसे छुपाने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं कि हमने मैथुन का सेवन नहो किया। इस तरह पाप को छुपाकर रखना

उन मन्दबुद्धि साधको की दूसरी अज्ञानता है।

बुद्धिमान साधक विपयो की प्राप्ति होने पर भा उस ओर अपने योगो को नही लगाते। वे उनके विपाक-फल का विचार कर उसका सेवन नही करते और अन्य साधको को भी उनसे बचकर रहने का आदेश देते है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बुद्धिमान साधकों की बुद्धिमत्ता, मूर्खों की अज्ञानता एवं बुद्धिमानों के कर्त्तव्य का दिग्दर्शन कराया गया है। बुद्धिमान वह है जो किसी भी परिस्थिति मे अपने साधनापथ से विचलित नहीं होता है। जिस वस्तु को संसार परिभ्रमण का कारण समझ कर त्याग कर दिया, उसे फिर स्वीकार करना या उसे ग्रहण करने की मन मे कल्पना करना अज्ञानता का परिचायक है। प्रबुद्ध पुरुप किसी भी स्थिति में परित्यक्त विपय-भोगों के आसेवन की इच्छा नही रखते। वे सदा भोगों से दूर रहते हैं, क्योंकि वे उसके दुष्परिणामों से परिचित हैं।

परन्तु, जो मूर्ख हैं, वे त्याग के पथ पर चलकर भी भटक जाते हैं, विषय-वासना के साधनों को देखते ही वे उसके प्रवाह में बह जाते हैं। और उसका आसेवन करके भी उसे छुपाने का प्रयत्न करते हैं। वे अपने दुष्कर्म को स्वीकार नहीं करते। गुरु के पूछने पर कहते हैं कि मैंने कोई दुष्कर्म नहीं किया। इस प्रकार पहिले तो पाप कर्म में प्रवृत्त होते हैं और फिर उसे छुपाने के लिए-दूसरे पाप कर्म का सेवन करते है। यह उनकी दूसरी अज्ञानता है। इससे उनका जीवन पतन के गर्त में गिरता है और वे संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

प्रबुद्ध पुरुप विषय-भोगों के कटु परिणाम एवं बाल-अज्ञानी जीवों द्वारा आसेवित विपय भोगों एवं माया-मृषावाद के दुष्परिणामों को भली-भांति जानते हैं। इस लिए भोग्य-पदार्थों के उपलब्ध होने पर भी वे उसका सेवन नहीं करते हैं। वस्तुत सच्चा त्यागी वही है, जो स्वतंत्रतापूर्वक प्राप्त प्रिय भोगों का हृदय से त्याग कर देता है, उनके सेवन की बिल्कुल इच्छा-आकांक्षा नहीं रखता* ।' और अपने अन्य साथी साधकों को भी भोगों की असारता एव उनके दुष्परिणाम बताकर, विपय वासना से दूर रहने का आदेश देता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

---

* जे य कंते पिए भोए लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ,
साहीणे चयइ भोए से हु चाइत्ति वुच्चइ।

—दशवैकालिक, २, ३

मूलम्—पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिणिज्जमाणे, इत्थ फासे पुणो-पुणो, आवंती केयावंती लोयंसि आरंभजीवी, एएसु चेव आरंभजीवी, इत्थवि बाले परिपच्चमाणे रमइ पावेहिं कम्मेहिं असरणे सरणंति मन्नमाणे, इहमेगेसिं एगचरिया भवइ, से बहु-कोहे, बहुमाणे, बहुमाए, बहुलोभे, बहुरए, बहुनड़े बहुसढ़े, बहु संकप्पे, आसवसत्ती पलिउच्छन्ने, उट्ठियवायं पवयमाणे, मा मे केइ अदक्खू., अन्नाणपमायदोसेणं, सययं मूढ़े धम्मं नाभिजाणइ, अट्टा पया मानव ! कम्मकोविया जे अणुवरया अविज्जाए पलि-मुक्खमाहु—आवट्टमेव अणुपरियट्टंति, त्तिबेमि ॥१४६॥

छाया—पश्यत एकान् रूपेषु गृद्धान् परिणीयमानान् अत्र स्पर्शान् पुनः २ यावन्तः केचन लोके आरम्भजीविनः एतेषु चैव आरम्भजीवी अत्रापि बालः परिपच्यमान रमते पापैः कर्मभिः अशरणं शरणमिति मन्यमानः इहैकेषामेक-चर्या भवति स बहुक्रोध बहुमानः बहुमायः बहुलोभः बहुरतः बहुनटः बहुशठ. बहुसंकल्पः आश्रवसक्ती पलितावच्छन्नः कर्मावष्टब्ध उत्थितवादं प्रवदन् मा मां केचन अद्राक्षुः अज्ञानप्रमाद दोषेण सततं मूढ़ः धर्मं नाभिजानाति आर्ताः प्रजाः मानव ! कर्म कोविदाः ये अनुपरता अविद्यया परिमोक्षमाहुः आवर्त्तमेव अनुपरिवर्तन्ते, इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—पासह—हे मनुष्यो ! तुम देखो। एगे—कई एक धर्म के मानने वालो को। रूवेसु—रूपादि मे। गिद्धे—गृद्धो को। परिणिज्जमाणे—नरकादि स्थानों मे गये हुओ को, फिर वे। इत्थ—इस ससार मे। पुणो पुणो —पुनः पुन.। फासे दु ख रूप स्पर्शों का अनुभव करने वाला को तथा। आवती—जितने भी। केयावती—कई एक प्राणी। लोयंसि—लोक मे। आरभजीवी—आरम्भ से जीवन व्यतीत करने वाले। च—और फिर। एव—निश्चय ही

एएसु सावद्यारम्भप्रवृत्ति मे, तथा गृहस्थो में । आरंभ जीवी—आरम्भ पूर्वक आजीविका दुःख-रूप होती है । इत्थवि—इस अर्हत प्रणीत सयम के स्थान में भी । बाले—राग और द्वेष से व्याप्त । परिपच्चमाणे- परितप्त होता हुआ, अथवा विषय रूप पिपासा से सन्ताप को प्राप्त होता हुआ, फिर उन विषयो मे । रमइ—रमण करता है, फिर । पावेहिं—पाप । कम्मेहिं—कर्मों से सन्तप्त होता हुआ । असरणे-अशरणरूप सावद्यानुष्ठान को । सरणंति—शरण रूप । मन्नमाणे—मानता हुआ, नाना प्रकार की वेदनाओ का अनुभव करता है । इह—इस मनुष्य लोक में । एगेसि—कई एक की क्रोध के वशीभूत होकर । एगचरिया—एकचर्या । भवइ—होती है । से—वह-विषय और कषायो के वशीभूत होकर अकेला विचरने वाला । बहुकोहे—बहुत क्रोध वाला । बहुमाणे—बहुत मान वाला । बहुमाए—बहुत माया वाला । बहुलोभे—बहुत लोभ वाला । बहुरए—बहुत कर्म रज वाला । बहुनडे—नटकी भाती विषयो के लिये भ्रमण करने वाला । बहुसढे—बहुत शठता वाला । बहुसंकप्पे—बहुत सकल्पो वाला, हो जाता है, तथा । आसवसत्तो—आश्रव मे आसक्त । पलिउच्छन्ने—कर्मों से आच्छादित । उट्ठियवाय—चारित्र रूप धर्म वाद में उद्यत हुआ २ । वायमाणे—इस प्रकार बोलता हुआ । मा—मत । मे—मुझे । केइ—कोई । अदक्खू—पाप करते हुए को देखें, तथा वह । अन्नाण पमाय दोसेण—अज्ञान व प्रमाद के दोष मे पाप कर्म करता है । सययं—निरन्तर । मूढ—मूढ-मोह के उदय से । धम्मं—धर्म को । नाभिजाणइ—नही जानता । अट्टा—विषय कषायो से पीडित । पया—जीव । माणव—हे मनुष्य ! कम्मकोविया—कर्मकोविद अर्थात् अष्टविध कर्मों के अनुष्ठान मे चतुर । जे—जो । अणुवरया—पाप कर्म से अनिवृत्त हैं । अविज्जाए—अविद्या से । पलिमुक्खमाहु—सर्व प्रकार से मोक्ष मानते हैं । आवट्टमेव—ससार चक्र के आवर्त मे ही । अणुपरियट्टंति—बार २ अनुवर्तन करते है अर्थात जन्म मरण के चक्र मे ही फिरते रहते है । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—भव्य जीवो! तुम देखो! कई एक विषयासक्त व्यक्ति नरकादि मे वेदना पाते हुए नरकादि स्थानो मे पुनः २ दुःख रूप स्पर्श का अनुभव करते हैं, लोक में कितने ही प्राणी आरम्भ से आजीविका करने वाले इन गृहस्थ वा सारम्भी अन्य तीर्थियो में आरम्भ पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। इस संसार मे अज्ञानी जीव, विषयो की अभिलाषा से सावद्य कर्मो मे सलग्न रहते हैं, अशरणरूप पापकर्म को शरणभूत मानते हुए नाना प्रकार की वेदनाओ का अनुभव करते है। तथा इस मनुष्य लोक मे कोई व्यक्ति विषयकषायो के अधीन होकर अकेले विचरने लगता है। और फिर वह

अधिक क्रोध, अधिक मान अधिक माया अधिक लोभ वाला हो जाता है। तथा अधिक कर्मरज से युक्त, नट की भाती विपयो के लिए घूमने वाला अत्यन्त धूर्त, अधिक सकल्पो वाला, आश्रवो मे आसक्ति रखने वाला और कर्मों से आच्छादित हुआ—'मैं धर्म के लिए उद्यत हो रहा हू, इस प्रकार बोलता हैकि मुझ कोई पाप कर्म करते हुए न देखे इस प्रकार विचरता हुआ अज्ञान और प्रमाद के वशीभूत होकर सदा अकार्य मे लगा रहता है। वह निरन्तर मूढ हुआ धर्म को नही जानता। हे मानव ! विपयकपायभूत कर्म करने मे कोविद, कर्मानुष्ठान मे चतुर, पापो से निवृत्त न होने वाले जीव अविद्या से मोक्ष सुख की प्राप्ति मानते है। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में विषय-वासना मे आसक्त व्यक्ति के जीवन का दिग्दर्शन कराया गया है। यह स्पष्ट है कि वासना मे आसक्त व्यक्ति दूसरे प्राणियों के हिताहित को नहीं देखता। वह अपनी भोगेच्छा की पूर्ति के लिए उपयुक्त-अनुपयुक्त कार्य करते हुए संकोच नहीं करता। परिणामस्वरूप पाप कर्म का वन्ध करके नरकादि गतियों मे उत्पन्न होता है। और वहां विविध वेदना का संवेदन करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो प्राणी अज्ञान के वश वासना में आसक्त रहता है वह नीच योनि में उत्पन्न होकर अनेक कष्टों को सहना है, संसार में परिभ्रमण करता है। भले ही वह गृहस्थ के वेश में हो या साधु के वेश मे, जैन कुल मे उत्पन्न हुआ हो या जैनेतर कुल मे, विषय वासना मे आसक्ति एव दुष्कर्म मे प्रवृति रखना किसी के लिए भी हितप्रद नहीं है। फल भोग के समय लिंग, वेश एव कुल का भेद नहीं किया जाता। जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है, उसे उसके अनुरूप फल भोगना होता है।

परन्तु, अज्ञान से आवृत व्यक्ति इस वात को भूल जाता है और वह अशरण रूप दुष्कर्म को शरणभूत मानकर उस मे प्रवृत्त होता है। परिणाम स्वरूप वह और अधिक दु:ख एवं कष्ट का वेदन करता है। कुछ व्यक्ति विषय-वासना का त्याग करके मुनि वनते हैं, परन्तु फिर से विषय-कषाय के वश में होकर अकेले विचरने लगते हैं। इससे उन पर आचार्य एवं गुरु आदि किसी का नियन्त्रण नहीं रहता। और अनुशासन के अभाव मे उनके जीवन मे कषायों—क्रोध, मान, माया, लोभ एव विषयों की अभिवद्धि होती है। वह गुप्त रूपसे पाप कर्म मे प्रवृत रहता है। और परिणाम स्वरूप वह पतन के गर्त में

गिरता है।

अज्ञान के कारण ही कुछ व्यक्ति अधर्म एवं पापकार्यों को धर्म स्वरूप समझते हैं। दुराग्रह के कारण वे धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयास नहीं करते। या यों कहिए कि वे अपनी स्वार्थ साधना एवं मिथ्या प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए धम के यथार्थ स्वरूप को स्वीकार नहीं करके, अधर्म को ही धर्म का चोला पहनाकर स्वयं पाप कम में प्रवृत्तहोते हैं और जनता को भी उस मार्ग पर प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करते हैं। इस तरह ऐसे व्यक्ति विषय-कषाय एव अन्य पाप कर्मों को करने में प्रवीण होते हैं। और भोली-भाली जनता के मन मे तर्क के द्वारा अधर्म को धर्म बनाने में भो चतुर होते हैं। परन्तु वे धर्माचरण से सदा विमुख रहते हैं। वे अज्ञान या अविद्या के द्वारा ही मोक्ष मानते हैं। ऐसे व्यक्ति धर्म के स्वरूप को नहीं जानते। अत परिणाम स्वरूप वे चार गति ससार में परिभ्रमण करते हैं। ऐसे आचरणनिष्ठ व्यक्तियों के संसार का अन्त नहीं हो सकता।

प्रस्तुत सूत्र में जो यह बताया गया है कि अकेले साधु के जीवन में विषय-कषाय की अभिवृद्धि होती है। वह विषय-वासना एवं प्रकृति की विषमता के कारण पृथक् हुए साधु की अपेक्षा से कहा गया है, न कि सभी साधुओं के लिए। क्योंकि कुछ साधक अकेले रहकर भी अपना आत्मविकास करते हैं और आगमकार भी उन्हें अकेले विचरने की आज्ञा देते हैं दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में एकाकी विहार समाचारी का विस्तार से वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि भिक्षु प्रतिमा स्वीकार करने के लिए, जिनकल्प पर्याय को ग्रहण करने के लिए, या किसी विशेष परिस्थितिवश मुनि गुरु एवं संघ के आचार्य की आज्ञा लेकर अकेला विचरता है, तो वह अपने आत्म गुणों में अभिवृद्धि करता है। अतः आचाराङ्ग सूत्र का यह पाठ उन मुनियों के लिए है, जो विशेष साधना एवं किसी विशिष्ट कारण के विना ही गुरु आदि की आज्ञा लिए विना ही अपनी प्रकृति की विषमता से या विषय-वासना से प्रेरित होकर अकेले विचरते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में जो "एतेसु चेव आरंभ जीवी" पाठ दिया है। वृत्तिकार ने उसकी व्याख्या इस प्रकार की है-"एतेषु सावद्यारम्भ प्रवृत्तेषु गृहस्थेषु शरीरयापनार्थं वर्तमानस्तीर्थिक. पार्श्वस्थादिर्वा 'आरंभजीवी' सावद्यानुष्ठानवृत्ति. पूर्वोक्त दुःखभाग् भवति ।' अर्थात् गृहस्थ आदि मे जो सावद्यवृत्ति होती है, उसका परिणाम दुःखप्रद होता है।

"इत्थ वि बाले परिपच्चमाणे रमइ" को व्याख्या करते हुए लिखा है—"अत्र अस्मिन्नप्यर्हत्प्रणीतसंयमाभ्युपगमे बालो रागद्वेषाकुलित. परितप्यमान. परिपच्यमानो वा विषयपिपासया रमते" अर्थात्—अर्हत् भगवान के शासन मे दीक्षित होकर भी कोई

कोई अज्ञानी व्यक्ति विषय-कषाय के वश पाप कर्म मे रमण करते हैं। प्रस्तुत सूत्र में 'रमइ रमते' वर्तमान कालिक क्रिया के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार के समय में भी ऐसे व्यक्ति रहे हों। 'इत्यादि पाठ से भी यह ध्वनित होता है और ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि मोह कर्म की उदय में आने वाली उत्तर प्रकृतियों के कारण उस युग में भी संयम से पथ भ्रष्ट होना सभव हो सकता है।

'माणव' शब्द से यह स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य ही मोक्ष की सम्यक् साधना कर सकता है अन्य योनि से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

'अविज्जाए पलि मुक्खमाहु' का तात्पर्य है कि जो अज्ञानी व्यक्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप विद्या से विपरीत अविद्या के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं, वे धर्म तत्त्व से अनभिज्ञ हैं।

तिबेमि का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

पंचम अध्ययन—लोकसार

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में मुनित्व की साधना से दूर रहे हुए व्यक्तियों के विषय में वर्णन किया गया था। प्रस्तुत उद्देशक में उन साधकों के जीवन का विवेचन किया गया है, जो मुनित्व की साधना में संलग्न रहते हैं। मुनि कौन हो सकता है? इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आवन्ती केयावन्ती लोए अणारम्भजीविणो तेसु, एत्थोवरए तं झोसमाणे, अयं संधीति अदक्खू, जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणेत्ति अन्नेसी एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, उट्ठिए नो पमायए, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, पुढोछंदा इह माणवा पुढो दुक्खं पवेइयं से अविहिंसमाणे अणवयमाणे, पुट्ठो फासे विपणुन्नए ॥१४७॥

छाया—यावन्तः केचन लोके अनारम्भजीविनः तेषु अत्रोपरत तत् झोपयन् अयं सन्धिरिति अद्राक्षीत् योऽस्य विग्रहस्य अयं क्षण इति अन्वेषी एष मार्गः आर्यैः प्रवेदितः उत्थितः न प्रमादयेत् ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं सातं पृथक् छन्दा इह मानवाः पृथग् दुःखं प्रवेदितं स अहिंसन् अनपवदन् स्पृष्टः स्पर्शान् विप्रणोदयेत्—विप्रेरयेत्।

पदार्थ—आवंती—जितने। केयावंती—कितने एक। लोए—लोक मे। अणारम्भजीविणो—आरम्भ से रहित आजीविका करने वाले। तेसु—उन आरम्भ युक्त गृहस्थो मे अनारम्भ जीवी होते हैं, तथा। एत्थोवरए—इस सावद्यारम्भ से उपरत है। त—उस सावद्यारम्भ से आये हुए पाप कर्म को। झोसमाणे—क्षय करता हुआ मुनि भाव धारण करता है। अयं—यह। संधीति—अवसर इस प्रकार। अदक्खू—देखे। जे—जो। इमस्स—इस। विग्गहस्स—औदा-

रिक शरीर तथा। अयं यह। खणेत्ति—क्षण। अन्नेसी—इनके अन्वेषण करने वाला, सर्वत्र ही अप्रमत्त होता है। एस—यह। मग्गे—मार्ग। आरिएहिं—आर्यों-तीर्थंकरो द्वारा। पवेइए—प्रवेदित-प्रतिपादित है। उट्ठिए—धर्म ग्रहण करने में उद्यत हुए। नोपमायए—प्रमाद न करे, किन्तु। जाणित्तु—जान कर। दुक्ख—दु ख और उसके कारण कर्म तथा। पत्तेय—प्रत्येक-प्राणी की। सायं—साता को। इह—इस ससार में। पुढो—अलग-अलग। छदा—अभिप्राय है। माणवा—नाना प्रकार के अध्यवसाय वाले मनुष्य हैं। पुढो—पृथक् पृथक्। दुक्ख—दुःख प्राणियो का। पवेइयं—कथन किया गया है। से—वह। अविहिंसमाणे—हिंसा न करता हुआ। अणवयमाणे—असत्य न बोलता हुआ-हे शिष्य तू अनारम्भ जीवी को देख। फासे—शीतोष्ण स्पर्शो व परीषहो को। पुट्ठो—स्पर्शित हुआ। विपणुन्नए—नाना प्रकार की भावनाओ द्वारा उन कष्टो को सहन करे, किन्तु व्याकुल न होवे।

मूलार्थ—जितने भी लोक मे अनारम्भजीवी साधु हैं, गृहस्थो से आहारादि लेकर अनारम्भो जीवन व्यतीत करते है, वे सावद्यकर्म से उपरत है, पाप कर्म को क्षय करते हुए साधुमार्ग को ग्रहण करते है। हे शिष्य! तू इस अवसर को देख, जो इस शरीर के स्वरूप को जानता है, वह अवसर का अन्वेषण करने वाला है। यह मार्ग तीर्थंकर वा गणधरो द्वारा कथित है। सयम मे उद्यत हुए प्राणो को प्रत्येक प्राणी के सुख दु.ख को जानकर प्रमाद नही करना चाहिए। जीवो के पृथक् २ अभिप्राय है, पृथक् २ मानवो के अध्यवसाय है, पृथक् २ प्राणियो का दुःख कथन किया गया है। वह अनारम्भ जीवो किसी की हिंसा न करता हुआ, असत्य न बोलता हुआ, शोतोष्ण परिषहो के स्पर्शित होने पर उन कष्टो को सम्यग् रूप से सहन करता है किन्तु व्याकुल नही होता, क्योकि वह सम्यगदर्शन से युक्त है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे मुनि जीवन का विश्लेषण किया गया है। मुनि के लिए आगम मे बताया गया है कि पूर्णत हिंसा का त्यागी होता है। अत. लोक में जितने भी प्राणी हैं, उनमे मुनि का आचार विशिष्ट है। क्योंकि असंयत प्राणियों का जीवन आरम्भ से युक्त होता है, परन्तु मुनि का जीवन अनारम्भी—आरम्भ से रहित होता है। वह किसी भी स्थिति—परिस्थिति मे आरम्भ-हिसा का सेवन नहीं करता। उसके तीन करण और तीन योग से हिंसा करने का त्याग होता है। वह मन, वचन

और काय से न तो किसी प्राणी की हिंसा करता है, न दूसरे व्यक्ति से हिंसा कराता है और न किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा की गई हिंसा का अनुमोद समर्थन ही करता है।

वह गृहस्थ की निश्रा—गृहस्थ के अधिकार में रहे हुए उसके मकान में उसकी आज्ञा से रहता है। फिर भी उसके अनुशासन को मानकर नहीं चलता। उसकी निश्रा में रहते हुए भी वह आरम्भ की ओर प्रवृत्त नहीं होता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह गृहस्थ की आज्ञा से उसके मकान में रहते हुए भी ऐसा आहार— पानी, वस्त्र— पात्र, तख्त आदि आवश्यक साधन-सामग्री स्वीकार नहीं करता, जिसमें उसके लिए आरम्भ—समारम्भ किया गया हो। वह स्वतन्त्ररूप से आहार आदि लाने के लिए जाएगा और अपनी साधु मर्यादा के अनुरूप शुद्ध सात्त्विक एवं एषणिक आहार को ग्रहण करेगा। इस प्रकार वह अपनी समस्त क्रियाएं स्वयं विवेक पूर्वक करता है और अपने जीवन के लिए किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देता। इस लिए उसकी समस्त क्रियाएँ निष्पाप होती हैं। वह पाप कर्म का क्षय करता हुआ मुनि भाव में विचरण करता है।

वह इस बात को जानता है कि यह मार्ग ही प्रशस्त है, सब दु.खों से मुक्त करने वाला है। क्योंकि यह मार्ग तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट है। इस लिए यह मार्ग सब के लिए क्षेमकर है इस मार्ग में किसी भी प्राणी को संक्लेश उत्पन्न नहीं होता। मुनि अपने हित के साथ प्राणी मात्र के हित का ध्यान रखता है। वह अपने मन वचन और शरीर से किसी भी प्राणीको कष्ट नहीं पहुंचाता। प्रत्येक प्राणी के प्रति अनुकंपा एवं दया का भाव रखता है। अत यह मार्ग सर्व श्रेष्ठ एवं प्राणीजगत के लिए हितप्रद है।

निष्कर्ष यह है कि यह मार्ग प्रशस्त है। परन्तु प्रशस्त के साथ कठिन भी है। इस लिए इस मार्ग पर चलने के लिए उद्यत हुए व्यक्ति को पूरी सावधानी रखनी होती है। अत. आगम में मुनि को विवेक पूर्वक एवं अप्रमत्त भावसे क्रिया करने का आदेश दिया गया है। मुनि को प्रत्येक कार्य विवेक, यत्ना एवं अप्रमत्त भाव से करना चाहिए। जिससे किसी भी प्राणी को कष्ट एवं पीड़ा न हो अत· साधक के लिए त्याग करना आवश्यक है*। क्योंकि अयत्ना पूर्वक चलने वाला, खड़ा रहने वाला, बैठने वाला, खाने वाला, बोलने वाला, शयन करने वाला, प्राण-भूत जीव, सत्त्व की हिंसा करता है, पाप कर्म का बन्ध करता है। जिस से वह कटु फल को प्राप्त करता है। इससे स्पष्ट है कि अयत्ना एवं प्रमाद पूर्वक की जाने वाली क्रिया से पाप कर्म का बन्ध होता है। और विवेक पूर्वक अप्रमत्त भाव से की जाने वाली क्रिया से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता।

* दशवैकालिक सूत्र..४, १, ६

अतः मुनि को प्रत्येक समय प्रमाद का त्याग करके अप्रमत्त भाव से साधना में संलग्न रहना चाहिए। और किसी भी स्थिति में आरम्भ का सेवन नहीं करना चाहिए। प्रतिकूल एव अनुकूल परीषह उत्पन्न होने पर भी अपने पथ से विचलित नहीं होना चाहिए। कष्ट के समय भी उसे आरम्भ का सेवन नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह आर्योपदिष्ट मार्ग बार-बार नहीं मिलता। इस लिए प्राप्त हुए अवसर को सफल बनाने के लिए साधक को अपनी पूरी शक्ति लगा देनी चाहिए।

अब प्रश्न होता है कि आए हुए परीषहों को सहन करने से किस गुण की प्राप्ति होती है? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एस समिया परियाए वियाहिए, जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं उदाहु ते आयंका फुसंति, इति उदाहु धीरे ते फासे पुट्ठो अहियासइ, से पुव्विपेयं पच्छापेयं भेउरधम्मं विद्धंसणधम्ममधुवं अणिइयं असासयं चयावचइयं विप्परिणामधम्मं पासह एयं रूव-संधिं ॥१४८॥

छाया—एष सम्यक् (शमिता) पर्यायः व्याख्यातः ये असक्ताः पापेषु कर्म्मसु कदाचित् तान् आतंकाः स्पृशन्ति इति उदाहृतवान् धीरः तान् स्पर्शान् स्पृष्टः सन् अध्यासयेत् पूर्वमप्येतत् पश्चादप्येतद् भिदुरधर्मं, विध्वंसनधर्म-मध्रुवं, अनित्यं, अशाश्वतं, चयापचयिकं, विपरिणामधर्म्मं पश्यतैनं रूप-संधिम्।

पदार्थ—एस समिया – यह (मुनि) परीषहो को सहन करने वाला। परियाए—और सम्यक् प्रवज्या से युक्त। वियाहिए—कहा गया है। अब रोग के उत्पन्न होने पर सहिष्णुता रखने वाले साधक के सम्बन्ध मे कहते हैं। उदाहु—तीर्थंकरो ने इस प्रकार कहा है, कि। जे—जो। पावेहिं – पाप कर्मों मे। असत्ता—आसक्त नही हैं। ते – ऐसे मुनियो को। आयं-का – आतक--रोग। फुसंति—स्पर्श करता है। इति उदाहु—तब उनके सम्बन्ध में कहते हैं कि। धीरे – वे धैर्यवान पुरुष। ते – उन। फासे पुट्ठो—रोगादि के स्पर्श होने पर वह। अहियासइ—

सम्यक्तया सहन करे। से—वह रोग आदि से पीडित मुनि यह सोचे कि। पुव्विंपेय—मैंने पहिले भी रोगादि के दु.खो को सहन किया था। पच्छापेय—बाद में भी होने वाला रोगादि का दु ख मुझे ही सहन करना है, फिर-यह औदारिक शरीर। भिउरधम्मं—भेदेन धर्म—स्वभाव वाला है। विद्धंसण—विध्वंस होने वाला है। अधुव—अध्रुव है। अणिइय—अनित्य है। असासय-अशाश्वत है। चयावचइयं—चय-उपचय वाला है। विप्परिणामधम्म-विपरिणाम धर्म वाला है, अत.। एयं रूवसंधि—इस अमूल्य अवसर को। पासह—देख अर्थात् इस शरीर की स्थिति पर विचार करके रोग आदि दु खो एव परीषहो को समभाव पूर्वक सहन कर।

मूलार्थ—जो साधक पाप कर्म मे आसक्त नही है, ऐसे चारित्रनिष्ठ साधक को मुनि कहा गया है। उसके लिए तीर्थंकरो ने कहा है कि वह धैर्यवान साधक रोग आदि के उत्पन्न होने पर उन्हे समभाव पूर्वक सहन करता है। वह सयमी पुरुष ऐसा सोचता-विचारता है कि यह रोग मैंने पहिले भी सहन किया था। और पीछे भी मुझे सहन करना ही है। यह शरीर स्थायी रहने वाला नही है। यह विध्वंस-नष्ट होने वाला है। यह अध्रुव, अनित्य अशाश्वत है, ह्रास और अभिवृद्धि वाला है। अतः ऐसे नाशवान् शरीर पर क्या ममत्व करना? इस तरह शरीर के स्वरूप एव प्राप्त हुए अमूल्य अवसर को देखो।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधक को कष्ट सहिष्णु बनने का उपदेश दिया गया है। औदारिक शरीर रोगों का आगार स्थल है। जब तक पुण्योदय रहता है, तब तक रोग भी दबे रहते हैं। परन्तु असातावेदनीय कर्म का उदय होते ही अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अत शरीर मे रोग एव वेदना का उत्पन्न होना सरल है। क्योंकि औदारिक शरीर ही रोगो से भरा-हुआ है। इस लिए रोगों के उत्पन्न होने पर साधक को आकुल-व्याकुल नहीं होना चाहिए। उन्हें अशुभ कर्म का फल जानकर समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। उस समय साधक को यह सोचना चाहिए कि पहिले भी मैंने रोगो के कष्ट को सहन किया है और अब भी उदय मे आए हुए वेदनीय कर्म को वेदना ही होगा। अत हाय-हाय करके अशुभ कर्म का बंध क्यों करूं? यह वेदना मेरे कृत कर्म का ही फल है। अत समभाव पूर्वक ही सहना चाहिए, यह शरीर सदा स्थायी रहने वाला नहीं है। यह प्रतिक्षण बदलता रहता है। यह अध्रुव है, अशाश्वत है, अनित्य है, ह्रास एव अभिवृद्धि वाला

है। अत इसके लिए इतनी चिन्ता क्यों करनी चाहिए ? इस तरह धैर्य के साथ कष्ट एवं वेदना को सहकर अशुभ कर्म नष्ट कर दे और आगे पाप कर्म का बन्ध नहीं होने दे।

मुनि जीवन का उद्देश्य है—समस्त कर्म बन्धनों को तोड़ कर निष्कर्म बनना। अत मुनि को सदा-सर्वदा इस शरीर एवं जीवन को अनित्य समझकर अपने आत्म-विकास मे संलग्न रहना चाहिए। यह सत्य है कि शरीर आत्मविकास का साधन है। अत. साध्य की सिद्धि के लिए साधन को भी व्यवस्थित रखना चाहिए। परन्तु यह हमेशा ध्यान मे रखना चाहिए कि साधन का महत्त्व साध्य सिद्धि के लिए है। यदि उसका उपयोग अपने लक्ष्य को साधने मे नहीं हो रहा है, तो फिर उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता है। अत. शरीर का ध्यान भी संयम साधना के लिए है, न कि शरीर पोषण के लिए। इस लिए रोगादि कष्टों के उपस्थित होने पर साधक को उस के लिए आर्त, रौद्र ध्यान नहीं करना चाहिए। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह स्वस्थ होने का भी प्रयत्न न करे। साधक शारीरिक स्वास्थ्य लाभ के लिए निर्दोष औषध आदि का उपयोग कर सकता है, परन्तु साथ में मानसिक, आत्मिक स्वस्थता को बनाए रखते हुए। इसका तात्पर्य इतना ही है कि उस रोग से उसके मन मे, विचारों में एव आचार मे किसी तरह की विकृति न आए। महावेदना का प्रसग उपस्थित होने पर भी धैर्य एवं सहिष्णुता का त्याग नहीं करे। हर परिस्थिति मे वह आत्म चिन्तन मे सलग्न रहने का प्रयत्न करे। इससे पूर्व मे बन्धे हुए कर्मों का क्षय होगा और अभिनव कर्मों (पाप कर्म) का बन्ध नहीं होगा। इस तरह वह एक दिन निष्कर्म बन सकेगा। अत· समभाव पूर्वक परिषहों एवं कष्टों को सहन करने से वह एक दिन सपूर्ण एवं परिषहों कष्टों से मुक्त हो जाएगा।

इस लिए साधक को कष्ट के समय अपने मन को शरीर से हटा कर आत्म चिन्तन मे लगाना चाहिए और धैर्य के साथ कष्टों को सहने का प्रयत्न करना चाहिए। यही तीर्थंकर भगवान का उपदेश है।

इस तरह शरीर एवं आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले चिन्तन शील व्यक्ति को किस गुण की प्राप्ति होती है, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—समुप्पेहमाणस्स इक्कायणरयस्स इह विप्पमुक्कस नत्थि मग्गे विरयस्स त्तिबेमि ॥१४६॥

छाया—सम्यगुत्प्रेक्षमाणस्य एकायतनरतस्य इह विप्रमुक्तस्य नास्तिमार्गः विरतस्य, इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—समुप्पेहमाणस्स—सम्यक् प्रकार से अनुप्रेक्षा करने वाले को । इक्कायणरयस्स—ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्न त्रय में सलग्न रहने वाले को । इह विप्पमुक्कस्स--इस शरीर के ममत्व से रहित व्यक्ति को । विरयस्स—हिंसा आदि आस्रवो से निवृत्त व्यक्ति को । नत्थि मग्गे—नरकादि गतियो का मार्ग प्राप्त नही होता । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—सम्यक् प्रकार से अनुप्रेक्षा करने वाला, ज्ञान दर्शन एव चारित्र रूप रत्नत्रय का आराधक, शरीर पर ममत्व नही रखने वाला और हिंसा आदि आस्रवो से निवृत्त साधक नरकादि गतियों मे नही जाता ऐसा मै कहता हू ।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि संसार परिभ्रमण एवं नरकादि गतियों में उत्पन्न होने का कारण पापकर्म है। विषय कषाय में आसक्ति एवं हिंसा आदि दोषों में प्रवृत्ति होने से पाप कर्म का बन्ध होता है। और इस तरह विषयासक्त व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता रहता है। अत. संसार का अन्त करने के लिए आगम में हिंसा आदि दोषों से निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है।

प्रस्तुत सूत्र मे यही बताया गया है कि जो साधक रत्नत्रय की साधना में संलग्न है, शरीर एवं संयम पालन के अन्य साधनों पर ममत्व भाव नहीं रखता है और विषय-कषाय एवं हिसा आदि दोषों में आसक्त नहीं है, वह नरक, तिर्यंच आदि गतियों मे नहीं जाता।

प्रस्तुत सूत्र मे "इक्कायणरयस्स" शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसके द्वारा आत्मा को सब तरह के पापों मे रोका जाए उसे आयतन कहते हैं। यह ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्न त्रय के नाम मे प्रसिद्ध है और उस रत्नत्रय में सलग्न रहने वाले साधक को 'एकायतन रत' कहते हैं। अत: 'इक्कायणरयस्स' का अर्थ हुआ जो साधक रत्न—त्रय की साधना-आराधना मे संलग्न है।

'नत्थिमग्गे विरयस्स' का तात्पर्य यह है कि जो साध हिंसा आदि दोपों से विरक्त है, निवृत्त है उसके लिए संसार परिभ्रमण का मार्ग नहीं रह जाता है।

दोषो से निवृत्त व्यक्ति का वर्णन करके अब सूत्रकार अविरत एवं परिग्रही व्यक्ति के विषय में कहते है —

मूलम्—आवंती केयावंती लोगंसि परिग्गहावंती, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा एएसु चेव परिग्गहावंती, एतदेव एगेसिं महब्भयं भवइ, लोगवित्तं च णं उवेहाए, एए संगे अवियाणओ ॥१५०॥

छाया—यावन्तः केचन लोके परिग्रहवन्तः तदल्प वा बहुं वा अणुं वा स्थूलं वा चित्तवद् वाचित्तवद् वा एतेष्वेव परिग्रहवन्तः एतदेव एकेषा महाभयं भवति लोकवित्तं च [वृत्तम्] उत्प्रेक्ष्य एतान् संगानविजानतः।

पदार्थ—आवंती—जितने। केयावंती—कितनेक। लोगंसि — लोक मे। परिग्गहावंती—परिग्रह वाले हैं। से—वह-द्रव्य। अप्पं—अल्प। वा—अथवा। बहुं—बहुत। वा—अथवा। अणुं—छोटा मूल मे वा भार में। वा—अथवा। थूलं—स्थूल। बा—अथवा। चित्तमत—चेतना वाला। वा—अथवा। अचित्तमतं—चेतना से रहित। वा—परस्पर अपेक्षा मे है। एएसु—इस परिग्रह मे गृहस्थो के समान साधु भी हो जाते हैं-यदि वे परिग्रह से युक्त हो तो। च—पुन। एव—अवधारणार्थ मे जानना। परिग्गहावती—वे भी परिग्रह वाले ही होते हैं। एतदेव—इसी परिग्रह में भी। एगेसिं—बहुतो को। महब्भय—महाभय। भवइ—होता है। च—पुन। ण—वाक्यालकार अर्थ में हैं। लोगवित्तं—असयत्त लोक में वित्त-धन-वा लोकवृत्त, आहार, भय, मैथुन परिग्रह आदि। उवेहाए—विचार कर (इनका परित्याग करे) तथा। एए—इन अल्प परिग्रह आदि के। सगे—सग को। अवियाणओ—न जानता हुआ।

मूलार्थ—लोक मे कितनेक परिग्रह वाले होते है, वह परिग्रह अल्प बहुत स्थूल, अणु, सचित्त और अचित (चेतना वाला वा चेतना रहित) 'रूप से अनेक प्रकार का है' त्यागी-मुनि-विरत भी यदि मूर्छायुक्त हो तो वे भी परिग्रह वाले हो होते है, इसी परिग्रह मे कितनेक जीवो को महाभय होता है, अतः लोक वित्त का विचार करके इसका परित्याग करे, इस परिग्रह के सग का त्याग करता हुआ भययुक्त नही होता।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे भय का कारण वताते हुए कहा गया है कि संसार मे जितने भी

भय हैं, वे सब परिग्रही व्यक्ति को हैं। जब प्राणी पदार्थों एवं शरीर पर आसक्ति एवं ममत्वभाव रखता है, तो उसे कई तरह की चिन्ताएं लग जाती हैं। वह रात-दिन चिन्तित, सशंक एवं भयभीत सा रहता है। किन्तु अपरिग्रही मुनि को किसी तरह की चिन्ता एवं भय नहीं होता। यहां तक कि मृत्यु के समय भी वह निर्भय रहता है। क्योंकि शरीर पर भी उसे ममत्वभाव नहीं है। वह शरीर को केवल संयम साधना का साधन मानता है और साथ में वह यह भी जानता है कि यह नष्ट होने वाला है। अतः उसके नाश होने के समय उसे न चिन्ता होती है और न भय ही होता है। परन्तु साधु बनने के पश्चात् भी जो शरीर पर एवं अन्य साधनों पर ममत्वभाव रखते हैं, वे भय से मुक्त नहीं होते और ऐसे साधक परिग्रह से भी सर्वथा मुक्त नहीं होते।

इससे स्पष्ट है कि भय का मूल कारण परिग्रह है। उसकी आसक्ति के कारण मानव मन में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास का भाव उद्बुद्ध होता है और इसी कारण वह सदा भयभीत रहता है। चाहे परिग्रह परिमाण में थोड़ा हो या बहुत, वह एक दूसरे के मन में शंका-सन्देह एवं भय को जन्म देता है और दो दिलों के बीच में भेद की दीवार खड़ी कर देता है। इस लिए आगम में मुनि के लिए परिग्रह का सर्वथा त्याग करना अनिवार्य कहा गया है।

परिग्रह भी दो प्रकार का है—द्रव्य और भाव। भाव परिग्रह—मूर्छा, आसक्ति आदि है। द्रव्य परिग्रह भी लौकिक वित्त और लोकवृत्त के भेद से दो प्रकार का माना गया है। धन-धान्य आदि परिग्रह लौकिक वित्त में गिना गया है। और आहार संज्ञा, भय भय संज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा आदि परिग्रह लोकवृत्त में माना गया है। सभी तरह का परिग्रह भय का कारण है। इस लिए मुनि को परिग्रह मात्र का त्याग करके निर्भय बनना चाहिए। अतः साधु के लिए थोड़ा या बहुत परिग्रह त्याज्य है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

मूलम्—से सुपडिबद्धं सूवणीयंति नच्चा पुरिसा परमचक्खू विपरिक्कमा, एएसु चेव बंभचेरं तिबेमि, से सुयं च मे अज्झत्थियं च मे—बन्धपमुक्खो अज्झत्थेव, इत्थ विरए अणगारे दीहरायं तितिक्खए, पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्तो परिव्वए, एयं मोणं सम्मं अणुवासिज्जासि त्तिबेमि ॥१५१॥

छाया—नस्य सुप्रतिबद्ध सूपनीतमिति ज्ञात्वा हे पुरुष! परम चक्षुः! पराक्रमस्व एतेष्वेव ब्रह्मचर्यमिति ब्रवीमि तच्छ्रुतं च मया अध्यात्मं च मया बन्ध प्रमोक्षः अध्यात्मन्येव अत्र विरतः अनगारः दीर्घरात्रं तितिक्षेत् प्रमत्तान् बहिः पश्य! अप्रमत्तः परि जेत् एतन्मौनं सम्यक् अनुवासयेः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह परिग्रह से विमुक्त मुनि। सुपडिबद्ध—जिसने भली प्रकार से बोध प्राप्त किया है। सूवणीयंति—भली प्रकार से ज्ञानादि प्राप्त किए हैं। नच्चा—जानकर। पुरिमा परमचक्खू—हे पुरुष! परम चक्षु! विपरिक्कमा—मोक्ष साधन मे पराक्रम कर। एएसु—ये जो परिग्रह से विरत है इनमे ही। च—पुन। एव—अवधारण अर्थ मे है। बभंचेर—ब्रह्मचर्य है। त्तिबेमि—इस प्रकार में कहता हूँ। से—वह जो कहा है। च—पुन जो कहूँगा सो वह। मे—सुय—सुना है। च—पुन.। मे—मेरे। अज्झत्थयं—अध्यात्म मे व्यवस्थित है। च—पुन.। मे—मैंने माना है। बंधपम्मुक्खो—बन्ध से प्रमोक्ष। अज्झत्थेव—अध्यात्म अर्थात् ब्रह्मचर्य से ही होता है। इत्थ—इस परिग्रह से। विरए—विरत। अणगारे—अनगार। दीहराय—जीवन पर्यन्त। तितिक्खए—परीषहों को सहन करे। पास—हे शिष्य! तू देख। पमत्ते—प्रमत्त। बहिया—धर्म से बाहिर है अत तू। अप्पमत्तो—अप्रमत्त होकर। परिव्वए—संयमानुष्ठान मे चल। एय—यही। मोणं—मुनि का मुनित्व। सम्म—सम्यक् प्रकार से। अणुवासिज्जासि—अनुपालन कर। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—ज्ञान रूप चक्षु रखने वाले हे पुरुष! तू परिग्रह के त्यागी मुनि के भला प्रकार से प्राप्त हुए सुदृढ ज्ञानादि का विचार करके तपोनुष्ठान विधि से सयम मे प्रयत्न कर! जो ये परिग्रह से विरत है इन्हीं मे ब्रह्मचर्य अवस्थित है। इस प्रकार मैं कहता हू, मैंने सुना है और मन मे निश्चय किया हुआ है कि पुरुष ब्रह्मचर्य से ही बन्धन से मुक्त हो सकता है। परिग्रह का त्यागी अनगार जीवन पर्यन्त परीषहों को सहन करे। हे शिष्य! जो व्यक्ति धर्म से बाहिर है उनको तू देख! और अप्रमत्त होकर सयम मार्ग मे विचरण कर! यही मुनि का मुनित्व है अत तू सम्यक् प्रकार विहित क्रियाओ का पालन कर।

हिन्दी विवेचन

हम देख चुके हैं कि परिग्रह आत्म विकास में प्रतिबन्धक है। जब तक पदार्थों

मे आसक्ति रहती है, तब तक आत्मिक गुणों का विकास नहीं होता। अत. निष्परिग्रही व्यक्ति ही आत्म अभ्युदय के पथ पर बढ़ सकता है। वही विषय वासना एवं दोषों से निवृत्त हो सकता है। क्योंकि जीवन मे वासना की उत्पत्ति परिग्रह-आसक्ति से होती है। पदार्थों मे आसक्त व्यक्ति ही अब्रह्मचर्य या विषय सेवन की ओर प्रवृत्त होता है। जिस व्यक्ति के जीवन में पदार्थों के प्रति मूर्छाभाव नहीं है, उसके मन मे कभी भी विषय-वासना की आग प्रज्वलित नही होती। अत परिग्रह से वासना जागृत होती है और विषय-भोग से कर्म का बन्ध होता है और परिणाम स्वरूप संसार परिभ्रमण एवं दुःख के प्रवाह मे अभिवृद्धि होती है। इस लिए मुमुक्षु पुरुष को विषय-वासना पर विजय प्राप्त करने के लिए परिग्रह अर्थात् पदार्थों पर स्थित मूर्छा-ममता, आसक्ति एवं भोगेच्छा का त्याग करना चाहिए।

विषय में आसक्त एवं प्रमत्त व्यक्ति ब्रह्मचर्य का परिपालन नहीं कर सकते। वे अपनी इच्छा, आकांक्षा एव वासना की पूर्ति के लिए विषय भोगों में संलग्न रहते हैं। उन्हें प्राप्त करने के लिए रात-दिन छल-कपट एवं आरंभ-समारंभ करते है। और फल स्वरूप पाप कर्म का बन्ध करके संसार मे परिभ्रमण करते हैं। अत. मुनि को उन प्रमत्त जीवों की स्थिति को देख कर विषय-भोगों का एवं परिग्रह का त्याग करना चाहिए।

परिग्रह से रहित व्यक्ति के मन में सदा शान्ति का सागर ठाठे मारता है। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी वह सहनशीलता का त्याग नहीं करता। यों कहना चाहिए कि उसकी सहिष्णुता मे अभिवृद्धि होती है। अत' मुमुक्षु पुरुष को निष्परिग्रही होकर विचरना चाहिए।

त्तिवेमि की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

। द्वितीय उद्देशक समाप्त ।

पंचम अध्ययन—लोकसार

तृताय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक मे अविरत और परिग्रही व्यक्तियों के जीवन का उल्लेख किया है। प्रस्तुत उद्देशक में विरत और अपरिग्रही साधक के जीकन का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आवंती केयावंती लोयंसि अपरिग्गहावंती एएसु चेव अपरिग्गहावंती, सुच्चा वई मेहावी पंडियाण निसामिया समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए जहित्थ मए संधी झोसिए एवमन्नथ संधी दुज्झोसए भवइ, तम्हा बेमि नो निहणिज्ज वीरियं ॥१५२॥

छाया—यावन्त. केचन लोके अपरिग्रहवन्तः एतेष्वेव अपरिग्रहवन्तः श्रुत्वा वाचं मेधावी पंडितानां निशम्य समतया धर्मः आर्यैः प्रवेदित. यथाऽत्र मया सन्धिः झोषितः एवमन्यत्र सन्धि दुर्झोष्यो भवति, तस्माद् ब्रवीमि नो निहन्यात् वीर्यम्।

पदार्थ—लोयंसि—इस लोक मे। आवती केयावती—जितने भी। अपरिग्गहावती—अपरिग्रही व्यक्ति हैं। च—और। एव—निश्चय ही। एएसु—इन में। अपरिग्गहावती—निष्परिग्रही व्यक्ति। मेहावी—बुद्धिमान। पडियाण—पडितो के। वई—वचन। सोच्चा—सुनकर। समियाए—समभाव से। निसामिया—हृदय में विचार कर, कि। आरिएहिं—आर्य-पुरुषो ने। धम्मे—धर्म का। पवेइए—कथन किया है, और। जहित्थ—इस ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप धर्म से। मए—मैंने। सधी झोसिए—कर्म सन्तति को क्षय किया है। एव- इस प्रकार। अणत्थ—अन्यतीथियो के मत मे। संधी—कर्म सन्तति को। दुज्झोसए—क्षय करना कठिन। भवति—होता है। तम्हा—इसलिए। बेमि—मैं कहता हूँ कि संयम परिपालन मे। वीरिय—पुरुषार्थ को। नो निहणिज्ज—गोपन नही करना चाहिए अर्थात छुपाना नही चाहिए।

मूलार्थ—इस लोक में जितने भी मनुष्य हैं, उनमें कुछ ही निष्परिग्रही व्यक्ति होते हैं। पंडितों के वचन सुनकर एवं हृदय मे विचार कर बुद्धिमान पुरुष अपरिग्रह को स्वीकार कर लेते हैं। वे सोचते हैं कि आर्य पुरुषो ने समभाव से धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। जैसे मैंने रत्नत्रय का आराधन करके कर्म का क्षय किया है, वैसे ही अन्य प्राणी भी कर्म का क्षय कर सकते हैं। क्योंकि अन्य मत-मतान्तर में कर्म का क्षय होना कठिन है। इस लिए मुमुक्षु पुरुष को संयम साधना मे पुरुषार्थ का गोपन नही करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

परिग्रह के दो भेद हैं-- द्रव्य और भाव परिग्रह। धन, धान्यादि पदार्थ द्रव्य परिग्रह में गिने जाते हैं। और मूर्छा, आसक्ति एवं ममत्वभाव को भाव परिग्रह कहा गया है। दशवैकालीक सूत्र मे परिग्रह की परिभाषा करते हुए मूर्छा को ही परिग्रह माना गया है॥। तत्त्वार्थ सूत्र में भी आगम की इसी परिभाषा को स्वीकार किया गया है†। क्योंकि द्रव्य परिग्रह की अपेक्षा भाव परिग्रह का अधिक महत्व है। यदि किसी व्यक्ति के पास धन-वैभव एवं अन्य पदार्थों का अभाव है या कमी है, परन्तु उसके मन मे परिग्रह की तृष्णा, आकांक्षा एवं ममता बनी हुई है, तो द्रव्य से परिग्रह कम या नहीं होने पर भी उसे अपरिग्रही नहीं कह सकते। वही व्यक्ति अपरिग्रही कहलाता है, जो भाव परिग्रह का त्यागी है, जिसके मन में पदार्थों के प्रति ममता, मूर्छा एवं तृष्णा नहीं है। अत. ममत्व का त्याग करना ही निष्परिग्रही बनना है। ऐसे निष्परिग्रही व्यक्ति कुछ ही होते हैं।

वे प्रबुद्धपुरुषों के वचन सुनकर और उनपर चिन्तन-मनन करके धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझते हैं। वे परिग्रह से होने वाले दुष्परिणाम को जानकर उसका त्याग करते हैं। इससे श्रुतज्ञान का महत्व बताया गया है, क्योंकि श्रुतज्ञान के द्वारा मनुष्य को पदार्थ का ज्ञान होता है, उसकी हेयोपादेयता की ठीक जानकारी मिलती है और उनके जीवनमे त्याग एवं समभाव की ज्योति जगती है। समभाव साधना का मूल है, इसी के आश्रय से अन्य गुणों का विकास होता है और आत्मा कर्मो का छेदन करके निष्कर्म बनता है। अत

॥ मुच्छापरिग्गहोवुत्तो। दशवैकालिक सूत्र, ६, २१।

† मूर्च्छा परिग्रह। तत्त्वार्थ सूत्र, ७, १७।

बुद्धिमान व्यक्ति प्रवुद्ध पुरुषों के आर्य वचन सुनकर समभाव एवं अपरिग्रह को स्वीकार करते हैं।

"समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए" का अर्थ है-यह समता रूप धर्म आर्य-तीर्थंकर भगवान द्वारा प्ररूपित है। अहिंसा अपरिग्रह आदि भी समता के ही रूप हैं। अहिंसक एव अपरिग्रही-अनासक्त व्यक्ति ही शत्रु और मित्र के प्रति समभाव रख सकता है। जिसके जीवन मे अहिंसा, दया, करुणा का अभाव है तथा पदार्थों के प्राप्त करने की अभिलाषा वनी हुई है, तो वह व्यक्ति किसी भी प्राणी के प्रति समभाव नहीं रख सकता। अत. हिंसा, परिग्रह आदि दोषों का त्यागी व्यक्ति ही समभाव की साधना कर सकता है। उसके मन मे छोटे-वडे का या शत्रु-मित्र का कोई भेद नहीं रहता। वह सव व्यक्तियों को समान भाव से कल्याण का मार्ग वताता है, उसकी उपदेश धारा मे राजा-रंक या छूत अछूत का भेद नहीं होता। वह जो वात धनवान को कहता है, वही हितकर उपदेश एक दर-दर के भिखारी को भी देता है❀। इससे स्पष्ट है कि भगवान की वाणी मे समभाव की धारा वहती रहती है। क्योंकि उनका जीवन हिंसा, परिग्रह आदि दोषों से ऊपर उठा हुआ है। और उन्हों ने हिंसा आदि दोषों के पनपेन के कारण राग-द्वेष का क्षय कर दिया है। अत हिंसा परिग्रह आदि दोषों से रहित व्यक्ति हो आर्य हो सकता है।

यह समता एव अपरिग्रह की साधना का मार्ग ऐसे आर्य पुरुषों द्वारा कहा गया है, जिन्हों ने समभाव के द्वारा कर्म वन्ध की परम्परा का उच्छेद करके निष्कर्म वनने की ओर कदम वढ़ाया है। इससे स्पष्ट है कि समभाव की साधना से जीवन मे अहिंसा, अपरिग्रह आदि आत्म गुणों का विकास होता है और पूर्व मे वन्धे हुए कर्मों का क्षय होकर आत्मा निष्कर्म वन जाता है। कर्म क्षय का यह मार्ग अन्य मत मतान्तर मे नहीं मिलता क्योंकि अन्य मत-मतान्तर मे पूर्ण अहिंसा एव अपरिग्रह की साधना को स्वीकार नहीं किया गया है। अत उसके विना जीवन मे समभाव नहीं आता और समभाव के विना कर्म का क्षय नहीं होता। इस दृष्टि से कहा गया है कि अन्य मत-मतान्तर मे वताई गई साधना से कर्म परपरा का नाश होना दुष्कर है।

इस लिए साधक को अपरिग्रह की साधना मे प्रमाद नहीं करना चाहिए। और सयम का पालन करने मे अपनी शक्ति का गोपन नहीं करना चाहिए। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे पुव्वुट्ठाई नो पच्छानिवाई, जे पुव्वुट्ठाई

❀ जहा पुणस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ।

पच्छानिवाई, जे नो पुव्वुट्ठाई नो पच्छानिवाई, सोऽवि तारिसिए सिया, जे परिन्नाय लोगमन्नेसयंति ॥१५३॥

छाया—यः पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती, यः पूर्वोत्थायी पश्चान्निपाती, यो नो पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती, सोऽपि तादृश एव स्याद् ये परिज्ञाय लोकमन्वेपयन्ति।

पदार्थ—जे—जो। पुव्वुट्ठाई—पहिले त्याग-वैराग्य भाव से संयम साधना के लिए उद्यत होता है। नो पच्छानिवाई—वह पीछे सयम मार्ग से पतित नहीं होता। जे—जो। पुव्वुट्ठाई—पहिले तो त्याग-वैराग्य से संयम स्वीकार करता है, परन्तु। पच्छानिवाई—पीछे पथ भ्रष्ट हो जाता है। जे—जो। नो पुव्वुट्ठाइ—पहिले त्याग-वैराग्य से सयम नही लेता। नो पच्छानिवाई—पीछे पतित भी नहीं होता। सोऽवि—वह भी। तारिसिए—गृहस्थ के तुल्य ही। सिया—है। जे—जो। परिन्नाय—परिज्ञा से जानकर। लोगं—लोक को। अन्नेसयंति—अन्वेषण करते हैं अर्थात् लोकैपणा में निमग्न हैं, वे भी गृहस्थ के तुल्य हैं।

मूलार्थ—कुछ व्यक्ति ऐसे है, जो त्याग वैराग्य के साथ सयम साधना को स्वीकार करते हैं और स्वीकार करने के पश्चात् भी उसी निष्ठा के साथ उसका पालन करते है। अर्थात् साधना पथ से च्युत नही होते (गणधरवत्) कुछ व्यक्ति पहिले तो वैराग्य से दीक्षित होते है; परन्तु पीछे से पथ भ्रष्ट हो जाते है (नन्दीषेण मुनि की तरह)। यहां तीसरे भग का अभाव होने से उसका उल्लेख नही किया है। कुछ व्यक्ति न त्याग-वैराग्य से सयम लेते हैं और न पीछे पतित ही होते हैं। उनमे सम्यक् चारित्र का अभाव होने से उन्हे गृहस्थ तुल्य कहा है। शाक्यादि अन्य मत के साधुओ को भी चौथे भग मे समाविष्ट किया है। कुछ व्यक्ति ज्ञपरिज्ञा से जानकर दीक्षित होने पर भी लोक के आश्रित रहते है और लोकैपणा मे सलग्न रहते है, इसलिए उन्हें गृहस्थ के समान कहा गया है। तात्पर्य यह है कि भाव चारित्र के अभाव में साधु वेश होने पर भी उन्हे भाव से गृहस्थ जैसा ही कहा गया है, क्योंकि वे गृहस्थ की तरह आरभ-समारंभ मे सलग्न रहते है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे विचार-चिन्तन की विचित्रता का दिग्दर्शन कराया गया है। कुछ व्यक्ति जीवन में त्याग-वैराग्य की भावना लेकर साधना पथ पर चलने को उद्यत होते है और प्रतिक्षण त्याग-वैराग्य को बढ़ाते चलते है। साधना के प्रारंभ समय से लेकर जीवन के अन्तिम क्षण तक वे दृढ़ता के साथ संयम मे स्थिर रहते हैं। गणधरों की तरह उनकी साधना मे उत्तरोत्तर उज्वलता एवं तेजस्विता आती रहती है। इस तरह से प्रतिक्षण विकास करते हुए अपने साध्य को सिद्ध कर लेते है।

कुछ व्यक्ति त्याग वैराग्य की ज्योति लेकर दीक्षित होते हैं। प्रारभ मे उनके विचारों मे तेजस्विता होती है, परन्तु पीछे परीपहों के उत्पन्न होने पर मन विचलित हो उठता है। साधना की ज्योति धूमिल पड़ने लगता है। उनके विचारों मे शिथिलता आने लगती है। और वे पतन की ओर लुढ़कने लगते हैं। शारीरिक एवं मानसिक आराम के प्रबल झोकों के सामने त्याग-वैराग्य की घनघोर घटाएं स्थिर नहीं रह पाती। इस तरह कष्ट सहिष्णुता की कमी के कारण वे साधना पथ पर स्थित नहीं रह सकते हैं। परीषहों के उपस्थित होते ही पथ भ्रष्ट हो जाते हैं।

त्याग-वैराग्य भाव से संयम ग्रहण करना और अन्तिम क्षण तक उसका दृढ़ता से परिपालन करना प्रथम भंग है। संयम का ग्रहण करके पीछे से उसका त्याग कर देना दूसरा भग है। पहिले सयम ग्रहण न करके पीछे से उसका पालन करना, यह तीसरा भग वनता है। परन्तु ऐसा हो नहीं सकता। क्योंकि संयम का पालन एवं त्याग पहिले संयम स्वीकार करने पर ही घटित हो सकते हैं। परन्तु जिसने संयम को स्वीकार ही नहीं किया है, उसके पीछे से सयम पालन का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अत तीसरा भग नहीं वनता है। इस लिए सूत्र मे तीसरे भंग का उल्लेख नहीं किया गया है।

चतुर्थ भंग मे न संयम का ग्रहण होता है और न त्याग का ही प्रश्न होता है। त्याग का प्रश्न ग्रहण करने पर ही उपस्थित होता है, जो विद्यार्थी परीक्षा मे बैठता ही नहीं उसके उत्तीर्ण और अनुत्तीर्ण होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी तरह जिस ने सयम को स्वीकार ही नहीं किया है, उसके लिए सयम के पालन एवं त्याग का प्रश्न ही नहीं उठता। इस भंग मे गृहस्थ को लिया गया है, और उन साधुओं को भी इसी भंग मे समाविष्ट किया गया है जो विना भाव के साधु वेश को स्वीकार करते है और रात-दिन आरभ-समारंभ मे संलग्न रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि संयम भाव से रहित समस्त साधु-सन्यासियों को इसी भग मे गिना गया है और इन्हें गृहस्थ के तुल्य कहा गया है। क्योंकि द्रव्य से साधु कहलाते हुए भी रात-दिन गृहस्थ की तरह आरभ-समारभ मे

लगे रहने के कारण भाव से संयम हीन होने से गृहस्थ की श्रेणी में ही रखे गए हैं।

यह कथन स्वबुद्धि से नहीं, वलिक तीर्थंकरों द्वारा किया गया है। इस वात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एयं नियाय मुणिणा पवेइयं, इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, पुव्वावररायं जयमाणे, सयासीलं सुपेहाए सुणिया भवे अकामे अझंझे इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ॥१५४॥

छाया—एतद् ज्ञात्वा मुनिना प्रवेदितं इह आज्ञाकांक्षी पण्डितः अस्निहः पूर्वापररात्रं यतमानः सदाशीलं सम्प्रेक्ष्य श्रुत्वा भवेत् अकामः अझञ्झः अनेनैव युध्यस्व किन्ते युद्धेन बाह्यतः।

पदार्थ—एयं—यह यत्नादिक। नियाय—केवलज्ञान से जान कर। मुणिणा—तीर्थंकरा देव ने। पवेइय—कथन किया है। इह—इस मौनीन्द्र प्रवचन मे स्थित। आणाकंखी—आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने वाला। पडिए—सदसत् का विवेकी। अणिहे—स्नेह रहित। पुव्वावररायं—रात्रि के पहिले और पिछले पहर में। जयमाणे—सदाचार का आचरण करेने वाला अर्थात् ध्यान-आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करने वाला। साया—सदा। सील—शील को। सुपेहाए—विचार कर, उसका पालन करे। सुणिय। सुनकर—शील सप्रेक्षण के फल को सुनकर, तथा कदाचार के फल को सुनकर। अकामे—इच्छा अथच मदन—काम भोगादि से रहित। अझझे—माया और लोभादि से रहित। भवे—होवे। च परस्पर सापेक्षार्थ है। एव—अवधारणार्थ मे। इमेण—इस औदारिक शरीर के साथ। जुज्झाहि—युद्ध कर। किं—क्या है। ते—तुझे। बज्झाओ—वाहिर के जुज्झेण—युद्ध से।

मूलार्थ—तीर्थंकर देवने का उक्त विषय केवलज्ञान के द्वारा अवलोकन करके कथन किया है। इस जिन शासन मे स्नेह रहित आगमानुसारि क्रिया-नुष्ठान करने वाला पंडित-विचार शील पुरुप रात्रि के पहिले और पिछले पहर मे यत्न करने वाला तथा सदैवकाल शील को विचार कर उसके अनुसार चलने वाला, शील और कदाचार के फल को सुनकर-हृदय मे विचार

कर, इच्छा, कामभोग और लोभादि रहित होवे ? हे शिष्य ! तू इस औदारिक शरीर के साथ युद्ध कर तुझे वाहिर के युद्ध से क्या प्रयोजन है ?

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र में संयम-साधना को लेकर जो भग वताए गए हैं, वे सर्वज्ञ पुरुषों द्वारा उपदिष्ट हैं। उन्हों ने अपने ज्ञान मे देखकर यह वताया है कि सयम सावना के द्वारा ही मनुष्य निष्कर्म बन सकता है। साधना मे तेजस्विता लाने के लिए प्रस्तुत सूत्र मे पांच वातें बताई गइ हैं। इन गुणों को जीवन मे उतारने वाला साधक साध्य को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। ये पाच गुण इस प्रकार हैं—१-स्नेह रहित होना, २-सदसत् का ज्ञाता होना ३-रात्रि के प्रथम और अन्तिम पहर मे अनवरत आत्म चिन्तन करने वाला होना, ४-सदा शील का परिपालक होना और ५-कामेच्छा एव लोभ-तृष्णा का त्यागी होना।

स्नेह रहित होने का तात्पर्य है—राग-द्वेष रहित होना, क्योंकि राग भाव मे मनुष्य हिताहित की भावना को भूल जाता है। राग के तीन भेद किए गए हैं—१-स्नेह राग, २-दृष्टि राग और ३-विषय राग। स्नेह राग का अर्थ है—अपने स्नेही के दोषों को भी रागवश गुण रूप मानना, उसे गल्ती करने पर भी कुछ नहीं कहना। दृष्टि राग का अर्थ है—असत्य सिद्धान्त को असत्य होते हुए भी साम्प्रदायिक राग वश सत्य मानना एवं कुतर्कों के द्वारा उसे सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना। विषय राग का अर्थ है—कामभोगों के प्रति आसक्ति रखना। ये तीनों तरह का राग संयम से दूर हटाने वाला है, अत साधक को राग भाव का परित्याग करना चाहिए।

विवेकशील व्यक्ति ही सयम का भली भाती पालन कर सकता है। जिस व्यक्ति को सदसत् का विवेक नहीं है, हेयोपादेयता का वोध नहीं है, वह संयम का पालन नहीं कर सकता। इसलिए सयम-साधना को स्वीकार करने के पहिले पदार्थों का ज्ञान होना जरूरी है। अत प्रस्तुत सूत्र मे साधक के लिए विवेक सम्पन्न होना बताया गया है।

साधक का जीवन आत्म साधना का जीवन है। वह रात दिन चिन्तन-मनन मे सलग्न रहता है। वह जंगल में रहे या शहर में, सोया हुआ हो या जागृत, चल रहा हो या वैठा हो, प्रत्येक समय आत्म साधना में लीन रहता है। भावों की दृष्टि से वह सदा आत्म चिन्तन मे सलग्न रहता है। क्योंकि एक क्षण भी आत्मा को भूलता नहीं है। परन्तु व्यवहार की दृष्टि से वह २४ घण्टे साधना नहीं कर सकता। कुछ आवश्यक कार्यों के लिए वह दिन में कुछ देर के लिए स्वाध्याय-ध्यान आदि नहीं कर पाता। इसी तरह रात मे कुछ समय विश्रान्ति के लिए आवश्यक हैं इस लिए प्रस्तुत सूत्र मे यह बताया

गया है कि मुनि रात के पहिले और अन्तिम प्रहर में निरन्तर आत्म चिन्तन करे। बीच के दो प्रहर निद्रा से मुक्त होने के लिए है। इससे मस्तिष्क को विश्राम मिल जाने से थकावट अनुभव नहीं होती, जिससे वह शेष समय आत्म चिन्तन में रह सकता है।

शील शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। अष्टादश सहस्रशीलांग रथ, संयम महाव्रतों का पालन; तीन गुप्तियों का आराधन, ५ इन्द्रिय एवं कषाय निग्रह को शील कहते हैं। इन अर्थों से शील शब्द का महत्त्व स्पष्ट परिलक्षित होता है। यह मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख साधन है। अत: साधक को शील का पालन करने में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

संयम का शुद्ध रूप से पालन करने के लिए विषयेच्छा एवं कषायों का परित्याग करना जरूरी है। विषयासक्त एवं क्रोध आदि विकारों से प्रज्वलित व्यक्ति संयम का पालन नहीं कर सकता, इस लिए साधक को समस्त विकारों का परित्याग करना चाहिए।

इस तरह विकारों पर विजय प्राप्त करके साधक निष्कर्म बनने का प्रयत्न करता है। उसे निष्कर्म बनने के लिए औदारिक शरीर से युद्ध करना पड़ता है। औदारिक शरीर से युद्ध करने का अर्थ है—शरीर बन्धन से मुक्त होकर अशरीरी बनना। यह स्थिति चार घातिकर्मों को क्षय करके जीवन के अन्त में अवशेष चार अघातिकर्मों का नाश करने पर प्राप्त होती है। अत यह युद्ध जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण है। इस में विजयी होने के बाद आत्मा सर्व कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है। अत, साधक को अप्रमत्त भाव से संयम का पालन करना चाहिए।

ऐसा अवसर एवं संयम के साधन का मिलना सुलभ नहीं है। अत: साधक को इस अवसर को व्यर्थ न खो देना चाहिए। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जुद्धारिहं खलु दुल्लहं, जहित्थ कुसलेहिं परिन्ना-विवेगे भासिए, चुए हु बाले गब्भाइसु रज्जइ, अस्सिं चेयं पवुच्चइ, रूवंसि वा छणंसि वा, से हु एगे संविद्धपहे मुणी, अन्नहा लोगमुवेहमाणे, इय कम्म परिण्णाय सव्वसो से न हिंसइ, संजमई नो पगब्भइ, उवेहमाणो पत्तेयं सायं, वण्णाएसी नारभे कंचणं

सव्वलोए एगप्पमुहे विदिसप्पइन्ने निव्विणणचारी अरए पयासु ॥१५५॥

छाया—युद्धार्हं खलु दुर्लभं यथाऽत्र कुशलैः परिज्ञाविवेकः भाषितः च्युतः खलु बालः गर्भादिषु रज्यतेऽस्मिन् चैतत् प्रोच्यते रूपे वा क्षणे वा स खलु एकः संविद्धपथः मुनिः अन्यथा लोकं उत्प्रेक्षमान इति कर्म परिज्ञाय सर्वतः स न हिनस्ति सयमयति नो प्रगल्भते उत्प्रेक्षमाणः प्रत्येकं सात, वर्णादेशा नाऽभते कंचन सर्वलोके एकात्ममुखः विदिक् प्रतीर्णः निर्विण्णचारी अरत प्रज्ञासु।

पदार्थ—खलु—अवधारण अर्थ में है। जुद्धारिह—यह औदारिक शरीर, भाव युद्ध के योग्य। दुल्लहं—दुर्लभ-मुशकिल से प्राप्त होता है। जहित्थ—जिस प्रकार से इस ससार में। कुसलेहिं—तीर्थकरो ने। परिन्नाविवेगे—परिज्ञाविवेक। भासिए—भाषण किया है-अर्थात् अध्यवसायों की विशेषता प्रतिपादन की है, बुद्धिमान को उसी प्रकार ग्रहण करना चाहिये। हु—निश्चयार्थक है। वाले—अज्ञानी जीव। चूए—धर्म से च्युत होकर। गब्भाइसु—गर्भादि मे। रज्जइ—रचता है अर्थात् गर्भादि में दुख पाता है वा गृहादि को प्राप्त करता है। अस्सि—इस अर्हत् प्रवचन में। च—समुच्चय अर्थ में है। एय—यह विषय। पवुच्चइ—प्रकर्ष से कहा गया है। रूवंसि—रूप में। वा—अथवा-अन्य इन्द्रियो के विषयो मे। छणसि—हिंसादि में। वा—अनृतादि में प्रवृत्ति करता है, अर्थात् धर्म से पतित हुआ हिंसादि में प्रवृत्ति करके फिर गर्भादि में रच जाता है, इस प्रकार अर्हत् प्रवचन में वर्णन किया गया है। से—वह जिनेन्द्र। एगे—एक अद्वितीय। मुणी—तीन लोक के जानने वाला मुनि। संविद्धपहे—जिसने मोक्ष मार्ग को सम्यक् प्रकार से सन्मुख किया हुआ है अर्थात् जिसकी गति मोक्ष मार्ग मे है। अन्नहा—अन्यथा—जो हिंसादि मे प्रवृत्ति कर रहे है इस प्रकार के। लोग—लोक को। उवेहमाणे—उत्प्रेक्षमाण-उसकी विचारना करता हुआ, तथा च आत्मा के सावद्य व्यापार की निवृत्ति की आलोचना करता हुआ, भिन्नप्रकार से विचार करता है। इय—इस प्रकार। कम्म—जो वध कर्म हैं उसको। सव्वसो—सर्व प्रकार से। परिण्णाय—ज्ञपरिज्ञा से जान कर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से प्रत्याख्यान करे अर्थात् छोड देवे। से—वह कर्म परिहर्ता मनवचन और काय से। न हिंसइ—किसी जीव की हिंसा नहीं करता किन्तु। संजमइ—पाप मे प्रवृत्त हुए आत्मा को संयमन करता है वा सत्तरा प्रकार के सयम का पालन करता है। नोपगब्भइ असयम प्रवृत्ति मे धृष्टता नही करता अर्थात् लज्जा शील है, किन्तु। उवेहमाणे—विचार करता हुआ विचरता

है। पत्तेयं—प्रत्येक प्राणी को। साय—साता—सुख प्रिय है, अन्यके सुखसे अन्य सुखी नही होता, इत्यादि विचारो से हिंसादि कर्म, मुनि नही करता है, तथा। वण्णाएसी—यश की इच्छा करने वाला मुनि। नारभे कंचण—किसी प्रकार के पाप कर्म मे प्रवृत्ति न करे। सव्वलोए—सर्वलोक के विपय तथा। एगप्पमुहे—जिसने एक मोक्ष पथ मे दृष्टि दी हुई है, वह पापारम्भ नही करता। विदिसप्पइन्ने—असयम से उत्तीर्ण हो गया है। निव्विण्णचारी—वैराग्य युक्त होकर विचरने वाला, तथा हिंसादि क्रियाओ से निवृत्त हो कर चलने वाला पयासु—जीवो मे। अरए—अरत अर्थात् आरम्भादि से निवृत्त होगया है, अथवा, पयासु—स्त्रियो में। अरए—रत नही है।

मूलार्थ—युद्ध योग्य औदारिक शरीर का मिलना दुर्लभ है, तीर्थंकरो ने परिज्ञा विवेक से भाषण किया है, धर्म पतित व्यक्ति बाल भावको प्राप्त होकर गर्भ मे रमण करता है, इस प्रकार आर्हत मत मे वर्णन किया गया है जो जीव, रूपादि विषयो वा हिंसादि कार्यो मे मूर्छित है वही गर्भादि मे रचता अर्थात् रमण करता है, वह जितेन्द्रिय मुनि एकमात्र मोक्ष मार्ग मे ही गति कर रहा है, अन्यथा-अन्यप्रकार से लोककी विचारणा करता हुआ कर्म के स्वरूप को जानकर सर्व प्रकार से हिंसादि क्रियाये नही करता, किन्तु अपने आत्मा को सयम मे रखता हुआ पापकर्म के करने मे धृष्टता नही करता। प्रत्येक प्राणी सात-सुख का इच्छुक है, इस प्रकार की विचारणा से किसी भी जीव की हिंसा नही करता, एव यश की इच्छा न करनेवाला किंचित् मात्र भी पापकर्म का आरम्भ नही करता, वह सर्वलोक मे सभी जीवो को समभाव से देखता है, जिसने एक मोक्ष की ओर दृष्टि (मुख) की हुई है वह विदिक् प्रतीर्ण है (दिशा मोक्ष नाम है और विदिशा ससार का) अर्थात् वह ससार से उत्तीर्ण हो गया है इस लिए वहा हिंसादि क्रियाओ से अथवा स्त्रियो के ससर्ग से निवृत्त होकर शान्तभाव से मोक्ष पथ मे विचरता है।

हिन्दी विवेचन

साधना के लिए उपयुक्त सामग्री का मिलना भी आवश्यक है। [illegible] के अभाव मे साध्य सिद्ध नहीं हो पाता। इस लिए प्रस्तुत सूत्र मे [illegible] का उल्लेख किया गया है सयम साधना के लिए सब से प्रमुख है। औदारिक [illegible]

का शरीर। मनुष्य ही संयम को स्वीकार कर सकता है। औदारिक शरीर में संपूर्ण अगोपाग एव स्वस्थ होने पर ही वह धर्म साधना में सहायक हो सकेगा। अगोपाग की कमी एव अस्वस्थ अवस्था मे मनुष्य को सयम के पालन करने मे कठिनता होती है। सयम पालन के योग्य सम्पूर्ण इन्द्रियों से युक्त स्वस्थ शरीर का प्राप्त होना दुर्लभ है। प्रवल पुण्योदय से ही सम्पूर्ण अगोपागों से युक्त स्वस्थ शरीर उपलब्ध होता है। फिर भी कुछ प्रमत्त प्राणी विपय भोगों मे आसक्त होकर उसका दुरुपयोग करके जन्म-मरण को बढ़ाते हैं।

कर्मों का वन्ध एवं क्षय दोनों आत्मा मे अध्यवसायो पर आधारित हैं। साधक शुभ अध्यवसायों–परिणामों के द्वारा पूर्व वन्धे हुए कर्मों का क्षय करके शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। क्योंकि वह साधना किसी प्रकार की आकाक्षा, लालसा एवं यश आदि पाने की अभिलाषा से नहीं करता है। केवल कर्मों की निर्जरा के लिए ही वह तप—संयम की साधना करता है। अत वह उक्त साधना के द्वारा कर्म वन्धन से मुक्त हो जाता है।

अज्ञानी प्राणी प्रमाद के वश विषय-वासना मे आसक्त रहते हैं। विपयों की पूर्ति के लिए रात-दिन सावद्य कार्यों मे प्रवृत्त रहते है, हिसा आदि दोपो का सेवन करते है। इससे पाप कर्मों का वन्ध करते है और परिणाम स्वरूप संसार मे परिभ्रमण करते हैं और अनेक दु खों का सवेदन करते है।

विवेकशील पुरुष इस वात को जानता है। उसकी दृष्टि स्वच्छ और विस्तृत होती है। वह अपने ही स्वार्थ एव हित को नहीं देखता है। वह सव प्राणियों का हित चाहता है। वह जानता है कि ससार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। इस लिए वह सव के प्रति समभाव रखता है। किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं पहुचाता। इस तरह वह अपनी निष्पापमय प्रवृत्ति से प्रत्येक प्राणी की रक्षा करता हुआ कर्म वन्धन से मुक्त हो जाता है। इस लिए मुमुक्षु पुरुष को संयम साधना मे सलग्न रहना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं अक-रणिज्जं पावकम्मं तं नो अन्नेसी, जं संमंति पासहा तं मोणंति पासहा जं मोणंति पासहा तं संमंति पासहा, न इमं सक्कं सिढि-लेहिं अद्दिज्जमाणेहिं गुणासाएहिं वंकसमायारेहिं पमत्तेहि गार

मावसंतेहिं, मुणी मोणं समायाए धुणे सरीरगं, पंतं लूहं सेवंति वीरा सम्मत्तदंसिणो एस ओहंतरे मुणी, तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्ति बेमि ॥१५६॥

छाया—सः वसुमान् सर्व समन्वागतप्रज्ञानेन आत्मना अकरणीयं पापकर्म तन्नो अन्वेषयति यत् सम्यगिति—सम्यक्त्वमिति—सम्यक् इति पश्यत: तन्मौनमिति पश्यतः यन्मौनमिति पश्यतः तत् सम्यगिति पश्यत नैतत् शक्य शिथिलैः आर्द्री क्रियमाणैः गुणास्वादैः वक्रसमाचारैः प्रमत्तैः अगारमावसद्भिः मुनिः मौनं समादाय धुनीयात् शरीरकं प्रान्त रूक्षं सेवन्ते वीराः सम्यक्त्वदर्शिनः एष ओघन्तरः मुनिः तीर्णः मुक्तः विरतः व्याख्यातः इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—से—वह। वसुम—सयम वाला। सव्व—सव। समन्नागयपन्नाणेणं—विशिष्ट ज्ञान से युक्त। अप्पाणेणं—आत्मा से। पावकम्म—पापकर्म। अकरणिज्जं—अकरणीय है, इस प्रकार से जो मानता है वह। त—उस—पापकर्म की। नो अन्नेसी—गवेषणा नही करता अर्थात् पापकर्म नही करता, कारणकि। ज समं ति—जो सम्यक्त्व है वही। मोणंति—मौन-संयमानुष्ठान है। पासहा—यह देखो, विचार करो। जमोणंति—जो मौन-सयमानुष्टान है। त समंति—वह सम्यक्त्व है। पासहा—यह देखो-विचार करो। नइम सक्क सिढिलेहिं—शिथिल पुरुष इसका पालन करने में समर्थ नही है। अदिज्जमाणेहिं—पुत्रादि के स्नेह से आर्द्रचित्त वाले अर्थात् जो पुत्रादि के स्नेह मे खचित हैं वे इसका पालन नही कर सकते। गुणासाएहिं—शब्दादि गुणो का आस्वादन करने वाले। वकसमायारेहिं—कपटाचारी—कपट करने वाले। पमत्तेहिं—प्रमादी-प्रमाद का सेवन करने वाले। गारभावसतेहिं—घरो पर ममत्व रखने वाले, इस सम्यक्त्वादि रत्नत्रय का पालन नही कर सकते अत। मुणी मोण समायाए—मुनि-मनन शील आत्मा मौन-मुनि भाव को ग्रहण करके। सरीरग—कार्मण वा औदारिक शरीर को। धुणे—धुनने-कृश करने का यत्न करे। पत—प्रान्ताहार अथवा वल्ल चणकादिरूप अल्पाहार। लूह—रूक्षाहार को जो। सेवंति—सेवन करते है। वीरा—वीरपुरुष-जोकर्म विदारण मे समर्थ हैं। सम्मत्तदंसिणो—सम्यक्त्वदर्शी है वा समत्वदर्शी है। एस—यह-उक्त गुणो से युक्त। मुणी—मुनि। ओहंतरे—भावौघ-ससार को तर जाता है। तिण्णे—तथा वह मुनि संसार रूप समुद्र को तर गया। मुत्ते—बन्धन से मुक्त हुआ। विरए—सावद्यानुष्ठान से विरत हुआ। वियाहिए—इस प्रकार से कहा गया है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—वह सयम धनवाला साधु, सर्वप्रकार से ज्ञान सम्पन्न, अपने आत्मा के द्वारा किसी प्रकार के अकरणीय कर्म की गवेषणा नही करता अर्थात् किसी प्रकार का अनुचित कर्म नहो करता, गुरुकहते है हे शिष्यो ! तुम देखो ! जो सम्यग्दर्शन को देखता है वह मौन-मुनिभाव -साधुत्व को देखता है और जो मुनि भाव को देखता है वह सम्यग्ज्ञान को देखता है। कातर-शिथिल भावो वाले, पुत्रादि से स्नेह युक्त, शब्दादि गुणो का आस्वादन करने वाले वक्रसमाचारी-मायावी और घरो मे ममत्व रखने वाले मठाधीश व्यक्ति मुनिवृत्ति की आराधना नही कर सकते, किन्तु जो बोर आत्माए है वे ही मुनि वृत्ति को धारण करके कार्मण औदारिक शरीर को धुनने मे समर्थ होसकते है। वे प्रान्त "चणकादि,, और रूक्ष आहार का सेवन करते है। इतना ही नही किन्तु सम्यक्त्व या समत्व को धारण करने वाले मुनि ससार समुद्र को तैर जाते है। सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र सम्पन्न मुनि तीर्ण, मुक्त और विरत, इस प्रकार से वर्णन किया गया है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में चारित्र की श्रेष्ठता का पिग्दर्शन कराया गया है। यह वताया गया है कि रत्न त्रय से सम्पन्न व्यक्ति पापकर्म से छुटकारा पा सकता है। सम्यग्ग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समन्वित साधना से ही आत्मा मोक्ष को पा सकता है। संयम-सम्यक् चारित्र के साथ सम्यग् दर्शन और ज्ञान होना ही है। क्योंकि सम्यग् दर्शन एवं ज्ञानके अभाव मे चारित्र सम्यग् हो ही नहीं सकता। अत. सम्यक् चारित्र के साथ ज्ञान और दर्शन अवश्य होते हैं। क्योंकि चारित्र पापकर्म का निरोधक है और पाप कर्म अर्थात हिसा आदि आश्रवों-दोषों का जिनके सेवन से पापकर्म का बन्ध होता है, वोध ज्ञान से ही होता है। इस लिए साधक ज्ञान की आख से हेय और उपादेय मार्ग को देखता है, दार्थो के यथार्थ स्वरूप को समझता है और दर्शन से उस यथार्थ मार्ग पर श्रद्धा-विश्वास करता है और चारित्र के द्वारा हेय मार्ग का त्याग करके उपादेय मार्ग स्वीकार करता है। इस तरह रत्नत्रय की आराधना से वह पूर्व मे बन्धे कर्मों का क्षय करता है, अभिनव पापकर्म के बन्ध को रोकता है। इस तरह वह संयम साधना से निष्कर्म बनने का प्रयत्न करता है।

रत्नत्रय की आराधना त्याग-वैराग्य से युक्त आत्माएँ ही कर सकती हैं। विषय-भोगों में आसक्त व्यक्ति उसका पालन नहीं कर सकते। साधु का वेश ग्रहण करके भी जो मठ-मन्दिर या चल-अचल संपत्ति पर अपना आधिपत्य जमाए बैठे हैं एवं अनेक प्रकार के आरम्भ-समारंभ में संलग्न हैं, वे रत्न त्रय की साधना से कोसों दूर हैं। इसके लिए धन-सम्पत्ति, स्त्री,पुत्र; परिवार एवं घर आदि सभी पदार्थों से आसक्ति हटानी होती है। अतः सभी स्नेह बन्धन एवं ममत्वभाव का त्यागी व्यक्ति ही संयम की साधना कर सकता है और वही। कर्म बन्धन को तोड़ सकता है दुर्बल एवं कायर पुरुष इस पथ पर नहीं चल सकत।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

पंचम अध्ययन—लोकसार

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में मुनित्व का वर्णन किया गया है। मुनित्व का सम्यक् आराधन गुरु के सान्निध्य में ही हो सकता है। गुरु आज्ञा से विपरीत चलने वाला व्यक्ति भलीभांति साधुत्व का परिपालन नहीं कर सकता। अत॰ प्रस्तुत उद्देशक मे यह वताया गया है कि गुरु की आज्ञा विना एकाकी विचरने वाले साधु के जीवन मे कौन-कौन से अवगुणों की अभिवृद्धि होती है और आज्ञानुसार चलने वाले शिष्य के जीवन मे कौन-से गुणों की अभिवृद्धि होती है। स्वच्छन्द एवं आज्ञा मे विचरने वाले दोनों साधकों की प्रकृति का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स दुज्जायं दुप्परिक्कंतं भवइ अवियत्तस्स भिक्खुणो ॥१५७॥

छाया—ग्रामानुग्रामं दूयमानस्य दुर्यातं दुष्पराक्रान्तं भवति अव्यक्तस्य भिक्षो.।

पदार्थ—अवियत्तस्स—अव्यक्त-अगीतार्थ। **भिक्खुणो**—भिक्षु को। **गमाणुगाम**—अकेले एक गाव से दूसरे गाव को। **दूइज्जमाणस्स दुज्जायं**—विचरने की क्रिया सुखप्रद नही होती, और। **दुप्परक्कत**—उसका एकाकी भ्रमण भी उसके चारित्र के पतन का कारण। **भवइ**—होता है।

मूलार्थ—अव्यक्त-अगीतार्थ भिक्षु को अकेले एक गाव से दूसरे गाव का विचरना सुखप्रद नही होता। इससे उसके चारित्र का पतन होने की सभावना है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अकेले विचरने वाले साधु के जीवन का विश्लेषण किया गया है। इस मे वताया गया है कि जो साधु विना कारण गुरु की आज्ञा के विना अकेला विचरता है उसे अनेक दोष लगने की सभावना है। पहिले तो लोगों के मन में अनेक तरह की शकाए पैदा होती हैं कि यह अकेला क्यों घूमता है? फिर उसके सम्बन्ध मे झूठी-सच्ची अनेक

बातें होती हैं और एकाकी होने के कारण अनेक परीषह उपस्थित हो सकते हैं, उन में दृढ़ता न रहने के कारण वह कभी संयम पथ से च्युत भी हो सकता है। इसी दृष्टि को सामने रख कर आगम में अव्यक्त-अगीतार्थ साधु को अकेले विचरने का आदेश नहीं दिया है।

एकाकी विचरने का निषेध उत्सर्ग मार्ग में है और वह भी अगीतार्थ मुनिके लिए है। परन्तु, विशेष परिस्थिति में या किसी विशेष कारण से एकाकी विहार करना पड़े तो गुरु की आज्ञा से गीतार्थ मुनि वैसा करके भी शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है और न उसके संयम से गिरने की संभावना है। एक तो वह परिस्थिति वश जा रहा है और दूसरे गुरु की आज्ञा से जा रहा है और साथ में गीतार्थ होने से वह आगम मर्यादा से भी भली-भांति परिचित है और शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार ही विचरण करता है, इस लिए उसके गिरने की संभावना नहीं रहती।

अव्यक्त—अगीतार्थ किसे कहते हैं? अव्यक्त की श्रुत और वय की अपेक्षा से चतुर्भंगी बनती है।

१—श्रुत और वय से अव्यक्त-श्रुत में आचार-प्रकल्पागम का अर्थ से अनुशीलन नहीं करने वाला एवं १६ वर्ष की आयु वाला साधक श्रुत एवं वय से अव्यक्त कहलाता है।

२—श्रुत से अव्यक्त और वय से व्यक्त—आचार के अर्थ ज्ञान से रहित, परन्तु सोलह वर्ष से अधिक आयु वाला साधक।

३—श्रुत से व्यक्त, वय से अव्यक्त—आचार के ज्ञान से युक्त किन्तु १६ या १६ वर्ष से कम अवस्था का साधक।

४—श्रुत और वय दोनों से व्यक्त—आचार के ज्ञान से युक्त और सोलह वर्ष से अधिक अर्थात् परिपक्व अवस्था वाला साधक।

चतुर्थ भंग वाला साधक कारण विशेष से गुरु आज्ञा से अकेला भी विचर सकता है। क्योंकि वय से परिपक्व एवं श्रुतज्ञान से सम्पन्न होने के कारण परीषह उपस्थित होने पर भी वह साधना मार्ग से भटक नहीं सकता। परन्तु, अगीतार्थ मुनि के ज्ञान अपरिपक्वता के कारण वह परीषहों के उपस्थित होने पर विपरीत मार्ग पर भी चल सकता है। इस लिए अगीतार्थ साधु को अकेले विचरने का निषेध किया गया है।

एक बात यह भी है कि अव्यक्त अवस्था मे अकेला रहने से उसका ज्ञान अधूरा रह जाता है। जैसे पूर्वकाल में माता पिता अपने बच्चे को गुरुकुल मे रखकर पढ़ाते थे, आज भी कई जगह ऐसा किया जाता है। क्योंकि गुरुकुल मे शिक्षक के अनुशा-

सन में बच्चा ज्ञान की कमी को पूरा कर लेता है। उसी तरह गुरु के अनुशासन में रहकर शिष्य ज्ञान सम्पन्न बन जाता है। अतः श्रुत एवं ज्ञान साधना के लिए अगीतार्थ मुनि को गुरु की सेवा में रहना चाहिए और उनकी आज्ञा के विना अकेले नहीं विचरना चाहिए।

क्रोधादि के वश अकेले विचरने वाले मुनि की क्या स्थिति होती है। इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—वयसावि एगे बुइया कुप्पंति माणवा, उन्नयमाणे य नरे महया मोहेण मुज्झइ, संबाहा बहवे भुज्जो २ दुरइक्कम्मा अजाणओ अपासओ, एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं, तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सन्नी तन्निवेसणे, जयं विहारी चित्त निवाई पंथ निज्झाई पलिबाहिरे, पासिय पाणे गच्छिज्जा ॥१५८॥

छाया—वचसापि एके उक्ताः कुप्यन्ति मानवाः उन्नतमानश्च नरो महता मोहेन मुह्यति, संबाधाः बह्व्यः भूयो भूयो दुरतिक्रमाः अजानतः अपश्यतः एतत् ते मा भवतु एतत् कुशलस्यदर्शनं तद्दृष्ट्या तन्मुक्त्या तत् पुरस्कारे तत् संज्ञी तन्निवेशनः यतमानः विहारी चित्तनिपाती पथनिर्ध्यायी परिबाह्यः दृष्ट्वा प्राणिनः गच्छेत्।

पदार्थ—वयसावि—वचन से गुरु द्वारा। बुइया—कहे हुए। एगे—कई एक। माणवा—मनुष्य अर्थात् शिष्य वर्ग। कुप्पंति—क्रोध करने लग जाता है। य—फिर। उन्नयमाणे—अहंकार करता हुआ। नरे—मनुष्य। महया मोहेण—महान्-बडे मोह से। मुज्झइ—कार्याकार्य विचार विवेक से विकल हो जाता है। संबाहा—संबाधा—पीडा। बहवे—बहुत। भुज्जो २—पुनः पुन। दुरइक्कम्मा—सहन करनी दुष्कर है। अजाणओ—अज्ञानी—अतत्त्वदर्शी उपाय को न जानता हुआ। अपासओ—न देखता हुआ गुरु कहते हैं हे शिष्य ! एयं—यह एकाकीचर्या। ते—तुझे। मा होउ—मत हो, क्योंकि। एयं—यह। कुसलस्स दंसण—कुशल अर्थात् श्री वर्द्धमान स्वामी का दर्शन है, अतः। तद्दिट्ठीए—गुरु—आचार्य की दृष्टि से वर्तना चाहिए। तम्मुत्तीए—निर्लोभता से वर्तना चाहिए। तप्पुरक्कारे—प्रत्येक कार्य में गुरु को

आगे रखना चाहिए । तस्सन्नी—गुरु पर श्रद्धा रखने वाला । तन्निवेसणे—गुरुकुलवासी होना चाहिए अर्थात् गुरु के पास रहना चाहिए । जयं विहारी—यत्न पूर्वक विचरना चाहिए । चित्त निवाई—गुरुजनो के चित्त के अनुसार वर्तना चाहिए । पथ निज्झाई —गुरुजनो के कहीं चले जाने पर उनकी ओर ध्यान रखने वाला हो । पलिवाहिरे—गुरुओ की आज्ञा के बाहिर कभी न हो, यदि गुरुने किसी स्थान पर भेजा हो तो । पाणे—प्राणियो को । पासिय—देखकर । गच्छिज्जा— जावे-यत्नपूर्वक गमन करे ।

मूलार्थ—जो मनुष्य गुरुजनो की हित शिक्षा से क्रोधित होते है; अहकार के वश में होकर तथा महामोह के उदय से अज्ञानता में मूर्छित होकर गुरुजनो से पृथक् होकर विचरने लग जाते है, ऐसा करने से उन्हे उपसर्गादि जनित बार २ अनेक प्रकार की दुर्रातक्रम बाधायें उपस्थित होती है! सम्यक् सहन करने के उपाय से अज्ञात और कर्म विपाक के न देखने के कारण उन बाधाओ से अत्यन्त दुःखी होकर वे चारित्र मार्ग से गिर जाते है। गुरु कहते है हे शिष्य ! श्रमण भगवान महावीर स्वामी का यह दर्शन है कि तुम्हारी यह दशा न हो, किन्तु गुरु की दृष्टि से, सर्व प्रकार की निर्ममत्ववृत्ति से, प्रत्येक कार्य मे गुरुजनो की आज्ञा को सन्मुख रखने से, गुरुओ के पास रहने से, और यत्नपूर्वक विचरने से, गुरुओं के चित्त की आराधना करनी चाहिए, एव कही पर गए हुए गुरुओं के मार्ग का अवलोकन करना चाहिए, गुरुओं को आज्ञा में रहना चाहिए, यदि गुरु कही पर भेजें तो मार्ग मे प्राणियों की रक्षा करते हुए चलना चाहिए ।

हिन्दी विवेचन

अव्यक्त अवस्था में—श्रुतज्ञान से सम्पन्न न होने के कारण, साधक अपने अन्दर स्थित कषायों को दवा नहीं सकता। कभी परिस्थिति वश उसका क्रोध प्रज्वलित हो उठता है और वह उस स्थिति में अपनी समझ को भी भूल जाता है। कषायों के प्रवाह में उसे अपने हिताहित का भी ख्याल नहीं रहता। इस लिए वह कर्त्तव्य मार्ग से च्युत होकर पतन के गर्त में गिरने लगता है। आवेश के नशे में उसका भाषा पर भी अकुश नहीं रहता। गुरु के सामने भी वह अंट-संट बकने लगता है और अपने आंतरिक दोषों को न देख कर गुरु के दोष निकालने का प्रयत्न करता है। और अपने दोषों पर पर्दा डालने के लिए वह दूसरे साधकों के दोषों को सामने रख कर अपने आपको निर्दोष सिद्ध करने

का प्रयत्न करता है। वह समझता है कि गुरु मुझे हित शिक्षा नहीं दे रहे हैं, अपितु सबके सामने मेरा तिरस्कार कर रहे हैं। इस लिए वह आवेश के वश गुरु के वचनों का अनादर करके तथा उन्हें भला-बुरा कहकर अकेला विचरने लगता है। परन्तु वय एवं श्रुत से अव्यक्त होने के कारण वह संयम मार्ग पर स्थिर नहीं रह सकता। रोग आदि कष्ट उपस्थित होने पर वह घबरा जाता है। उन परीषहों को सह नहीं पाता। और परिणाम स्वरूप अनेक दोषों का सेवन करने लगता है। इस तरह आवेश के वश सघ से पृथक् होकर विचरने वाला साधक चारित्र से गिर जाता है। अत अव्यक्त साधु को गुरु की सेवा मे रहते हुए क्रोध आदि कषायों के वश मे नहीं होना चाहिए।

गुरु की सेवा मे रहकर संयम का परिपालन करना चाहिए और सावधानी एव विवेक के साथ सभी क्रियाऐ करनी चाहिऐं। और कभी भूल हो जाने पर उसका संशोधन करके उस दोष को निष्फल करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस वात को वताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे संकुचमाणे पसारेमाणे विणिवट्टमाणे संपलिमज्जमाणे, एगया गुणसमियस्स रीयओ कायसंफासं समणुचिन्ना एगतिया पाणा उद्दायंति, इहलोगवेयणविज्जावडियं, जं आउट्टिकयं कंमं तं परिन्नाय विवेगमेइ, एवं से अप्पमाएण विवेगं किट्टइ वेयवी ॥१५६॥

छाया—स अभिक्रामन् प्रतिक्रामन् संकुचन् प्रसारयन् विनिवर्तमानः संपरिमृजन् एकदा गुणसमितस्य रीयमाणस्य कायसंस्पर्शं समनुचीर्णाः एके प्राणाः—प्राणिनः अपद्रान्ति इह लोके वेदनवेद्या पतितं यत् आकुट्टीकृताकर्म तत् परिज्ञाय विवेकमेति एवं तस्य अप्रमादेन विवेकं कीर्तयति वेदवित्।

पदार्थ—से—वह भिक्षु। अभिक्कममाणे—जाता हुआ। पडिक्कममाणे—पीछे हटता हुआ। सकुचमाणे—हस्तादि का संकोच करता हुआ। पसारेमाणे पादादि को पसारता-फैलाता हुआ। विणिवट्टमाणे—अशुभ व्यापार से निवृत्त होता हुआ। एगया संपलिज्जमाणे—सम्यक् प्रकार से प्रमार्जन करता हुआ। एगया—एकदा किसी समय। गुणसमियस्स—गुण युक्त, अप्रमत्त भाव से। रीयओ—चलते हुए वे। कायसंफासं—काय के स्पर्श से—

समणुचिन्ना —स्पर्शित हुआ । एगतिया – कई एक । पाणा – प्राणी । उद्दायंति – मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं अथवा परितापना युक्त हो जाते है तब । इहलोगवेयण विज्जा वडिय—इस लोक मे वेदना का अनुभव करके उसे क्षय कर देवे । जं – जो । आउट्टिकयं – जो जान कर किया हुआ । कम्मं – हिंसादि कर्म है । त – उसको । परिन्नाय – ज्ञपरिज्ञा मे जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा मे प्रत्याख्यान करके । विवेगमेइ – विवेक परिज्ञा द्वारा उस कर्म को क्षय कर देवे । एवं – इस प्रकार । से – वह-सापरायिक कर्म । अप्पमाएण – अप्रमाद के द्वारा । विवेगं – क्षय कर देवे । इस प्रकार । वेयवी – तीर्थंकर गणधरों ने । किट्टइ – कहा है ।

मूलार्थ—समस्त अशुभ व्यापार से अलग रहने वाला भिक्षु चलते हुए, पीछे हटते हुए, हस्त पादादि अङ्गों को संकोचते हुए और फैलाते हुए, भली प्रकार से रजोहरणादि के द्वारा शरीर के अङ्गोपांग तथा भूमि आदि का प्रमार्जन करता हुआ गुरुजनो के समीप निवास करे । इस प्रकार अप्रमत्त भाव से सम्पूर्ण क्रियानुष्ठान करते हुए गुण युक्त मुनि से यदि किसी समय चलते-फिरते हुए काय-शरीर के स्पर्श से किसी प्राणी-सपातिमादि जीव की मृत्यु हो जावे तो वह भिक्षु उस कर्म के फल को इसी लोक मे वेदनादि का अनुभव करके क्षय कर देवे, परन्तु जान-बूझकर किया गया हो तो उस को तप अनुष्ठान के द्वारा क्षय कर देवे, यह कर्म क्षय करने का विधान तीर्थंकरों ने किया है ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में प्रमाद और अप्रमाद का सुन्दर शब्दों मे विश्लेषण किया गया है । प्रमाद आरम्भ-समारम्भ एवं सब पापों का मूल है । प्रमाद पूर्वक कार्य करने से अनेक जीवों की हिंसा होती है, पाप कर्म का बन्ध होता है । इस लिए साधु के लिए आगम मे प्रमत्त भाव का त्याग करने का आदेश दिया गया है । दशवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि अविवेक पूर्वक चलने वाला, खडे रहने वाला, बैठने वाला, सोने वाला, भोजन करने वाला, एवं बोलने वाला पापकर्म का बन्ध करता है । अविवेक पूर्वक की जाने वाली प्रत्येक क्रिया पाप बन्ध का कारण है और विवेक पूर्वक की जाने वाली उपरोक्त सभी क्रियाओं में पाप कर्म का बन्ध नहीं होता । इससे स्पष्ट है कि अविवेक एवं प्रमाद से पाप कर्म का बन्ध होता है, अतः साधु को अप्रमत्त भाव से विवेक पूर्वक कार्य करना चाहिए । विवेक पूर्वक क्रिया करते हुए भी कभी भूल से किसी प्राणी की हिंसा हो जाए

तो इर्यापथिक क्रिया के द्वारा उक्त पाप का क्षय कर दे और यदि परिस्थिति वश या विशेष कारण से जान-बूझकर हिसा की गई है तो उस पाप से निवृत्त होने के लिए साम्प्रायि तप अनुष्ठान या प्रायश्चित स्वीकार करे इस तरह भूल से या समझ पूर्वक किए गए हिसक आदि दोषों का क्षय करने के लिए इर्यापथिक एव साम्प्रायिक क्रियाओं का विधान किया गया है। इस तरह प्रायश्चित एवं तप के द्वारा मुनि पाप कर्म का क्षय कर देता है। इस लिए साधक को अविवेक एवं प्रमाद का त्याग थरके सावधानी के साथ सयम मे संलग्न रहना चाहिए।

अप्रमत्त व्यक्ति का जीवन कैसा होता है, इसको वताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—से पभूयदंसी पभूयपरिन्नाणे उवसंते समिए सहिये सयाजए, दट्ठुं विप्पडिवेएइ अप्पाणं किमेस जणो करिस्सइ?, एस से परमारामो जाओ लोगंसि इत्थीओ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, उब्बाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवि निब्बलासए अवि ओमोयरियं कुज्जा अवि उड्ढं ठाणं ठाइज्जा अवि गामाणुगाम दूइज्जिज्जा अवि आहारं वुच्छिदिज्जा अवि चए इत्थीसु मणं, पुव्वं दंडा पच्छा फासा पुव्वं फासा पच्छा दडा, इच्चेए कलहासंगकरा भवंति, पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्तिबेमि से नो काहिए नो पासणिए नो मामए णो कयकिरिए वइ गुत्ते अज्झप्पसंवुडे परिवज्जइ सया पावं एयं मोणं समणुवासिज्जासि, त्तिबेमि ॥१६०॥

छाया—स प्रभूतदर्शी प्रभूतपरिज्ञान· उपशान्त समितः सहितः सदायत दृष्ट्वा विप्रतिवेदयति आत्मानं किमेष जन कुर्यात्? स एष परमारामः यः लोके स्त्रियः मुनिना हु एतत् प्रवेदितं उद्बाध्यमानः ग्रामा-

धर्मैरपि निर्वलाशकः अपि अवमौदर्यं कुर्याद् अपि ऊर्ध्वं स्थानं तिष्ठेदपि ग्रामानुग्रामं विहरेद् अपि आहारं व्यवछिन्द्यादपि त्यजेत् स्त्रीषु मनः पूर्वं दण्डा. पश्चात् स्पर्शाः पूर्वं स्पर्शाः पश्चात् दंडाः इत्येते कलहसंगकराः भवन्ति प्रत्युपेक्षया ज्ञात्वा आज्ञापयेत् अनासेवनया इति ब्रवीमि। स नो कथां कुर्यात् नो पश्येत्, न ममत्व (कुर्यात्) न कृतक्रियः वाग् गुप्तः अध्यात्मसंवृत्तः परिवर्जयेत् सदा पापं एतद् मौनं समनुवासयेः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से-वह साधु। पभूयदसी-प्रभूत देखने वाला। पभूय परिन्नाणे—अत्यन्त ज्ञान वाला। उवसते—उपशान्त कषाय वाला। समिए—समितियो से समित। सहिए—ज्ञान युक्त। सयाजए—सदा यत्नशील। दट्ठुं—स्त्री जनित उपसर्ग के लिए उद्यत हुआ देख कर। अप्पाण—आत्मा को। विप्पडिवेएइ—शिक्षित करता है। किमेस जणो करिस्सइ—यह स्त्री जन मेरा क्या कर सकती है? एस से—यह स्त्री जन। परमारामो—परमाराम रूप है अथवा। जाओ—जो। लोगम्मि—लोक मे। इत्थिओ—स्त्रिया हैं वे पुरुषो के मोहोदय का मुख्य कारण हैं। हु—निश्चय ही। एव—यह पूर्वोक्त विषय। मुणिणा—श्री वर्द्धमान स्वामी ने। पवेइयं—विशेषता से प्रतिपादन किया है। गामधम्मेहिं—इन्द्रिय धर्मो मे। उव्वाहिज्जमाणे—पीडित होता हुआ। अवि—अपि शब्द संभावना अर्थ से जानना चाहिए। गुरुजनो की शिक्षा द्वारा किस प्रकार बन जाता है, अब इसको दर्शाते हैं, यथा। निव्वलासए—निर्बल और असार-सार-रहित आहार के करने वाला। अवि—पूर्ववत् जानना चाहिए। ओमोदरियं—ऊनोदरी तप कुज्जा—करे। अवि—पूर्ववत्। उड्ढं—ऊर्ध्व। ठाणठाइज्जा—स्थान पर कायोत्सर्ग तप द्वारा आतापनादि करे। अवि—पूर्ववत्। गामाणुगाम—ग्रामानुग्राम। दूइज्जिज्जा—विचरे। अवि—अपि समुच्चय अर्थ में है। आहारं—आहार को। वुच्छि दिज्जा—छोड देवे। अवि—अपि शब्द से अन्य अर्थो का भी ग्रहण कर लेना। चए—छोड देवे। इत्थीसु मणं—स्त्री में लगे हुए मन को। पुव्व—पूर्व में। दंडा—दंड है। पच्छा फासा—पीछे नरकादि दुखो का स्पर्श है तथा। पुव्वफासा—पहिले स्त्री का सुख रूप स्पर्श है। पच्छा दडा—पीछे दुख रूप दड मिलता है। इच्चेए—अत. ये स्त्रियो के ससर्गादि। कलह संगकरा भवंति—कलह सग्रामादि के कारण होते हैं अथवा राग-द्वेष आदि के उत्पादक होते हैं, अत.। पडिलेहाए-प्रत्युपेक्षणा से। आगमित्ता—जानकर। आणविज्जा—स्वात्मा को शिक्षित करे। अणासेवणाए—विषयो का सेवन न करना चाहिए अर्थात् अपने आत्मा को विषयो से पराङ् मुख रहने की शिक्षा देवे। त्तिबेमि—इति शब्द अधिकार की परिसमाप्ति मे है, गणधर श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं हे! शिष्य यह में तीर्थंकर वचन के अनुसार कहता हूं अब सूत्रकार स्त्री के

तो इर्यापथिक क्रिया के द्वारा उक्त पाप का क्षय कर दे और यदि परिस्थिति वश या विशेष कारण से जान-बूझकर हिंसा की गई है तो उस पाप से निवृत्त होने के लिए साम्प्रायि तप अनुष्ठान या प्रायश्चित स्वीकार करे इस तरह भूल से या समझ पूर्वक किए गए हिंसक आदि दोषों का क्षय करने के लिए इर्यापथिक एवं साम्प्रायिक क्रियाओं का विधान किया गया है। इस तरह प्रायश्चित एवं तप के द्वारा मुनि पाप कर्म का क्षय कर देता है। इस लिए साधक को अविवेक एवं प्रमाद का त्याग करके सावधानी के साथ संयम में संलग्न रहना चाहिए।

अप्रमत्त व्यक्ति का जीवन कैसा होता है, इसको बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से पभूयदंसी पभूयपरिन्नाणे उवसंते समिए सहिये सयाजए, दट्ठुं विप्पडिवेएइ अप्पाणं किमेस जणो करिस्सइ?, एस से परमारामो जाओ लोगंसि इत्थीओ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, उब्बाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवि निब्बलासए अवि ओमोयरियं कुज्जा अवि उड्ढं ठाणं ठाइज्जा अवि गामाणुगाम दूइज्जिज्जा अवि आहारं वुच्छिदिज्जा अवि चए इत्थीसु मणं, पुव्वं दंडा पच्छा फासा पुव्वं फासा पच्छा दंडा, इच्चेए कलहासंगकरा भवंति, पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्तिबेमि से नो काहिए नो पासणिए नो मामए णो कयकिरिए वइ गुत्ते अज्झप्पसंवुडे परिवज्जइ सया पावं एयं मोणं समणुवासिज्जासि, त्तिबेमि ॥१६०॥

छाया—स प्रभूतदर्शी प्रभूतपरिज्ञानः उपशान्तः समितः सहितः सदायतः दृष्ट्वा विप्रतिवेदयति आत्मानं किमेष जनः कुर्यात्? स एष परमारामः याः लोके स्त्रियः मुनिना हु एतत् प्रवेदितं उद्बाध्यमानः ग्रामा-

धर्मैरपि निर्बलाशकः अपि अवमौदर्यं कुर्याद् अपि ऊर्ध्वं स्थानं तिष्ठेदपि ग्रामानुग्रामं विहरेद् अपि आहारं ऽव्यवछिन्द्यादपि त्यजेत् स्त्रीषु मनः पूर्वं दण्डा. पश्चात् स्पर्शाः पूर्वं स्पर्शाः पश्चात् दंडा: इत्येते कलहसंगकरा: भवन्ति प्रत्युपेक्षया ज्ञात्वा आज्ञापयेत् अनासेवनया इति ब्रवीमि। स नो कथां कुर्यात् नो पश्येत्, न ममत्व (कुर्यात्) न कृतक्रियः वाग् गुप्तः अध्यात्मसंवृत्तः परिवर्ज-येत् सदा पापं एतद् मौनं समनुवासयेः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह साधु। पभूयदसी—प्रभूत देखने वाला। पभूय परिन्नाणे—अत्यन्त ज्ञान वाला। उवसते—उपशान्त कषाय वाला। समिए—समितियो से समित। सहिए—ज्ञान युक्त। सयाजए—सदा यत्नशील। वट्ठुं—स्त्री जनित उपसर्ग के लिए उद्यत हुआ देख कर। अप्पाण—आत्मा को। विप्पडिवेएइ—शिक्षित करता है। किमेस जणो करिस्सइ—यह स्त्री जन मेरा क्या कर सकती है? एस से—यह स्त्री जन। परमारामो—परमाराम रूप है अथवा। जाओ—जो। लोगम्मि—लोक मे। इत्थिओ—स्त्रिया हैं वे पुरुषो के मोहोदय का मुख्य कारण हैं। हु—निश्चय ही। एव—यह पूर्वोक्त विषय। मुणिणा—श्री वर्द्धमान स्वामी ने। पवेइयं—विशेषता से प्रतिपादन किया है। गामधम्मेहिं—इन्द्रिय धर्मों मे। उब्बाहिज्जमाणे—पीडित होता हुआ। अवि—अपि शब्द संभावना अर्थ से जानना चाहिए। गुरुजनो की शिक्षा द्वारा किस प्रकार बन जाता है, अब इसको दर्शाते है, यथा। निब्बलासए—निर्बल और असार-सार-रहित आहार के करने वाला। अवि—पूर्ववत् जानना चाहिए। ओमोदरियं—ऊनोदरी तप कुज्जा—करे। अवि—पूर्ववत्। उड्ढं—ऊर्ध्व। ठाणठाइज्जा—स्थान पर कायोत्सर्ग तप द्वारा आतापनादि करे। अवि—पूर्ववत्। गामाणुगाम—ग्रामानुग्राम। दूइज्जिज्जा—विचरे। अवि—अपि समुच्चय अर्थ में है। आहारं—आहार को। वुच्छिदिज्जा—छोड देवे। अवि—अपि शब्द से अन्य अर्थों का भी ग्रहण कर लेना। चए—छोड देवे। इत्थीसु मणं—स्त्री में लगे हुए मन को। पुव्वं—पूर्व में। दंडा—दंड है। पच्छा फासा—पीछे नरकादि दुःखो का स्पर्श है तथा। पुव्वफासा—पहिले स्त्री का सुख रूप स्पर्श है। पच्छा दडा—पीछे दुःख रूप दड मिलता है। इच्चेए—अत. ये स्त्रियो के ससर्गादि। कलह संगकरा भवति—कलह सग्रामादि के कारण होते हैं अथवा राग-द्वेष आदि के उत्पादक होते हैं, अत.। पडिलेहाए-प्रत्युपेक्षणा से। आगमित्ता—जानकर। आणविज्जा—स्वात्मा को शिक्षित करे। अणासेवणाए—विषयो का सेवन न करना चाहिए अर्थात् अपने आत्मा को विषयो से पराङ् मुख रहने की शिक्षा देवे। त्तिबेमि—इति शब्द अधिकार की परिसमाप्ति मे है, गणधर श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं हे! शिष्य यह मैं तीर्थंकर वचन के अनुसार कहता हूँ अब सूत्रकार स्त्री के

तो इर्यापथिक क्रिया के द्वारा उक्त पाप का क्षय कर दे और यदि परिस्थिति वश या विशेष कारण से जान-बूझकर हिंसा की गई है तो उस पाप से निवृत्त होने के लिए साम्परायि तप अनुष्ठान या प्रायश्चित स्वीकार करे इस तरह भूल से या समझ पूर्वक किए गए हिंसक आदि दोषों का क्षय करने के लिए इर्यापथिक एवं साम्परायिक क्रियाओं का विधान किया गया है। इस तरह प्रायश्चित एवं तप के द्वारा मुनि पाप कर्म का क्षय कर देता है। इस लिए साधक को अविवेक एवं प्रमाद का त्याग करके सावधानी के साथ सयम मे संलग्न रहना चाहिए।

अप्रमत्त व्यक्ति का जीवन कैसा होता है, इसको बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से पभूयदंसी पभूयपरिन्नाणे उवसंते समिए सहिये सयाजए, दट्ठुं विप्पडिवेएइ अप्पाणं किमेस जणो करिस्सइ ?, एस से परमारामो जाओ लोगंसि इत्थीओ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, उब्बाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवि निब्बलासए अवि ओमोयरियं कुज्जा अवि उड्ढं ठाणं ठाइज्जा अवि गामाणुगाम दूइज्जिज्जा अवि आहारं वुच्छिदिज्जा अवि चए इत्थीसु मणं, पुव्वं दंडा पच्छा फासा पुव्वं फासा पच्छा दडा, इच्चेए कलहासंगकरा भवंति, पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्तिबेमि से नो काहिए नो पासणिए नो मामए णो कयकिरिए वइ गुत्ते अज्झप्पसंवुडे परिवज्जइ सया पावं एयं मोणं समणुवासिज्जा-स, त्तिबेमि ॥१६०॥

छाया—स प्रभूतदर्शी प्रभूतपरिज्ञान· उपशान्त समितः सहितः सदायत दृष्ट्वा विप्रतिवेदयति आत्मानं किमेष जनः कुर्यात् ? स एष परमारामः यः लोके स्त्रियः मुनिना हु एतत् प्रवेदितं उद्बाध्यमानः ग्रामा-

धर्मैरपि निर्बलाशकः अपि अवमौदर्यं कुर्याद् अपि ऊर्ध्वं स्थानं तिष्ठेदपि ग्रामानुग्रामं विहरेद् अपि आहारं व्यवच्छिन्द्यादपि त्यजेत् स्त्रीषु मन. पूर्वं दंडा. पश्चात् स्पर्शाः पूर्वं स्पर्शाः पश्चात् दंडाः इत्येते कलहसंगकराः भवन्ति प्रत्युपेक्षया ज्ञात्वा आज्ञापयेत् अनासेवनया इति ब्रवीमि। स नो कथां कुर्यात् नो पश्येत्, न ममत्व (कुर्यात्) न कृतक्रियः वाग् गुप्तः अध्यात्मसंवृत्तः परिवर्जयेत् सदा पापं एतद् मौनं समनुवासयेः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से-वह साधु। पभूयदसी-प्रभूत देखने वाला। पभूय परिन्नाणे—अत्यन्त ज्ञान वाला। उवसते—उपशान्त कषाय वाला। समिए—समितियो से समित। सहिए—ज्ञान युक्त। सयाजए—सदा यत्नशील। दट्ठुं—स्त्री जनित उपसर्ग के लिए उद्यत हुआ देख कर। अप्पाणं—आत्मा को। विप्पडिवेएइ—शिक्षित करता है। किमेस जणो करिस्सइ—यह स्त्री जन मेरा क्या कर सकती है? एस से—यह स्त्री जन। परमारामो—परमाराम रूप है अथवा। जाओ—जो। लोगम्मि—लोक मे। इत्थिओ—स्त्रिया हैं वे पुरुषो के मोहोदय का मुख्य कारण हैं। हु—निश्चय ही। एव—यह पूर्वोक्त विषय। मुणिणा—श्री वर्द्धमान स्वामी ने। पवेइयं—विशेषता से प्रतिपादन किया है। गामधम्मेहिं—इन्द्रिय धर्मो मे। उव्वाहिज्जमाणे—पीडित होता हुआ। अवि—अपि शब्द संभावना अर्थ मे जानना चाहिए। गुरुजनो की शिक्षा द्वारा किस प्रकार बन जाता है, अब इसको दर्शाते है, यथा। निव्वलासए—निर्बल और असार-सार-रहित आहार के करने वाला। अवि—पूर्ववत् जानना चाहिए। ओमोदरियं—ऊनोदरी तप कुज्जा—करे। अवि—पूर्ववत्। उड्ढं—ऊर्ध्वं। ठाणठाइज्जा—स्थान पर कायोत्सर्ग तप द्वारा आतापनादि करे। अवि—पूर्ववत्। गामाणुगाम—ग्रामानुग्राम। दूइज्जिज्जा—विचरे। अवि—अपि समुच्चय अर्थ में है। आहारं—आहार को। वुच्छिदिज्जा—छोड देवे। अवि—अपि शब्द से अन्य अर्थो का भी ग्रहण कर लेना। चए—छोड देवे। इत्थीसु मणं—स्त्री में लगे हुए मन को। पुव्वं—पूर्व मे। दंडा—दंड है। पच्छा फासा—पीछे नरकादि दु खो का स्पर्श है तथा। पुव्वफासा—पहिले स्त्री का सुख रूप स्पर्श है। पच्छा दडा—पीछे दु ख रूप दंड मिलता है। इच्चेए—अत. ये स्त्रियो के ससर्गादि। कलह संगकरा भवति—कलह सग्रामादि के कारण होते हैं अथवा राग-द्वेष आदि के उत्पादक होते हैं, अत.। पडिलेहाए-प्रत्युपेक्षणा से। आगमित्ता—जानकर। आणविज्जा—स्वात्मा को शिक्षित करे। अणासेवणाए—विषयो का सेवन न करना चाहिए अर्थात् अपने आत्मा को विषयो से पराङ् मुख रहने की शिक्षा देवे। त्तिवेमि—इति शब्द अधिकार की परिसमाप्ति मे है, गणधर श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं हे! शिष्य यह मैं तीर्थंकर वचन के अनुसार कहता हूँ अब सूत्रकार स्त्री के

तो ईर्यापथिक क्रिया के द्वारा उक्त पाप का क्षय कर दे और यदि परिस्थिति वश या विशेष कारण से जान-बूझकर हिंसा की गई है तो उस पाप से निवृत्त होने के लिए साम्प्रायि तप अनुष्ठान या प्रायश्चित स्वीकार करे इस तरह भूल से या समझ पूर्वक किए गए हिंसक आदि दोषों का क्षय करने के लिए ईर्यापथिक एवं साम्प्रायिक क्रियाओं का विधान किया गया है। इस तरह प्रायश्चित एवं तप के द्वारा मुनि पाप कर्म का क्षय कर देता है। इस लिए साधक को अविवेक एवं प्रमाद का त्याग करके सावधानी के साथ सयम मे संलग्न रहना चाहिए।

अप्रमत्त व्यक्ति का जीवन कैसा होता है, इसको बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— से पभूयदंसी पभूयपरिन्नाणे उवसंते समिए सहिये सयाजए, दट्ठुं विप्पडिवेएइ अप्पाणं किमेस जणो करिस्सइ?, एस से परमारामो जाओ लोगंसि इत्थीओ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, उब्बाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवि निब्बलासए अवि ओमोयरियं कुज्जा अवि उड्ढं ठाणं ठाइज्जा अवि गामाणुगाम दूइज्जिज्जा अवि आहारं वुच्छिंदिज्जा अवि चए इत्थीसु मणं, पुव्वं दंडा पच्छा फासा पुव्वं फासा पच्छा दडा, इच्चेए कलहासंगकरा भवंति, पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्तिबेमि से नो काहिए नो पासणिए नो मामए णो कयकिरिए वइ गुत्ते अज्झप्पसंवुडे परिवज्जइ सया पावं एयं मोणं समणुवासिज्जा-स, त्तिबेमि ॥१६०॥

छाया—स प्रभूतदर्शी प्रभूतपरिज्ञान उपशान्त समितः सहितः सदायत दृष्ट्वा विप्रतिवेदयति आत्मानं किमेष जन कुर्यात्? स एष परमारामः यः लोके स्त्रियः मुनिना हु एतत् प्रवेदितं उद्बाध्यमानः ग्रामा-

धर्मैरपि निर्वलाशकः अपि अवमौदर्यं कुर्याद् अपि ऊर्ध्वं स्थानं तिष्ठेदपि ग्रामानुग्रामं विहरेद् अपि आहारं व्यवछिन्द्यादपि त्यजेत् स्त्रीषु मन पूर्वं दडा. पश्चात् स्पर्शा पूर्वं स्पर्शाः पश्चात् दंडाः इत्येते कलहसंगकराः भवन्ति प्रत्युपेक्षया ज्ञात्वा आज्ञापयेत् अनासेवनया इति ब्रवीमि। स नो कथा कुर्यात् नो पश्येत्, न ममत्व (कुर्यात्) न कृतक्रियः वाग् गुप्तः अध्यात्मसंवृत्तः परिवर्जयेत् सदा पापं एतद् मौनं समनुवासयेः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से–वह साधु। पभूयदसी–प्रभूत देखने वाला। पभूय परिन्नाणे–अत्यन्त ज्ञान वाला। उवसते–उपशान्त कषाय वाला। समिए–समितियो से समित। सहिए–ज्ञान युक्त। सयाजए–सदा यत्नशील। वट्ठु–स्त्री जनित उपसर्ग के लिए उद्यत हुआ देख कर। अप्पाण–आत्मा को। विप्पडिवेएइ–शिक्षित करता है। किमेस जणो करिस्सइ–यह स्त्री जन मेरा क्या कर सकती है? एस से–यह स्त्री जन। परमारामो–परमाराम रूप है अथवा। जाओ–जो। लोगम्मि–लोक मे। इत्थिओ–स्त्रिया हैं वे पुरुषो के मोहोदय का मुख्य कारण हैं। हु–निश्चय ही। एवं–यह पूर्वोक्त विषय। मुणिणा–श्री वर्द्धमान स्वामी ने। पवेइयं–विशेषता से प्रतिपादन किया है। गामधम्मेहि–इन्द्रिय धर्मों मे। उब्बाहिज्जमाणे–पीडित होता हुआ। अवि–अपि शब्द संभावना अर्थ से जानना चाहिए। गुरुजनो की शिक्षा द्वारा किस प्रकार बन जाता है, अब इसको दर्शाते हैं, यथा। निब्बलासए–निर्बल और असार-सार-रहित आहार के करने वाला। अवि–पूर्ववत् जानना चाहिए। ओमोदरियं–ऊनोदरी तप कुज्जा–करे। अवि–पूर्ववत्। उड्ढं–ऊर्ध्व। ठाणठाइज्जा–स्थान पर कायोत्सर्ग तप द्वारा आतापनादि करे। अवि–पूर्ववत्। गामाणुगाम–ग्रामानुग्राम। दूइज्जिज्जा–विचरे। अवि–अपि समुच्चय अर्थ में है। आहारं–आहार को। वुच्छिदिज्जा–छोड देवे। अवि–अपि शब्द से अन्य अर्थों का भी ग्रहण कर लेना। चए–छोड देवे। इत्थीसु मणं–स्त्री में लगे हुए मन को। पुव्व–पूर्व मे। दंडा–दंड है। पच्छा फासा–पीछे नरकादि दुखो का स्पर्श है तथा। पुव्वफासा–पहिले स्त्री का सुख रूप स्पर्श है। पच्छा दडा–पीछे दुख रूप दड मिलता है। इच्चेए–अत. ये स्त्रियो के ससर्गादि। कलह संगकरा भवंति–कलह सग्रामादि के कारण होते हैं अथवा राग-द्वेष आदि के उत्पादक होते हैं, अत.। पडिलेहाए-प्रत्युपेक्षणा से। आगमित्ता–जानकर। आणविज्जा–स्वात्मा को शिक्षित करे। अणासेवणाए–विषयो का सेवन न करना चाहिए अर्थात् अपने आत्मा को विषयो से पराङ् मुख रहने की शिक्षा देवे। त्तिबेमि–इति शब्द अधिकार की परिसमाप्ति मे है, गणधर श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं हे! शिष्य यह में तीर्थंकर वचन के अनुसार कहता हूँ अब सूत्रकार स्त्री के

परिहरण के विषय मे कहते हैं—से—वह त्यागी भिक्षु। नोकाहिए—स्त्री के शृङ्गारादि की कथा न करे। नो पासणिए—स्त्री के अग प्रत्यग का अवलोकन न करे। नो मामए—स्त्री के साथ न ममत्व करे। णो कय किरिए—तथा स्त्री मंडनादि क्रियायें न करे अर्थात् स्त्री की वैयावृत्य न करे। वइगुत्ते—वचन से संलाप न करे। अभ्रुप्पसवुडे—अध्यात्म सवृत स्त्री के विषय में मन से भी विचार न करे, तथा। सया—सदा। पावं—पाप कर्म को। परिवज्जइ—त्याग देवे। एय—यह। मोणं—मुनित्व-मुनि भाव है गुरु कहते हैं हे शिष्य! इस मुनि भाव को तू। समणुवासिज्जासि—सम्यक् प्रकार से पालन कर। त्तिवेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—वह भिक्षु प्रभून देखने वाला, प्रभूत ज्ञान वाला उपशान्त, समितियो से समित, ज्ञानयुक्त, सदा यन्नशील स्त्रीजन को देख कर अपने आत्मा को शिक्षित करे कि हे आत्मन्! यह स्त्री जन तुम्हारा क्या करेगा! यह स्त्री जन समस्त लोक मे परमाराम रूप है, इस प्रकार से कामीजन मानते हैं ऐसा श्री वर्धमान स्वामी ने वर्णन किया है। विचारशील भिक्षु यदि ग्रामधर्म-विषय से पीड़ित हो जावे तो उसे नीरस आहार करना चाहिए, उनोदरी तप करना चाहिए, ऊंचे स्थान पर खड़ा होकर कायोत्सर्ग द्वारा आतापना लेनी चाहिए, ग्रामानुग्राम विचरना चाहिए, आहार का परित्याग करना चाहिए (यहां तक कि ऊञ्चे से गिर कर प्राण त्याग कर देने चाहिए) परन्तु स्त्रीजन मे मन को आसक्त नही करना चाहिए कारण कि स्त्रीसग से पहिले (दड-धनादि मे उपार्जन के लिए महाकष्ट) होता है पीछे से नरकादि जनित दुखो का स्पर्श होता है तथा पहिले स्त्री के अङ्ग प्रत्यग का स्पर्श और पीछे नरकादि यातनाओ का दड भोगना पडता है, ये स्त्रियं कलह और सग्रामादि का कारण है और भयकर राग द्वेष को उत्पन्न करने वाली है इस प्रकार बुद्धि से विचार कर के कर्म के विपाक को सन्मुख रखकर विचार शील भिक्षु अपने आत्मा को शिक्षित करे। इस प्रकार मैं कहता हू। फिर वह त्यागी भिक्षु स्त्री की कथा न करे, इस के अ ग प्रत्यग का अवलोकन न करे, इसके साथ एकान्त मे किसी प्रकार को पर्यालोचना न करे, इस पर ममत्व न करे, इसको वैयावृत्य न करे और

इसके साथ रहस्यमय वार्तालाप न करे, तथा इसके विषय में मन में संकल्प भा न करे, पापकर्म का सदैव त्याग करे, गुरु कहते है हे शिष्य! तू इस मुनि-भाव का सम्यग् रूप से पालन कर, इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

विवेकशील साधु दीर्घदर्शी एवं ज्ञान सम्पन्न होता है। वह अतीत, अनागत एवं वर्त्तमान को तथा कर्म फल को भलि-भांती देखने वाला है। उसे सयम को सुरक्षित रखने एवं संयम के द्वारा समस्त कर्म बन्धनों को तोड़कर मुक्त होने के रास्ते का भी परिज्ञान है। वह उपशान्त प्रकृति वाला है एवं समिति–गुप्ति से युक्त है ' इस लिए वह संयम-निष्ठ मुनि कभी अनुकूल या प्रतिकूल परीषह उत्पन्न होने पर भी संयम से च्युत नहीं होता। उसे कोई भी स्त्री एवं भोगोपभोग के साधन अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते। क्योंकि उसने आत्मा के अनन्त सौन्दर्य को जान लिया है, अत: उसके सामने दुनिया के सभी पदार्थों का सौन्दर्य उसे फीका–सा प्रतीत होता है।

स्त्री एवं भोग–विलास के साधनों के उपस्थित होने पर वह सोचता है कि मैंने बड़ी कठिनता से सम्यक्त्व को एवं संयम-साधना को प्राप्त किया है। इन विषय-भोगों को तो मैं अनेक बार भोगचुका हूँ फिर भी इससे आत्मा की तृप्ति नहीं हुई। इनके कारण मैं बार–बार संसार में परिभ्रमण करता रहा हूँ। इस ससार बन्धन से छूटने का यह साधन मुझे कर्मों के क्षयोपशम से मिला है अत: अब संसार में भटकाने वाले विषय-भोगों की ओर आकर्षित नहीं हो सकता। ससार का रूप-सौन्दर्य मुझे पथ भ्रष्ट नहीं कर सकता।

ये स्त्रियें एवं भोगोपभोग के साधन बडे-बडे तत्त्ववेत्ताओं को भी मोह लेते हैं। और उनके मोहजाल में आबद्ध साधक पहिले तो संयम से भ्रष्ट होता है और बाद मे वह उनका दास हो कर जीवन व्यतीत करता है। इसलिए सब से अच्छा यही है कि मैं इन विषय-विकारों एवं भोगों को स्वीकार ही नहीं करूं। इस प्रकार सोच-विचारकर प्रबुद्ध पुरुष भोगेच्छा का त्याग कर देता है, वह भोगों की ओर आकर्षित ही नहीं होता।

तीर्थकरो ने स्त्री-काम-भोगो को भाव बन्धन कहा है। मोह कर्म के उदय से मनुष्य वासना के प्रवाह मे वहता है अत साधु को गुरु के अनुशासन मे रहकर मोह कर्म का क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए और वासना एवं विकृति को रोकने के लिए कामोत्तेजक आहार एवं ऐसे अन्य साधनों का त्याग करना चाहिए। विषयों से विरक्त रहने के लिए साधु को नीरस भोजन करना चाहिए। एक गांव मे लम्बे समय तक नहीं रहकर ग्रामानुग्राम विचरना चाहिए, आतापना लेनी चाहिए, एकान्त स्थान मे या पर्वतके शिखर

पर कायोत्सर्ग करना चाहिए तथा तपश्चर्या करते रहना चाहिए।

इसके साथ उसे सोचना चाहिए कि स्त्री के कारण कलह-कदाग्रह होते रहते हैं। इतिहास में भी इसके अनेकों प्रमाण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त स्त्री संसर्ग से शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है। व्यभिचारी व्यक्ति का दुनिया में तिरस्कार होता है। इस तरह सोच कर विषय-वासना का त्यागी साधु विषय-विकार की ओर आकर्षित न हो, और उसे स्त्री कथा, स्त्री परिचर्या एवं उसके साथ रहस्यपूर्ण बात-चीत नहीं करनी चाहिए। इस के लिए आगम में, मन, वचन और शरीर को गोप कर रखने का विधान किया गया है।

इस तरह साधु को विवेक के साथ संयम का परिपानल करना चाहिए। अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों से पराभूत होकर संयम से भ्रष्ट नहीं होना चाहिए।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

पंचम अध्ययन—लोकसार

पंचम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक में अव्यक्त-अगीतार्थ मुनि के एकाकी विचरने का निषेध किया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में आचार्य की सेवा में रह कर रत्नत्रय की आराधना-साधना करने वाले मुनि के विषय में विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से बेमि तंजहा-अवि हरए पडिपुण्णे समंसि भोमे चिट्ठइ उवसंतरए सारक्खमाणे, से चिट्ठइ सोयमज्झगए से पास सव्वओ गुत्ते, पास लोए महेसिणो जे य पन्नाणमंता पबुद्धा आरम्भोवरया सम्ममेयंति पासह, कालस्स कंखाए परिव्वयंति त्तिबेमि ॥१६१॥

छाया—तद् ब्रवीमि तद्यथा—अपि ह्रदः प्रतिपूर्णः समे भूभागे तिष्ठति उपशान्तरज. संरक्षन् स तिष्ठति स्रोतोमध्यगतः स पश्य ! सर्वतः गुप्तः पश्य। लोके महर्षयः ये प्रज्ञानवन्तश्च प्रबुद्धाः आरम्भोपरताः सम्यगेतदिति पश्यत ! कालस्य काक्षया परिव्रजन्ति इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—यह शब्द अथ शब्द के स्थान में प्रयुक्त किया गया है, अत. इसका अर्थ है—अब मैं आचार्य के संबन्ध मे। बेमि—कहता हूं। तजहा—जैसे। अपि—सभावना अर्थ में। पडिपुण्णे हरए—जल से भरा हुआ एक जलाशय है। समसि—उसका जल समतल। भोमे—भूमि में। चिट्ठइ—ठहरता है। उवसंतरए—उसका जल उपशान रज वाला है, और। से—वह—जलाशय। सारक्खमाणे—जलचर जीवो का संरक्षण करता हुआ। चिट्ठइ—स्थित है। इसी तरह वह आचार्य भी। सोयमज्झगए—स्रोत मध्यगत है—स्वयं श्रुत का पारायण करता है और अन्य साधुओ को पढाता भी है, और वह। सव्वओ—सब तरह से। गुत्ते—इन्द्रिय और मन का गोपन करने वाला है। पास—हे शिष्य ! तू देख कि। लोए—लोक मे

जे महेसिणो—जो महर्षि हैं, उनको। पास—देख, वे भी जलाशय के समान है। य—और वे। पन्नाणमंता—प्रज्ञावन्त आगमो के ज्ञाता हैं। पवुद्धा—प्रबुद्ध तत्त्वज्ञ हैं। आरम्भोवरया-आरम्भ से निवृत्त हैं। सम्ममेयंति—जो कुछ मैंने कहा है उसे सम्यक् प्रकार से। पासह—देखो, क्योंकि सयमी पुरुष। कालस्स—समाधि मरण रूप काल की। कक्खाए—आकाक्षा रखते हुए संयम मार्ग में। परिव्वयंति—भली-भाति चलने का प्रयत्न करते है। त्तिवेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—तीर्थंकर भगवान ने आचार्य के गुणो का जैसा वर्णन किया है, वैसा ही मै तुम्हे कहता हू। जैसे एक जल से परिपूर्ण उपशान्त रज वाला जलाशय समभूमि मे ठहरा हुआ, जलचर जीवो का सरक्षण करता हुआ स्थित है। इसी प्रकार आचार्य भी सद्गुणो से युक्त, उपशान्त एवं गुप्तेन्द्रिय है। वे श्रुत का अनुशीलन-परिशीलन करते हैं एव अन्य साधुओं को भी श्रुत का बोध कराते है। हे शिष्य! तू लोक मे उनको देख जो महर्षि है, आगमवेत्ता, तत्त्वज्ञ एव आरंभ-समारंभ से निवृत्त हैं। हे शिष्य! तू मध्यस्थ भाव से उनके जीवन का अवलोकन कर, वे महापुरुष जलाशय के समान हैं अत. मुमुक्षु पुरुष को समाधि मरण को आकाक्षा करते हुए सयम पालन मे सलग्न रहना चाहिए, ऐसा मैं कहता हुं।

हिन्दी विवेचन

संघ की व्यवस्था के लिए, साधु-साध्वियों में अनुशासन बनाए रखने के लिए शास्ता का होना जरूरी है। आगम की परिभाषा मे शास्ता को आचार्य कहते हैं। प्रस्तुत सूत्र में गुणों एवं उनकी श्रुत संपदा का जलाशय की उपमा देकर वर्णन किया गया है। जलाशय की विशेषता का उल्लेख करते हुए चार बातें बताई गई हैं–१-जलाशय समभूमि पर होता है, २-जल से परिपूर्ण होता है, ३-उपशान्त रज वाला होता है, और ४-जलचर जीवों का संरक्षक या आश्रयभूत होता है। सरोवर का महत्व इन्हीं चार विशेषताओं से ही स्थित है। यदि सरोवर समतल भूमि पर नहीं है तो प्रत्येक प्राणी सुगमता से उसके पानी का लाभ नहीं उठा सकता। दूसरे में जल से रहित सरोवर का कोई मूल्य नहीं है। जिससे किसी भी प्राणी को लाभ नहीं पहुचता। तीसरे में सरोवर का उपशान्त रजमय होना उसकी स्वच्छता का प्रतीक है और स्वच्छ जल प्रत्येक व्यक्ति के लिए लाभप्रद हो सकता है और चौथे में जलचर जीवों के संरक्षक के रूप में उसकी परोपकारिता परिल-

क्षित होती है। वह जैसे मत्स्य आदि जीवों को आश्रय देता है, उसी प्रकार सर्प आदि को भी आश्रय देता है और सर्प-सिंह आदि हिंसक जन्तुओं की भी प्यास बुझाता है। इस गुण से उसकी समभाव वृत्ति का भी बोध होता है। इन चार बातों से ही जलाशय सरोवर का महत्त्व एवं श्रेष्ठता बताई गई है।

आचार्य का जीवन भी सरोवर के समान होता है। उनके जीवन में कहीं भी विषमता परिलक्षित नहीं होती। और वह श्रुतज्ञान के जल से परिपूर्ण रहता है। ज्ञान सम्पन्न होने पर भी उनके जीवन में अभिमान का उदय नहीं होता। उनकी कषायें सदा उपशान्त रहती हैं। और वे संघ में स्थित साधकों के संरक्षण में सदा तत्पर रहते हैं। वे समभाव से प्रत्येक साधक की उन्नति के लिए प्रयत्न करते हैं। छोटे-बड़े का, विद्वान-मूर्ख का उनके मन में भेद नहीं रहता। सब के साथ समानता का व्यवहार करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त "पबुद्धा, पन्नाणमता, आरम्भोवरया" इन तीन पदों से रत्नत्रयी का बोध कराया गया है। प्रबुद्ध शब्द से सम्यग्दर्शन, प्रज्ञावंत शब्द से सम्यक् ज्ञान और आरम्भ से निवृत्त शब्द से सम्यक् चारित्र का बोध होता है। और आचार्य एवं साधु दोनों रत्नत्रय के आराधक हैं। अतः श्रुत सम्पन्न आचार्य एवं साधु को जलाशय के समान श्रेष्ठ बताया गया है।

इस तरह श्रुत सम्पन्न आचार्य एवं साधु के आदर्श जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि तुम स्वयं मध्यस्थ—निष्पक्ष भाव से अनुभव करो देखो! इस कथन से अन्धश्रद्धा का उच्छेद किया गया है। साधक को अपनी निष्पक्ष बुद्धि से गुणों को समझने का अवसर दिया गया है। इस कथन से स्वतन्त्र चिन्तन को प्रोत्साहन मिलता है। इस तरह साधक को श्रुत सम्पन्न आचार्य के अनुशासन में समाधि मरण की आकांक्षा रखते हुए रत्नत्रय के विकास में संलग्न रहना चाहिए। जीवन में मृत्यु का आना निश्चत है। अतः साधु को मृत्यु से डरना नहीं चाहिए, बल्कि समभाव पूर्वक समाधि मरण की आकांक्षा रखनी चाहिए। क्योंकि समाधि मरण से साधक अशुभ कर्मों की निर्जरा करता हुआ, एक दिन इसी मरण से निर्वाण पद को पा लेता है। अतः साधक को समाधि मरण की आकांक्षा रखने का आदेश दिया गया है।

श्रुत सम्पन्न आचार्य के अनुशासन में रहकर अपनी साधना को तेजस्वी बनाने वाले शिष्य की कैसी वृत्ति हो, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—वितिगिच्छासमावन्नेणं अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं,

सिया वेगे अणुगच्छंति असिता वेगे अणुगच्छंति, अणुगच्छमा-णेहिं अणणुगच्छमाणे कहं न निव्विज्जे ? ॥१६२॥

छाया—विचिकित्सासमापन्नेनात्मना नो लभते समाधिम्, सिताः वा एके अनुगच्छन्ति, असितावा एके अनुगच्छन्ति, अनुगच्छद्भिः अननुगच्छन् कथं न निर्विद्येत्।

पदार्थ—वितिगिच्छासमावन्नेणं—सशय से युक्त। अप्पाणेणं—आत्मा द्वारा। समाहिं—समाधि को। नो लहइ—प्राप्त नही कर सकता। वा—अथवा। एगे—कोई २। सिया—लघुकर्मी जीव पुत्रादि के स्नेह से वद्ध होने पर भी। अणुगच्छति—आचार्यादि का अनुगमन करते है—उनके कथन को स्वीकार करते हैं। वा—अथवा। एगे—कोई २। असिता—जो पुत्रादि के स्नेह से वियुक्त हैं (साधु है वे भी)। अणुगच्छन्ति—आचार्यादि के वचन को स्वीकार करते हैं। अणुगच्छमाणेहिं—जो आचार्य के आदेशानुसार चलने वाले हैं तथा अणणुगच्छमाणे—कर्मोदय से जो आचार्यादि के वचनानुसार नही चलता, वह। कहं—कैसे। ननिव्विज्जे—खेद को प्राप्त नही होता ? अवश्य होता है।

मूलार्थ—सन्देह युक्त आत्मा समाधि को प्राप्त नही कर सकता, कोई २ गृहस्थ आचार्य की आज्ञा का पालन करते है, तथा कोई २ साधु आचार्य की आज्ञानुसार चलते है ! अर्थात् आचार्य के वचनानुसार चलने से समाधि की प्राप्ति करते है। तो फिर जो आचार्य की आज्ञा का पालन नही करता वह सशययुक्त आत्मा खेद को क्यो न प्राप्त होगा ? अर्थात अवश्य होगा।

हिन्दी विवेचन

आगम मे आत्म विकास की १४ श्रेणिया मानी गई है। जिन्हें आगमिक भाषा में गुणस्थान कहते हैं। चतुर्थ गुणस्थान से आत्मा विकास की ओर सन्मुख होता है और १४ वें गुणस्थान में पहुचकर वह अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है। इस तरह सम्यक् श्रद्धा से आत्मा विकास के पथ पर अग्रसर होता हैं और अयोगि अवस्था मे पहुचकर पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। इस विकास क्रम में श्रद्धा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्यक् श्रद्धा के बल पर ही साधक साध्य को सिद्ध कर पाता है। इस लिए आगम मे श्रद्धा को

परम-अत्यन्त दुर्लभ बताया गया है*। क्योंकि श्रद्धा पूर्वक पढ़ा गया श्रुत सम्यग्श्रुत-कहलाता है और श्रद्धा पूर्वक स्वीकार किया गया आचरण ही सम्यक् चारित्र के नाम से जाना-पहचाना जाता है श्रद्धा या सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान एवं चारित्र दोनों सम्यग् नहीं रह पाते।

सम्यक्श्रद्धा के अभाव में चारित्र भी सम्यग् नहीं रहता है। श्रद्धा विहीन साधक के चित्त मे संशय एवं परिणामों में स्थिरता नहीं रहती है और इस कारण उसके चित्त में समाधि भी नहीं रहती। क्योंकि समाधि-शान्त चित्त की स्थिरता पर आधारित है और चित्त की स्थिरता शुद्ध श्रद्धा पर अवलम्बित है। अत साधक को आचार्य एवं तीर्थंकरों के वचनों पर तथा श्रुत पर विश्वास रखना चाहिए। जो साधक श्रुत पर विश्वास रखता है और उसके अनुसार प्रवृत्ति करता है, उसके मन में चंचलता एवं अस्थिरता नहीं होती है। इससे वह शांति को, पूर्ण सुख को प्राप्त कर लेता है। परन्तु रात-दिन संशय में पड़ा हुआ व्यक्ति शांति को नहीं पा सकता। कहा भी है "संशयात्मा विनश्यति" अर्थात् संशय में निमग्न व्यक्ति अपना विनाश करता है।

इस लिए साधक को संशय का त्याग कर निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा रखनी चाहिए। अपनी श्रद्धा को तेजस्वी बनाने के लिए साधक को क्या चिन्तन करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं ॥१६३॥

छाया—तदेव सत्यं निःशंकं यज्जिनैः प्रवेदितम्।

पदार्थ—तमेव—वह पदार्थ—तत्त्वज्ञान। सच्चं—सत्य है। नीसंकं—सशय रहित है। जं—जो। जिणेहिं—जिन भगवान के द्वारा। पवेइयं—कहा गया है।

मूलार्थ—जो तत्त्वज्ञान जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया है, वह सत्य एव सशय रहित है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि ज्ञानावरण कर्म के उदय से श्रुतज्ञान अधिक न हो तब भी साधक को जिन प्रवचन पर श्रद्धा रखनी चाहिए। उसे वीतराग द्वारा प्ररूपित वचनों में शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि सर्वज्ञ प्रभु ने धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव आदि पदार्थों का एवं जीवाजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर निर्जरा-बन्ध एवं मोक्ष आदि तत्त्वों का जो वर्णन किया है, वह अपने ज्ञान मे देखकर

* सद्धा परं दुल्लहा।

किया है। उनके ज्ञान में दुनियां का कोई भी पदार्थ अनदेखा नहीं रह सकता है। अत: उनके प्रवचन में पूर्णत. यथार्थता है। इस कारण उनके द्वारा प्ररूपित तत्त्वों पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। इस तरह जिन वचनों पर श्रद्धा-निष्ठा रखने वाला सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके आत्म विकास की ओर उन्मुख होता है।

संशय का कारण मोह कर्म है और मोह कर्म का उदय साधु एवं श्रावक जीवन में भी हो सकता है। अत साधु के मनमें भी श्रुतज्ञान-आगमों में संशय हो सकता है और संशय से आत्मा का पतन होता है। अत सशय उत्पन्न होने पर साधु को यह सोच-विचार कर अपने संशय को नष्ट कर देना चाहिए कि जिनेश्वर भगवान ने जो कुछ. कहा है, वह सत्य एवं संशय रहित है, मेरे ज्ञान की कमी के कारण मे पूरी तरह समझ नहीं पा रहा हूँ। परन्तु इन वचनों में असत्यता नहीं है। इस तरह साधक को संशय रहित होकर संयम का परिपालन करना चाहिए। एक आचार्य ने भी कहा है--"वीतराग भगवान सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होते हैं, वे कभी भी मिथ्या भाषण नहीं करते।" अत' उनका प्रवचन सर्वथा सत्य एवं सत्यार्थ का प्रतिपादन करने वाला होता है।

"वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न ब्रुवते क्वचित्।
यम्मात्तस्माद् वचस्तेषा, तथ्यं भूतार्थ दर्शनम्।"

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं -

मूलम्—सड्ढिस्स णं समणुन्नस्स संपव्वयमाणस्स समियंति मन्नमाणस्स एगया समिया होइ १, समियंति मन्नमाणस्स एगया असमिया होइ २, असमयति मन्नमाणस्स एगया समिया होइ ३, असमयंति मन्नमाणस्स एगया असमिया होइ ४, समयंति-मन्नमाणस्स समिया वा असमिया वा समिया वा होइ उवेहाए ५, असमयंति मन्नमाणस्स समिया वा असमिया वा असमिया होइ उवेहाए ६, उवेहमाणो अणुवेहमाणं बूया—उवेहाहि समयाए, इच्चेवं तत्थ संधी झोसिओ भवइ, से उट्ठियस्स ठियस्स गइं

समणुपासह इत्थवि बालभावे अप्पाणं नो उवदंसिज्जा ॥१६४॥

छाया—श्रद्धावतः समनुज्ञस्य संप्रव्रजत· सम्यगिति मन्यमानस्य एकदा सम्यग् भवति१, सम्यगिति मन्यमानस्य एकदा असम्यग् भवति २, असम्यगिति मन्यमानस्य एकदा सम्यग् भवति ३, असम्यगिति मन्यमानस्य एकदा असम्यग् भवति ४, सम्यगिति मन्यमानस्य सम्यग् वा असम्यग् वा सम्यग् भवति उत्प्रेक्षया ५, असम्यगिति मन्यमानस्य सम्यग् वा असम्यग् वा असम्यग् भवति ६, इत्युप्रेक्षया उत्प्रेक्षमाणः अनुत्प्रेक्षमाणं ब्रूयात—उत्प्रेक्षस्व सम्यक्तया भावेन इत्येवं तत्र सन्धिर्झोषितः भवति स तस्योत्थितस्य स्थितस्य गतिं समनुपश्यत अत्रापि बालभावे आत्मानं नोपदर्शयेत् ।

पदार्थ—णं—वाक्यालंकार अर्थ मे है । सड्ढस्स—श्रद्धालु को तथा । समणुन्नस्स—वैराग्य से जिसका आत्मा भावित हो, अथवा । संपव्वयमाणस्स—सप्रव्रजित—दीक्षा—लेते हुए को । समियति—जैसे श्री जिनेन्द्र भगवान ने प्रतिपादन किया है वह सम्यग्-यथार्थ है इस प्रकार । मन्नमाणस्स—मानते हुए को । एगया—एकदा-किसी समय—उत्तर काल मे । समिया—सम्यग् । होइ—होता है १ । समियंति—सम्यक् है इस प्रकार । मन्नमाणस्स—मानते हुए को । एगया—एकदा-उत्तर काल मे । असमिया—असम्यक् । होई—होता है २ । असमियति—असम्यग् है इस प्रकार । मन्नमाणस्स—मानते हुए को । एगया—एकदा । समिया—सम्यक् । होई—होता है३ । असमयति-असम्यग् है इस प्रकार । मन्नमाणस्स—मानते हुए को । एगया—एकदा—किसी समय । असमिया—असम्यग् । होइ—होता है४ । समियति—सम्यग् है इस प्रका मन्नमाणस्स—मानते हुए को । समिया—सम्यग् । वा—अथवा । असमिया—असम्यग । वा—अथवा । समिया—सम्यग् । होइ—होता है । उवेहाए—सम्यग् विचार करने से५ । असमियत्ति—असम्यक् है इस प्रकार । मन्नमाणस्स—मानते हुए को । समिया—सम्यक् है । वा—अथवा । असमिया—असम्यग् है । वा—अथवा । असमिया—असम्यग् । होइ—होता है । उवेहाए—सम्यग् विचार करने से ६ । उवेहमाणो—आगमानुसार विचार करता हुआ । अणुवेहमाणे—विचार करते हुए के प्रति । बूया—कहे । समियाए—हे पुरुष ! सम्यग् विचार से । उवेहाहि—पर्यालोचन कर । (तात्पर्य कि सम्यग् प्रकार से- मध्यस्थ भाव से विचार करने पर ही पदार्थो का यथार्थ स्वरूप अवगत हो सकता है अन्यथा नहीं) इच्चेव—इस प्रकार । तत्थ—उस सयम मे यत्नशील होने पर । संधी—कर्म सन्तति रूप सन्धि । झोसियो—क्षपित । भवइ—होती

है। से – वह, सम्यक् प्रकार से। उद्‌ठियस्स – सयम मार्ग मे- उत्थित हुए की । ठियस्स– गुरजनो की आज्ञा मे स्थित की। गइं – गति को । समणुपासह – सम्यक् प्रकार से देखो! इत्थवि – यहा पर भी। बालभावे – बालभाव-असंयम भाव । अप्पाणं – अपने आत्मा को। नोउवदंसिज्जा – नही दिखलावे, अर्थात् सयम मार्ग में बालभाव का प्रदर्शन न करे।

मूलार्थ—श्रद्धालु या वैराग्य युक्त मुनि तथा दीक्षा लेते हुए व्यक्ति-जोकि श्री १-जिनेन्द्र भगवान के वचनो को सम्यग् मान रहा है--के भाव उत्तर काल मे भी सम्यग् होते हैं, २-सम्यग् मानते हुएके एकदा-किसी समय असम्यग् होते हैं, ३- असम्यग् मानते हुए के किसी समय सम्यग् होते है, ४-असम्यग् मानते हुए के भाव एकदा असम्यग् होते हैं, ५-सम्यग् मानते हुए के सम्यग् वा असम्यग्-तथा सम्यग् विचारणा से सम्यग् भाव होते है, ६-और असम्यग् मानते हुए के सम्यग् वा असम्यग् तथा असम्यग् विचारणा से असम्यग् होते है। आगमानुसार विचार करता हुआ विचार करने वाले के प्रति कहे कि हे पुरुष! तुम सम्यक् प्रकार से विचार करो! इस प्रकार सयम मे अवस्थित होने से कर्मो की सन्तति का क्षय होता है, वह जो सयम मार्ग मे यत्नशील और गुरुजनो की आज्ञा मे स्थित है तुम उसकी गति को देखो! साधक पुरुष यहा अपने आत्मा का बालभाव प्रदर्शित न करे

हिन्दी विवेचन

जब आत्मा अनन्तानुबंधीकषाय और दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियों—मिथ्यात्वमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय का क्षय या क्षयोपशम करता है, तब साधक के जीवन में श्रद्धा की, सम्यक्त्व की ज्योति जगती है। उसे यथार्थ तत्त्वों पर विश्वास होता है। अत. जब तक अनन्तानुबन्धी कषाय एवं दर्शनमोह का उदय रहता है, तब तक सम्यक्‌श्रद्धा आवृत्त रहती है। जैसे आंखों पर मोतिया बिन्दु आवरण आ जाने से दृष्टि मन्द पड़ जाती है। उसी तरह दर्शनमोह कर्म के उदय से आत्मा के स्वगुणों पर पर्दा-सा पड़ जाता है और उस कर्म आवरण के कारण आत्मा पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान पाता।

इससे स्पष्ट हो गया कि दुनियां में दो तरह की दृष्टि हैं, एक दर्शनमोह के आवरण से अनावृत्त और दूसरी है आवृत्त। इन्हें आगम में सम्यग् एवं मिथ्या दर्शन या

दृष्टि कहते हैं। संसार की चारों गतियों में दोनों दृष्टि के जीव पाए जाते हैं। परन्तु आत्मा का विकास एवं अभ्युदय सम्यग्दृष्टि से ही होता है। इस लिए जीवन मे सम्यक्त्व को अधिक महत्व दिया है। सम्यक्त्व भी क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन तरह का होता है। क्षायिक सम्यक्त्व जीवन में आने के बाद सदा बना रहता है, परन्तु शेष दो तरह का सम्यक्त्व सदा एक-सा नहीं रहता है। उस मे विचारों की तरंग के अनुसार उतार-चढ़ाव आता रहता है। इसी बात को प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है। कुछ व्यक्ति जिस निष्ठा के साथ दीक्षा लेते हैं, वही श्रद्धा-निष्ठा उनकी अन्त तक बनी रहती है। उनकी निष्ठा में तेजस्विता आती रहती है, परन्तु उसका प्रकाश धूमिल नहीं पड़ता। कुछ व्यक्ति दीक्षा समय निर्मल सम्यक्त्व वाले होते हैं, परन्तु दीक्षित होने के बाद दर्शन मोह के उदय से श्रद्धा से गिर जाते हैं। कुछ साधक दीक्षित होते समय सशय शील होते हैं, परन्तु बाद में उनका सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है। कुछ साधक दीक्षा ग्रहण करते समय एवं बाद में सशय शील या सम्यक्त्व रहित बने रहते हैं। इसी तरह अन्य भगों के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिए।

जीवों के कार्यों के भेद इन्ही दो दृष्टियों के आधार पर किए गए हैं। मिथ्यादृष्टि की क्रिया मिथ्या कहलाती है, तो सम्यग्दृष्टि की क्रिया सम्यक् कहलाती है और इसी सम्यक् क्रिया से आत्मा का विकास होता है सम्यक् भाव से अन्वेपण करने पर पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को देखा एवं जाना जा सकता है। अत: साधक को जीवन मे श्रद्धा एवं निष्ठा को बनाए रखना चाहिए और उसे प्रत्येक पदार्थ को सम्यग् दृष्टि से देखना चाहिए।

इसके अतिरिक्त साधक को सम्यक्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि के अन्तर को समझ कर अपनी श्रद्धा-निष्ठा को शुद्ध बनाए रखन चाहिए। श्रद्धानिष्ठ व्यक्ति के ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र में स्थिरता रहती है और उसमे पूर्व बन्धे हुए पाप कर्म का क्षय होता है। अभिनव रूप से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता, परन्तु श्रद्धाहीन व्यक्ति रात-दिन पाप कर्म का बन्ध करता है। अत. साधक को मिथ्यादृष्टि एव संशय का त्याग करके जिन वचनों पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए।

यह नितान्त सत्य है कि पाप कर्म का बन्ध अध्यवसाय के अनुसार होता है। श्रद्धाहीन व्यक्ति के अध्यवसाय सदा आरंभ-समारभ मे लगे रहते हैं, अत वह सदा हिंसा आदि दोषों मे सलग्न रहता है। और उससे पाप कर्म का बन्ध करता है इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वंति मन्नसि, तुमंसि-

नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वंति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं परियावेयव्वंति मन्नसि, एवं जं परिघित्तव्वंति मन्नसि, जं उद्द-वेयंति मन्नसि अंजू चेय पडिबुद्धजीवी, तम्हा न हंता नवि घायए, अणुसंवेयणमप्पाणेणं जं हंतव्वं नाभिपत्थए ॥१६५॥

छाया—त्वमेव नाम स एव यं हन्तव्यमिति मन्यसे, त्वमेव नाम स एव यमाज्ञापयितव्यमिति मन्यसे, त्वमेव नाम स यं परितापयितव्यमिति मन्यसे एवं यं परिगृहीतव्यमिति मन्यसे, यमपद्रापयितव्यमिति मन्यसे, ऋजुश्चैतस्य प्रतिबुद्धजीवी तस्मान्न हंता नापि घातयेत् अनुसंवेदन-मात्मना यद् हन्तव्यं नाभिप्रार्थयेत्।

पदार्थ—नाम—सभावना अर्थ मे है। च—और। एव—शब्द अवधारण अर्थ में हैं। ज—जिसको तू। हतव्वति—मारना। मन्नसि—चाहता है। स—वह। तुमंसि—तू ही है। नाम—सभावना। च एव—पूर्ववत्। ज—जिसको तू। अज्जावेयव्वंति—आज्ञा मे प्रवर्त्ताना। मन्नसि—चाहता है। स—वह। तुमसि—तू ही है। नाम और च एव पूर्ववत्। ज—जिसको तू। परियावेयव्वति—परितापना देनी। मन्नसि—चाहता है। स—वह। तुमसि—तू ही है अथवा जिसे तू परिगृहीतव्य—पकडना चाहता है वह तू ही है। एव—इस प्रकार। जं—जिसको तू। परिघित्तव्वति—पकडना। मन्नसि—चाहता है वह तू ही है। ज—जिसको। उद्दवेयंति—प्राणो से वियुक्त करना। मन्नसि—चाहता है वह तू ही है। च—पुन। एय—यह पूर्वोक्त विषय जानकर। अञ्जू—सरल वृत्ति वाला साधु। पडिबुद्ध-जीवी—ज्ञान युक्त जीवन व्यतीत करने वाला अर्थात् प्रत्येक जीव को अपने आत्मा के समान जानने वाला। तम्हा—इसलिए। न हता—स्वय जीव को न हने। नवि घायए—और न दूसरे से घात करावे तथा न इसकी अनुमोदना करे। अप्पाणं—आत्मा को हिंसादि कर्मों का अणुसवेयण—अनुसवेदन अर्थात् हिंसादि व्यापार जनित दु ख का अनुभव करना पडेगा इसी प्रकार की विचारणा करता हुआ। ज—जो कोई भी मारने आदि के भाव हैं अथवा हिंसा रूप—सावद्य क्रियाए हैं उनकी। नाभिपत्थए—प्रार्थना न करे।

मूलार्थ—जिस को तू मारना चाहता है वह तू ही है! जिसको तू आदेश देना चाहता है वह तू ही है, जिसको तू परितापना देना चाहता है

वह तू ही है, जिसको तू पकड़ना चाहता है वह तू ही है, जिसको तू प्राणो से वियुक्त करना चाहता है वह तू ही है। रिजुप्राज्ञ साधु प्रतिबुद्ध जीवन व्यतीत करने वाला, अर्थात् ज्ञान युक्त जोवन व्यतीत करने वाला होता है। इसलिए किसी भो जीव को न मारे, और न मारने की प्रेरणा करे, तथा मारने वाले को इस सावद्य क्रिया का अनुमोदन भी न करे, किन्तु इस प्रकार के भाव रक्खे कि यदि मुझसे किसी प्रकार की हिंसा हो गई तो उसके कटु फल का अनुभव मुझे अवश्य करना पड़ेगा। अतः किसी भी जोव को मारने की प्रार्थना न करे, अर्थात् न मारे ।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि सम्यग् एवं मिथ्यादृष्टि की क्रिया में अन्तर रहता है। जिस साधक के जीवन में सम्यक्त्व का प्रकाश होता है, वह प्रत्येक कार्य विवेक एवं उपयोग पूर्वक करता है। क्योंकि वह प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के समान समझता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि में विवेक का अभाव होता है। उसके जीवन में अपना स्वार्थ ही सर्वोपरि होता है, अतः वह दूसरे के दुःख-सुख को नहीं देखता। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि दूसरे प्राणी की हिंसा करना अपनी हिसा करना है। क्योंकि जिसे तू मारना चाहता है, अपने अधीन रखना चाहता है, परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।

इसका तात्पर्य यह है कि सब प्राणियों की आत्मा आत्मद्रव्य की अपेक्षा से समान है। सबको सुख-दु.ख का समान संवेदन होता है। ओर प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, दु.ख से बचना चाहता है। अत इस सिद्धात को जानने वाला साधक किसी भी प्राणी की हिसा नहीं करेगा। क्योंकि वह जानता है कि किसी प्राणी का वध करते समय अध्यवसायों-परिणामों में क्रूरता रहतो है और भावों की मलिनता के फल स्वरूप पाप कर्म का बन्ध होता है और आत्मा पतन के महागर्त में जा गिरती है। आतमा का पतन होना भी एक प्रकार से मृत्यु ही है। मृत्यु के समय दु.खानुभूति होती है और हिंसक प्रवृत्ति से भी दु.ख परम्परा मे अभिवृद्धि होती है। इससे जन्म—मरण का प्रवाह बढ़ता है। इस प्रकार मरने वाले प्राणी के अहित के साथ मारने वाले प्राणी का भी अहित होता है। वह पाप कर्म से वोझिल होकर ससार में परिभ्रमण करता है। अत. यही उसकी मृत्यु है। इस लिए साधक

को यह समझकर-जिसे मै मार रहा हूँ, वह मैं ही हूँ, यह उस प्राणी की नहीं मेरी अपनी ही हिंसा है, हिंसा से निवृत्त होना चाहिए।

उसे अपने आत्म ज्ञान से सब प्राणियों के स्वरूप को समझ कर हिंसा से निवृत्त रहना चाहिए। क्योंकि जो आत्मा है वही विज्ञाता है, अन्य नहीं। कुछ विचारक आत्मा को ज्ञान से भिन्न मानते हैं। उन्हें संशय है कि आत्मा और ज्ञान एक कैसे हो सकते है? इसी संशय का निवारण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया। जेण वियाणइ से आया तं पडुच्च पडिसंखाए, एस आयावाई समियाए परियाए वियाहिए, त्तिबेमि ॥१६६॥

छाया—यः आत्मा स विज्ञाता, य. विज्ञातास आत्मा येन विजानाति स आत्मा तं प्रतीत्य प्रतिसंख्यायते एष आत्मवादी सम्यक्तया पर्यायः व्याख्यातः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—जे—जो। आया—आत्मा है। से—वह। विन्नाया—विज्ञाता है। जे—जो। विन्नाया—विज्ञाता है। से—वह। आया—आत्मा है। जेण—जिससे—मत्यादि ज्ञान से। वियाणइ—जानता है। से—वह। आया—आत्मा है। तं पडुच्च—उस ज्ञान परिणाम के आश्रय से। पडिसखाए—आत्मा कहा जाता है। अर्थात् आत्म व्यपदेश ज्ञान सापेक्ष है। एस—यह अनन्तरोक्त। आयावाई—आत्मवादी कहा जाता है, तथा। समियाए—सम्यग् भाव से वा शमिता से। परियाए—सयम पर्याय। वियाहिए—वर्णन किया गया है। त्तिवेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो आत्मा है वह विज्ञाता है, जो विज्ञाता है वह आत्मा है, जिसके द्वारा जानता है वह आत्मा है, उस ज्ञान पर्याय की अपेक्षासे आत्मा कहलाता है, इस प्रकार वह आत्मवादी कहा गया है, और फिर उसका सम्यक् प्रकार से सयम पर्याय कहा गया है। इस प्रकार मै कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में आत्मा और ज्ञान की एक रूपता बताई गई है। आगम में आत्मा का लक्षण उपयोग—ज्ञान और दर्शन माना गया है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान के विना आत्मा का अस्तित्व नहीं रह सकता। जहां ज्ञान परिलक्षित होता है, वहां आत्मा की प्रतीति होती है और जहां चेतना का आभास होता है वहां ज्ञान की ज्योति अवश्य

रहती है। जैसे सूर्य की किरणें और प्रकाश एक-दूसरे के अभाव में नहीं रह सकते। जहां किरणें होंगी वहां प्रकाश भी अवश्य होगा और जहां सूर्य का प्रकाश होगा वहां किरणों का अस्तित्व भी निश्चित रूप से होगा। इसी प्रकार आत्मा ज्ञान के बिना नहीं रह सकती। जिस पदार्थ में ज्ञान का अभाव है वहां आत्म चेतना की प्रतीति भी नहीं होती, जैसे स्तम्भ आदि जड़ पदार्थ।

यह सत्य है कि ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है। इस दृष्टि से ज्ञान और आत्मा दो भिन्न पदार्थ हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि गुण सदा गुणी में रहता है। गुणी के अतिरिक्त अन्यत्र उसका कहीं अस्तित्व नहीं पाया जाता और उसका गुणी आत्मा ही है। अतः इस दृष्टि से वह आत्मा से भिन्न होते हुए भी अभिन्न है। क्योंकि सदा-सर्वदा आत्मा में ही स्थित रहता है। इसी अभिन्नता को बताने के लिए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया कि जो आत्मा है वही विज्ञाता—जानने वाला है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है। इससे आत्मा और विज्ञाता में एकरूपता परिलक्षित होती है।

प्रश्न हो सकता है कि आगम में आत्मा को कर्ता एवं ज्ञान को करण माना गया है और कर्ता और करण दोनों भिन्न होते हैं, और यहां दोनों की अभिन्नता बताई गई है, अतः दोनों विचारों मे एकरूपता कैसे होगी ?

इसका समाधान यह है कि जैन दर्शन प्रत्येक पदार्थ पर स्याद्वाद—अनेकान्त की दृष्टि से सोचता-विचारता है। अतः उसके चिन्तन में विरोध को पनपने का अवकाश ही नहीं मिलता। वह आत्मा और ज्ञान को न तो एकान्त रूप से भिन्न ही मानता है और न अभिन्न ही। गुण और गुणी की अपेक्षा से आत्मा और ज्ञान अभिन्न प्रतीत होते हैं, तो कर्ता एवं करण की अपेक्षा से भिन्न भी परिलक्षित होते हैं। इनका भेद करण के बाह्य और आभ्यन्तर भेद पर आधारित है। जैसे देवदत्त आत्मा का आत्मा से निश्चय करता है, इसमें देवदत्त—आत्मा एव निश्चय ज्ञान की एक रूपता दिखाई देती है। और देवदत्त कलम से पत्र लिखता है, इसमे देवदत्त एवं कलम से लिखने की भिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है। इस प्रकार ज्ञान आत्मा से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। प्रस्तुत सूत्र में इसका गुण-गुणी की दृष्टि से उल्लेख किया गया है, अतः यहां उसकी अभिन्नता ही दिखाई गई है।

निष्कर्ष यह निकला कि आत्मा ज्ञानवान है। उसमे सत्ता रूप से अनन्त ज्ञान स्थित है। परन्तु, ज्ञानावरणीय कर्म के आवरण से उसकी शक्ति प्रच्छन्न रहती है। उक्त कर्म का जितना क्षय एवं क्षयोपशम होता रहता है, उतना ही आत्मा में

ज्ञान का प्रकाश फैलता रहता है। जब उक्त कर्म का सर्वथा क्षय कर दिया जाता है, तब आत्मा में पूर्ण ज्ञान की ज्योति जगमगा उठती है। ज्ञान के इस विकास को पांच प्रकार का माना गया है— १-मति ज्ञान, २-श्रुत ज्ञान, ३-अवधि ज्ञान, ४-मनःपर्यव ज्ञान और ५-केवल ज्ञान। जिस व्यक्ति के जीवन मे दर्शन मोहनीय कर्म का उदय रहता हैं, उसमे भी ज्ञान का सद्भाव होता है। परन्तु, मोह कर्म के उदय से वह ज्ञान सम्यक् नहीं, मिथ्या ज्ञान कहलाता है। उसके तीन भेद किए गए हैं— १-मति अज्ञान, २-श्रुत अज्ञान, और ३-विभग ज्ञान। इस ज्ञान के द्वारा ही आत्मा पदार्थों को जानता है और वह (ज्ञान) सदा-सर्वदा आत्मा के साथ सबद्ध रहता है। इसलिए उसे आत्मा कहा है।

आत्म विकास में सम्यग् ज्ञान ही कारण भूत है। उसी के द्वारा साधक पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानकर सयम को स्वीकार करता है और रत्नत्रय की शुद्ध आराधना करके निर्वाण पद को प्राप्त करता है। अत साधक को आत्मा में स्थित अनन्त ज्ञान पर पडे हुए आवरण को क्षय करके निरावरण ज्ञान प्राप्त करने के लिए सदा सयम-साधना मे सलग्न रहना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥पचम उद्देशक समाप्त ॥

पंचम अध्ययन—लोकसार

षष्ठ उद्देशक

पंचम उद्देशक में आचार्य को जलाशय के समान बताया गया है। जलाशय के समीप रहने वाले अर्थात् रत्नत्रय से सम्पन्न आचार्य के सान्निध्य में रहने वाले शिष्य रत्नत्रय को प्राप्त करके संयम साधना में संलग्न रहते हैं और उसके द्वारा पूर्ण शान्ति को प्राप्त करते हैं। प्रस्तुत उद्देशक में शिष्यों के जीवन का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अणाणाए एगे सोवट्ठाणा, आणाए एगे निरुवट्ठाणा एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं, तद्दिट्ठीए, तम्मुत्तीए, तप्पुरक्कारे, तस्सन्नी, तन्निवेसणे ॥१६७॥

छाया—अनाज्ञया एके सोपस्थानाः आज्ञायामेके निरुपस्थानाः अय ते माभूत्, एतत् कुशलस्यदर्शनं तद्दृष्टिः तन्मुक्तिः, तत्पुरस्कारः, तत्संज्ञी, तन्निवेशनः।

पदार्थ—एगे—कई एक व्यक्ति। अणाणाए—जिनेश्वर भगवान की आज्ञा के विना। सोवट्ठाणा—कुमार्ग पर चल रहे हैं। एगे—कई एक व्यक्ति। आणाए—भगवान की आज्ञा मे। निरवट्ठाणा—पुरुपार्थ नहीं करते। एयं—ये दोनों—कुमार्ग में पुरुपार्थ और सन्मार्ग मे आलस्य। ते मा होउ—तुम्हारे मे न हो। एय—ऐसा। कुसलस्स—तीर्थंकर भगवान का। दसणं—दर्शन—मन्तव्य है, उनका आदेश है कि। तद्दिट्ठिए—शिष्य को आगम एव आचार्य की दृष्टि—आज्ञा के अनुसार कार्य करना चाहिए। तम्मुत्तीए—आचार्य की निर्लोभ वृत्ति के अनुसार उसे चलना चाहिए। तप्पुरक्कारे—प्रत्येक कार्य आचार्य की आज्ञा के अनुसार करना चाहिए। तस्सन्नी—आचार्य की भांति सदा ज्ञान मे सलग्न रहना चाहिए। तन्निवेसणे—शिष्य को सदा आचार्य एव गुरु के सान्निध्य मे रहना चाहिए।

मूलार्थ—कुछ लोग भगवान की आज्ञा के विपरीत कुमार्ग पर चलते हैं। कुछ साधक भगवान को आज्ञा का परिपालन करने मे आलस्य करते

हैं। परन्तु जिनेश्वर भगवान का आदेश है कि साधक के जीवन मे ये दोनो दोष-कुमार्ग में पुरुषार्थ एव सन्मार्ग में आलस्य न रहे। विनीत शिष्य को इन दोषो का त्याग करके गुरु की दृष्टि - आज्ञा से उनके समान निर्लोभवृत्ति से सयम का पालन करना चाहिए। आचार्य एवं गुरु की नरह सदा ज्ञान साधना मे सलग्न रहना चाहिए। और प्रत्येक कार्य उनकी आज्ञा से करना चाहिए। शिष्य को सदा आचार्य एव गुरु के सान्निध्य मे रहना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

आगम में विनय को धर्म का मूल कहा है। विनय के अभाव में जीवन में धर्म का उदय नहीं हो सकता और विनय की आराधना आज्ञा मे है। इस लिए आगम में कहा गया है कि-आज्ञा को पालन करने में धर्म है। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है कि जो व्यक्ति आगम एवं आचार्य की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करता है। वह आत्मा का विकास करते हुए एक दिन अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है। और जो व्यक्ति वीतराग प्रभु की आज्ञा के विपरीत मार्ग पर चलता है, उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण करने में आलस्य करता है, वह व्यक्ति संसार मे परिभ्रमण करता है। अतः विनीत शिष्य को उक्त दोनों दोषों का त्याग करके सदा तीर्थंकर भगवान एवं उनके शासन के सचालक आचार्य की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए। उसे सदा ज्ञान साधना एव संयम पालन मे संलग्न रहना चाहिए और उसे प्रत्येक कार्य आचार्य की आज्ञा लेकर ही करना चाहिए।

इस तरह के आचरण से साधक के जीवन मे किस गुण का विकास होता है, इस सम्बन्ध मे सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अभिभूय अदक्खू अणभिभूए पभू निरालंबणयाए जे महं अबहिमणे, पवाएण पवायं जाणिज्जा, सहसंमइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं वा अंतिए सुच्चा ॥१६८॥

छाया—अभिभूय अद्राक्षीत् अनभिभूतः प्रभु निरालम्बतायाः य महान् अबहिर्मनाः प्रवादेन प्रवादं जानीयात् सह सन्मत्या परव्याकरणेन अन्येषा वा

अन्तिके श्रुत्वा।

पदार्थ —अभिभूय— परीषहो को जीतकर । अदक्खू —चारो घातिककर्मों को क्षय करके तत्त्व को देखता है, और। अणभिभूए—अनुकूल और प्रतिकूल परीषहो के आने पर भी पराभूत नही होता। निरालबणयाए—माता-पिता आदि के आलम्बन से रहित हो कर। पभू—संयम पालन मे समर्थ है। जे—जो। महं—महापुरुष —लघुकर्म वाला है, उसका अबहिमणे—मन तीर्थंकर भगवान की आज्ञा से बाहिर नही जाता है। पवाएणं—आचार्य परम्परा से। पवायं—प्राप्त सर्वज्ञ उपदेश को। सहसमइयाए—सन्मति से या। परवागरणेणं—तीर्थंकर आदि के उपदेश से, या। अन्नेसिं अन्तिए— अन्य आचार्य के सान्निध्य से। सुच्चा—सुन कर। जाणिज्जा—जाने अर्थात् पदार्थों के यथार्थ स्वरूप से परिज्ञात होवे।

मूलार्थ—जो साधक परीषहों पर विजय प्राप्त करके तत्त्व का द्रष्टा होता है और माता-पिता एवं परिजनों के आलम्बन से रहित होकर संयम पालन में समर्थ है, वह भगवान की आज्ञा से बाहिर नही होता। आचार्य परंपरा से सर्वज्ञ के सिद्धान्त को जान कर और सर्वज्ञ के उपदेश से अन्य मत की परीक्षा करके, सन्मति-शुद्ध एवं निष्पक्ष बुद्धि से, तीर्थंकरों के उपदेश से या आचार्य के सान्निध्य से पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में आध्यात्मिक विकास का मार्ग बताते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों से घबराता नहीं है, वही आत्म अभ्युदय के पथ पर बढ़ सकता है। परीषहों पर विजय प्राप्त करने के लिए साहस, शक्ति एवं श्रद्धा-निष्ठा का होना अनिवार्य है। जिस व्यक्ति को तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान है एवं उन पर पूर्ण विश्वास है, वही व्यक्ति कठिनाई के समय भी अपने संयम मार्ग से विचलित नहीं होता और माता-पिता एवं अन्य परिजनों के आलम्बन की भी आकांक्षा नहीं रखता। क्योंकि वह जानता है कि उनका जीवन आरंभमय है। अतः उनके आश्रय में जाने का अर्थ है—आरंभ-समारंभ को बढ़ावा देना। और इस प्रवृत्ति से पाप कर्म का बन्ध होता है तथा संसार परिभ्रमण बढ़ता है। इस बात को जानने वाला एवं उस पर श्रद्धा-निष्ठा रखने वाला व्यक्ति सर्वज्ञ प्रभु की आज्ञा का परिपालन कर सकता है। क्योंकि सर्वज्ञ के वचनों मे

परस्पर विरोध नहीं होता और वे प्राणी जगत के हित को लेकर कहे गए हैं। इस लिए सर्वज्ञ के अतिरिक्त किसी के वचनों पर श्रद्धा नहीं होती। वह उसके आधार पर अन्य मत की परीक्षा करता है और हेय-उपादेय की पहचान करके हेय का त्याग करता है और उपादेय को स्वीकार करता है। जैसे—जैनागमों मे शब्द पौद्गलिक माना है और नैयायिक-वैशेषिक आदि शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। परन्तु, यह सत्य नहीं है। क्योंकि शब्द रूपवान है और आकाश रूप रहित है। रूप रहित पदार्थ का गुण रूप युक्त पदार्थ हो नहीं सकता। इसलिए शब्द भी रूपवान होने के कारण आकाश का गुण नहीं हो सकता। और आज के वैज्ञानिक अविष्कारों ने शब्द की पौद्गलिकता को स्पष्ट कर दिया है। इससे स्पष्ट है कि सर्वज्ञ के वचनों मे असत्यता नहीं होती।

इस प्रकार साधक पदार्थों का यथार्थ ज्ञान करके सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा के अनुरूप संयम का पालन करते हैं। पदार्थों का ज्ञान तीन प्रकार से होता है—१— सन्मति से— ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय एव क्षयोपशम से सन्मति प्रस्फुटित होती है और उससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है। २—तीर्थंकर के उपदेश से और ३— आचार्य के उपदेश से भी पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है।

पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाने के पश्चात् साधक को क्या करना चाहिए, इस सवन्ध मे सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—निद्देसं नाइवट्टेज्जा मेहावी सुपडिलेहिया सव्वओ सव्वप्पणा सम्मं समभिणाय, इह आरामं परिण्णाए अल्लीणे गुत्ते परिव्वए निट्ठियट्ठी वीरे आगमेण सया परक्कमेज्जासि त्तिबेमि ॥१६९॥

छाया—निर्देशं नातिवर्तेत मेधावी सुप्रतिलेख्य सर्वतः सर्वात्मना सम्यक् समभिज्ञाय इह आराम परिज्ञाय आलीनो गुप्तश्च परिव्रजेत् निष्ठितार्थी वीर आगमेन सदा पराक्रमेथाः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—मेहावी—बुद्धिमान साधु। निद्देसं—तीर्थंकरादि के उपदेश को। नाइवट्टेज्जा-अतिक्रम न करे—उल्लघन न करे। सुपडिलेहिया—भली प्रकार से प्रतिलेखन कर, फिर। सव्वओ—सर्व प्रकार से—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से। सव्वप्पणा—सर्वात्मना-सामान्य विशेष रूप से पदार्थों का पर्यालोचन करके। सम्म—सम्यक् प्रकार से। समभिण्णाय—सम्यग् वाद और मिथ्यावाद को जानकर, मिथ्यावाद का निराकरण करे, फिर। इह—इस मनुष्यलोक में

आराम— आराम-सयम स्थान को (जानकर) स्वीकार करके। अल्लीणे गुत्ते— जितेन्द्रिय होकर। परिव्वए — सर्व प्रकार से सयमानुष्ठान मे विचरे। निट्ठियट्ठी— मोक्षार्थी। वीरे—कर्म विदारण में समर्थ-वीर। आगमेण—सर्वज्ञ प्रणीत आचार द्वारा। सया—सदा। परक्कमे—मोक्ष मार्ग मे पराक्रम करे।

मूलार्थ—बुद्धिमान साधु भगवदुपदेश का उल्लंघन न करे, तथा सम्यक्-तथा सर्व प्रकार से सामान्य और विशेष रूप से पदार्थों के स्वरूप को जानकर परवाद-मिथ्यावाद का निराकरण करे, और इस मनुष्यलोक मे, आराम-सयम को स्वीकार करके जितेन्द्रिय होकर विचरे, तथा मोक्षार्थी कर्म विदारण मे समर्थ सदा सर्वज्ञ-प्रणीत आचार द्वारा मोक्षमार्ग मे पराक्रम करे।

हिन्दी विवेचन

हम यह देख चुके है कि आत्म विकास का मूल सम्यक्त्व—श्रद्धा है। जब साधक को सर्वज्ञ प्रणीत आगम पर श्रद्धा—निष्ठा होती है, तो वह उस उपदेश को जीवन मे स्वीकार कर सकता है। फिर भी, किसी भी स्थिति मे आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता और श्रुतज्ञान के द्वारा हेय-उपादेय के स्वरूप को जानकर हेय पदार्थों का त्याग करके उपादेय को स्वीकार करता है। इस प्रकार वह आरम्भ—समारम्भ से मुक्त होकर सयम—साधना मे संलग्न होता है।

सयम-साधना मे वही संलग्न होता है, जिसके मन मे कर्मों से सर्वथा मुक्त होने की अभिलाषा है। मोक्षार्थी व्यक्ति इस बात को भली-भाति जानता हैं कि आरम्भ—समारम्भ, विषय-भोग मे आसक्ति आदि संसार परिभ्रमण के कारण है और इनमें संलग्न व्यक्ति का मन सदा अशान्त रहता है। इसलिए पूर्ण समाधि एवं शान्ति का इच्छुक व्यक्ति ही सयम का परिपालन कर सकता है।

इस उपदेश की आवश्यकता का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उड्ढं सोया अहे सोया, तिरियं सोया वियाहिया।
एए सोया विअक्खाया, जेहिं संगंति पासह ॥१३॥

छाया—ऊर्ध्वं श्रोतांसि अधः श्रोतांसि तिर्यक् श्रोतांसि, व्याहितानि, एतानि श्रोतांसि व्याख्यातानि, यैः संगमिति पश्यत।

पदार्थ—सोया—कर्म आने के मार्ग। उड्ढ—ऊर्ध्व लोक में वैमानिक देवो मे

विषय वासना रूप हैं। अहे—नीचे के लोक मे-भवनपति आदि देवो में। सोया—विषय-वासना आदि रूप कर्म स्रोत हैं। तिरिय सोया—तिर्यक्—व्यन्तर और मनुष्यादि मे विषय-वासना रूप कर्म श्रोत। वियाहिया—कथन किए हैं। तथा ऊ चे पर्वतादि मे, नीचे-गुफा आदि मे और तिर्यक् आरामादि में कर्म स्रोत कथन किए गए हैं। एए—ये। सोया—श्रोत। विअक्खाया—वर्णन किए गए हैं। जेहिं—जिन्हो के। सगति—संग से प्राणी पापकर्म में प्रवृत्त हो रहे हैं, इति शब्द हेतु अर्थ में आया हुआ है।

मूलार्थ—ऊ ची दिशा मे, नीची दिशा मे और तिर्यक् दिशा मे कर्म श्रोत-विषय वासना रूप- वर्णन किए गए है। इन वर्णन किये गए कर्म श्रोतो को हे शिष्यो! तुम देखो! इन कर्म श्रोतो के सग से प्राणी पाप कर्मों मे प्रवृत्त हो रहे है।

हिन्दी विवेचन

सयम का विशुद्ध पालन करने के लिए साधक को आस्रव द्वार—कर्म आगमन के स्रोत से भली-भांति परिचित होना चाहिए। कर्म वन्ध के कारण को जानने वाला साधक उनसे बच सकता है। परन्तु, जो उनके यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता है, वह कर्म बन्ध के प्रवाह मे वह जाता है। अत. उससे बचने के लिए साधक को सबसे पहिले आस्रव द्वार को रोकना चाहिए।

आगम मे आठ प्रकार के कर्म बताए गए हैं। परन्तु, इन सब मे मोह कर्म की प्रधानता है। यह दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से दो प्रकार का है और सम्यग्दर्शन एवं चारित्र को आवृत्त रखता है। इसके उदय से जीव विषय-वासना मे संलग्न रहता है और परिणाम स्वरूप पाप कर्म का बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करता रहता है। इसी कारण मोह कर्म को कर्म का स्रोत कहा है। यह ऊर्ध्व, अधो एवं मध्य लोक मे सर्वत्र फैला हुआ है। तीनों लोक में स्थित जीव इसी कर्म के उदय से विषय-वासना एवं आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होते हैं। और उससे पाप कर्म का बन्ध करके संसार मे भटकते फिरते हैं। अत संयमनिष्ठ साधक को वार-बार विषय-वासना से निवृत्त होकर साधना मे संलग्न रहने का उपदेश दिया जाता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आवट्टं तु पेहाए इत्थ विरमिज्ज, वेयवी, विणइत्तु

सोयं निक्खम्म एसमहं अकम्मा जाणइ पासइ, पडिलेहाए नावकंखइ इह आगइं गइं परिण्णाय ॥१७०॥

छाया—आवर्त्तं तु उत्प्रेक्ष्य अत्र विरमेत् वेदवित् विनेतुं भावस्रोतः निष्क्रम्य एष महान् अकर्म्मा जानाति पश्यति प्रत्युत्प्रेक्ष्य नाकांक्षति इह आगतिं गतिं परिज्ञाय।

पदार्थ-तु—वितर्क अर्थ मे। **आवट्ट**—राग-द्वेष और विषय रूप आवर्त्त मे। **पेहाए**—विचार कर। **इत्थ**—इस आवर्त्त विषयक। **मेहावी**—आगम के जानने वाला। **विरमिज्ज**—निवृत्ति करे। **सोय**—स्रोत के। **विणइत्तु**—दूर करने के लिए। **निक्खम्म**—दीक्षा लेकर, पुरुषार्थ-प्रयास करे। **एस**—यह प्रत्यक्ष। **महं**—महापुरुष। **अकम्मा**—चार घातिकर्मों से रहित होने पर। **जाणइ**—विशेष रूप से जानता है। **पासइ**—सामान्य रूप से देखता है किन्तु, फिर। **पडिलेहाए**-पदार्थों के स्वरूप को जानकर-अर्थात् प्रतिलेखन कर। **नावकंखइ**—सत्कारादि की अभिलाषा नही करता। **इह**—इस मनुष्य लोक मे। **आगइं**—प्राणियो की आगति-आगमन। **गइं**—गति-गमन को। **पडिलेहाए**—पर्यालोचन करके, **परिन्नाय**—संसार के कारण को ज्ञान से जानकर प्रत्याख्यान से त्यागकर ससार से विमुक्त हो जाता है।

मूलर्थ—वेदवित्-ज्ञानवान् पुरुष, संसार के कारणभूत भाव स्रोत का विचार कर उसे छोड़ देता है। भाव स्रोत को दूर करने के लिए ही दीक्षा ग्रहण करता है अर्थात् प्रव्रज्याके द्वारा भाव स्रोतका निरोध करना है। यह महापुरुष चार प्रकार के घातिकर्मों का क्षय करके ससारवर्ति पदार्थो को जानता और देखता है—विशेष रूप से जानता और सामान्यरूप से देखता है। फिर वह किसी प्रकार के मान सत्कार की इच्छा नही करता किन्तु इस लोकवर्ति जोवों के गमनागमन को देखकर और उनके मूल कारणो को जानकर, उनका निराकरण करता है।

हिन्दी विवेचन

आत्मा मे स्थित अनन्त चतुष्टय—१-अनन्त ज्ञान, २-अनन्त दर्शन, ३-अनन्त शक्ति और ४-अनन्त सुख को प्राप्त करने के लिए पहिले कर्म स्रोत को रोकना आवश्यक है। अभिनव कर्मों के आगमन को रोके विना ज्ञानादि का विकास नहीं हो सकता। इस

के लिए साधक संयम-दीक्षा को स्वीकार करता है। सयम के द्वारा कर्मों का आगमन रोकता है और निर्जरा के द्वारा पूर्व आवद्ध कर्मों का क्षय करता है। इस तरह चार घातिक-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय कर्म का क्षय करके सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी बनता है। इस तरह सयम-साधना से राग-द्वेष का क्षय करके वीतराग अवस्था को प्राप्त होता है। फिर उसके मनमें किसी तरह की आकाक्षा नहीं रह जाती है। वह समस्त इच्छा-आकांक्षाओं से रहित होकर अपने आत्म स्वरूप मे रमण करता है। उस के ज्ञानमें सब कुछ स्पष्ट रहता है। संसार का कोई भी पदार्थ उससे प्रच्छन्न नहीं रहता। ऐसे महापुरुष को प्रस्तुत सूत्र में वेदवित् एवं अकर्मा कहा गया है।

इस तरह ससार परिभ्रमण के कारणों का उन्मूलन करने से उसे किस फल की प्राप्ति होती है, इस विषय का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अच्चेइ जाईमरणस्स वट्टमग्गं विक्खायरए, सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, ओए, अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने, से न दीहे न हस्से न वट्टे न तंसे न चउरंसे न परिमंडले न किण्हे न नीले न लोहिए न हालिद्दे न सुक्किल्ले न सुरभिगंधे न दुरभिगंधे न तित्ते न कडुए न कसाए न अंबिले न महुरे न कक्खडे न मउए न गरुए न लहुए न उण्हे न सीए न निद्धे न लुक्खे न काऊ न रुहे न संगे न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा परिन्ने सन्ने उवमा न विज्जए, अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि ॥१७१॥

छाया—अत्येति जातिमरणस्य वर्त्तमार्गं व्याख्यातरतः सर्वेस्वराः निवर्त्तन्ते तर्को यत्र न विद्यते, मतिस्तत्र न ग्राहिका, ओजः अप्रतिष्ठानस्य खेदज्ञः स न दीर्घो न ह्रस्वो न वृत्तो न त्र्यस्रो न चतुरस्रो न परिमंडलो न कृष्णो न नीलो न लोहितो न हारिद्रो न शुक्लो न सुरभिगन्धो न दुरविगन्धो न तिक्तो न कटुको

न कषायो नाम्लो न मधुरो न कर्कशो न मृदुर्न लघुर्न गुरुर्न शीतो न उष्णो न स्निग्धो न रुक्षो न कायवान् न रुहो न संगो न स्त्री, न पुरुषो न अन्यथा परिज्ञः, संज्ञः, उपमा न विद्यते अरूपिणी सत्ता अपदस्य पदं नास्ति।

पदार्थ—जाई—जन्म। मरणस्स—मरण के। वट्टमग्ग—मार्ग के कारण कर्मों का अच्चेइ—अतिक्रम करता है। विवखायरए—मोक्ष मे रत है। सव्वे—सर्व। सरा—स्वर—नियट्टंति—वहा पर नही है—अर्थात् ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति नही है, तथा वाच्य वाचक सम्बन्ध भी नही है। जत्थ—जहा पर। तक्का—तर्क। न विज्जइ—विद्यमान नही है। तत्थ—वहा पर। मई—मति—मतिज्ञान। न गाहिया—ग्राहक नही है अर्थात् मति का वहा पर कोई भी प्रयोजन नही है। ओए—केवल कर्म कलक से रहित सिद्ध भगवान है। अपइट्ठाणस्स—औदारिक शरीर वा कर्म अप्रतिष्ठान—मोक्ष का जो। खेयन्ने—खेदज्ञ—निपुण वा क्षेत्रज्ञ है। से—वह—परम पद का अभ्यासी, सिद्ध आत्मा ज्ञानदर्शनोपयुक्त है और। सस्थान की अपेक्षा से न दीर्घ है। न हस्से—न ह्रस्व है। न वट्टे—न वृत्त—वर्तुलाकार है—। न तंसे—न त्रिकोण है। न चउरंसे—न चतुष्कोण है—। न परिमंडले—न परिमंडल सस्थान वाला है, तथा वर्ण की अपेक्षा। न किण्हे—न कृष्ण वर्ण वाला है। न नीले—न नील वर्ण वाला है। न लोहिए—न लोहित है। न हालिद्दे—न पीत है—पीले वर्ण वाला है। न सुक्किल्ले—न शुक्ल-श्वेत है, गन्ध की अपेक्षा। न सुरभिगंधे—न सुगन्ध वाला है। न दुरभिगंधे—न दुर्गन्ध वाला है—रसकी अपेक्षा। न तित्ते—न तिक्त है। न कडुए—न कटुक है। न कसाए—न कषाय रस वाला है। न अंबिले—न खट्टा है। न महुरे—न मधुर है, स्पर्श की अपेक्षा। न कक्खडे—न कर्कश स्पर्श वाला है। न मउए—न मृदु स्पर्श—कोमल स्पर्श वाला है। न गरुए—न गुरु—भारा—है। न लहुए—न लघु—हल्का है। न उण्हे—न उष्ण है। न सीए—न शीत है। न निद्धे—न स्निग्ध है। न लुक्खे—न रुक्ष है। न काऊ—न काय वा लेश्या से युक्त है। न रुहे—कर्म वीज के अभाव मे जिसका पुनर्जन्म नही होता। न सगे-अमूर्त होने से जिसको किसी का सग नही। न इत्थी—जो न स्त्री है। न पुरिसे-न पुरुष है। न अन्नहा-न नपुसक है। परिन्ने—परिज्ञ है सर्वात्म प्रदेशो का ज्ञाता है। सन्ने—सज्ञ है—अर्थात् ज्ञान दर्शन के उपयोग से युक्त है—सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी है। उवमा न विज्जए—उसके-सिद्धात्मा के सुख की किसी पदार्थ से उपमा नही दी जा सकती। अरूवी सत्ता—वह अरूपी सत्ता है। अपयस्स—उसकी कोई भी अवस्था विशेष नही है अतः। पय—उसकी नियत्त अवस्था। नत्थि—नही है। तात्पर्य कि अपद का पद नही होना अर्थात् ऐसा कोई शब्द नही जिससे उसका निरूपण किया जा सके।

मूलार्थ—वह जन्म मरण के मार्ग को अतिक्रम करने वाला है, मोक्ष मे रत है। मोक्ष वा मोक्ष के सुख का शब्दो के द्वारा वर्णन नही किया जा सकता,तर्क उसमे काम नही करती, मति का वहा प्रयोजन नही अर्थात् मति के द्वारा वहां विकल्प उत्पन्न नही किया जा सकता, ऐसा केवल शुद्ध चैतन्य और ज्ञान, दर्शन तथा अक्षय सुख एव अनन्त शक्तिमय सिद्ध भगवान है! जोकि अप्रतिष्ठान नाम मोक्ष का ज्ञाता और परमपद का अभ्यासी है तथा सस्थान की अपेक्षा से वह-सिद्ध भगवान—न दीर्घ है न ह्रस्व न वृत्ताकार है न त्रिकोण, एवं न चतुष्कोण है न परिमडल के आकार-चूड़ी के आकार-वाला। वर्ण को अपेक्षा से न कृष्ण है न नीला, लाल है न पीला और न ही श्वेत है, गन्ध की अपेक्षा से न सुगन्ध युक्त है और न ही दुर्गन्धवाला है, रस की अपेक्षा से न तिक्त है न कटुक न कषाय न खट्टा और न मधुर है एव स्पर्श की अपेक्षा से वह न तो कर्कश है न कोमल, तथा न लघु है न गुरु, न उष्ण है न शीत और न स्निग्ध है न रुक्ष, तथा न वह काय वाला या लेश्या वाला है, इसी तरह न तो उसका कर्म रूप बीज है और न उसको किसी का सग है, वह न तो स्त्री है और न ही पुरुष और न ही नपुसक है, वह सामान्य और विशेष ज्ञान वाला, अवस्था विशेष से रहित अनुपम केवल शुद्ध चैतन्य स्वरूप अरूपी सत्ता वाला, अक्षय सुख की राशि अनन्त शक्तियो का भडार और ज्ञान दर्शन के उपयोग से युक्त हुआ विराजमान है।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र में बताया गया है कि आस्रव का निरोध करके एवं निर्जरा के द्वारा चार घातिककर्मों का क्षय करके आत्मा सर्वज्ञ बनता है। और सर्वज्ञ अवस्था में आयु कर्म के क्षय के साथ शेष तीन—वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म का सर्वथा क्षय करके आत्मा निर्वाण पद को प्राप्त करता है। प्रस्तुत सूत्र में इसी मोक्ष एवं मुक्तात्मा के विषय का विवेचन किया गया है।

मोक्ष उस स्थिति का नाम है, जिसमें साधक समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय कर देता है। अब उसके लिए कुछ भी करना अवशेष नहीं रह जाता है। फिर

आत्मा सब प्रकार की बाधा-पीड़ाओं एव कर्म तथा कर्म जन्य उपाधि से रहित हो जाता है, निरावरण ज्ञान एवं अनन्त आत्म सुख में रमण करता हुआ सदा-सर्वदा अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप में स्थित रहता है। यह अक्षय सुख वाला है, समस्त कर्मों से रहित है, अनन्त ज्ञान, दर्शन एवं शक्ति संपन्न है।

उसके स्वरूप का वर्णन करने की शक्ति किसी शब्द में नहीं है। उसके वर्णन करने में समस्त स्वर अपना सामर्थ्य खो देते हैं। क्योंकि शब्दों के द्वारा उसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है, जिसका कोई रूप हो, रंग हो या उसमें अन्य भौतिक आकार-प्रकार हो। परन्तु शुद्ध आत्मा इन सब गुणों से रहित है। उसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि का सर्वथा अभाव है। वहां आत्मा के साथ किसी पौद्गलिक पदार्थ का संबन्ध नहीं है। अतः शब्दों के द्वारा मोक्ष के स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। वेदों में 'नेति नेति' शब्द द्वारा इसी बात को व्यक्त किया गया है कि परमात्मा के स्वरूप का शब्दों से विवेचन नहीं किया जा सकता। आत्मा-परमात्मा को मानने वाले प्रायः सभी भारतीय दर्शन इस बात में एकमत हैं।

शब्द की अपेक्षा तर्क एवं बुद्धि का स्थान महत्वपूर्ण माना गया है और यह उससे भी सूक्ष्म है। इस कारण इनकी पहुंच भी शब्द से अधिक विस्तृत क्षेत्र में है। कवि एवं विचारक तर्क एवं बुद्धि की कल्पना से बहुत ऊंची उड़ाने भरने में सफल होते हैं। परन्तु मुक्त आत्म के स्वरूप का वर्णन करने में तर्क एवं बुद्धि भी असमर्थ है। क्योंकि मनन-चिन्तन एवं तर्क-वितर्क आदि पदार्थों के आधार पर होता है और मुक्ति समस्त मानसिक विकल्पों से रहित है अतः वहां तर्क एव बुद्धि की भी पहुंच नहीं है।

वैदिक ग्रन्थों मे भी ब्रह्म या परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है–जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, तथा रस हीन, नित्य और अगन्ध युक्त है, जो अनादि-अनन्त, यह तत्त्व से भी पर और ध्रुव (निश्चल) है, उस तत्त्व को जानकर पुरुष मृत्यु के मुखसे छूट जाता है। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है*वह जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षु श्रोत्रादि रहित, अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है जो सम्पूर्ण भूतों का कारण है, उसे विवेकी पुरुष देखते हैं†।' तैत्तीरय उपनिषद् में कहा

* अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं, तथारस नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्ते महतः पर ध्रुव., निचाय्य तन्मृत्मुखात्प्रमुच्यते ॥
कठोपनिशद्, १, ३, १५।

† यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमवर्णमचक्षु, श्रोत्र तदपाणिपादम्।
नित्यं विभु सर्वगनं सुसूक्ष्म तदव्यय यद्भूतयोनिं पश्यन्ति धीरा ॥
मुण्डकोपनिषद् ६, १, ६।

है—"जहां वचन की गति नहीं है और मन भी अप्राप्य है, ऐसे आनन्द स्वरूप ब्रह्म की द्वारा व्याख्या नहीं की जा सकती *। इसी तरह बृहदारण्यक मे भी ब्रह्म को अस्थूल, असूक्ष्म, अदीर्घ, अह्रस्व आदि माना है †। निर्वाण के सम्बन्ध मे बौद्ध ग्रन्थों मे भी ऐसे ही विचार मिलते हैं ‡। इस तरह इस विषय मे प्राय. सबके विचारों मे एकरूपता है।

मोक्ष मे आत्मा सर्व कर्म मल से रहित, विशुद्ध एवं एक है। उसके साथ न कर्म है और न कर्म जन्य उपाधि है। वह सब दोषों से रहित है और दुनिया के समस्त पदार्थों का ज्ञाता एवं द्रष्टा है। निष्कर्ष यह निकला कि मोक्ष मे स्थित आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है, न परिमंडल सस्थान वाला है, न कृष्ण, नील, पीत, रक्त एवं श्वेत वर्ण वाला है, न दुर्गन्ध, एवं सुगन्ध वाला है, न तीक्ष्ण, कटुक, खट्टा, मीठा एवं अम्ल रसवाला है, न गुरु, लघु, कोमल, कठोर, स्निग्ध, रुक्ष, शीत, एवं उष्ण स्पर्श वाला है, न स्त्री, पुरुष एव नपुसक वेद वाला है अर्थात् शब्द, रूप, रस, गध, स्पर्श आदि विशेषणों से रहित है। इस लिए मोक्ष या मुक्तात्मा को अपद कहा गया है। पद अभिधेय को कहते हैं, अत इसका यह अर्थ हुआ कि मोक्ष का कोई भी अभिधेय नहीं है। क्योंकि वहां वाच्य विशेष का अभाव है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से न सद्दे, न रूवे, न गंधे, न रसे, न फासे, इच्चेव, त्तिबेमि ॥१७२॥

---

*यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन ॥

—तैतिरीय उपनिषद् २, ४, १।

† ते होवाचैतद्वैतदक्षर गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनेऽतेजस्कमप्राणमुखममात्रमनन्तरमबाह्य न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन।

—बृहदारण्यक उपनिषद् ३, ८, ८, ४, ५, १५।

‡मज्झिमनिकाय (चूलमालुक्य सुत्त) ६३।
सयुत्तनिकाय, ४४।

छाया—स न शब्दः, न रूपः, न गन्धः, न रसः, न स्पर्शः इत्येव (इत्येतावन्त एव वस्तुनो भेदाः स्यु) इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह मुक्तात्मा। न सद्दे—शब्द रूप नहीं है। न रूवे—रूप युक्त नहीं है। न गंधे—गंध रूप नहीं है। न रसे—रस युक्त नहीं है। न फासे—स्पर्श वाला नहीं है। इच्चेव—वस्तु के इतने ही भेद हो सकते हैं। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—वह मुक्तात्मा शब्द, रूप, गंध, रस एवं स्पर्श युक्त नही है और रूपी वस्तु के इतने ही भेद होते है। ऐसा मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में पूर्व सूत्र में विस्तार से कही गई बात को संक्षेप में कहा है। और यह बताया है कि वस्तु के इतने ही भेद होते हैं। शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श के अतिरिक्त वस्तु का कोई भेद नहीं होता। अत इनके आधार पर वस्तु का वर्णन किया जाता है और मुक्तात्मा में इन सब का अभाव है; अतः उसका शब्दादि के द्वारा वर्णन नही किया जा सकता। सर्वज्ञ पुरुष भी उसका प्रत्यक्ष तो करते हैं; परन्तु उस आत्मानुभव को पूर्णतया व्यक्त नहीं कर सकते। क्योंकि अभिव्यक्ति का साधन शब्द है और इस बात को हम देख चुके है कि शब्द में उसका विवेचन करने की शक्ति नही है। अतः उसका अनुभव निरावरण स्थिति को प्राप्त करके ही किया जा सकता है।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥षष्ठ उद्देश समाप्त॥

॥ पचम अध्ययन_लोकसार समाप्त ॥

षष्ठ अध्ययन—धुत

प्रथम उद्देशक

प्रस्तुत अध्ययन का नाम धुत अध्ययन है। धुत शब्द का अर्थ है—मल का निवारण करना। यह दो प्रकार का है—द्रव्य धुत और भाव धुत। वस्त्र आदि के मैल को दूर करके उन्हें स्वच्छ-साफ बनाने को द्रव्य धुत कहा है और परीषह एवं उपसर्ग को सहन कर अष्ट कर्म मल को शुद्ध कर आन्तरिक मल को निवारण करने वाली आत्मा को भाव धुत-शुद्ध-बुद्ध कहा गया है। प्रस्तुत अध्ययन मे आभ्यन्तर-राग-द्वेष आदि विकार एवं बाह्य भोगोपभोग के साधन आदि के त्याग का एव आत्मा को शुद्ध करने की प्रक्रिया का उपदेश दिया गया है। आत्मा को शुद्ध करने की प्रक्रिया को धुत शब्द से अभिव्यक्त किया जाता रहा है, बौद्ध ग्रन्थों मे भी इसके लिए धुत शब्द का प्रयोग मिलता है। उनमे भी धुत शब्द के उक्त निर्युक्ति सम्मत अर्थ पाए जाते हैं।

भाव धुत के सम्बन्ध मे उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—ओबुज्झमाणे इह माणवेसु आघाइ से नरे, जस्स-इमाओ जाइओ सव्वओ सुपडिलेहियाओ भवंति, आघाइ से नाणमणेलिसं, से किट्टइ तेसिं समुट्ठियाणं निक्खित्तदंडाणं समाहियाणं पन्नाणमंताणं इह मुत्तिमग्गं, एवं (अवि) एगे महावीरा विपरिक्कमंति, पासह एगे अवसीयमाणे अणत्तपन्ने से बेमि,-से जहावि [सेवि] कुम्मे हरए विणिविट्ठचित्ते पच्छन्नपलासे उम्मगं से नो लहइ भंजगा इव संनिवेसं नो चयंति एवं (अवि) एगे अणेगरूवेहिं कुलेहिं जाया रूवेहिं सत्ता कलुणं थणंति नियाणओ ते न लभंति मुक्खं, अह पास तेहिं कुलेहिं आयत्ताए

—जाया ।

गंडी अहवा कोढी, रायंसी अवमारियं ।
काणियं झिमियं चेव, कुणियं खुज्जियं तहा ॥१४॥
उदरिं च पास मूयं च, सूणीयं च गिलासणिं ।
वेवइं पीढसप्पिं च, सिलिवयं महुमेहणिं ॥१५॥
सोलस्स एए रोगा, अक्खाया अणुपुव्वसो ।
अह णं फुसंति आयंका, फासा य असमंजसा ॥१६॥

मरणं तेसिं संपेहाए उववायं, चवणं च नच्चा, परियागं च संपेहाए ॥१७३॥

छाया—अवबुध्यमान. इह मानवेषु आख्याति स नरो यस्य इमा. जातयः सर्वतः सुप्रत्युपेक्षिता. भवन्ति, आख्याति स ज्ञानमनीदृशं, स कीर्त्तयति तेषां सम्यगुत्थितानां निक्षिप्त दण्डानां समाहितानां-प्रज्ञानवताम् इह मुक्ति-मार्ग एवं (अपि) एके महावीराः विपराक्रमन्ते पश्यत एकान् अवसीदतः अनात्मप्रज्ञान सोऽहं ब्रवीमि तद्यथा च (सोऽपि) कूर्मो ह्रदे विनिविष्टचित्तः पलाशप्रच्छन्न उन्मार्गमसौ न लभते, भञ्जगा. (वृक्षाः) इव सन्निवेशं न त्यजन्ति एवं (अपि) एके अनेक रूपेषु कुलेषु जाताः रूपेषु सक्ता. करुणं स्तनन्ति निदानतः ते न लभन्ते मोक्षम्, अथ पश्य। तेषु कुलेषु आत्मत्वाय जाता. गण्डी अथवा कुष्ठी राजांसी अपस्मारः काणत्वं जाड्यता चैव कुणिः कुब्जी तथा उदरिं च पश्य मूकं च शूनत्वं च गिलासिनिं (भस्मकोव्याधि) वेपन्ति (कम्पमानम्) पीठसर्पित्वं च श्लीपदं मधुमेहिनम् षोडशाऽऽख्याते रोगाः आख्याता. अनुपूर्वशः. अथ (णं) स्पृशन्ति आतंकाः स्प-

र्शाश्च असमंजसा ! मरण तेपा सप्रेक्ष्य—उपपातं, च्यवनं च ज्ञात्वा परिपाकं च सम्प्रेक्ष्य।

पदार्थ—इह—इस मनुष्य लोक मे। माणवेसु—मनुष्यों में। ओवुज्झमाणे—स्वर्ग, अपवर्ग और ससार के कारणो को जानता हुआ। से—वह। नरे—मनुष्य। आघाइ—धर्म कहता है। जस्स—जिसके। इमाओ—ये—शस्त्र परिज्ञाध्ययन मे कथन की गई। जाइओ—एकेन्द्रियादि जातियें। सव्वओ—सर्व प्रकार से। सुपडिलेहियाओ—सुप्रतिलेखित। भवति—होती हैं, तथा वही अर्थात् केवली, श्रुतकेवली या अतिशय ज्ञान युक्त व्यक्ति। आघाइ—धर्म का कथन करता है। से—वह—तीर्थंकर, केवली या श्रुतकेवली जिसका। नाणमणेलिस—ज्ञान अन्य स्थानो मे नही है अर्थात् अनीदृश ज्ञान है। से-वह। किट्टइ-कहता है। किनको कहता है? तेसिं—उनको जो। समुट्ठियाण—धर्म ग्रहण करने के लिए उत्थित हैं। निक्खित्त दडाणं—मन, वचन और काय दड को जिन्होने छोड दिया है। समाहियाणं—जो तप-सयमादि में समाहित—उद्यत हैं। पन्नाणमताणं—जो प्रज्ञान वाले है। इह—इस मनुष्य लोक मे। मुत्तिमग्ग—मुक्तिमार्ग का प्रकाश करते है। एव—इस प्रकार। एगे—तीर्थंकरादि धर्म कहते हैं, फिर। महावीरा—वीर पुरुष तीर्थंकर भापित धर्म में। विप्परिक्कमति—पराक्रम करते हैं, तथा। एगे—कई एक। अवसीयमाणे—अवसीदित हुए—मोह कर्म के प्राबल्य से जो सयम से गिरते हैं, उनको। पास—हे शिष्य! तू देख। अणत्तपन्ने—अनात्म-प्रज्ञ—जिनकी आत्मा के लिए हित बुद्धि नही है। से बेमि—हे शिष्य! वह जो धर्म से गिरता है उसके विषय में फिर मैं कहता हूँ। से—अव। जहावि—जैसे कि—यहा अपि शब्द च शब्द के अर्थ मे आया है। कुम्मे—कछुआ। हरए—ह्रद मे—सरोवर में। विणिविट्ठचित्ते—अत्यन्त एकाग्र चित्त होकर ठहरता है, तथा जो सरोवर। पच्छन्नपलासे—वृक्षो के पत्र गिरने से आच्छादित्त हो रहा है। उम्मग्ग—निकलने का मार्ग। से—वह—कछुआ। नो लहइ—प्राप्त नही कर सकता, इसी प्रकार संसारी जीव ससार सरोवर मे पडा हुआ उससे बाहिर निकलने का मार्ग प्राप्त नही कर सकता, जो ससारी जीव। भजगा इव—वृक्षो की तरह। सनिवेस—स्व स्थान को। नो चयति—नही छोडते (वे ही दुःखादि को सहते रहते हैं) एव—इसी प्रकार। अवि—संभावना अर्थ में है। एगे—कई एक भारी कर्मी जीव। अणेगरूवेहिं—नाना प्रकार के ऊच-नीच। कुलेहि—कुलो मे। जाया—उत्पन्न होते हैं। रूवेहि सत्ता—रूपादि विषयो में आसक्त हुए। कलुण—करुणा युक्त—दीन वचन। थुणंति—बोलते है। नियाणओ—दुःख के कारण कर्मों के विना भोगे। ते—वे—विलाप करते हुए। मोक्ख—मोक्ष को। न लभंति—प्राप्त नहीं होते, अर्थात् विना भोगे दुःखो से छुटकारा नही पाते। अथवा दुःख से छुटकारा कराने वाले संयम को धारण नही करते। अह—अथ शब्द वाक्यो-

पन्यास मे है। पास—हे शिष्य ! तू देख। तेहिं कुलेहिं—उन कुलो मे। आयत्ताए—स्वकर्म भोगने के लिए। जाया—उत्पन्न हुए है। अशुभ कर्म के उदय से जीव, जिस २ दुःखमयी अवस्था को प्राप्त होते है, अब उसका वर्णन करते है। गंडी—गण्डमाला रोग। अहवा—अथवा। कोढी—कुष्ठ रोग। रायसी—राजयक्ष्मा—क्षयरोग। अवमारियं—अपस्मार—मृगीरोग। काणियं—एक चक्षु वाला काणत्वरोग। च—पुन। एव—अवधारण अर्थ मे है। झिमियं—जाड्यता—शरीर के अवयवो का शून्य हो जाना। कुणियं—एक पाद ह्रस्व और एक दीर्घ, अथवा एक हाथ छोटा और एक बडा। तहा—तथा। खुज्जिय—कुब्ज रोग। च—पुनः या समुच्चय अर्थ मे जानना। उदरिं—उदर के रोग, जलोदरादि। पास—हे शिष्य तू देख ! मूय—मूकरोग गूगापन। च—समुच्चय अर्थ में। सूणीय—शोथरोग—सूजन। च—समुच्चय अर्थ में। गिलासणि—भस्मरोग। वेवइं—कम्परोग। च फिर। पीढसपि—काष्ठ की पाटियो को कक्ष-काख मे रखकर उनके सहारे चलने वाला रोगी। सिलिवयं—श्लीपद रोग। महुमेहिणं—मधुमेह-प्रमेह रोग। एए—ये। अणुपुव्वसो—अनुक्रम से। सोलस—सोलह रोग। अक्खाया—कथन किये हैं। ण—वाक्यालकार अर्थ में है। अह—अथ तदनन्तर। आयंका—शूलादि आतंक-भयकर रोग। फुसंति—स्पर्श करते है। य—और इनके। फासा—स्पर्श। असमजसा—असमजस है। तेसिं—उन भारी कर्मा जीवो की, रोगो के स्पर्श से। मरण त्यु को। सपेहाए—विचार कर। च—और। उववाय—देवो के उपपात और। चवणं—च्यवन को। नच्चा—जानकर। च—और। परियागं—कर्मो के परिपाक को। सपेहाए—पर्यालोचन करके।

मूलार्थ—इस मनुष्य लोक मे सद्बोध को प्राप्त हुआ पुरुष ही अन्य मनुष्यो के प्रति धर्म का कथन करता है अथवा वह श्रुतकेवली-जिसके शस्त्र परिज्ञा अध्ययन मे कथन की गई सर्व प्रकार से एकेन्द्रियादि जातियें सुप्रतिलेखित है या तीर्थंकर, केवली तथा अतिशय ज्ञानी पुरुष धर्म का उपदेश करते हैं।

प्रश्न—वे किस व्यक्ति को धर्म कहते हैं ?

उत्तर—जो धर्म सुनने के लिए उपस्थित है, जिसने मन, वचन और काय के दण्ड को त्याग दिया है, समाधि को प्राप्त है, बुद्धिमान है, वह उसे मुक्ति मार्ग का उपदेश करता है। इसी प्रकार कई एक वीर पुरुष धर्म को सुनकर सयम मार्ग मे पराक्रम करते हैं। हे शिष्य ! तू देख। कई आत्मा का हित न चाहने वाले पुरुष धर्म से गिरते

है। हे शिष्यो ! मै कहता हूं, जैसे वृक्ष के पत्तो मे आच्छादित ह्रद-सरोवर मे निमग्न हुआ कछुआ वहा से निकलने का मार्ग प्राप्त नही कर सकता, उसी प्रकार गृहवास मे आसक्त जीव वहां से निकलने मे समर्थ नही हो सकता, मोहावरण के कारण वे जीव धर्मपथ को नही देख सकते। जैसे वृक्ष शीतोष्णादि कष्टो को सहन करता हुआ भी अपने स्थान को नही छोडता, इसी प्रकार भारी कर्म वाले जीव भी अनेक ऊंच-नीच कुलो मे जन्म धारण कर नाना प्रकार के रूपादि विषयो मे आसक्त हुए नाना विध कर्मो के कारण नाना प्रकार की दुःख वेदनाओ को भोगते हुए अनेक प्रकार के दीन वचन कहते है। परन्तु, वे कर्म फल को भोगे बिना कर्म बंधन से मुक्त नही हो सकते। और ससार से छूटने के उपाय का भी अन्वेषण नही करते। सुधर्मा स्वामी कहते है कि हे शिष्यो! तुम देखो कि वे ऊंच-नीच कुलो मे उत्पन्न होने वाले जीव, निम्न लिखित रोगो द्वारा असह्य वेदना को प्राप्त होते है। यथा— १-गडमाला, २-कुष्ट, ३-राजयक्ष्मा, ४-अपस्मार—मृगी, ५-काणत्व, ६-जडता-शून्यता, ७-कुणित्व-लुंजपन, ८-कुब्जता—कुबडापन, ९—मूकता—गूंगापन, १०—उदर रोग—जलोदरादि, ११-शोथ-सूजन, १२-भस्मरोग, १३-कम्पवात, १४-गर्भ दोष से उत्पन्न हुआ रोग-जिससे प्राणी बिना लाठी के चलने मे असमर्थ होता है, १५-श्लीपद, १६—मधुमेह। इन सोलह प्रकार के रोगो का अनुक्रम से कथन किया है। जब शूलादि का स्पर्श होता है तब बुद्धि असमजस अर्थात् अस्त-व्यस्त हो जाती है। अतः देवो के उपपात और च्यवन को तथा उक्त प्रकार के रोगो द्वारा होने वाली मनुष्यों की मृत्यु को देख कर एव कर्मो के विपाक को लक्ष्य मे रख कर साधक को सयम - साधना द्वारा जन्म—मरण से छूटने का प्रयत्न करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

ज्ञान आत्मा का गुण है। प्रत्येक आत्मा में अनन्त ज्ञान की सत्ता स्थित है।

परन्तु ज्ञानावरण कर्म के कारण बहुत-सी आत्माओं का ज्ञान प्रच्छन्न रहता है। ज्ञानावरण कर्म का जितना क्षय या क्षयोपशम होता है, उतना ही ज्ञान आत्मा मे प्रकट होता रहता है। जब आत्मा पूर्ण रूप से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय कर डालती है, तब उसे पूर्ण ज्ञान—केवल ज्ञान प्राप्त होता है। फिर उससे ससार का कोई भी पदार्थ प्रच्छन्न नही रहता। वह महापुरुष अपने ज्ञान से ससार परिभ्रमण के कारण एवं उससे मुक्त होने के साधन को जान लेता है। अत. ऐसा महापुरुष ही धर्म का यथार्थ उपदेश दे सकता है। इसी कारण जैन धर्म मे तीर्थंकर एव सर्वज्ञ भगवान को उपदेष्टा माना गया है। छद्मस्थ साधक का उपदेश तीर्थंकर भगवान द्वारा प्ररूपित प्रवचन या आगम के आधार पर होता है, स्वतन्त्र रूप से नही। क्योंकि सर्वज्ञ सभी पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को देखता है, इसलिए उनके उपदेश मे कही भी विपरीतता नही आती। उनमें राग-द्वेष का अभाव होने से उनका उपदेश प्राणी जगत के लिए हितप्रद एवं कल्याणकारी होता है।

सर्वज्ञ पुरुष राग-द्वेष के विजेता होते हैं। अत उनके उपदेश मे भेद-भाव नही होता। त्यागी-भिक्षु वर्ग एवं भोगी—गृहस्थ वर्ग हो, धनी या निर्धन हो, छूत या अछूत हो, स्त्री या पुरुष हो, कोई भी व्यक्ति क्यों न हो, सबको उपदेश सुनने का अधिकार है। जैन धर्म मे जाति, लिग, देश, रंग आदि को महत्त्व नहीं दिया गया है, महत्त्व दिया गया है गुणों को, आचरण को। प्रत्येक वर्ग, जाति एवं देश का व्यक्ति अपने आचरण को शुद्ध बनाकर अपनी आत्मा का विकास कर सकता है। अतः धर्म निष्ठा एव जिज्ञासा की भावना लेकर सुनने वाला व्यक्ति—भले ही वह किसी भी जाति, रग एव देश का क्यो न हो, अपनी आत्मा का विकास कर सकता है। इस प्रकार श्रद्धानिष्ठ व्यक्ति वीतराग प्रभु का प्रवचन सुनकर अपने जीवन को आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त करके तप, सयम एवं ज्ञान साधना मे लगा देते है। अत. वे महापुरुष दण्ड से सर्वथा निवृत्त होकर व्रतसम्पन्न बनकर त्याग पथ पर गतिशील होते है।

परन्तु, सभी श्रोताओं का जीवन एक समान नहीं होता है। कुछ श्रद्धानिष्ठ प्राणी भगवान का प्रवचन सुनकर तप-सयम के द्वारा कर्म-बन्धन तोड़ने का प्रयत्न करते हैं और प्रतिक्षण निष्कर्म बनने की साधना मे सलग्न रहते है। किन्तु, कुछ व्यक्ति मोह कर्म से इतने आवृत्त होते है कि त्याग—वैराग्य के पथ पर भली-भाति चल नही सकते। वे कायर पुरुष विषय-भोग एव पदार्थों की आसक्ति को त्याग नहीं सकते। जैसे शैवाल से आच्छादित सरोवर मे स्थित कछुआ उक्त सरोवर से बाहिर निकलने का मार्ग जल्दी नहीं पा सकता। उसी प्रकार मोह कर्म से आवृत्त व्यक्ति संसार सागर से ऊपर नहीं उठ सकता, तप-त्याग की ओर पग नही बढ़ा सकता।

तप-संयम की साधना के लिए मोह कर्म का क्षय या क्षयोपशम करना आवश्यक है।

इस प्रकार विषय-वासना में आसक्त व्यक्ति कर्म बन्धन एवं कर्म जन्य दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकते। क्योंकि विषय--वासना एव आरम्भ--समारम्भ में सलग्न रहने के कारण वे पाप कर्म का बन्ध करते हैं और परिणाम स्वरूप दुःख के प्रवाह में प्रवहमान रहते हैं। वे जन्म—मरण के दुःख एवं व्याधियों से संतप्त रहते हैं। यों तो रोग— व्याधियों की कोई परिमित संख्या नहीं है। फिर भी प्रमुख रोग १६ प्रकार के माने गए हैं। उनका नाम निर्देश करते हुए सूत्रकार ने लिखा है—

१—गंडमाला—यह रोग वात, पित, कफ और इन तीनों का सन्निपात, इस प्रकार यह चार प्रकार का होता है। लोक भाषा में इसे कंठमाला कहते हैं। इसमे सन्निपात असाध्य रोग माना गया है।

२—कुष्ठरोग— यह रोग अठारह प्रकार का होता है। इसमें सात प्रकार के महा-कुष्ठ—असाध्य और ग्यारह प्रकार के क्षुद्र—सामान्य कुष्ठ होते हैं। १-अरुण, २-उदुम्बर, ३-निश्यजिव्ह, ४-कपाल, ५-काकनाद, ६-पौंडरीक और ७-दद्रु ये महाकुष्ठ हैं। १-स्थूलासत्व, २-महाकुष्ट, ३-एक कुष्ट, ४-चर्मदल, ५-परिसर्प, ६-विसर्प, ७-सिध्म, ८-विचर्चिका, ९-पिष्टिम, १०-पामा, ११-शतारुक ये क्षुद्र कुष्ठ कहलाते हैं।

३-राजयक्ष्मा— इसे क्षय रोग या टी० बी० भी कहते हैं। यह रोग पेशाब-टट्टी आदि के रोकने से, धातु क्षय से, अत्यन्त साहस एवं शक्ति का काम करने से तथा विषम भोजन से होता है।

४—अपस्मार—इस रोग में स्मृति के ऊपर आवरण सा आ जाता है। इस रोग में रोगी को मूर्छा आ जाती है। इसे लोक भाषा में मृगी एवं अंग्रेजी में हिस्टेरिया की बीमारी भी कहते हैं।

५—काणत्व— एक आंख की रोशनी का चला जाना। यह रोग गर्भ में भी हो जाता है और जन्म के बाद भी हो जाता है।

६—जाड्यता— इस रोग में शरीर संचालन क्रिया से शून्य हो जाता है।

७—कुणि— इस रोग में एक पैर या एक हाथ बड़ा और दूसरा पैर या हाथ छोटा हो जाता है।

८—कुब्जरोग—इसमें पीठ पर कुबड़ उभर आता है।

९—उदररोग—यह रोग वात—पित आदि के प्रकोप से होता है। यह आठ प्रकार

का होता है— १- जलोदर, २- वातोदर, ३- पित्तोदर, ४- कफोदर, ५- कंठोदर, ६- प्लीहोदर ७- उदर और ८- बद्ध गुदोदर।

१०—मूकरोग— इस रोग के कारण मनुष्य गूङ्गा हो जाता है। वह बोल नहीं सकता। यह ६५ प्रकार का है और ७ स्थानों में होता है। वे स्थान ये हैं— १-आठ ओष्ठ के, २-पन्द्रह दन्त मूल के, ३- आठ दान्तों के, ४-पांच जिव्हा के, ५- नव ताल के, ६—सत्रह कण्ठ के और ७—तीन सब स्थानों के, इस प्रकार कुल मिलाकर ६५ प्रकार के होते है।

११—शून्यत्व—इसमे अंगोपांग शून्य हो जाते है। यह रोग वात, पित्त, श्लेष्म, सन्निपात, रक्त और अतिघात से उत्पन्न होता है।

१२—भस्मक— यह रोग वात-पित्त की अधिकता एवं कफ की कमी से होता है। इसमे भूख अधिक लगती है, भोजन करते रहने पर भी तृप्ति नहीं होती।

१३—कंपरोग—इससे शरीर कांपता रहता है। यह रोग वायु के प्रकोप से होता है।

१४—पीठसर्पी— इस रोग में रोगी लाठी के आश्रय से ही चल सकता है।

१५—श्लीपद—इस रोग मे पैर बहुत बड़ा एवं भारी हो जाता है।

१६—मधुमेह—इसमे मूत्र मे मधु जाता है। इसे अंग्रेजी मे डायाबिटिज या शूगर (चीनी) की बीमारी कहते हैं।

इस प्रकार विषय—भोगों मे आसक्त व्यक्ति अनेक प्रकार के कष्टों का संवेदन करता हुआ संसार मे परिभ्रमण करता है। अत मुमुक्षु पुरुष को सम्यग्ज्ञान से भोगासक्ति के परिणाम स्वरूप प्राप्त कष्टों एवं उनसे छुटकारा पाने के स्वरूप को जानकर संयम का पालन करना चाहिए। क्योंकि ज्ञान से ही साधक संयम के पथ को जान सकता है और फिर उसका आचरण करके निरावरण ज्ञान को प्राप्त करके सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त बन सकता है। अतः साधक को सदा साधना में सलग्न रहना चाहिए। इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तं सुणेह जहा तहा संति पाणा अंधा तमंसि वियाहिया, तमेव सइं असइं अइअच्च उच्चावयफासे पडिसंवेएइ. बुद्धेहिं एयं पवेइयं--संति पाणा वासगा,रसगा, उदए-उदएचरा आगास गामिणो पाणा पाणे किलेसंति, पास लोए महब्भयं ॥१७४॥

छाया—तच्छृणुत यथा तथा सन्ति प्राणाः-प्राणिनः अन्धा तमसि व्याख्याता। तामेव सकृद्, असकृद्, अतिगत्य उच्चावचान् स्पर्शान् अति-संवेदयति बुद्धैः एतत् प्रवेदितम् सन्ति प्राणाः-प्राणिन. वासकाः, रसगाः, उदके-उदकचराः, आकाशगामिनः प्राणाः (प्राणिनः) प्राणिनः क्लेशयन्ति पश्य! लोके महद् भयम्।

पदार्थ—त - उस कर्म विपाक को। जहातहा—जैसे तैसे—यथार्थ रूप से उसी प्रकार, मुझसे। सुणेह—हे शिष्यो! तुम श्रवण करो। पाणा—प्राणी, ससार मे। संति—है जो। अधा—द्रव्य चक्षु वा भावचक्षु—विवेक— से रहित। तमसि—नरकादि प्रधान-अन्धकारमय स्थानो मे रहने वाले। वियाहिया—कथन किए हैं। तमेव—उन योनियो में रोगादि स्थानो से उत्पन्न हुए दु ख। सइं—एक वार। असइ—अनेक वार। अइअच्च—भोगकर फिर तिर्यग् आदि गतियो में। उच्चावयफासे—शीतादि स्पर्शो को। पडिसंवेएइ—प्रतिसवेदन करता है। एय—यह विपय। बुद्धेहि—तीर्थकरो ने। पवेइय—प्रतिपादन किया है, तथा। पाणा—द्वीन्द्रियादि प्राणी। वासगा—भाषालब्धि सम्पन्न। सति—है। रसगा—रस के जानने वाले सज्ञी जीव है, इन ससारी जीवो के कर्म विपाक का विचार कर आत्म विकास करना चाहिए, तथा। उदए—उदक रूप—एकेन्द्रिय अप्काय के जीव। उदएचरा—जल मे रहने वाले त्रस जीव, तथा। आगास गामिणो—आकाश मे गमन करने वाले पक्षी आदि जीव। पाणा—तथा प्राणी। पाणे—अन्य प्राणियो को। किलेसंति—पीडित करते है—अर्थात् निर्वल को वलवान मार देता है, अत हे शिष्य! लोए—लोक में। महब्भय—महाभय है, इसको तू। पास—देख! अर्थात् ससार मे दु खो का महाभय है इसको तू देख!

मूलार्थ—हे शिष्यो! तुम कर्म विपाक के यथावस्थित स्वरूप को मुझ से सुनो! ससार मे द्रव्यचक्षु रहित या भावचक्षु रहित जीव कहे गये है, वे उन रोगादि अवस्थाओ मे दुःखो का अनुभव कर रहे है। नरकादि गतियो मे एक वार या अनेक वार नाना प्रकार के दुःख रूप स्पर्शो का अनुभव करते है। यह अनन्तोरक्त विषय बुद्धो—तीर्थकरो ने प्रतिपादन किया है। द्वीन्द्रियादि जीव या रसके जानने वाले संज्ञी जीव तथा अप्काय-जलरूप जीव, जल मे रहने वाले त्रस जीव और आकाश मे उडने वाले

पक्षी, ये ससार मे जितने जीव है, उनमे बलवान निर्बलोको पीडित-दुःखित करते है। हे शिष्यो ! तुम ससार के दुःखो से उत्पन्न हुए महाभय को देखो अथवा हे शिष्य ! तू ससार के महाभय को देख।

हिन्दी विवेचन

संसार में अनन्त जीव हैं। इन्द्रिय आदि साधनों की समानता की अपेक्षा से उनके ५ भेद किए गए हैं। जिन्हें जीवों की पांच जातियें कहते हैं-१-एकेन्द्रिय, २-द्वीन्द्रिय ३ त्रीन्द्रिय, ४ चतुरिन्द्रिय, और ५ पन्चेन्द्रिय। एकेन्द्रिय में स्पर्श इन्द्रियवाले पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु एव वनस्पति के सभी जीव समाविष्ट हो जाते हैं। द्वीन्द्रिय में-स्पर्श और जिव्हा दो इन्द्रिय वाले लट आदि जीवों को लिया गया है। इसी तरह त्रीन्द्रिय में स्पर्श, जिव्हा, घ्राण वाले चींटी, जूं आदि जीवों को, चतुरिन्द्रिय मे स्पर्श, जिव्हा, घ्राण और चक्षु इन्द्रिय वाले मच्छर-मक्खी-बिच्छू आदि जीवों को तथा पञ्चेन्द्रिय में स्पर्श जिव्हा, घ्राण,चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय वाले नरक, पशु-पक्षी, मनुष्य और देवयोनि के जीवों को गिना गया है। इस तरह ये समस्त ससारी जीव अपने कृत कर्म के अनुसार योनि को प्राप्त करते है।

संसार में कुछ प्राणी अधे भी होते हैं। अंधत्व द्रव्य और भाव से दो प्रकार का होता है। द्रव्य अधत्व का अर्थ है-आंखों में देखने की शक्ति का न होना और भाव अंधत्व का तात्पर्य है—पदार्थों के यथार्थ बोध का न होना। द्रव्य अंधत्व आत्मा के लिए इतना अहितकर नहीं है जितना भाव अंधत्व है। भाव अंधत्व अर्थात् अज्ञान एवं मोह के वश जीव विपय वासना में संलग्न रहता है और परिणाम स्वरूप पापकर्म का वन्ध करके संसार में परिभ्रमण करता है, अनेक तरह की वेदनाओं का संवेदना करता है।

अतः मुमुक्षु पुरुप को संसार के सभी प्राणियों एवं उनके परिभ्रमण करने के कारणों का परिज्ञान होना चाहिए। और साधक को उसका चिन्तन करके संसार मे भटकाने वाले दुष्कर्मों से अलग रहना चाहिए। इसी तरह संसार का चिन्तन उसे दुष्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग की ओर कदम वढाने की प्रेरणा देता है और इससे उसकी साधना में तेजस्विता आती है। अत साधक को वीतराग प्रभु द्वारा प्ररूपित आगमों के द्वारा संसार के स्वरूप का सम्यक् वोध प्राप्त करके उससे मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे वह निर्भय वनकर निष्कर्म स्थिति को पा सके।

भय मोह कर्म के उदय से होता है। उसका क्षय या क्षयोपशम होने पर आत्मा में निर्भयता आती है। इसी वात को वताते हुए सूत्रकार कहते हैं।

मूलम्—बहुदुक्खा हु जंतवो, सत्ता कामेसु माणवा, अब-लेण वहं गच्छंति सरीरेणं पभंगुरेण अट्टे से बहुदुक्खे इइ बाले पकुव्वइ, एए रोगा बहू नच्चा आउरा परियावए नालं पास, अलं तवेएहिं. एयं पास मुणी! महब्भयं नाइवाइज्जा कंचणं ॥१७५॥

छाया—बहु दु खा हुः (खलु) जन्तव सक्ताः कामेषु मानवाः अबलेन वधं गच्छन्ति शरीरेण प्रभंगुरेण आर्तः स बहुदुःखः इति बाल प्रकरोति एतान् रोगान् बहून् ज्ञात्वा आतुरा परितापयेयु· नाल पश्य! अलं तव एभिः एतत् पश्य मुने! महद् भयं नातिपातयेत् कञ्चन।

पदार्थ—हु—जिस से--हिंसादि कर्मों से। जंतवो—जीव। बहुदुक्खा—बहुत दु खी हैं। माणवा—मानव। कामेसु—काम भोगो मे। सता—आसक्त हैं, मूर्छित हैं। अबलेण—बल से रहित। सरीरेण—औदारिक शरीर के द्वारा। पभगुरेण—जो स्वत विनाशशील है। वह—वध-विना। को। गच्छन्ति—प्राप्त होते है। से—वह। अट्टे—राग और द्वेष से व्याकुल चित्त वाला जीव। बहुदुक्खे—बहुत दु ख पाता है तथा। ए ए—ये सब। रोगा—रोग। बहू—बहुत उत्पन्न हुए। नच्चा—जानकर—चिकित्सा के लिए जीवो को मारकर चिकित्सा करनी चाहिए। इइ—इस प्रकार। बाले—बाल। पकुव्वइ—क्रिया करता है और। आउरा—आतुर होकर। परियावए—प्राणियो को परिताप देता है। पास—हे शिष्य तू देख? नालं—कर्म रोग चिकित्सा के द्वारा उपशान्त नही हो सकता। तवेएहिं—तुझे पापकारी चिकित्सा विधि से। अलं—दूर रहना चाहिए अर्थात् तुमको यह पापकारी चिकित्सा नही करनी चाहिए। मुणी—हे मुने! एयं—यह प्राणिवध। पास—देख। महब्भयं—महान् भय रूप है, अत। कचणं—किसी प्राणी का। नाइवाइज्ज—अतिपात मत कर।

मूलार्थ—हिंसादि कर्मों से जीव बहुत दु.खी हो रहे है। ससारी मनुष्य काम भोगो मे आसक्त है। क्षण भगुर निर्बल शरीर के द्वारा जीव विनाश को प्राप्त होते है, वे रोगादि से पीडित जीव बहुत दुःखित है। बाल-अज्ञानी जीव इस प्रकार बोलते है कि राजयक्ष्मादि रोगो की निवृत्ति के लिए सावद्य चिकित्सा-जीव हिंसामय औषधोपचार करो, और मास आदि का भक्षण करो। आतुर प्राणी उत्पन्न हुए गण्ड, कुष्ठ, राजयक्ष्मादि रोगों को

जानकर उनकी निवृत्ति के लिए अन्य प्राणियो को परिताप देता है। परन्तु, हे शिष्य ! तू यह देख, सम्यग्विचार कर कि हिंसा प्रधान चिकित्सा से कर्म जन्य रोग उपशान्त नही होता। अतः हे शिष्य! तुझे जीव हिंसामय औषधि से कदापि उपचार नही करना चाहिए। यह सावद्य औषधोपचार महाभय का कारण है। इसलिए तुझे किसी भी जीव का अतिपात नहीं करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया है कि मोह कर्म से आवृत्त अज्ञानी जीव हिंसा आदि दुष्कर्मों से अनेक प्रकार के दुःखों एवं रोगों का संवेदन करते हैं। फिर भी वे विषय-कषाय से निवृत्त नहीं होते। वे उन दुःखों से छुटकारा पाने के लिए भी आरम्भ-समारम्भ एवं विषय-कषाय का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार वे दुःख परम्परा को और बढ़ाते हैं तथा महादुःख एवं महाभय के गर्त में जा गिरते हैं। विषय-वासना मे आसक्त व्यक्ति सदा भयभीत बना रहता है। क्योंकि वह दूसरे प्राणियों को त्रास देता है, डराता है। इसलिए स्वयं भी दूसरों से डरता रहता है। सिंह जैसा शक्तिशाली जानवर भी-जो हाथी जैसे विशालकाय प्राणी को मार डालता है, सदा भयभीत रहता है। वह जब भी चलता है तब प्रत्येक कदम पर पीछे मुड़कर देखता है। इसका कारण यह है कि वह दूसरे प्राणियों के मन मे भय उत्पन्न करता है, इसलिए वह स्वय भय ग्रस्त रहता है। उसकी इसी दुर्बलता के कारण साहित्यिक क्षेत्र में पीछे मुड़कर देखने के अर्थ मे सिंहावलोकन शब्द का निर्माण किया गया है। अस्तु, सिंहावलोकन भय का प्रतीक है और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दूसरों को संत्रस्त करने वाला व्यक्ति स्वयं त्रास एव भय से पीड़ित रहता है। वह अनेक पाप कर्मों का बन्ध करके अनेक दुःखों एवं रोगों का संवेदन करता है।

अत साधक को विषय-कषाय एवं आरम्भ-समारम्भ के दुष्परिणामों को जानकर उससे दूर रहना चाहिए। उसे किसी भी परिस्थिति में आरम्भ का सेवन नहीं करना चाहिए। रोग आदि के उत्पन्न होने पर भी आरम्भ जन्य दोषों में प्रवृत्त न होकर समभाव पूर्वक उसे सहन करना चाहिए और कर्मों की निर्जरा के लिए सदा संयम में संलग्न रहना चाहिए।

ऐसे संयम-निष्ठ साधकों के गुणों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है-

मूलम्--आयाण भो सुस्सूस भो धूयवाय पवेयइस्सामि इह खलु अत्तत्ताए तेहिं तेहिं कुलेहिं अभिसेएण अभिसंभूया अभिसंजाया अभिनिव्वुडा अभिसंवुड्ढा अभिसंबुद्धा अभिनिक्कंता अणुपुव्वेण महामुणी ॥१७६॥

छाया—आजानीहि भोः शुश्रूषस्व भोः धूतवादं प्रवेदयिष्यामि इह खलु आत्मतया (आत्मता-तया) तेषु तेषु कुलेषु अभिषेकेण अभिसभूताः अभिसंजाता अभिनिर्वृत्ता अभिसंवृद्धा अभिसंबुद्धा अभिनिष्क्रान्ताः अनुपूर्वेण महामुनिः।

पदार्थ—भो—हे शिष्य! आयाण—तू अवधारण कर। सुस्सूस—सुनने की इच्छा कर। धूयवाय—धुतवाद को—कर्म धुनने के वाद को। पवेयइस्सामि—प्रवेदन करूंगा। इह—इस ससार मे। खलु—वाक्यालकार मे है। अत्तत्ताए—अपनी कर्म परिणति के द्वारा। तेहिंतेहिं—उन उन। कुलेहिं—कुलो मे—। अभिसेएण—शुक्र शोणित के अभिषेक—अभिसिंचन से। अभिसंभूया—गर्भ में कलल रूप हुआ। अभिसजाया—फिर मास एव पेशी रूप बना, और। अभिनिव्वुडा—सागोपाग—स्नायु, सिर रोमादि क्रम से अभिनिवृत्त हुआ, फिर। अभिसंवुड्ढा—अभिवृद्ध हुआ फिर। अभिसंबुद्ध—जागृत हुआ। अभिनिक्कता—त्याग मार्ग मे प्रव्रजित हुआ, वह। अणुपुव्वेण—अनुक्रम से। महामुणी—महामुनि हो जाता है।

मूलार्थ—हे शिष्यो! ध्यानपूर्वक सुनो और समझो, मैं तुम्हे कर्म क्षय करने का उपाय बतलाता हू। इस ससार मे कतिपय जीव अपने किए हुए कर्मो का फल भोगने के लिए भिन्न-भिन्न कुलो मे माता-पिता के रज-वीर्य से गर्भ रूप मे उत्पन्न हुए, जन्म धारण किया, क्रमशः परिपक्व वय के बने, प्रतिबोध पाकर त्यागमार्ग अंगीकार करके अनुक्रम से महामुनि बने।

हिन्दी विवेचन

आगम मे बताया गया है कि मनुष्य ही सब कर्मों का क्षय करके मुक्ति को पा सकता है। मनुष्य के अतिरिक्त किसी भी गति या योनि में स्थित जीव निष्कर्म नहीं बन सकता। मनुष्य योनि मे भी सभी मनुष्य निष्कर्म नहीं बनते हैं। प्रस्तुत सूत्र में निष्कर्म बनने वाले मनुष्यों के जीवन विकास का चित्रण किया गया है, गर्भ में उत्पन्न होने के समय से लेकर कर्म क्षय करने के स्वरूप का संक्षेप से वर्णन किया गया है।

प्रत्येक ससारी जीव अपने कृत कर्म के अनुसार जन्म ग्रहण करते हैं। जिस ने मनुष्य गति का आयुष्य बांध रखा है, वे मनुष्य योनि में उत्पन्न होते हैं। माता-पिता के रज और वीर्य का संयोग होने पर जीव उसमे उत्पन्न होता है। उस रज-वीर्य का सात दिन में कलल बनता है दूसरे सात दिन में अर्बुद बनता है, उसके बाद पेशि बनती है, फिर वह सघन होता है, उसके बाद उसके अंगोंपाग बनते हैं और फिर गर्भ का समय पूरा होने पर वः जन्म ग्रहण करता है और धीरे—धीरे विकास को प्राप्त होता है। समझदार होने के बाद मोहकर्म के क्षयोपशम से वह स्वयं बोध को प्राप्त होकर या धर्म शास्त्र एवं सन्त पुरुषों के संसर्ग से सद्ज्ञान को पाकर मुनि बन जाता है और तप-संयम में संलग्न होकर कर्मों का क्षय करने लगता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि जो मनुष्य योनि को प्राप्त करके सयम में संलग्न होता है, ज्ञान, दर्शन और चारित्र की साधना करता है, वही मनुष्य निष्कर्म बन सकता है।

इस प्रकार संसार के स्वरूप को समझकर जब मनुष्य साधना के पथ पर चलने को तैयार होता है, उस समय उसके परिजन एवं स्नेही उसे क्या कहते हैं, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तं परिक्कमंतं परिदेवमाणा मा चयाहि इय ते वयंति-छंदोवणीया अज्झोववन्ना अक्कंदकारी जणगा रुयंति, अतारिसे मुणी (णय) ओहं तरए जणगा जेण विप्पजढ़ा, सरणं तत्थ नो समेइ, कहं नु नाम से तत्थ रमइ ? एयं नाणं सया समणु-वासिज्जासि त्तिबेमि ॥१७७॥

छाया—तं पराक्रममाणं परिदेवमानाः मा परित्यज। इति ते वदन्ति, छन्दोपनीता. अभ्युपपन्ना. (अध्युपपन्ना वा) आक्रन्दकारिणः जनकाः रुदन्ति—अतादृशोमुनिः नच ओघतरति जनका येन अपोढाः शरणं तत्र न समेति कथं नु नामासौ (सः) तत्ररमते एतद् ज्ञान सदा सम्यगनुवासये. 'व्यवस्थापयेः' इति ब्रवीमि।

पदार्थ—तं—उस—तत्व के जानने वाले। परिक्कमंत—संयम मार्ग में पराक्रम करने वाले के प्रति। परिदेवमाणा—रुदन करते हुए माता-पिता आदि। इय—इस प्रकार। ते—वे। वयंति—कहते है, क्या कहते हैं? छंदोवणीया—हे पुत्र! हम सब तेरी इच्छा के अनुसार

बर्ताव करने वाले हैं। अज्झोववन्ना—तेरे पर ही हमारा विश्वास है—तेरे में हम आसक्त है। अक्कदकारी—इस प्रकार आक्रन्दन करते हुए। जणगा—जनक—माता-पिता आदि बन्धु जन। रुयन्ति—रुदन करते है, फिर इस प्रकार बोलते हैं। अतारिसेमुणी—इस प्रकार से मुनि नही हो सकता। ओहतरे—और न वह ससार समुद्र को तैर सकता—पार कर सकता है। जेण—जिसने। जणगा—माता-पिता आदि को। विप्पजढा—छोड दिया है, इस प्रकार के वचनों को सुनकर तत्वज्ञ मुनि क्या विचारता है, वह सूत्रकार कहते हैं। तत्थ—उस कष्ट के समय वे—सगे सम्बन्धी वर्ग। सरणं—शरण भूत। नो समेइ—नही होता। तु—वितर्क में जानना। नाम—सभावना अर्थ मे है। कह—किस प्रकार। से—मुमुक्षु जन। तत्थ—उस गृहस्थावास मे। रमइ—रमण कर सकता है अर्थात् नही कर सकता। एयं—यह पूर्वोक्त। नाणं—ज्ञान। सया—सदा आत्मा में। समणु-वासिज्जासि—स्थापन करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—सयम के लिए उद्यत हुए तत्वज्ञ व्यक्ति के प्रति उसके माता-पिता आदि सम्बन्धि जन इस प्रकार कहते है—हे पुत्र! तू हमको मत छोड, हम तेरे अभिप्राय के अनुसार चलने वाले है और तेरे मे आसक्त हैं। वे आक्रन्दन और रुदन करते हुए कहते है कि तू इस प्रकार से मुनि नही हो सकता और नाही वह संसार समुद्र को पार कर सकता है, जिसने रोते हुए माता-पिता आदि सम्बन्धो जनो का परित्याग कर दिया है। तब सयम के लिए उद्यत हुआ साधक [व्यक्ति] विचार करता है कि यह स्वजन वर्ग कष्ट के समय शरण भूत नही हो सकता। वह तत्वज्ञ पुरुष किस प्रकार गृहस्थावास मे रह सकता है अर्थात् कदापि नही रह सकता। यह पूर्वोक्त ज्ञान सदा अपनी आत्मा मे स्थापन करे, इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जीवन मे अनेकों उतार-चढ़ाव आते है। कभी मनुष्य को परिजनों का स्नेह मिलता है, तो कभी उनकी ओर से तिरस्कार भी सहना पड़ता है। परन्तु, प्राय: यह देखा गया है कि जीवन विकास के पथ पर बढ़ने वाले व्यक्ति को उस मार्ग से हटाने के लिए वे सदा तैयार रहते हैं। भले ही, घर में रहते समय उससे सदा लडते-झगड़ते रहे हों, उसे सदा कोसते रहे हों, परन्तु जब वह बोध को प्राप्त होकर साधना के पथ पर चलने का उपक्रम करता है, तब उनका समस्त प्यार-दुलार उमड पड़ता है और वे उसे अनेक तरह से संसार मे रोकने का प्रयत्न करते हैं।

उस समय प्रिय और अप्रिय सभी परिजन उसे समझाते हैं कि तू हमारे जीवन का आधार है। हमने सदा तुम्हारे जीवन का एवं दुःख-सुख का ध्यान रखा है। तुम्हें योग्य बनाने के लिए सब तरह का प्रयत्न किया है। परन्तु, जब हमारी सेवा करने का अवसर उपस्थित हुआ, तब तुम हमे छोड़कर जा रहे हो। क्या यही तुम्हारा धर्म है? कर्त्तव्य है? ज़रा गंभीरता से सोचो-समझो?

इस तरह के आक्रन्दन भरे शब्द दुर्बल मन वाले साधक को विचलित कर देते हैं। उनके अनुराग के सामने उसका वैराग्य शरद् ऋतु के बादलों की तरह उड़ जाता है। इसलिए महापुरुषों ने ऐसे समय मे दृढ़ रहने का उपदेश दिया है। जो व्यक्ति मोह के प्रबल झोंकों से भी विचलित नहीं होता, वही संयम मे संलग्न रह सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि साधक माता-पिता आदि परिजनों का तिरस्कार करके घर से भाग जाए, बुद्ध की तरह बिना आज्ञा प्राप्त किए छुपकर घरसे भाग निकले या उन्हें परेशान करके, दुःख एवं कष्ट देकर आज्ञा प्राप्त करे। इसका तात्पर्य इतना ही है कि वह अपने सद्विचारों पर स्थित रहता हुआ, प्रेम एवं स्नेह से परिजनों को समझाकर, उनकी शकाओं का निराकरण करके आज्ञा प्राप्त करे। यह ठीक है कि यदि वैराग्य की कसौटी के लिए उसे किसी तरह का कष्ट दिया जाए तो वह उसे समभाव पूर्वक सहकर उसमें उत्तीर्ण होने का प्रयत्न करे, परन्तु अपनी तरफ से उन्हें कष्ट देने का प्रयत्न न करे।

इस तरह त्याग-वैराग्य एवं ज्ञान के द्वारा परिजनों के मोह आवरण को दूर करके अपने पथ को प्रशस्त बनाने का प्रयत्न करे। ऐसे विवेकनिष्ठ साधक ज्ञान एवं त्याग-वैराग्य के द्वारा सदा अभ्युदय की ओर बढ़ते रहते हैं और एक दिन समस्त कर्म बन्धनों से उन्मुक्त हो कर अपने ध्येय को, लक्ष्य को पूरा कर लेते हैं।

"त्तिबेमि" की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

षष्ठ अध्ययन—धुत

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक मे मोह पर विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है। क्योंकि मोह विजय से कर्मों की निर्जरा होती है। अत. प्रस्तुत उद्देशक मे कर्म निर्जरा का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आउरं लोगमायाए चइत्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं वसित्ता बंभचेरंसि वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्मं अहा तहा अहेगे तमचाई कुसीला ॥१७८॥

छाया— आतुरं लोकमादाय त्यक्त्वा पूर्वसंयोग हित्वा उपशमं उषित्वा ब्रह्मचर्ये बसुः वा अनुबसुः वा ज्ञात्वा धर्मं यथा-तथा अथैके तं पालायितुं न शक्नुवन्ति कुशीलाः।

पदार्थ—लोग—माता-पिता आदि। आउरं—स्नेह राग तथा काम राग से आतुर लोगो को। आयाए—ज्ञान से जानकर, और। पुव्वसजोग—फिर माता-पिता आदि के पूर्व संयोग को। चइत्ता—छोडकर। उवसम—उपशम को। हिच्चा—ग्रहण कर के तथा। बंभचेरंसि—ब्रह्मचर्य मे। वसित्ता—वस कर। सु—वीतराग या साधु। वा—अथवा। अणुबसु—साधु या श्रावक। धम्मं—धर्म को। अहातहा—यथार्थ रूप से। जाणित्तु—जानकर भी मोहोदय से। अहेगे—कई एक। कुसीला—कुत्सित शील वाले व्यक्ति। त—उस धर्म का। आचाइ—पालन नही कर सकते।

मूलार्थ—स्नेह राग मे आसक्त माता-पिता आदि के स्वरूप को जान कर, पूर्वसयोग माता-पिता के सम्बध को छोड कर; उपशम को प्राप्त कर। ब्रह्मचर्य मे बसकर, साधु अथवा श्रावक, यथार्थ रूप से धर्म को जानकर भी मोहोदय से कुछ कुशील बुरे आचार वाले व्यक्ति उस धर्म का पालन नही कर सकते।

हिन्दी विवेचन

कुछ व्यक्ति श्रुत और चारित्र धर्म का यथार्थ स्वरूप समझकर साधना के पथ पर चलने का प्रयत्न करते हैं। उस समय मोह एवं राग में आसक्त एवं आतुर व्यक्ति उन्हें उस मार्ग से रोकने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु, प्रबल वैराग्य के कारण वे पारिवारिक बन्धन से मुक्त होकर संयम साधना में प्रविष्ट होते हैं। ब्रह्मचर्य को स्वीकार करने वाले मुनि या श्रावक के व्रतों के परिपालक श्रमणोपासक धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझकर उसका परिपालन करते हैं। परन्तु, कुछ व्यक्ति धर्म के स्वरूप को जानते हुए भी मोहोदय के कारण साधना पथ से भ्रष्ट हो जाते हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि श्रमण एवं श्रमणोपासक दोनों मोक्ष मार्ग के साधक है। श्रमणोपासक पूर्णत त्यागी न होने पर भी मोक्ष मार्ग का आराधक है। क्योंकि उसका लक्ष्य एवं ध्येय वही है, जो साधु का है। अतः आत्म विकास का मार्ग दोनों के लिए उपादेय है। साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह मोह से ऊपर उठकर समभाव पूर्वक महाव्रत या अणुव्रत रूप धर्म का शुद्ध पालन करे।

'वसु' और 'अनुवसु' शब्द का वृत्तिकार ने क्रमश वीतराग एवं सराग अर्थ किया है। इसके अतिरिक्त उक्त शब्दों से श्रमण—साधु एवं श्रमणोपासक—श्रावक अर्थ भी ग्रहण किया गया है।

जो व्यक्ति संयम को स्वीकार करके फिर उससे भ्रष्ट हो जाता है, उस की क्या स्थिति होती है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुञ्छणं विउसिज्जा, अणुपुव्वेण अणहियासेमाणा परीसहे दुरहियासए, कामे ममायमाणस्स इयाणिं मुहुत्तेण वा अपरिमाणाए भेए, एवं से अंतराएहिं कामेहिं आकेवलिएहिं अवइन्ना चेए ॥१७६॥

छाया—वस्त्र पतद्ग्रह. कम्बलं पादपुञ्छनकं व्युत्सृज्य अनुपूर्वेण अनाधिसहमानाः परीषहान् दुरधिसहनीयान् कामान् ममायमानस्य इदानी मुहूर्तेन वा अपरिमाणाय भेद एवं स अन्तरायिकैः कामैः आकेवलिकैः अवतीर्णा

(असम्पूर्णा) च एतत्।

पदार्थ—वत्थ—वस्त्र। पडिग्गहं—पात्र। कबल—और्णवस्त्र—ऊन का वस्त्र पायपुछणं—रजोहरण, इनको। विउसिज्जा—छोडकर (कई एक तो देश विरति धर्म को अ गीकार कर लेते हैं, कई एक अव्रती सम्यग्दृष्टि बन जाते हैं और कई एक धर्म से सर्वथा पतित हो जाते है)। दुरहियासए—दु ख से सहन किए जाने वाले। परिसहे—परीषहो को। अणुपुव्वेण—अनुक्रम से। अणहियासेमाणा—न सहन करते हुए, और। कामे—काम भोगो म। ममायमाणस्स—तीव्र ममत्व रखने वाले का। इयाणि—तत्क्षण—दीक्षा का परित्याग करने के पश्चात्। वा—शब्द परस्पर सापेक्ष अर्थ का बोधक है। मुहुत्तेण—अन्तर्मुहूर्त मात्र से ही वा—अथवा। अपरिमाणाए—अपरिमित काल में। भेए—आत्मा और शरीर का भेद हो जाता है। एव—इस प्रकार। से—वह—कामाभिलाषी। अन्तराएहिं—अन्तरायो से युक्त। कामेहिं—काम भोगो से। आकेवलिएहिं—जो प्रतिपक्ष से युक्त हैं अर्थात् दु ख से युक्त है। अवइन्ना—असम्पूर्ण हैं, तथा वे—पुरुष ससार समुद्र से उत्तीर्ण नही हो सकते च—शब्द समुच्चय अर्थ में है। एए—ये कामाभिलाषी पुरुष काम भोगो मे अतृप्त होकर ही शरीर के भेद को प्राप्त करते हैं।

मूलार्थ—वे—कुशील मोहनीय कर्म के उदय से सयम परित्याग के समय सयम के साधन उपकरणो को भी छोड देते है। उनमे से कोई एक तो सयम के उपकरण - वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजाहरणादि का सर्वथा परित्याग करके देशविरति धर्म को ग्रहण कर लेते है, कुछ अविरति सम्यग् दृष्टि बन जाते है और कुछ धर्म से सर्वथा पतित हो जाते हैं, कारण कि असहनीय कठिन परीषहो से—जो कि अनुक्रम अथवा युगपद से उदय मे आए हुए हैं, पराजित होकर मोह के वशीभूत होकर संयम का परित्याग कर देते हैं। तथा पापोदय से काम-भोगो मे अधिक ममत्व रखने वाले उन असयमी पुरुषो के शरीर का तत्काल ही अथवा मुहूर्त मात्र मे अथवा कुछ और अधिक समय मे अपरिमितकाल के लिए आत्मा से भेद हो जाता है। इस प्रकार विघ्नो और दुःखो से युक्त जो विषय-भोग है, उनके निरन्तर सेवन से वे ससार समुद्र को पार नही कर सकते। वास्तव मे कामी पुरुष काम भोगो से अतृप्त रहकर ही शरीर का परित्याग

कर देते हैं अर्थात् वे भोगो से कभी भी तृप्त नही होते है।

हिन्दी विवेचन

साधना का पथ फूलों का नहीं, शूलों का मार्ग है। त्याग के पथ पर बढ़ने वाले साधक के सामने अनेक मुसीबतें, कठिनाइयां एवं परेशानियां आती हैं। उसे प्रत्येक पग पर परीषहों के शूल बिछे मिलते हैं। कभी समय पर अनुकूल भोजन नहीं मिलता, तो कभी अनुकूल पानी की कमी रह जाती है। कभी ठहरने के लिए व्यवस्थित मकान उपलब्ध नहीं होता, तो कभी ठीक शय्या नहीं मिलती। इसी प्रकार गर्मी-सर्दी, वर्षा, भोगोपभोग आदि अनेक परीषह सामने आते हैं। इस प्रकार साधना का मार्ग परीषहों से भरा-पूरा है। एक विचारक ने ठीक ही कहा है—'श्रेयस्कर—कल्याणप्रद मार्ग में अनेक विघ्न आते हैं।' उन पर विजय प्राप्त करने वाला साधक ही अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है।

परन्तु, कुछ साधक परीषहों के प्रबल थपेड़ों को सहन नही कर सकते। मोहोदय के कारण वे एकदम फिसल जाते है और पथ भ्रष्ट होते समय लोक भय एवं लज्जा का भी त्याग कर देते हैं। इस तरह वे विवेक विकल साधक दुर्लभता से प्राप्त चिन्तामणि (संयम) रत्न को खो देते हैं। वे संयम का त्याग कर फिर से गृहस्थ जीवन मे प्रविष्ट हो जाते हैं। कुछ साधक महाव्रतों का त्याग कर देते हैं, परन्तु वेशबल से नहीं गिरते। कुछ साधक चारित्र व्रतों से गिर कर भी दर्शन-सम्यक्त्व से नहीं गिरते। परन्तु, कुछ साधक दर्शन से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति विषय-कषाय मे आसक्त होकर अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं।

वे भोगेच्छा को पूरी करने के लिए संयम का परित्याग करते है और रात-दिन भोगों मे आसक्त रहते हैं, फिर भी उनको भोगेच्छा पूरी नही होती। क्योंकि इच्छा, तृष्णा एवं कामना अनन्त है, अपरिमित है और जीवन या आयु सीमित है। इसलिए भोगासक्त व्यक्ति सदा अतृप्त ही रहता है। मृत्यु के अन्तिम क्षण तक उसकी आकांक्षाएं, तृष्णाएं एवं वासनाएं जागृत ही रहती हैं और वह इन्हीं मे गोते लगाते हुए अपनी आयु को समाप्त कर देता है और उस वासना से आबद्ध कर्मों के अनुसार संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

अत साधु को विषय-वासना के प्रवाह मे नहीं बहना चाहिए और परीषहों के समय भी अडिग एवं स्थिर रहना चाहिए, ऐसे साधु के जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्--अहेगे धम्ममायाय आयाणप्पभिइसु पणिहिए चरे, अप्पलीयमाणे दढे सव्वं गिद्धिं परिन्नाय, एस पणए महामुणी, अइअच्च सव्वओ संगं, न महं अत्थित्ति इय एगो अहं, अस्सिं जयमाणे इत्थ विरए अणगारे सव्वओ मुण्डे रीयंते, जे अचेले परिवुसिए संचिक्खइ ओमोयरियाए, से आकुट्ठे वा हए वा लुंचिए वा पलियं पकत्थ अदुवा पकत्थ अतहेहिं सद्दफासेहिं इय संखाए एगयरे अन्नयरे अभिन्नाय तितिक्खमाणे परिव्वए जे य हिरी जे य अहिरीमाणा ॥१८०॥

छाया—अथैके धर्ममादाय आदान प्रभृतिषु प्रणिहिताः चरेयु अप्रलीयमानाः दृढाः सर्वां गृद्धिं परिज्ञाय एष प्रणतः महामुनिः अतिगत्य सर्वतः संग न मम अस्तीति इह एकोऽहं अस्मिन् यतमानः अत्र विरतः अनागार सर्वतः मुण्डो रीयमाणो योऽचेल पर्युषितः सतिष्ठते अवमौदर्ये स आक्रुष्टो वा हतो वा लुञ्चितो वा पलितं कर्म प्रकथ्य अथवा प्रकट्य अतथ्यैः शब्दस्पर्शैः इति- संख्याय एकतरान् अन्यतरान् अभिज्ञाय तितिक्षमाणः परिव्रजेत् ये च हारिणो ये च अहारिणः।

पदार्थ—अहेगे—इसके अनन्तर कई एक। धम्ममायाय—श्रुत और चारित्र रूप धर्म को ग्रहण करके। आयाणप्पभिइसु—धर्मोपकरणादि से युक्त। पणिहिए—परीषहो के सहन करने वाले। चरे—सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म का आचरण करें या करते हैं। अप्पलीयमाणे--माता-पिता आदि मे अनासक्त। दढे—सयमादि में दृढ। सव्वं-सर्व। गिद्धिं—भोगाकाक्षा को। परिन्नाय—ज्ञ परिज्ञा से जानकर तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर, इनको छोड देवे। एस—यह काम पिपासा का परित्यागी। पणए—सयम मे अथवा कर्म धुनने मे प्रवृत्त होता है, अतः वह। महामुणी—महामुनि होता है, फिर। संगं—सग को। सव्वओ—सर्व प्रकार से। अइअच्च—अतिक्रम करके–निम्न प्रकार से भावना भावे। न महं अत्थित्ति—इस ससार में मेरा कोई नही है। इय—इस प्रकार से। एगो अहं—मैं अकेला हूं। अस्सिं—इस जिन प्रवचन में जयमाणे—दशविध प्ररूपित सामाचारी में यत्न करता हुआ। इत्थ—इस जिन शासन मे, विरए—सावद्यानुष्टान से विरक्त होता है। अणगारे—वह अनगार। सव्वओ— सर्व प्रकार से।

मुंडे – द्रव्य और भाव मे मुंडित होकर। रीयते – विचरता हुआ। जे – जो। अचेले – अल्पवस्त्र से। परिवुसिए – संयम मार्ग मे विचरने वाला। अमोयरियाए – ऊनोदरी तप मे। संचिक्खइ – भली प्रकार से स्थित होता है। से – वह – भिक्षु। आकुट्ठे – वचन से आक्रोशित हुआ। वा – अथवा। हए – दण्डादि से ताडित हुआ। वा – अथवा। लुंचिए – केशोत्पाटनादि से लुंचित हुआ। वा – अथवा। पलियं पकत्थ – पूर्वकृत दुष्कृत्यो को उद्देश्य करके कोई उसकी निन्दा करता है। अदुवा – अथवा। अतहेहिं – अयथार्थ वचनो से, यथा – तू चोर है, दुराचारी है, इत्यादि। सद्द – इस प्रकार के असत् शब्दो से। फासेहिं – अथवा शस्त्रादि के स्पर्शो से दु.ख देता है, तब मुनि। इय – इस प्रकार से विचार करता है कि यह सव मेरे पूर्वकृत कर्मो का ही फल है। सखाए – इस प्रकार विचार कर-जानकर। तितिक्खमाणे – कष्ट को सहन करता हुआ। परिव्वए – सयम मे विचरे, तथा। एगयरे – अनुकूल परीषहो को। अन्नयरे – प्रतिकूल परीषहो को। अभिन्नाय – जानकर सयम मार्ग मे ही विचरे। य – और। जे – जो परीषह। हिरी – सत्कार-पुरस्कारादि मन को प्रसन्न करने वाले। य – और। जे – जो परीषह। अहिरीमाणा – मन को अप्रसन्नता देने वाले, तथा। हिरी – जो परीषह लज्जा रूप हैं – याचना एव अचेलादि रूप है, तथा जो। अहिरीमाणा – अलज्जा रूप – शीतोष्णादि रूप हैं, उनको सहन करता हुआ – सयम में विचरे।

मूलार्थ—कुछ एक व्यक्ति धर्म को ग्रहण कर, धर्मोपकरणादि से युक्त होकर सयम मार्ग मे विचरते है तथा माता पिता आदि मे अनासक्त होकर सयम मे दृढ़ और सर्व प्रकार की भोगाकाक्षा को छोड कर सयमानुष्ठान मे प्रयत्नशील होते हैं।

सयम मार्ग मे चलने से ही वह मुनि कहलाता है। वह सर्व प्रकार के सग को छोड़ कर–मैं इस ससार में अकेला हूं, मेरा कोई नही है। इस प्रकार की भावना से आत्मा का अन्वेषण करता है, जिन शासन में विचरनेका यत्न करता हुआ सावद्य व्यापार से रहित होकर वह अनागार सर्व प्रकार से मुण्डित होकर विचरता है। और अचेल धर्म में वसा हुआ वह ऊनोदरी तपमे स्थित रहता है तथा वचन से आक्रोशित किया हुआ, दडादि से ताडित, केशोत्पाटनादि से लुञ्चित, किसी पूर्व दुष्कृत्य के कारण निन्दित किया हुआ, अतथ्य शब्दो से पीडित किया हुआ और शस्त्रादि से घायल किया हुआ वह भिक्षु अपने स्वकृत पूर्व कर्मों के फल को विचार कर

शान्त चित्त से संयम मार्ग मे विचरता है। इसी प्रकार अनुकूल और प्रतिकूल अर्थात् मन को प्रसन्न करने वाले तथा मन मे खेद उत्पन्न करने वाले परीषहो को शान्ति पूर्वक सहन करता हुआ विचरता है। इसी कारण वह अपने अभीष्ट को सिद्ध करने मे सफल होता है।

हिन्दी विवेचन

साधना मे निष्ठा एवं सहिष्णुता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। निष्ठा-श्रद्धा के विना संयम का परिपालन नहीं किया जा सकता। इसलिए साधक को धर्मोपकरणों के साथ सयम-साधना मे सदा सलग्न रहना चाहिए। साधक चाहे जितनी उत्कृष्ट साधना मे संलग्न रहे, फिर भी जव तक शरीर है तव तक कुछ उपकरणों की आवश्यकता रहती ही है। परन्तु, वह उन उपकरणों को भोग—विलास की दृष्टि से नहीं रखता, केवल साधना में सहायक होने के कारण अनासक्त भाव से स्वीकार करता है। अत उसके उपकरण मर्यादित, सीधे-सादे एवं साधना मे तेजस्विता उत्पन्न करने वाले होते हैं। क्योंकि वेश–भूषा का भी जीवन पर प्रभाव होता है। यदि एक सैनिक को भोग–विलास के समय की पोषाक पहना दी जाए तो उससे उसके जीवन मे स्फूर्ति के स्थान मे शिथिलता दिखाई देगी और उसे कोई भी सैनिक नहीं समझेगा। सैनिक के लिये उसके कार्य के अनुरूप चुस्त पोषाक होनी आवश्यक है। इसी प्रकार साधक के लिए उसकी साधना एव त्याग वृत्ति को प्रकट करने वाली सीधी-सादी एव सात्विक वेश भूषा होनी चाहिए। इस लिए आगम मे साधु के लिए मुख-वस्त्रका, रजोहरण, चद्दर, एवं चोलपट्टक (धोती के स्थान मे पहनने का वस्त्र) रखने का विधान है।

साधना का क्षेत्र केवल उपकरणों तक ही सीमित नहीं है। उपकरण साधना में सहायक है, परन्तु साधना का मूल कार्य है अपने अन्दर मे स्थित राग-द्वेष, काम-क्रोध, तृष्णा–आसक्ति आदि अन्तरग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना। अत. साधक को प्रत्येक परिस्थिति मे समभाव को वनाए रखना चाहिए। उसे कोई वन्दन–नमस्कार करे तो प्रसन्न नहीं होना चाहिए और यदि कोई तिरस्कार एव प्रताड़न करे तो रुष्ट एव क्रुद्ध नहीं होना चाहिए। उसे दोनों अवस्थाओं मे एक रूप रहना चाहिए और दोनों व्यक्तियों के लिए एक समान कल्याण की भावना रखनी चाहिए। यही साधुत्व की साधना है, जिसके द्वारा वह कर्मों की निर्जरा करता हुआ निष्कर्म वनने का प्रयत्न करता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'अचेलक' शब्द मे 'अ' अव्यय का पूर्णत निषेध अर्थ मे प्रयोग नहीं किया गया है। यहा उसका स्वल्प अर्थ मे प्रयोग हुआ है। अत. अचेलक

शब्द का अर्थ बिल्कुल नग्न नहीं, प्रत्युत स्वल्प वस्त्र रखना होता है। वृत्तिकार ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है— 'अचेल— अल्पचेलोजिनकल्पिको वा।'

'ओमोयरियाए संचिक्खइ' का अर्थ है—साधु को औनोदर्य तप—अल्पाहार करना चाहिए। अधिक आहार करने से शरीर मे आलस्य आता है, जिसके कारण साधक ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की भली-भांति आराधना नही कर सकता है। अत: रत्नत्रय की साधना के लिए साधक को शुद्ध एषणिक एवं सात्त्विक आहार भी भूख से थोड़ा खाना चाहिए।

साधना के विषय में कुछ विशेष बाते बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—चिच्चा सव्वं विसुत्तियं फासे समियदंसणे, एए भो। णगिणा वुत्ता जे लोगंसि अणागमणधम्मिणो आणाए मामगं धम्मं एस उत्तरवाए इह माणवाणं वियाहिए, इत्थोवरए तं झोसमाणे- आयाणिज्जं परिन्नाय परियाएण विगिंचइ, इह एगेसिं एगचरिया होइ तत्थियरा इयरेहि कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए से मेहावी परिव्वए सुब्भि अदुवा दुब्भिं अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे किलेसंति ते फासे पुट्ठो धीरे अहियासिज्जासि त्तिबेमि ॥१८१॥

छाया—त्यक्त्वा सर्वां विस्रोतसिकां स्पर्शान् समितदर्शनः भो! एते नग्नाः उक्ताः ये लोके अनागमनधर्माणः आज्ञया मामकं धर्मम् एष उत्तरवाद इह मानवानां व्याख्यातः अत्रोपरतः तज्झोषयन् आदानीयं परिज्ञाय पर्यायेण विवेचयति इह एकेषां एकचर्या भवति तत्र इतरे इतरेषु कुलेषु शुद्धैषणया सर्वैषणया स मेधावी परिव्रजेत् सुरभिः अथवा दुरभिः अथवा भैरवाः प्राणाः (प्राणिनः) प्राणिनः क्लेशयन्ति, तान् स्पर्शान् स्पृष्टः धीरः अति सहस्व ? इति ब्रवीमि।

पदार्थ—चिच्चा—छोडकर। सव्वं—सव। विसुत्तियं—परीषहो के सहन करने की शंका को। फासे—परीषहो के स्पर्शो—परीषहजन्य कष्टो को सहन करे। समियदंसणे—

शान्त चित्त से संयम मार्ग मे विचरता है। इसी प्रकार अनुकूल और प्रतिकूल अर्थात् मन को प्रसन्न करने वाले तथा मन मे खेद उत्पन्न करने वाले परीषहो को शान्ति पूर्वक सहन करता हुआ विचरता है। इसो कारण वह अपने अभीष्ट को सिद्ध करने मे सफल होता है।

हिन्दी विवेचन

साधना में निष्ठा एव सहिष्णुता का महत्वपूर्ण स्थान है। निष्ठा-श्रद्धा के विना संयम का परिपालन नहीं किया जा सकता। इसलिए साधक को धर्मोपकरणों के साथ सयम-साधना मे सदा सलग्न रहना चाहिए। साधक चाहे जितनी उत्कृष्ट साधना मे संलग्न रहे, फिर भी जव तक शरीर है तब तक कुछ उपकरणों की आवश्यक्ता रहती ही है। परन्तु, वह उन उपकरणों को भोग—विलास की दृष्टि से नहीं रखता, केवल साधना मे सहायक होने के कारण अनासक्त भाव से स्वीकार करता है। अत उसके उपकरण मर्यादित, सीधे-सादे एवं साधना मे तेजस्विता उत्पन्न करने वाले होते हैं। क्योंकि वेश—भूषा का भी जीवन पर प्रभाव होता है। यदि एक सैनिक को भोग—विलास के समय की पोषाक पहना दी जाए तो उससे उसके जीवन मे स्फूर्ति के स्थान में शिथिलता दिखाई देगी और उसे कोई भी सैनिक नहीं समझेगा। सैनिक के लिये उसके कार्य के अनुरूप चुस्त पोषाक होनी आवश्यक है। इसी प्रकार साधक के लिए उसकी साधना एवं त्याग वृत्ति को प्रकट करने वाली सीधी-सादी एवं सात्विक वेश भूषा होनी चाहिए। इस लिए आगम मे साधु के लिए मुख-वस्त्रिका, रजोहरण, चद्दर, एवं चोलपट्टक (धोती के स्थान मे पहनने का वस्त्र) रखने का विधान है।

साधना का क्षेत्र केवल उपकरणों तक ही सीमित नहीं है। उपकरण साधना में सहायक हैं, परन्तु साधना का मूल कार्य है अपने अन्दर मे स्थित राग-द्वेष, काम-क्रोध, तृष्णा—आसक्ति आदि अन्तरग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना। अत साधक को प्रत्येक परिस्थिति मे समभाव को वनाए रखना चाहिए। उसे कोई वन्दन—नमस्कार करे तो प्रसन्न नहीं होना चाहिए और यदि कोई तिरस्कार एवं प्रताड़न करे तो रुष्ट एव क्रुद्ध नहीं होना चाहिए। उसे दोनों अवस्थाओं मे एक रूप रहना चाहिए और दोनों व्यक्तियों के लिए एक समान कल्याण को भावना रखनी चाहिए। यही साधुत्व की साधना है, जिसके द्वारा वह कर्मों की निर्जरा करता हुआ निष्कर्म वनने का प्रयत्न करता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'अचेलक' शब्द मे 'अ' अव्यय का पूर्णत निषेध अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया है। यहा उसका स्वल्प अर्थ में प्रयोग हुआ है। अत. अचेलक

शब्द का अर्थ बिल्कुल नग्न नहीं, प्रत्युत स्वल्प वस्त्र रखना होता है। वृत्तिकार ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है— 'अचेल— अल्पचेलोजिनकल्पिको वा।'

'ओमोयरियाए संचिक्खइ' का अर्थ है—साधु को औनोदर्य तप—अल्पाहार करना चाहिए। अधिक आहार करने से शरीर में आलस्य आता है, जिसके कारण साधक ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की भली-भांति आराधना नहीं कर सकता है। अतः रत्नत्रय की साधना के लिए साधक को शुद्ध एषणिक एवं सात्विक आहार भी भूख से थोड़ा खाना चाहिए।

साधना के विषय में कुछ विशेष बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—चिच्चा सव्वं विसुत्तियं फासे समियदंसणे, एए भो। णगिणा वुत्ता जे लोगंसि अणागमणधम्मिणो आणाए मामगं धम्मं एस उत्तरवाए इह माणवाणं वियाहिए, इत्थोवरए तं झोसमाणे-आयाणिज्जं परिन्नाय परियाएण विगिंचइ, इह एगेसिं एगचरिया होइ तत्थियरा इयरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए से मेहावी परिव्वए सुब्भि अदुवा दुब्भि अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे किलेसंति ते फासे पुट्ठो धीरे अहियासिज्जासि त्तिबेमि ॥१८१॥

छाया—त्यक्त्वा सर्वां विस्रोतसिकां स्पर्शान् समितदर्शनः भो! एते नग्नाः उक्ताः ये लोके अनागमनधर्माणः आज्ञया मामकं धर्मम् एष उत्तरवादः इह मानवानां व्याख्यातः अत्रोपरतः तज्झोषयन् आदानीयं परिज्ञाय पर्यायेण विवेचयति इह एकेषां एकचर्या भवति तत्र इतरे इतरेषु कुलेषु शुद्धैषणया सर्वैषणया स मेधावी परिव्रजेत् सुरभिः अथवा दुरभिः अथवा भैरवाः प्राणाः (प्राणिनः) प्राणिनः क्लेशयन्ति, तान् स्पर्शान् स्पृष्टः धीरः अति सहस्व ? इति ब्रवीमि।

पदार्थ—चिच्चा—छोड़कर। सव्वं—सब। विसुत्तियं—परीषहों के सहन करने का शंका को। फासे—परीषहों के स्पर्शों—परीषहजन्य कष्टों को सहन करे। समियदसणे—

शान्त चित्त से संयम मार्ग मे विचरता है। इसी प्रकार अनुकूल और प्रतिकूल अर्थात् मन को प्रसन्न करने वाले तथा मन मे खेद उत्पन्न करने वाले परीषहो को शान्ति पूर्वक सहन करता हुआ विचरता है। इसो कारण वह अपने अभीष्ट को सिद्ध करने मे सफल होता है।

हिन्दी विवेचन

साधना मे निष्ठा एव सहिष्णुता का महत्वपूर्ण स्थान है। निष्ठा-श्रद्धा के विना संयम का परिपालन नहीं किया जा सकता। इसलिए साधक को धर्मोपकरणों के साथ सयम-साधना मे सदा सलग्न रहना चाहिए। साधक चाहे जितनी उत्कृष्ट साधना मे सलग्न रहे, फिर भी जब तक शरीर है तब तक कुछ उपकरणों की आवश्यक्ता रहती ही है। परन्तु, वह उन उपकरणों को भोग—विलास की दृष्टि मे नहीं रखता, केवल साधना में सहायक होने के कारण अनासक्त भाव से स्वीकार करता है। अत उसके उपकरण मर्यादित, सीधे-सादे एवं साधना मे तेजस्विता उत्पन्न करने वाले होते हैं। क्योंकि वेश-भूषा का भी जीवन पर प्रभाव होता है। यदि एक सैनिक को भोग-विलास के समय की पोषाक पहना दी जाए तो उससे उसके जीवन मे स्फूर्ति के स्थान मे शिथिलता दिखाई देगी और उसे कोई भी सैनिक नहीं समझेगा। सैनिक के लिये उसके कार्य के अनुरूप चुस्त पोषाक होनी आवश्यक है। इसी प्रकार साधक के लिए उसकी साधना एवं त्याग वृत्ति को प्रकट करने वाली सीधी-सादी एव सात्विक वेश भूषा होनी चाहिए। इस लिए आगम मे साधु के लिए मुख-वस्त्रका, रजोहरण, चद्दर, एवं चोलपट्टक (धोती के स्थान मे पहनने का वस्त्र) रखने का विधान है।

साधना का क्षेत्र केवल उपकरणों तक ही सीमित नहीं है। उपकरण साधना में सहायक हैं, परन्तु साधना का मूल कार्य है अपने अन्दर मे स्थित राग-द्वेष, काम-क्रोध, तृष्णा-आसक्ति आदि अन्तरग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना। अत साधक को प्रत्येक परिस्थिति मे समभाव को वनाए रखना चाहिए। उसे कोई वन्दन-नमस्कार करे तो प्रसन्न नही होना चाहिए और यदि कोई तिरस्कार एवं प्रताडन करे तो रुष्ट एवं क्रुद्ध नहीं होना चाहिए। उसे दोनों अवस्थाओं मे एक रूप रहना चाहिए और दोनों व्यक्तियों के लिए एक समान कल्याण को भावना रखनो चाहिए। यही साधुत्व की साधना है, जिसके द्वारा वह कर्मों की निर्जरा करता हुआ निष्कर्म बनने का प्रयत्न करता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'अचेलक' शब्द मे 'अ' अव्यय का पूर्णत निषेध अर्थ मे प्रयोग नहीं किया गया है। यहा उसका स्वल्प अर्थ में प्रयोग हुआ है। अत. अचेलक

शब्द का अर्थ बिल्कुल नग्न नहीं, प्रत्युत स्वल्प वस्त्र रखना होता है। वृत्तिकार ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है— 'अचेल— अल्पचेलोजिनकल्पिको वा।'

'ओमोयरियाए संचिक्खइ' का अर्थ है--साधु को औनोदर्य तप—अल्पाहार करना चाहिए। अधिक आहार करने से शरीर मे आलस्य आता है, जिसके कारण साधक ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की भली-भाति आराधना नही कर सकता है। अतः रत्नत्रय की साधना के लिए साधक को शुद्ध एषणिक एवं सात्विक आहार भी भूख से थोड़ा खाना चाहिए।

साधना के विषय में कुछ विशेष बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—चिच्चा सव्वं विसुत्तियं फासे समियदंसणे, एए भो! णगिणा वुत्ता जे लोगंसि अणागमणधम्मिणो आणाए मामगं धम्मं एस उत्तरवाए इह माणवाणं वियाहिए, इत्थोवरए तं झोसमाणे आयाणिज्जं परिन्नाय परियाएण विगिंचइ, इह एगेसिं एगचरिया होइ तत्थियरा इयरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए से मेहावी परिव्वए सुब्भिं अदुवा दुब्भिं अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे किलेसंति ते फासे पुट्ठो धीरे अहियासिज्जासि त्तिबेमि ॥१८१॥

छाया—त्यक्त्वा सर्वां विस्रोतसिकां स्पर्शान् समितदर्शनः भो! एते नग्नाः उक्ताः ये लोके अनागमनधर्माणः आज्ञया मामकं धर्मम् एष उत्तर वादः इह मानवानां व्याख्यातः अत्रोपरतः तज्झोषयन् आदानीयं परिज्ञाय पर्यायेण विवेचयति इह एकेषां एकचर्या भवति तत्र इतरे इतरेषु कुलेषु शुद्धैषणया सर्वैषणया स मेधावी परिव्रजेत् सुरभिः अथवा दुरभिः अथवा भैरवा प्राणाः (प्राणिनः) प्राणिनः क्लेशयन्ति, तान् स्पर्शान् स्पृष्ट धीरः अति सहस्व? इति ब्रवीमि।

पदार्थ—चिच्चा—छोडकर। सव्वं—सब। विसुत्तिय—परीषहो के सहन करने का ·ंका को। फासे—परीषहो के स्पर्शो—परीषहजन्य कष्टो को सहन करे। समियदसणे—

शान्त चित्त से संयम मार्ग मे विचरता है। इसी प्रकार अनुकूल और प्रतिकूल अर्थात् मन को प्रसन्न करने वाले तथा मन मे खेद उत्पन्न करने वाले परीषहो को शान्ति पूर्वक सहन करता हुआ विचरता है। इसो कारण वह अपने अभीष्ट को सिद्ध करने मे सफल होता है।

हिन्दी विवेचन

साधना मे निष्ठा एवं सहिष्णुता का महत्वपूर्ण स्थान है। निष्ठा-श्रद्धा के विना संयम का परिपालन नहीं किया जा सकता। इसलिए साधक को धर्मोपकरणों के साथ सयम-साधना मे सदा सलग्न रहना चाहिए। साधक चाहे जितनी उत्कृष्ट साधना मे सलग्न रहे, फिर भी जब तक शरीर है तब तक कुछ उपकरणों की आवश्यक्ता रहती ही है। परन्तु, वह उन उपकरणों को भोग—विलास की दृष्टि मे नहीं रखता, केवल साधना मे सहायक होने के कारण अनासक्त भाव से स्वीकार करता है। अत उसके उपकरण मर्यादित, सीधे-सादे एवं साधना मे तेजस्विता उत्पन्न करने वाले होते हैं। क्योंकि वेश-भूषा का भी जीवन पर प्रभाव होता है। यदि एक सैनिक को भोग-विलास के समय की पोषाक पहना दी जाए तो उससे उसके जीवन मे स्फूर्ति के स्थान मे शिथिलता दिखाई देगी और उसे कोई भी सैनिक नहीं समझेगा। सैनिक के लिये उसके कार्य के अनुरूप चुस्त पोषाक होनी आवश्यक है। इसी प्रकार साधक के लिए उसकी साधना एव त्याग वृत्ति को प्रकट करने वाली सीधी-सादी एव सात्विक वेश भूषा होनी चाहिए। इस लिए आगम मे साधु के लिए मुख-वस्त्रका, रजोहरण, चद्दर, एवं चोलपट्टक (धोती के स्थान मे पहनने का वस्त्र) रखने का विधान है।

साधना का क्षेत्र केवल उपकरणों तक ही सीमित नहीं है। उपकरण साधना में सहायक हैं, परन्तु साधना का मूल कार्य है अपने अन्दर मे स्थित राग-द्वेष, काम-क्रोध, तृष्णा-आसक्ति आदि अन्तरग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना। अत साधक को प्रत्येक परिस्थिति मे समभाव को बनाए रखना चाहिए। उसे कोई वन्दन-नमस्कार करे तो प्रसन्न नहीं होना चाहिए और यदि कोई तिरस्कार एवं प्रताड़न करे तो रुष्ट एव क्रुद्ध नहीं होना चाहिए। उसे दोनों अवस्थाओं मे एक रूप रहना चाहिए और दोनों व्यक्तियों के लिए एक समान कल्याण की भावना रखनी चाहिए। यही साधुत्व की साधना है, जिसके द्वारा वह कर्मों की निर्जरा करता हुआ निष्कर्म बनने का प्रयत्न करता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'अचेलक' शब्द मे 'अ' अव्यय का पूर्णत. निषेध अर्थ मे प्रयोग नहीं किया गया है। यहा उसका स्वल्प अर्थ में प्रयोग हुआ है। अत. अचेलक

शब्द का अर्थ बिल्कुल नग्न नहीं, प्रत्युत स्वल्प वस्त्र रखना होता है। वृत्तिकार ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है— 'अचेल— अल्पचेलोजिनकल्पिको वा।'

'ओमोयरियाए संचिक्खइ' का अर्थ है --साधु को ऊनोदर्य तप—अल्पाहार करना चाहिए। अधिक आहार करने से शरीर में आलस्य आता है, जिसके कारण साधक ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की भली-भांति आराधना नहीं कर सकता है। अतः रत्नत्रय की साधना के लिए साधक को शुद्ध एषणीक एवं सात्विक आहार भी भूख से थोड़ा खाना चाहिए।

साधना के विषय में कुछ विशेष बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—चिच्चा सव्वं विसुत्तियं फासे समियदंसणे, एए भो! णगिणा वुत्ता जे लोगंसि अणागमणधम्मिणो आणाए मामगं धम्मं एस उत्तरवाए इह माणवाणं वियाहिए, इत्थोवरए तं झोसमाणे आयाणिज्जं परिन्नाय परियाएण विगिंचइ, इह एगेसिं एगचरिया होइ तत्थियरा इयरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए से मेहावी परिव्वए सुब्भिं अदुवा दुब्भिं अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे किलेसंति ते फासे पुट्ठो धीरे अहियासिज्जासि त्तिबेमि ॥१८१॥

छाया—त्यक्त्वा सर्वां विस्रोतसिकां स्पर्शान् समितदर्शनः भो! एते नग्नाः उक्ताः ये लोके अनागमनधर्माणः आज्ञया मामकं धर्मम् एष उत्तरः वादः इह मानवानां व्याख्यातः अत्रोपरतः तज्झोषयन् आदानीयं परिज्ञाय पर्यायेण विवेचयति इह एकेषां एकचर्या भवति तत्र इतरे इतरेषु कुलेषु शुद्धैषणया सर्वैषणया स मेधावी परिव्रजेत् सुरभिः अथवा दुरभिः अथवा भैरवाः प्राणाः (प्राणिनः) प्राणिनः क्लेशयन्ति, तान् स्पर्शान् स्पृष्टः वीरः अति सहस्व ? इति ब्रवीमि।

पदार्थ—चिच्चा—छोड़कर। सव्वं—सब। विसुत्तियं—परीषहों के सहन करने वाली को। फासे—परीषहों के स्पर्शों—परीषहजन्य कष्टों को सहन करे। समियदंसणे—

समित दर्शन अर्थात् जो सम्यग् दृष्टि है, वह सम्यक् प्रकार से परीषहों को सहन करे। भो!— यह आमन्त्रण अर्थ मे है अत हे लोगो! एए—ये-परीषहो को सहन करने वाले। णगिणा— नग्न। वुत्ता—कहे गये है। जे—जो। लोगंसि—लोक में। अणागमणधम्मिणो—दीक्षा ले कर घर मे वापिस नही आने वाले। आणाए—आज्ञा। मामग—मेरा। धम्म—धर्म है, इस प्रकार से धर्म का सम्यक्तया पालन करे। एस—यह अनन्तरोक्त। उत्तरवाए—उत्कृष्ट वाद। इह—इस मनुष्य लोक में। माणवाणं—मनुष्यो का। वियाहिए—कथन किया गया है, और। इत्थोवरए—कर्म नष्ट करने के उपाय सयम मे रत होकर। त—आठ प्रकार के कर्मों का। झोसमाणे—क्षय करता हुआ सयम मे विचरे। आयाणिज्जं—आदानीय कर्म की परिन्नाय—मूल तथा उत्तर प्रकृतियो को जानकर फिर। परियाएण—सयम पर्याय से इनको। विगिंचइ—क्षय करता है। इह—इस प्रवचन में। एगेसिं—कई एक हलुकर्मी जीवों की। एगचरिया—एकाकी विहार प्रतिमा। होइ—होती है। तत्थियरा—उस एकाकी विहार प्रतिमा में अन्य सामान्य साधुओ से विशिष्टता होती है। इयरेहि—इतर अ य। कुलेहि—कुलो में सुद्धेसणाए- शुद्धषणा से। सव्वेसणाए—सर्व प्रकार के दोषो से रहित होने से—सर्वैषणासे उसे पालन करे, अत। मेहावी—बुद्धिमान। परिव्वए—सयम मार्ग मे विचरे अर्थात् संयम में स्थित रहे। सुब्भिं—इतर कुल मे यदि सुगन्ध वाला आहार मिले। अदुवा—अथवा। दुब्भि—दुर्गन्ध युक्त आहार मिले तो उसमे राग द्वेष न करे। अदुवा—अथवा। भेरा—श्मशानादि मे यदि राक्षसादि के भयानक शब्द हो तो उन्हे सहन करे तथा। भेरवा—भयोत्पन्न करने वाले। पाणा—प्राणी। पाणे—अन्य प्राणियो को। किलेसंति—पीडित-दु:खी करते हैं, अत हे शिष्यो! ते—उन। फासे—दु ख रूप स्पर्शों से। पुट्ठो—स्पृष्ट हुआ फिर उन स्पर्शो को। धीरे—तू धैर्य-वान बन कर। अहियासिज्जासि—सहन कर। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—हे शिष्यो! परीषहो के सहन की शका को सर्वथा छोड कर समित दर्शन—सम्यग् दृष्टि सम्पन्न होने को भाव नग्नता कहते है, जो इस मनुष्य लोक मे दीक्षित होकर पुन घर मे आने की अभिलाशा नही रखते। इस मनुष्य लोक मे यह उत्कृष्ट वाद कथन किया गया है कि भगवान की आज्ञा ही मेरा धर्म है। इस जिन शासन मे सलग्न व्यक्ति आठ प्रकार के कर्मों का क्षय करता हुआ, कर्मो के भेदों को जानकर सयम पर्याय से कर्म क्षय करता है। इस प्रवचन मे कोई एक हलुकर्मी जीव एकाकी विहार प्रतिमा में प्रवृत्त हो जाते है, नाना प्रकार के अभिग्रहो से युक्त हो जाते है, अत

वह सामान्य मुनियों से विशिष्टता रखता है, अज्ञात कुलों मे निर्दोष तथा एषणिक भिक्षा को ग्रहण करता है। इस प्रकार वह बुद्धिमान साधक सयमवृत्ति का पालन करता है, किन्तु यदि उसे अज्ञात कुलो मे सुगन्ध युक्त या दुर्गंध युक्त आहार मिला है; तो वह उसमे राग-द्वेष न करे। यदि एकाको प्रतिमा वाला भिक्षु किसी श्मशानादि स्थान पर ठहरा हुआ है और वहां पर यक्षादि के भयानक शब्द सुनाई पडे, तो उसे स्ववृत्ति से विचलित नही होना चाहिए। यदि व्याघ्रादि भयानक प्राणो, अन्य प्राणियों को सताप दे रहे हो या वे हिंसक जन्तु मुनि पर आक्रमण कर रहे हो, तो वह उन दुःख रूप स्पर्शो को शान्ति पूर्वक सहन करे। तात्पर्य यह है कि मोक्षाभिलाषी जीव को यदि किसी प्रकार के हिंसक प्राणी कष्ट दें, तो वह उन कष्टो-परिषहो को धैर्य पूर्वक सहन करने में तत्पर रहे। इस प्रकार मै कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधक को उपदेश दिया गया है कि वह सदा सहिष्णु बना रहे। वह अपनी साधना का पूरी निष्ठा के साथ पालन करे। वह अपने संयम पथ पर दृढ़ता से चलता रहे और वीतराग द्वारा उपदिष्ट धर्म एवं आज्ञा का सम्यक् प्रकार से पालन करे। वह यह विचार करे कि दुनिया में धर्म के सिवाय कोई भी पदार्थ अक्षय नहीं है। धर्म ही कर्म मल को दूर करके आत्मा को शुद्ध करने वाला है। अतः हिंसा आदि समस्त दोषों का त्याग करके जीवन निर्वाह के लिए निर्दोष आहार, वस्त्र-पात्र आदि स्वीकार करता हुआ शुद्ध संयम का पालन करे। परन्तु, तीर्थंकर भगवान की आज्ञा के विपरीत आचरण न करे।

इस तरह संयम-साधना में संलग्न रहे और उक्त समय में आने वाले अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करे। कोई दुष्ट व्यक्ति उस पर प्रहार भी करे तब भी वह उसके प्रति द्वेष न करे, मन में भी घृणा एवं नफरत का भाव न रखे। यदि कभी श्मशान आदि शून्य स्थानों में ध्यान लगा रखा हो और उस समय कोई हिंसक पशु, मनुष्य या देव कष्ट दे, तब भी अपने आत्म चिन्तन का त्याग न करे और उनके प्रति क्रूर भाव भी न लाए। और तो क्या, यदि कोई हिंसक पशु या मनुष्य आदि उसके शरीर

का भी नाश करता हो, तब भी उसे बुरा-भला न कहकर, उस वेदना को यह समझकर समभाव पूर्वक सहन करे कि यह शरीर नाशवान है और मेरी आत्मा अविनाशी है। इस शरीर के नाश होने पर भी उसका अस्तित्व समाप्त नहीं होता। इस प्रकार अनित्य एवं अशरण भावना के द्वारा अपने शरीर पर से ध्यान हटाकर आत्म चिन्तन को ती· बनाने का प्रयत्न करे। इस तरह समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करने वाला साधक राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करके शीघ्र ही वीतराग पद को प्राप्त करके सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त बन जाता है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

षष्ठ अध्ययन—धुत

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक में कर्म निर्जरा की बात कही है। कर्म की निर्जरा अनासक्ति एवं सहिष्णुता पर आधारित है। अत प्रस्तुत उद्देशक में बताया है कि वस्त्र आदि के फट जाने पर या अनुकूल वस्त्र न मिलने पर मन मे संवेदन नहीं करे। परन्तु, अनासक्त भाव से परीषहों को सहन करते हुए संयम का पालन करे। इसी का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं —

मूलम्—एयं खु मुणी आयाणं सया सुयक्खायधम्मे विहूयकप्पे निज्झोसइत्ता, जे अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स नो एवं भवइ--परिजुण्णे मे वत्थे, वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वुक्कसिस्सामि, परिहिस्सामि, पाउणिस्सामि, अदुवा तत्थ परिक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंसमसग-फासा फुसंति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ अचेले लाघवं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवइ. जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए संमत्तमेव समभिजाणि-ज्जा, एवं तेसिं महावीराणं चिरराय पुव्वाइं वासाणि रीयमाणाणं दवियाणं पास अहियासियं ॥१८२॥

छाया—एतत् खु मुनिः आदानं सदा स्वाख्यातधर्मा विधूतकल्प. निर्झो-षयित्वा योऽचेलः पर्युषितः तस्य (ण) भिक्षोः नैतद् भवति परिजीर्णं मे वस्त्रं, वस्त्र याचिष्ये, सूत्रंयाचिष्ये,सूचि च याचिष्ये, सन्धास्यामि, सेविष्यामि,उत्कर्ष-यिष्यामि, व्युत्कर्षयिष्यामि, परिधास्यामि,प्रावरिष्यामि, अथवा तत्र पराक्रमाणं भूयोऽचेलं तृणस्पर्शाः स्पृशन्ति, शीतस्पर्शाः स्पृशन्ति, तेज स्पर्शाः स्पृशन्ति, दंशमशक स्पर्शाः स्पृशंति, एकतरान् अन्यतरान् विरूप रूपान् स्पर्शान् अधिसहते, अचेलः लाघवं आगमयन् तप तस्य अभिसमन्वागत भवति। यथा इदं भगवता प्रवेदितं तदेवाभिसमेत्य सर्वात्मना (सर्वतया)सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात्। एवं तेषा महावीराणा चिर रात्र पूर्वाणि वर्षाणि रीयमाणानां द्रव्याणां पश्य! अधिसोढम्।

पदार्थ—एय—यह पूर्वोक्त। खु—निश्चय अथवा वाक्यालकार अर्थ में है। आयाणं—कर्म ग्रहण करने के कारण धर्मोपकरण के अतिरिक्त उपधि का। निज्झोसइत्ता—त्याग कर देता है। मुणी—वह मुनि है तथा जो। सया—सदा। सुयक्खायधम्मे—सुन्दर धर्म वाला है विहूयकप्पे—जिसने सम्यक् प्रकार से आचार को धारण किया है, वास्तव मे वही मुनि कर्म क्षय कर सकता है। जे—जो साधु। अचेले—अल्प वस्त्र वाला। परिवुसिए—सयम मे ठहरा हुआ है। णं—वाक्यालकार में है। तस्स—उस। भिक्खुस्स—भिक्षु को। नो एव भवइ—यह नही होता कि। मे—मेरा। वत्थे—वस्त्र। परिजुण्णे—सर्व प्रकार से जीर्ण हो गया है, अतः मैं। वत्थं—नूतन वस्त्र की। जाइस्सामि—याचना करूंगा, फिर उसके सीने के लिए। सुत्तं—सूत्र की। जाइस्सामि—याचना करूगा, फिर। सूइं—सूई की। जाइस्सामि—याचना करूंगा, फिर। संधिस्सामि—उस वस्त्र का सन्धान करूगा, फिर। सीविस्सा-मि—फटे हुए वस्त्र को सीऊगा। उक्कसिस्सामि—या छोटे वस्त्र के साथ अन्य वस्त्र जोड कर उसे लम्बा करूंगा, फिर। वुक्कसिस्सामि—अथवा बडे वस्त्र को फाड कर छोटा करूगा। परिहिस्सामि-फिर वस्त्र धारण करूगा। पाउणिस्सामि-शरीर को आच्छादित करूंगा। (इस प्रकार के अध्यवसाय—जो कि आर्तध्यान को उत्पन्न करने वाले है-उस मुनि के नही होते)। अदुवा—अथवा। तत्थ—उस अचेलत्व मे। परिक्कमत—पराक्रम करते हुए। अचेल—अचेलक मुनि को। भुज्जो—फिर। तणफासा—तृण के स्पर्श। फुसति—स्पर्शित होते हैं। सीयफासा—शीत के स्पर्श। फुसति—स्पर्शित होते हैं। तेउफासा—उष्णता के स्पर्श। फुसति—स्पर्शित होते हैं। दंसमसगफासा—डास-मच्छर के स्पर्श

फुसंति—स्पर्शित होते हैं। एगयरे—उनमें से कोई एक परीषह, मन्द या तीव्र स्पर्श वाले हैं, तथा। अन्नयरे—मे से कई अन्य परीषह हैं, तथा। विरूवरूवे—नाना प्रकार के परीषहो के। फासे—स्पर्शों को। अचेल—वस्त्र से रहित या अल्प वस्त्र वाला भिक्षु। अहियासेइ—सहन करे। लाघवं—लघु भाव को। आगममाणे—जानता हुआ। से—वह भिक्षु। तवे—काय क्लेशादि तप से। अभिसमन्नागए — युक्त। भवइ —होता हैं अर्थात् सुधर्मा-स्वामी कहते हैं कि वह काय क्लेशादि तप को सहन करने वाला होता है। जहेय—जिम प्रकार से यह विषय कहा गया है वह। भगवया—भगवान ने। पवेइय—प्रतिपादन किया है। तमेव—उपकरण और आहार की लाघवता को। अभिसमिच्चा—विचार कर। एव—अवधारणा अर्थ में है। सव्वओ—सर्व प्रकार से। सव्वताए—सर्वात्मा से। समत्तमेव—सम्यक् प्रकार से। समभिजाणिज्जा—जाने। एवं—इस प्रकार। तेसिं—उन। महावीराण—महावीरो का यह आचार है। चिरराय—चिर काल पर्यन्त। पुव्वाइ—पूर्वोक्त वासाणि—और वर्षो तक। रीयमाणाण—सयम मे विचरते हुओ का यह आचार है। पास-हे शिष्य! तू देख। दवियाणं—मोक्ष मार्ग पर चलने वाले। अहियासियं—व्यक्तियो के लिए ये परीषह सहन करने योग्य हैं।

मूलार्थ—इन पूर्वोक्त धर्मोपकरणो के अतिरिक्त उपकरणो को कर्मबन्ध का कारण जानकर जिसने उनका परित्याग कर दिया है, वह मुनि सुन्दर धर्म को पालन करने वाला है। वह आचार सपन्न अचलक साधु सदा-सर्वदा सयम मे स्थित रहता है। उस भिक्षु को यह विचार नहीं होता कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है। अतः मैं नए वस्त्र की याचना करूंगा, या सूई धागे को याचना करूगा और फटे हुए वस्त्र को सीऊंगा या छोटे से बडा या बडे से छोटा करूगा, फिर उससे शरीर को आवृत करूंगा। अथवा उस अचेल-कत्व मे पराक्रम करते हुए मुनि को तृणों के स्पर्श चुभते हैं, उष्णता के के स्पर्श स्पर्शित करते है और दशमशक के स्पर्श स्पर्शित करते है, तो वह एक या अनेक तरह के परीषहजन्य स्पर्शो को सहन करता है। अचेलक भिक्षु लाघवता को जानता हुआ कायक्लेश तप से युक्त होता है। यह पूर्वोक्त विषय भगवान् महावीर ने प्रतिपादन किया है। हे शिष्य! तू उस विषय को सम्यग् रूप से जानकर उन वीर पुरुषो की तरह—जिन्होंने पूर्वों या वर्षों तक संयम मार्ग मे विचरकर परीषहो को सहन किया है, तू

भी अपनी आत्मा में परीषहों को सहन करने की वैसी ही शक्ति प्राप्त करूं ! इसका निष्कर्ष यह है कि मुनि के हृदय में परीषहों को सहन करने की तीव्र भावना होनी चाहिए ।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि मुनि को साधक अवस्था मे कुछ उपकरण रखने पड़ते हैं। यह बात अलग है कि उपकरणों की संख्या में कुछ अन्तर रहता है। जैसे जिनकल्पी मुनि—जो जगल एवं पर्वतों की गुफाओं में रहते हैं, के लिए मुख वस्त्रिका और रजोहरण दो उपकरण ही पर्याप्त हैं, तो स्थविरकल्पी के लिए १४ उपकरण बताए गए हैं। इनमें भी कमी की जा सकती है। इन उपकरणों में कमी करना तपश्चर्या है। इससे कर्मों की निर्जरा होती है। अत साधक को कषायों के त्याग के साथ-साथ यथाशक्य उपकरणों मे कमी करने के लिए भी प्रयत्नशील रहना चाहिए।

मुनि का मूल उद्देश्य आत्म विकास है। आत्म विकास के लिए ही वह आहार-पानी एवं वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों को स्वीकार करता है। ये उपकरण केवल संयम साधना के साधन हैं, न कि साध्य। अत वह उपकरणों को रखते हुए भी उनकी विशेष चिन्ता नहीं करता और न उनमें आसक्त ही रहता है। उसका मन एवं उसका चिन्तन सदा-सर्वदा सयम परिपालन मे ही संलग्न रहता है। क्योंकि, वह इस बात को जानता है कि सयम से ही कर्मों का नाश होगा और कर्म क्षय होने पर ही आत्मा का विकास हो सकेगा। अत वह सदा संयम पालन मे ही जागरुक रहता है।

कभी वस्त्र आदि के फट जाने पर तथा समय पर शुद्ध—एषणिक वस्त्र के न मिलने पर वह उसके लिए चिन्ता नहीं करता, आर्त-रौद्र ध्यान नहीं करता। ऐसे समय मे भी वह समभाव पूर्वक अपनी साधना में सलग्न रहता है। वह वस्त्र की कमी के कारण होने वाले शीत, दंश-मशक एव तृण स्पर्श के परीषहों को विना किसी खेद के सहन करता है। वह अपने मन मे सोचता-विचारता है कि भगवान महावीर ने इसी धर्म का या समभाव की साधना करने का उपदेश दिया है और अनेक महापुरुषों ने वर्षों एव पूर्वों† तक इस शुद्ध धर्म एवं सयम का परिपालन करके आत्मा को कर्मों से सर्वथा अनावृत्त कर लिया है। अत मुझे भी इसी धर्म का पालन करके निष्कर्म बनना

†८४ लाख वर्षों को ८४ लाख वर्षों से गुणा करने पर जो गुणनफल आता है, उतने वर्षों का एक पूर्व होता है अर्थात् ८४ लाख × ८४लाख = ७० लाख करोड, ५६ हजार करोड़ वर्ष (७०,५६००००००००००)।

चाहिए। इस प्रकार साधक को समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करते हुए संयम मे संलग्न रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र मे 'अचेलक' शब्द का प्रयोग किया गया है। कुछ लोग अचेलक शब्द का वस्त्र रहित अर्थ करते हैं। परन्तु, प्रस्तुत सूत्र में 'अ' अव्यय पूर्ण निषेध के अर्थ मे नही, स्वल्प के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। जैसे कि अज्ञ का अर्थ है—स्वल्प ज्ञान वाला, न कि ज्ञान शून्य। इसी प्रकार अचेलक शब्द का तात्पर्य है—अल्प वस्त्र रखने वाला मुनि। यह हम स्पष्ट कर चुके हैं कि स्वल्प वस्त्र भी संयम—साधना के साधन हैं, साध्य नहीं। अतः साधक इनमे आसक्त नही रहता। इन सब उपकरणों मे अनासक्त रहते हुए वह सदा संयम मे संलग्न रहता है और आने वाले परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करता है।

परीषहों को सहन करने से आत्मा मे किस गुण का विकास होता है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—आगयपन्नाणाणं किसा बाहवो भवंति पयणुए य मंससोणिए विस्सेणिं कट्टु परिन्नाय, एस तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्तिबेमि ॥१८३॥

छाया—आगतप्रज्ञानानां कृशाः बाहवः भवन्ति, प्रतनुके च मासशोणिते, विश्रेणी कृत्वा परिज्ञाय, एष तीर्णः मुक्तः विरतः व्याख्यातः इति ब्रवामि।

पदार्थ—आगयपन्नाणाणं—जिनको परीषहो के सहन करने से उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति होगई है, उनके। बाहवो—भुजाएं। किसा—कृश। भवंति—होती है अथवा। बाहवो—बाधा-पीडा। किसा—कृश। भवंति—होती हैं। य—और, मनके दृढ होने से। मंससोणिए—मांस-शोणित रुधिर। पयणुए—थोडा हो जाता है। विस्सेणिं—ससार रूप श्रेणि—जिसकी कषाय रूप सन्तति है, उसको क्षमादि के द्वारा नष्ट। कट्टु—करके तथा। परिन्नाय—समत्व भावना से जानकर। एस—उक्त लक्षण वाला मुनि। तिण्णे—ससार समुद्र को तैर गया है। मुत्ते—सब सग से मुक्त हो गया है। विरए—सर्व सावद्यानुष्ठान से रहित हो गया है। वियाहिए—ऐसा कहा गया है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—प्रज्ञावान मुनि की परीषहो को सहन करने से भुजाएं कृश हो जाती है, मांस और रुधिर थोडा हो जाता है। वह ससार परिभ्रमण को

बढाने वाली रागद्वेष रूप सन्तति को नष्ट करके और समत्व भाव एव पूर्वोक्त गुणो से युक्त होकर ससार समुद्र को पार कर जाता है। वह सर्व ससर्ग से छूट जाता है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

संसार में दो प्रकार का परिवर्द्धन होता है— १-शरीर और २-भव भ्रमण। शरीर का विकास प्रकाम-गरिष्ठ एवं पौष्टिक भोजन और आराम तलबी पर आधारित है और भव भ्रमण का प्रवाह राग-द्वेष एव विषय-वासना के आसेवन से बढ़ता है। मुनि का जीवन त्याग का जीवन है। वह भोजन करता है, वस्त्र पहनता है, मकान में रहता है, फिर भी इनमें आसक्त नहीं रहता। क्योंकि, वह इन्हें केवल सयम पालन के साधन मानता है। अत. साधना को शुद्ध रखने के लिए वह सादा एवं सात्विक भोजन या वस्त्रादि लेकर समभाव से सयम का पालन करता है और कभी समय पर यथाविधि शुद्ध—एषणिक आहार आदि उपलब्ध न होने पर भी वह किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करता है। वह इन सब परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करता है। इस प्रकार अनेक परीषहों को सहन करने से उसके शरीर का मास सूख जाता है। उसका शरीर कृश–दुबला–पतला हो जाता है परन्तु सहन शक्ति के साथ समभाव की धारा प्रवहमान रहने के कारण वह पूर्व बद्ध कर्मों को क्षय करके कर्म के बोझ से भी हल्का हो जाता है। इससे वह जन्म-मरण की परम्परा को परिवर्द्धित करने वाले राग-द्वेष का क्षय करके अजर-अमर पद को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के ससार-परिवर्द्धन को समाप्त करके भव सागर से पार हो जाता है।

इससे स्पष्ट हो गया कि ज्ञान, दर्शन एवं चरित्र से संपन्न साधक समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करने मे समर्थ होता है। इससे उसकी साधना में तेजस्विता आती है और वह ससार परिभ्रमण को घटाता रहता है। इस प्रकार परीषहों को सहन करने से उसकी आत्मा का विकास होता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—चिरं भिक्खुं रीयंतं चिरराओसियं अरई तत्थ किं विधारए? संधेमाणे समुट्ठिए, जहा से दीवे असंदीणे एवं से धम्मे आरियपदेसिए, ते अणवकंखमाणा पाणे अणइवाएमाणा

जइया मेहाविणो पंडिया, एव तेसिं भगवओ अणुट्ठाणे जहा से दियापोए एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेण वाइय त्तिबेमि ॥१८४॥

छाया—विरतं भिक्षुं रीयमाणं चिररात्रोषितमरतिस्तत्र किं विधारयेत्? सद्धानः समुत्थितः यथा स द्वीपोऽसदीनः एव स धर्मः आर्यप्रदेशितः ते अनवकांक्षन्तः प्राणिनोऽनतिपातयन्त दयिता (दयिताः) मेधाविनः पंडिता, एवं तेषां भगवतोऽनुष्ठानः यथा स द्विजपोतः एवं ते शिष्याः दिवा च रात्रौ च अनुपूर्वेण वाचिताः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—रीयत—संयम मार्ग पर चलते हुए। विरय—विरत। भिक्खुं—भिक्षु को। चिरराओसिय— जो चिर काल पर्यन्त सयम मे रहा हुआ है। किं—क्या उसे। तत्थ—सयम के विषय मे। अरई—अरति-चिन्ता। विधारए— उत्पन्न हो सकती है?

उत्तर—हां, यह कर्म की विचित्रता है, जिसके कारण उसे चिन्ता उत्पन्न हो सकती है, तथा नही भी हो सकती है, जैसे कि। संधेमाणे—जो उत्तरोत्तर सयम स्थान में आत्मा को जोडता है, तथा। समुट्ठिए— सम्यक् प्रकार से सयम मार्ग मे उपस्थित हुआ है, ऐसे मुनि को अरति किस प्रकार हो सकती है? कदापि नही हो सकती, वह मुनि तो। जहा—जैसे से वह। दीवे असदीणे—असदीन द्वीप जल से सर्वथा रहित होने से डूबते हुए प्राणियो का आश्रयभूत है, इसी प्रकार मुनि भी द्वीप तुल्य-द्वीप के समान अन्य जीवो का रक्षक है। एवं—इसी प्रकार। से—वह। धम्मे—धर्म। आरियपदेसिए—आर्य प्रदेशित—तीर्थंकर प्रणीत होने से द्वीप के समान प्राणियो की रक्षा करने वाला है। ते—वे—धर्म के पालने वाले। अणवकंखमाणा—भोगो को न चाहते हुए तथा। पाणे—प्राणियो की। अणइवायमाणा—हिंसा न करते हुए—उपलक्षण से अन्य महाव्रतो का पालन करते हुए। जइया—सर्व जीवो की रक्षा करने से लोगो को प्रिय है अथवा सब जीवो के रक्षक है। मेहाविणो—मर्यादा में स्थित रहने से मेधावी हैं। पंडिया—पंडित-पापो से दूर रहने वाले हैं। एवं—इसी प्रकार। तेसिं--उनको भगवओ—भगवान वर्द्धमान स्वामी के धर्म मे। अणुट्ठाणे—अनुष्ठान-अनुस्थान है अथवा जो भगवान के धर्म में स्थिर चित्त नही है, वे उनको धर्म मे स्थिर करते हैं—शिक्षा के द्वारा उनकी आत्मा को धर्म में लगाते हैं। जहा—जैसे। से—वह। दिया—द्विज—पक्षी। पोए—अपने पोत—बच्चो का पालन करता है। एवं—इसी प्रकार। ते—वे महापुरुष।

दिया—दिन। च—और। राओ—रात्रि में। य समुच्चयार्थ में है। अणुपुव्वेण—अनुक्रम से। वाइय—वाचनादि के द्वारा। सिस्सा—शिष्यों का पालन करते हैं, जिससे कि वे ससार समुद्र से पार होने में समर्थ हों। इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—सावद्य व्यापार से निवृत्त और सयम मार्ग में विचरते हुए भिक्षु—जो चिर काल से संयम मे अवस्थित है, को भी क्या अरति उत्पन्न हो सकती है? हां, कर्म की विचित्रता के कारण उसे भी सयम में अरुचि हो सकती है। परन्तु,सयम निष्ठ मुनि को अरुचि उत्पन्न नहीं होती है उत्कृष्ट सयम मे आत्मा को जोडने वाला, सम्यक् प्रकार से सयम मे यत्नशील मुनि असन्दीन [कभी भी जल से नहीं भरने वाले] द्वीप की तरह सब जीवो का रक्षक होता है या यह तीर्थंकर प्रणीत धर्म द्वीप तुल्य होने से जीवों का रक्षक है। वे साधु भोगेच्छा से रहित एव प्राणियो के प्राणो का उत्पीडन नही करने वाले जगत प्रिय-वल्लभ, मेधावी और पडित हैं। परन्तु; जो भगवान के धर्म मे स्थिर चित नही हैं, ऐसे साधको को आचार्यादि भी दिन और रात्रि मे अनुलोम वाचनादि के द्वारा रत्न त्रय का यथार्थ बोध करवा कर ससार समुद्र से तैरने के योग्य बनाते हैं। इसप्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

आगमों में मोह कर्म को सबसे प्रबल माना है। जिस समय इसका उदय होता है, उस समय यह बड़े-बड़े योगियों को साधना पथ से च्युत कर देता है। इसी बात को बताते हुए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि मोह कर्म के उदय से भी साधक के मन में चिन्ता एवं साधना से घृणा उत्पन्न हो सकती है। अत इस दुर्भावना को मन में पनपने नहीं देना चाहिए, प्रत्युत उसे तुरन्त निकाल फैंकने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे अपने मन को विषय-वासना एवं पदार्थों की आसक्ति से हटाकर संयम मे लगाना चाहिए। उसे अपने चिन्तन की धारा को रत्न-त्रय की साधना की ओर मोड़ देना चाहिए। जिससे उसका मन संयम में तथा ज्ञान एवं दर्शन की साधना में सलग्न हो सके। इस प्रकार वीतराग प्रभु की आज्ञा के अनुसार संयम में संलग्न रहने वाला साधक कभी भी अपने पथ से भ्रष्ट नहीं होता है।

वह संयम संपन्न मुनि सब प्राणियों के लिए आश्रयभूत होता है। जैसे समुद्र

में भटकने वाले प्राणियों की द्वीप रक्षा करता है, उसे आश्रय देता है, उसी प्रकार संयम-शील साधक सब प्राणियों की दया, रक्षा करता है। संयम सब के लिए अभय प्रदाता है। इससे बढ़कर संसार मे कोई और आश्रय या शरण नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र में केशीश्रमण के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी ने भी यही कहा है कि "संसार सागर में भटकने वाले प्राणी के लिए धर्म द्वीप ही सबसे श्रेष्ठ आश्रय है, उत्तम शरण है*।"

ऐसे संयम-निष्ठ मुनि ही समस्त प्राणियों के रक्षक हो सकते हैं। वे ही भोगासक्त व्यक्तियों को त्याग का मार्ग बताकर उन्हें निवृत्ति पथ पर बढ़ने की प्रेरणा दे सकते हैं। ऐसे आचार सम्पन्न महापुरुषों का यह कर्तव्य बताया गया है कि वे साधक को तत्त्वों का यथार्थ बोध कराएं और ज्ञान के द्वारा उसकी साधना में तेजस्विता लाने का प्रयत्न करें। यदि किसी साधक के पैर लड़खड़ा रहे हैं, मन चल-विचलित हो रहा है, तो उस समय आचार्य एव गीतार्थ (वरिष्ठ) साधु को चाहिए कि वह अपने अन्य सब कार्यों को छोड़कर उसके मन को स्थिर करने का प्रयत्न करे। उसे रात-दिन स्वाध्याय कराते हुए, आगम का बोध कराते हुए उसके हृदय में संयम के प्रति निष्ठा जगाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार अगीतार्थ एवं चल-विचल मन वाले शिष्य को सुयोग्य बनाने का दायित्व आचार्य एवं संघ के वरिष्ठ साधुओं पर है।

इस प्रकार संयम-निष्ठ एवं संयम में स्थिर हुआ साधक प्राणी जगत के लिए शरण रूप होता है। स्वय संसार सागर से पार होता है और अन्य प्राणियों को भी पार होने का मार्ग बताता है। 'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

---

*धम्मो दीवो पइट्ठा य सरणमुत्तमं। —उत्तराध्ययन, २३,६३ ।

षष्ठ अध्ययन—धुत

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में उपकरणों मे कमी करने का उपदेश दिया गया है। उपकरणों मे कमी करने अथवा साधना मे सहायक आवश्यक उपकरणों से अधिक न रखने के लिए अनासक्त भाव का होना आवश्यक है। इसके लिए गौरव का त्याग करना अनिवार्य हो जाता है। अत. प्रस्तुत उद्देशक मे इसी वात का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेण वाइया तेहिं महावीरेहिं पन्नाणमंतेहिं तेसिमंतिए पन्नाणमुवलब्भ हिच्चा उवसमं फारुसियं समाइयंति, वसित्ता बंभचेरंसि आणं तं नोत्ति मन्नमाणा आघायं तु सुच्चा निसम्म, समणुन्ना जीविस्सामो एगे निक्खमंते असंभवंता विडज्झमाणा कामेहिं गिद्धा अज्झोववन्ना समोहिमाघायमजोसयंता सत्थारमेव फरुसं वयंति ॥१८५॥

छाया—एवंते शिष्या दिवा च रात्रौ चानुपूर्वेण वाचितस्तैर्महावीरैः प्रज्ञानवद्भिः तेषामन्तिके प्रज्ञानमुपलभ्य हित्वा उपशमं पारुष्यं समाददति, उषित्वा ब्रह्मचर्ये आज्ञां तां नो इति मन्यमानाः आख्यातं तु श्रुत्वा निशम्य समनोज्ञाः जीविष्यामः एके निष्क्रम्य असंभवन्तः विदह्यमानाः कामैर्गृद्धाः अध्युपपन्ना समाधिमाख्यातमजोषयन्तः शास्तारमेव परुषं वदन्ति।

पदार्थ—एवं—इस प्रकार। ते—वे। सिस्सा—शिष्य। दिया—दिन। य—और।

राओ:] रात्री मे। य—समुच्चय अर्थ मे है। अणुपुव्वेण—अनुक्रम से। तेहिं—उन। महावीरेहिं-तीर्थंकर, गणधर आदि। पन्नाणमतेहिं—प्रज्ञावानो के द्वारा। वाइया—पढाए गए हैं। तेसिमंतिए—वे शिष्य आचार्यादि के समीप। पन्नाणमुवलब्भ—विशुद्ध ज्ञान को प्राप्त करके बहुश्रुत बनकर, प्रबल मोह के उदय से पुन:। उवसमं—उपशम भाव को। हिच्चा—छोडकर। फारुसियं—कठोर भाव को। समाइयंति—ग्रहण करते हैं और। बंभचेरंसि—ब्रह्मचर्य में-सयम मे। वसित्ता—वस कर। आणं तं—भगवद् आज्ञा को। नोत्ति—नही। मन्नमाणा—मानते हुए। तु—अवधारण अर्थ में है। आघायं—कुशील के विपाक को। सुच्चा—सुनकर। निसम्म—हृदय मे विचार कर शिक्षक को कठोर वचन बोलते हैं, फिर। एगे—कई एक। समणुन्ना—लोक में प्रामाणिक होकर। जीविस्सामो—जीवन व्यतीत करेंगे, इस आशा से वे शब्द शास्त्र आदि को पढते हैं। निवखमंते—दीक्षा लेकर फिर मोह के उदय से। असमवंता—तीन गौरव के वश होकर—मोक्ष मार्ग का अनुसरण न करके। विडज्झमाणा—मान मे जलते हुए। कामेहिं—काम-भोगो मे। गिद्धा—मूर्छित—आसक्त तथा। अज्झोववन्ना—तीन गौरवो में अत्यन्तासक्त होकर। समाहिमाघायं—तीर्थंकर कथित समाधि का। अजोसयता—सेवन न कर के। सत्थारमेव—शास्ता- गुरुजनो को ही। फारुस—कठोर वचन। वयंति—बोलते हैं।

मूलार्थ—हे जम्बू! कुछ शिष्य तीर्थंकर, गणधर तथा आचार्यादि प्रज्ञावानो के द्वारा रात-दिन पढ़ाये हुए, उनके समीप श्रुतज्ञान को प्राप्त कर के भी प्रबल मोहोदय से उपशम भाव को छोड़कर कठोर भाव को ग्रहण करते है। वे सयम मे बसकर तीर्थंकर की आज्ञा को न मानते हुए तथा कुशील सेवन से उत्पन्न होने वाले कष्टों को सुनकर और हृदय में विचार कर भी कई साधु इस आशा से दीक्षा लेकर शब्द शास्त्रादि पढ़ते है कि हम लोक में प्रामाणिक जीवन व्यतीत करेंगे। मोह के प्राबल्य से वे बाल जीव तीन गौरवों के वशीभूत होकर भगवत् कथित मोक्ष मार्ग का सम्यक् प्रकार से अनुसरण न करते हुए अहकार से जलते है। वे काम-भोगो में मूर्छित, गौरवों में अत्यन्त आसक्त हुए भगवत् कथित समाधिमार्ग का अनुसरण नहीं करते हैं। यदि कभी गुरुजन उन्हें हित शिक्षा दे तो वे उनको भी कठोर वचन बोलते हैं और उनका तथा शास्त्रो का दोष निकालते है।

हिन्दी विवेचन

आगम में विनय को धर्म का मूल कहा है। निरभिमानता विनय का लक्षण हैं।

है। अभिमान और विनय का परस्पर मेल नही बैठता है। अभिमानी व्यक्ति गुरु का, आचार्य का एवं वरिष्ठ पुरुषों का आदर-सत्कार एवं विनय नहीं कर सकता है। प्रज्ञावान पुरुषों द्वारा आगम का ज्ञान प्राप्त करके भी वह ज्ञान के मद मे गुरु के उपकार को भी भूल जाता है। वह उपशम का त्याग करक कठोरता को धारण कर लेता है। उपशम का अर्थ है—विकारों को शान्त करना। यह द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। पानी में मिली हुई मिट्टी को उससे अलग करने के लिए उसमें बीजों का निर्मल चूर्ण डालते हैं या फिटकरी फेरते हैं, जिससे मिट्टी नीचे बैठ जाती है और पानी साफ हो जाता है। यह द्रव्य उपशम है। आत्मा मे उदय भाव मे आई हुई कषायों को ज्ञान के द्वारा उपशात करना भाव उपशम है। जैसे वायु के प्रबल झोंकों से शान्त पानी मे लहरें उठने लगती है, उसी तरह मोह के उदय से आत्मा में भी विषमता एवं विकारों की तरंगें उछल-कूद मचाने लगती हैं और संयम में स्थित साधु भी-तीर्थंकर, आचार्य आदि महापुरुषों की अवज्ञा करने लगता है। वह साता—सुख-शान्ति, रस एवं ऋद्धि इन तीन गौरवों के वश मे होकर किसी की भी परवाह नहीं करता है और अपने आपको सब से अधिक योग्य समझने लगता है।

वे आगमों का अध्ययन संयम मे आने वाले दोषों को दूर करके शुद्ध सयम का परिपालन करने की दृष्टि से नहीं, अपितु केवल अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने ए दूसरों पर अपना प्रभाव डालने के लिए ही करते हैं। अत. ज्यों ही उनका थोड़ा-सा अध्ययन होता है त्यों ही वे एकदम मेंडकों की तरह उछल-कूद मचाने लगते हैं। ऐसे अभिमानी एव अविनीत शिष्य अपने गुरु एवं अन्य वरिष्ठ पुरुषों की अवहेलना करने मे भी संकोच नहीं करते हैं।

वे संघ के अन्य साधुओं के साथ भी शिष्टता का व्यवहार नहीं करते हैं। उन्हें भी वे कठोर शब्द बोलते रहते हैं। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सीलमंता उवसंता संखाए रीयमाणा असीला अणुवयमाणस्स बिइया मंदस्स बालया ॥१८६॥

छाया—शीलवन्तः उपशान्ताः संख्यया रीयमाणाः अशीला अनुवदतः द्वितीया मन्दस्य बालता।

पदार्थ—सीलमंता—आचार सम्पन्न। उवसता—उपशात कषाय वाले। सखाए—ज्ञान पूर्वक। रीयमाना—संयम में संलग्न साधु को, वे बाल अज्ञानी कहते हैं, कि। असीला—

ये साधु दुराचारी हैं। अणुवयमाणस्स – वह उन्हें पार्श्वस्थ आदि भी कहता है। मंदस्स – उस मंद बुद्धि वाले साधक की यह। बिइया – दूसरी। बालया – मूर्खता है।

मूलार्थ—आचार निष्ठ, उपशांत कषाय वाले और ज्ञान पूर्वक संयम मे संलग्न साधक को दुराचारी कहना उस मन्द बुद्धि एवं बाल अज्ञानी साधक की दूसरी मूर्खता है।

हिन्दी विवेचन

जीवन का अभ्युदय ज्ञान, आचार एवं कषायों की उपशांतता पर आधारित है। ज्ञान एवं आचार संपन्न पुरुष विकारों पर विजय पा सकते हैं। वे उदय मे आई हुई कषायों को भी उपशांत कर सकते हैं। अत ऐसे साधक ही आत्म विकास कर सकते हैं। कुछ व्यक्ति साधना के पथ को स्वीकार करते हैं, परन्तु मोहोदय के कारण वे संयम से गिर जाते हैं। वे साधक अपने दोषों को न देखकर शुद्ध संयम में संलग्न साधकों की अवहेलना करते हैं। वे उन्हें दुराचारी, पाखण्डी, मायाचारी एवं कपटी आदि बताकर उनका तिरस्कार करते हैं। इस तरह वे अज्ञानी व्यक्ति संयम का त्याग करके पहली मूर्खता करते हैं और फिर महापुरुषों पर झूठा दोषारोपण करके दूसरी मूर्खता करते हैं। इस प्रकार वे पतन के महागर्त में जा पड़ते हैं।

अतः मुमुक्षु पुरुष को किसी भी संयम-निष्ठ पुरुष की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। इस संबन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—नियट्टमाणा वेगे आयारगोयरमाइक्खंति, नाणभट्ठा दंसणलूसिणो ॥१८७॥

छाया—निवर्त्तमाना (उपशान्ता) वैके आचारगोचरमाचक्षते, ज्ञान भ्रष्टाः दर्शनलूषिणः (विध्वंसिनः)।

पदार्थ – एगे – कई एक। नियट्टमाणा वा – संयम से निवृत्त होते हुए या वेश का परित्याग करते हुए। आयारगोयरं – जो आचार का परिपालन करते हैं, वे धन्य हैं। आइक्खंति-ऐसा कहते हैं, वे आचार सम्पन्न मुनियों की निन्दा नहीं करते हैं। परन्तु, जो वेश का त्याग करके या वेश को रखते हुए भी सम्यग् ज्ञान एवं दर्शन का त्याग कर देते हैं, वे। नाणब्भट्ठा – ज्ञान से भ्रष्ट होते हैं और। दंसणलूसिणो – दर्शन के नाशक होते हैं।

मूलार्थ—कुछ साधक मुनि वेश का त्याग करने पर भी आचार संपन्न

मुनियो का आदर करते है, वे सयम निष्ठ मुनियो की निन्दा नही करते। परन्तु, अज्ञानी पुरुप ज्ञान एवं दर्शन-श्रद्धा दोनो के विध्वसक होते हैं।

हिन्दी विवेचन

ज्ञान, दर्शन, चारित्र की समन्वित साधना से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत जीवन विकास के लिए रत्न-त्रय की साधना महत्व पूर्ण है। इनमे ज्ञान और दर्शन सहभावी हैं दोनों एक साथ रहते हैं। सम्यग् ज्ञान के साथ सम्यग् दर्शन एव सम्यग् दर्शन के साथ सम्यग् ज्ञान अवश्य होगा। परन्तु, ज्ञान और दर्शन के साथ चारित्र हो भी सकता है और कभी नहीं भी होता। किन्तु सम्यक् चारित्र के साथ सम्यग् ज्ञान और दर्शन अवश्य होगा। उनके अभाव मे चारित्र सम्यक् नहीं रह सकता है। सम्यग् ज्ञान के अभाव मे चारित्र-भले ही वह आगम मे प्ररूपित आचार या क्रिया काड भी क्यों न हो, मिथ्या चारित्र ही कहलाएगा।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग् ज्ञान युक्त चारित्र का ही महत्व है। अत यदि कोई व्यक्ति चारित्र मोहकर्म के उदय से सयम का त्याग भी कर देता है। परन्तु, श्रद्धा-ज्ञान एव दर्शन का त्याग नहीं करता है, तो वह संयम से गिरने पर भी मोक्ष मार्ग से सर्वथा भ्रष्ट नहीं होता है। वह अपने विकास पथ से पूर्णत नहीं गिरता है। वह व्यक्ति सयम का त्याग करने पर भी आचार एवं विचार निष्ठ मुनियों की निन्दा एव अवहेलना नहीं करता है। वह उन्हें आदर की निगाह से देखता है। उसकी विवेक दृष्टि पूरी तरह बन्द नही हुई है। परन्तु, जो अज्ञानी है अर्थात् ज्ञान एवं दर्शन का भी त्याग कर चुके है, उन पर 'इतोभ्रष्टस्ततोनष्ट' की कहावत पूर्णत लागू होती है। वे धोबी के कुत्ते की तरह न घर के रहते हैं और न घाट के। वे अपने जीवन का भी पतन करते है और चारित्र-निष्ठ पुरुषों की निन्दा करके उन्हें बदनाम करने का भी प्रयत्न करते हैं तथा अन्य लोगों के मन मे उनके प्रति रहा हुई श्रद्धा-निष्ठा को निकालकर उनको भी पतन के पथ पर लेजाने का प्रयत्न करते हैं।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— नममाणा वेगे जीवियं विप्परिणामंति पुट्ठा वेगे नियट्टन्ति जीवियस्सेव कारणा, निक्खंतपि तेसिं दुन्निक्खंतं भवइ, बालवयणिज्जा हु ते नरा, पुणो पुणो जाइं पकप्पिंति

अहे संभवंता विद्दायमाणा अहमंसीति विउक्कसे उदासीणे फरुसं वयंति, पलियं पकथे अदुवा पकथे अतहेहिं, तं वा मेहावी जाणिज्जा धम्मं ॥१८८॥

छाया—नमन्तो वैके जीवितं विपरिणामयन्ति स्पृष्ठाः वैके निवर्त्तन्ते जीवितस्यैव कारणात् निष्क्रान्तमपि तेषां दुर्निष्क्रान्तं भवति बालवचनीयाः हु ते नराः पौनः पुन्येन जातिं प्रकल्पयन्ति अधः संभवन्तो विद्वांसो मन्यमानाः अहमस्मीतिव्युत्कर्षयेत् उदासीनान् परुषं वदन्ति पलितं (अनुष्ठानं) प्रकथयेत् अथवा प्रकथयेद् अतथ्यै तद् (तंवा) मेधावी जानीयाद् धर्मम्।

पदार्थ—एगे—कई एक साधु। नममाणा—श्रुतज्ञान के लिए भावशून्य नमस्कार करते हुए। जीविय—सयम जीवन का। विप्परिणामंति—नाश करते हैं। वा—अथवा। एगे—कई एक। पुट्ठा—परीषहो के स्पर्श होने पर। नियटंति संयम या लिंग-भेष से निवृत्त हो जाते है। एव—अवधारणार्थक है। जीवियस्स—असयममय जीवन के। कारणा—कारण से—निमित से। तेसिं—उन का। निक्खतंपि—गृहस्थावास से निकलना भी। दुन्निक्खंतं—दुष्कर। भवइ—होता है। हु—जिस से। बालवयणिज्जा—बाल अर्थात् प्राकृत पुरुषो में भी निन्दनीय। ते—वे। नरा—मनुष्य। पुणोपुणो—पुनर्मुनः। जाई—चतुर्गतिरूप उत्पत्ति स्थान मे। पकप्पिति—परिभ्रमण करते हैं! कौन? अहे संभवंता—जो सुयम स्थान से निम्न स्तर पर वर्ताव करने वाले अथवा संयम मार्ग से पतित होने वाले, तथा। विद्दायमाणा-अपने आप को ही विद्वान मानने वाले हैं। अहमंसीति—मैं ही सब से अधिक विद्वान हूं, इस प्रकार। विउक्कसे—अहकार करने वाले अर्थात् आत्मश्लाघी पुरुष; अन्य। उदासीणे—मध्यस्थ व्यक्तियो को। फरुसं—कठोर वचन। वयंति—बोलते है, तथा। पलिय—पूर्व आचरित अनुष्ठान के द्वारा। पकथे—निन्दा करते हैं यथा तू वाचाल है इत्यादि। अदुवा—अथवा। अतहेहिं—असत्य वचनो से गाली प्रदान करते है और मुख विकारादि कुचेष्टाओं से। पकथे—गुरुजनों की हीलना करते हैं। मेहावी—बुद्धिमान। त-उस श्रुत और चारित्र रूप। धम्मं—धर्म अथवा वाच्य को। जाणिज्जा—भली-भांति जाने।

मूलार्थ—श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि हे जम्बू! कई एक साधक पुरुष आचार्यादि को श्रुतज्ञान के लिए भाव रहित नमस्कार करते हुए

परीषहो के स्पर्शित होने पर केवल असंयम-असयत जीवन के लिए संयममय जीवन का परित्याग कर देते है। उनका ससार से निकलना श्रेष्ठ नही कहलाता है। वे बाल अर्थात् प्राकृत जनो द्वारा भी निन्दा के पात्र बनते है और चार गति रूप ससार मे परिभ्रमण करते हैं। संयम स्थान से नीचे गिरते हुए अथवा अविद्या के वशीभूत होकर वे अपने आप को परम विद्वान् मानते हुए तथा मैं परम शास्त्रज्ञ अथवा बहुश्रुत हू, इस प्रकार आत्मश्लाघा मे प्रवृत्त हुए अभिमानो जोव, मध्यस्थ पुरुषो को भो कठोर वचन कहते हैं। उनके भूतपूर्व चरित्र को लेकर वे उन पुरुषो की निन्दा करते हैं, अश्लील वचनो तथा मुखविकारादि कुचेष्टाओ से वे गुरुजनो का भी अवहेलना करते है। अतः बुद्धिमान पुरुष, श्रुत और चारित्र रूप धर्म को या वाच्य और अवाच्य को भली-भांति जानने का प्रयत्न करे।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि ज्ञान प्राप्ति के लिए विनय की आवश्यकता है। परन्तु, उसके साथ निष्ठा—श्रद्धा का होना भी आवश्यक है। कुछ साधक ज्ञान की प्राप्ति के लिए आचार्य एवं गुरु को यथाविधि वन्दन-नमस्कार करते हैं। परन्तु, गुरु के प्रति श्रद्धा भाव नहीं रखते। अत. उनका विनय या वन्दन केवल दिखावा मात्र होता है परिणाम स्वरूप वे अपनी ज्ञान साधना में सफल नहीं होते हैं। उनके हृदय में श्रद्धा नहीं होने के कारण उनका मन साधना में नहीं लगता है। इस तरह वे संयम से गिर जाते हैं। और अपने दोषों को छुपाने के लिए महापुरुषों की निन्दा करके पाप कर्म का बन्ध करते हैं और जन्म-मरण के प्रवाह को बढ़ाते हैं।

वे अज्ञानी व्यक्ति अपने आपको सबसे श्रेष्ठ समझते हैं। वे अपने आप को सब से अधिक ज्ञानी, ईमानदार एवं चरित्रवान समझते हैं। वे आचार निष्ठ महापुरुषों की सदा आलोचना करते रहते हैं। उनके जीवन मे से दोषों का अन्वेषण करने में ही संलग्न रहते हैं। सदा गुरुजनों पर व्यंग कसते हैं तथा शारीरिक इशारों के द्वारा उनका उपहास करते हैं। इस प्रकार महापुरुषों की निन्दा करके वे संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

अत. साधक को ऐसे विचारकों का त्याग करके श्रद्धापूर्वक ज्ञान एवं क्रिया तथा आचार एवं विचार की साधना करनी चाहिए। आचार एवं विचार से संपन्न साधक

ही आत्मा का विकास कर सकता है। ज्ञान से रहित केवल आचार का पालन करने वाले तथा क्रिया-काण्ड से शून्य केवल (मात्र) ज्ञान की साधना मे संलग्न साधक यथार्थ रूप से आत्मा का विकास नहीं कर सकते हैं। ज्ञान और क्रिया की समन्वित साधना के अभाव में साधक पतन की ओर भी लुढ़क सकता है और वह भगवदाज्ञा के विपरीत चलकर संसार को भी बढ़ा सकता है।

इसी बात को दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अहम्मट्ठी तुमंसि नाम बाले आरम्भट्ठी अणुवयमाणे हण पाणे घायमाणे हणओ यावि समणुजाणमाणे, घोरे धम्मे, उदीरिए उवेहइ णं अणाणाए, एस विसन्ने वियद्दे वियाहिए, त्तिबेमि ॥१८६॥

छाया—अधर्मार्थी त्वमेव नाम बालः आरम्भार्थी अनुवदन् जहि प्राणिनः घातयन् घ्नतश्चापि समनुजानासि (समनुजानान्) घोरो धर्मः, उदीरितः उपेक्षते (णं) अनाज्ञया एषः विषण्णो वितर्दो व्याख्यातः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—संयम से पतित होते हुए साधक को गुरुदेव शिक्षा देते हैं। नाम—सम्भावना अर्थ में है। तुमंसि—हे शिष्य! तू। अहम्मट्ठी—अधर्मार्थी है। बाले—बाल-अज्ञानी है और। आरंभट्ठी—आरम्भार्थी—आरम्भ करने वाला है। अणुवयमाणे—हिंसक पुरुषों के वचनों का अनुसरण करने वाला होने से तू इस प्रकार कहता है। हणपाणे—प्राणियों का हनन करो। घायमाणे—दूसरों से हिंसा करवाता है। हणओ यावि—हिंसा करने वाले अन्य प्राणियों का। समणुजाणमाणे—अनुमोदन करता है-उन्हें भला जानता है, अतएव तू बाल है। घोरे-धम्मे—आस्रव का निरोधक होने से भगवान ने धर्म को घोर—महान्। उदीरिए—कथन किया है, तू उस धर्म की। उवेहइ—उपेक्षा करता है। णं—वाक्यालंकार में है, अणाणाए—भगवद् आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने से तू स्वेच्छाचारी बन रहा है। एस—इन पूर्वोक्त कारणों से तू बाल है, अतः। विसन्ने—काम-भोगों में आसक्त। वियद्दे—हिंसक वियाहिए—कहा गया है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—संयम से पतित होते हुए शिष्य के प्रति गुरु कहते हैं—हे शिष्य! तू अधर्मार्थी है, बाल है और आरम्भ मे प्रवृत्त हो रहा है। हिंसक पुरुषों के वचनों का अनुसरण करके तू भी कहता है कि प्राणियो का अवहनन-घात

करो और तू दूसरों से हनन करवाता है तथा हिंसा करने वालो को अच्छा भी समझता है, अतः तू बाल है। आश्रवो का निरोधक होने से ही भगवान ने धर्म को घोर—दुरनुचर कहा है। किन्तु, तू उस धर्म की उपेक्षा करता है, भगवान की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने से तू स्वेच्छाचारी बन गया है। इन पर्वोक्त कारणो से तथा काम-भोगो मे आसक्त और सयम के प्रति कूल आचरण करने के कारण तू हिंसक कहा गया है। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

जब साधक साधना पथ से एक वार फिसलने लगता है, तो वीच में उचित सहयोग न मिलने या मोहकर्म के उदय के कारण फिर वह फिसलता ही जाता है। उसका पतन यहा तक हो जाता है कि वह अन्य हिंसक प्राणियों की तरह आरम्भ-समारम्भ मे सलग्न रहने लगता है। अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए वह हिंसा, झूठ आदि दोषों का सेवन करने लगता है। वह विषय-कषाय मे आसक्त होकर धर्म से सर्वथा विमुख हो जाता है और इससे पाप कर्म का वन्ध करके संसार मे परिभ्रमण करता है।

गुरु शिष्य को जागृत करते हुए कहते हैं कि हे आर्य! तुझे सयम पथ से भ्रष्ट, अधर्मी व्यक्ति के दु खद एव अनिष्टकर परिणाम को जानकर सदा संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए। संयम पथ से भ्रष्ट व्यक्ति को अधर्मी, स्वेच्छाचारी, भगवान की आज्ञा से वाहर एव ससार मे परिभ्रमण करने वाला कहा गया है। अत: मुमुक्षु पुरुष को सदा शुद्ध संयम का परिपालन करना चाहिए।

गुरु द्वारा दी जाने वाली शिक्षा का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— किमणेण भो! जणेण करिस्सामित्ति मन्नमाणे एवं एगे वइत्ता मायरं पियरं हिच्चा नायओ य परिग्गहं वीरायमाणा समुट्ठाए अविहिंसा सुव्वया दंता पस्स दीणे उप्पइए पडिवयमाणे वसट्टा कायरा जणा लूसगा भवंति, अहमेगेसिं सिलोए पावए-भवइ, से समणो भवित्ता विब्भंते २ पासहेगे समन्नागएहिं सह असमन्नागए नममाणेहिं अनममाणे

विरएहिं अविरए दविएहिं अदविए अभिसमिच्चा पंडिए मेहावी निट्ठियट्ठे वीरे आगमेणं सया परक्कमिज्जासि त्तिबेमि ॥१६०॥

छाया—किमनेन भो ! जनेन करिष्यामीति मन्यमाना एवमेके उदित्वा मातरं पितरं हित्वा ज्ञातीन् च परिग्रहं वीरायमाणा समुत्थाय अविहिंसाः सुव्रताः दान्ताः पश्य ! दीनान् उत्पचितान् प्रतिपततः वशार्त्ता कातराः जनाः लूपकाः भवन्ति अथ एकेषां श्लोको पापको भवति स श्रमणो भूत्वा विभ्रान्तो विभ्रान्तः पश्य एके समन्वागतैः सह असमन्वागतान् नममानैः अनममानान्, विरतैरविरतान् द्रव्यैरद्रव्यानभिसमेत्य पंडितः मेधावी निष्ठितार्थी वीरः आगमेन सदा परिक्रामयेरिति ब्रवीमी।

पदार्थ—भो—आमन्त्रणार्थ में है। जणेण—माता-पिता आदि से। किमणेण—मैं क्या। करिस्सामित्ति—करूंगा, इस प्रकार। मन्नमाणे—मानता हुआ, संसार के स्वरूप को जानने वाले। एगे—कई एक। वइत्ता—यह कहकर। मायर—माता को। पियरं—पिता को। हिच्चा—छोड़कर। य—और। नायओ—ज्ञातिजनों को। परिग्गह—परिग्रह को। वीरायमाणा—आत्मा को वीर की भांति मानते हुए। समुट्ठाए—संयमानुष्ठान में सम्यक् प्रकार से सावधान होकर। अविहिंसा—दया के धारण करने वाले। सुव्वया—सुन्दर व्रतों का सेवन करने वाले। दंता—इन्द्रियों का दमन करने वाले है, हे शिष्य! इनको। पस्स—तू देख! जो कि पहले सिंह की भांति दीक्षा के लिए उद्यत होकर, फिर पतित हो जाते हैं। दीणे—उन दीनों को। उप्पइए—पतितों को। पडिवयमाणे—संयम से गिरते हुओं को वे, किस कारण से पतित हो जाते हैं? वसट्टा—वे इन्द्रियों के वशीभूत होने से आर्त हो रहे हैं। कायरा—परीषहोपसर्गादि के सहन करने में कायर। जणा—जन। लूसगा। व्रतों के विध्वंसक हो जाते हैं, अब उसका फल दिखाते हुए कहते हैं। अहमेगेसिं—उनमें से कई एक की। सिलोए—श्लाघा रूप कीर्ति। पावए भवइ—पापरूप होती हैं अर्थात् यश के स्थान में अपयश हो जाता है। से—वह। समणो—श्रमण। भवित्ता—होकर। विब्भंते—विभ्रांत होकर श्रमण भाव से गिर जाते हैं। पासह—हे शिष्य तू देख! एगे—कई एक। समन्नागएहिं—उद्यत विहारियों के। सह—साथ, वमते हुए भी। असमन्नागए—शिथिल विहारी हो जाते हैं, तथा। नममाणेहिं—संयमानुष्ठान में विनयशील साधकों के साथ रहते हुए

भी। अनममाणे—नम्रता रहित—निदनता और सावद्यानुष्ठान का सेवन करने वाले हो जाते हैं। विरएहिं—विरतों-त्यागियो के साथ रहकर भी। अविरए—अविरत हो जाते हैं। दविएहिं—मुक्ति जाने योग्य साधकों के साथ रहते हुए भी। अदविए—मुक्ति गमन के अयोग्य हो जाते हैं, इस प्रकार के शिष्यों को। अभिसमिच्चा—जानकर। पंडिए—पंडित। मेहावि—बुद्धिमान-मर्यादाशील निट्ठियट्ठे—विषय सुख से रहित। वीरे—वीर-कर्म विदारण में समर्थ। आगमेणं—आगम के द्वारा साधना पथ को जानकर। सया—सदा। परक्कमिज्जासि—सयम में पराक्रम करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि हे जम्बू! कई पुरुष प्रथम सयम मार्ग की आराधना में सम्यक् प्रकार से उद्यत होकर पीछे से किस प्रकार उसका परित्याग करके प्राणियो के विनाश मे प्रवृत्त हो जाने हैं। वह इस प्रकार कहता है कि हे लोगो! मुझे इन सवन्धि-जनों से क्या प्रयोजन है? ऐसा मानकर वह दीक्षित होता है, माता-पिता और सम्बन्धि जनो तथा अन्य प्रकार के परिग्रह को त्यागकर वीर पुरुष को भाति आचरण करते हुए सम्यक् प्रकार से संयमा-नुष्ठान में प्रवृत्त होकर अहिंसक वृत्ति से व्रतो का परिपालन करने और इन्द्रियो को दमन करने में सदा सावधान रहता है। परन्तु, पीछे से किसी पाप के उदय होने पर दीक्षा को छोडकर, सयम को त्यागकर वह दीनता को धारण कर लेता है। अपने त्यागे हुए विषय भोगो को फिर से ग्रहण करने लगता है। गुरु कहते हैं कि हे शिष्य! तू ऐसे पतित पुरुषो को देख, जो कि इन्द्रियजन्य विषय और कषायो के वश मे होकर आर्त-दुःखी बन गए है। वे परीषहो को सहन करने में कायर होने से व्रतो के विध्वसक बन रहे हैं। वे श्रमण होकर तथा विरत-त्यागी बनकर भी यश के स्थान मे अपयश को ही प्राप्त करते है। वे विनयशील साधको के साथ रहकर भी अविनयी, विरतों के सहवास मे रहकर भी अविरति, उद्यत विहारियो के साथ रहकर भी शिथिल विहारी बन जाते हैं एव मुक्ति गमन योग्य व्यक्तियो के साथ वसकर

भी वे मुक्तिगमन के योग्य नहीं रहते हैं। अत. मेधावी-विचारशील व्यक्ति इनको अच्छी तरह समझ कर वीर पुरुष की भांति विषय सुखो से सर्वथा पराङ्मुख होकर आगम के अनुरूप क्रियानुष्ठान—साधना का पालन करने मे सदा सलग्न रहे। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधना की पूर्व एवं उत्तर स्थिति का एक चित्र उपस्थित किया है। इसमें बताया गया है कि कुछ साधक त्याग-विराग पूर्वक घर का एवं विषय—भोगों का त्याग करने के लिए उद्यत होते हैं। परिजन उन्हें घर में रोकने का प्रयत्न करते है। परन्तु, वे उनके प्रलोभनों मे नहीं आते और पारिवारिक बन्धन को तोड़कर सयम स्वीकार कर लेते हैं और निष्ठापूर्वक संयम का पालन करते हैं। वे संयम में किसी प्रकार का भी दोष नहीं लगाते हैं।

परन्तु. मोह कर्म के उदय से वे विषय-भोगों में आसक्त होकर संयम का त्याग कर देते हैं। वर्षों की घोर तपश्चर्या को क्षणभर में धूल में मिला देते है। सिंह की तरह गर्जने वाले गीदड़ की तरह कायर बन जाते हैं। भोगों में अति आसक्त रहने के कारण वे जल्दी ही मर जाते हैं। उन में से कुछ जीवित भी रहते हैं, परन्तु पथ भ्रष्ट हो जाने के कारण लोगों में उनका मान-सम्मान नहीं रहता है। जहा जाते हैं वहां निन्दा एव तिरस्कार ही पाते हैं। इस तरह वे वर्तमान एवं भविष्य के या इस लोक एवं परलोक दोनों लोक के जीवन को बिगाड़ लेते हैं।

अतः उनके दुष्परिणाम को देखकर साधक को सदा विषय-वासना से दूर रहना चाहिए। ज्ञान एवं आचार की साधना में सदा संलग्न रहना चाहिए। जो साधक सदा-सर्वदा विवेक पूर्वक संयम का परिपालन करता है और आचार एवं विचार को शुद्ध रखता है, वह अपनी आत्मा का विकास करता हुआ एक दिन निष्कर्म बन जाता है।

त्तिबेमि की व्याख्या पर्ववत् समझें।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

षष्ठ अध्ययन–धुत

पञ्चम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक मे गौरव (रस, साता और ऋद्धि) के त्याग का उपदेश दिया गया है। परन्तु, इन पर विजय पाने के लिए कष्ट सहिष्णु होना आवश्यक है। परीषहों के उपस्थित होने पर भी जो समभाव पूर्वक अपने मार्ग पर बढता रहता है, वही गौरवों का त्याग कर सकता है। अत प्रस्तुत उद्देशक मे परीषहों पर विजय पाने का या शीत-उष्ण, भूख-प्यास आदि के कष्ट उपस्थित होने पर भी संयम में स्थिर रहने का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से गिहेसु वा गिहंतरेसु वा गामेसु वा गामंतरेसु वा नगरेसु वा नगरंतरेसु वा जणवयेसु वा जणवयंतरेसु वा गामनयरंतरे वा गामजणवयंतरे वा नगरजणवयंतरे वा संतेगइया जणा लूसगा भवंति अदुवा फासा फुसंति ते फासे पुट्ठे वीरो अहियासए, ओए समियदंसणे, दयं लोगस्स जाणित्ता पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं आइक्खे, विभए किट्टे वेयवी, से उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेयए संतिं विरइं उवसमं निव्वाणं सोयं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणइवत्तियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खिज्जा ॥१९१॥

छाया—सः गृहेषु वा गृहान्तरेषु वा ग्रामेषु वा ग्रामान्तरेषु वा

नगरेषु वा, नगरान्तरेषु वा, जनपदेषु वा. जनपदान्तरेषु वा, ग्रामनगरान्तरे वा, ग्रामजनपदान्तरे वा, नगरजनपदान्तरे वा, सन्ति एके जनाः लूषकाः भवन्ति अथवा स्पर्शाः स्पृशन्ति तैः (तान्) स्पर्शान् स्पृष्टो वीरोऽधिसहेत् ओजः समितदर्शन दया लोकस्य ज्ञात्वा प्राचीनं प्रतीचीनं दक्षिणामुदीचीनमाचक्षीत विभजेत् कीर्तयेद्वेदवित् सः उत्थितेषु वा, अनुत्थितेषु वा, शुश्रूषमाणेषु प्रवेदयेत् शान्ति, विरतिं, उपशम, निर्वाणं, शौचं, आर्जवं, मार्दवं, लाघवमनतिपत्य सर्वेषा प्राणिनां, सर्वेषां भूतानां. सर्वेषां सत्वाना, सर्वेषां जीवाना अनुविचिन्त्य भिक्षु धर्ममाचक्षीत।

पदार्थ—से—वह भिक्षु आहारादि के लिए। गिहेसुवा—घरों में अथवा। गिहंतरेसु वा—गृहान्तरो मे अथवा। गामेसु वा—ग्रामो मे अथवा। गामंतरेसु वा—ग्रामान्तरो में अथवा, नगरेसुवा—नगरो मे अथवा। नगरन्तरेसु वा—नगरान्तरो मे अथवा। जणवयेसु वा—जनपदो में अथवा। जणवयतरेसु वा—जनपदान्तरो में अथवा। गामनयरंतरेसु वा—ग्राम और अन्य नगरो मे अथवा। गामजणवयन्तरेसु वा—ग्रामो या जनपदो मे, अथवा। नगरजणवयतरेसु वा—नगरो या जनपदो मे। संतेगया जणा—बहुत से जन विद्यमान हैं, जो। लूसगा भवंति—हिंसक होते हैं अर्थात् उपद्रव करने वाले होते हैं। अदुवा—अथवा। फासा—तृणादि के स्पर्श से। फुसंति—स्पर्शित होते हैं। ते—उन। फासे—स्पर्शों को। पुट्ठे—स्पृष्ट होने पर वीरो—वीर पुरुष। अहियासए—सहन करे। ओए—रागादि से रहित अकेला। समियदंसणे—समितदर्शी—सम्यग् दृष्टि। दयं—दया को। जाणिता—जानकर। पाईणं—पूर्व दिशा को। पडीण—पश्चिम दिशा को। दाहिणं—दक्षिण दिशा को। उदीणं—उत्तर दिशा को, विचार कर। लोगस्स—लोक के ऊपर दया करता हुआ। आइक्खे—धर्म कथा को कहे। विभए—विभाग करे अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देखकर धर्म कथा कहे। किट्टे—और व्रतो के फल को कहे। वेयवी—आगमो का वेत्ता—जानकार। से—वह-आगमवित्। उठिएसु वा—जो धर्म श्रवण करने के लिए उद्यत हैं या संयम मे सावधान हैं उनको अथवा। अणुट्ठिएसु वा—जो श्रावकादि धर्म मे या संयम में उपस्थित नही है तथा। सुस्सूसमाणेसु—जो धर्म सुनने के इच्छुक हैं उनको। पवेयए—धर्म सुनाए, उन्हें कैसा धर्म सुनाए अब इस के सम्बन्ध में कहते हैं। संतिं—शान्ति-क्षमा। विरइ—विरति। उवसमं—उपशम-कषायो को उपशात करना। निव्वाणं—निर्वाण-निवृत्ति। सोय—शौच-निर्दोष व्रताचरण। अज्जविय—आर्जव-ऋजुता। मद्दवियं—मृदुता-मार्दव, मृदुभाव,। लाघवियं—लाघवता-लघुभाव। अइवत्तियं—आगम का अतिक्रम न करके अर्थात् आगम के अनुसार इनका कथन करे। सव्वेसिं—सर्व। पाणाणं—प्राणियो के प्रति। सव्वेसिं—सर्व। भूयाणं—भूतो के प्रति अर्थात्

भव्य प्राणियो के प्रति। सव्वेसिं सताण—सर्व सत्त्वों के प्रति । सव्वेसिं जीवाणं—सर्व जीवो के प्रति । भिक्खु—भिक्षु-साधु । अणुवीइ—विचारकर, अपने और पर—दूसरे के लिए। धम्ममाइक्खिज्जा—धर्म कथा कहे ।

मूलार्थ—वह आगम का ज्ञाता भिक्षु, गृहो मे, गृहान्तरो मे, ग्रामो मे ग्रामान्तरो में, नगरो मे, नगरान्तरो मे, देशो मे, देशान्तरो मे, ग्रामो और नगरान्तरो मे, ग्रामो और जनपदो मे, नगरो और जन पदान्तरो मे बहुत से लोग हिंसक-उपद्रव करने वाले होते है । अतः धीर पुरुष उनके द्वारा दिए गए दु ख एव कष्ट विशेष को तथा परीषहो के स्पर्श से स्पृष्ट हुए सवेदन को सहन करे और राग-द्वेष से रहित एकाकी होकर, समभाव पूर्वक केवल वीतराग भाव मे विचरण करता हुआ, प्राणी जगत पर दयाभाव लाकर, पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर आदि सब दिशाओ मे धर्म कथा कहे, धर्म का विभाग करके समझाए। आगम का ज्ञाता मुनि सबको व्रतो का फल सुनाए। जो जीव सयम मे सावधान हैं-पुरुषार्थ कर रहे हैं, उनको तथा जो सयम मे पुरुषार्थ तो नहीं कर रहे है परन्तु धर्म सुनने को इच्छा रखते है, उनको भी धर्म कथा सुनावे । आगमो मे वर्णित क्षमा, विरति, उपशम, निवृत्ति, शौच, ऋजुता, मार्दव और लघुता आदि धर्म के लक्षणो को, वह विचार पूर्वक एव स्व-पर कल्याण के लिए सर्व प्राणियो, सर्व भूतो, सर्व सत्त्वो और सर्व जीवो को सुनाए।

हिन्दी विवेचन

ससार मे विभिन्न प्रकृतियों के प्राणी हैं। क्योंकि सब प्राणियों के कर्म भिन्न है और कर्मों के अनुसार स्वभाव बनता-बिगड़ता है। कषाय के उदय भाव से जीवन मे क्रोध, लोभ आदि की भावना उद्बुद्ध होती है और क्षायिक भाव के समय क्रोध आदि की प्रवृत्ति नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि अपने कृत कर्म के अनुसार प्राणी संसार में प्रवृत्त होता है। कर्म सब प्राणियों के भिन्न है, इसलिए उनके स्वभाव एव कार्य मे भी भिन्नता दिखाई देती है।

हम देखते हैं कि कुछ मनुष्य दूसरे को परेशान करने एवं दु ख देने में आनन्द अनुभव करते हैं। यहां तक कि वे सन्त-पुरुषों को कष्ट पहुंचाने से भी नहीं चूकते हैं।

मुनियों को देखते ही उनके मन मे द्वेष की आग प्रज्वलित हो उठती है और वे उन्हें पीड़ा पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं, उपाय सोचते हैं और अनेक तरह के कष्ट देते हैं। ऐसे समय मे भी मुनि अपने स्वभाव का अर्थात् समभाव की साधना का त्याग न करे। इन कठोर स्पर्शों एवं दु:खों से घबराकर उन पर मन से भी द्वेष न करे, उन्हें कटु वचन न कहें और न उन्हें अभिशाप ही दें, प्रत्युत शान्त भाव से उन्हें सहन करते हुए सयम का पालन करे। यदि उचित समझे तो उन्हें भी धर्म का, शान्ति का उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करे।

मुनि जीवन की उदारता एव विराट्ता को बताते हुए प्रस्तुत सूत्र में यह महत्त्व पूर्ण बात कही गई है कि मुनि सब जीवों पर दया भाव रखे। वह उपकारी एवं अनुपकारी, जैन एवं अजैन, अमीर एव गरीब, धर्मनिष्ठ एवं पापी, ब्राह्मण एवं शूद्र आदि पर किसी भी प्रकार का भेद नहीं करते हुए, सब जीवों का कल्याण करने की तथा विश्वबन्धुत्व की भावना से सबको सन्मार्ग दिखाने का प्रयत्न करे। उसके इस उपदेश का क्षेत्र कोई शहर विशेष या स्थान विशेष नहीं, अपितु सूत्रकार की भाषा में पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण आदि सभी दिशाएं-विदिशाए हैं। वह किसी स्थान विशेष का आग्रह न रखते हुए, जहा भी आवश्यकता अनुभव करता है, वहीं उपदेश की धारा बहाने लगता है। उसका उपदेश व्यक्ति विशेष एव जाति विशेष के लिए नहीं, अपितु मानव मात्र के लिए होना चाहिए। वह भी किसी जाति, धर्म, पंथ एवं सम्प्रदाय विशेष का साधु नहीं, अपितु अपने हित के साथ मानव मात्र का, प्राणी जगत का हित साधने वाला साधु है*। अत. वह सब को समभावपूर्वक अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और क्षमा, शान्ति, आर्जव आदि धर्मों का उपदेश देकर प्राणी जगत को कल्याण का मार्ग बताता है, सबको जीओ और जीने दो का मन्त्र सिखा कर सुख-शान्ति से रहना एवं जीना सिखाता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त प्राण†, भूत, जीव, सत्व का अर्थ है— १० प्राण धारण करने वाले सन्नी पञ्चेन्द्रिय प्राणी, भव्य जीव—जिनमे मोक्ष जाने की योग्यता है, भूत कहलाते हैं, सयम—निष्ठ जीवन जीने वाले जीव और तिर्यञ्च, मनुष्य एवं देव सत्व कहे गए हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि साधु संसार के सभी प्राणियों की रक्षा एवं दया के लिए बिना भेद-भाव के सबको उपदेश दे।

यह प्रश्न हो सकता है कि ऐसा उपदेष्टा किसी पंथ या सम्प्रदाय पर आक्षेप

---

* स्वपर हितं साध्यतीति साधु:।

† प्राण, भूत, जीव और सत्व शब्दो के अर्थ शीलाकाचार्य कृत वृत्ति के अनुसार किए गए हैं। —आचाराङ्ग वृत्ति, पृष्ठ, २५६।

कर सकता है या नहीं ? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे नो अत्ताणं आसाइज्जा, नो परं आसाइज्जा, नो अन्नाइं पाणाइं, भूयाइं जीवाइ, सत्ताइ आसाइज्जा, से अणासायए, अणासायमाणे बज्झमाणाणं, पाणाणं, भूयाणं, जीवाणं, सत्ताणं जहा से दीवे असंदीणे एवं से भवइ सरणं महामुणी, एवं से उट्ठिए ठियप्पा अणिहे अचले चले अबहिल्लेसे परिव्वए संखाय पेसलं धम्मं दिट्ठिमं परिनिव्वुडे, तम्हा संगंति पासह गंथेहिं गढ़िया नरा विसन्ना कामक्कंता तम्हा लूहाओ नो परिवित्तसिज्जा, जस्सिमे आरम्भा सव्वओ सव्वप्पयाए सुपरिन्नाया भवंति तेसिमे लूसिणो नो परिवित्तसंति, से वंता कोहं च, माणं च मायं च, लोभं च एस तुट्टे वियाहिए त्तिबेमि ॥१६२॥

छाया—अनुविचिन्त्य भिक्षुर्धर्ममाचक्षाणः नोआत्मानमाशातयेत् नो परमाशातयेत् नोअन्यान् प्राणिनः भूतान् जीवान् सत्वानाशातयेत् सोऽनाशातकः अनाशातयन् वध्यमानानां प्राणिनां भूतानां जीवानां सत्वाना यथा स द्वीपोऽसन्दीनः एवं स भवति शरण्य महामुनिः, एव स उत्थितः स्थितात्मा, अस्निहः अचलः चलः अबहिर्लेश्यः परिव्रजेत् सख्याय पेशलं धर्म्मं दृष्टिमान् परिनिर्वृत तस्मात् संमितिपश्यन् ग्रन्थैर्ग्रथिताः नरा· विषण्णाः कामक्रान्ताः तस्माद् रूक्षात् नो परिवित्रस्येत् यस्येमे आरम्भाः सर्वतःसर्वात्मकतया सुपरिज्ञाताः भवन्ति येष्विमे लुपिणो न परिवित्रसन्ति, स वान्त्वा क्रोधञ्च, मानञ्च मायाञ्च, लोभञ्च एष (त्रोटयति) त्रुटः व्याख्यात इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—भिक्खू — वह मुनि। अणुवीइ—विचार कर। धम्ममाइक्खमाणे—धर्म कथा करते हुए। अत्ताण—आत्मा की। नो आसाइज्जा—आशातना न करे। परं— दूसरे—सुनने वाले की। नो आसाइज्जा—आशातना न करे। अन्नई—अन्य। पाणाइ—प्राणियो की। भूयाइ—भूतो की। जीवाइ—जीवो की। सत्ताइ—सत्वो की। नो—नही। आसाइज्जा—आशातना करे। से—वह भिक्षु। अणासायए—आशातना न करने वाला। अणासायमाणे—अन्य की आशातना न करता हुआ। वज्झमाणाणं—वध्यमान। पाणाण—प्राणियो को। भूयाण—भूतो को। जीवाण—जीवो को। सत्ताण—सत्वो को। से—वह। असदीणे—जिसमे पानी नहीं भरता है अर्थात् जो जलसे सुरक्षित है ऐसा विशाल। दीवे—द्वीप। जहा—जैसे होता है। एवं—इस प्रकार। से—वह। महामुणी—महामुनि। सरणं भवई—ससारी जीवो को शरण भूत होता है। एवं—इसी प्रकार से। से—वह शरण भूत मुनि। उट्ठिए—संयमानुष्ठान में उद्यत। ठियप्पा—ज्ञानादि मे स्थित। अणिहे—स्नेह से रहित। अचले—परीषहो से अचलायमान। चले—अप्रतिबन्ध होकर विचरने वाला। अबहिल्लेसे—जिस की लेश्या अध्यवसाय सयम से बाहिर नही है ऐसा मुनि। परिव्वए—सयमानुष्ठान मे चले। दिट्ठिम—सम्यग् दृष्टि। धम्म—धर्म को। संखाय— अवधारण कर के। पेसलं—मनोहर। परिनिव्वुडे—निवृत्त कषायो के क्षय या उपशम होने से शान्त हो जाता है। इति--इस हेतु से। तम्हा—इसलिये। पासह कहे शिष्यो! तुम। सगं—संग के विपाक को देखो। गंथेहिं-वाह्याभ्यन्तर परिग्रहों से। गढिया—प्रतिवध। विसन्ना-परिपूर्ण वे पुरुष। कामक्कन्ता-विषय विकारों से आक्रान्त हुए। नरा— मनुष्य। निर्वाण को प्राप्त नही कर सकते। अत- उन्हें वश करना चाहिए! तम्हा—इस लिए। लूहाओ—सयम से। नो परिवित्तसिज्जा—वे त्रास न पाए, सयम के कष्टो से भयभीत न होए? जस्सिमे—जिस मुनि के ये सग और। आरंभा—आरम्भ। सव्वओ—सर्व प्रकार से। सव्वप्पयाए—सर्वात्म रूप से। सुपरिन्नाया—ज्ञ परिज्ञा से भली प्रकार जाने गये हैं और प्रत्याख्यान से त्यागे गये है। भवति—वे ही निर्वाण को प्राप्त होते हे। तेसिमे—जो जन आरभ में आसक्त हैं। लूसिणो—हिसा करने वाले हैं। नो परिवित्तसति—पाप कर्म करते हुए त्रास नही पाते, अतः। से—वह मुनि। कोह च—कोध को और। माण च—मानको और। माय च—माया को और। लोभं च—लोभ को। वंता—छोडकर। एस—वह मोह रहित हो जाता है, तो वह। तुट्टे—भव भ्रमण से छूटा हुआ। वियाहिए—तीर्थकरो द्वारा कहा गया है। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—हे आर्य! तू विचार कर। धर्म कथा करते समय मुनि अपनी आत्मा तथा अन्य सुनने वाले श्रोताओ की आशातना—अवहेलना न करे और न प्राणी, भूत, जीव और सत्वो की ही आशातना

करे। आशातना नही करने वाला मुनि आशातना न करता हुआ, दुखो से पीडित प्राणी, भूत, जीव और सत्वो का उस विशाल द्वीप की तरह आश्रयभूत होता है, जो समुद्र मे डूबते हुए एव व्यथित प्राणियो को आश्रय देता है। इस तरह ज्ञानादि मे स्थित, स्नेह-रागभाव से रहित सयम-निष्ठ मुनि परीषहो के समय अविचलित एव अप्रतिबन्ध विहारी और सयमानुसार शुद्ध अध्यवसायो मे स्थित रहता हुआ सयम मे प्रवृत्ति करे। कषायो के क्षयोपशम से धर्म के यथार्थ रूप को जानकर ज्ञान संपन्न मुनि शान्त भाव से आत्म चिन्तन में सलग्न रहता है। हे शिष्यो! तुम यह देखो कि जो व्यक्ति सासारिक पदार्थो मे एव काम भोगो मे आसक्त है या काम-भोगों ने जिन्हे आक्रान्त बना रखा है, वह शान्ति नही पा सकता है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष, सयमानुष्ठान से भयभीत नही होते हैं। जो इन आरम्भादि से सुपरिज्ञात-सुपरिचित होते है, वे ही शान्ति को प्राप्त करते है। अतः वह भिक्षु क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग करके इस ससार सागर से पार हो सकता है। ऐसा तीर्थंकर आदि महापुरुषो ने कहा है। इस प्रकार मै कहता हू।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि उपदेश प्राणियों के हित के लिए दिया जाता है। अत उपदेष्टा को सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि परिषद् किस विचार की है, उसका स्तर कैसा है। उसके स्तर एवं योग्यता को देखकर दिया गया उपदेश हित-प्रद हो सकता है। उससे उनका जीवन बदल सकता है। परन्तु, परिषद् की विचार स्थिति को समझे बिना दिया गया उपदेश वक्ता एवं श्रोता दोनों के लिए हानिप्रद हो सकता है। यदि कोई बात श्रोताओं के मन को चुभ गई तो उनमें उतेजना फैल जाएगी और उतेजना के वंश वे वक्ता को भी भला-बुरा कह सकते है या उस पर प्रहार भी कर सकते है। इस प्रकार बिना सोचे-समझे अविवेक पूर्वक दिया गया उपदेश दोनों के लिए अहितकर हो सकता है। अत. प्रस्तुत सूत्र मे यह कहा गया है कि मुनि को व्याख्यान मे ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिससे स्व एव पर को सक्लेश पहुचे।

इस प्रकार का विवेकशील, संयमनिष्ठ मुनि प्राणी मात्र का शरण भूत हो सकता है। जैसे समुद्र में परिभ्रमित व्यक्ति के लिए द्वीप आश्रयदाता होता है, उसी तरह ज्ञान एवं आचार सम्पन्न मुनि भी प्राणीमात्र के लिए आधारभूत होता है और प्राणी जगत की रक्षा करता हुआ विचरता है। इससे स्पष्ट हो गया कि मुनि किसी भी प्राणी को क्लेश पहुचाने का कोई कार्य न करे। अपने उपदेश में किसी पर आक्षेप न करे।

दूसरी बात यह है कि संयमशील साधक ही दूसरों को सहायक हो सकता है। अतः मुमुक्षु पुरुष को संसार की परिस्थिति का परिज्ञान करके आरम्भ से निवृत्त रहना चाहिए। क्योंकि, आरम्भ-समारम्भ एवं विषय-भोगों में आसक्त व्यक्ति कभी भी शान्ति को प्राप्त नहीं करता है। वह रात-दिन अशान्ति की आग में जलता रहता है। इसलिए साधक को आरम्भ आदि से सदा दूर रहना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—कायस्स वियाघाए एस संगामसीसे वियाहिए से हु पारंगमे मुणी, अविहम्ममाणो फलगावयट्ठी कालोवणीए कंखिज्ज कालं जाव सरीरभेउ, त्तिबेमि ॥१९३॥

छाया—कायस्य व्याघातो एषः संग्रामशीर्षे व्याख्यातः स पारगामी मुनिः अविहन्यमान. फलकवत् स्थायी (फलकवदवतिष्ठते) कालोपनीतः कांक्षेत् कालं यावत् शरीरभेदः, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—कायस्स—काया का। वियाघाए—विनाश। एस—यह। संगामसीसे—संग्राम का शीर्षरूप। वियाहिए—कहा गया है। हु—अवधारणार्थ में है, जो मुनि। अविहम्ममाणे—परीषहों से पराभूत नहीं होता है। फलगावयट्ठी—शरीर पर प्रहार होने पर भी फलग की तरह स्थिर रहता है। कालोवणीए—काल-मृत्यु के निकट आने पर भी जो घबराता नही, बल्कि पादोगमन, इंगितमरण और भक्तप्रत्याख्यान अनशन के द्वारा। कालं कंखिज्जा—काल की आकांक्षा करता है। जावसरीरभेउ—जब तक शरीर से आत्मा पृथक नहीं होती है। से—वह। मुणी—मुनि। पारगमे—संसार समुद्र से पार हो जाता है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जिस प्रकार वीर योद्धा संग्राम में निर्भय होकर विजय को

करे। आशातना नही करने वाला मुनि आशातना न करता हुआ, दुखो से पीड़ित प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वो का उस विशाल द्वीप की तरह आश्रयभूत होता है, जो समुद्र मे डूबते हुए एव व्यथित प्राणियो को आश्रय देता है। इस तरह ज्ञानादि मे स्थित, स्नेह-रागभाव से रहित सयम-निष्ठ मुनि परीषहो के समय अविचिलत एव अप्रतिबन्ध विहारी और सयमानुसार शुद्ध अध्यवसायो मे स्थित रहता हुआ सयम मे प्रवृत्ति करे। कषायो के क्षयोपशम से धर्म के यथार्थ रूप को जानकर ज्ञान संपन्न मुनि शान्त भाव से आत्म चिन्तन में सलग्न रहता है। हे शिष्यो! तुम यह देखो कि जो व्यक्ति सासारिक पदार्थों मे एव काम भोगो मे आसक्त है या काम-भोगों ने जिन्हे आक्रान्त- बना रखा है, वह शान्ति नही पा सकता है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष, सयमानुष्ठान से भयभीत नही होते है। जो इन आरम्भादि से सुपरिज्ञात-सुपरिचित होते हैं, वे ही शान्ति को प्राप्त करते है। अतः वह भिक्षु क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग करके इस ससार सागर से पार हो सकता है। ऐसा तीर्थंकर आदि महापुरुषो ने कहा है। इस प्रकार मैं भी कहता हू।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि उपदेश प्राणियों के हित के लिए दिया जाता है। अत उपदेष्टा को सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि परिषद् किस विचार की है, उसका स्तर कैसा है। उसके स्तर एवं योग्यता को देखकर दिया गया उपदेश हित-प्रद हो सकता है। उससे उनका जीवन बदल सकता है। परन्तु, परिषद् की विचार स्थिति को समझे बिना दिया गया उपदेश वक्ता एवं श्रोता दोनों के लिए हानिप्रद हो सकता है। यदि कोई बात श्रोताओं के मन को चुभ गई तो उनमें उत्तेजना फैल जाएगी और उत्तेजना के वश वे वक्ता को भी भला-बुरा कह सकते हैं या उस पर प्रहार भी कर सकते है। इस प्रकार बिना सोचे-समझे अविवेक पूर्वक दिया गया उपदेश दोनों के लिए अहितकर हो सकता है। अत प्रस्तुत सूत्र में यह कहा गया है कि मुनि को व्याख्यान मे ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिससे स्व एव पर को संक्लेश पहुचे।

इस प्रकार का विवेकशील; संयमनिष्ठ मुनि प्राणी मात्र का शरण भूत हो सकता है। जैसे समुद्र में परिभ्रमित व्यक्ति के लिए द्वीप आश्रयदाता होता है, इसी तरह ज्ञान एवं आचार सम्पन्न मुनि भी प्राणीमात्र के लिए आधारभूत होता है और प्राणी जगत की रक्षा करता हुआ विचरता है। इससे स्पष्ट हो गया कि मुनि किसी भी प्राणी को क्लेश पहुचाने का कोई कार्य न करे। अपने उपदेश में किसी पर आक्षेप न करे।

दूसरी बात यह है कि संयमशील साधक ही दूसरों को सहायक हो सकता है। अतः मुमुक्षु पुरुष को संसार की परिस्थिति का परिज्ञान करके आरम्भ से निवृत्त रहना चाहिए। क्योंकि, आरम्भ-समारम्भ एवं विषय-भोगों में आसक्त व्यक्ति कभी भी शान्ति को प्राप्त नहीं करता है। वह रात-दिन अशान्ति की आग में जलता रहता है। इसलिए साधक को आरम्भ आदि से सदा दूर रहना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—कायस्स वियाघाए एस संगामसीसे वियाहिए से हु पारंगमे मुणी, अविहम्ममाणे फलगावयट्ठी कालोवणीए कंखिज्ज कालं जाव सरीरभेउ, त्तिबेमि ॥१९३॥

छाया—कायस्य व्याघातो एषः संग्रामशीर्षे व्याख्यातः स पारगामी मुनि- अविहन्यमानः फलकवत् स्थायी (फलकवदवतिष्ठते) कालोपनीतः कांक्षेत् काल यावत् शरीरभेदः, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—कायस्स—काया का। वियाघाए—विनाश। एस—यह। संगामसीसे—संग्राम का शीर्षरूप। वियाहिए—कहा गया है। हु—अवधारणार्थ में है, जो मुनि। अविहम्ममाणे—परीषहों से पराभूत नहीं होता है। फलगावयट्ठी—शरीर पर प्रहार होने पर भी फलक [illegible] तरह स्थिर रहता है। कालोवणीए—काल-मृत्यु के निकट आने पर भी जो घबराता नहीं [illegible] पादोगमन इंगितमरण और भक्तप्रत्याख्यान अनशन के द्वारा। कालं कंखिज्जा—[illegible] आकांक्षा करता है। जावसरीरभेउ—जब तक शरीर से आत्मा पृथक नहीं होती [illegible]। [illegible] मुणी—मुनि। पारगमे—संसार समुद्र से पार हो जाता है। त्तिबेमि—[illegible]

मूलार्थ—जिस प्रकार वीर योद्धा संग्राम में निर्भय [illegible]

प्राप्त करता है। उसीतरह मुनि भी मृत्यु के आने पर फलग की तरह स्थिर चित्त रहकर पादोगमन आदि अनशन (संथारा) करके-जब तक आत्मा शरीर से पृथक न हो तब तक मृत्यु की आकांक्षा करता हुआ चिन्तन मनन मे सलग्न रहे। ऐसा मुनि संसार से पार होता है। ऐसा मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

ससारी जीवन मे जन्म और मृत्यु दोनों का अनुभव होता है। यह ठीक है कि दुनिया के प्राय सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरने की कोई आकांक्षा नहीं रखता। मृत्यु का नाम सुनते ही लोग काप उठते हैं, उससे बचकर रहने का प्रयत्न करते है। फिर भी मृत्यु का आगमन होता ही है। इस तरह सामान्य मनुष्य मृत्यु की अपेक्षा जीवन को, जन्म को महत्त्व पूर्ण समझते है। परन्तु, महापुरुष एवं ज्ञानी पुरुष मृत्यु को भी महत्त्वपूर्ण समझते हैं। वे भी बचने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु मृत्यु से नहीं, जन्म से। क्योंकि जन्म कर्म जन्य है और मृत्यु कर्मक्षय का प्रतीक है। आयु कर्म का बन्ध होने पर जन्म होता है और उसका क्षय होना मृत्यु है। अतः ज्ञान-सपन्न मुनि आयु कर्म का क्षय करने का प्रयत्न तो करता है, परन्तु उसके बांधने का प्रयास नहीं करता है। वह सदा कर्म बन्ध से बचना चाहता है। क्योंकि, यदि कर्म का बन्ध नहीं होगा तो फिर पूर्व कर्म के क्षय के साथ पुनर्जन्म रुक जाएगा और जन्म के साथ फिर मृत्यु का अन्त तो स्वत ही हो जाएगा। जब कर्म ही नहीं रहेगा तो फिर उस के क्षय का तो प्रश्न ही नहीं उठेगा। इस प्रकार जन्म से बचने का अर्थ है—जन्म-मरण के प्रवाह से मुक्त होना। इसलिए मुनि मृत्यु से भय नहीं खाते। वे मृत्यु को अभिशाप नहीं अपित वरदान समझते हैं। अतः पण्डित मरण के द्वारा उसे सफल बनाने मे या यों कहिए अपने साध्य को सिद्ध करने मे सदा संलग्न रहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र मे यही बताया है कि जैसे योद्धा युद्ध क्षेत्र मे मृत्यु को सामने देखकर भी घबराते नहीं। उसी तरह कर्मों एवं मनोविकारों के साथ युद्ध करने में सलग्न साधक भी मृत्यु से भय नहीं खाता है। यदि कोई उस पर प्रहार भी करदे तब भी वह विचलित नहीं होता, घातक के प्रति मन मे भी द्वेष भाव नहीं लाता है। उस समय भी वह शान्त मन से आत्म चिन्तन मे सलग्न रहता है। इसी तरह मृत्यु के निकट आने पर भी वह घबराता नहीं और न उससे बचने का ही कोई प्रयत्न करता है। वह महान् पुरुष उसके स्वागत के लिए सलेखना आरम्भ कर देता है। वह यह

साधना १२ वर्ष पूर्व प्रारम्भ कर देता है। उत्तराध्ययन सूत्र में इसका विस्तार से उल्लेख किया गया है*।

इस प्रकार साधक संलेखना के द्वारा कर्मों की निर्जरा करता हुआ अपने आपको पंडित मरण प्राप्त करने के लिए तैयार कर लेता है और मृत्यु के समय बिना किसी घबराहट के वह पादोगमन, इंगितमरण या भक्तप्रत्याख्यान किसी भी संथारे—आमरण अनशन को स्वीकार करके आत्म-चिन्तन में सलग्न रहता है और जब तक आत्मा शरीर से पृथक् नहीं होजाती तब तक शान्त भाव से साधना में या यों कहिए कर्मों को क्षय करने मे प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार मृत्यु से परास्त नहीं होने वाला साधक मृत्यु के मूल कारण जन्म या कर्म बन्ध को समाप्त करके जन्म-मरण पर विजय पा लेता है। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि जन्म का ही दूसरा नाम मृत्यु है। जन्म के दूसरे क्षण से ही मरण आरम्भ हो जाता है। अत मृत्यु जन्म के साथ सम्बद्ध है, उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जन्म का अन्त होते ही मृत्यु का भी अन्त हो जाता है। अतः साधक मृत्यु का अन्त नहीं करता, अपितु पण्डित मरण के द्वारा जन्म का या जन्म के मूल कारण कर्म का उन्मूलन कर देता है और यही उसकी सबसे बड़ी विजय है। अतः साधक को निर्भय एवं निर्द्वन्द्व भाव से पण्डित मरण को स्वीकार करके निष्कर्म बनने का प्रयत्न करना चाहिए। पण्डित मरण को प्राप्त करके सारे कर्मों से मुक्त होना ही उसकी साधना का उद्देश्य है। अत मुमुक्षु पुरुष को मृत्यु से घबराना नहीं चाहिए।

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

॥ षष्ठ अध्ययन समाप्त ॥

* विशेष विवरण के लिए मेरे द्वारा लिखित उत्तराध्ययन सूत्र भाग ३, अध्ययन ३६ गाथा २५१-२६८ पृष्ठ १७४६-१८११ देखें।

सप्तम अध्ययन-महापरिज्ञा

षष्ठ अध्ययन में कर्मों की निर्जरा के संबन्ध में उल्लेख किया गया है। कर्मों की निर्जरा मोह एवं मोह जन्य साधनों से निवृत्त होने से होती है। अत प्रस्तुत अध्ययन में विभिन्न मोहजन्य उपसर्ग एवं परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करने की विधि बताई गई थी। मुमुक्षु पुरुष के लिए आदेश दिया गया था कि मोह जन्य स्थिति के उपस्थित होने पर या विषयेच्छा जगने पर वह किसी चमत्कार एवं यंत्र-मंत्र का प्रयोग करके मोह के प्रवाह मे न वहे, अपितु उन परीषहों पर विजय प्राप्त करे। वह समस्त चमत्कारों एव यंत्र-मंत्र से निर्लिप्त रहकर सदा आत्म-चिन्तन में संलग्न रहे।

महापरिज्ञा शब्द का भी यही अर्थ है कि महा-विशिष्ट ज्ञान के द्वारा मोह-जन्य दोषों को जानकर, प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा उनका त्याग करना। इस का स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि साधक मोह जन्य समस्त साधनों एवं आकाक्षाओं से मिलने वाले दु खद परिणामों को जानकर उनका परित्याग करके केवल कर्मों की निर्जरा करने के लिए तप, संयम, स्वाध्याय एव आत्म चिन्तन में ही व्यस्त रहे।

परन्तु, सभी साधकों का मानसिक स्तर एक जैसा दृढ़ नहीं होता है। आज ही नहीं, भगवान महावीर के समय एवं उसके पहले के साधकों की मानसिक धारा भी एक जैसी नहीं थी। सभी साधक गजसुकमाल की तरह कष्ट सहिष्णु एवं स्थूली-भद्र की तरह मोह एवं काम विजेता नहीं थे। उनमे कुछ साधक कुण्डरीक एव अरणक मुनि जैसे भी थे, जो मोह के प्रबल झोंकों से गिर भी सकते थे और योग्य निमित मिलने पर फिर से सजग भी हो जाते थे। इस से भगवान महावीर के बाद की स्थिति सहज ही समझ मे आ जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि साधु-साध्वियों के वैचारिक स्तर में तारतम्य रहता है। कुछ साधक दृढ़ मनोबल वाले होते हैं, तो कुछ साधक निर्बल चिन्तन वाले भी होते हैं।

इन सब साधकों की मानसिक स्थिति को सामने रखकर सर्व साधारण साधकों को इस अध्ययन की स्वाध्याय करने की आज्ञा नहीं दी गई थी। चूर्णिकार ने लिखा है कि बिना आज्ञा या अधिकार के महापरिज्ञा अध्ययन पढ़ा नहीं जाता था*। अधिकारी व्यक्ति अर्थात् गीतार्थ—श्रुत संपन्न मुनि ही इसका स्वाध्याय कर सकता था।

---

*महापरिण्णा पढिज्जइ असमणुण्णाया। —आचारांग चूर्णि

आचार्य शीलांक ने भी लिखा है कि महापरिज्ञा नामक सातवां अध्ययन विच्छिन्न हो गया है। उसकी निर्युक्ति भी नहीं मिलती है। जबकि निर्युक्तिकार ने प्रस्तुत अध्ययन के विषय में अध्ययन के प्रारम्भ में लिखा है— "प्रस्तुत अध्ययन में मोहकर्म के कारण होने वाले विभिन्न परीषह एवं उपसर्गों का वर्णन था*।"

इन सब विवरणों से यह ज्ञात होता है कि प्रस्तुत अध्ययन में अनेक मोह-जन्य परीषहों एवं चमत्कारों का वर्णन था। अनेक मोहजन्य दोषों का उल्लेख प्रस्तुत अध्ययन में था। अतः इससे सामान्य साधकों के जीवन मे शिथिलता आ जानेकी सभावना थी और उनके द्वारा उक्त अध्ययन मे वर्णित चमत्कारों का दुरुपयोग भी हो सकता था। इसी दृष्टि को सामने रखकर सर्व साधारण के लिए उसके पढ़ने का निषेध किया गया था। इस कारण उसका पठन-पाठन कम हो गया और बाद मे वह विलुप्त हो गया हो।

यह भी कहा जाता है कि प्रस्तुत अध्ययन में चमत्कारों का अधिक उल्लेख होने के कारण उसका दुरुपयोग न किया जाए, इस-दृष्टि से देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने प्रस्तुत अध्ययन को आचाराङ्ग से पृथक् कर दिया। कुछ भी कारण रहे हो, इतना तो स्पष्ट है कि साधना में दोष उत्पन्न करने वाले यन्त्र-मन्त्र का दुरुपयोग न हो, इसलिए उसके पठन-पाठन पर प्रतिबन्ध लगाया गया और परिणाम स्वरूप वह अध्ययन आज हमारे सामने नहीं रहा। कुछ भी हो, प्रस्तुत अध्ययन का न रहना बहुत बड़ी कमी है। इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है।

॥ सप्तम अध्ययन समाप्त ॥

* मोहसमुत्था परीसहुवसग्गा...। —आचारांग निर्युक्ति।

अष्टम अध्ययन-विमोक्ष

प्रथम उद्देशक

सप्तम अध्ययन में मोहजन्य परीषहों पर विजय पाने का उपदेश दिया गया है। क्योंकि मोहजन्य परीषहों का विजेता ही संयम का भली-भांति परिपालन कर सकता है, वह आचार को शुद्ध रख सकता है । इसलिए प्रस्तुत अध्ययन में आचार एवं त्यागनिष्ठ जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सेबेमि समणुन्नस्स वा असमणुन्नस्स वा असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुञ्छणं वा, नो पादेज्जा, नो निमंतिज्जा, नो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे, त्तिबेमि ॥१६४॥

छाया—सोऽहं ब्रवीमि समनोज्ञस्य वा, असमनोज्ञस्य वा, अशनं वा, पानं वा, खादिमं वा, स्वादिमं वा, वस्त्रं वा, पतद्ग्रहं-पात्रं वा, कम्बलं वा, पादपुञ्छनं वा, नो प्रदद्यात्, नो निमंत्रयेत्, नो कुर्यात् वैयावृत्यं परमादरियमानः इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—सेबेमि—हे आर्य ! मैं तुम्हे कहता हूँ कि । समणुन्नस्स वा—जो दृष्टि और लिंग से सुन्दर हैं, परन्तु चारित्र पालन में जो निकृष्ट है उसको, अथवा । असमणुन्नस्स—उससे भिन्न शाक्यादि को । वा—का अर्थ उतरोतर अपेक्षा है । असणं—अशन—चावल, रोटी आदि खाद्य पदार्थ । पाणं वा—द्राक्षादि का पानी । खाइमं वा—बादाम-किसमिस एव फलादि । साइमंवा—स्वादिन-लवंगादि स्वादिष्ट पदार्थ । वत्थं वा—वस्त्रादि । पडिग्गह वा—पात्रादि । कंबलं वा—कम्बलादि । पायपुञ्छणं वा—रजोहरणादि । पर आढायमाणे—अत्यधिक आदर पूर्वक । नोपादेज्जा—न देवे । नो निमतिज्जा—न निमन्त्रित-मनुहार करे । नो कुज्जावेयावडिय—न उनकी वैयावृत्य-सेवा शुश्रूषा करे । तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ— हे आर्य ! पार्श्वस्थ मुनि या शिथिलाचारी [जैन साधु के वेश मे स्थित चारित्र से हीन] साधु या जैनेतर भिक्षुओं को विशेष आदरपूर्वक अन्न, पानी, खादिम-मिष्टानादि एवं स्वादिम-लवंगादि, वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि न देवे, न निमन्त्रित करे और न उनकी वैयावृत्य ही करे। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचना

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधु को किसके साथ सम्बन्ध रखना चाहिए। सम्बन्ध हमेशा अपने समान आचार-विचार वाले व्यक्ति के साथ रखा जाता है। इसी बात को यहां समनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों मे अभिव्यक्त किया गया है। दर्शन एवं चरित्र से सपन्न साधु समनोज्ञ कहलाता है और इन से रहित अमनोज्ञ। अत. साधु को दर्शन एव चरित्र संपन्न मुनियों के साथ आहार आदि का सम्बन्ध रखना चाहिए, अन्य के साथ नहीं। इसके अतिरिक्त जो साधु दर्शन से सम्पन्न है और जैन मुनि के वेश मे है, परन्तु चारित्र सम्पन्न नहीं है—शिथिलाचारी है या केवल वेश सम्पन्न है, परन्तु दर्शन एवं चारित्र निष्ठ नही है और जो साधु दर्शन, चरित्र एव वेश से सम्पन्न नहीं है अर्थात् जैनेतर सम्प्रदाय का भिक्षु है, तो उन्हें विशेष आदर सत्कार के साथ आहार पानी, वस्त्र–पात्र आदि पदार्थ नहीं देना चाहिए और न उनकी वैयावृत्य-सेवा ही करनी चाहिए।

प्रश्न हो सकता है कि विश्व बन्धुत्व का भाव रखने वाले जैन दर्शन में इतनी संकीर्णता क्यों? इसका समाधान यह है कि साधक का जीवन रत्नत्रय की विशुद्ध आराधना करने के लिए है। अत. उसे ऐसे साधकों के साथ ही सम्बन्ध रखना चाहिए जो उसके स्तर के हैं। क्योंकि, उनके संपर्क एवं सहयोग से उसे अपनी साधना को आगे बढाने मे बल मिलेगा। परन्तु विपरीत दृष्टि रखने वाले एवं चारित्र से हीन व्यक्ति की सगत करने से उसके जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। पहले तो उसका अमूल्य समय—जो स्वाध्याय एव चिन्तन-मनन मे लगना चाहिए, वह इधर-उधर की बातों मे नष्ट होगा। उसको ज्ञान साधना मे विघ्न पड़ेगा और दूसरे बार-बार आचार एव विचार के सम्बन्ध में विभिन्न तरह की विचारधाराएं सामने आने से उसका मन लड़खडाने लगेगा और परिणाम स्वरूप उसके आचार एव विचार मे भी शिथिलता आने लगेगी। अत साधक को शिथिलाचार वाले स्वलिंगी एवं दर्शन एवं आचार से रहित अन्य लिंगी साधुओं से विशेष सम्पर्क नहीं रखना चाहिए। उन्हें आदर पूर्वक आहार आदि भी नहीं देना चाहिए।

इसमें एक दृष्टि यह भी है कि जैसे शिथिलाचारी साधु दर्शन एवं वेश से मनोज्ञ और चारित्र से अमनोज्ञ है, उसी प्रकार श्रावक एवं सम्यग् दृष्टि दर्शन से समनोज्ञ और चारित्र एवं वेश से अमनोज्ञ होते है और शाक्य, शैव आदि अन्य साधु-सन्यासी दर्शन, चारित्र एव वेश से अम नोज्ञ हैं। अत. साधु किसके साथ आहारादि का सम्बन्ध रखे और किससे न रखे, यह बड़ी कठिनता है। सम्यग् दृष्टि से लेकर शिथिलाचारी तक मनोज्ञता एवं अमनोज्ञता दोनों ही है। यदि शिथिलाचारी के साथ आहार आदि का संबन्ध रखा जा सकता है, तो दर्शन से समनोज्ञ श्रावक के साथ सबन्ध क्यों न रखा जाए? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। परन्तु, सबके साथ संबंध रखने पर वह अपनी साधना का भली-भांति परिपालन नहीं कर सकेगा। अत. उसके लिए यही उचित है कि ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र से मनोज्ञ—संपन्न साधु के साथ ही अपना सम्बन्ध रखे, अन्य के साथ नहीं।

जब उसका सम्बन्ध रत्नत्रय से सम्पन्न साधुओं के साथ ही है, तो वह प्रत्येक आवश्यक वस्तु अपने एवं अपने से सम्बद्ध साधकों के लिए ही लाएगा और देने वाला दाता भी उनके उपयोग के लिए ही देगा। अत. उसे अपने एव अपने साथियों के लिए लाए हुए आहार-पानी आदि पदार्थों को अपने से असम्बद्ध व्यक्तियों को देने का कोई अधिकार नहीं रह जाता है। प्रथम तो उसे उक्त पदार्थ अन्य असम्बद्ध साधु को देने के लिए गृहस्थ की आज्ञा न होने से चोरी लगती है, उसके तीसरे महाव्रत मे दोप लगता है और दूसरा दोष यह आएगा कि उनसे अधिक संपर्क एव परिचय होने से उसके विशुद्ध दर्शन एवं चारित्र में शिथिलता आ सकती है। इसलिए साधक को अपने से असम्बद्ध स्वलिंगी एवं परलिंगी किसी भी साधु को विशेष आदर-सत्कार पूर्वक आहार-पानी आदि नहीं देना चाहिए। यह उत्सर्ग सूत्र है, अपवाद में कभी विशेष परिस्थिति मे आहारादि दिया भी जा सकता है*। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में आहारादि देने का सर्वथा निषेध न करके आदर-सम्मान पूर्वक देने का निषेध किया गया है।

इससे स्पष्ट हो गया कि इस निषेध के पीछे कोई दुर्भावना, संकीर्णता एव तिरस्कार की भावना नहीं है। केवल संयम की सुरक्षा एव आचार शुद्धि के लिए साधक को यह आदेश दिया गया है कि वह रत्नत्रय से सम्पन्न मुनि के साथ ही आहार पानी आदि का सम्बन्ध रखे और उसकी ही सेवा-शुश्रूषा करे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

---

* इस क विशेप विवरण द्वितीय श्रुतस्कंध मे देखें।

मूलम्—धुवं चेयं जाणिज्जा असणं वा जाव पायपुञ्छणं वा लभिया, नो लभिया, भुंजिया, नो भुंजिया पंथं विउत्ता विउक्कम्म विभत्तं धम्मं जोसेमाणे, समेमाणे, चलेमाणे, पाइज्जा वा, निमंतिज्ज वा, कुज्जा वेयावडियं, परं अणाढायमाणे त्तिवेमि ॥१६५॥

छाया—ध्रुवं चैतज्जानीयात्, अशन वा यावत् पादप्रोञ्छनं वा लब्ध्वा, नो लब्ध्वा, भुक्त्वा, नो भुक्त्वा, पंथान व्यावर्त्य व्युत्क्रम्य विभक्तं धर्मं जुषन् समागच्छन् चलन (गच्छन्) प्रदद्याद्वा वा निमन्त्रयेद्वा कुर्याद् वैयावृत्यं परमनाद्रियमाणः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—बौद्धादि भिक्षु—जैन भिक्षु के प्रति, कहते हैं कि हे भिक्षु! धुवं—ध्रुव-निश्चय। च—पुनः। इय—यह। जाणिज्जा—जान। असण—अशन-अन्न अथवा। जाव—यावत्। पायपुञ्छण—पादप्रुञ्छन-रजोहरण आदि। वा—परस्पर अपेक्षार्थक है। लभिया—प्राप्त कर के। नोलभिया—प्राप्त नहीं करके। भुंजिया—भोगकर-खाकर। न भुंजिया—बिना खाए ही पंथ विउता—मार्ग का अपक्रम या। विउक्कम्म—व्युत्क्रम करके भी हमारे मठ में आजना। विभत्तंधम्म—भिन्न धर्म को। जोसेमाणे—सेवन करता हुआ। समेमाणे—उपाश्रय मे आकर कहता हो या। चलेमाणे—चलते हुए के प्रति कहता हो या। पाइज्जा—अन्न आदि देता हो। वा—अथवा। निमंतिज्जा—निमंत्रण करे। वेयावडियं कुज्जा—वैयावृत्य करे। परअणाढायमाणे—मुनि को अत्यन्त अनादरवान-अनादर युक्त होकर रहना चाहिए। यह दर्शन शुद्धि का उपाय है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—यदि किसी जैन भिक्षु को कोई बौद्धादि भिक्षु ऐसा कहे कि तुम्हे निश्चित रूप से हमारे मठ मे सब प्रकार के अन्नादि पदार्थ मिल सकते हैं। अतः हे भिक्षु! तू अन्न पानी आदि को प्राप्त करके या इन्हें बिना प्राप्त किए, उन्हे खाकर या बिना खाए ही तुम को हमारे मठ में अवश्य आना चाहिए। भले ही तुम्हे वक्रमार्ग से ही क्यो न आना पडे, आना अवश्य। यदि विभिन्न धर्म वाला साधु, उपाश्रय में आकर या मार्ग में चलते हुए को इस प्रकार कहता हो या आदरपूर्वक अन्नादि का निमन्त्रण देता हो या सम्मान पूर्वक अन्नादि पदार्थ दे। चाहता

हो और वैयवृत्य-सेवा-शुश्रूषा आदि करने की अभिलाषा रखता हो, तो ऐसी स्थिति मे संयमशील मुनि को उसके वचनों का विशेष आदर नही करना चाहिए अर्थात् उसके उक्त प्रस्ताव को किसी भी तरह स्वीकार नही करना चाहिए। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र में अपने से असंबद्ध अन्य मत के भिक्षुओं को आहार-पानी आदि देने का निषेध किया था। प्रस्तुत सूत्र मे इसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा गया है कि यदि कोई बौद्ध या अन्य किसी मत का साधु आकर कहे कि हे मुनि ! तुम हमारे विहार में चलो । वहां तुम्हें भोजन आदि की सब सुविधा मिलेगी । यदि तुम्हें हमारे यहां का भोजन नहीं करना हो तो तुम भोजन करके आ जाना। भले ही तुम भोजन करके आओ या भूखे ही आओ, जैसे तुम्हारी इच्छा हो, परन्तु हमारे यहां आना अवश्य। इस तरह के वचनों को मुनि आदर पूर्वक श्रवण न करे। इसका तात्पर्य यह है कि वे विभिन्न प्रलोभनों के द्वारा परिचय बढाकर उसे अपने मत में मिलाने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए उनके संपर्क से मुनि के आचार एवं विचार में गिरावट आ सकती है, वह साधना पथ से भ्रष्ट हो सकता है। अतः उसे उनसे घनिष्ट परिचय नहीं बढ़ाना चाहिए और न उनके संपर्क मे अधिक आना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र सामान्य रूप से है। अत एव आचार सम्पन्न विशिष्ट साधक अन्य मत के भिक्षुओं के साथ विचार-चर्चा कर सकता है। क्योंकि, उसमें अपनी साधनामे दृढ़ रहते हुए अन्य व्यक्ति को सत्य मार्ग बताने की योग्यता है। वह उन्हें भी सही मार्ग पर ला सकता है। अत विशिष्ट साधक के लिए प्रतिबन्ध नहीं है। परन्तु, सामान्य साधक में अभी इतनी योग्यता नहीं है कि वह उन्हें सही मार्ग पर ला सके। अत उनके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने से संबद्ध मुनियों के अतिरिक्त अन्य के साथ संपर्क न बढ़ावे, न उनका आदर-सन्मान करे एवं न उनके स्थान पर ही आए-जाए। वह न उनकी सेवा करे और न उनसे सेवा-शुश्रूषा करावे।

अन्य मत के विचारकों की विचारधारा कैसी है, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इहमेगेसिं आयारगोयरे नो सुनिसंते भवति ते इह आरम्भट्ठी अणुवयमाणा हण पाणे घायमाणा हणओ यावि

समणुजाणमाणा अदुवा अदिन्नमाययंति अदुवा वायाउ विउज्जंति, तंजहा अत्थि लोए, नत्थि लोए, धुवे लोए, अधुवे लोए, साइए लोए, अणाइए लोए, सपज्जवसिए लोए, अपज्जवसिए लोए, सुकडेत्ति वा, दुक्कडेत्ति वा, कल्लाणेत्ति वा, पावेत्ति वा. साहुत्ति वा, असाहुत्ति वा, सिद्धित्ति वा. असिद्धित्ति वा, निरएत्ति वा, अनिरएत्ति वा, जमिणं विप्पडिवन्ना मामगं धम्मं पन्नवेमाणा इत्थवि जाणह अकस्मात् एवं तेसि नो सुयक्खाए धम्मे, नो सुपन्नत्ते धम्मे भवइ ॥१९६॥

छाया—इहैकेषामाचारगोचरो नो निशान्तो भवति ते इह आरंभार्थिनो भवन्ति, अनुवदन्तः जहि प्राणिनः घातयन्तो घ्नतश्चापि समनुजानन्तः अथवा अदत्तमाददति (गृह्णन्ति) अथवा वाचो वियुञ्जन्ति, तद्यथा–अस्ति लोक, नास्ति लोकः, ध्रुवो लोक, अध्रुवो लोकः, सादिको लोकः, अनादिको लोकः, सपर्यवसितो लोक, अपर्यवसितो लोक, सुकृतमिति वा, दुष्कृतमिति वा कल्याणमिति वा, पापमिति वा, साधरिति वा, असाधुरिति वा, सिद्धिरिति वा, असिद्धिरिति वा, नरक इति वा, अनरक इति वा, यदिद विप्रतिपन्नाः मामकं धर्मं प्रज्ञापयन्तः अत्रापि जानीत अकस्मादेव तेषां न स्वाख्यातो धर्मो नो सुप्रज्ञापितो धर्मो भवति।

पदार्थ—इह इस मनुष्य लोक मे। एगेसिं—किसी किसी को—जिनके पूर्वकृत अशुभ कर्म उदय मे आरहे हैं। आयारगोयरे—आचार विषयक—जो मोक्ष मार्ग की साधना के विषय मे। नो सुनिसंते—भली-भान्ति से परिचित नही। भवति—होते हैं। ते–वे आचार-विचार से अपरिचित व्यक्ति। इह—इस लोक मे। आरम्भट्ठी—आरम्भ करने वाले हो जाते हैं। अणुवयमाणाः—फिर वे उन शाक्यादि अन्य मत के भिक्षुओ की तरह बोलने लग जाते हैं कि।

हणपाणे—तुम प्राणियों का अवहनन—नाश करो। घायमाणा—वे अन्य व्यक्तियों से घात कराते हुए। हणओ यावि—और हनन करने वाले प्राणियों का। समणुजाणमाणा—अनुमोदन समर्थन करते हैं। अदुवा—अथवा। अदिन्नमाययन्ति—वे अदत्तादान ग्रहण करते हैं, इस प्रकार पहले तीसरे महाव्रत के सबध मे कहकर अब सूत्रकार दूसरे व्रत के विषय मे भी कुछ बातें कहते हैं। अदुवा—अथवा। वायाउ विउज्जति—वे विविध प्रकार के वचन बोलते हैं। तजहा—जैसे कि। अत्थि लोए—एक कहता है कि लोक है,तो दूसरा कहता है कि। नत्थि लोए—लोक नही है, एक कहता हैं कि। धुवेलोए—लोक ध्रुव है, तो दूसरा कहता है कि। अधुवे लोए—लोक अध्रुव है। साइए लोए—एक कहता है कि लोक सादि है, तो दूसरा कहता कि। अणाइए लोए—लोक अनादि है, एक कहता है कि। सपज्जवसिए लोए—लोक सपर्यवसित अर्थात् सान्त है, तो दूसरा कहता है कि। अपज्जवसिए लोए—लोक अनन्त है। सुकडेति वा—एक कहता है कि इसने दीक्षा ले कर अच्छा किया, तो दूसरा कहता है कि। दुक्कडेति वा—इसने बुरा कार्य किया अर्थात् इसने जो दीक्षा ग्रहण की है यह बुरा कार्य है। कल्लाणेत्ति वा—एक कहता है कि यह कल्याणकारी काम है,तो दूसरा कहता है कि। पावेत्ति वा—यह दीक्षा लेना पाप कार्य है। साहुत्ति वा—एक कहता है यह साधु है, तो दूसरा कहता है कि। असाहुत्ति वा—यह असाधु है। सिद्धित्ति वा—एक कहता है सिद्धि है,तो दूसरा कहता है कि। असिद्धिति वा—सिद्धी नही है, एक कहता है कि यह। निरएत्ति वा—नरक है, तो दूसरा कहता है कि यह। अनिरएत्ति वा—नरक नही है। इस प्रकार अन्य मत वाले भिक्षु विभिन्न विचार प्रकट करते हुए अपने २ आग्रह में फसे हुए हैं, अब सूत्रकार यह बताते हैं कि। जमिण—जो यह। विप्पडिवन्ना—नाना प्रकार के आग्रहो से युक्त। मामग धम्म—स्वकीय-अपने २ धर्म का। पन्नवेमाणा—प्ररूपण करते हुए और स्वधर्म से ही मोक्ष मानते हुए अन्य भव्य जीवो को मिथ्यामार्ग मे आरूढ करने का यत्न करते हैं, अत: सूत्रकार कहते हैं कि हे शिष्यो! जाणह—तुम इसे जानो। इत्थवि—यहा पर भी लोकादि विषयक। अकस्मात्—विनाहेतु के एकान्त पक्ष का ग्रहण करने से। एवं—इस प्रकार। तेसिं—उन वादियों का कथन। नो सुयक्खाए धम्मे—युक्ति सगत धर्म नही है और। नो सुपन्नत्ते धम्मे—यह धर्म भली भाति प्रतिपादन किया हुआ भी नही। भवइ—है।

मूलार्थ—इस संसार मे कुछ व्यक्तियो को आचार विषयक सम्यग् बोध नही होता। अत: कुछ अज्ञात भिक्षु इस लोक मे आरम्भार्थ प्रवृत्त हो जाते हैं। वे अन्य धर्मावलम्बियो के कथनानुसार स्वय भी जीवो के वध की आज्ञा देते हैं, दूसरो से वध करवाते है और वध करने वालों का अनुमोदन भी करते हैं। वे अदत्तादान का ग्रहण करते है और अनेक

तरह के विरुद्ध वचनों के द्वारा एकात पक्ष की स्थापना करते है। जैसे कि कुछ व्यक्ति कहते हैं कि लोक है, तो कुछ कहते है कि लोक नही है। कोई कहता है कि यह लोक ध्रुव-शाश्वत है, तो कोई कहता है कि यह लोक अध्रुव-अशाश्वत है। कोई कहता है कि लोक सादि है, तो कोई कहता है कि लोक अनादि है। कोई कहता है कि लोक सान्त है, तो कोई कहता है कि लोक अनन्त है। कोई कहता है कि इसने दोक्षा ली यह अच्छा काम किया, तो कोई कहता है कि इसने यह अच्छा नही किया है। कोई कहता है, धर्म कल्याण रूप है तो कोई कहता है कि यह पाप रूप है। कोई कहता है कि यह साधु है, तो कोई कहता है कि यह असाधु है। कोई कहता है कि सिद्धि है, तो कोई कहता है कि सिद्धि का अस्तित्व ही नही है। कोई कहता है कि नरक है, तो कोई कहता है नरक का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार ये विभिन्न विचारक एकान्ततः अपने २ मत की स्थापना करते हैं। ये अन्य धर्मावलम्बो विविध प्रकार के विरुद्ध वचनो से धर्म को प्ररूपणा करते हैं। अतः भगवान कहते है कि हे शिष्यो! इन विभिन्न धर्मावलम्बियो के द्वारा कथित धर्म का स्वरूप अहेतुक होने से प्रामाणिक नही है और उनमें एकांत पक्ष का अवलम्बन होने से वह यथार्थ भी नही है। अतः तुम्हे यह समझना चाहिए कि वह आदरणीय भी नही है।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र मे अपने से असम्बद्ध अन्य मत के भिक्षुओं के साथ परिचय बढ़ाने का जो निषेध किया है, उसका कारण यह है कि वे धर्म से परिचित नहीं हैं। उनका आचार-विचार साधुत्व के योग्य नहीं है। वे हिंसा, झूठ, चोरी आदि दोषों से मुक्त नहीं हुए हैं। वे स्वयं हिंसा आदि दोषों का सेवन करते हैं, अन्य व्यक्तियों से दोषों का सेवन करवाते हैं और दोषों का सेवन करने वाले व्यक्तियों का समर्थन भी करते हैं। इसी तरह वे भोजनादि स्वयं बना लेते हैं या अपने लिए बनवा लेते हैं। इसी प्रकार वे अग्नि, पानी आदि का आरम्भ-समारम्भ भी करते-करवाते हैं। वे किसी भी

ध्रुव है, लोक अध्रुव, है, लोक सादि है, लोक अनादि है, लोक सपर्यवसित—सान्त है, लोक अपर्यवसित—अनन्त है, सुकृत है, दुष्कृत है कल्याण है, पाप है, पुण्य है, साधु है, असाधु है, सिद्धि है, असिद्धि है, नरक है, नरक नहीं है, इन बातों को स्पष्टतया नहीं जानते हैं। कोई इनमे से किसी एक का प्रतिपादन करता है, तो दूसरा उसका निषेध करके अन्य का समर्थन करता है। जैसे वेदान्त दर्शन लोक को एकान्त ध्रुव मानता है, तो बौद्ध दर्शन इसे एकान्त अध्रुव† मानता है। इसी प्रकार अन्य दार्शनिक भी किसी एक तत्त्व का प्रतिपादन करके दूसरे का निषेध करते हैं। क्योंकि, उन्हें वस्तु के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होने से उनके विचारो मे स्पष्टता एवं एकरूपता नज़र नहीं आती है। जैसे वेदों मे विराट् पुरुष द्वारा सृष्टि का उत्पन्न होना माना है। मनुस्मृति आदि मे लिखा है कि सृष्टि का निर्माण अण्डे से हुआ है। पुराणों मे विष्णु की नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ और उससे सृष्टि का सृजन हुआ ऐसा उल्लेख किया गया है। स्वामी दयानन्द जी की कल्पना इससे भिन्न एवं विचित्र है। वे माता-पिता के संयोग के विना ही अनेक युवक स्त्री पुरुषों का उत्पन्न होना मानते है। ईसाई और यवन विचारकों की सृष्टि के सम्बन्ध मे इनसे भी भिन्न कल्पना है। गॉड (ईश्वर) या खुदा ने कहा कि सृष्टि उत्पन्न हो जाए और एकदम सारा संसार जीवों से भर गया। इस प्रकार अन्य तत्त्वों के विषय मे भी सबकी भिन्न २ कल्पना है। इसलिए कोई विचारक एक निश्चय पर नहीं पहुंच सकता है। उसके मन मे भ्रान्ति हो जाती है। इसलिए आगम में कहा गया है कि अपने से असम्बद्ध विचारकों के साथ परिचय नहीं रखना चाहिए। क्योंकि, इससे श्रद्धा निष्ठा मे गिरावट आने की सम्भावना है।

उपरोक्त तत्त्वों के सम्बन्ध मे जैनों का चिन्तन स्पष्ट है। संसार के समस्त पदार्थ अनेक धर्म वाले हैं, अतः उनका एकान्त रूप से एक ही स्वरूप नहीं होता है। जैसे लोक नित्य भी है और अनित्य भी है, सादि भी है और अनादि भी है। वह सान्त भी है और अनन्त भी है। भगवती सूत्र मे बताया गया है कि लोक चार प्रकार का है— द्रव्य लोक, क्षेत्र लोक, काल लोक और भाव लोक। द्रव्य और क्षेत्र से लोक नित्य है। क्योंकि, द्रव्य का कभी नाश नहीं होता है और क्षेत्र से भी वह

---

†'अध्रुव,' चल., तथाहि.. भूगोल केषाञ्चिन्मतेन नित्य चलन्नेवास्ते, आदित्यस्तु व्यवस्थित एव।—आचाराङ्ग टीका, पृष्ठ, २५६।

टीका के इस पाठ से यह परिज्ञात होता है कि आजकल के वैज्ञानिको की तरह पहले भी इस तरह के लोग थे, जो यह मानते थे कि भूमि चलती है और सूर्य नहीं चलता है—स्थिर है।

सदा १४ राजू परिमाण का रहता है। काल एवं भाव की अपेक्षा से वह अनित्य है। क्योंकि भूतकाल में लोक का जो स्वरूप था, वह वर्तमान में नहीं रहा और जो वर्तमान में है वह भविष्य में नहीं रहेगा, उसकी पर्यायों में प्रतिसमय परिवर्तन होता रहता है। इसी तरह भाव की अपेक्षा से भी उसमें सदा एकरूपता नहीं रहती है। कभी वर्णादि गुण हीन हो जाते हैं, तो कभी अधिक हो जाते हैं। अतः द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा लोक नित्य भी है और काल एवं भाव की दृष्टि से अनित्य भी है। इसी प्रकार सादि-अनादि, सान्त-अनन्त आदि प्रश्नों का समाधान भी स्याद्वाद की भाषा में दिया गया है। उसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं रहता है, क्योंकि उसमें एकान्तता नहीं है। उसमें किसी एक पक्ष का समर्थन एवं दूसरे का सर्वथा विरोध नहीं मिलता है। उसमें प्रत्येक पदार्थ को समझने की एक अपेक्षा, एक दृष्टि रहती है। वैज्ञानिकों ने भी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए सापेक्षवाद को स्वीकार किया है। आगमिक भाषा में इसे स्याद्वाद, अनेकान्तवाद या विभज्यवाद कहा है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि एकान्तवाद पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने में समर्थ नहीं है। अतः मुनि को एकान्तवादियों से संपर्क नहीं रखना चाहिए। उन्हें यथार्थ धर्म में श्रद्धा-निष्ठा रखनी चाहिए।

कौन-सा धर्म यथार्थ है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से जहेयं भगवया पवेइयं आसुपन्नेण जाणया पासया अदुवा गुत्ती वओगोयरस्स त्तिबेमि। सव्वत्थ संमयं पावं, तमेव उवाइक्कम्म एस महं-विवेगे वियाहिए. गामे वा अदुवा रण्णे. नेव गामे, नेव रण्णे धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण मइमया. जामा तिन्नी उदाहिया जेसु इमे आयरिया संबुज्झमाणा समुट्ठिया, जे णिव्वुया पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया ॥१९७॥

छाया—तद्यथा इदं भगवता प्रवेदितमाशुप्रज्ञेन जानता-पश्यता अथवा गुप्तिर्वाग्गोचरस्येति ब्रवीमि, सर्वत्र सम्मतं पापं, तदेवापातिक्रम्य,

एषः मम विवेको व्याख्यातः ग्रामे वा, अथवा अरण्ये वा, नैवग्रामे, नैवाऽरण्ये धर्ममाजानीत प्रवेदित माहनेन मतिमता यामास्त्रयः उदाहृताः येषु इमे आर्याः संबुध्यमानाः समुत्थिताः ये निवृताः पापेषु कर्मसु अनिदानास्ते व्याख्याताः ।

पदार्थ—से—वह । जहेय—जैसे इस स्याद्वाद—अनेकान्तवाद रूप वस्तु का यथार्थ वर्णन करने वाले सिद्धान्त का । भगवया—भगवान महावीर ने । पवेइयं—प्रतिपादन किया है, वे प्रतिपादक कैसे हैं ? आसुपन्नेण—आशुप्रज्ञा वाले हैं । जाणया—ज्ञानोपयोग से युक्त हैं । पासया—दर्शनोपयोग से सपन्न हैं, अत एकान्तवादियो का धर्म स्वाख्यात नही है । अदुवा—अथवा । वओगोयरस्स—वाणी के विषय को । गुत्ती—गुप्त करना-बोलते समय भाषा समिति का विचार रखना अर्थात् वाद-विवाद के समय वचन गुप्ति को पूर्ण व्यवस्थित रखना चाहिये, उस महापुरुष ने इस प्रकार का उपदेश दिया है । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हू । सव्वत्थ—यह सिद्धान्त सर्वत्र । समय—सम्मत है । पावं—अतः मैंने पाप का एवं । तमेव उवाइक्कम्म—उस पाप कर्म का परित्याग कर दिया है । मह—मेरा । एस—यह । विवेगे—विवेक । गामे वा—ग्रामों मे । अदुवा—अथवा । रण्णे—जगल मे, सर्वत्र । वियाहिए—कहा गया है । नेव गामे—और न ग्रामो में धर्म है । नेव रण्णे—न जगल मे है, किन्तु वह तो विवेक में है । पवेइय— भगवान ने ऐसा प्रतिपादन किया है, अत । धम्ममायाणह—तुम धर्म को जानो, जो । मइमया—मतिवान । माहणेण—भगवान ने । तिन्नि—तीन । जामा— याम—व्रत विशेष । उदाहिया—कहे हैं । जेसु इमे—इन यामो में । आयरिया—जो आर्य मनुष्य । संबुज्झमाणा—बोध को प्राप्त होकर । समुट्ठिया—साधना के लिए उद्यत हुए हैं । जे—जो । णिव्वुया—क्रोधादि को दूर करके शान्त हो गए हैं । पावेंहि कम्मेंहि—पाप कर्म करने मे जो । अणियाणा—निदान से रहित हैं अर्थात् पापकर्म में जिनकी इच्छा एवं रुचि नही है । ते—वे । वियाहिया—मुमुक्षु—मोक्ष मार्ग के योग्य, कहे गए हैं ।

मूलार्थ—जैसा कि यह स्याद्वाद रूप सिद्धांत सर्वदर्शी भगवान ने प्रतिपादन किया है, एकान्तवादियो का वैसा सिद्धान्त नहीं है । क्योकि भगवान भाषा समिति युक्त है अथवा भगवान ने वाणी के विषय में गुप्ति और भाषा समिति के उपयोग का उपदेश दिया है । तात्पर्य यह है कि वाद-विवाद के समय वचन गुप्ति का पूरा ध्यान रखना चाहिए। तर्क-वितर्क एव वादियो के प्रवाद को छोड़कर यह कहना उचित एव श्रेष्ठ है कि पाप कर्म का त्याग करना ही सर्ववादि सम्मत सिद्धान्त

है। अतः मैंने उस पापकर्म का त्याग कर दिया है। चाहे मैं ग्राम में रहूं या जंगल मे रहूं, परन्तु पाप कर्म नही करना यह मेरा विवेक है। वस्तुतः धर्म न ग्राम में है और न जंगल में है, वह तो विवेक में है। अत तुम परम मेधावी सर्वज्ञ कथित धर्म को जानो। भगवान ने तीन याम का वर्णन किया है। जिनमे ये आर्य लोग सम्बोध को प्राप्त होते हुए धर्म कार्य मे उद्यत हो रहे है और वे कषायों का परित्याग करके शान्त होते है। मुमुक्षु पुरुष पापकर्मो मे निदान से रहित होते है, अतः वे ही मोक्ष मार्ग के योग्य कहे गये हैं।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि स्याद्वाद की भाषा मे संशय को पनपने का अवकाश ही नहीं मिलता है। अतः स्याद्वाद की भाषा मे व्यक्त किया गया सिद्धान्त ही सत्य है। यह सिद्धान्त राग—द्वेष विजेता सर्वज्ञ पुरुषों द्वारा प्ररूपित है। इस-लिए इसमे परस्पर विरोधि बाते नहीं मिलती है और यह समस्त प्राणियों के लिए हितकर भी है। वीतराग भगवान के वचनों में यह विशेषता है कि वे वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करते हैं, परन्तु किसी भी व्यक्ति का तिरस्कर नहीं करते। उनके उपासक मुनि भी वाद-विवाद के समय असत्य तर्कों का खण्डन कर के सत्य सिद्धांत को बताते हैं, परन्तु यदि कहीं वाद-विवाद मे संघर्ष की सम्भावना हो या वितण्डावाद उत्पन्न होता हो तो वे उसमे भाग नहीं लेते। वे स्पष्ट कह देते हैं कि यदि तुम्हारे मन मे पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को समझने की जिज्ञासा हो तो-शान्ति से तर्क-वितर्क के द्वारा हम चर्चा कर सकते हैं और तुम्हारे संशय का निरा-करण कर सकते हैं। परन्तु, हम इस वितण्डावाद में भाग नहीं लेगे। क्योंकि, हम सावद्य प्रवृत्ति का त्याग कर चुके हैं और इसमें सावद्य प्रवृत्ति होती है। इसलिए हम इस चर्चा से दूर ही रहेंगे।

कुछ लोग कहते हैं कि हम जंगलों मे रहते हैं, कन्द—मूल खाते हैं, इसलिए हम धर्म-निष्ठ हैं। इस विषय मे सूत्रकार कहते हैं कि धर्म ग्राम या जंगल में नहीं है और न वह कन्द-मूल खाने में ही है। धर्म विवेक मे है, जीवाजीव आदि पदार्थों का यथार्थ बोध करके शुद्ध आचार का पालन करने में है, प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की रक्षा करने में है।

भगवान ने त्रियाम धर्म का उपदेश दिया है। स्थानाङ्ग सूत्र के तीसरे स्थान में

कहा है—प्रथम, मध्यम और अन्तिम तीन याम—जीवन की तीन अवस्थाएं हैं*। इन तीनों यामों मे जीव सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट धर्म को पा सकता है, श्रद्धानिष्ठ वन सकता है, त्याग, व्रत एव प्रव्रज्या—दीक्षा को स्वीकार कर सकता है। आगम में दीक्षा के लिए जघन्य ८ वर्ष की आयु वताई है अर्थात् ८ वर्ष की आयु मे मनुष्य संयम-साधना के योग्य वन जाता है। इसी दृष्टि को सामने रखकर कहा गया है कि भगवान ने त्रियाम धर्म का उपदेश दिया है। भगवान का उपदेश किसी भी देश-काल विशेष से आवद्ध नहीं है, वह तो पाप से निवृत्त होने मे है। वैदिक परम्परा मे सन्यास के लिए अन्तिम अवस्था निश्चित की गई है और अरण्यवासी सन्यासी होता है। परन्तु, भगवान ने त्याग भावना को किसी काल—अवस्था या देश से वाध कर नहीं रखा। क्योंकि, मन मे त्याग की जो उदात्त भावना आज उद्‌बुद्ध हुई है, वह अन्तिम अवस्था मे रहेगी या नहीं? यदि त्याग की भावना वनी भी रही तव भी क्या पता तव तक जीवन रहेगा या वीच में ही मानव आगे के लिए चल पड़ेगा। अत भगवान महावीर ने कहा है कि जव मन में त्याग की भावना जगे, उसी समय उसे साकार रूप दे दो। काल का कोई विश्वास नहीं है कि वह मनुष्य को कव आ कर दवोच ले, अत शुभ कार्य मे समय मात्र भी प्रमाद मत करो†। किसी भी काल एव देश की प्रतीक्षा मत करो। जिस देश और जिस काल— भले ही वाल्यकाल हो, यौवनकाल हो या वृद्ध काल हो, में स्थित हो उसी काल मे त्याग के पथ पर वढ़ चलो। वस्तुत, धर्म सभी काल में साधा जा सकता है। धर्म के लिए काल आवश्यक नहीं है, आवश्यक है पाप से, हिंसा आदि दोषों से, विषय-कषाय से निवृत्त होना। अत जिस समय मनुष्य पाप कार्य से निवृत्त होता है, तव से ही वह धर्म की साधना कर सकता है।

इसके अतिरिक्त आचार्य शीलांक ने याम शब्द का व्रत अर्थ किया है और प्राणातिपात, मृषावाद एवं परिग्रह के त्याग को तीन याम कहा है और ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र को भी तीन याम वताया है। त्रियाम का तीन व्रत के रूप में उल्लेख अपेक्षा विशेष से किया गया है। भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर के शासन मे पाच याम—व्रत और शेष २२ तीर्थंकरों के शासन में चार याम—व्रत का उल्लेख

---

* चूर्णिकार ने भी याम शब्द का अवस्था अर्थ किया है और ८ से ३० वर्ष की आयु को प्रथम याम, ३० से ६० वर्ष की आयु को मध्यम याम और उसके वाद की आयु को अन्तिम याम वताया है।

† समयं गोयम! मा पमायए। —उत्तराध्ययन, १०।

मिलता है। इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है, क्योंकि, ये सब वर्णन अपेक्षा विशेष से किए गए हैं। तीन याम मे अस्तेय और ब्रह्मचर्य को छोड़ दिया है। मृषावाद और स्तेय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो व्यक्ति झूठ बोलता है, वह किसी अंश में चोरी भी करता है और जो चोरी करता है, वह झूठ भी बोलता है। इस तरह मृषावाद एवं स्तेय दोनों को एक मे ही स्वीकार कर लिया गया है। इसी तरह परिग्रह का अर्थ तृष्णा, लालसा एवं पदार्थों की भोगेच्छा है और तृष्णा, आकांक्षा एवं भोगेच्छा का ही दूसरा नाम अब्रह्मचर्य है। अत अब्रह्मचर्य का परिग्रह मे समावेश कर लिया गया है। इससे व्रतों की संख्या तीन रह गई। चार व्रतों में ब्रह्मचर्य का अपरिग्रह मे समावेश किया गया है और पांच व्रतों में सबको अलग अलग खोलकर रख दिया है, जिससे कि साधारण व्यक्ति भी सरलता से समझ सके। इस तरह त्रियाम, चतुर्याम और पंचयाम मे केवल संख्या का भेद है सिद्धांत का नहीं। क्योंकि, सर्वज्ञ पुरुषो के सिद्धान्त मे परस्पर विरोध नहीं होता है।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र मे त्रियाम* धर्म का उपदेश दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि व्यक्ति किसी भी समय मे धर्म के स्वरूप को समझकर अपनी आत्मा का विकास कर सकता है। जागने वाले के लिए जीवन का प्रत्येक समय महत्त्वपूर्ण है। जब जागे तब ही सवेरा— चाहे बाल्य काल हो या प्रौढ़काल उस के लिए जीवन विकास का महत्त्वपूर्ण प्रभात है। मुमुक्षु पुरुष को पापकर्म से सर्वथा निवृत्त होकर प्रति समय संयम मे संलग्न रहना चाहिए।

इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सव्वावंती च णं पाडियक्कं जीवेहिं कम्मसमारंभे णं तं परिन्नाय मेहावी

---

* वैदिक ग्रन्थो मे भी 'याम' शब्द का उल्लेख मिलता है। वेदो मे 'याम' शब्द गति, प्रगति, मार्ग एवं रथ आदि के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। मनुस्मृति एवं महाभारत आदि मे 'याम' शब्द का प्रयोग रात्रि और दिन के चतुर्थ भाग (¼) के अर्थ मे मिलता है। गति का सम्बन्ध काल से होने के कारण 'याम' काल वाची भी मान लिया गया है। कालवाची 'याम' शब्द 'य' धातु से बना है और व्रत वाची 'याम' शब्द 'यम्' धातु से।

त्रिपिटक मे भी तीन यामो का उल्लेख मिलता है और स्थानांग सूत्र की तरह उसके प्रथम आदि तीन भाग किए हैं। पञ्चयाम का तो नहीं, परन्तु चातुर्याम का वर्णन त्रिपिटकों मे भी मिलता है और उसे निर्ग्रंथों का धर्म बताया गया है।

नेव सयं एएहिं काएहिं दंडं समारंभिज्जा, नेवन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभाविज्जा, नेवन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभंतेऽवि समणुजाणेज्जा जेवऽन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभंति तेसिंपि वयं लज्जामो तं परिन्नाय मेहावी तं वा दंडं अन्नं वा नो दंडभी दंडं समारंभिज्जासि त्तिबेमि ॥१६८॥

छाया—ऊर्ध्वमधस्तिर्यग् दिक्षु सर्वतः सर्वाः (या काश्चन दिश णं) प्रत्येक जीवेषु कर्म समारम्भः (ण) तं परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं (आत्मना) एतेषु कायेषु दण्डसमारभेत्, नैवान्येन एतेषु कायेषु दंडं समारम्भयेत्, नैवान्यान् एतेषु कायेषु दंडं समारभमाणानपि समनुजानीयात् ये चान्ये एतेषु कायेषु दंडं समारम्भन्ते तैरपि वयं लज्जामः तं परिज्ञाय मेधावी तं वा दंडं अन्यद् वा नो दण्डभी दंडं समारभेथाः इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—उड्ढं—ऊंची । अह—नीची । तिरियं—तिरछी । दिसासु—दिशाओं में । सव्वओ—सर्व प्रकार से । सव्वावंति—सब । च—च शब्द से विदिशाओं में । णं—वाक्यालंकार अर्थ में है । पाडियक्कं—प्रत्येक । जीवेहिं—जीवों मे । कम्मसमारंभे—कर्म समारम्भ—उपमर्दन रूप क्रिया का आरम्भ । णं—प्राग्वत् । तं—उस समारम्भ को । परिन्नाय—जानकर-ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर । मेहावी—बुद्धिमान । नेवसयं—न स्वात्मा से । एएहिं काएहिं—इन कायो पृथ्वी आदि कायो मे । दंडसमारभिज्जा—उपमर्दन रूप दंड का समारम्भ करे । नेवन्ने—न अन्य व्यक्तियो से । एएहिं काएहिं । इन पृथ्वी आदि कायो मे । दंड समारंभिज्जासि—उपमर्दन रूप दंड का समारम्भ करावे । नेवन्ने—न अन्य व्यक्तियो को । एएहिं काएहिं-इन पृथ्वी आदि कायो में । दंडं समारंतेऽवि—उपमर्दन रूप दण्ड का समारम्भ करने वालो के कार्य को । समणुजाणेज्जा—अच्छा समझे, और । जेवऽन्ने—जो अन्य । एएहिं काएहिं—इन पृथ्वी आदि कायो मे । दंड समारभंति—उपमर्दन रूप का दंड का समारम्भ करते हैं । तेसिंपि—उनके इस जघन्य कार्य से भी । वयं लज्जामो—हम लज्जित होते हैं ।

न—उन जीवों में। मेहावी—बुद्धिमान । परिन्नाय—ज्ञान से जानकर । तं वा दंड—उस दंड को। अन्नं वा—मृषावाद आदि दंड को। दंडभी—उपमर्दन रूप दंड से डरने वाला भिक्षु। दंड—दंड का। नो समारंभिज्जासि समारम्भ न करे और न करावे । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं तथा विदिशाओं मे रहने वाले जीवो मे उपमर्दन रूप दंड समारम्भ को ज्ञान से जानकर मर्यादा शील भिक्षु स्वयं दंड का समारम्भ न करे और न अन्य व्यक्ति से दंड समारम्भ करावे तथा दंड समारम्भ करने वालो का अनुमोदन भी न करे। वह ऐसा माने कि जो लोग इन पृथ्वी आदि कायो मे दण्ड समारंभ करते हैं, उनके कार्य से हम लज्जित होते है। अतः हिंसा अथवा मृषावाद आदि दंड से डरने वाला बुद्धिमान पुरुष हिंसा के स्वरूप को जानकर दण्ड का समारम्भ न करे।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र मे हम देख चुके हैं कि धर्म देश-काल से आबद्ध नहीं है, प्रत्युत पाप से निवृत्त होने मे है। प्रस्तुत सूत्र में इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि भिक्षु को पाप कर्म से निवृत्त होना चाहिए। क्योंकि, पाप कर्म के संयोग से चित्त वृत्तियों मे चंचलता आती है। अत मन को शान्त करने के लिए साधक को हिंसा आदि दोषों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। उसे छः काय पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति एव त्रस काय के जीवों का न तो स्वय आरम्भ-समारम्भ करना चाहिए, न अन्य व्यक्ति से करवाना चाहिए और न आरम्भ करने वाले व्यक्ति का समर्थन ही करना चाहिए। इसी तरह मृषावाद, स्तेय आदि सभी दोषों का त्रिकरण और त्रियोग से त्याग करना चाहिए। हिंसा आदि दोषों से निवृत्त होने रूप इस धर्म को स्वीकार करने वाला व्यक्ति ही आत्मा का विकास करके निर्वाण पद को पा सकता है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन—विमोक्ष

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में असम्बद्ध साधु के साथ सम्बन्ध नहीं रखने का उपदेश दिया गया है। परन्तु, इसके लिए अकल्पनीय पदार्थों—आहार-पानी, स्थान, वस्त्र, पात्र आदि का त्याग करना भी आवश्यक है। अतः साधु को किस तरह का आहार-पानी लेना चाहिए एव कैसे स्थान मे रहना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू परिक्कमिज्ज वा, चिट्ठिज्ज वा, निसीइज्ज वा, तुयट्टिज्ज वा, सुसाणंसि वा, सुन्नागारंसि वा, गिरिगुहंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, कुम्भारायणंसि वा, हुरत्था वा, कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई बूया आउसंतो समणा ! अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुञ्छणं वा, पाणाइं, भूयाइं, जीवाइं, सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स, कीयं,पामिच्चं अच्छिज्जं, अणिसट्ठं, अभिहडं, आहट्टु, चेएमि आवसहं वा समुस्सिणोमि से भुञ्जह, वसह, आउसतो समणा! भिक्खू तं गाहावइं समणसं सवयसं पडियाइक्खे आउसंतो! गाहावई नो खलु ते वयणं आढामि, नो खलु ते वयणं परिज्जाणामि, जो तुमं मम अट्ठाए असणं वा ४ वत्थं वा

४ पागाइं वा ४ समारम्भ समुद्दिस्स कीयं, पामिच्चं, अच्छिज्जं अणिसट्ठं, अभिहडं, आहट्टु, चेएसि आवसहं वा समुस्सिणासि, से विरओ आउसो गाहावई! एयस्स अकरणयाए ॥१९९॥

छाया—स भिक्षुः पराक्रमेद्वा, तिष्ठेद्वा, निषीदेद्वा, त्वग्वर्तेद्वा, श्मशाने वा, शून्यागारे वा, गिरिगुहाया वा वृक्षमूले वा, कुम्भकारायतने वा, अन्यत्र वा क्वचिद्विहरन्तं त भिक्षुमुपसंक्रम्य गृहपतिर्ब्रूयात्—आयुष्मन् भो श्रमण! अहं खलु तवार्थाय अशनं वा, पानं वा, खादिमं वा स्वादिमं वा, वस्त्र वा, पतद्ग्रहं (पात्र) वा, कम्बलं वा, पादप्रोञ्छनं, प्राणिन, भूतानि, जीवान्, सत्त्वान् – समारभ्य समुद्दिश्य क्रीत, प्रामित्यं, आच्छिद्यं, अनिसृष्टं, अभिहृतमाहृत्य ददामि, आवसथं वा समुच्छृणोमि तद् भुङ्क्ष्व वस्स आयुष्मन् श्रमण! भिक्षुस्तं गृहपतिं समनस सवचसं प्रत्याचक्षीत्-आयुष्मन् गृहपते! नो खलु ते वचनमाद्रिये, न खलु ते वचनं परिजानामि यस्त्वं ममार्थाय अशनंवा४, वस्त्रं वा ४, प्राणिनो वा ४ समारभ्य समुद्दिश्य क्रीतं, प्रामित्यं आच्छिद्यमनिसृष्टमभिहृतमाहृत्य ददासि आवसथं वा समुच्छृणोषि स (अह) विरतः आयुष्मन् गृहपते! एतस्याकरणतया।

पदार्थ—से—वह सावद्य व्यापार से निवृत्त हुआ। भिक्खू—भिक्षु। परिक्कमिज्ज—भिक्षा एव अन्य कार्य के लिए पराक्रम करे। वा—अथवा, अपेक्षा अर्थ मे जानना। चिट्ठिज्ज वा—खडा रहे। निसीइज्ज वा—बैठे या। तुयट्टिज्ज वा-कर्वट वदले या शयन करे। सुसाणंसि वा—श्मशान मे। सुन्नागारंसि वा—शून्यागार-शून्य घर में। गिरिगुहंसि वा—पर्वत की गुफा में। रुक्खमूलंसि वा—वृक्ष के मूल मे—वृक्ष के नीचे। कुमाराय-णसि वा—कुम्भकार की शाला मे। हुरत्था वा—ग्राम के बाहिर अन्यत्र। कहिंचि—किसी स्थान पर। विहरमाण—विचरते हुए। त—उस। भिक्खु—भिक्षु को। गाहावई—कोई गृहपति। उवसंकमित्तु—आकर। बूया—ऐसा कहे कि। आउसतो समणा—हे आयुष्मन् श्रमण! खलु—वाक्यालकारार्थ में है। अह—मैं। तव—तुम्हारे। अट्ठाए—लिये। असणं वा—अन्न। पाणं वा—पानी। खाइमं वा—खाद्य पदार्थ—मिठाई आदि। साइमं वा—स्वादिम—लवगादि पदार्थ। वत्थं वा—वस्त्र। पडिग्गहं वा—काष्ठादि के पात्र। कंबलं वा—कम्बल—ऊन का वस्त्र।

पायपुञ्छण — पाद प्रोञ्छन-रजोहरण । **पाणाइ** — प्राणियो । **भूयाइं** — भूतो । **जीवाइं** — जीवो सत्ताइ — सत्वो का । **समारब्भ** — उपमदन कर के । **समुद्दिस्स** — साधु के उद्देश्य से । **कीय** — खरीद कर । **पामिच्च** — किसी से उधार लेकर । **अच्छिज्जं** — किसी से छीन कर । **अणिसट्ठ** — दूसरे की वस्तु को बिना आज्ञा लेकर । **अभिहडं** — अपने घर से । **आहट्टु** — लाकर । **चेएमि** — देता हू और । **आवसह वा** — आप के ठहरने लिए स्थान—उपाश्रय बनवाता हू और । **समुस्सिणोमि**—उनका जीर्णोद्धार करवा देता हू—पुराने बने हुए उपाश्रय का नया संस्कार करवा देता हू । **से** — वह कहे कि । **आउसतो समणा** — हे आयुष्मान श्रमण ! आप । **भुजह** — आहार-पानी करो, और । **वसह** — उस उपाश्रय मे रहो । गृहस्थ के ये वचन सुनकर वह । **भिक्खू** — भिक्षु—साधु । **त**—उस । **गाहावइं** — गृहपति के प्रति । **समणसं** — मन से । **सवयसं** — वचन से । **पडियाइक्खे** — ऐसा कहे कि । **आउसतो गहावई** — हे आयुष्मान गृहपते ! **ते** — तेरे । **वयण** — वचन का । **नो आढामि** — मैं आदर नही कर सकता हू । **ते वयण** — और तेरे वचन को । **नो परिजाणामि** — मैं उचित नही समझता हू । **खलु** — यह अपि अर्थ मे है । **जो तुम** जो तू । **मम** — मेरे । **अट्ठाए** लिए । **असण वा ४** — अन्नादि । **वत्थ वा**-वस्त्रादि । **पाणाइ वा ४** — प्राणि आदि का । **समारम्भ**—उपमर्दन करके । **समुद्दिस्स**—मेरे उद्देश्य से । **कीय**—मोल लेकर । **पामिच्चं** — उधार लेकर । **अच्छिज्जं** — किसी से छीन कर । **अणिसट्ठं** — दूसरे की वस्तु को उसकी अनुमति के बिना लाकर या । **अभिहडं** — घर से । **आहट्टु** — लाकर मुझे । **चेएसि** — देता है या ।**आवसह वा** — उपाश्रय-मकान बनवा कर देता है या । **समुस्सिणासि**—जीर्णोद्धार करवा कर देता है, यह मुझे स्वीकार नही हैं, क्योकि मैं । **से** — उक्त क्रिया से । **विरओ**— निवृत्त हो चुका हू । **आउसो गाहावई** — हे आयुष्मान गृहपते ! **एयस्स** — आपके उक्त वचन को । **अकरणयाए**—मैं स्वीकार नही कर सकता हू ।

मूलार्थ—वह भिक्षु (मुनि) आहारादि या अन्य कार्य के लिए पराक्रम करे। आवश्यकता होने पर वह खडा होवे, बैठ और शयन करे। जब वह श्मशान मे, शून्यागार मे, पर्वत की गुफा में, वृक्ष के मूल मे या ग्राम के बाहर अन्य किसी स्थान पर विचर रहा हो, उस समय उसके समीप जाकर यदि कोई गृहपति, इस प्रकार कहे कि हे आयुष्मन् श्रमण ! मै तुम्हारे लिए प्राण, भूत, जीव, सत्त्व आदि का उपमर्दन एव आरभ-समारम्भ करके आहार, पानी, खादिम- मिठाई आदि, स्वादिम-लवग आदि, वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि बनवा देता हू या तुम्हारे उद्देश्य से मोल लेकर, उधार लेकर, किसी से छीनकर या अन्य व्यक्ति की

वस्तु को उसकी विना अनुमति के लाकर एवं अपने घर से लाकर तुम्हे देता हूं। मैं तुम्हारे लिए नया मकान-उपाश्रय बनवा देता हूं या पुराने मकान का नवीन सस्कार करवा देता हूं। हे आयुष्मन श्रमण ! तुम अन्नादि पदार्थ खाओ और उस मकान में रहो। ऐसे वचन सुनकर वह भिक्षु गृहपति से कहे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ ! मैं तेरे इस वचन को आदर नहीं दे सकता और मैं तेरे इस वचन को उचित भी नही समझता हूं। क्योकि तू मेरे लिए प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व आदि का उप-मर्दन करके आहारादि पदार्थ बनाएगा या मेरे उद्देश्य से मोल लेकर, उधार लेकर, किसी से छीनकर या अन्य व्यक्ति की वस्तु उसकी विना आज्ञा लेकर और घर से लाकर देगा। तू नया मकान-उपाश्रय बनवा कर या पुरातन मकान का जीर्णोद्धार करवाकर देगा। परन्तु, हे आयुष्मन् गृहस्थ। मैं आप के इन पदार्थो को स्वीकार नही कर सकता हू। क्योकि, मैं विरत हू, आ-रम्भ समारम्भ का पूर्णतः त्याग कर चुका हू, अतः मैं आप के उक्त प्रस्ताव का न आदर करता हू और न उसे उचित ही समझता हू।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि साधु आरम्भ-समारम्भ से सर्वथा निवृत्त होता है। अत वह न तो स्वयं भोजन वनाता है और न अपने लिए वनाया हुआ आहार-पानी, वस्त्र-पात्र, मकान आदि स्वीकार ही करता है। वह गृहस्थ के अपने एवं उसके परिवार के उपभोग के लिए बने हुए आहार-पानी आदि को अपनी मर्यादा के अनुरूप होने पर ही स्वीकार करता है। परन्तु, यदि उसके निमित कोई गृहस्थ आरम्भ-समारम्भ करके कोई पदार्थ तैयार करे, तो साधु को वह पदार्थ ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

इसी तरह मुनि श्मशान में, शून्य स्थान में, पर्वत की गुफा में या इस तरह किसी अन्य स्थान में वैठा हो, खड़ा हो या शयन कर रहा हो, उस समय यदि कोई श्रद्धानिष्ठ भक्त—गृहस्थ आकर मुनि से प्रार्थना करे कि मैं आपके लिए भोजन तैयार कर के तथा वस्त्र-पात्र आदि खरीद कर लाता हूं और रहने के लिए मकान भी वनवा देता हूं। उस समय मुनि उसे कहे कि हे देवानुप्रिय ! मुनि को ऐसा भोजन एवं वस्त्र-पात्र

आदि लेना नहीं कल्पता है। क्योंकि, मैंने आरम्भ-समारम्भ का त्रिकरण और त्रियोग से त्याग कर दिया है। अत: मेरे लिए भोजन आदि बनाने, खरीदने आदि में अनेक तरह का आरम्भ होगा, अनेक जीवों का नाश होगा, इसलिए मैं ऐसी कोई वस्तु स्वीकार नहीं कर सकता हूं।

इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि इस तरह की प्रार्थना जैन साधु के आचार से अपरिचित व्यक्ति ही कर सकता है। उस युग मे बौद्ध आदि भिक्षु गृहस्थ का निमंत्रण स्वीकार करते थे। आज भी अन्य मत के बहुत से साधु-सन्यासी गृहस्थों का निमन्त्रण स्वीकार करते हैं। अत. उनकी वृत्ति को देखकर कोई जैन मुनि को भी निमन्त्रण दे, तो मुनि उसे स्वीकार न करे। वह अपनी साधु वृत्ति से उसे परिचित कराकर अपनी निर्दोष साधना में संलग्न रहे।

श्मशान आदि में ठहरने के पाठ को वृत्तिकार ने जिनकल्पी एवं प्रतिमाधारी मुनि के लिए बताया है, स्थविर कल्पी के लिए नहीं‡। परन्तु, वृत्तिकार का कथन उचित प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि, उत्तराध्ययन सूत्र मे सभी साधुओं के लिए श्मशान आदि मे ठहरने का उल्लेख मिलता है। कोई भी साधक आत्म चिन्तन के लिए ऐसे स्थान मे ठहर सकता है❀। निषिद्या परीषह का वर्णन करते समय भी श्मशान आदि शून्य स्थान में ठहरने का सभी साधुओं के लिए उल्लेख किया गया है†।

इससे यह स्पष्ट होता है कि उपरोक्त निर्दोष स्थानों मे स्थित साधु सदा निर्दोष वृत्ति से आहार-पानी आदि स्वीकार करके शुद्ध संयम का पालन करे। यदि कोई गृहस्थ स्नेह एवं भक्ति वश सदोष वस्तु तैयार कर दे तो साधु उसे स्वीकार न करे।

---

‡ गच्छवासिनस्तत्र स्थानादिकं न कल्पते, प्रमादस्खलितादौ व्यन्तराद्युपद्रवात् तथा जिनकल्पार्थं सत्वभावनां भावयतोऽपि न पितृवनमध्ये निवासोऽनुज्ञात, प्रतिमाप्रतिपन्नस्य तु यत्रैव सूर्योऽस्तमुपयाति तत्रैव स्थान, जिनकल्पस्य वा तदपेक्षया श्मशान सूत्रम्।—आचाराङ्ग वृत्ति।

❀ सुसाणे सुन्नागारे वा, रुक्ख मूले वा इक्कओ।
पइरिक्के पर कडे वा, वास तत्थाभिरोयए॥

—उत्तराध्ययन, ३५, ६।

† सुसाणे सुनागारे वा रुक्ख मूले व एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा नय वित्तासए परं॥
तत्थ से चिट्ठमाणस्स उवसग्गाभि धारए।
सकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठिता अन्नमासणं॥

—उत्तराध्ययन, २,२०—२१।

वह उसका किस तरह निषेध करे इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भिक्खू परिक्कमिज्ज वा जाव हुरत्था वा कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई आयगयाए पेहाए असणं वा ४ वत्थं वा ४ जाव आहट्टु चेएइ आवसहं वा समुस्सिणाई भिक्खू परिघासेउं, तं च भिक्खू जाणिज्जा सहसम्मइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं वा सुच्चा— अयं खलु गाहावई मम अट्ठाए असणं वा ४ वत्थं वा ४ जाव आवसहं वा समुस्सिणाइ, तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्तिबेमि ॥२००॥

छाया—स भिक्षुः पराक्रमेत् यावदन्यत्र वा अन्यत्र ग्रामादेर्बहिः क्वचिद्विहरन्तं तं भिक्षुमुपसक्रम्य गृहपतिरात्मगतया प्रेक्षया अशन वा ४ वस्त्र वा ४ यावदाहृत्य ददामि आवसथञ्च समुच्छृणोमि (करोमि) समुच्छृणोति परिघासयितु (भोजयितु) तञ्च भिक्षुः जानीयात् स्वसन्मत्या परव्याकरणेन अन्येभ्यो वा श्रुत्वा अय खलु गृहपतिः ममार्थाय अशन वा ४ वस्त्र वा यावदावसथ वा समुच्छृणोति तं च भिक्षुः प्रत्युपेक्ष्यावगम्य ज्ञापयेदनासेवनया इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू—भिक्षु। परिक्कमिज्ज वा—कभी श्मशानादि मे ध्यानादि की साधना मे पराक्रम करता हो। जाव—यावत्। हुरत्था वा—किसी अन्य स्थान पर। कहिंचि—कभी। विहरमाण—विचरता हो तब। त—उस। भिक्खु—भिक्षु के। उपसंकमित्तु—पास आकर। गाहावई—गृहपति। आयगयाए पेहाए—अपने आत्मगत भावो को साधु के सामने प्रकट न करता हुआ कि मैं साधु को अवश्य दान दूगा, इस आशा से। असणं वा ४—अशनादि। वत्थं वा ४—वस्त्रादि। जाव—यावत्। आहट्टु—लाकर। चेएइ—देता है। आवसहं वा—उपाश्रय का। समुस्सिणाइ—जीर्णोद्धार करवाकर नया मकान बनवा देता है।

परिघासेउं—आहार लाने के लिए गया हुआ। भिक्खू—साधु। च—पुन। भिक्खू—भिक्षु। तं—उस भोजन को। सहसम्मइयाए—अपनी सद्बुद्धि से। परवागरणेणं—तीर्थंकर देव द्वारा कथित विधि विशेष से। वा—अथवा। अन्नेसिं सुच्चा—किसी अन्य परिजन आदि से सुनकर। खलु—अवधारणार्थ में है। जाणिज्जा—जान ले, कि। अयं गाहावइ—यह गृहपति। असण वा४—आहारादि। वत्थ वा४—वस्त्रादि। जाव--यावत्। आवसह वा—यह अभिनव, सुन्दर स्थानादि या। समुस्सिणाइ—जीर्णोद्धार किया हुआ मकान। मम अट्ठाए—मेरे लिए बनाया है, अत। च—पुन। त—उनका। पडिलेहाए—पर्यायलोचन करके। आगमित्ता—जानकर। आणविज्जा—उस गृहस्थ से कहे कि। अणासेवणाए—ये सब पदार्थ मेरे सेवन करने योग्य नही हैं, अत मैं इन्हे ग्रहण नही कर सकता। त्तिबेमि—मैं इस प्रकार कहता हू।

मूलार्थ—वह भिक्षु श्मशानादि स्थानो मे ध्यानादि साधना मे पराक्रम करता हो या अन्य कारण से इन स्थानो मे विचरता हो, उस समय यदि कोई गृहस्थ भिक्षु के पास आकर अपने मानसिक भावो को व्यक्त न करता हुआ, साधु को दान देने के लिए अन्न, वस्त्रादि लाकर या उसके निवास के लिए सुन्दर स्थान बनवाकर उसे देना चाहता है। तब आहारादि की गवेषणा के लिए गया हुआ भिक्षु अपनी स्व बुद्धि से अथवा तीर्थंकरोपदिष्ट विधि से या किसी अन्य परिजन आदि से उन पदार्थों के सम्बन्ध मे सुनकर, यदि वह यह जान ले कि वस्तुत यह गृहस्थ मेरे उद्देश्य से बनाए या खरीद कर लाए हुए आहार, वस्त्र और मकान आदि मुझे दे रहा है, तो वह भिक्षु उस गृहस्थ से कहे कि ये पदार्थ मेरे सेवन करने योग्य नही है। अतः मैं इन्हे स्वीकार नही कर सकता। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र में उल्लिखित विषय को स्पष्ट करते-हुए प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि कोई श्रद्धानिष्ठ भक्त मुनि को बिना बताए ही उसके निमित्त आहारादि बनाकर या वस्त्र-पात्र आदि खरीद कर रख ले और आहार के समय मुनि को उसके लिए आमन्त्रण करे। उस समय आहार आदि की गवेषणा करते हुए मुनि को अपनी बुद्धि से या तीर्थंकरोपदिष्ट विधि से या किसी के कहने से यह ज्ञात हो जाए कि यह आहारादि मेरे लिए तैयार किया गया है या खरीदा गया है, तो वह उसे स्वीकार न करे। वह उस

गृहस्थ स्पष्ट शब्दों में कह दे कि इस तरह हमारे लिए बनाया हुआ या खरीदा हुआ आहारादि हम नहीं लेते है। वह उसे साध्वाचार का सही बोध कराए, जिससे वह फिर कभी किसी भी तरह का सदोष आहारादि देने का प्रयत्न न करे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—भिक्खुं च खलु पुट्ठा वा अपुट्ठा वा जे इमे आहच्च गंथा वा फुसंति, से हन्ता हणह, खणह, छिंदह, दहह, पयह आलुम्पह विलुम्पह सहसाकारेह विप्परामुसह, ते फासे धीरो पुट्ठो अहियासए अदुवा आयारगोयरमाइक्खे, तक्किया णमणेलिसं अदुवा वइगुत्तीए गोयरस्स अणुपुव्वेण सम्मं पडिलेहए आयगुत्ते बुद्धेहिं एयं पवेइय॥२०१॥

छाया—भिक्षुञ्च खलु पृष्ट्वा वाऽपृष्ट्वा वा यः इमे आहृत्य ग्रन्थात् स्पृशन्ति स हंता, हत, क्षणुत, छिन्त्त, दहत, पचत, आलुम्पत, विलुम्पत, सहसा कारयत विपरामृशत तान् स्पर्शान्धीरः स्पृष्टः अधिसहेत अथवा आचार-गोचरमाचक्षीत, तर्कयित्वा अनीदृश अथवा वागगुप्तिर्विधेया, गोचरस्यानुपूर्व्या सम्यक्प्रत्युपेक्षेत, आत्मगुप्तो बुद्धैरेतत् प्रवेदितम्।

पदार्थ—च—यह समुचय अर्थ में है। खलु—यह वाक्यालंकार अर्थ मे है। भिक्खु—भिक्षु को। पुट्ठा वा—पूछकर अथवा। अपुट्ठा वा—विना पूछे। जे—जो। इमे—ये आहारादि पदार्थ। गंथा वा—बहुत धन खर्च करके बनाए हैं। आहच्च—वह उसके सामने लाकर देने पर जब मुनि उसे ग्रहण नहीं करता है। तब वह गृहस्थ मुनि को। फुसंति—कष्ट—परितापनादि देता है, यथा—। से—वह सम्पन्न गृहस्थ क्रोध के वशीभूत होकर साधु को। हंता—स्वयं मारता है तथा अन्य व्यक्तियों को मारने का आदेश देता है, वह कहता है। हणह—इस भिक्षु को मारो। खणह—पीडित करो। छिंदह—इसके हाथादि अंगोपांगों का छेदन करो। दहह—इसे आग में जला दो। पयह—इसके मांस को पकाओ। आलुंपह—इसके वस्त्र छीन लो। विलुंपह—इसका सब कुछ छीन लो। सहसाकारेह—इसको जल्दी मारो, जिससे इसकी मृत्यु हो जाए। विप्परामुसह—इसे अनेक तरह से पीडित करो। ते फासे—उन दुःख रूप स्पर्शों से।

पुट्ठो—स्पृष्ट हुआ। धीरो—वह धैर्यवान साधु। अहियासए—उन्हें सहन करे। अदुवा—अथवा। आयारगोयरमाइक्खे—उनसे साधु के आचारानुष्ठान को कहे। तक्किया—परन्तु साध्वाचार बताने के पूर्व यह सोच ले कि यह पुरुष माध्यस्थ वृत्ति वाला है, तो उसे। ण—वाक्यालंकार में है। अणेलिस—अनुपम वचन कहे। यदि वह पुरुष दुराग्रही हो या अपनी आत्मा मे उसे समझाने की शक्ति न हो। अदुवा—अथवा। वइगुत्तीए—तब वह वचन गुप्ति मे स्थित रहे। गोयरस्स—आचार-गोचर की। अणुपुव्वेण—अनुक्रम से। सम—सम्यक् शुद्धि का। पडिलेहाए—प्रतिलेखन करके। आयगुत्ते—आत्मा से गुप्त होता हुआ निरंतर संयम साधना में संलग्न रहे। बुद्धेहि—बुद्धो—तीर्थंकरो ने। एयं—इसका। पवेइयं—प्रतिपादन किया है।

मूलार्थ—कोई सद्गृहस्थ, साधु को पूछकर या बिना पूछे ही बहुत-सा धन खर्चकर अन्नादि पदार्थ बना करके साधु के पास लाकर उसे ग्रहण करने की प्रार्थना करता है। परन्तु, जब साधु उसे अकल्पनीय समझकर लेने से इनकार करता है, तब क्रोध के वशीभूत होकर वह गृहस्थ साधु को परिताप देता है, उसे मारता है तथा दूसरो से कहता है कि इस भिक्षु को मारो, इसका विनाश करो, इसके हाथ-पैर काट लो, इसको अग्नि मे जला दो, इसके मांस को काट कर पकाओ, इसके वस्त्रादि छीन लो, इसका सब कुछ लूट लो और इसे नाना प्रकार से पीड़ित करो, जिससे इसकी जल्दी ही मृत्यु हो जाए। इत्यादि कठोर परीषहो-कष्टो के उपस्थित होने पर भी साधु उन कष्टो को बडे धैर्य से सहन करे। यदि वे समझने योग्य है, तो वह उन्हे साध्वाचार का यथार्थ स्वरूप समझा कर शान्त करे। यदि वे अयोग्य व्यक्ति है, तो वह वचन-गुप्ति का पालन करे-मौन रहे। वह अनुक्रम से अपने आचार का सम्यक् प्रतिलेखन करके आत्मा से गुप्त होता हुआ सदा उपयोग पूर्वक क्रियानुष्ठान मे संलग्न रहे। तीर्थंकरो ने इस विषय का इस प्रकार से प्रतिपादन किया है।

हिन्दी विवेचन

साधना का महत्व सहिष्णुता में है। अत कठिनाई के समय भी साधु को समभाव पूर्वक परीषहों को सहते हुए संयम का परिपालन करना चाहिए। परन्तु, परीषहों

के उपस्थित होने पर उसे संयम से भागना नहीं चाहिए। साधना की कसौटी परीषहों के समय ही होती है। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है कि साधु को खाने-पीने के पदार्थों एवं वस्त्र-पात्र आदि के प्रलोभन मे आकर अपने संयम मार्ग का त्याग नहीं करना चाहिए। परन्तु, ऐसे समय मे भी समस्त प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करके शुद्ध संयम का पालन करना चाहिए।

यदि कोई व्यक्ति स्वादिष्ट पकवान बनाकर या सुन्दर एवं कीमती वस्त्र-पात्र ला:-कर दे और उसे ग्रहण करने के लिए अत्यधिक आग्रह भी करे, तब भी साधु उन्हें स्वीकार न करे। वह उसे स्पष्ट शब्दों में समझाए कि इस तरह का आहार आदि लेना हमें नहीं कल्पता है। यदि इस पर भी वह गृहस्थ न माने—क्योंकि कई पूजीपति गृहस्थों को अपने वैभव का अभिमान होता है। वे चाहते हैं कि हमारे विचारों को कोई ठुकराए नहीं। जिन्हें वे अपना गुरु मानते हैं, उनके प्रति भी उनकी यह भावना रहती है कि वे भी मेरे विचारों को स्वीकार करे, मेरे द्वारा दिए जाने वाले पदार्थों या विचारों को अस्वीकार न करे। इस पर भी यदि कोई साधु अकल्पनीय वस्तु को स्वीकार नहीं करता है, तो उनके अभिमान को ठेस लगती है और वे आवेश में आकर अपने पूज्य गुरु के भी शत्रु बन जाते हैं। वे उसे मारने-पीटने एवं विभिन्न कष्ट देने लगते हैं। ऐसे समय में भी मुनि को अपने आचार पथ से नहीं गिरना चाहिए। मुनि को पदार्थों के लोभ मे आकर अपनी मर्यादा को तोड़ना नहीं चाहिए और न कष्टों से घबराकर ही संयम से विमुख होना चाहिए। परन्तु हर परिस्थिति में संयम में संलग्न रहते हुए उन्हें आचार का यथार्थ स्वरूप समझाना चाहिए।

इस विषय में कुछ और बाते बताते हए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—ते समणुन्ने असमणुन्नस्स असणं वा जाव नो पाइज्जा, नो निमंतिज्जा. नो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्तिबेमि ॥२०२॥

छाया—स समनोज्ञोऽसमनोज्ञायाशनं वा यावन्नो प्रदद्यात्, न निमंत्रयेत्, न कुर्याद्वैयावृत्य परमाद्रियमाणः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह। समणुन्ने—समनोज्ञ मुनि। असमणुन्नस—असमनोज्ञ साधु को। असणं वा—आहार आदि पदार्थ। परं आढायमाणे—अति आदर पूर्वक। नो पाइज्जा—नदेवे।

नो निमंतिज्जा—न निमन्त्रित करे। नो कुज्जा वेयावडियं—न वैयावृत्य ही करे। त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हू।

मूलार्थ—समनोज्ञ साधु असमनोज्ञ साधु को आदर-सम्मान पूर्वक आहार आदि नहीं दे और न उसकी वैयावृत्य ही करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम उद्देशक के १६४वें सूत्र मे उल्लिखित विषय को दोहराया गया है। इसका विवेचन उक्त स्थान पर किया जा चुका है, अत हम यहां पिष्ट-पेषण करना उचित नहीं समझते, पाठक वहीं देख लें।

समनोज्ञ साधु को समनोज्ञ साधु के साथ कैसा वर्ताव रखना चाहिए, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण मइमया समणुन्ने समणुन्नस्स असणं वा जाव कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्तिबेमि ॥२०३॥

छाया-धर्मं जानीत प्रवेदितं माहनेन मतिमता समनोज्ञः समनोज्ञाय अशनं वा यावत् कुर्याद्वैयावृत्यं परमाद्रियमाणः, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—धम्ममायाणह—हे आर्य! तू धर्म को जान, जिसे। मइमया—मतिमान—सर्वज्ञ। माहणेण—भगवान ने। पवेइयं—प्रतिपादन किया है, कि। समणुन्ने—समनोज्ञ साधु। समणुन्नस्स—समनोज्ञ साधु को। असणं वा—आहार आदि पदार्थ। जाव—यावत्। परं आढायमाणे—अत्यन्त आदर पूर्वक दे, और। वेयावडियं कुज्जा—उनकी वैयावृत्य करे। त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हू।

मूलार्थ—हे आर्य! तू सर्वज्ञ भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म को समझ। उन्होंने कहा है कि समनोज्ञ साधु समनोज्ञ साधु को आदरपूर्वक आहार आदि पदार्थ दे और उनकी सेवा-शुश्रूषा भी करे। ऐसा मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र मे अमनोज्ञ—शिथिलाचारी या अपने से असम्वद्ध साधु को आहार आदि देने का निषेध किया गया है। इस सूत्र मे अपने समान आचार वाले समनोज्ञ साधु को आदर पूर्वक आहार आदि देने एवं उसकी वैयावृत्य करने का विधान किया गया है।

अपने समानधर्मी मुनि का स्वागत करना मुनि का धर्म है। इससे पारस्परिक धर्म-स्नेह बढ़ता है और एक-दूसरे के सपर्क से ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र मे अभिवृद्धि होती है, संयम में भी तेजस्विता आती है। अत साधक को समनोज्ञ मुनि का आहर-पानी से आदर-सम्मान पूर्वक उचित सत्कार करना चाहिए। उसकी सेवा-वैयावृत्य करनी चाहिए। क्योंकि, सेवा–शुश्रूषा से कर्मों की निर्जरा होती है और उत्कट भाव आने पर तीर्थंकर गोत्र का भी बन्ध हो सकता है। अत साधक को सदा संयम-निष्ठ पुरुषों का स्वागत करना चाहिए।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन—विमोक्ष

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक मे अकल्पनीय आहार आदि ग्रहण करने का निषेध किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में बताया गया है कि यदि भिक्षा आदि के लिए गृहस्थ के घर मे प्रविष्ट साधु शीत के कारण काप रहा हो और गृहस्थ के मन में यह शका उत्पन्न हो गई हो कि साधु कामेच्छा के उत्कट वेग से काप रहा है, तो उस समय साधु को उसकी शका का निवारण कैसे करना चाहिए ? इस संबन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—मज्झिमेण वयसावि एगे संबुज्झमाणा समुट्ठिया, सोच्चा मेहावी वयण पंडियाणं निसामिया समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए ते अणवकंखमाणा, अणइवाएमाणा, अपरिग्गहेमाणा, नो परिग्गहावंती सव्वावंति च णं लोगंसि निहाय दंडं पाणेहिं पावं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिए ओए जुइमस्स खेयन्ने उववाय चवण च नच्चा ॥२०४॥

छाया—मध्यमेन वयसापि एके संबुध्यमानाः समुत्थिताः श्रुत्वा मेधावी वचन पंडितानां निशम्य समतया धर्मः आर्यैः प्रवेदित ते अनवकांक्षमाणाः अनतिपातयन्तोऽपरिगृह्णन्त नो परिग्रहवन्तः सर्वस्मिन्नपि च लोके (ण) निधाय दण्डं प्राणिषु (प्राणिभ्यः) पाप कर्म अकुर्वाण एषो महान् अग्रन्थः व्याख्यात ओजः द्युतिमतः खेदज्ञः उपपातं च्यवनं च ज्ञात्वा।

पदार्थ—एगे—कई एक। मेहावी—बुद्धिमान व्यक्ति। मज्झिमेणं—मध्यम-यौवन। वयसावि—वय—अवस्था मे। पंडियाणं—तीर्थंकरादि पण्डित पुरुषो के। वयण—वचन। सुच्चा—सुनकर। निसामिया—हृदय मे सोच-विचार कर कि। आरिएहिं—आर्य पुरुषों—तीर्थंकरादि ने। समियाए—समता भाव से। धम्मे—श्रुत और चारित्र रूप धर्म का। पवेइए—प्रतिपादन किया है। ते—वे। संबुज्झमाणा—बोध को प्राप्त हुए हैं, और। समुट्ठिया—दीक्षित होकर धर्म का परिपालन करने को उद्यत हुए है। अनवकंखमाणा—काम भोगो की इच्छा न रखते हुए। अणइवाएमाणा—प्राणियो की हिंसा न करते हुए। अपरिग्गहेमाणा—परिग्रह न रखते हुए। नोपरिग्गहावंती—अपने शरीर पर ममता नही रखते हुए। च—समुच्चय अर्थ मे है। णं—वाक्यालकार मे है। सव्वावती—सर्व। लोगंसि—लोक मे। निहाय दंड-पाणेहिं—प्राणियो के दड--परिताप, पीडादि को छोडकर। पाव कम्म—पाप कर्म। अकुव्व-माणे—नही करते है। एस—उन। मह—महान् पुरुषो को जो। ओए—राग-द्वेष से रहित है। जुइमस्स—सयम या मोक्ष मार्ग के। खेयन्ने—ज्ञाता-जानने वाले है। उववायं—देवो के उपपात। च—और। चवणं च्यवन (मृत्यु) को। नच्चा—जानकर, जो पाप कर्म एव कषायो का त्याग करदेते हैं और। अगथे—जिनके पास धनादि परिग्रह नही है, उन्हे निर्ग्रन्थ। वियाहिए—कहते हैं।

मूलार्थ—कई एक व्यक्ति मध्यवय मे भी बोध को प्राप्त होकर धर्म मे उद्यत होते है। बुद्धिमान तीर्थकरादि के वचनो को सुनकर और समता भाव से हृदय मे विचार कर, तीर्थकरो के प्रतिपादन किए हुए धर्म मे दीक्षित होकर वे काम-भोगो के त्यागी, प्राणियो की हिंसा से निवृत्त धनादि परिग्रह से रहित होते हुए अपने शरीर पर भी ममत्व नही रखते हैं। वे महापुरुप संपूर्ण लोक मे स्थित समस्त प्राणियो के दड का परित्याग करके किसी भी प्रकार के पापकर्म का आचरण नही करते है। वे बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थ-परिग्रह से रहित होने के कारण निर्ग्रन्थ कहे गए हैं। अतः जो साधक राग-द्वेप से रहित हैं और सयम एव मोक्ष के ज्ञाता हैं, व देवो के उपपात एव च्यवन को जानकर कभी भी पापकर्म का आचरण नही करते है।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि मनुष्य तीनों अवस्थाओं—बाल्य, यौवन एव वृद्ध अवस्था मे साधना को साध सकता है। फिर भी यहा मध्यम अवस्था को लिया गया है। इस समय मे प्राय बुद्धि परिपक्व होती है। इसलिए वह अपने हिताहित

का भली-भांति विचार कर सकता है। अत कोई व्यक्ति तीर्थंकर के या आचार्य आदि के वचनों से बोध को प्राप्त होकर श्रुत और चारित्र धर्म को स्वीकार करता है। वह समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के तुल्य समझकर समस्त आरम्भ-समारम्भ का त्याग कर देता है। वह समस्त पदार्थों पर से— यहां तक कि अपने शरीर पर से भी ममत्व हटा लेता है। किसी भी पदार्थ मे उसकी ममता नहीं रहती है। वह इस बात को भली-भांति जानता है कि ये भोग के साधन अस्थाई हैं, और तो क्या देवों का विपुल ऐश्वर्य भी अस्थायी है। वे भी एक दिन अपनी ऐश्वर्य सम्पन्न स्थिति से गिर जाते हैं। जब देवों की यह स्थिति है—जिन्हें लोग अमर कहते है, तो मनुष्य की क्या गिनती है। ऐसा सोचकर वे कभी भी पाप कर्म का आचरण नहीं करते हैं। समस्त सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग कर सदा सयम साधना मे संलग्न रहते हैं। ऐसे व्यक्ति ही निर्ग्रन्थ* कहलाते हैं।

परन्तु, जो युवक साधना पथ को स्वीकार करके भी उसमे ग्लानि को प्राप्त होते हैं, उनके सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आहारोवचया देहा परीसहपभंगुरा पासह एगे सव्विंदिएहिं परिगिलायमाणेहिं ॥२०५॥

छाया—आहारोपचया देहाः परीषह प्रभंजिनः (भगुरा) पश्यत एके सर्वैरिन्द्रियैः परिग्लायमानैः।

पदार्थ—पासह—हे शिष्य ! तू देख। आहारोवचया—आहार से उपचित। देहा—शरीर मे। परीसह—परीषहो के उत्पन्न होने पर। एगे—कई एक व्यक्ति। सव्विदिएहिं—सब इन्द्रियो से। परिगिलायमाणेहिं—ग्लानि को, या। पभगुरा—नाश को प्राप्त होते हैं।

मूलार्थ—हे शिष्य ! तू देख, यह आहार से परिपुष्ट हुआ शरीर परीषहो के उत्पन्न होने पर विनाश को प्राप्त होता है। अतः कुछ साधक परीषहो के उत्पन्न होने पर सब तरह से ग्लानि या नाश को प्राप्त होते हैं।

हिन्दी विवेचन

शरीर की वृद्धि अनुकूल आहार पर आधारित है। योग्य आहार के अभाव

*धन, धान्य, घर, परिवार आदि व ह्य साधन-सामग्री बाह्य ग्रन्थि-गाठ कहलाती है और राग-द्वेष, ममत्व एव आसक्ति भाव आदि मनोविकार अभ्यन्तर ग्रन्थि कहलाते हैं और बाह्य एव अभ्यन्तर ग्रन्थि का त्यागी साधक निर्ग्रन्थ कहलाता हैं।

में शरीर क्षीण होता रहता है और इन्द्रियें भी कमजोर हो जाती हैं। अत शरीर से दुर्बल व्यक्ति परीषह एवं व्याधि के उत्पन्न होने पर इस शरीर का त्याग भी कर देते हैं। अत. यह शरीर क्षणिक है, नाशवान है, फिर भी धर्म साधना करने का सर्व श्रेष्ठ साधन है। मनुष्य के शरीर में ही साधक अपने चरम उद्देश्य को सफल वना सकता है। वह सदा के लिए कर्म वन्धन से छुटकारा पा सकता है। इसलिए साधक को सदा इससे लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। कुछ कायर लोग परीषहों के उत्पन्न होने पर ग्लानि का अनुभव करते हैं। वे नाशवान शरीर पर ममत्व लाकर अपने पथ से भ्रष्ट हो जाते हैं।

परन्तु, वीर पुरुष किसी भी परिस्थिति मे पथ-भ्रष्ट नहीं होते। वे परीषहों के उपस्थित होने पर किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं करते हैं। इस विषय मे सूत्रकार कहते हैं —

मूलम्—ओए दयं दयइ, जे संनिहाणसत्थस्स खेयन्ने से भिक्खू कालन्ने, वलन्ने, मायन्ने, खणन्ने, विणयन्ने, समयन्ने परिग्गहं अममायमाणे कालेणुट्ठाइ अपडिन्ने दुहओ छित्ता नियाइ॥२०६॥

छाया—ओजः दया दयते य. सन्निधानस्य खेदज्ञः स भिक्षुः कालज्ञः, वलज्ञ., मात्रज्ञः, क्षणज्ञः, विनयज्ञ, समयज्ञः परिग्रहममत्वेन कालेनोत्थायी अप्रतिज्ञः उभयतः छेत्ता निर्याति।

पदार्थ—ओए—रागादि से रहित अकेला भिक्षु क्षुधापरीषहादि के होने पर। दयं दयइ—दया का पालन करे। जे जो। सनिहाणसत्थस्स—नरकादि के स्वरूप के निरूपक शास्त्र या कर्म रूप सन्निधान के शस्त्र—संयम का। खेयन्ने—परिज्ञाता है। से—वह। भिक्खू—भिक्षु। कालन्ने—काल के स्वरूप का परिज्ञाता। वलन्ने—वल का परिज्ञाता। मायन्ने—परिमाण को जानने वाला। समयन्ने—समय का ज्ञाता एव। परिग्गहं—परिग्रह के विषय में। अममायमाणे—ममत्व न करता हुआ। कालेणुट्ठाइ—समय पर कार्य करने वाला। अपडिन्ने—कषाय आदि की प्रतिज्ञा से रहित। दुहओ—दोनों प्रकार के राग-द्वेष अथवा द्रव्य और भाव से। छित्ता—ममत्व का छेदन करने वाला। नियाइ—निश्चित रूप से संयमानुष्ठान में संलग्न रहता है।

मूलार्थ—रागद्वेष से रहित भिक्षु क्षुधा आदि परीषहों के उत्पन्न होने पर भी दया का पालन करता है। वह भिक्षु जो नरक आदि के स्वरूप का वर्णन करने वाले शास्त्रों का परिज्ञाता है, काल का ज्ञाता

है, अपने बल का ज्ञाता है, परिमाण आदि का ज्ञाता है, अवसर का ज्ञाता है, विनय का ज्ञाता है तथा स्वमत और परमत का ज्ञाता है, परिग्रह मे ममत्व नही रखता है और नियत समय पर क्रियानुष्ठान करने वाला है। वह साधक कपायो को प्रतिज्ञा से रहित और राग-द्वेष का छेदन करने वाला है और वह निश्चित रूप मे सयम साधना मे संलग्न रहना है ।

हिन्दी विवेचन

साधना का क्षेत्र परीपहों का क्षेत्र है। साधु वृत्ति मे परीपहों का उत्पन्न होना आश्चर्य जनक नहीं है, अपितु परीपहों का उत्पन्न न होना आश्चर्य का कारण हो सकता है। अत साधक परीपहों के उत्पन्न होने पर दया भाव का परित्याग नहीं करता है। वह जीवों की दया एव रक्षा करने मे सदा संलग्न रहता है। दया संयम का मूल है, इसलिए यहा सूत्रकार ने दया शब्द का प्रयोग किया है। क्योंकि, दयाहीन व्यक्ति सयम का परिपालन नहीं कर सकता है। इसलिए प्राणान्त कष्ट उपस्थित होने पर भी साधक दयाभाव का परित्याग नहीं करता है ।

ऐसे संयम का पालन वही कर सकता है, जो कर्म शास्त्र का परिज्ञाता है और संयम विधि का पूर्ण ज्ञाता है❀। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुनि को कर्म बन्ध के कारण एवं उसके क्षय करने के साधन का परिज्ञान होना चाहिए और यह परिज्ञान आगमों के अध्ययन, स्वाध्याय एव चिन्तन से ही हो सकता है। स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन में सलग्न रहने वाला साधक ही उपयुक्त समय एवं आहार आदि की मात्रा—परिमाण का ज्ञाता हो सकता है। वह परिग्रह मे ममत्व न रखते हुए शुद्ध संयम का पालन कर सकता है। अत मुनि को निष्ठा पूर्वक स्वाध्याय एव चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए और परीषहों के उत्पन्न होने पर भी दया भाव का त्याग नहीं करना चाहिए।

इससे सयम मे निष्ठा बढ़ती है और उसकी साधना में तेजस्विता आती है। इस सम्बन्ध मे उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तं भिक्खुं सीयफासपरिवेवमाणगायं उवसंकमित्ता

❀ यहा पर—"सन्निहाण सत्थस्सखेयन्ने" के वृत्तिकार ने ऊपर बतलाये गये दोनो अर्थ इस प्रकार किये हैं—(सम्यङ्निधीयते नरकादिगतिषु येन तत्सन्निधान कर्म तस्य स्वरूपनिरूपक शास्त्र तस्य खेदज्ञो-निपुण, यदिवा सन्निधानस्य कर्मण शस्त्र सयम सन्निधानशस्त्र तस्यखेदज्ञ —सम्यक् सयमस्वेत्ता") इत्यादि ।

गाहावई बूया--आउसंतो समणा ! नो खलु ते गामधम्मा उव्वाहंति ? आउसंतो गाहावई ! नो खलु मम गामधम्मा उव्वाहंति, सीयफासं च नो खलु अहं संचाएमि अहियासित्तए, नो खलु मे कप्पइ अगणिकायं उज्जालित्तए वा (पज्जालित्तए वा) कायं आयावित्तए वा पयावित्तए वा अन्नेसिं वा वयणाओ, सिया स एवं वयंतस्स परो अगणिकायं उज्जालित्ता पज्जालित्ता कायं आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्तिबेमि ॥२०७॥

छाया—तं भिक्षु शीतस्पर्श परिवेपमानगात्रमुपसंक्रम्य गृहपति ब्रूयात्-आयुष्मन् श्रमण ! नो खलु (ते) भवन्त ग्रामधर्माः उद्बाधन्ते ? आयुष्मन् गृहपते ! न खलु मम ग्रामधर्मा उद्बाधन्ते, शीतस्पर्श च न खलु अह शक्नोमि अधिपोढुम्, न खलु मे कल्पते अग्निकायं (मनाग्) उज्ज्वालयितु वा प्रज्वालयितु वा कायं आतापयितु वा प्रतापयितु वा अन्येपां वा वचनात् स्यात् स एवं वदन्तं (वदत) परः अग्निकायं उज्ज्वाल्य प्रज्वाल्य काय आतापयेत् वा प्रतापयेत् वा तच्च भिक्षु प्रतिलेख्य अवगम्य आज्ञापयेत् अनासेवनया इति ब्रवीमि।

पदार्थ—त— उस । भिक्खु—भिक्षु को । सीयफासपरिवेवमाणगाय—जिसका शरीर शीत के स्पर्श से काप रहा है। उवसकमित्ता—उसके समीप जाकर । गाहावई—गृहपति बूया—कहे कि। आउसतो समणा—हे आयुष्मन श्रमण! खलु—निश्चय ही । ते—तुझे। गामधम्मा—ग्राम धर्म । नो उव्वाहति—पीडित नही करता है। खलु—निश्चयार्थ है, किन्तु। अह—मैं। च—समुच्चय अर्थ मे है । सीयफास—शीत के स्पर्श को । अहियासित्ताए—सहन करने में। नो सचाएमि—समर्थ नही हू। खलु—पूर्ववत। अगणिकायं—अग्नि काय को। उज्जालित्तए वा—उज्ज्वलित करना। पज्जालित्तए वा—प्रज्वलित करना। काय—शरीर को।

आयावित्तए वा—थोडा-सा तापना और। पयावित्तए वा—अधिक तापना अथवा। अन्नेसि वा—अन्य व्यक्ति को। वयणाओ—कह कर अग्नि प्रज्वलित करवाना। सिया—कदाचित। स—वह। एव वयतस्स—इस प्रकार बोलने पर। परो—पर-गृहस्थ। अगणिकाय—अग्नि काय को। उज्जालित्ता—उज्ज्वलित करके। पज्जालित्ता—प्रज्वलित करके। कायं—साधु की काया-शरीर को। आयाविज्ज वा—थोडा-सा तपावे। पयाविज्ज वा—विशेष रूप से तपावे। मे—मुझे। नो कप्पइ—नही कल्पता। च—पुन। त—मुनि उस अग्निकाय के आरम्भ को। पडिलेहाए—अपनी बुद्धि से विचार कर। आगमित्ता—भली-भाति जानकर। त—उस गृहस्थ से इस प्रकार। आणविज्जा—कहे। अणासेवणाए—यह अग्नि मेरे सेवन करने योग्य नही है। अत मुझे इस अग्नि का सेवन करना नही कल्पता है अर्थात् मैं इसका सेवन नही कर सकता हू। त्तिवेमि—इस प्रकार मैं कहता हू।

मूलार्थ—जिसका शरीर शीत के स्पर्श से काम्प रहा है, ऐसे भिक्षु के समीप आकर यदि कोई गृहस्थ कहने लगे कि हे आयुष्मन् श्रमण! आप विषय विकार से पीडित तो नही हो रहे है? उसके इस संशय का निराकरण करने के लिए मुनि उसे कहे कि मुझे ग्रामधर्म पीडित नही कर रहा है। किन्तु, मैं शीत के स्पर्श को सहन नही कर सकता! मुझे अग्निकाय [अग्नि-को] उज्ज्वलित-प्रज्वलित करना, अग्नि से शरीर को थोडा-सा गर्म करना या अधिक गर्म करना अथवा दूसरो से करवाना नही कल्पता है। यदि साधु के इस प्रकार बोलने से कभी कोई गृहस्थ अग्नि को उज्ज्वलित-प्रज्वलित करके उस साधु के शरीर को थोडा या अधिक गर्म करे या गर्म करने का प्रयत्न करे, तो भिक्षु उस गृहपति को इस प्रकार प्रतिबोधित करे कि यह अग्नि मेरे लिए अनासेव्य है अर्थात् मुझे अग्नि का सेवन करना नही कल्पता है। अतः मैं इसका सेवन नही कर सकता हू। इस प्रकार मै कहता हू।

हिन्दी विवेचन

जीवन मे कपन विकारों के वेग से होता है। विकार भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के होते हैं। शीत एव ज्वर आदि द्रव्य विकार हैं, जिनके कारण शरीर मे कंपन होता है। काम, क्रोध, मोह आदि भाव विकार हैं और जब इनका वेग होता है, उस समय भी शरीर कांपने लगता है। इस तरह भले ही सर्दी से, ज्वर से या

काम आदि से शरीर में कम्पन हो, वह विकारजन्य ही कहलाती है। परन्तु, द्रव्य विकारों से उत्पन्न कम्पन जीवन के लिए अहितकर नहीं है। परन्तु, भाव विकारों के वेग से उत्पन्न कम्पन जीवन का पतन भी कर सकता है। इसलिए साधक को भाव विकारों के आवेग से सदा दूर रहना चाहिए।

कुछ मनुष्यों का स्वभाव होता है कि वे प्रत्येक मनुष्य की चेष्टा को अपनी चेष्टा के अनुरूप देखते या समझते हैं। उन्हें काम-भोगों के आवेग से कम्पन पैदा होता है, तो वे दूसरे व्यक्ति को कांपते हुए देखकर उसे भी काम-विकार से पीड़ित समझने लगते हैं। ऐसे व्यक्ति के सन्देह को अवश्य दूर करना चाहिए। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है।

कोई साधु किसी गृहस्थ के घर भिक्षा को गया। सर्दी की अधिकता के कारण उसके शरीर को कांपते हुए देखकर यदि कोई गृहस्थ पूछ बैठे कि क्या आपको काम-वासना का वेग सता रहा है? तो मुनि स्पष्ट शब्दों में कहे कि मैं वासना से प्रताड़ित नहीं हूं। परन्तु, सर्दी की अधिकता के कारण कांप रहा हूं। यह सुनकर यदि गृहस्थ कहे कि तुम अग्नि ताप लो। यदि तुम हमारे चूल्हे के पास जाना नहीं चाहते हो, तो हम ताप का साधन यहां लाकर दे दें। उस समय मुनि कहे कि हे देवानुप्रिय! मुझे अग्नि तापना नहीं कल्पता है। क्योंकि, वह सजीव है, इसलिए आग तापने से तेजस्कायिक जीवों की हिंसा होती है। इस तरह वह समस्त शंकाओं का निराकरण करके विशुद्ध भावों के साथ साधना में संलग्न रहे।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन—विमोक्ष

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करने का उपदेश दिया गया है। प्रस्तुत उद्देशक मे अभिग्रह निष्ठ मुनि के लिए वस्त्र-पात्र रखने की मर्यादा का उल्लेख किया गया है। और अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों के उत्पन्न होने पर वह सयम का त्याग न करे—भले ही प्राणों का त्याग करना पडे तो प्रसन्नता के साथ करदे, इस बात का उपदेश दिया गया है। उद्देशक के प्रारम्भ मे वस्त्राचार का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पाय चउत्थेहिं तस्स णं नो एवं भवइ चउत्थं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा, अहा परिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा, नो धोइज्जा, नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा, अपलिओवमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए एयं खु वत्थधारिस्स सामग्गियं ॥२०८॥

छाया—यो भिक्षुः त्रिभिर्वस्त्रैः पर्युषिते पात्र चतुर्थैः तस्य (णं) नैवं भवति चतुर्थ वस्त्र याचिष्ये स यदेषणीयानि वस्त्राणि याचेत यथा परिगृहीतानि वस्त्राणि धारयेत् न धोवेत्, नो धौतरक्तवस्त्राणि धारयेत्, अगोपयन् ग्रामान्तरेषु अवमचेलिकः एतत् वस्त्रधारिण सामग्रियं (भवति)।

पदार्थ—जे—जो अभिग्रहधारी। भिक्खू—भिक्षु। तिहिं वत्थेहिं—तीन वस्त्र। एव-पाय चउत्थेहिं—चौथे पात्र से। परिवुसिए—युक्त है। ण—वाक्यालकार में। तस्स—उसको। नो एव भवइ—शीतादि के लगने पर यह विचार नही होता। चउत्थ वत्थ जाइस्सामि—मैं चौथे वस्त्र की याचना करूगा। से—वह, यदि उसके पास तीन वस्त्रो से कम हो तो। अहेसणिज्जाइ—वह एषणीय-निर्दोष। वत्थाइ—वस्त्रो की। जाइज्जा—याचना करे और।

अहापरिग्गहिं इ—जैसा वस्त्र मिला है । वत्थाइं—वैसे ही वस्त्र को । धारिज्जा—धारण करे, किन्तु । नो धोइज्जा-उसे प्रक्षालित न करे । नो धोयरत्ताइं वत्थाइ धारिज्जा—और जो वस्त्र प्रक्षालित करके रगा हुआ है, उसे भी धारण न करे । अपलिओवमाणे गामंतरेसु—ग्रामादि मे वस्त्र को गुप्त रखता हुआ—छुपा कर न चले । ओमचेलिए—अभिग्रहधारी मुनि अवमचेलक होता है अर्थात परिमाण एव मूल्य की अपेक्षा से वह स्वल्प वस्त्र रखता है । खु—अवधारण अर्थ मे है । एयं—यह । वत्थधारिस्स—वस्त्रधारी मुनि की । सामग्गिय—सामग्री है ।

मूलार्थ—जो अभिग्रहधारी मुनि एक पात्र और तीन वस्त्रो से युक्त है । शीतादि के लगने पर उसके मन मे यह विचार उत्पन्न नही होता है कि मै चौथे वस्त्र की याचना करूगा, यदि उसके पास तीन वस्त्रो से कम हो तो वह निर्दोप वस्त्र की याचना करे और याचना करने पर उसे जैसा वस्त्र मिले वैसा ही धारण करे । किन्तु, उसको प्रक्षालित न करे और न धोकर रगे हुए वस्त्र को धारण करे । वह ग्रामादि मे विचरते समय अपने पास के वस्त्र को छुपाकर न रखे । वह वस्त्रधारी मुनि परिमाण मे स्वल्प एव थोडे मूल्य वाला वस्त्र रखने के कारण अवमचेलक अल्प-वस्त्रवाला भी कहलाता है । यह वस्त्रधारी मुनि की सामग्री भी सदाचार है ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र अभिग्रह निष्ठ या जिनकल्प की भूमिका पर स्थित साधु के विपय में है । इसमे बताया गया है कि जिस मुनि ने तीन वस्त्र और एक पात्र रखने की प्रतिज्ञा की है, वह मुनि शीतादि का परीपह उत्पन्न होने पर भी चौथे वस्त्र को स्वीकार करने की इच्छा न करे । वह अपनी प्रतिज्ञा का दृढ़ता से पालन करने के लिए समभाव पूर्वक परीपह को सहन करे । परन्तु, अपनी प्रतिज्ञा एव मर्यादा से अधिक वस्त्र सग्रह करने की भावना न रखे । यदि उसके पास अपनी की हुई प्रतिज्ञा से कम वस्त्र है, तो वह दूसरा वस्त्र ले सकता है । उस समय उसे जैसा वस्त्र उपलब्ध हो, उस का उसी रूप मे उपयोग करे । न उसे पानी आदि से साफ करे और न उसे रगकर काम मे लेवे । वह गाव आदि मे जाते समय उस वस्त्र को छुपाकर भी न रखे । उक्त मुनि के पास अल्प मूल्य के थोड़े वस्त्र होने के कारण सूत्रकार ने उसे अवमचेलक-अल्प वस्त्रवाला कहा है ।

वृत्तिकार ने पात्र शब्द से पात्र के साथ उसके लिए आवश्यक अन्य

उपकरणो को भी ग्रहण किया है। जैसे— १-पात्र, २-पात्र वन्धन, ३-पात्र स्थापन, ४ पात्र केसरिक-प्रमार्जनिका, ५-पटल, ६-रजस्त्राण, ७-गोच्छक-पात्र साफ करने का वस्त्र, ये सात उपकरण हुए※ और तीन वस्त्र, रजोहरण और मुखवस्त्रिका, इस प्रकार जिनकल्प की भूमिका पर स्थित एव अभिग्रह निष्ठ मुनि के १२ उपकरण होते हैं†।

साधु को मर्यादित उपधि रखने का उपदेश देने का कारण यह है कि उपधि सयम का साधन मात्र है। अत. साधु सयम की साधना के लिए आवश्यक उपधि के अतिरिक्त उपधि का सग्रह न करे। क्योंकि, अनावश्यक उपधि के सग्रह से मन मे ममत्व का भाव जगेगा और उसका समस्त समय जो अधिक से अधिक स्वाध्याय, ध्यान एव चिन्तन-मनन मे लगना चाहिए, वह उसमें न लगाकर अनावश्यक उपधि को सभालने मे ही व्यतीत कर देगा। इस तरह स्वाध्याय एव चिन्तन मे विघ्न न पडे तथा मन मे सग्रह एवं ममत्व की भावना उद्बुद्ध न हो, इस अपेक्षा से साधु को मर्यादित उपकरण रखने का उपदेश दिया गया है।

प्रस्तुत सूत्र मे वस्त्र धोने को जो निषेध किया गया है, वह भी विशिष्ट अभिग्रह संपन्न मुनि के लिए ही किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि, स्थविर कल्पी मुनि कुछ कारणों से वस्त्र धो भी सकते हैं। विभूषा के लिए वस्त्र धोने का निषेध किया गया है और उसके लिए प्रायश्चित भी वताया गया है‡। परन्तु, भगवान महावीर के शासन के सब साधुओं के लिए—भले ही वे जिन कल्पी हों या स्थविर कल्पी, रगीन वस्त्र पहनने का निषेध है।

इस तरह अभिग्रह निष्ठ मुनि मर्यादित वस्त्र-पात्र आदि का उपयोग करे। परन्तु, ग्रीष्म ऋतु आने पर उसे क्या करना चाहिए, इस वात का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अह पुण एवं जाणिज्जा-उवाइक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा

※ पत्त, पत्ता बधो, पायट्ठवण च पायकेसरिया।
पडलाइ रयत्ताण च गोच्छओ पाय णिज्जोगो॥ —आचाराङ्ग वृत्ति।

† तदेव सप्त प्रकार पात्र कल्पत्रय रजोहरण मुखवस्त्रिका चेत्थेव द्वादशधोपधि.। —आचाराङ्ग वृत्ति।

‡ जे विभूसावडियाए वत्थ वा ४ धोवइ धोवत वा साइज्जइ।—निशीथ सूत्र, १५,१५६।

संतरुत्तरे अदुवा, ओमचेले, अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले ॥२०६॥

छाया—अथ पुनरेवं जानीयात्-अपक्रान्तः खलु हेमन्तः ग्रीष्मः प्रतिपन्नः यथा परिजीर्णानि वस्त्राणि परिष्ठापयेत् अथवा सान्तरोत्तरोऽथवा अवम-चेलः अथवा एकशाटकः अथवा अचेलः ।

पदार्थ—अह—अथ । पुण—पुन । एवं—इस प्रकार । जाणिज्जा—जाने । खलु—निश्चय । हेमते—हेमन्त काल । उवाइक्कते—अतिक्रान्त हो गया है और । गिम्हे—ग्रीष्म काल । पडिवन्ने—आ गया है तब । अहापरिज्जुन्नाइ—यथा परिजीर्ण । वत्थाइ—वस्त्रो को । परिट्ठवि-ज्जा- परिष्ठापन करदे—छोड दे । अदुवा—अथवा । सतरुत्तरे—यदि शीत के पडने की सम्भावना हो तो वह समर्थ वस्त्र का त्याग न करे, उसे पहने या पास रखे । अदुवा—अथवा । ओमचेले—तीन वस्त्रो मे से कम करदे । अदुवा—अथवा । एगसाडे—एक ही वस्त्र रखे जिस से सारा शरीर आच्छादित हो जाए । अदुवा—अथवा । अचेले—रजोहरण और मुखवस्त्रिका के अतिरिक्त अन्य सब वस्त्रो को छोडकर अचेलक हो जाए ।

मूलार्थ—वह अभिग्रहधारी भिक्षु जब यह समझले कि हेमन्त-शीत काल चला गया है और ग्रीष्मकाल आ गया है और ये वस्त्र भी जीर्ण-शीर्ण हो गये है । ऐसा समझकर वह उनको त्याग दे । यदि निकट भविष्य मे शीत की संभावना हो तो मजबूत वस्त्र का धारण कर ले, अन्यथा पास मे पडा रहने दे । शीत कम होने पर वह एक वस्त्र का परित्याग करदे और शीत के बहुत कम हो जाने पर दूसरे वस्त्र का भी त्याग करदे, केवल एक वस्त्र रखे जिससे लज्जा का निवारण हो सके या शरीर आच्छादित किया जा सके । यदि शीत का सर्वथा अभाव हो जावे तो वह रजोहरण और मुखवस्त्रिका को रखकर वस्त्र मात्र का त्याग करके अचेलक बन जाए ।

हिन्दी विवेचन

वस्त्र की उपयोगिता शीत एव लज्जा निवारण के लिए है । यदि शीतकाल समाप्त हो गया है और वस्त्र भी बिल्कुल जीर्ण-शीर्ण हो गया है, तो वह पूर्व सूत्र में कथित अभिग्रह निष्ठ मुनि उन वस्त्रों का त्याग करके एक वस्त्र रखे । यदि कुछ सर्दी अवशेष है, तो वह दो वस्त्र रखे और सर्दी के समाप्त होने पर केवल लज्जा निवारण

करने के लिए और लोगों की निन्दा एवं तिरस्कार से बचने के लिए वह एक वस्त्र रखे। यदि वह लज्जा आदि पर विजय पाने में समर्थ है, तो वह पूर्णतया वस्त्र का त्याग कर दे, परन्तु मुखवस्त्रिका एव रजोहरण अवश्य रखे। क्योंकि, ये दोनों जीव रक्षा के साधन एव जैन साधु के चिन्ह है ।

चूर्णिकार ने 'सातरोत्तर' शब्द का अर्थ एक अन्तर पट और दूसरा उत्तर पट किया है। आचार्य शीलाक ने लिखा है कि कहीं-कहीं वह उत्तरीय से अपना अग ढाकता है और कभी-कभी उसे बगल मे रख लेता है*। इन दोनों में चूर्णिकार का अर्थ अधिक सगत प्रतीत होता है। बौद्ध ग्रंथों मे भी निर्ग्रन्थों के लिए एक शाटक वाले निर्ग्रन्थ शब्द का उल्लेख मिलता है‡।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर के शासन मे सचेलक साधु भी थे या यों कहना चाहिए कि स्थविरकल्पी साधु सवस्त्र रहते थे और सवस्त्र अवस्था मे मुक्ति को प्राप्त करते थे।

वस्त्रों के त्याग से जीवन मे किस गुण की प्राप्ति होती है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ ॥२१०॥

छाया-लाघविकमागमयन्, तपस्तस्य अभिसमन्वागत भवति ।

पदार्थ—लाघविय—वह मुनि लाघवता को । आगममाणे—प्राप्त करता हुआ वस्त्र का त्याग करे, इससे । से—उस त्याग निष्ठ साधक के । तवे—तप । अभिसमन्नागए भवइ—सम्मुख होता है ।

मूलार्थ—वस्त्र के परित्याग से लाघवता होती है और वस्त्राभाव के कारण होने वाले परीषहो को समभावपूर्वक सहन करने से वह साधक तप के सम्मुख होता है अर्थात् वस्त्र का त्याग भी तपस्या है ।

---

*क्षेत्रादिगुणाद्धिमकणिनि वाते वाति सत्यात्मपरितुलनार्थं शीतपरीक्षार्थं च सान्तरोत्तरो भवेत् सान्तरमुत्तर—प्रावरणीयं यस्य स तथा क्वचित् प्रावृणोति क्वचित् पार्श्ववर्ति बिभर्ति ।
—आचाराङ्ग वृत्ति ।

‡ निगंठा एक साटका ।—अगुत्तरनिकाय, भाग ३, पृष्ठ ३८३ ।

हिन्दी विवेचन

कर्म के बोझ से हल्का बनना अर्थात् उसका क्षय-नाश करना ही साधना का उद्देश्य है। हल्कापन त्याग से होता है। इसलिए मुनि जीवन त्याग का मार्ग है। वह सदा अपने जीवन को कम बोझिल बनाने का प्रयत्न करता है। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है कि वस्त्र का त्याग कर देने से जीवन में लाघवता—हल्कापन आ जाता है। वस्त्र के अभाव में शीत, दंशमशक—मच्छर आदि जन्तुओं का, तृण स्पर्श आदि परीषहों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। परन्तु, इन्हें समभाव पूर्वक सहन करने से तप होता है और तप से कर्मों की निर्जरा होती है। इस तरह साधक कर्म के बोझ से हल्का होता हुआ सदा आत्म अभ्युदय की ओर बढ़ता है।

वस्त्र के त्याग से जीवन में लाघवता आती है। प्रतिलेखना में लगने वाला समय भी बच जाता है। इससे स्वाध्याय एवं ध्यान के लिए अधिक समय मिलने लगता है, और स्वाध्याय-ध्यान से आध्यात्मिक जीवन का विकास होता है। वस्तुतः आत्म-विकास की दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र महत्व पूर्ण है। इसी भाव को लेकर स्थानाङ्ग सूत्र में ५ कारणों से अचेलकत्व को प्रशस्त बताया है†—१-इससे प्रतिलेखना कम हो जाती है, २-वह विश्वस्त होता है, ३-उसे तप होता है, ४-लाघवता होती है और ५-इन्द्रियों का निग्रह—दमन होता है।

यह उपदेश तीर्थंकर भगवान द्वारा दिया गया है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिज्जा ॥२११॥

छाया—यदेतद् भगवता प्रवेदित तदेव अभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात्।

पदार्थ—जमेयं—जो यह। भगवया—भगवान महावीर ने। पवेइयं—प्रतिपादन किया है। तमेव—उसी को। अभिसमिच्चा—विचार कर। सव्वओ—सब तरह से। सव्वत्ताए—सर्व आत्मतया। सम्मत्तमेव—सम्यक्त्व या समभाव को। समभिजाणिज्जा-सम्यक्तया जाने।

---

† पचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवति, तंजहा—अप्पापडिलेहा, रूवे वेसासिए, तवे अणुन्नाए, लाघविए पसत्थे, विउले इंदियनिग्गहे। —स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ५।

मूलार्थ—भगवान महावीर ने आगम मे जो सचलक एव अचेलक अवस्थाओं का प्रतिपादन किया है, उसे सब तरह से, सर्वात्मतया तथा समभावपूर्वक या सम्यक्तया जाने।

हिन्दी विवेचन

सचेलकत्व और अचेलकत्व दोनों अवस्थाओं मे साधक अपने साध्य की ओर बढ़ता है। वस्त्र रखना या नहीं रखना ये दोनों साध्य सिद्धि के साधन है। साध्य की प्राप्ति के लिए नग्नत्व का महत्व है, परन्तु द्रव्य नग्नत्व का नहीं। यह बिल्कुल सत्य है कि जब तक आत्मा कर्म से आवृत्त रहेगी, तब तक मुक्ति नहीं हो सकती, भले ही वह वस्त्र से अनावृत्त हो। मोक्ष प्राप्ति के लिए राग-द्वेप एव कर्मों से सर्वथा अनावृत्त होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। आत्मा को अनावृत्त बनाने के लिए राग-द्वेष, कषाय एव कर्म बन्धन के अन्य कारणो का त्याग करना अथवा आस्रव का निरोध करना जरूरी है न कि वस्त्र का त्याग करना। यदि कोई साधक लज्जा आदि को जीतने मे समर्थ है, तो वह वस्त्र का भी त्याग कर सकता है और यदि वह लज्जा आदि के परीषहों पर विजय पाने की क्षमता नहीं रखता है, तो स्वल्प, मर्यादित वस्त्र रखकर भी राग-द्वेप पर विजय पाने की या आत्मा को कर्मो से सर्वथा अनावृत्त करने की साधना कर सकता है।

इस तरह भगवान द्वारा प्ररूपित सचेल एव अचेल दोनों मार्गों का सम्यक्तया अवलोकन करके साधक को अपनी योग्यतानुसार मार्ग का अनुकरण करके राग-द्वेष पर विजय पाने का प्रयत्न करना चाहिए। किसी एक मार्ग को ही एकान्त रूप से श्रेष्ठ या निकृष्ट नहीं मानना चाहिए। क्योंकि, दोनों मार्ग आत्मा को कर्मों से अनावृत्त करने के साधन हैं, अत दोनों ही श्रेष्ठ हैं।

इस तरह प्रबुद्ध पुरुप भगवान के वचनों पर विश्वास करके समभावपूर्वक परीपहों को सहते हुए कर्मों से अनावृत्त होने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु, जो भगवान के मार्ग को सम्यक्तया नहीं जानते हैं, जब उनके सामने परीषह आते है, तब उनकी क्या स्थिति होती है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ—पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफासं अहियासित्तए, से वसुमं सव्वसमन्नागय-पन्नाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणयाए आउट्टे तवस्सिणो ह तं

सेयं जमेगे विहमाइए तत्थावि तस्स काल परियाए, सेऽवि तत्थ विअंतिकारए. इच्चेयं विमोहायतणं हियं, सुहं. खमं, निस्सेसं आणुगामियं, त्तिबेमि ॥२१२॥

छाया—यस्य (ण) भिक्षो रेवं भवति—स्पृष्ट खलु अहमस्मि नालमहमस्मि शीतस्पर्शमध्यासयितु स वसुमान् सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेनात्मना कश्चिद्-कारणतया आवृत्तः तपस्विनस्तत् श्रेयः यदेकः वेहानसादिकं तत्रापि तस्य कालपर्याय: सोऽपि तत्र व्यन्तिकारक इत्येतत् विमोहायतन हित, सुख। क्षम निश्रेयसमानुगामिकमिति ब्रवीमि।

पदार्थ—ण—वाक्यलंकार मे है। जस्स—जिस। भिक्खुस्स—भिक्षु के। एव भवइ—इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि। पुट्ठो अहमसि—मैं शीतादि परीषहो मे स्पर्शित हो गया हू। खलु—अवधारणार्थ मे है। अहमसि—मैं। सीयफास—शीत स्पर्श को। अहियासितए—सहन करने मे। नाल—समर्थ नही हू। से—वह साधु। बसुमं—संयम रूप घन से युक्त। सव्वसमन्नागयपन्नाणेण—सब तरह से ज्ञान सम्पन्न होने से। अप्पाणेण—अपनी ज्ञान-निष्ठ आत्मा से। केइ—किसी उपसर्गादि के उपस्थित होने पर। अकरणयाए—औषधि के न करने से। आउट्टे—सयम मे ठहरता है—अवस्थित है। तवस्सिणो—उस तपस्वी को। हु—जिससे। तं—उसके लिये। सेय—मृत्यु श्रेयस्कर है। जमेगे—जो एक। विहमाइए—फासी लगा कर मर जाना। तत्थावि—वह मृत्यु। तस्स—जो कि उसका। कालपरियाए—काल पर्याय बनती है। सेऽवि—वह भी। तत्थ—उस समय। विअतिकारए—अन्त क्रिया करने वाला है। इच्चेय—यह पूर्वोक्त मृत्यु। विमोहायतणं—मोह के दूर करने का स्थान है। हिय—हितकारी है। सुहं—सुखकारी है। खम—यथार्थ। निस्सेसं—मोक्ष प्रदात्री है। आणुगामियं—साथ चलने वाली है। त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हू।

मूलार्थ—जिस भिक्षु को रोगादि के स्पर्श होनेसे अथवा शीतादि परीषहो से इस प्रकार के अध्यवसाय होते है कि मै शीतादि के स्पर्श को सहन नही कर सकता हू। फिर भी वह सयम एव ज्ञान सपन्न साधु किसी भी औषधि का सेवन न करके भी संयम मे स्थित है। उस तपस्वी मुनि को ब्रह्मचर्यादि की रक्षा के लिये फासी आदि से मृत्यु का आलिंगन करना भी श्रेयस्कर है। उस

की वह मृत्यु कर्म नाशक मानी गई है। वह मृत्यु उसके मोह को दूर करने वाली है। अतः उसके लिए वह मृत्यु हितकारी है, सुखकारी है और शक्ति एव मोक्ष प्रदायिनी है। वह सयम की रक्षा के लिए ऐसा कार्य करता है, अतः उससे निर्जरा एवं पुण्य बध भी होता है। इसलिए भवान्तर मे साथ जाने वाली भी है।

हिन्दी विवेचन

साधना के मार्ग मे अनेक परीषह उत्पन्न होते है, उन पर विजय पाने का प्रयत्न करना साधु का परम कर्तव्य है। परन्तु, अनुकूल या प्रतिकूल परीषहों से घबरा कर सयम का त्याग करना उसके लिए श्रेयस्कर नहीं है। अपने व्रतों से भ्रष्ट होने वाला साधक अपने जीवन का पतन करता है और भव भ्रमण को बढ़ाता है। अतः ऐसी स्थिति आने पर विषादि खाकर या अनशन करके मर जाना उसके लिए अच्छा है, परन्तु सयम पथ का त्याग करना अच्छा नहीं है। जिस समय राजमती को गुफा के एकान्त स्थान में देखकर रहनेमि विचलित हो उठता है और उससे विषय-भोग भोगने की प्रार्थना करता है, उस समय राजमती उसे सद्‌बोध देते हुए यही बात कहती है कि हे मुनि! तुझे धिक्कार है कि तू वमन किए—त्यागे हुए भोगों की पुन इच्छा करता है। इस जीवन को अपेक्षा तेरे लिए मर जाना श्रेयस्कर है†।

जैन आगमों मे आत्महत्या करने का निषेध किया गया है। विष खाकर या फासी लगा कर मरने वाले को बाल—अज्ञानी कहा गया है। परन्तु, विवेक एव ज्ञान पूर्वक धर्म एव सयम की सुरक्षा के लिए आत्महत्या करना पाप नहीं, बल्कि धर्म है। वह मृत्यु आत्मा का विकास करने वाली है।

अस्तु, प्रस्तुत सूत्र अपवाद स्वरूप है। धर्म संकट के समय ही साधक को विष-पान करके या गले में फंदा डालकर मरने की आज्ञा दी गई है। आगम मे कहा गया है कि भगवान ने दो प्रकार से मरने की आज्ञा नहीं दी है, परन्तु विशेष परिस्थिति मे उस का निषेध भी नहीं किया है*। इसी अपेक्षा से प्रस्तुत उद्देशक मे संयम को सुरक्षित रखने के लिए मृत्यु को स्वीकार करने की आज्ञा दी है। 'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

† धिरत्थु तेऽजसोकामी जो त जीविय कारणा,
वत इच्छसि आवेउ सेय ते मरणं भवे। दशवैकालिक, २,७।

* दो मरणाइ जाव णो णिच्च अब्भणुन्नाइ भवन्ति कारणेण पुण अप्पडिकुट्ठाइ तजहा—वेहाणसे चेव, गिद्धपिट्ठे चेव। —स्थानाङ्ग सूत्र, २, ४।

अष्टम अध्ययन–विमोक्ष

पंचम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक मे अभिग्रह निष्ठ मुनि के वस्त्र-पात्र की मर्यादा एवं संयम की रक्षा हेतु विषपान आदि के द्वाराप्राण त्याग का मार्ग बताया गया है। प्रस्तुत उद्देशक मे अभिग्रह निष्ठ मुनि का एवं पंडित मरण का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जे भिक्खू दोहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायत्तइएहिं तस्स णं नो एवं भवइ-तइयं वत्थं जाइस्सामि से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा जाव एवं खलु तस्स भिक्खुस्स सामग्गियं, अह पुण एवं जाणिज्जा-उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने,अहा परिज्जुन्नाइं वत्थाइं परिठ्ठविज्जा अहापरिज्जुन्नाइं परिट्ठवित्ता अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया, जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ पुट्ठो अबलो अहमंसि नालमहमंसि गिहंतर संकमणं भिक्खायरियं गमणाए. से एवं वयंतस्स परो अभिहडं असणं वा ४ आहट्टु दलइज्जा, से पुव्वामेव आलोइज्जा-आउसंतो ! नो खलु मे कप्पइ अभिहडं असणं ४ भुत्तए वा पायए वा अन्ने वा एयप्पगारे ॥२१३॥

छाया—यः भिक्षुः द्वाभ्यां वस्त्राभ्या पर्युपितः पात्रतृतीयाभ्या तस्य (ण) नैव भवति तृतीयं वस्त्र याचिष्यं तस्य अथैपणीयानि वस्त्राणि याचेत् यावत एव तस्य भिक्षोः सामग्र्यं अथ पुनरेवं जानीयात् अपक्रान्तः खलु हेमन्तः ग्रीष्मः प्रतिपन्न· यथा परिजीर्णानि वस्त्राणि परिष्ठापयेत् अथवा सान्तरोत्तरः अवमचेल अथवा एकशाटकः अथवा अचेलः लाघविकं आगमयन् तपः तस्य अभिसमन्वागतो भवति यदिद भगवता प्रवेदित तदेवाभिसमेत्य सर्वत सर्वात्मतया सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात् तस्य ण भिक्षोः एव भवति स्पृष्टः अबलः अहमस्मि नालमहमस्मि गृहान्तरं संक्रमितु भिक्षाचर्यया गमनाय तदेवं वदतः परः अभिहृतं अशनं वा ४ आहृत्य दद्यात् सः पूर्वमेव आलोचयेत् आयुष्मन्! न खलु मे कल्पते अभिहृतं अशनं वा ४ भोक्तु वा पातु वा अन्यद् वा एतत् प्रकारम् ।

पदार्थ—जे—जो । भिक्खू—भिक्षु-साधु । दोहिं वत्थेहिं—दो वस्त्रो और । परिवुसिए-युक्त है । पायत्तइएहिं—तृतीय तीसरे पात्र । ण—वाक्यालकार में है । तस्स—उस भिक्षु । नो एव भवइ—मन में यह भावना नही होती कि । तइय वत्थ जाइस्सामि—मैं तीसरे वस्त्र की याचना करूगा । से—वह भिक्षु । अहेसणिज्जाइ—यदि उसके दो वस्त्रो मे कमी हो तो वह निर्दोष । वत्थाइ—वस्त्रों की । जाइज्जा—याचना करे । जाव—यावत्-शेष विषय पूर्ववत समझें । एवखु—इस प्रकार निश्चय ही । तस्स—उस । भिक्खुस्स—भिक्षु का । सामग्गिय—यह आचार है । अह—अब । पुण—पुन· । एवजाणिज्जा—इस प्रकार जानना चाहिए कि । खलु—निश्चय ही । हेमते—हेमन्त काल । उव्वाइक्कन्ते—अतिक्रान्त व्यतीत हो गया है और । गिम्हे पडिवन्ने—गीष्म काल आगया है, तब । अहापरिजुन्नाइ वत्थाइ—वह परिजीर्ण हुए वस्त्रो का । परिट्ठविज्जा—परिष्ठापन करे त्याग करदे । अदुवा—अथवा । सतरुत्तरे—यदि शीतादि की सभावना हो तो वस्त्र धारण करे या अपने पास रखे । अदुवा—अथवा । ओमचेले—वस्त्र कम कर दे । अदुवा—अथवा । एक साडे—एक शाटक उत्तरीय वस्त्र चादर मात्रा रखे । अदुवा—अथवा । अचेले—मुख वस्त्रिका और रजोहरण को छोड कर अन्य सब वस्त्रो का त्याग करके अचेलक बन जाए । लाघविय—इस प्रकार लाघवता को । आगममाणे—प्राप्त हुए । से—मुनि को । तवे—तप-कायक्लेशरूप-तप । अभिसमन्नागए । सम्मुख । भवइ—होता है । जमेय—जिसका । भगवया—भगवान महावीर ने । पवेइय—प्रतिपादन किया है । तमेव—उसे । अभिसमिच्चा—सम्यक्तया भली-भाति जानकर । सव्वओ—

सर्व प्रकार से। सव्वत्ताए – सर्वात्मभाव से। सम्मत्तमेव – सम्यक्त्व या समभाव को। समभि-जाणिया – सम्यक् प्रकार से जाने। ण – वाक्यालकार मे है। जस्स – जिस। भिक्खुस्स – भिक्षु का। एव – इस प्रकार का अध्यवसाय। भवइ – होता है, कि। पुट्ठो – वातादि रोगो से स्पृष्ट होने से। अबलो अहमसि – मैं निर्बल हू अत.। गिहतर सकमण – एक घर से दूसरे घर मे संक्रमण करने-जाने को तथा। भिक्खायरिय – भिक्षाचरी–आहारादि गवेषणा के लिए घरो में। गमणाय – जाने के लिए। नालमहमसि – मैं समर्थ नही हू। से – उसे। एव – इस प्रकार। वयतस्स – बोलते हुए सुनकर। परो – गृहस्थ। अभिहड – जीवनादि का उपमदन करके बनाया हुआ। असण वा ४ – आहार-पानी आदि खाद्य पदार्थ। आहट्टु – घर से लाकर दलइज्जा – देवे। से – वह भिक्षु। पुव्वामेव – पहले ही। आलोइज्जा – यह विचार करे कि यह आहार दोष युक्त है, अत:। आउसंतो – हे आयुष्मन् गृहस्थ। खलु – निश्चयअर्थ मे जानना। अभिहड – सम्मुख लाया हुआ। असण वा ४ – आहारादि। भुत्तएवा – खाना। पायएवा – पीना। नो कप्पइ – नही कल्पता है तथा। एयप्पगारे – इसी प्रकार से। अन्ने वा – अन्य उद्गमादि दोषयुक्त आहार भी मुझे ग्रहण करना नही कल्पता है।

मूलार्थ—जो भिक्षु दो वस्त्र और तीसरे पात्र से युक्त है उसे यह विचार नही होता है कि मैं तोसरे वस्त्र की याचना करूगा। यदि उसके पास दो वस्त्रो से कम हो तो वह निर्दोष वस्त्र की याचना कर लेता है। जैसा कि पूर्व मे वर्णन कर चुके है। यह सब भिक्षु का आचार है। जब उसे यह प्रतीत हो कि अब हेमन्त काल, शीत काल व्यतीत होगया और ग्रीष्म काल-उष्णकाल आगया है, तब वह जीर्ण फटे पुराणो वस्त्रो का त्याग कर दे। यदि उसे शीतादि के पडने की सभावना हो तो वह ऐसा वस्त्र अपने पास रखले जो अधिक जीर्ण नही हुआ है या वह वस्त्र कम करदे या एक चादर मात्र अपने पास रखे या मुख वस्त्रिका और रजोहरण को छोड कर अवशिष्ट वस्त्र का त्याग करके अचेलक बन जावे। वह भिक्षु लाघवता प्राप्त करने के लिए वस्त्रो का परित्याग करे। वस्त्रपरित्याग से काय क्लेश रूप तप होता है। भगवान महा-वीर ने जिस आचार को प्रतिपादन किया है, उसका विचार करे और सर्व प्रकार तथा सर्वात्मभाव से सम्यक्त्व या समत्व-समभाव को

जाने। जिस भिक्षु का इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि मैं रोगादि के स्पर्श से दुर्वल होने से एक घर से दूसरे घर मे भिक्षा के लिए जाने मे असमर्थ हू। उसकी इस वाणी को सुनकर या भाव को समझ कर यदि कोई सद्गृहस्थ जीवो के उपमर्दन से सम्पन्न होने वाले अशनादि पदार्थ साधु के लिए वनाकर या अपने घर से लाकर उसे दे या उन्हे ग्रहण करने के लिए साधु से विनति करे, तो साधु पहले ही उस आहार को देखकर उस गृहस्थ से कहे कि हे आयुष्मान! मुझे यह लाया हुआ तथा इसी प्रकार का दूसरा सदोष आहारादि पदार्थ स्वीकार करना एव अपने उपभोग मे लेना नही कल्पता। अतः मैं इसे ग्रहण नही कर सकता।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र मे तीन वस्त्र रखने वाले मुनि का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र मे वताया गया है कि दो वस्त्र एव एक पात्र रखने वाला मुनि शीत आदि का परीषह उत्पन्न होने पर भी तीसरे वस्त्र की याचना न करे। वस्त्र सवधी पूरा वर्णन पूर्व सूत्र की तरह किया गया है।

यदि कभी वह अभिग्रह निष्ठ मुनि अस्वस्थ हो जाए और घरों मे आहार आदि के लिए जाने की शक्ति न रहे। वह भिक्षु ऐसा कहे कि मैं इस समय एक घर से दूसरे घर में भिक्षा के लिए नहीं जा सकता। उस समय उसके वचनों को सुनकर कोई सद्गृहस्थ अपने घरसे साधु के लिए भोजन वनाकर साधु के स्थान मे लाकर उसे दे, तो वह साधु उसे स्पष्ट शब्दों मे कहे कि मुझे ऐसा आहार ग्रहण करना नहीं कल्पता है। साधु के लिए आरम्भ करके बनाया गया आहार तथा यदि कभी निर्दोष आहार भी हो तो तब भी साधु के लिए उसके स्थान पर लाया हुआ आहार लेना नहीं कल्पता। क्योंकि, इसमे अनेक जीवों की हिंसा होती है और साधु आहार के दोषों की गवेषणा करके उनसे वच भी नहीं सकता है। इसलिए साधु अस्वस्थ अवस्था मे भी ऐसा सदोष आहार स्वीकार न करे परन्तु समभाव पूर्वक रोग एवं भूख के परीषह को सहन करे।

इसके अतिरिक्त अभिग्रह निष्ठ मुनि के अन्य कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए। सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स अयं पगप्पे-अहं च खलु पडि-

न्नत्तो अपडिन्नत्तेहिं गिलाणो अगिलाणेहिं अभिकंख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि, अहं वावि खलु अपडिन्नत्तो पडिन्नत्तस्स अगिलाणो गिलाणस्स अभिकख-साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए आहट्टु परिन्नं अणुक्खिस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि १, आहट्टु परिन्नं आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि २, आहट्टु परिन्नं नो आणक्खिस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि ३,आहट्टु परिन्नं नो आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि ४, एवं से अहा-किट्टियमेव धम्मं समभिजाणमाणे संते विरए सुसमाहियलेस्से तत्थावि तस्स कालपरियाए से तत्थ विअंतिकारए, इच्चेयं विमोहाययणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं त्तिबेमि ॥२१४॥

छाया—यस्य णं भिक्षोः अय प्रकल्प अहं च खलु प्रतिज्ञप्तः अप्रतिज्ञप्तैः ग्लानः अग्लानैः अभिकांच्य साधर्मिकै क्रियमाणं वैयावृत्यं स्वादयिष्यामि अहं चापि खलु अप्रतिज्ञप्तः प्रतिज्ञप्तस्य अग्लानः ग्लानस्य अभिकांच्य साधर्मिकस्य वैयावृत्यम् कुर्याम् करणाय आहृत्य प्रतिज्ञा अन्वेषयिष्यामि आहृत च स्वादयिष्यामि १ आहृत्य प्रतिज्ञां अन्वीच्छिष्ये आहृतं च नो स्वाद—यिष्यामि २ आहृत्य प्रतिज्ञां न अन्वीच्छिष्यामि आहृतं च न स्वादयिष्यामि ३ आहृत्य प्रतिज्ञा नान्नीक्षि आष्येहृतं च न स्वादयिष्यामि ४ एवं मः यथा कीर्तितमेव धर्म सम्यगभिजानन् शान्त विरतः सुसमाहितलेश्यः तत्रापि तस्य कालपर्यायः स तत्र व्यन्तिकारक इत्येतद् विमोहायतनं हित सुखं चमं निश्रेयस

जाने। जिस भिक्षु का इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि मैं रोगादि के स्पर्श से दुर्बल होने से एक घर से दूसरे घर मे भिक्षा के लिए जाने मे असमर्थ हू। उसकी इस वाणी को सुनकर या भाव को समझ कर यदि कोई सद्गृहस्थ जीवो के उपमर्दन से सम्पन्न होने वाले अशनादि पदार्थ साधु के लिए बनाकर या अपने घर से लाकर उसे दे या उन्हे ग्रहण करने के लिए साधु से विनति करे, तो साधु पहले ही उस आहार को देखकर उस गृहस्थ से कहे कि हे आयुष्मान ! मुझे यह लाया हुआ तथा इसी प्रकार का दूसरा सदोप आहारादि पदार्थ स्वीकार करना एव अपने उपभोग मे लेना नही कल्पता। अतः मैं इसे ग्रहण नही कर सकता।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र मे तीन वस्त्र रखने वाले मुनि का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि दो वस्त्र एव एक पात्र रखने वाला मुनि शीत आदि का परीषह उत्पन्न होने पर भी तीसरे वस्त्र की याचना न करे। वस्त्र सबधी पूरा वर्णन पूर्व सूत्र की तरह किया गया है।

यदि कभी वह अभिग्रह निष्ठ मुनि अस्वस्थ हो जाए और घरो मे आहार आदि के लिए जाने की शक्ति न रहे। वह भिक्षु ऐसा कहे कि मैं इस समय एक घर से दूसरे घर मे भिक्षा के लिए नहीं जा सकता। उस समय उसके वचनों को सुनकर कोई सद्गृहस्थ अपने घरसे साधु के लिए भोजन बनाकर साधु के स्थान मे लाकर उसे दे, तो वह साधु उसे स्पष्ट शब्दों मे कहे कि मुझे ऐसा आहार ग्रहण करना नहीं कल्पता है। साधु के लिए आरम्भ करके बनाया गया आहार तथा यदि कभी निर्दोष आहार भी हो तो तब भी साधु के लिए उसके स्थान पर लाया हुआ आहार लेना नहीं कल्पता। क्योंकि, इसमे अनेक जीवों की हिंसा होती है और साधु आहार के दोषों की गवेषणा करके उनसे बच भी नहीं सकता है। इसलिए साधु अस्वस्थ अवस्था मे भी ऐसा सदोप आहार स्वीकार न करे परन्तु समभाव पूर्वक रोग एवं भूख के परीषह को सहन करे।

इसके अतिरिक्त अभिग्रह निष्ठ मुनि के अन्य कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए। सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स अयं पगप्पे-अहं च खलु पडि-

न्नत्तो अपडिन्नत्तेहिं गिलाणो अगिलाणेहिं अभिकंखं साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि, अहं वावि खलु अपडिन्नत्तो पडिन्नत्तस्स अगिलाणो गिलाणस्स अभिकंखसाहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए आहट्टु परिन्नं अणुक्खिस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि १, आहट्टु परिन्नं आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि २, आहट्टु परिन्नं नो आणक्खिस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि ३,आहट्टु परिन्नं नो आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि ४, एवं से अहाकिट्टियमेव धम्मं समभिजाणमाणे संते विरए सुसमाहियलेस्से तत्थावि तस्स कालपरियाए से तत्थ विअंतिकारए, इच्चेयं विमोहाययणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं त्तिबेमि ॥२१४॥

छाया—यस्य णं भिक्षोः अय प्रकल्प अहं च खलु प्रतिज्ञप्तः अप्रतिज्ञप्तैः ग्लानः अग्लानैः अभिकांच्य साधर्मिकै क्रियमाणं वैयावृत्यं स्वादयिष्यामि अहं चापि खलु अप्रतिज्ञप्तः प्रतिज्ञप्तस्य अग्लानः ग्लानस्य अभिकांच्य साधर्मिकस्य वैयावृत्यम् कुर्याम् करणाय आहृत्य प्रतिज्ञा अन्वेषयिष्यामि आहृत च स्वादयिष्यामि १ आहृत्य प्रतिज्ञां अन्वीक्षिष्ये आहृतं च नो स्वादयिष्यामि २ आहृत्य प्रतिज्ञां न अन्वीक्षिष्यामि आहृतं च न स्वादयिष्यामि ३ आहृत्य प्रतिज्ञा नान्वीक्षि आष्येहृतं च न स्वादयिष्यामि ४ एवं सः यथा कीर्तितमेव धर्म सम्यगभिजानन् शान्त. विरतः सुसमाहितलेश्यः तत्रापि तस्य कालपर्यायः स तत्र व्यन्तिकारक इत्येतद् विमोहायतनं हित सुखं क्षमं निश्रेयस

जाने। जिस भिक्षु का इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि मै रोगादि के स्पर्श से दुर्बल होने से एक घर से दूसरे घर मे भिक्षा के लिए जाने मे असमर्थ हू। उसकी इस वाणी को सुनकर या भाव को समझ कर यदि कोई सद्गृहस्थ जीवो के उपमर्दन से सम्पन्न होने वाले अशनादि पदार्थ साधु के लिए बनाकर या अपने घर से लाकर उसे दे या उन्हे ग्रहण करने के लिए साधु से विनति करे, तो साधु पहले ही उस आहार को देखकर उस गृहस्थ से कहे कि हे आयुष्मान ! मुझे यह लाया हुआ तथा इसी प्रकार का दूसरा सदोष आहारादि पदार्थ स्वीकार करना एव अपने उपभोग मे लेना नही कल्पता। अतः मैं इसे ग्रहण नही कर सकता।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र मे तीन वस्त्र रखने वाले मुनि का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि दो वस्त्र एव एक पात्र रखने वाला मुनि शीत आदि का परीषह उत्पन्न होने पर भी तीसरे वस्त्र की याचना न करे। वस्त्र सबधी पूरा वर्णन पूर्व सूत्र की तरह किया गया है।

यदि कभी वह अभिग्रह निष्ठ मुनि अस्वस्थ हो जाए और घरों मे आहार आदि के लिए जाने की शक्ति न रहे। वह भिक्षु ऐसा कहे कि मैं इस समय एक घर से दूसरे घर मे भिक्षा के लिए नहीं जा सकता। उस समय उसके वचनों को सुनकर कोई सद्गृहस्थ अपने घरसे साधु के लिए भोजन बनाकर साधु के स्थान मे लाकर उसे दे, तो वह साधु उसे स्पष्ट शब्दों मे कहे कि मुझे ऐसा आहार ग्रहण करना नहीं कल्पता है। साधु के लिए आरम्भ करके बनाया गया आहार तथा यदि कभी निर्दोष आहार भी हो तो तब भी साधु के लिए उसके स्थान पर लाया हुआ आहार लेना नहीं कल्पता। क्योंकि, इसमें अनेक जीवों की हिंसा होती है और साधु आहार के दोषों की गवेषणा करके उनसे बच भी नहीं सकता है। इसलिए साधु अस्वस्थ अवस्था मे भी ऐसा सदोष आहार स्वीकार न करे परन्तु समभाव पूर्वक रोग एवं भूख के परीषह को सहन करे।

इसके अतिरिक्त अभिग्रह निष्ठ मुनि के अन्य कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए। सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स अयं पगप्पे-अहं च खलु पडि-

न्नत्तो अपडिन्नत्तेहिं गिलाणो अगिलाणेहिं अभिकंखं साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि, अहं वावि खलु अपडिन्नत्तो पडिन्नत्तस्स अगिलाणो गिलाणस्स अभिकंख-साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए आहट्टु परिन्नं अणुक्खिस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि १, आहट्टु परिन्नं आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि २, आहट्टु परिन्नं नो आणक्खिस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि ३, आहट्टु परिन्नं नो आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि ४, एवं से अहाकिट्टियमेव धम्मं समभिजाणमाणे संते विरए सुसमाहियलेस्से तत्थावि तस्स कालपरियाए से तत्थ विअंतिकारए, इच्चेयं विमोहाययणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं त्तिवेमि ॥२१४॥

छाया—यस्य णं भिक्षो. अय प्रकल्प अहं च खलु प्रतिज्ञप्तः अप्रतिज्ञप्तैः ग्लानः अग्लानैः अभिकांच्य साधर्मिकैः क्रियमाणं वैयावृत्यं स्वादयिष्यामि अहं चापि खलु अप्रतिज्ञप्तः प्रतिज्ञप्तस्य अग्लानः ग्लानस्य अभिकांच्य साधर्मिकस्य वैयावृत्यम् कुर्याम् करणाय आहृत्य प्रतिज्ञा अन्वेषयिष्यामि आहृत च स्वादयिष्यामि १ आहृत्य प्रतिज्ञां अन्वीक्षिष्ये आहृतं च नो स्वादयिष्यामि २ आहृत्य प्रतिज्ञां न अन्वीक्षिष्यामि आहृतं च न स्वादयिष्यामि ३ आहृत्य प्रतिज्ञा नान्वीक्षि आण्येहृतं च न स्वादयिष्यामि ४ एवं मः यथा कीर्तितमेव धर्मं सम्यगभिजानन् शान्त. विरतः सुसमाहितलेश्यः तत्रापि तस्य कालपर्यायः स तत्र व्यन्तिकारक इत्येतद् विमोहायतनं हित सुखं क्षमं निश्रेयस

आनुगामिकमिति ब्रवीमि ।

पदार्थ—ण—वाक्यालकार मे है। जस्स—जिस । भिक्खुस्स—भिक्षु का । अयं—यह–वक्ष्यमाण । पगप्पे—आचार है। च—समुच्चयार्थ में । खलु—वाक्यालकारार्थ में है। अहं—मैं अन्य के द्वारा की हुई वैयावृत्य को। पडिन्नत्तो—स्वीकार करूगा। अपडिन्नत्तेहिं—उनसे यह नही कहूगा कि तुम मेरी वैयावृत्यकरो, अर्थात् वे अप्रतिज्ञप्त हैं । गिलाणे—मैं ग्लान हू पर। अगिलाणेहिं—अग्लानो से । अभिकख—उद्देश्य करके । साहम्मिएहिं—सहधर्मियो–समानधर्मियो से। कीरमाण—करता हुआ । वेयावडियं—वैयावृत्य की। साइज्जिस्साभि—इच्छा करूगा, जिस भिक्षु का यह आचार है वह उसका पालन करता हुआ भक्त परिज्ञा से। मृत्यु प्राप्त करे किन्तु प्रतिज्ञा का भंग न करे। खलु—वाक्यालकार अर्थ मे । अवि—पुन. अर्थ मे जानना। व—समुच्चार्थक है। अहं—मैं। अप्पडिन्नत्तो—अविहित । पडिन्नत्तस्स—वैयावृत्य करने के लिये कहे हुए के प्रति। अगिलाणो—मैं अग्लान हू । गिलाणस्म—ग्लान की निजरा के लिये वैयावृत्यकरूगा। अभिकख—उद्देश करके। साहम्मियस्स—सहधर्मी की। वेयावडियं—वैयावृत्य। कुज्जा—करूंगा, किस लिये ? करणाए—उपकार आदि करने के लिये । परिन्न—प्रतिज्ञा को। आहट्टु—ग्रहण करके वैयावृत्य करे । आणुविखस्मामि—पर सहधर्मी के लिये आहारादि का अन्वेषण करूगा। च—और । आहड—परका लाया हुआ आहार । साइ-ज्जिस्सामि—मैं आस्वादन नही करूगा । आहट्टुपरिन्न—एक साधु इस प्रकार की प्रतिज्ञा करता है। आहट्टु—अन्य साधु के लिये। अणुविखस्सामि—अन्वेषण करूगा, किन्तु । आहडं च—उसके लाए हुए आहारादि का। नो साइज्जिस्सामि—मैं आस्वादन नही करूंगा । आहट्टु-परिन्न—कोई यह प्रतिज्ञा करता है कि। नो आणविखस्सामि—मैं अन्य साधु के लिये आहार आदि की गवेषणा नही करूगा किन्तु। आहडं च साइज्जिस्सामि—उनके लाए हुए आहारादि का आस्वादन करूगा। आहट्टुपरिन्न—कोई मुनि यह प्रतिज्ञा करता है कि। नो आण-विखस्सामि—मैं अन्य के लिए आहारादि का अन्वेषण नही करूंगा और। आहडं च नो साइज्जि-स्सामि—न उनका लाया हुआ ही खाऊगा इस तरह भिक्षु विविध प्रतिज्ञाओ को ग्रहण करके कभी ग्लान होने पर जीवन का भले ही परित्याग करदे, किन्तु प्रतिज्ञा का भग न करे। एव—उक्त विधि से। से—वह भिक्षु । आहाकिट्टियमेव—भगवान द्वारा परूपित । धम्मं—धर्म के स्वरूप को। समभिजाणमाणे—अच्छी तरह से जानता हुआ और उसका आसेवन करता हुआ विचरे। शेष वर्णन पूर्व कथित चतुर्थ उद्देशक की तरह समझें, तथा। सन्ते—कषायो के उपशम से शान्त। विरए—सावद्यानुष्ठान से विरत । सुसमाहिलेसे—सुसमाहित लेश्या वाला जिसने तेजो लेश्या आदि लेश्याओ का भली प्रकार से संग्रह किया है, उसका नाम सुसमाहित लेश्या है। तत्थावि—भक्त परिज्ञा में। तस्स—उसकी। कालपरियाए—मृत्यु का अवसर, निर्जरा के लिए होता है, अत । से—वह भिक्षु । तत्थ—अनशन करने पर । विअतिकारए—यह

हिन्दी विवेचन

साधना का जीवन स्वावलम्वन का जीवन है। साधक कभी अपने समानधर्मी साधक का सहयोग लेता भी है, तो वह अदीनभाव से एव उसकी स्वेच्छा पूर्वक लेता है। वह न तो किसी पर दवाव डालता है और न वह दीन स्वर से गिडगिड़ाता ही है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने वताया है कि परिहार विशुद्ध चारित्र निष्ठ एव अभिग्रह संपन्न मुनियों के ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि मैं अस्वस्थ अवस्था मे किसी भी समानधर्मी मुनि को वैयावृत्य-सेवा के लिए नही कहूगा। यदि वह अपने कर्मों की निर्जरा के लिए सेवा करेगा तो उसे मैं स्वीकार करूगा और इसी तरह मैं भी यथा-समय उनकी सेवा करूगा। इस तरह वह अभिग्रह निष्ठ मुनि अपनी प्रतिज्ञा का पालन करे। कठिन से कठिन परिस्थित मे भी प्रतिज्ञा को भंग न करे।

सेवा करने के सवन्ध में चार भंग–विकल्प वताए गए है। कुछ मुनि ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं अपने समान धर्मी अन्य मुनियों के लिए आहार लाउंगा और उनका लाया हुआ आहार ग्रहण भी करूंगा। कुछ मुनि ऐसा नियम करते है कि मैं अन्य मुनियों को आहार ला दूंगा, परन्तु उनका लाया हुआ स्वीकार नहीं करूगा। कुछ मुनि ऐसा सकल्प करते हैं कि मैं दूसरों का लाया हुआ ले लूगा, परन्तु उन्हें लाकर नही दूंगा। कुछ ऐसा नियम करते हैं कि मैं न तो अन्य मुनि को आहार लाकर दूगा और न अन्य का लाया हुआ आहार स्वीकार ही करूगा।

भक्त परिज्ञा अनशन द्वारा पंडित मरण को प्राप्त करने वाले भिक्षु के लिए वताया गया है कि वह कम से कम ६ महीने तक, मध्यम ४ वर्ष और उत्कृष्ट १२ वर्ष तक तप करे। इस तरह ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप की साधना से कर्मों की निर्जरा करके साधक अपनी आत्मा का विकास करता है। इस लिए इस तरह से प्राप्त होने वाली मृत्यु को सुखकारी, हितकारी एव कल्याणकारी कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि तपस्या से पाप मल नष्ट होता है और पाप मल के नाश होने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध हृदय वाला व्यक्ति ही समाधिमरण को प्राप्त करता है।

निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक मुनि को अपनी ली हुई प्रतिज्ञा का दृढ़ता से पालन करते हुए भक्तपरिज्ञा अनशन के द्वारा समाधि मरण को प्राप्त करना चाहिए।

त्तिवेमि की व्याख्या पूर्ववत समझे।

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन–विमोक्ष

षष्ठ उद्देशक

पंचम उद्देशक में यह बताया गया है कि साधु अस्वस्थ अवस्था में भी अपने व्रतों एवं नियमों पर दृढ़ रहते हुए भक्त प्रत्याख्यान अनशन के द्वारा समाधि मरण को प्राप्त करे। अब प्रस्तुत उद्देशक में एकत्व भावना का चिन्तन करते हुए इङ्गित मरण के द्वारा समाधि मरण को प्राप्त करने का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिए पायबिइएण तस्स ण नो एवं भवइ बिइयं वत्थं जाइस्सामि से अहेसणिज्जं वत्थं जाइज्जा अहापरिग्गहियं वत्थं धारिज्जा जाव गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नं वत्थं परिट्ठविज्जा अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे जाव सम्मत्तमेव समभि—जाणिया ॥२१५॥

छाया—यः भिक्षुः एकेन वस्त्रेण पर्युषितः पात्रद्वितीयेन तस्य नैव भवति, द्वितीय वस्त्र याचिष्ये, स अथैषणीयं वस्त्रं याचेत् यथा परिगृहीतं वस्त्र धारयेत् यावत् ग्रीष्मः प्रतिपन्नः यथा परिजीर्णवस्त्रं परिष्ठापयेत् अथवा एकशाटकः अथवा अचेलः लाघविकम् आगमयन् यावत् सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात्।

पदार्थ—जे—जो। भिक्खू—भिक्षु-साधु। एकेण वत्थेण—एक वस्त्र और। पा बिईएण—द्वितीय पात्र से। परिवुसिए—युक्त है। ण—वाक्यालंकार है। तस्स—उस भिक्षु के मन में। एवं—इस प्रकार का। नो भवइ—विचार नहीं होता है कि वह शीतादि के लगने पर मैं। बिइय—द्वितीय। वत्थ—वस्त्र की। जाइस्सामि—याचना करूंगा, यदि उसका वस्त्र जीर्ण हो गया है तो। से—वह। अहेसणिज्जं वत्थं जाइज्जा—

एषणीय वस्त्र की याचना करे, और। अहापरिग्गहिय—याचना करने पर जैसा उसे वस्त्र मिले। वत्थ—वैसे ही वस्त्र को। धारिज्जा—धारण करे। जाव—यावत्। गिम्हे पडिवन्ने—ग्रीष्म काल आ गया हो, तव। अहापरिजुन्नं—जो वस्त्र सर्वथा जीर्ण हो चुका है। वत्थ—उस वस्त्र को। परिट्ठविज्जा—परिष्ठापित करदे—त्याग दे। अदुवा—अथवा। एगसाडे—एक चादर रक्खे। अदुवा—अथवा। अचेले—वस्त्र का त्याग करके अचेलक वन जाए और वह। लाघविय—लाघवता को। आगममाणे—जानता हुआ। जाव—यावत्। सम्मत्तमेव—सम्यक्त्व या समभाव को। समभिजाणिया—सम्यक्तया जाने।

मूलार्थ—जो भिक्षु एक वस्त्र और दूसरे पात्र से युक्त है। उस को इस प्रकार का अध्यवसाय उत्पन्न नही होता कि शीतादि के लगने पर मैं दूसरे वस्त्र की याचना करूगा। यदि उसका वस्त्र सर्वथा जीर्ण हो गया है तो फिर वह दूसरे वस्त्र की याचना कर सकता है। याचना करने पर उसे जैसा वस्त्र मिले वह उसे उसी रूप मे धारण करे और ग्रीष्म ऋतु के आजाने पर जीर्ण वस्त्र को त्याग दे या एक शाटक—चादर रखे या अचेलक बन जाए। इस प्रकार वह लाघवता को प्राप्त होता हुआ सम्यक्तया समभाव को जाने।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे अभिग्रह निष्ठ मुनि का वर्णन करते हुए वताया गया है कि जिस मुनि ने एक वस्त्र और एक पात्र रखने की प्रतिज्ञा की है, वह मुनि सर्दी लगने पर दूसरा वस्त्र लेने की भावना न करे। प्रस्तुत अध्ययन के चौथे उद्देशे मे तीन वस्त्र की और पाचवे उद्देशक मे दो वस्त्रों की प्रतिज्ञा करने वाले मुनियों का वर्णन किया गया है और प्रस्तुत उद्देशक मे एक वस्त्र रखने वाले मुनि का वर्णन है। उत्तरोत्तर वस्त्र की सख्या मे कमी का उल्लेख किया गया है, शेष वर्णन पूर्ववत् ही समझना चाहिए।

यह हम पहले वता चुके हैं कि आत्म-विकास के लिए समभाव की आवश्यकता है। वस्त्र-पात्र आदि उपकरण शरीर सुरक्षा के लिए आवश्यक हैं। अत जव तक साधक शीत आदि के परीषह को समभाव पूर्वक सहन करने में सक्षम नहीं है तथा लज्जा को नहीं जीत सकता है, तव तक उसे वस्त्र रखने की आवश्यकता है। इन कारणों के अभाव मे अर्थात् पूर्ण सक्षम होने पर वस्त्र की आवश्यकता नहीं रहती है। अत ऐसी स्थिति मे वह मुखवस्त्रिका एव रजोहरण—जो शरीर रक्षा के लिए नहीं

जीव रक्षा के लिए हैं, को छोड़कर शेष वस्त्रों का त्याग करके आत्म चिन्तन में संलग्न रहे।

साधक को आत्म-चिन्तन कैसे करना चाहिए, इस विषय में सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ एगे अहमंसि न मे अत्थि कोइ न याहमवि कस्सवि, एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा, लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ जाव समभिजाणिया ॥२१६॥

छाया—यस्य णं भिक्षोरेव भवति एकोऽहमस्मि नमेऽस्ति कोपि, न चाहमपि कस्यापि एव स एकाकिनमेवं आत्मानं समभिजानीयात् लाघविकं आगमयन् तपः तस्य अभिमनन्वागत भवति यावत् समभिजानीयात्।

पदार्थ—ण—यह वाक्यालंकार मे है। जस्स—जिम का विचार। भिक्खुस्स—भिक्षु को। एव—इस प्रकार। भवइ—होता है कि। एगे अहमसि—मैं अकेला हू। न मे अत्थि-कोइ—मेरा कोई नही है और। नयाहमवि—न मैं भी। कस्सवि—किसी का हू। एव—इस प्रकार। से—वह साधु। एगागिणमेव—अकेला ही। अप्पाणं—अपनी आत्मा को। समभि-जाणिज्जा—सम्यक् प्रकार से जाने। लाघविय—लाघवता को। आगममाणे—जानता हुआ व पालन करता हुआ। से—उसके। तवे—तप। अभिसमन्नागए भवइ—अभिमुख-सम्मुख होता हैं। जाव—यावत्। समभिजाणिया—सम्यक् दृष्टि भाव को व समभाव को सम्यक्-तया जाने।

मूलार्थ—जिस भिक्षु का इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि मैं अकेला हू, मेरा कोई नही है और न मै भी किसी का हू। इस प्रकार वह भिक्षु एकत्व भाव से सम्यक्तया आत्मा को जाने। क्योकि आत्मा मे लाघवता को उत्पन्न करता हुआ वह तप के सम्मुख होता है। अतः वह सम्यक्तया समभाव को जाने। जिससे वह आत्मा का विकास कर सके।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे आत्मा के एकत्व भाव के चिन्तन का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि साधक को यह सोचना-विचारना चाहिए कि इस संसार मे मेरा कोई सहयोगी

नहीं है और न मैं भी किसी का साथ दे सकता हूँ। क्योंकि प्रत्येक आत्मा अपने कृत कर्म के अनुसार सुख-दु ख का वेदन करती है। अत कोई भी शक्ति उसमें परिवर्तन नहीं कर सकती है। स्वय आत्मा ही अपने सम्यक पुरुषार्थ के द्वारा उस कर्म-बन्धन को तोड़कर मुक्त वन सकता है। इसलिए यह आत्मा अकेला ही सुख-दु ख का संवेदन करता है और कर्म बन्ध का कर्ता एवं हर्ता भी यह अकेला ही है। इस प्रकार अपने एकाकीपन का चिन्तन करने वाला साधक प्रत्येक परिस्थिति मे सयम में संलग्न रहता है, वह परीषहों से घबराता नही। अत साधक को सदा एकत्व भावना का चिन्तन करना चाहिए।

चिन्तन शील साधक को आहार कैसे करना चाहिए। इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा४ आहारेमाणे नो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारिज्जा आसाएमाणे दाहिणाओ वामं हणुयं नो संचारिज्जा आसाएमाणे, से अणासाए-माणे लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ, जमेयं भगवया पवेइयं तमेवं अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्त मेव समभिजाणिया ॥२१७॥

छाया—स भिक्षुः वा भिक्षुणी वा अशनं वा ४ आहारयन्नो वामतो हनुतो दक्षिणा हनु संचारयेत् आस्वादयन् दक्षिणतो वामा हनु (क) नोसंचारयेत् आस्वादयन स अनास्वादयन् लाघविकं आगमयन् तपःतस्य अभिसमन्वागतो भवति यदिद भगवता प्रवेदित तदिदं अभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—भिक्षु या। भिक्खुणी वा—भिक्षुणी-साध्वी। असण वा—आहार-पानी, खादिम, स्वादिम आदि पदार्थों। आहारेमाणे—का उपभोग करते समय। वामाओ हणुयाओ—वाए कपोल से। दाहिणं हणुयं—दाहिने कपोल मे। आसाए-माणे—आस्वादन करता हुआ। नो सचारिज्जा—सचार न करे और। आसाएमाणे—उन पदार्थों का आस्वादन करता हुआ। दाहिणाओ—दाहिने कपोल से। वाम हणुयं—वाए कपोल में। नो सचारिज्जा—सचार न करे। से—परन्तु वह साधु। अणासायमाणे।

अनास्वादन करता हुआ—पदार्थों का स्वाद न लेते हुए आहार करे। लाघविय आगममाणे—क्यो कि आहार की लाघवता को जानता हुआ। से—वह। तवे—तप के। अभिसमन्नागए भवइ—सन्मुख होता है। जमेय भगवया—भगवान ने जो भाव। पवेइय—प्रतिपादन किया है। तमेव—उस विषय को। अभिसमिच्चा—विचार कर। सव्वओ—साधक सर्व प्रकार से। सव्वत्ताए—सर्वात्मा से। सम्मत्तमेव—समभाव को। समभिजाणिया—सम्यक्तया जाने।

मूलार्थ—वह साधु या साध्वी आहार-पानी, खादिम और स्वादिम आदि पदार्थों का उपभोग करते समय बाए कपोल से दहिने कपोल की ओर दाहिने से बाए कपोल की ओर आस्वादन करता हुआ सचार न करे। किन्तु वह आहार का आस्वादन न करता हुआ आहार की लाघवता को जानकर तप के सन्मुख होता है। जिस प्रकार श्रमण भगवान महावीर ने प्रतिपादन किया है उसे साधु सर्व प्रकार और सर्वात्मभाव से सम्यक्तया जानने एव समताभाव का परिपालन करने का प्रयत्न करे।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि आसक्ति एवं तृष्णा कर्म बन्ध का कारण है। इस लिए साधक को अपने उपकरणों पर आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। इतना ही नहीं, अपितु खाद्य पदार्थों को भी आसक्त भाव से नहीं खाना चाहिए। साधु का आहार स्वाद के लिए नहीं, परन्तु संयम साधना के लिए है या यों भी कह सकते हैं कि संयम साधना और शरीर को व्यवस्थित रखने के लिए उसे आहार करना पडता है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधु को जैसा भी प्रासुक एवं एषणीय आहार उपलब्ध हुआ हो वह से बिना स्वाद लिए ही ग्रहण करे। इसमे यह भी बताया गया है कि रोटी आदि के ग्रास—कोर को मुह मे एक ओर से दूसरी ओर न ले जाए अर्थात् इतनी जल्दी निगल जाए कि उस पदार्थ के स्वाद की अनुभूति मुह के जिस भाग मे कोर रखा है उसके अतिरिक्त दूसरे भाग को भी न हो।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'हनु' शब्द का अर्थ ठोड़ी नहीं, गाल (मुंह का भीतरी भाग) किया गया है और यही अर्थ यहा संगत बैठता है। भोजन का ग्रास मुंह मे रखा जाता है और वह मुह में एक गाल से दूसरे गाल की ओर फिरता जाता है। यहा ठोड़ी का अर्थ प्रसगोचित नहीं है।

इस प्रकार अनासक्त भाव से रूक्ष आहार करने से शरीर का रक्त एवं मांस

सूख जाता है, उस समय साधक के मन मे समाधि मरण की भावना उत्पन्न होती है। उसी भावना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ से गिलामि च खलु अहं इमंमि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेण परिवहित्तए से अणुपुव्वेणं आहारं संवट्टिज्जा अणुपुव्वेणं आहारं संवट्टित्ता कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिनिवुडच्चे ॥२१८॥

छाया—यस्य भिक्षोः एवं भवति तत् ग्लायामि च खलु अहं अस्मिन् समये इदं शरीरकं आनुपूर्व्या परिवोढु स भिक्षुः आनुपूर्व्या आहारसंवर्त्तयेत् आनुपूर्व्या आहार संवर्त्य कषायान् प्रतनून् कृत्वा समाहितार्चः फलकावस्थायी उत्थाय भिक्षुः अभिनिर्वृत्तार्च ।

पदार्थ—ण—वाक्यालकार में है। जस्स—जिस। भिक्खुस्स—भिक्षु का। एव भवइ—इस प्रकार का अभिप्राय होता हे, कि। च—समुच्चय अर्थ मे। से—तत् शब्द के अर्थ मे। यहा तत् शब्द वाक्योपन्यासार्थ में है। च—समुच्चयार्थ मे है। खलु—अवधारण अर्थ है। अह—मैं। इममि—इस। समए—समय मे। गिलामि—ग्लानि को प्राप्त हो रहा हू अत। इम सरीरग—इसलिए शरीर को। अणुपुव्वेणं—अनुक्रम से। परिबहित्तए—क्रियानुष्ठान मे नही लगा सकता। से—अत वह भिक्षु। अणुपुव्वेण—अनुक्रम से तप के द्वारा। आहार सवट्टिज्जा—आहार का सक्षेप करे और। अणुपुव्वेणं—अनुक्रम से। आहार—आहार का। सवट्टित्ता—सक्षेप करके। कसाए—कषाय को। पयणुएकिच्चा—स्वल्प करके। फलगावयट्ठी—फलक लकडी के फट्टे की तरह अवस्थित। उट्ठाय—मृत्यु के लिए उद्यत होकर। भिक्खू—भिक्षु। समाहियच्चे—समाधि को प्राप्त करे। अभिनिव्वुडच्चे—और शरीर के सन्ताप से रहित बने।

मूलार्थ—जिस भिक्षु का यह अध्यवसाय होता है कि इस समय मैं सयम साधना का क्रियानुष्ठान करते हुए ग्लानि को प्राप्त हो रहा हू।

रोग से पीड़ित हो गया हू। अतः मै इस शरीर को क्रियानुष्ठान मे भी नही लगा सकता हू। ऐसा सोचकर वह भिक्षु अनुक्रम से तप के द्वारा आहार का सक्षेप करे और अनुक्रमेण आहार सक्षेप करता हुआ कषायो को स्वल्प -कम करके आत्मा को समाधि मे स्थापित करे। रोगादि के आने पर वह फलकवत् सहनशील बनकर पंडित मरण के लिए उद्यत हो कर शरीर के सन्ताप से रहित बने। वह भिक्षु सयम मे सलग्न एवं नियमित क्रियानुष्ठान मे लगा रहने से समाधि पूर्वक इगित मरण को प्राप्त कर लेता है।

हिन्दी विवेचन

एकत्व भावना के चिन्तन मे सलग्न मुनि अनासक्त भाव से रूक्ष आहार करते हुए शरीर मे क्षीणता एव दुर्बलता का अनुभव करे और अपनी मृत्यु को निकट जान ले तो उस समय वह आहार का त्याग करके कषायों को उपशान्त करने का प्रयत्न करे। इस तरह कषायों को उपशान्त करने से उसे समाधि भाव की प्राप्ति होगी। क्योंकि, चित्त मे अशान्ति का कारण कषाय वृत्ति है, उसका नाश होते ही अशान्ति भी समाप्त हो जाएगी और साधक परम शान्ति को प्राप्त कर लेगा।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'समाहियच्चे' का अर्थ है — जिस साधक ने सम्यक्तया शरीर एव मन पर अधिकार कर लिया है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह निकला कि कषायो पर विजय पाने वाला साधक ही समाहियच्चे कहलाता है। 'फलगावयट्ठी' शब्द से यह बात परिपुष्ट होती है। जैसे काष्ठ फलक शीत-ताप आदि को बिना किसी हर्ष शोक के सहता है तथा कारीगर की आरी के नीचे आकर कटने पर भी अपने रूप मे रहता है। इसी तरह साधक को प्रत्येक स्थिति मे समभाव पूर्वक अपनी आत्म साधना मे स्थित रहना चाहिए। मान-सम्मान के समय न हर्ष करना चाहिए और न अपमान-तिरस्कार एव प्रहार के समय शोक या किसी पर द्वेष भाव लाना चाहिए।

इस तरह शारीरिक शक्ति का ह्रास हो जाने पर मुनि अनशन [illegible] स्वीकार करके समभाव पूर्वक समाधि मरण को प्राप्त करे। [illegible] करना चाहिए, इसका [illegible] करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

मूलम् — अणुपविसित्ता गामं वा नगरं वा खेडं वा कव्वडं वा

मडंवं वा पट्टणं वा दोणमुहं वा आगरं वा आसमं वा सन्निवेसं वा नेगमं वा रायहाणिं वा तणाइं जाइज्जा तणाइं जाइत्ता से तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा, एगंतमवक्कमित्ता अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए अप्पहरिए अप्पोसे अप्पोदए अप्पुत्तिंगपणग दगमट्टियमक्कड़ासंताणए पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तणाइं संथरिज्जा, तणाइं संथरित्ता इत्थवि समए इत्तरियं कुज्जा, तं सच्चं सच्चवाई ओए तिन्ने छिन्नकहंकहे आईयट्ठे अणाईए चिच्चाण भेउरं कायं संविहूय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अस्सिं विस्संभणयाए भेरवमणुचिन्ने तत्थावि तस्स कालपरियाए जाव अणुगामियं त्तिबेमि ॥२१६॥

छाया—अनुप्रविश्य ग्रामं वा नगरं वा खेटं वा कर्वटं वा मडपं वा पत्तनं वा द्रोणमुखं वा आकरं वा आश्रमं वा सन्निवेशं वा नैगमं वा राजधानी वा तृणानि याचेत, तृणाणि याचित्वा स तानि आदाय एकान्त अपक्रामेत् एकान्त अपक्रम्य अल्पांडे अल्पप्राणिनि अल्पबीजे अल्पहरिते अल्पावश्याये अल्पोदके अल्पोत्तिंगपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानके प्रत्युपेक्ष्य २ प्रमृज्य २ तृणानि संस्तीर्य अत्रापि समये इत्वरं कुर्यात् तत् सत्यं सत्यवादी ओज तीर्णः छिन्नकथंकथः अतीतार्थः अनातीतः त्यक्त्वा भिदुरं कायं संविधूय विरूपरूपान् परीषहोपसर्गान् अस्मिन् विस्रम्भणतया भैरवमनुचीर्णः तत्रापि तस्य कालपर्यायः यावत् आनुगामिकं इति ब्रवीमि।

पदार्थ—गामं वा—ग्राम में। वा—यह सर्वत्र पक्षान्तर का द्योतक है। नगरं वा—नगर में। खेडं वा—खेट मे। कव्वडं—कर्वट में। मडंवं—मडंब मे। पट्टणं वा—पत्तन में।

दोणमुह वा—द्रोणमुख में । आगरं वा—आकर मे—खान मे। आसमंवा—आश्रम मे। सन्निवेसंवा—सन्निवेश मे। नेगम वा—नैगम में। रायहाणिवा—राजधानी मे। अणुपविसित्ते—प्रवेश करके। तणाइ—तृणो की। जाइज्जा—याचना करे। तणाइ जाइत्ता—तृणो की। याचना करके। से—वह भिक्षु। तमायाए—उन तृणो को लेकर। एगत मवक्कमिज्जा—एकान्त गृह या गुफादि में चला जाए। एगतमवक्कमित्ता—वहा एकान्त मे जाकर। अप्पडं—जिस स्थान में अल्प अडे है। (यहा पर अल्प शब्द अभावार्थक है) अत: अडे रहित। अप्पपाणे—अल्प प्राणी। अप्पबीए—अल्प बीज। अप्पहरिए—अल्पहरी। अप्पोसे—अल्प ओस। अप्पोदए—अल्प उदक—पानी। अप्पुत्तिग—अल्प पिपीलिक--चीटिये। पणग—उल्ली विशेष। दग—पानी—। मट्टिय—सचित्त मिट्टी। मक्कडा सताणए—मर्कट सत्तानक-मकडी का जाला आदि से रहित स्थानो मे। पडिलेहिय २—प्रतिलेखना करे। पमज्जिय २—प्रमार्जन करे और प्रमार्जन करके। तणाई—तृणो को। संथरिज्जा—विछावे। तणाइ संथरित्ता—तृणो को बिछाकर फिर। इत्थवि—यहा पर भी। समए—इस समय में। इत्तरिय कुज्जा—इत्वर करे (पादोगमन की अपेक्षा से नियत देश प्रचारादि के अभ्युमगम से सम्पन्न होने वाले इगित मरण का नाम इत्वर है)। तं—वह-इगित मरण। सच्च—सत्य है। सच्चावाई—वह सत्यवादी है। ओए—राग-द्वेष से रहित है। तिण्णे—ससार-सागर से पार हो गया है। छिन्नकहंकहे—जिसने रागादि विकथा करनी छोड दी है। आईयट्ठे—जो जीवादि पदार्थो को जानने वाला है या जिसका कोई प्रयोजन शेष नही रहा। अणाईए—जो संसार से पार होने वाला। भेउर काय—जो विनाश होने वाली काया को। चिच्चाण—छोडकर और। विरूवरूवे—नाना प्रकार के। परीसहोवसग्गे—परीषहोपसर्गों को। सविहूय—सहन करके—अस्सि—इस सर्वज्ञ प्रणीत आगम मे। विस्सभणयाए—विश्वास होने से। भेरवमणुचिन्ने—भयानक-अनुष्ठान—इगित मरण को स्वीकार करता है। तत्थावि—रोगादि के उत्पन्न हो जाने पर उसने इस अनशन को स्वीकार किया है। तस्स—उस कालज्ञ भिक्षु का। काल परियाए—यह काल पर्याय। जाव- यावत्—शेष पाठ पूर्ववत समझे। अणुगामिय—पुण्योपार्जक होने से भवान्तर में साथ जाने वाला है। त्तिवेमि—इस प्रकार मैं कहता हू।

मूलार्थ—वह भिक्षु ग्राम, नगर, खेट, कर्बट, मण्डव, पत्तन, द्रोणमुख आकर-खान, आश्रम, सन्निवेश, नैगम और राजधानी इन स्थानो मे प्रवेश कर तथा उचित प्रासुक-जीवादि से रहित एवं निर्दोष घास की याचना करके उस घास को एकान्त स्थान मे ले जाएं। जहा पर अण्डे, प्राणी-जीव-जन्तु, बीज, हरी, ओस, जल, चीटिए, निगोद मिट्टी और

मकडी के जाले आदि न हो, उस स्थान को अपनी आखो से देखकर, रजोहरण से प्रमार्जन करके उस प्रासुक घास को बिछावे और उसे बिछाकर उचित अवसर मे इगित मरण स्वीकार करे। यह मृत्यु सत्य है। मृत्यु को प्राप्त करने वाला साधक सत्यवादी है, राग-द्वेष को क्षय करने मे प्रयत्नशील है। अतः वह ससार सागर से तैरने वाला है। उस ने विकथा आदि को छोड दिया है। वह जीवाजीवादि पदार्थो का ज्ञाता है और ससार से पारगामी है। वह सर्वज्ञप्रणीत आगम मे विश्वास रखता है, इसलिए वह इस नाशवान शरीर को छोड कर, नाना प्रकार के परीषहोपसर्गो को सहन करके इस इगितमरण—जो कि कायर पुरुषो द्वारा आदेय नही है—को स्वीकार करता है। अतः रोगादि के होने पर भी उसका काल पर्याय पुण्योपार्जक होता है। अतः वह पडितमरण भवान्तर मे साथ जाने वाला है। शेष पाठ पूर्ववत् समझे। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

जीवन के साथ मृत्यु का सम्बन्ध जुडा हुआ है। उसका आना निश्चित है। इसलिए साधक मृत्यु से घबराता नहीं। उसके लिए यह आदेश दिया गया है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप की साधना से वह अपने आपको पंडितमरण प्राप्त करनेके योग्य बनाए। साधना करते हुए जब उसका शरीर सूख जाए, इन्द्रियें शिथिल पड जाएँ शारीरिक शक्ति का ह्रास होने लगे, उस समय वह साधक जीवन पर्यन्त के लिए आहार आदि का त्याग करके समभाव पूर्वक आत्मचिन्तन में संलग्न होकर समाधिमरण की प्रतीक्षा करे।

ग्राम, खेट, कोट, पत्तन, द्रोणमुख, आकर खान, सन्निवेश, राजधानी आदि स्थानों मे से वह जिस किसी भी स्थान पर स्थित हो, वहां की भूमि की प्रतिलेखना कर लेनी चाहिए। भूमि प्रमार्जन के साथ पेशाव आदि का त्याग करने का स्थान भी भली-भांति देख लेना चाहिए। वहा पर जीव-जन्तु, हरी घास आदि न हों। ऐसे निर्दोष स्थान मे तृण की शय्या बिछाकर और नमोत्थुण का पाठ पढ़कर इङ्गित-मरण अनशन को स्वीकार करे।

इस तरह समभाव पूर्वक प्राप्त की गई मृत्यु आत्मा का विकास करने वाली है। इससे कर्मों का क्षय होता है और आत्मा शुद्ध एवं निर्मल बनती है। इस मृत्यु को वही व्यक्ति स्वीकार कर सकता है, जिस की आगम पर श्रद्धा-निष्ठा है। क्योंकि श्रद्धा-निष्ठ व्यक्ति ही परीषहों के उत्पन्न होने पर उन्हें समभाव पूर्वक सह सकता है और राग-द्वेष पर विजय पाने का प्रयत्न करता हुआ अपनी साधना में संलग्न रह सकता है।

यह अनशन सागारिक अनशन की तरह थोड़े समय के लिए नहीं, अपितु जीवन पर्यन्त के लिए होता है। इस अनशन के द्वारा साधक समाधि मरण को प्राप्त करता है।

॥ षष्ठम उद्देशक समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन—विमोक्ष

सप्तम उद्देशक

षष्ठ उद्देशक मे एक वस्त्रधारी मुनि एवं इंगित मरण अनशन का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक मे अचेलक मुनि एव पादोगमन अनशन के द्वारा समाधि मरण प्राप्त करने का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे भिक्खू अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ चाएमि अहं तणफासं अहियासित्तए, सीयफासं अहियासित्तए, तेउफासं अहियासित्तए, दंसमसगफासं अहियासित्तए, एगयरे अन्नतरे विरूवरूवे फासे अहियासित्तए, हिरिपडिच्छादणं चऽहं नो संचाएमि अहियासित्तए, एवं से कप्पेइ कडिबन्धणं धारित्तए ॥२२०॥

छाया—यो भिक्षुः अचेलः पर्युषितः तस्य भिक्षोः एवं भवति शक्नोमि अहं तृणस्पर्शं अधिसोढुम् (अध्यासयितु) शीतस्पर्शं अध्यासयितुं (अधिसोढु) तेज स्पर्शं (उष्णस्पर्श) अधिसोढु दंशमशकस्पर्शं अधिसोढु अध्यासयितु एकतरान् अन्यतरान् विरूपरूपान् स्पर्शान् अध्यासयितु ह्रीप्रच्छादनं तच्चाहं न शक्नोमि अध्यासयितुं एव तस्य कल्पते कटिबन्धन धर्तुम्।

पदार्थ—जे—जो प्रतिभासंपन्न। अचेले—अचेलक। भिक्खू—भिक्षु साधु। परिवुसिए—सयम मे अवस्थित है। णं—वाक्यालकार मे है। तस्स—उस। भिक्खुस्स—भिक्षु का। एव भवइ—इस प्रकार अभिप्राय होता है कि। अह—मैं। तणफासं—तृण के स्पर्श को। अहियासित्तए—सहन करने में। चाएमि—समर्थ हू। सीयफासे अहियासित्तए—शीत स्पर्श को सहन करने में। तेउफासं—उष्णस्पर्श को। अहियासित्तए—सहन करने मे।

दसमसगफास -- डास-मच्छर के स्पर्श को। अहियासित्तए—सहन करने में। एगयरे—एक जाति के स्पर्श। अन्नयरे—अन्य प्रकार के स्पर्श अनुकूल या प्रतिकूल। विरूवरूवे—नाना प्रकार के फासे—स्पर्शो को। अहियासित्तए—सहन करने मे समर्थ हू, किन्तु। अह—मैं। हिरि पडिच्छायण च—लज्जा के कारण गुह्य प्रदेश के आच्छादन रूप वस्त्र का परित्याग करने मे। नो सचाएमि—समर्थ नहीं हू। एव इस कारण से। से—उस भिक्षु को। कडिवधण—कटिवन्धन-चोलपट्टा। धरित्तए—धारण करना। कप्पेइ—कल्पता है।

मूलार्थ—जो प्रतिमासपन्न अचेलक भिक्षु सयम मे अवस्थित है और जिसका यह अभिप्राय होता है कि मै तृणस्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श, डास-मच्छरादि के स्पर्श, एक जाति के स्पर्श, अन्य जाति के स्पर्श और नाना प्रकार के अनुकूल या प्रतिकूल स्पर्शो को तो सहन कर सकता हू किन्तु मैं सर्वथा नग्न हो कर लज्जा को जीतने मे असमर्थ हू। ऐसी स्थिति मे उस मुनि का कटिवन्धन चोलपट्टा रखना कल्पता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे अचेलक मुनि का वर्णन किया गया है। इसमे बताया गया है कि जो मुनि शीत आदि के परीषहों को सहने मे तथा लज्जा को जीतने मे समर्थ है, वह वस्त्र का सर्वथा त्याग करदे। वह मुनि केवल मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण के अतिरिक्त कोई वस्त्र न रखे। परन्तु, जो मुनि लज्जा एवं घृणा को जीतने मे सक्षम नहीं है, वह कटिबन्ध अर्थात् चोल पट्टक (धोती के स्थान मे पहनने का वस्त्र) रखे और गांव या शहर मे भिक्षा आदि के लिए जाते समय उसका उपयोग करे। परन्तु, जगल एवं एकान्त स्थान मे निर्वस्त्र होकर साधना करे।

यह हम चौथे उद्देशक मे स्पष्ट कर चुके है कि साधना की सफलता या मुक्ति नग्नता मे है। वह नग्नता शरीर मात्र की नहीं, आत्मा की होनी चाहिए। जब आत्मा कर्म आवरण से सर्वथा अनावृत्त हो जाएगी तभी मुक्ति प्राप्त होगी और उसके लिए आवश्यक है राग-द्वेप को क्षय करना। यह क्रिया वस्त्र रहित भी की जा सकती है और वस्त्र सहित भी। मर्यादित वस्त्र रखते हुए भी जो साधु समभाव के द्वारा राग-द्वेप पर विजय पाने मे संलग्न है, उसकी साधना सफलता की ओर है और यदि कोई साधु वस्त्र का त्याग करके भी राग-द्वेप एव विषम भाव मे घूमता है तो उसकी साधना साध्य की ओर ले जाने वाली नहीं है। अत असाधुता वस्त्र में नहीं कषायों मे है, ममता मे है, राग-द्वेप मे है। इन विकारों से युक्त वस्त्र युक्त एव वस्त्र रहित कोई भी साधक

क्यों न हो वास्तव में वह साधुता से दूर है।

इससे स्पष्ट होता है कि वस्त्र केवल लज्जा एवं शीत निवारणार्थ है। इससे साधना का कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि परिग्रह पदार्थ मे नहीं, ममता मे है। आगमों एव तत्त्वार्थ सूत्र※ दोनों में मूर्च्छा को परिग्रह माना है। यदि शरीर पर एवं शुभ कार्य तपस्या आदि पर भी आसक्ति है, तो वहां भी परिग्रह लगेगा और यदि उन पर एवं वस्त्रों पर तथा अन्य उपकरणों पर ममत्व भाव नहीं है, तो परिग्रह नहीं लगेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि साधुत्व अनासक्त भाव मे है, राग-द्वेष से रहित होने की साधना मे है।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति सीयफासा फुसंति तेउफासा फुसंति दंसमसगफासा फुसंति एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ, अचेले लाघवियं आगममाणे जाव समभिजाणिया ॥२२१॥

छाया—अथवा तत्र पराक्रममाणं भूयः अचेलं तृणस्पर्शाः स्पृशन्ति, शीतस्पर्शाः स्पृशन्ति, तेजःस्पर्शा स्पृशन्ति, दशमशकस्पर्शाः स्पृशन्ति, एकतरान् अन्यतरान् विरूपरूपान् स्पर्शान् अधिसहते अचेलः लाघविकं आगमयन् यावत् समभिजानीयात्।

पदार्थ—अदुवा—अथवा। तत्थ—संयम मे। परक्कमंत—पराक्रम करते हुए मुनि को। भुज्जो—फिर। अचेल—अचेलक को। तणफासा—तृणो के स्पर्श। फुसंति—स्पर्शित होते हैं। सीयफासा—शीत स्पर्श। फुसंति—स्पर्शित होते हैं। तेउफासा—उष्ण स्पर्श। फुसति—स्पर्शित होते हैं। दसमसगफासा—दशमशक के स्पर्श। फुसति—स्पर्शित होते है। एगयरे—वह एक जाति के स्पर्शों को तथा। अन्नयरे—अन्य जाति के स्पर्शों को। विरूवरूवे—नाना प्रकार के। फासे—स्पर्शों को। अहियासेइ—सहन करता है, और अचेले—अचेल अवस्था में रहकर। लाघविय—कर्मों की लाघवता को। आगममाणे—जानता हुआ। जाव—यावत्। समभिजाणिया—सम्यक् दर्शन या समभाव को सर्व-प्रकार से जानता है।

※ जो दिगम्बर सम्प्रदाय को भी मान्य है।

मूलार्थ—यदि मुनि लज्जा को न जीत सके तो वस्त्र धारण करले और यदि वह लज्जा को जीत सकता है तो अचेलकता मे पराक्रम करे। जो मुनि अचेलक अवस्था मे तृणो के स्पर्श, शीत के स्पर्श, उष्ण के स्पर्श, डास-मच्छरादि के स्पर्श एक जाति के या अन्य जाति तथा नाना प्रकार के स्पर्शो के स्पर्शित होने पर उन्हे समभाव से सहन करता है। वह कर्मक्षय के कारणों का ज्ञाता मुनि सम्यग् दर्शन एव समभाव का परिज्ञान करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे इस वात को और स्पष्ट कर दिया गया है कि जो मुनि लज्जा एवं परीपहों को जीतने में समर्थ है वह वस्त्र का उपयोग न करे। इससे स्पष्ट हो गया कि वस्त्र केवल संयम सुरक्षा के लिए है, न कि शरीर की शोभा एवं शृंगार के लिए अत: साधु को सदा समभाव पूर्वक परीषहों को सहते हुए संयम में संलग्न रहना चाहिए। जो मुनि साधना के स्वरूप एवं समभाव को सम्यक्तया जानता है, वह परीषहों के उत्पन्न होने पर अपने पथ से विचलित नहीं होता है। अतः साधक को सदा समभाव की साधना में सलग्न रहना चाहिए। और यदि उसमें शीत आदि के परीषहों को एवं लज्जा को जीतने की क्षमता है तो उसे वस्त्र का त्याग कर देना चाहिए और यदि इतनी क्षमता नहीं है तो वह कम से कम कटिवन्ध (चोल पट्टक) या मर्यादित वस्त्र रख सकता है।

इसके वाद प्रतिभासम्पन्न मुनि के अभिग्रहों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्टु दलइस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि १ जस्स णं भिक्खुस्स एवंभवइ अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्टु दलइस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि २ जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं च खलु असणं वा ४ आहट्टु नो दलइस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि

३ जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्टु नो दलइस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि ४ अहं च खलु तेण अहाइरित्तेण अहेसणिज्जेण अहा परिग्गहिएणं असणेण वा ४ अभिकंख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए, अहंवावि तेण अहाइरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिएणं असणेण वा पाणेण वा ४ अभिकंख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि लाघवियं आगममाणे जाव सम्मत्तमेव समभिजाणिया ॥२२२॥

छाया—यस्य भिक्षोः एवं भवति-अहं च खलु अन्येभ्यो भिक्षुभ्यः अशनं वा ४ आहृत्य दास्यामि आहृतं च स्वादयिष्यामि यस्य भिक्षो, एव भवति-अह च खलु अन्येभ्यो भिक्षुभ्यः अशन वा ४ आहृत्यदास्यामि आहृतं च नो स्वादयिष्यामि २ यस्य च भिक्षोः एवं भवति अह च खलु अशनं वा आहृत्य नो दास्यामि आहृतं च स्वादयिष्यामि ३ यस्य भिक्षोः एव भवति अहं च खलु अन्येभ्यो भिक्षुभ्यः अशनं वा ४ आहृत्य नो दास्यामि आहृत च नो स्वादयिष्यामि ४ अह च खलु तेन यथातिरिक्तेन यथैषणीयेन यथापरिगृहीतेन अशनेन वा ४ अभिकाङ्क्ष्य साधर्म्मिकस्य वैयावृत्यं कुर्यात्, वैयावृत्य करणाय, अह वापि तेन् यथारिक्तेन यथैषणीयेन यथापरिगृहीतेन अशनेन वा पानेन वा ४ अभिकाङ्क्ष्य साधर्मिकैः क्रियमाणं वैयावृत्य स्वादयिष्यामि लाघविक आगमयन् यावत् सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात् ।

पदार्थ—णं—यह वाक्यालकार मे है। जस्स—जिस । भिक्खुस्स—भिक्षु का। एव भवइ—इस प्रकार का अभिप्राय होता है कि। च—पुन । खलु—अवधारण अर्थ मे है। अह—मैं । अन्नेसि—अन्य । भिक्खूण—भिक्षुओ को। असणं—अन्न-पानी, खादिम और स्वादिम पदार्थ। आहट्टु—लाकर । दलइस्सामि—दूंगा। च—और । आहड च—उनका

लाया हुआ। साइज्जिस्सामि—खा भी लूगा। जस्सण२ - जिस भिक्षु का। एव भवइ—इस प्रकार का अभिप्राय है कि। अहं च खलु—मैं । अन्नेसि—अन्य। भिक्खुण—भिक्षुओ को। असणं वा—अशनादि। आ हट्टु—लाकर। दलइस्सामि—दूगा। अ हुड च—परन्तु उनका लाया हुआ। नोसाइज्जिसामि—नही खाऊंगा। जस्सण भिक्खुस्स ३। जिस भिक्षु का। एव—भवइ—इस प्रकार का भाव होता है कि। अह च खलु—मैं। असण वा ४—अन्न-पानी, खादिम और स्वादिमादि पदार्थ। आहट्टु—अन्य साधु को लाकर। नो दलइस्सामि—नही दूंगा। आहड च साइज्जिस्सामि—परन्तु उनका लाया हुआ आहार खा लूगा ४। जस्सण भिक्खुस्स—जिस भिक्षु का। एव भवइ—इस प्रकार का अभिप्राय होता है। अह च खलु—मै। अन्नेसि—अन्य। भिक्खूण—भिक्षुओ को। असण वा—अन्न-पानी, खादिम, स्वादिमादि पदार्थ। आहट्टु—लाकर। नो दलइस्सामि—नही दू गा। आहड नो साइज्जिस्सामि—और न उनका लाया हुआ खाऊगा ही। अब इसके अतिरिक्त अन्य अभिग्रह के विषय मे कहते है। अह च खलु—मैं। तेण अहाइरित्तेण—अपने अधिक लाए हुए आहार से। अहेसाणज्जेण—निर्दोष आहार से। अहापरिग्गहिएणं—अपने लिए लाए हुए। असणेण वा ४—आहारादि चारो पदार्थों से और। अभिकख—निर्जरा का उद्देश्य करके। साहम्मियस्स—तथा सधर्मी के ऊपर उपकार। करणाय—करने के लिए उसकी। वेयावडिय—वैयावृत्य। कुज्जा—करूगा। अह वावि—मैं भी। तेण—उस अन्य मुनि के पास। अहाइरित्तेण—अधिक आहार आ जाने से। अहेसणिज्जेण—उसके निर्दोष आहार से। अहापरिग्गहिएणं—वह अपने लिए जो आहार लाया है उस मे से। असणेण वा पाणेण वा ४—अन्न-पानी आदि पदार्थ। अभिकख—निर्जरा का उद्देश करके। साहम्मिएहिं—सधर्मियो के द्वारा। कीरमाण—किए जाने वाली। वेयावडियं—वैयावृत्य को। साइज्जिसामि—स्वीकार भी करू गा। लाघवियं—इस तरह कर्मो की लाघवता को। आगममाणे—जानता हुआ अर्थात् कर्म क्षय करने के लिए। जाव—यावत्-शेष पाठ पूर्ववत् समझे। सम्मत्तमेव—सम्यग् दर्शन या समभाव को। समभिजाणिया—सम्यक् प्रकार से जाने।

मूलार्थ—जिस भिक्षु का यह अभिप्राय होता है कि मै अन्यभिक्षुओ को अन्नादि चतुर्विध पदार्थ लाकर दूगा और उनका लाया हुआ स्वीकार भी करूगा २ जिस भिक्षु का इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि मैं अन्य भिक्षुओ को आहारादि चार प्रकार के पदार्थ लाकर दूगा किन्तु उन. का लाया हुआ स्वीकार नही करूंगा। ३ जिस भिक्षु का इस प्रकार का प्रण होता है कि मैं अन्नादि चतुर्विध आहार अन्य साधु को लाकर नही

दूगा, किन्तु उनका लाया हुआ स्वीकार करलूगा । ४ जिस भिक्षु की यह प्रतिज्ञा होती है कि मै अन्य भिक्षुओ को अन्नादि चारो पदार्थ न लाकर दूगा और न उनका लाया हुआ स्वीकार ही करूगा । इसके अतिरिक्त उनके अन्य अभिग्रह का वर्णन भी किया गया । जैसे कि में अपने लिए लाए हुए अधिक निर्दोष एव यथा परिगृहीत आहार से निर्जरा को उद्देश्य करके या पर उपकार के लिए सधर्मी को वैयावृत्य करूगा या मैं अन्य के अधिक लाये हुए निर्दोष एव यथा परिगृहीत आहार से निर्जरा के कारण सधर्मियो द्वारा की जाने वाली वैयावृत्य को स्वीकार करूंगा और निर्जरा के लिए अन्य के द्वारा की जाने वाली वैयावृत्य का अनुमोदन भी करूगा। इस तरह कर्मो को लघुता को मानता हुआ यावत् सम्यग् दर्शन या समभाव को सम्यक्तया जाने ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अभिग्रह निष्ठ मुनि के आहार के सम्बन्ध में चारों भंग पूर्व के उदेशक की तरह ही वताए गए है। इसमे अन्तर इतना ही है कि पूर्व के उद्देशे मे केवल निर्जरा के लिए वैयावृत्य करने का उल्लेख किया गया था. और इस उद्देशे मे परोपकार एव निर्जरा दोनों दृष्टियों से वह वैयावृत्य करता है या दूसरे समानधर्मी साधु से वैयावृत्य करवाता भी है। वह यह भी निश्चय करता है कि मैं अपने साधुओं की वीमारी के समय आहार आदि से वैयावृत्य करूंगा या जो साधु वैयावृत्य कर रहा है, उसकी प्रशसा भी करूगा। इस तरह वैयावृत्य में परोपकृति एवं कर्म निर्जरा दोनों की प्रधानता निहित है। इस तरह मन, वचन और शरीर से सेवा करने, कराने एवं अनुमोदना करने वाले साधक के मन में एक अपूर्व आनन्द एवं स्फूर्ति की अनुभूति होती है और उससे उसके कर्मों को निर्जरा होती है। अस्तु, सेवाभाव से साधक की साधना मे तेजस्विता आती है और उसकी साधना अन्तर्मुखी होती जाती है। इससे वह कर्मों से हल्का वनकर आत्म-विकास की ओर वढ़ता है। अत साधक को अपनी स्वीकृत प्रतिज्ञा का दृढ़ता से परिपालन करना चाहिए।

मुनि को रोग आदि के उत्पन्न होने पर घबराना नहीं चाहिए। यदि अन्तिम समय निकट प्रतीत हो तो उसे अन्य ओर से अपना ध्यान हटाकर समभाव पूर्वक पडित-मरण का स्वागत करना चाहिए। इस विषय का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-से गिलामि खलु अहं इमम्मि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेणं परिवहित्तए, से अणुपुव्वेणं आहारं संवट्टिज्जा २ कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिनिव्वुडच्चे अणुपविसित्ता गामं वा नगरं वा जाव रायहाणिं वा तणाइं जाइज्जा जाव संथरिज्जा, इत्थवि समये कायं च जोगं च इरियं च पच्चक्खाइज्जा, तं सच्चं सच्चावाई ओए तिन्ने छिन्नकहकहे आइयट्ठे अणाईए चिच्चाण भेउरं कायं संविहुणिय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अस्सिं विसंभणयाए भेरवमणुचिन्ने तत्थवि तस्स कालपरियाए से वि तत्थ विअन्तिकारए इच्चेयं विमोहाययणं हियं सुहं खमं निस्सेसं अणुगामियं तिबेमि ॥२२३॥

छाया—यस्य भिक्षोः एवं भवति अथ ग्लायामि खलु अस्मिन् समये इद शरीरक आणुपूर्व्या परिवोढु आनुपूर्व्या आहारं सवर्तयेत् सवर्त्य कषायान् प्रतनून् कृत्वा समाहितार्चः फलकापदर्थी (फलकावस्थायी) उत्थाय भिक्षुः अभिनिर्वृतार्चः अनुप्रविश्य ग्राम वा नगरं वा यावत् राजधानीं वा तृणानि याचित्वा यावत् समस्तरेत् अत्रापि समये काय च योगं च ईर्या च प्रत्याचक्षीत् तत् सत्यं सत्यवादी ओजः तीर्णः—छिन्नकथकथः आतीतार्थः अनातीतः त्यक्त्वा भिदुरं काय संविधूय विरूपरूपान् परीषहोपसर्गान् अस्मिन् विश्रम्भणतया भैरवमनुचीर्णः तत्रापि तस्य काल पर्यायः सोऽपि तत्र व्यन्तिकारकः इत्येतत् विमोहायतन हितं सुखं क्षम निश्रेयसं आनुगामिक इतिब्रवीमि ।

पदार्थ—जस्स भिक्खुस्स—जिस भिक्षु का। एवं भवइ—इस प्रकार का अभिप्राय, होता है कि। से—वह अर्थात् मैं। गिलामि—रोगादि से पीडित हूं। खलु—वाक्यालकार मे है

अतः। अह—मैं। इम्ममि—इस। समए—समय मे। इम सरीरग—इस सरीर को। आणुपुव्वेणं—अनुक्रम से। परिवहित्तए—सयम साधना मे लगाने के लिए। नो सच ए—समर्थ नही हू। से—अत वह भिक्षु। अणुपुव्वेणं—अनुक्रम से। आहारं संवट्टिज्जा—आहार का सक्षेप करे, आहार का सक्षेप करके फिर। कसाए—कषाय को। पयणुए—स्वल्प। किच्चा—करके। समाहियच्चे—जिस साधु का शरीर समाधियुक्त है। फलगावयट्ठी—वह फलकवत् सुख-दु ख के सहने वाला। उट्ठाय—मृत्यु के लिए उद्यत होकर। भिक्खू—साधु। अभिनिव्वुडच्चा—शरीर के सन्ताप से रहित होकर। गामं वा—ग्राम मे। नगर वा—नगर में। जाव—यावत्। रायहाणिं वा—राजधानी मे। अणुपविसित्ता—प्रवेश करके। तणाइं जाइज्जा—तृणो की याचना करे। जाव सथरिज्जा—यावत् (शेष पाठ पूर्ववत्) तृणो को विछाए। इत्थवि-समए—इस समय मे। काय च योग च—वह काय योग को अर्थात् शरीर को सकोचने और पसारने की क्रिया आदि। च—और। इरिय च—चलने-फिरने आदि का। पच्चक्खाइज्जा—प्रत्याख्यान करे। 'च' शब्द से वचन योग के प्रयोग करने का भी प्रत्याख्यान करे। त—वह पादोपगमन रूप अनशन। सच्च—सत्य है। सच्चावाई—सत्यवादी है। ओए—वह राग-द्वेष से रहित। तिन्ने—ससार सागर से तीर्ण। छिन्नकहंकहे—विकथादि का परित्यागी। आइयट्ठे-जीवाजीवादि पदार्थों को जानकर साधु। अणाइए—जिसने ससार का अन्त कर दिया है। भेउरकायं—अपनी नाशवान काया को। चिच्चा—छोडकर। ण—पूर्ववत्। विरूवरूवे—नाना प्रकार के। परीसहोवसग्गे—परीषह उपसर्गों को। सविहुणिय—सहन करता है। अंसि—उसे इस जिन प्रवचन मे। विस्सभणाए—विश्वास होने से। भेरवमणुचिन्ने—उसने भयकर प्रतिज्ञा को ग्रहण किया है। तत्थवि—वहा पर भी। तस्स—उस साधु की। कालपरियाए—काल पर्याय और। तत्थ—वहा पर। से वि—वह भी। वियत्तिकारए—कर्मों के क्षय करने वाले हैं। इच्चेय—यह पूर्वोक्त मृत्यु। विमोहाययण—मोह से रहित होने का स्थान है। हिय—इसलिए यह मृत्यु हितकारी है। सुह—सुखकारी है। खम—सदर्थ है। निस्सेसं—कल्याणकारी है। आणुगामियं—भवान्तर मे साथ जाने वाली है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हू।

मूलार्थ—जिस भिक्षु का यह अभिप्राय हो कि मैं ग्लान हू रोगाक्रान्त हू। अतः मैं इस समय अनुक्रम से इस शरीर को सयम साधना मे नही लगा सकता हू तो वह भिक्षु अनुक्रम से आहार का सक्षप करे और कषाओ को स्वल्प बनाए। ऐसा करके वह समाधियुक्त मुनि फलक की भान्ति सहनशील होकर मृत्यु के लिए उद्यत होकर तथा शरीर के सन्ताप से रहित होकर ग्राम, नगर यावत् राजधानी मे प्रवेश करके, तृणो

की याचना कर के गुफादि निर्दोष स्थान मे ले जाकर उसे विछावे। इस स्थान पर भी वह इस समय कायके व्यापार के और वचन के व्यापार तथा मनके अशुभ सकल्पो का प्रत्याख्यान करे । यह पादोपगमन अनशन सत्यवादी है राग और द्वेष से रहित ससार समुद्र से पार होने वाला है काम आदि विकथाओ का त्यागी है, पदार्थो के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता है। ससार का अंत करने वाला है नाशवान शरीर को त्याग करने का इच्छुक है। नाना विध परीपहोपसर्गो को सहन करने मे समर्थ है। जैनागम मे आस्था रखने वाला और भयंकर प्रतिज्ञा का परिपालक है। उसका काल पर्याय कर्मों का नाशक है। यह पूर्वोक्त मृत्यु मोह से रहित है। अतः यह हितकारी है, सुख कारी है, क्षेमकारी है, कल्याणकारी है और भवान्तर मे साथ जानेवाली है। इस प्रकार मै कहता हू।

हिन्दी विवेचन

साधु का जीवन साधना का जीवन है। अत. उसे न जीने में हर्ष है और मृत्यु के समान दु.ख है। उसका समस्त समय साधना में बीतता है। मृत्यु भी साधना में ही गुजरती है। इसलिए उसकी मृत्यु भी सफल मृत्यु है। इस लिए आगमकारों ने उसे पंडित मरण कहा है। रोगादि से या तपस्या से शरीर क्षीण एवं शक्तिहीन होने पर साधक घबराता नहीं, परन्तु वह समभाव पूर्वक आने वाले परीषहों को सहता हुआ मृत्यु का स्वागत करता है। उस समय वह आहार आदि का त्याग करके शान्त भाव से पडित मरण को प्राप्त करता है।

प्रस्तुत अध्ययन मे मरण के तीन प्रकार बताए गए हैं— १-भक्त प्रत्याख्यान, २—इंगित मरण और ।३—पादोपगमन । तीनों अनशन जीवन पर्यन्त के लिए होते हैं। इनमें अन्तर इतना ही है कि भक्त प्रत्याख्यान में केवल आहार एवं कषाय का त्याग होता है, इसके अतिरिक्त अनशन काल में साधक एक स्थान से दूसरे स्थान में आ जा सकता है। परन्तु, इंगित मरण मे भूमि की मर्यादा होती है, वह मर्यादित भूमि से बाहिर आ जा नहीं सकता है। पादोपगमन में पेशाब-शौच आदि आवश्यक क्रियाओं के अतिरिक्त शारीरिक अंग-उपांगों का सकोच-विस्तार एवं हलन-चलन आदि सभी क्रियाओं का त्याग होता है। इस प्रकार अंतिम समय निकट आने पर साधक तीनों प्रकार की मृत्यु मे से किसी एक मृत्यु को स्वीकार करके पंडित मरण को प्राप्त करता है। 'त्तिवेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन-विमोक्ष

अष्टम उद्देशक

प्रस्तुत उद्देशक मे पूर्व के उद्देशों मे उपदिष्ट बातों का गाथाओं मे वर्णन किया गया है। सबसे प्रथम पंडितमरण के सम्बन्ध मे उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अणुपुव्वेण विमोहाइ, जाइ धीरा समासज्ज।
वसुमन्तो मइमन्तो, सव्व नच्चा अणेलिस ॥१॥

छाया—आनुपूर्व्या विमोहानि, यानि धीराः समासाद्य।
वसुवन्तः मतिवन्तः सर्वं ज्ञात्वा अनीदृशम् ॥

पदार्थ—अणुपुव्वेण—अनुक्रम से। विमोहाइ—मोह से रहित। जाइ—जो भक्त प्रत्याख्यान आदि मृत्यु। धीरा—धैर्यवान साधु। समासज्ज—प्राप्त करके। वसुमंतो—सयम-निष्ठ। मइमन्तो—बुद्धिमान। सव्व—सब तरह से कर्तव्य-अकर्तव्य को। नच्चा—जानकर। अणेलिस—अनुपम समाधि को प्राप्त करे।

मूलार्थ—अनशन करने के लिए जो सलेखना की विधि बताई गई है, उसके अनुसार धैर्यवान, ज्ञान संपन्न, सयम निष्ठ एवं हेयोपादेय का परिज्ञाता मुनि मोह से रहित होकर पंडित मरण को प्राप्त करे।

हिन्दी विवेचन

यह तो स्पष्ट है कि जो जन्म लेता है, वह अवश्य मरता है। अतः साधक मृत्यु से डरता नहीं, घबराता नहीं। वह पहले से ही जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए मृत्यु को सफल बनाने का प्रयत्न करना शुरु कर देता है। वह विभिन्न तपस्या के द्वारा अपनी साधना को सफल बनाता हुआ पण्डित मरण की योग्यता को प्राप्त कर लेता है। पंडित मरण के लिए ४ बातों का होना जरूरी है— १-सयम, २-ज्ञान, ३ धैर्य और ४ निर्मोह भाव। सयम एव ज्ञान सम्पन्न साधक ही हेयोपादेय का परिज्ञान करके दोषों का परित्याग करके शुद्ध सयम का पालन कर सकता है और धैर्यता के सद्भाव मे ही साधक समभाव पूर्वक परीषहों को सह सकता है। वह मोह से रहित हो कर ही शुद्ध सयम का पालन कर सकता है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि संयम, ज्ञान एवं धर्म से युक्त मोह रहित साधक ही पण्डित-मरण को प्राप्त करता है। मृत्यु को सफल बनाने के लिए ज्ञान, धैर्यता एवं अनासक्त होना आवश्यक है।

इस बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—दुविहंपि विइत्ताणं, बुद्धाधम्मस्स पारगा।
अणुपुव्वीइ संखाए, आरम्भाओ (य) तिउट्टइ।२।

छाया—द्विविधमपिविदित्वा बुद्धाः धर्मस्य पारगाः।
आनुपूर्व्या संख्याय आरम्भात् च त्रुट्यति॥

पदार्थ—ण—वाक्यालंकार में है। दुविहंपि—दो प्रकार के बाह्य और आभ्यन्तर रूप को। विइत्ता—जानकर या ग्रहण करके। बुद्धा—तत्त्व के परिज्ञाता। धम्मस्स—श्रुत और चारित्र रूप धर्म के। पारगा—पारगामी। अणुपुव्वीइ—अनुक्रम से दीक्षा का परिपालन करके और मृत्यु के अवसर को। संखाए—जानकर। आरम्भाओ—आरम्भ से। तिउट्टइ—अष्ट प्रकार के कर्म बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

मूलार्थ—श्रुत और चारित्र रूप धर्म का पारगामी तत्त्वज्ञ मुनि बाह्य और आभ्यन्तर तपको धारण करके अनुक्रम से संयम का आराधन करते हुए मृत्यु के समय को जानकर आठ कर्मों से मुक्त हो जाता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि धर्म के स्वरूप का परिज्ञाता, तत्त्वज्ञ साधक ही मृत्यु के समय को जानकर कर्म बन्धन से मुक्त हो सकता है। कर्म बन्धन से मुक्त होने के लिए ज्ञान का होना जरूरी है। ज्ञान सम्पन्न साधक वस्तु के हेयोपादेय स्वरूप को भली-भांति जान सकता है और त्यागने योग्य दोषों से निवृत्त होकर साधना में संलग्न रहता है। वह मृत्यु से डरता नहीं, अपितु मृत्यु के समय को जानकर तप के द्वारा अष्ट कर्मों को क्षय करता हुआ समाधि मरण से निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान पूर्वक की गई प्रत्येक क्रिया साधक को साध्य के निकट पहुंचाती है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त "आरम्भाओ तिउट्टइ" पद में पंचमी के अर्थ में

चतुर्थी विभक्ति एव भविष्यत् काल के अर्थ मे वर्तमान काल का प्रयोग किया गया है। वृत्तिकार का भी यही मत है✻।

किसी प्रति में चतुर्थ पद मे "कम्मुणाओ तिउट्टई" यह पाठान्तर भी उपलब्ध होता है। इसका तात्पर्य है— आठ प्रकार के कर्मों से पृथक होना।

अब संलेखना के आभ्यान्तर अर्थ को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—कसाए पयणू किच्चा, अप्पाहारे तितिक्खए।
अह भिक्खू गिलाइज्जा, आहारस्सेव अन्तियं ॥३॥

छाया—कषायान् प्रतनून् कृत्वा, आहार· तितिक्षते।
अथ भिक्षुर्ग्लायेत्, आहारस्येव अन्तिकम् ॥

पदार्थ—कसाए—कषाय। पयणु—पतली। किच्चा—करके। अप्पाहारे—अल्प आहार करने वाला। तितिक्खए—परीषहों एवं दुर्वचनो को सहन करे। अह—अथ-यदि। भिक्खु—साधु, आहार के विना। गिलाइज्जा—ग्लानि को प्राप्त होता है, तो वह। आहारस्सेव—आहार का ही। अंतियं—अन्त कर दे।

मूलार्थ—मुनि पहले कषाय कम करके फिर अल्पाहारी बने और आक्रोश आदि परीषहो को समभाव से सहन करे। यदि आहार के विना ग्लानि पैदा होती हो तो वह आहार को स्वीकार करले, अन्यथा आहार का सर्वथा त्याग करके अनशन व्रत स्वीकार कर ले।

हिन्दी विवेचन

समाधि मरण को प्राप्त करने के लिए संलेखना करना आवश्यक है और सलेखना के लिए तीन बातों की आवश्कता है—१-कषाय का त्याग, २-आहार का कम करना और ३-परीषहों को सहन करना। कष् का अर्थ ससार है और आय का अर्थ आय है, अत कषाय का अर्थ है— ससार परिभ्रमण मे वृद्धि होना। आहार से स्थूल शरीर को पोषण मिलता है और कषाय से सूक्ष्म कार्मण शरीर परिपुष्ट होता है।

✻ आरम्भण आरम्भ, शरीरधारणायान्नपानाद्यन्वेषणात्मक तस्मात् त्रुट्यति अपगच्छतीत्यर्थः। सुव् व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे चतुर्थी, पाठान्तर वा-कम्मुणाओ तिउट्टइ कर्माष्टभेद यस्मात् त्रुटयिष्यतीति त्रुट्यति, वर्तमानसामीप्येवर्तमान वद्वा (पा० ३-३-१३१) इत्यनेन भविष्यत् कालस्य वर्तमानता —आचाराग वृत्ति।

और साधना का उद्देश्य है शरीर रहित होना। अत: उसके लिए स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर को परिपुष्ट करने वाले कषाय एव आहार को कम करना जरूरी है, क्योंकि इनका एकदम त्याग कर सकना कठिन है। अत: सलेखना काल में कषायों एव आहार को कम करते-करते एक दिन कषायों से सर्वथा निवृत्त हो जाना यही साधना की सफलता है।

कषायों पर विजय पाने के लिए सहिष्णुता का होना आवश्यक है। परीषहों के समय विचलित नहीं होने वाला साधक ही कषायों से निवृत्त हो सकता है। इस तरह कषाय एव आहार को घटाते हुए साधक अपनी साधना में संलग्न रहे। यदि आहार की कमी से मूर्छा आदि आने लगे और स्वाध्याय आदि की साधना भली-भाति नही हो सकती हो तो साधक आहार करले और यदि आहार करने से समाधि भग होती हो तो वह आहार का सर्वथा त्याग करके अनशन व्रत (संथारे) को स्वीकार करले। परन्तु ऐसा चिन्तन न करे कि मैं संलेखना के तप को तोड़कर आहार कर लूं और फिर तप आरम्भ कर लूगा।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जीवियं नाभिकंखिज्जा, मरणं नों वि पत्थए।
दुहओऽवि न सज्जिज्जा, जीविए मरणे तहा ।४।

छाया—जीवित नाभिकांक्षेत्, मरण नापिप्रार्थयेत्।
उभयतोपि न सज्जेत् जीविते मरणे तथा ।।

पदार्थ—जीविय—जीवन को। नाभिकंखिज्जा—न चाहे। नोऽवि—और न। मरणं पत्थए—मृत्यु की प्रार्थना करे। जीविए तहा मरणे—जीवन तथा मृत्यु। दुहओवि—दोनो में। न सज्जिज्जा—आसक्ति न रखे।

मूलार्थ—संलेखना एवं अनशन मे स्थित साधु न जीने की अभिलाषा रखे और न मरने की प्रार्थना करे। वह जीवन तथा मरण दोनो मे अनासक्त रहे।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि आसक्ति पाप कर्म के बन्ध का कारण है। अत. संलेखना एवं संथारे में स्थित साधु उपासकों के द्वारा अपनी प्रशंसा होती हुई देखकर यह

अभिलाषा न करे कि मैं अधिक दिन तक जीवित रहूं, जिससे कि मेरी प्रशंसा अधिक होगी। वह कष्टों से घबरा कर मरने की भी अभिलाषा न करे। वह जन्म-मरण की अभिलाषा से ऊपर उठकर समभाव पूर्वक सलेखना एव अनशन की साधना मे संलग्न रहे।

ऐसे साधक को क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—मज्झत्थो निज्जरापेही, समाहिमणुपालए।
अन्तो बहिं विउस्सिज्ज, अज्झत्थं सुद्धमेसए ।५।

छाया—मध्यस्थः निर्जरापेक्षी, समाधिमनुपालयेत्।
अन्तः बहिः व्युत्सृज्य अध्यात्म शुद्धमेपयेत् ॥

पदार्थ— मज्झत्थो—मध्यस्थ भाव में स्थित। निज्जरापेही—निर्जरा को देखने वाला मुनि। समाहिं—सदा समाधि का। अणुपालए—परिपालन करे। अन्तो—अन्तरङ्ग कषायो को और। बहिं—वा शरीर आदि उपकरणो को। विउस्सिज्ज—त्याग कर। अज्झत्थं—मन की। सुद्ध—शुद्धि का। एसए—अन्वेषण करे अर्थात् मानसिक शुद्धि की अभिलाषा रखे।

मूलार्थ—मध्यस्थ भाव मे स्थित निर्जरा का इच्छुक मुनि सदा समाधि का परिपालन करे और अन्तरग कषायो एव बाह्य शरीरादि उपकरणो को त्याग कर मन को शुद्धि करे।

हिन्दी विवेचन

साधना के पथ पर गतिशील आत्मा जीवन-मरण की आकांक्षा का त्याग करके सलेखना को स्वीकार करता है। अत उसके लिए यह आवश्यक है कि पहले वह कषायों का त्याग करे और उसके पश्चात् उपकरण एव शरीर का भी परित्याग कर दे। कषाय का त्याग करने पर ही आत्मा मे समाधि भाव की ज्योति जग सकती है और साधक त्याग के पथ पर बढ़कर सभी कर्मों एव कर्म जन्य साधनों से निवृत्त हो सकता है। इसलिए साधक को सदा अपने अन्तःकरण को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। शुद्ध हृदय वाला व्यक्ति ही सयम की सम्यक् साधना करके कर्म से मुक्त हो सकता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जं किंचुवक्कमं जाणे, आउ खेमस्समप्पणो।
तस्सेव अन्तरद्धाए, खिप्पं सिक्खिज्ज पंडिए ।६।

छाया—य कञ्चन उपक्रम जानीयात्, आयुःक्षेमस्य आत्मनः ।
तस्यैव अन्तरकाले, क्षिप्र शिक्षेत पण्डितः ॥

पदार्थ—जं अप्पणो—यदि स्वात्मा की । आउखेमस्स—आयु को क्षेम रूप से यापन-बिताने का । किंचुवक्कम—किंचित्मात्र-थोडा-बहुत । उवक्कम—उपाय । जाणे—जानता हो तो वह । तस्स—उस संलेखना काल के । अन्तरद्धाए—मध्य में । खिप्पं—शीघ्र ही । पडिए-सिक्खिज्जा—उस भक्त परिज्ञा आदि से पडित मरण को स्वीकार करे ।

मूलार्थ—यदि मुनि अपनी (आत्मा की) आयु को क्षेम—समाधि पूर्वक बिताने का उपाय जानता हो नो वह उस उपाय को संलेखना के मध्य मे ही ग्रहण करले । यदि कभी अकस्मात् रोग का आक्रमण हो जाए तो वह शीघ्र ही भक्त परिज्ञा आदि सलेखना को स्वीकार करके पडित मरण को प्राप्त करे ।

हिन्दी विवेचन

यदि सलेखना के काल में कोई ऐसा रोग उत्पन्न हो जाए कि संलेखना का काल पूरा होने के पूर्व ही उस रोग से मृत्यु की संभावना हो तो उस समय साधक सलेखना को छोडकर औषध के द्वारा रोग को उपशान्त करके फिर से संलेखना आरम्भ कर दे । यदि कोई व्याधि तेल आदि की मालिश से शान्त हो जाती हो तो वैसा प्रयत्न करे और यदि वह व्याधि शान्त नहीं होती हो या उसके उग्र रूप धारण कर लेने से ऐसा प्रतीत होता हो कि इससे जल्दी ही प्राणान्त होने वाला है, तो साधक भक्तप्रत्याख्यान आदि अनशन स्वीकार करके समाधि मरण को प्राप्त करे ।

इससे स्पष्ट होता है कि साधक को आत्महत्या की अनुमति नहीं है। जहा तक शरीर चल रहा है और उसमे साधना करने की शक्ति है, तब तक उसे अनशन करने की आज्ञा नहीं है । रोग के उत्पन्न होने पर भी उसका उपचार करने की अनुमति दी गई है। अनशन उस समय के लिए बताया गया है जब कि रोग असाध्य बन गया है और उसके ठीक होने की कोई आशा नही रही है या उसका शरीर इतना जर्जरित निर्बल हो गया है कि अब भली-भाति स्वाध्याय आदि साधना नहीं हो रही है। अत. अनशन (सथारे) को आत्महत्या कहना नितान्त असत्य है ।

मृत्यु का समय निकट आने पर साधक को क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—गामे वा अदुवा रगणे, थंडिलं पडिलेहिया ।
अप्पपाणं तु विन्नाय, तणाइं संथरे मुणी ।७।

छाया – ग्रामे वा अथवा अरण्ये, स्थण्डिल प्रत्युत्प्रेक्ष्य ।
अल्पप्राणं तु विज्ञाय, तृणानि संस्तरेत् मुनिः ।।

पदार्थ—गामे वा – ग्राम में । अदुवा – अथवा । रण्णे – जगल मे स्थित सयमशील मुनि । थडिल – स्थंडिल भूमि को । पडिलेहिया – प्रतिलेखन करके । तु – वितर्क के अर्थ मे है । तणाइ – तृणो को । सथरे—बिछाए ।

मुलार्थ—ग्राम या जगल मे स्थित सयमशील मुनि संस्तारक बिछौने एव शौचादि के स्थान का प्रतिलेखन करे और जीव-जन्तु से रहित निर्दोष भूमि को देखकर वहा तृण बिछाए।

हिन्दी विवेचन

पूर्व के उद्देशक मे अनशन करने के स्थान का जो वर्णन किया गया है, उसी को इस गाथा मे दोहराया गया है। मृत्यु का समय निकट आने पर साधक जिस स्थान में ठहरा हुआ हो उस स्थान मे या उससे बाहर जगल मे या अन्य स्थान मे जहा उसे समाधि रहती है, वहा याचना करके निर्दोष तृण की शय्या बिछाकर उस पर अनशन व्रत स्वीकार करे। इसके साथ पेशाब आदि का त्याग करने की भूमि का भी प्रतिलेखन कर ले। इस तरह निर्दोप भूमि पर निर्दोप तृण की शय्या बिछाकर जन्म और मरण की आकांक्षा रहित होकर अनशन व्रत को स्वीकार करे।

तृण शय्या बिछाने के बाद मुनि को क्या करना चाहिए। इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—अणाहारो तुयट्टिज्जा, पुट्ठो तत्थऽहियासए ।
नाइवेलं उवचरे माणुस्सेहिं विपुट्ठवं ।८।

छाया – अनाहार त्वग्वर्चयेत्, स्पृष्टस्तत्र अध्यासेत् ।
नातिवेल उपचरेत्, मानुष्यैः विस्पृष्टवान् ।।

पदार्थ—अणाहारो—यथाशक्ति तीन या चार प्रकार के आहार का त्याग करे और यत्नापूर्वक। संथारए—संथारे पर। तुयट्टिज्जा—त्वग् वर्तन करे (करवट बदले)। तत्थ—वहां पर। पुट्ठो—परीषहों के स्पर्श होने पर। अहियासए—उस कष्ट को स्वीकार करे और। माणुस्सेहिं—मनुष्यों के द्वारा। विपुट्ठवं—स्पर्शित अनुकूल या प्रतिकूल परीषहों को। नाइवेलं उवचरे—मर्यादा का उल्लंघन न करे।

मूलार्थ—संस्तारक पर बैठा हुआ मुनि तीन या चार प्रकार के आहार का परित्याग करे। वह यत्ना से संस्तारक शय्या पर शयन करे, और वहां पर स्पर्शित होने वाले कष्टों को समभावपूर्वक सहन करे। वह मनुष्यों द्वारा स्पर्शित होने वाले अनुकूल या प्रतिकूल परीषहों के उपस्थित होने पर मर्यादा का उल्लंघन न करे। वह पुत्र एवं परिजन आदि के सम्बन्ध को याद कर आर्तध्यान भी न करे।

हिन्दी विवेचन

संस्तारक—तृण शय्या बिछाकर मुनि उस पर बैठकर तीनों आहार-पानी को छोड़कर शेष सब खाद्य पदार्थों का या चारों आहार-पानी सहित सभी खाद्य पदार्थों का त्याग करे। यदि उसे तृण आदि के स्पर्श से कष्ट होता हो या कोई देव, मनुष्य एवं पशु-पक्षी कष्ट देता हो तो वह उसे समभाव पूर्वक सहन करे। परन्तु, उस परिषह से घबराकर अपने व्रत को भंग न करे, अपने साधना मार्ग का त्याग न करे। अनुकूल एवं प्रतिकूल सभी परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करे। कठिनता के समय पर भी अपने मार्ग पर स्थित रहने में ही साधना की सफलता है। इसलिए साधक को पुत्र, माता आदि परिजनों की ओर से ध्यान हटाकर समभाव पूर्वक अपनी साधना में ही संलग्न रहना चाहिए।

अनशन को स्वीकार करने वाला साधक परीषहों के उत्पन्न होने पर भी क्रोध न करके समभाव पूर्वक उन्हें सहन करे, इसका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—संसप्पगा य जे पाणा जे य उड्ढमहेचरा।
भुञ्जंति मंससोणियं, न छणे न पमज्जए।९।

छाया—संसर्पकाश्च ये प्राणा (प्राणिनः) ये चोर्ध्वमधश्चरा।
भुंजते मांस शोणितं, न क्षणुयात् न प्रमार्जयेत्॥

पदार्थ—य—पुन । जे—जो । संसप्पगा—चींटी और शृगाल आदि । जे—जो। पाणा—प्राणी हैं। य—पुन. । जे_जो। उड्ढं—आकाश मे उडने वाले प्राणी । अहेचरा—बिलो मे रहने वाले प्राणी जब । मससोणियं—मास और खून को । भुजति—खाते हैं तब। न छणे—मुनि उनको न हाथ से हटाए और । न पमज्जए—न रजोहरण से प्रमार्जन करे अर्थात् दूर हटाए।

मूलार्थ - अनशन व्रत को स्वीकार करने वाले मुनि के शरीर मे स्थित मास एव रक्त को यदि कोई भी चीटो मच्छर आदि जन्तु, गृध आदि पक्षी एवं सिह आदि हिंसक पशु खाए या पीए तो मुनि न तो उन्हें हाथ से मारे और न रजोहरण से दूर करे।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करने वाला मुनि ही कर्मों से मुक्त हो सकता हे। प्रस्तुत सूत्र मे भी यही बताया गया है कि अनशन व्रत को स्वीकार करने वाले मुनि को उत्पन्न होने वाले सभी परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। यदि कोई चींटी, मच्छर आदि जन्तु, सर्प-नेवला आदि हिंस जन्तु, गृध आदि पक्षी और सिह, शृगाल आदि ंिस्र पशु अनशन व्रत को स्वीकार किए हुए मुनि के शरीर पर डक मारते हैं या उसके शरीर मे स्थित मास एव खून को खाते पीते हैं, तो उस समय मुनि उस वेदना को समभाव पूर्वक सहन करे। किन्तु, अपने हाथ से न किसी को मारे, न परिताप दे और न किसी प्राणी को रजोहरण से हटाए। इस सूत्र मे साधक की साधना की पराकाष्ठा बताई गई है। साधक साधना करते हुए ऐसी स्थिति मे पहुच जाता है कि उसका अपने शरीर पर कोई ममत्व नहीं रह जाता है। ऐसी उत्कट साधना को साधकर ही साधक कर्म बन्धन से मुक्त होता है। अत उसे सदा परीषहों को सहने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस विषय मे कुछ और बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—पाणा देहं विहिंसन्ति, ठाणाओ नवि उब्भमे ।
आसवेहिं विवित्तेहिं, तिप्पमाणो अहियासए ।१०।

छाया—प्राणा (प्राणिनः) देह विहिंसन्ति, स्थानात् नापि उद्भ्रमेत्।
आस्रवै विविक्तैः तप्यमानः अध्यासेत ॥

छाया – ग्रथैः विविक्तैः, आयुः कालस्य पारगः ।
प्रगृहीततरकं चैवं, द्रविकस्य विजानत ॥

पदार्थ—गन्थेहिं – बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रूप गाठ का । विवित्तेहिं – त्याग करके अथवा । गंथेहिं – आचाराग आदि । विवित्तेहिं – विविध शास्त्रो के द्वारा आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहा हुआ मुनि । आउ कालस्स – आयुष्य काल का । पारए – पारगामी हो अर्थात् आयु पर्यन्त समाधि रखे । अब सूत्रकार इगित मरण के विषय मे कहते हैं । च – पुनः । इयं— यह इंगित मरण । पग्गहियतरग – आत्म-परिज्ञा से विशिष्टतर है अत । वियाणओ – गीतार्थ मुनि को ही इस मृत्यु की प्राप्ति हो सकती है अन्य को नही ।

मूलार्थ—बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ-परिग्रह का त्याग करने से मुनि आयुपर्यन्त समाधि धारण करे या आचाराङ्गादि विविध शास्त्रो के द्वारा आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहता हुआ समय का ज्ञाता बने अर्थात् जीवन पर्यन्त समाधि रखे । प्रस्तुत गाथा के अन्तिम दो पादो मे सूत्रकार ने इगित मरण का वर्णन किया है । यह इगित मरण भक्त परिज्ञा से विशिष्टतर है अतः उसकी प्राप्ति सयमशील गीतार्थ मुनि को ही हो सकती है अन्य को नही ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे भक्त प्रत्याख्यान और इङ्गित मरण अनशन स्वीकार करने वाले मुनि की योग्यता का उल्लेख किया गया है। उक्त अनशनों को स्वीकार करने वाला मुनि बाह्य एवं आभ्यन्तर ग्रन्थि से मुक्त एवं आचाराङ्ग आदि आगमों का ज्ञाता होना चाहिए। क्योंकि, आगम ज्ञान से संपन्न एव बाह्य परिग्रह तथा कषायों से निवृत्त मुनि ही निर्भयता के साथ आत्म-चिन्तन मे संलग्न रह सकता है और उत्पन्न होने वाले परीषहों को समभाव पूर्वक सह सकता है।

इङ्गित मरण अनशन के लिए कहा गया है कि गीतार्थ मुनि ही उसे स्वीकार कर सकता है। इस अनशन में मर्यादित भूमि से बाहर हलन-चलन एव हाथ-पैर आदि का संकोच एव प्रसार नहीं किया जा सकता है। अत. इस अनशन को श्रुत ज्ञान सम्पन्न एव दृढ संहनन वाला मुनि ही ग्रहण कर सकता है। इसी बात को बताने के लिए सूत्रकार ने 'दवियस्स वियाणओ' इन दो पदों का उल्लेख किया है। इनका अर्थ वृत्तिकार ने इस प्रकार किया है— "इङ्गित मरण अनशन व्रत को स्वीकार करने वाला मुनि कम से कम

छाया – ग्रथैः विविक्तैः, आयुः कालस्य पारगः ।
प्रगृहीततरकं चैवं, द्रविकस्य विजानत ॥

पदार्थ—गन्थेहिं – वाह्याभ्यन्तर परिग्रह रूप गाठ का । विवित्तेहिं – त्याग करके अथवा । गथेहिं – आचाराग आदि । विवित्तेहिं – विविध शास्त्रो के द्वारा आत्म-चिन्तन में सलग्न रहा हुआ मुनि । आउ कालस्स – आयुष्य काल का । पारए – पारगामी हो अर्थात् आयु पर्यन्त समाधि रखे । अव सूत्रकार इगित मरण के विपय मे कहते हैं । च – पुनः । इयं— यह इंगित मरण । पग्गहियतरग – आत्म-परिज्ञा से विशिष्टतर है अत । वियाणओ – गीतार्थ मुनि को ही इस मृत्यु की प्राप्ति हो सकती है अन्य को नही ।

मूलार्थ—बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ-परिग्रह का त्याग करने से मुनि आयुपर्यन्त समाधि धारण करे या आचाराङ्गादि विविध शास्त्रो के द्वारा आत्म–चिन्तन मे सलग्न रहता हुआ समय का ज्ञाता बने अर्थात् जीवन पर्यन्त समाधि रखे । प्रस्तुत गाथा के अन्तिम दो पादो मे सूत्रकार ने इगित मरण का वर्णन किया है। यह इगित मरण भक्त परिज्ञा से विशिष्टतर है अतः उसकी प्राप्ति सयमशील गीतार्थ मुनि को ही हो सकती है अन्य को नही ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे भक्त प्रत्याख्यान और इङ्गित मरण अनशन स्वीकार करने वाले मुनि की योग्यता का उल्लेख किया गया है। उक्त अनशनों को स्वीकार करने वाला मुनि वाह्य एवं आभ्यन्तर ग्रन्थि से मुक्त एवं आचाराङ्ग आदि आगमों का ज्ञाता होना चाहिए। क्योंकि, आगम ज्ञान से संपन्न एव वाह्य परिग्रह तथा कषायों से निवृत्त मुनि ही निर्भयता के साथ आत्म-चिन्तन में सलग्न रह सकता है और उत्पन्न होने वाले परीषहों को समभाव पूर्वक सह सकता है ।

इङ्गित मरण अनशन के लिए कहा गया है कि गीतार्थ मनि ही उसे स्वीकार कर सकता है। इस अनशन में मर्यादित भूमि से वाहर हलन-चलन एव हाथ-पैर आदि का सकोच एवं प्रसार नहीं किया जा सकता है। अत. इस अनशन को श्रुत ज्ञान सम्पन्न एव दृढ सहनन वाला मुनि ही ग्रहण कर सकता है। इसी वात को बताने के लिए सूत्रकार ने 'दवियस्स वियाणओ' इन दो पदों का उल्लेख किया है। इनका अर्थ वृत्तिकार ने इस प्रकार किया है— "इङ्गित मरण अनशन व्रत को स्वीकार करने वाला मुनि कम से कम

९ पूर्व का ज्ञाता हो।" इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इतना ज्ञान प्राप्त करने वाले मुनि का सहनन कितना दृढ़ होगा।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अयं से अवरे धम्मे, नाय पुत्तेण साहिए।
आयवज्जं पडीयारं, विजहिज्जा तिहातिहा ।१२।

छाया—अय स अपरः धर्मः, ज्ञातपुत्रेण स्वाहितः।
आत्मवर्जं प्रतिचार विजह्यात् त्रिधात्रिधा ॥

पदार्थ—अय से—यह। अवरे—अपर भक्त प्रत्याख्यान से भिन्न इगित मरण रूप। धम्मे—धर्म का। नायपुत्तेण—भगवान महावीर ने। स्वाहिए—प्रतिपादन किया है। आयवज्ज—आत्मा के। पडीयार—प्रतिचार-अगोपागो के व्यापार का त्याग करे और। तिहातिहा—तीन करण एव तीन योग मे, आत्म-चिन्तन के अतिरिक्त अन्य क्रियाओ का। विजहिज्जा—विशेष रूप मे त्याग करे।

मूलार्थ—इस भक्तप्रत्याख्यान से भिन्न इगितमरण रूप धर्म का भगवान महावार ने प्रतिपादन किया है। इसे स्वीकार करने वाला मुनि आत्म-चिन्तन के अतिरिक्त अन्य क्रियाओ का तीन करण और तीन योग से परित्याग करे।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि इंगित मरण भक्त प्रत्याख्यान से भिन्न है और इसकी साधना भी विशिष्ट है। भगवान महावीर ने इसके लिए बताया है कि शारीरिक क्रियाओं के अतिरिक्त नियमित भूमि मे कोई कार्य न करे और मर्यादित भूमि के बाहर शारीरिक क्रियाएं भी न करे।

प्रस्तुत गाथा मे प्रयुक्त 'आयवज्जं पडियारं,' विज्जहिज्जा तिहातिहा' इन पदों का वृत्तिकार ने यह अर्थ किया है— आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर कर्मों की अनन्त वर्गणाए स्थित हैं, उन्हें आत्म प्रदेशों से सर्वथा अलग करना साधक के लिए अनिवार्य है और उन्हें अलग करने का साधन है— ज्ञान और संयम। जसे साबुन से वस्त्र का मैल दूर करने पर वह स्वच्छ हो जाता है। इसी तरह ज्ञान और सयम की साधना से आत्मा पर

से कर्म हट जाता है और आत्मा अपने शुद्ध रूप को प्राप्त कर लेती है। अत: साधक को सदा ज्ञान एवं संयम की साधना में ही संलग्न रहना चाहिए।

इन गुणों की प्राप्ति का मूल अहिंसा की साधना है। अत उसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—हरिएसु न निवज्जिज्जा, थंडिलं मुणियासए।
विओसिज्जा अणाहारो पुट्ठो तत्थ अहियासए।१३।

छाया—हरितेषु न शयीत, स्थंडिलं मत्वा शयीत।
व्युत्सृज्य अनाहार, स्पृष्ट तत्र अध्यासयेत्॥

पदार्थ—हरिएसु—मुनि हरी वनस्पति पर। न निवज्जिज्जा—शयन न करे। थंडिलं—वह निर्दोष भूमि। मुणिया—जानकर। सए—उस पर शयन करे। विओसिज्ज—बाह्य और आभ्यन्तर उपधि को छोडकर। अणाहारो—आहार रहित होता हुआ। तत्थ—उस आसन पर। पुट्ठो—यदि कोई परीषह स्पर्शित हो तो। अहियासए—उसे सहन करे।

मूलार्थ—अनशन करने वाला मुनि हरे घास एवं तृणादि पर शयन न करे। वह शुद्ध निर्दोष भूमि देखकर उस पर शयन करे, वह बाह्याभ्यन्तर उपधि को छोड कर, आहार से रहित होता हुआ विचरे और यदि वहां पर कोई परीषह उत्पन्न हो तो वह उसे समभाव पूर्वक सहन करे।

हिन्दी विवेचन

अनशन व्रत को स्वीकार करने वाला मुनि किसी भी प्राणी को पीड़ा न दे। सब प्राणियों की रक्षा करना उसका धर्म है। क्योंकि, वह छः काय का रक्षक कहलाता है। इसलिए मुनि को अपनी तृण-शय्या ऐसे स्थान पर बिछानी चाहिए जहां हरियाली बीज, अंकुर आदि न हो। इसी तरह सचित्त मिट्टी एवं जल काय आदि तथा छोटे-मोटे प्राणियों की भी विराधना नहीं होती हो। मुनि को चाहिए कि वह आहार आदि का त्याग करके सर्वथा निर्दोष भूमि पर तृण शय्या बिछाकर अनशन को और उस समय उत्पन्न होने वाले परीषहों को समभाव पूवक सहता हुआ आत्म चिन्तन में संलग्न रहे।

इस विषय पर और प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इंदिएहिं गिलायंतो. समियं आहारे मुणी ।
तहावि से अगरिहे, अचले जे समाहिए ।१४।

छाया—इन्द्रियैर्ग्लायमानः शमितमाहारयेन्मुनिः ।
तथाप्यसौ अगर्ह्यः, अचलो यः समाहितः ॥

पदार्थ—मुणी—आहारादि का त्याग करने वाला मुनि । इन्दिएहिं—इन्द्रियों से । गिलायंतो—ग्लानि को प्राप्त करता हुआ । समियं—समता भाव को । आहरे—धारण करे, अर्थात् आत्मा मे समभाव रखे । यदि अगो का सकोचन या प्रसारण करना हो तो नियमित भूमि मे ही करे । तहावि—तथापि । से—वह मुनि नियमित भूमि मे शरीर सम्बन्धी चेष्टा करता हुआ । जे—जो । समाहिए—समाधि मे रहा हुआ । अचले—धर्म ध्यान या प्रतिज्ञा पर अटल है । अगरिहे—वह निन्दा का पात्र नहीं हो सकता है ।

मूलार्थ—आहार न करने के कारण इन्द्रियो द्वारा ग्लानि को प्राप्त हुआ मुनि अपनी आत्मा मे समता भाव को धारण करे । जो मुनि अपनी प्रतिज्ञा पर अटल है, यदि वह नियमित भूमि मे अङ्गोपाग का प्रसारण करता है तब भी वह निन्दा का पात्र नहीं बनता है ।

हिन्दी विवेचन

इङ्गित मरण स्वीकार करने वाले मुनि के लिए बताया गया है कि यदि शरीर मे ग्लानि उत्पन्न हो तो उसे उस वेदना को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए और अपने चिन्तन को आत्मा की ओर लगाना चाहिए । यदि वह मुनि अपने मर्यादित प्रदेश मे हाथ-पैर आदि को सकोच या प्रसार करता है तो भी वह अपने व्रत से नहीं गिरता है । क्यों-कि, उसने मर्यादित स्थान से बाहर जाकर अग सचालन करने का त्याग किया है । अत मर्यादित भूभाग में अंगों का संचालन करना बन्द नहीं है । इस तरह वह अपनी मर्यादा को ध्यान मे रखते हुए समभाव पूर्वक साधना मे सलग्न रहे, परन्तु उसे त्यागने का विचार न करे ।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—अभिक्कमे पडिक्कमे. संकुचए पसारए ।

से कर्म हट जाता है और आत्मा अपने शुद्ध रूप को प्राप्त कर लेती है। अत साधक को सदा ज्ञान एवं संयम की साधना मे ही संलग्न रहना चाहिए।

इन गुणों की प्राप्ति का मूल अहिंसा की साधना है। अत उसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम् — हरिएसु न निवज्जिज्जा, थंडिले मुणियासए।
विओसिज्जा अणाहारो पुट्ठो तत्थ अहियासए।१३।

छाया—हरितेषु न शयीत, स्थंडिल मत्वा शयीत।
व्युत्सृज्य अनाहार, स्पृष्ट तत्र अध्यासयेत्॥

पदार्थ—हरिएसु—मुनि हरी वनस्पति पर। न निवज्जिज्जा—शयन न करे। थंडिल—वह निर्दोष भूमि। मुणिया—जानकर। सए—उस पर शयन करे। विओसिज्ज—बाह्य और आभ्यन्तर उपधि को छोडकर। अणाहारो—आहार रहित होता हुआ। तत्थ- उस आसन पर। पुट्ठो—यदि कोई परीषह स्पर्शित हो तो। अहियासए—उसे सहन करे।

मूलार्थ—अनशन करने वाला मुनि हरे घास एवं तृणादि पर शयन न करे। वह शुद्ध निर्दोष भूमि देखकर उस पर शयन करे, वह बाह्याभ्यन्तर उपधि को छोड कर, आहार से रहित होता हुआ विचरे और यदि वहां पर कोई परीषह उत्पन्न हो तो वह उसे समभाव पूर्वक सहन करे।

हिन्दी विवेचन

अनशन व्रत को स्वीकार करने वाला मुनि किसी भी प्राणी को पीड़ा न दे। सब प्राणियों की रक्षा करना उसका धर्म है। क्योंकि, वह छ काय का रक्षक कहलाता है। इसलिए मुनि को अपनी तृण-शय्या ऐसे स्थान पर बिछानी चाहिए जहां हरियाली बीज, अकुर आदि न हो। इसी तरह सचित मिट्टी एव जल काय आदि तथा छोटे-मोटे प्राणियों की भी विराधना नहीं होती हो। मुनि को चाहिए कि वह आहार आदि का त्याग करके सर्वथा निर्दोष भूमि पर तृण शय्या बिछाकर अनशन को और उस समय उत्पन्न होने वाले परीषहों को समभाव पूवक सहता हुआ आत्म चिन्तन में सलग्न रहे।

इस विषय पर और प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इंदिएहिं गिलायंतो. समियं आहारे मुणी ।
तहावि से अगरिहे, अचले जे समाहिए ।१४।

छाया—इन्द्रियैर्ग्लायमानः शमितमाहारयेन्मुनिः ।
तथाप्यसौ अगर्ह्यः, अचलो यः समाहितः ।।

पदार्थ—मुणी—आहारादि का त्याग करने वाला मुनि । इन्दिएहि—इन्द्रियो से । गिलायंतो—ग्लानि को प्राप्त करता हुआ । समिय—समता भाव को । आहरे—धारण करे, अर्थात् आत्मा मे समभाव रखे । यदि अगो का सकोचन या प्रसारण करना हो तो नियमित भूमि मे ही करे । तहावि—तथापि । से—वह मुनि नियमित भूमि मे शरीर सम्बन्धी चेष्टा करता हुआ । जे—जो । समाहिए—समाधि मे रहा हुआ । अचले—धर्म ध्यान या प्रतिज्ञा पर अटल है । अगरिहे—वह निन्दा का पात्र नही हो सकता है ।

मूलार्थ—आहार न करने के कारण इन्द्रियो द्वारा ग्लानि को प्राप्त हुआ मुनि अपनी आत्मा मे समता भाव को धारण करे । जो मुनि अपनी प्रतिज्ञा पर अटल है, यदि वह नियमित भूमि में अङ्गोपाग का प्रसारण करता है तब भी वह निन्दा का पात्र नही बनता है ।

हिन्दी विवेचन

इङ्गित मरण स्वीकार करने वाले मुनि के लिए बताया गया है कि यदि शरीर में ग्लानि उत्पन्न हो तो उसे उस वेदना को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए और अपने चिन्तन को आत्मा की ओर लगाना चाहिए । यदि वह मुनि अपने मर्यादित प्रदेश में हाथ-पैर आदि को संकोच या प्रसार करता है तो भी वह अपने व्रत से नहीं गिरता है । क्योंकि, उसने मर्यादित स्थान से बाहर जाकर अंग संचालन करने का त्याग किया है । अत मर्यादित भूभाग मे अंगों का सचालन करना बन्द नहीं है । इस तरह वह अपनी मर्यादा को ध्यान मे रखते हुए समभाव पूर्वक साधना मे सलग्न रहे, परन्तु उसे त्यागने का विचार न करे ।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अभिक्कमे पडिक्कमे, संकुचए पसारए ।
काय साहारणट्ठाए, इत्थंवावि अचेयणो ।१५।

छाया—अभिक्रामण (अभिक्रामेत्) प्रतिक्रमणं (प्रतिक्रामेत्) सकोचयेत्प्रमारयेत् कायसाधारणार्थं अत्रापि अचेतनः ॥

पदार्थ—काय संहारणट्ठाए—शरीर की समाधि के लिए। अभिक्कमे—सम्मुख होना। पडिक्कमे—पीछे हटना। संकुचए—अंगादि का सकोच करना या। पसारए—विस्तार करना आदि क्रियाए मर्यादित भूमि मे करे। वा—पादोपगमन में मुनि अक्रियवत्-सक्रिय भी निष्क्रिय की तरह रहे। इत्थत्रावि अचेयणो—यदि शक्ति हो तो इङ्गित मरण मे भी अचेतनवत्-क्रिया रहित होकर स्थित रहे।

मूलार्थ—उक्त अनशन को स्वीकार करने वाला मुनि शरीर को समाधि के लिए मर्यादित भूमि मे अङ्गोपांग का सकुचन-प्रसारण करे। यदि उसके शरीर मे शक्ति हो तो वह इगित मरण अनशन मे अचेतन पदार्थ की तरह क्रिया एव चेष्टा रहित होकर स्थित रहे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे भी पूर्व गाथा मे भी उल्लिखित बात को ही पुष्ट किया गया है। इसमे बताया गया है कि यदि शरीर मे ग्लानि का अनुभव होता हो तो वह मर्यादित भूमि मे घूम-फिर सकता है। यदि उसे ग्लानि की अनुभूति न होती हो तो उसे शान्त भाव से आत्म चिन्तन मे सलग्न रहना चाहिए। जहा तक हो सके हलन-चलन कम करते हुए या निष्चेष्ट रहते हुए साधना मे सलग्न रहना चाहिए और उससे उत्पन्न होने वाले सभी परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए।

यदि आत्मबल अधिक न हो तो इगित मरण स्वीकार करने वाले गीतार्थ मुनि को क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—परिक्कमे परिक्लिन्ते, अदुवा चिट्ठे अहायए।
ठाणे ण परिकिलन्ते, निसीइज्जा य अंतसो ।१६।

छाया—परिक्रामेत् परिक्लान्त., अथवा तिष्ठेत् यथायतः।
स्थानेन परिक्लान्तो निषीदेच्चान्तश ॥

पदार्थ—अनशन को स्वीकार करने वाला मुनि परिक्कमे—नियत प्रदेश में चले। परिकिलन्ते अदुवा—अथवा थक जाने पर। चिट्ठे—बैठ जाए। अहायए—सीधा होकर लेट

जाए। ठाणेणं—यदि खड़े होने से। परिकिलन्ते—कष्ट होता हो तो। निसीइज्जा—बैठ जाए। अत्तसो—उसे जिस प्रकार समाधि रहे वैसा करे।

मूलार्थ—यदि अनशन स्वीकार करने वाले मुनि के शरीर को कष्ट होता हो तो वह नियत भूमि पर घूमे। यदि उसे घूमने से थकावट होती हो तो बैठ जाय और बैठने से भी कष्ट होता हो तो लेट जाए। इसी प्रकार पर्यंक आसन, अर्ध पर्यंक आसन करे और यदि इसके करने से भी कष्ट होता हो तो बैठ जाए। जिस तरह से उसे समाधि रहे वैसा करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि यदि इंगित मरण अनशन को स्वीकार किए हुए साधक को थकावट प्रतीत होती हो, तो वह मर्यादित भूमि मे घूम-फिर सकता है। यदि घूमने से उसे थकावट मालूम हो, तो वह पर्यंक आसन या अर्ध पर्यंक आसन कर ले या बैठ जाए। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि जिस तरह से उसे समाधि रहती हो उस तरह उठने-बैठने की व्यवस्था कर सकता है। परन्तु, वह अपनी मर्यादा का उल्लघन न करे। यह बात अलग है कि मर्यादित भूमि में वह खड़ा रहे या बैठा रहे या पर्यंक आसन करे या सीधा लेट जाए या एक ओर से लेट जाए। जिस किसी आसन से उसे समाधि रहती हो, आत्म-चिन्तन मे मन लगता हो, उसी आसन को स्वीकार करके आत्म साधना में संलग्न रहे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आसीणेऽणेलिसं मरणं, इन्दियाणि समीरए।
कोलावासं समासज्ज वितहं पाउरेसए।१७।

छाया—आसीनः अनीदृश मरणं, इन्द्रियाणि समीरयेत्।
कोलावासं समासाद्य, वितथं प्रादुरेषयेत्।

पदार्थ—मरणं—इङ्गित मरण के। अणेलिस—जो अनन्य सदृश अनुपम है मुनि। आसीणे—आश्रित हुआ मुनि। इन्दियाणि—इन्द्रियो को इष्ट और अनिष्ट विषयो से आर। समीरए ... । कमर को सहारा देने के ... । समासज्ज—

पट्टे के मिलने पर उससे भिन्न। वितह—जीवादि से रहित पट्टे की। पाउरेसए—गवेषणा करे।

मूलार्थ—सामान्य साधक के लिए जिसका आचरण करना कठिन है ऐसे इंगिन मरण मे अवस्थित मुनि इन्द्रियो को विषय विकारो से हटाने की प्रेरणा करे। यदि उसे सहारा लेने के लिए पट्टे की आवश्यक्ता अनुभव हो तो वह जोव जन्तु से युक्त पट्टे के मिलने पर उसे ग्रहण न करके, जीवादि से रहित पट्टे की गवेषणा करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि इगित मरण अनशन व्रत को स्वीकार किए हुए मुनि को राग-द्वेष एवं विकारों से सर्वथा निवृत्त रहना चाहिए। यदि कभी कषायों के उत्पन्न होने तथा मनोविकारों के जागृत होने की सामग्री उपस्थित हो तो मुनि अपने मन एव इन्द्रियों को उस ओर न जाने दे। वह अपनी साधना के द्वारा उस ओर से मन को हटाकर आत्म-चिन्तन मे लगा दे। मुनि को उस समय अपने योगों पर इतना काबू होना चाहिए कि आत्म-चिन्तन के अतिरिक्त अन्यत्र योगों की प्रवृत्ति ही न हो। इस तरह इंगित मरण अनशन की साधना मे स्थित साधक योगों का निरोध करने का प्रयत्न करे।

यदि उसके उपयोग मे आने वाले तख्त आदि मे घुन आदि जीव-जन्तु हो तो उसे उस तख्त को काम मे नहीं लेना चाहिए। इससे जीवों की हिंसा होती है। अहिंसा के प्रतिपालक मुनि को जीवों से सयुक्त तख्त ग्रहण न करके जीवों से रहित अन्य तख्त ग्रहण करना चाहिए। इस तरह समस्त जीवों का रक्षण करते हुए साधक को अपने योगों को राग-द्वेष आदि मनोविकारों से रोकते हुए आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहना चाहिए।

अनशन करने वाले मुनि की वृत्ति कैसी रहनी चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जओवज्जं समुप्पज्जे, न तत्थ अवलम्बए।
तउ उक्कसे अप्पाणं, फासे तत्थऽहियासए।१८।

छाया—यतः वज्र [अवद्य] समुत्पद्येत्, न तत्र अवलम्बेत्।
तत. उत्कर्षेद् आत्मान, स्पर्शान् तत्र अध्यासयेत्।

पदार्थ—जओ—जिससे। वज्ज—वज्रवत् कर्म। समुप्पज्जे—उत्पन्न हो। तत्थ—ऐसे घुणादि से युक्त काष्ट फलक का। न अवलम्बए—अवलम्बन न करे। तओ—उसके पश्चात्। वह। अप्पाण—आत्मा को। उक्कसे—आर्त ध्यान और दुष्ट योग से हटाए। तत्थ—वहा पर ही दु:ख रूप स्पर्शों को। अहियासए—सहन करे।

मूलार्थ—जिससे वज्रवत् भारी कर्म उत्पन्न हो, इस प्रकार वे घुणादि से युक्त काष्ट फलक पर का अवलम्बन न करे। उसके पश्चात वह आत्मा को दुष्ट ध्यान और दुष्टयोग से हटाए और वहा उपस्थित हुए दु:ख रूप स्पर्शो को समभावपूर्वक सहन करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे इगित मरण अनशन का उपसंहार करते हुए बताया गया है कि आवश्यकता पड़ने पर मुनि को घूमना पड़े तो वह मर्यादित भूमि मे घूम फिर सकता है। यदि उसे थकावट मालूम हो तो वह किसी काष्ट फलक का सहारा लेकर खड़ा होना चाहे तो पहले उसे यह देख लेना चाहिए कि उसमे घुण आदि जीव-जन्तु तो नही है। यदि उसमें जीव-जन्तु आदि हों तो उसका सहारा न ले और जीव सहित किसी भी तख्त आदि का उपयोग न करे। क्योंकि, इससे जीवों की विराधना होती है और फलस्वरूप पाप कर्म का बन्ध होता है। पाप कर्म वज्रवत् बोझिल होता है। वह आत्मा को सदा नीचे की ओर घसीटता है। इसलिए जिस क्रिया से पापकर्म का बन्ध हो उस क्रिया से साधक को सदा दूर रहना चाहिए और ऐसी किसी वस्तु का उपयोग नही करना चाहिए जिससे जीवों की हिसा होती हो।

मुनि को सदा आत्म-चिन्तन मे संलग्न रहना चाहिए। उसे अपने को कभी भी दुर्ध्यान मे नहीं लगाना चाहिए। दुष्ट चिन्तन एव बुरे विचार आत्मा को गिराने वाले हैं। अत मुनि को कठिन से कठिन परिस्थिति मे भी अपने चिन्तन की धारा को दुष्ट विचार की ओर नहीं मोडना चाहिए। परीषहों के उत्पन्न होने पर भी उसे विचलित नहीं होना चाहिए, अपितु समभाव से सब परीषहों को सहन करना चाहिए और अपने चिन्तन को सदा आत्म विकास मे लगाए रखना चाहिए। इस तरह जीवों की रक्षा एव शुद्ध चिन्तन के द्वारा साधक समाधि मरण को प्राप्त करता है और फल स्वरूप स्वर्ग या मुक्ति को प्राप्त करता है।

इगित मरण के बाद पादोपगमन अनशन का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—अयं चाययतरे सिया, जो एवमणुपालए।
सव्वगाय निरोहेवि, ठाणाओ न विउब्भमे।१९।

छाया—अयं चायततरः स्यात्, य. एवमनुपालयेत्।
सर्वगात्र निरोधेऽपि, स्थानाद् न व्युद्भ्रमेत्।

पदार्थ—अय—यह पादोपगमन अनशन। च—च शब्द से भक्त परिज्ञा और इङ्गित मरण से। आययतरे—विशिष्टतर। सिया—है, अत:। जो—जो इसे स्वीकार करने वाला साधक। एवं—इस विधि से। अणुपालए—इसका पालन करे। सव्वगायनिरोहेवि—सारे शरीर का निरोध होने पर भी। ठाणाओ—एक स्थान से दूसरे स्थान को। न विउब्भमे—सक्रमण न करे, अर्थात् परीषहो के भय से वह स्थान का परिवर्तन न करे।

मूलार्थ—यह पादोपगमन अनशन भक्त परिज्ञा और इंगितमरण से विशिष्ठतर है अर्थात विशेष यतना वाली है। अतः साधु उक्त विधि से इसका पालन करे। समस्त शरीर का निरोध होने पर भी वह परीषहो से भयभीत होकर स्थानान्तर मे न जाए।

हिन्दी विवेचन

पडित मरण को प्राप्त करने के लिए तीन तरह के अनशन बताए गए हैं—१-भक्त प्रत्याख्यान, २-इंगित मरण और ३-पादोपगमन। पहले दो प्रकार के मरण का उल्लेख कर चुके हैं। अतिम अनशन का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि यह अनशन पूर्व के दोनों अनशनों से अधिक कठिन है। भक्त प्रत्याख्यान मे साधक अपनी इच्छानुसार किसी भी स्थान पर आ जा सकता है, परन्तु इङ्गित मरण मे वह मर्यादित स्थान से बाहर शरीर का सचालन नहीं कर सकता और पादोपगमन मे साधक बिल्कुल स्थिर रहता है। वह जिस स्थान पर जिस आसन से—बैठे हुए या लेटे हुए, अनशन स्वीकार करता है, अन्तिम स्वास तक उसी आसन से रहता है। इधर-उधर घूमना-फिरना तो दूर रहा, वह शरीर का सचालन भी नहीं कर सकता है। केवल पेशाब एव शौच आदि से निवृत्त हो सकता है।

शारीरिक हलन-चलन न करने के कारण तथा कभी मूर्छा आदि आ जाने पर उसे मृत समझ कर कोई पशु-पक्षी उसको खाने आए, तो उससे डरकर वह अन्य स्थान मे नहीं जाए। वह वहीं निश्चेष्ट रहकर समभाव पूर्वक उत्पन्न होने वाले परीषहों

मूलम्—अचित्तं तु समासज्ज. ठावए तत्थ अप्पगं
वोसिरे सव्वसो कायं, न मे देहे परीसहा ।२१।

छाया—अचितं तु समासाद्य, स्थापयेत्तत्रात्मानम् ।
व्युत्सृजेत् सर्वशः कायं, न मे देहे परीषहाः ॥

पदार्थ—तु—वितर्क के अर्थ में है। अचित्त—निर्जीव स्थडिल एवं तख्तादि को। समासज्ज—प्राप्त करके। तत्थ—वहा पर। अप्पग—अपनी आत्मा को। ठावए—स्थापन करे और। सव्वसो—सब तरह से अपने। काय—शरीर का। वोसरे—व्युत्सर्जन करदे। परीसहा—परीषहो के उत्पन्न होने पर वह यह भावना करे कि। न मे देहे—यह शरीर मेरा नही है। परीसहा—अत मुझे परीषह कैसे ?

मूलार्थ—अचित स्थण्डिल एव तख्त आदि को प्राप्त करके वह अपनी आत्मा को वहां स्थापित करे। वह अपने शरीर का पूर्णतः व्युत्सर्ग करके यह सोचे कि जब यह शरीर मेरा नही तो फिर इसे परीषह कैसे ? और किसको ? इस भावना से वह उत्पन्न होने वाले परीषहो को सहन करे।

हिन्दी विवेचन

पादोपगमन अनशन को स्वीकार करने वाले साधक को निर्दोष तृण शय्या एवं तख्त आदि अर्थात् जीव-जन्तु आदि से रहित शय्या आदि का, एव हरियाली, बीज, अकुर एवं जीव-जन्तु से रहित स्थडिल भूमि का उपयोग करना चाहिए। उसे अपने शरीर की ममता का भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। उसे सोचना चाहिए कि मेरी आत्मा इस शरीर से पृथक् है। इसके ऊपर मेरा कोई अधिकार नहीं है। यह एक दिन अवश्य ही नष्ट होना है। परन्तु, यह आत्मा सदा स्थित रहने वाला है। अत. वह शरीर की बिल्कुल चिन्ता न करते हुए, आत्म चिन्तन मे संलग्न रहे और उस समय उत्पन्न होने वाले सभी परीषहों को समभाव से सहन करे।

उसे अपने सामने आने वाले परीषहों को कब तक सहन करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जावज्जीवं परिसहा, उवसग्गा इति सखया।
संवुडे देहभेयाए, इय पन्नेऽहियासए ।२२।

छाया—यावज्जीवं परीषहाः, उपसर्गाः इतिसंख्याय ।
संवृतः देहभेदाय, इति प्राज्ञः अध्यासयेत् ।

पदार्थ—जावज्जीवं—जीवन पर्यन्त । परीसहा—परीषह और । उवसग्गा—उपसर्ग । इति—इस प्रकार । संखया—जानकर सहन करना चाहिए । देहभेयाए—शरीर भेद के लिए । सवुड़े—संवृतात्मा । इय—इस प्रकार । पन्ने—उचित विधान के जानने वाला । अहियासए—सहन करे ।

मूलार्थ—इस तरह देह भेद अनशन के विधान को जानने वाला सवृत्त आत्मा को जो परीषह एव उपसर्ग उत्पन्न हो उसे समभाव से जीवन पर्यन्त अन्तिम सास तक सहन करे ।

हिन्दी विवेचन

परीषहों का सबन्ध शरीर के साथ है। शरीर के रहते हुए ही अनेक तरह की वेदनाएं उत्पन्न होती हैं, अनेक कष्ट सामने आते हैं। शरीर के नाश होने के बाद तत्सम्बन्धित कष्ट भी समाप्त हो जाते हैं। अतः साधक को जीवन की अंतिम सांस तक उत्पन्न होने वाले परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए

इस गाथा में यह भी बताया गया है कि सवृत्त आत्मा अर्थात समस्त दोषों से निवृत्त एव सवर में स्थित आत्मा एवं ज्ञान सपन्न—सदसद् के विवेक से युक्त साधु ही परीपहों को समभाव से सह सकता है। क्योंकि, जो दोषों को जानता ही नहीं और जो उनसे निवृत्त ही नहीं है, वह साधना के पथ पर चल ही नहीं सकता है। इसलिए सदसद् के विवेक से सपन्न साधक ही सम्यक्तया पादोपगमन अनशन का परिपालन कर सकता है।

इतनी उत्कृष्ट साधना में संलग्न साधक को देखकर यदि कोई राजा उसे भोगों का निमन्त्रण दे तो उस समय उसे क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—भेउरेसु न रज्जिज्जा, कामेसु बहुतरेसु वि ।
इच्छालोभं न सेविज्जा, धुववन्नं सपेहिया ।२३।

छाया—भिदुरेषु न रज्येत्, कामेषु बहुतरेष्वपि ।
इच्छा लोभं न सेवेत, ध्रुववर्णं संप्रेक्ष्य ।

पदार्थ—भेउरेसु—विनाशशील । बहुतरेसु—प्रभूततर । कामेसु—शब्दादि काम गुणों में । न इच्छेज्जा—राग न करे और । इच्छा लोभं—इच्छा रूप लोभ का भी । न सेविज्जा—सेवन न करे । धुववन्न सपेहिया—निश्चल वर्ण शाश्वती कीर्ति का विचार करके अथवा सयम को जानकर वह इच्छा का परित्याग करे ।

मूलार्थ—यदि कोई राजा महाराजा आदि उक्त मुनि को भोगो के लिए निमंत्रित करे तो वह विनाशशील प्रभूततर काम भोगो मे राग न करे, उनमे आसक्त न होवे । निश्चल कीर्ति को जान कर वह यथावत् सयम परिपालन करने के लिए इच्छा रूप लोभ का भी सेवन न करे ।

हिन्दी विवेचन

साधना का उद्देश्य ही समस्त कर्मों से मुक्त होना है, अत साधक के लिए समस्त भोगो का त्याग करना अनिवार्य है । इसी बात को बताते हुए कहा गया है कि यदि कोई राजा-महाराजा आदि विशिष्ट धन एव भोग सम्पन्न व्यक्ति उक्त साधक को देखकर कहे कि तुम इतना कष्ट क्यों उठाते हो, मेरे महलों मे चलो मैं तुम्हें सभी भोग साधन दूंगा तुम्हारे जीवन को सुखमय बना दूंगा । इस तरह के वचनों को सुनकर साधक विषयों की ओर आसक्त न होवे । वह सोचे कि जब भोगों को भोगने वाला शरीर ही नाशवान है, तब भोग मुझे क्या सुख देंगे ? वस्तुत ये काम-भोग अनन्त दु खों को उत्पन्न करने वाले हैं, ससार को बढ़ाने वाले है । इस तरह सोचकर वह भोगों की आकाक्षा भी न करे और न यह निदान ही करे कि मैं आगामी भव में राजा-महाराजा जैसे भोग साधनों से सपन्न बनू । इन सभी सावद्य आकाक्षाओं से रहित होकर वह अपने आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहे । वह किसी भी तरह के वैषयिक चिन्तन की ओर ध्यान न दे ।

उसे भोगों की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए, इस विषय का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सासएहिं निमन्तिज्जा, दिव्वमायं न सद्दहे ।
तं पडिबुज्झ माहणे, सव्वं नूमं विहूणिया ।२४।

छाया—शाश्वतैः निमंत्रयेत् दियमायां न श्रद्दधीत ।
तत् प्रतिबुध्यस्व माहनः, सर्वं नूमं विधूय ।

पदार्थ—सासएहिं—यदि कोई व्यक्ति आयु-पर्यन्त रहने वाले धनादि पदार्थों से। निमंतिज्जा—निमन्त्रित करे, तब भी वह मुनि उसकी इच्छा न करे। दिव्वमायं—इसी प्रकार देवता सम्बन्धि माया पर भी। न सद्दहे—श्रद्धा-विश्वास न करे। त पडिवुज्झ—हे शिष्य ! तू उस माया जाल को समझ। माहणे—साधु। सव्व—इन सबको। नूम—कर्म-बन्धन का कारण। विहूणिया—जानकर त्याग देना है, अत हे शिष्य ! तुम देवादि के मायाजाल मे मत फसना।

मूलार्थ—यदि कोई व्यक्ति आयु पर्यन्त रहने वाले अथवा प्रतिदिन दान करने से क्षय न होने वाल वैभव का भी निमत्रण करे तब वह साधु उसे ग्रहण करने की इच्छा न करे। इसी तरह देव सम्बन्धी माया को भी इच्छा नही करनी चाहिए। अतः हे शिष्य ! तू माया के स्वरूप को समझ और इसे सर्व प्रकार से कर्मबन्ध का कारण जान कर इस से दूर रह अर्थात् इसमे रागभाव मत रख।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे बताया है कि यदि साधक को कोई इतना धन-वैभव दे कि वह जीवन पर्यन्त समाप्त न हो, तब भी उसे उस वैभव की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। मनुष्य के वैभव की तो बात ही क्या है, उसे स्वर्ग के वैभव को पाने की भी अभिलाषा नहीं रखनी चाहिए। क्योंकि, वह नाशवान है और आरम्भ-समारम्भ एवं वासना को बढ़ाता है, जिससे पापकर्म का बन्ध होता है और परिणाम स्वरूप जन्म-मरण के प्रवाह मे बहना पडता है। इसलिए साधक को भोगों की इच्छा नहीं रखनी चाहिए।

कभी-कभी मिथ्यात्वी देव उसे पथ-भ्रष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। विभिन्न प्रलोभनों एव कष्टों के द्वारा उसके ध्यान को भग करने का प्रयास करते हैं। उस समय साधक को समस्त अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों को सहन करना चाहिए, परन्तु अपने ध्येय से गिरना नहीं चाहिए। उसे देव माया को भली-भाँति समझकर अपने मन को सदा आत्म-चिन्तन मे लगाए रखना चाहिए।

प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सव्वट्ठेहिं अमुच्छिए, आउकालस्स पारए ।
तितिक्खं परमं नच्चा, विमोहन्नयरं हियं ।२५। त्तिबेमि

छाया—सर्वार्थैः अमूर्छित. आयुः कालस्य पारग. ।
तितिक्षा परमं ज्ञात्वा विमोहान्यतरं हितम् ।

पदार्थ—सव्वट्ठेहिं—वह मुनि समस्त शब्दादि विषयो मे । अमुच्छिए—आसक्त न बने । आउकालस्स—वह जीवन पर्यन्त उन विषयो से निवृत्त होने में । पारए—पारगत बने और । तितिक्ख—तितिक्षा को । परमं नच्चा—सर्वश्रेष्ठ जान कर । विमोहन्नयरं हिय—मोह रहित होकर यथाशक्ति तीनो में से किसी एक अनशन को हितकारी जानकर स्वीकार करे । त्तिबेमि—मैं इस प्रकार कहता हू ।

मूलार्थ—मुनि शब्दादि विषयो मे अनासक्त रहे। वह जीवन पर्यन्त उन विषयो से निवृत्त रहे और तितिक्षा को सर्व-श्रेष्ठ जानकर मोह से रहित बने । तीनो अनशनो मे यथाशक्ति किसी एक अनशन को हितकारी समझकर स्वीकार करे । ऐसा मैं कहता हू ।

हिन्दी विवेचन

यह तो स्पष्ट है कि जन्म ग्रहण करने वाला प्राणी मृत्यु को प्राप्त होता है। मरना सभी को पड़ता है । कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जन्मा है और न जन्मेगा ही जो न मरा हो और न कभी मरेगा। मरते सब हैं, परन्तु, मरने-मरने मे अन्तर है। एक मृत्यु जन्म-मरण के प्रवाह को बढ़ाती है, तो दूसरी मृत्यु उक्त प्रवाह को समाप्त कर देती है । पहली मृत्यु को आगमिक भाषा में बाल-अज्ञान मरण और दूसरी को पडित-सज्ञान मरण कहते हैं। पडित मरण जन्म-मरण को समाप्त करने वाला है और साधना का उद्देश्य भी जन्म-मरण के प्रवाह को समाप्त करना है। अत साधक को अपनी साधना को सफल बनाने के लिए पडित मरण को प्राप्त करना चाहिए।

यह हम देख चुके हैं कि पडित मरण तीन प्रकार का है— १-भक्त प्रत्याख्यान, २-इङ्गित मरण और ३-पादोपगमन । पादोपगमन सर्व श्रेष्ठ है और इङ्गित मरण मध्यम स्थिति का है और भक्त प्रत्याख्यान सामान्य कोटि का है। ये श्रेणिया साधना की कठारता

की अपेक्षा से है। साधना की दृष्टि से तीनों मरण महत्वपूर्ण हैं। यदि साधक राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करके समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करते हुए समाधि-मरण को प्राप्त करता है, तो वह प्रत्येक मरण से निर्वाण पद को प्राप्त कर सकता है। यह उसकी शारीरिक क्षमता पर आधारित है कि वह तीनों में से किसी भी एक मरण को स्वीकार करे। परन्तु, समभाव से उसका पालन करे, अन्तिम सांस तक अपने पथ से भ्रष्ट न हो, इसी में उसकी साधना की सफलता है।

'तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

॥ अष्टम अध्ययन समाप्त ॥

नवम अध्ययन—उपधान श्रुत

प्रथम उद्देशक

प्रस्तुत अध्ययन का नाम उपधान श्रुत है। इसमे भगवान महावीर के उपधान-तप-निष्ठ जीवन का वर्णन किया गया है। आचाराङ्ग सूत्र मे साधु के आचार का वर्णन है और भगवान महावीर एक आदर्श साधु थे। अत· उनका यह आचार विषयक उपदेश अनुभव जन्य है। जिन परीषहों-कष्टों को सहने की तथा जिस साधना का परिपालन करने की बात आचाराङ्ग के आठ अध्ययनों मे कही गई है, वैसे परीषह भगवान महावीर ने स्वय सहन किए थे और उस साधना पथ पर वे स्वय चले थे। अत. जब ऐसा विश्वास साधक के मन मे हो जाता है कि यह साधना पथ केवल भगवान का उपदेश मात्र नहीं, प्रत्युत उनके द्वारा आचरित है, तो उसकी साधना मे तेजस्विता आ जाती है, उसके जीवन मे परीषहों को सहने की क्षमता बढ जाती है। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

यह हम पहले बता चुके हैं कि द्वादशागी श्रुत अनादि-अनन्त भी है। इस पर यहा यह प्रश्न उठता है कि अनादि-अनन्त श्रुत में ऐतिहासिक घटना आ सकती है या नहीं? यह प्रश्न वेद को ईश्वर-कृत मानने वाली वैदिक परम्परा के सामने भी था। उनमे दो पक्ष मिलते है—कुछ वेदों मे ऐतिहासिक घटना मानते हैं और कुछ वेदों में ऐतिहासिक घटना का अभाव मानते हैं। परन्तु, जैन विचारकों ने इसका समाधान स्याद्वाद की भाषा मे दिया। उन्होंने कहा कि त्रैकालिक सत्य की अपेक्षा से द्वादशांगी अनादि-अनन्त है। क्योंकि त्रैकालिक सत्य सदा एक सा रहता है। प्रत्येक काल-चक्र में होने वाले प्रत्येक तीर्थंकर भगवान अहिंसा, सत्य आदि धर्मों का स्वाद्वाद या अनेकान्त की भाषा मे उपदेश देते है। उनके विचारों मे सैद्धातिक एकरूपता रहती है, इस दृष्टि से उनके द्वारा प्ररूपित द्वादशागी अनादि-अनन्त है। परन्तु प्रत्येक युग मे होने वाले तीर्थंकर उसका उपदेश देते है। अत उपदेष्टा की अपेक्षा से वह सादि-सान्त भी है और वे उपदेष्टा अपने पूर्व मे हुए महापुरुषों के तथा अपने युग मे होने वाले महापुरुषों के जीवन का उदाहरण देकर त्रैकालिक सत्य को परिपुष्ट करते हैं। इस तरह अनादि-अनन्त श्रुत मे भी ऐतिहासिक महापुरुषों का उल्लेख होता है इसमे सब आचार्यों की एक मान्यता है। जैन विचारकों मे इस मान्यता के सबन्ध मे दो विचार नहीं पाए जाते। अस्तु, इस

तरह आचाराङ्ग मे भगवान महावीर के जीवन का वर्णन उसकी अनन्तता को भी बनाए रखता है।

उपधान शब्द की व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार ने दो तरह का उपधान माना है— १-द्रव्य उपधान और २-भाव उपधान। द्रव्य उपधान तकिया है, जिससे शयन के समय आराम मिलता है। परन्तु भाव उपधान तपस्या है। तपस्या के द्वारा जीव को अनन्त शान्ति, अनन्त सुख एवं आनन्द की अनुभूति होती है, इसलिए यह भाव उपधान है। तपस्या से कर्म मैल का नाश होता है और आत्मा उज्ज्वल, समुज्ज्वल एवं महोज्ज्वल बनती है और एक दिन सर्व कर्म मल से मुक्त होकर अपने आत्म-स्वरूप में रमण करने लगती है। अत. उपधान से आत्मा का उपधूनन-कर्म गांठ का भेदन होता है। कर्म गाठ का नष्ट होना ही वास्तव मे यथार्थ सुख को प्राप्त करना है। अत. इस अध्ययन मे भगवान महावीर के तप एवं साधना निष्ठ जीवन का वर्णन किया गया है। उसकी साधना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अहासुयं वइस्सामि जहा से समणे भगवं उट्ठाए।
संखाए तंसि हेमन्ते अहुणो पव्वइए रीइत्था ।१।

छाया—यथा श्रुतं वदिष्यामि, यथा सः श्रमणः भगवान् उत्थाय।
संख्याय तस्मिन् हेमन्ते, अधुना प्रव्रजितः रीयते स्म।

पदार्थ—अहासुयं — यथा श्रुत-अर्थात् आर्य सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते है कि जैसे मैंने सुना है। वइस्सामि—मैं वैसे ही कहूगा। जहा—जैसे। से—वह। समणे भगव—श्रमण भगवान। उट्ठाए—सम्यक् चारित्र को ग्रहण करके, कर्मों को क्षय करके और तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए उद्यत होकर, और। सखाए—तत्व को जानकर। तसि—उस। हेमंते—हेमन्त काल मे। अहुणो—तत्व मे। पव्वइए—प्रव्रजित होकर। रीइत्था—विहार किया।

मूलार्थ—आर्य सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते है कि हे जम्बु! मैने जैसे श्रमण भगवान महावीर की विहार चर्या का श्रवण किया है वैसे ही मैं तुम्हारे प्रति कहूगा। जिस प्रकार श्रमण भगवान महावीर ने कर्मो के क्षय करने और तीर्थ का प्रवृत्ति के लिए सयम मार्ग मे उद्यत होकर, तत्व को जानकर उस हेमन्त काल मे तत्काल ही दीक्षित होकर विहार किया था।

हिन्दी विवेचन

आचाराङ्ग सूत्र को प्रारम्भ करते समय आर्य सुधर्मा स्वामी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि हे जम्बु ! मैं तुम्हें वही श्रुत सुना रहा हूँ, जो मैंने श्रमण भगवान महावीर से सुना है। इसके पश्चात् आठ अध्ययनों मे इस प्रतिज्ञा को फिर से नहीं दुहराया गया परन्तु नवमे अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए इस प्रतिज्ञा को फिर से उल्लेख किया गया है। इसका कारण यह है कि आठ अध्ययन साध्वाचार से संबन्धित थे, इस लिए उनमें बार-बार उक्त प्रतिज्ञा को दोहराने की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु प्रस्तुत अध्ययन भगवान महावीर की साधना से सम्बद्ध होने से यह शंका हो सकती है कि सूत्रकार ने अपनी ओर से भगवान महावीर की स्तुति की है या उनकी विशेषता को बताने के लिए उक्त अध्ययन का वर्णन किया है। सूत्रकार के द्वारा आचाराङ्ग सूत्र के प्रारम्भ मे की गई प्रतिज्ञा को पुन दोहराने के बाद भी कुछ लोग प्रस्तुत अध्ययन को भगवान महावीर का गुण कीर्तन ही मानते हैं। उनका कथन है कि यह भगवान महावीर का यथार्थ जीवन-वर्णन नहीं किन्तु गणधरों ने उनके गुणों का वर्णन किया है॥। इस तरह की शकाओं का निराकरण करने के लिए सूत्रकार ने इस "अहासुय" प्रतिज्ञा सूत्र का फिर से उल्लेख किया है। सूत्रकार ने प्रस्तुत अध्ययन मे यह स्पष्ट कर दिया है कि भगवान महावीर के जीवन के सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ नहीं कह रहा हूँ। मैंने भगवान महावीर से उनकी सयम साधना के विषय मे जैसा सुना है वैसा ही तुम्हें बता रहा हूँ अर्थात् प्रस्तुत अध्ययन भगवान की स्तुति मे नही, किन्तु, भगवान महावीर की साधना का यथार्थ चित्र है सूत्रकार ने सूत्रकृताग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छट्ठे अध्ययत में भगवान महावीर का गुण कीर्तन किया है और उस अध्ययन का नाम है— वीर स्तुति अध्ययन। यदि प्रस्तुत अध्ययन मे गणधर भगवान ने स्तुति की होती तो वे सूत्र कृताङ्ग की तरह यहा भी उल्लेख करते। परन्तु उक्त अध्ययन मे सूत्रकार ने अपनी ओर से कुछनहीं कहा है। वे कहते हैं कि जैसा भगवान महावीर ने अपनी संयम-साधना का वर्णन किया है, वही मैं तुम्हें सुनाता हूं।

भगवान महावीर का जन्म क्षत्रियकुण्ड नगर में हुआ था। महाराज सिद्धार्थ उनके पिता एव महारानी त्रिशला उनकी माता थी। वे अपने किसी पूर्वभव मे आवद्ध तीर्थंकर नाम कर्म के कारण इस अवसर्पिणी काल के २४वे तीर्थंकर हुए। जन्म के समय ही वे मति, श्रुत एवं अवधि तीन ज्ञान से युक्त थे। वे शरीर से जितने सुन्दर थे, उससे

॥ अने इहां गणधरा भगवान् रा गुण वर्णन कीधा। त्या गुणा में अवगुणा ने किम कहे। गुणा में तो गुणा ने इज कहे। — भ्रमविध्वसनम् पृष्ठ २६१

भी अधिक आपका अन्तर जीवन दया, करुणा, क्षमा, उदारता एवं वीरता आदि गुणों से परिपूर्ण था। उनका विवाह यशोदा नाम की राजकुमारी के साथ हुआ और प्रियदर्शना नामक कन्या का जन्म हुआ जिसका जमाली के साथ विवाह किया गया। आप संसार में रहते हुए भी संसार में अलिप्त रहते थे। आप अपनी गर्भ में की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार माता-पिता के जीवित रहते उनकी सेवा में संलग्न रहे। उनके स्वर्गवास के पश्चात् आपने अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दीवर्द्धन के सामने दीक्षा लेने का विचार रखा। अभी माता-पिता का वियोग हुआ ही था और अब भाई के विरह की व्यथा को एक दम सह नहीं सके। अतः उनके अत्यधिक आग्रह के कारण आप दो वर्ष और गृहस्थवास में ठहर गए। और इन दो वर्षों में त्याग-निष्ठ जीवन बिताते रहे। फिर एक वर्ष अवशेष रहने पर उन्होंने प्रतिदिन १ करोड़ ८ लाख सोनैयों का दीन-हीन तथा गरीब जनों को दान देना आरम्भ किया और एक वर्ष तक निरन्तर दान देते रहे।

इसके पश्चात् मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी के दिन, दिन के चतुर्थ पहर में भगवान ने गृहस्थ जीवन का त्याग करके साधु जीवन को स्वीकार किया। गृहस्थ जीवन के समस्त वस्त्राभूषण आदि को उतार कर एवं पंचमुष्टि लुंचन करके 'करेमि भंते' के पाठ का उच्चारण करके समस्त सावद्य योगों से निवृत्त होकर साधना जीवन में प्रविष्ट हुए और साधना जीवन में प्रवेश करते ही उन्हें चौथा मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया। उस समय इन्द्र ने उन्हें एक देव दूष्य वस्त्र प्रदान किया, जिसे स्वीकार करके भगवान महावीर ने वहां से कुमार ग्राम की ओर विहार कर दिया। और साढ़े बारह वर्ष से कुछ अधिक समय तक मौन साधना एवं घोर तपश्चर्या के द्वारा चार घातिक कर्मों को सर्वथा क्षय करके केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त किया।

इससे स्पष्ट होता है कि साधक को अपने स्नेही सम्बन्धियों के साथ अधिक समय तक नहीं रहना चाहिए। इससे अनुराग एवं मोह की जागृति होती है और मोह साधक के जीवन को पतन की ओर ले जाने वाला है। अतः भगवान ने केवल उपदेश देकर ही नहीं, किन्तु स्वयं उसका आचरण करके बताया कि साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट साधक को किस तरह रहना चाहिए।

भगवान महावीर ने इन्द्र द्वारा प्रदत्त देव दूष्य वस्त्र का उपयोग किया और उसे क्यों स्वीकार किया? इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तंसि हेमन्ते। से पारए आवकहाए, एवं खु अणुधम्मियं तस्स ।२।

छाया—नो चैवानेन वस्त्रेण, पिधास्यामि तस्मिन् हेमन्ते ।
स पारगः यावत्कथं, एतत् खलु अनुधर्मिकं तस्य ।

पदार्थ—च—पुन । एव—अवधारण अर्थ में । इमेण वत्थेण—मैं इस वस्त्र से । तसि हेमते—उस हेमन्त काल में । नो पिहिस्सामि—अपने शरीर को नही ढकूगा । से—वह भगवान । पारए—प्रतिज्ञा के परिपालक और ससार से पारगामी थे । आवकहाए—जीवन पर्यन्त इसी वृत्ति को धारण करने वाले थे । खु—अवधारणार्थ में हैं । एयं—यह वस्त्र रूप धर्म । अणुधम्मिय—अन्य तीर्थंकरो ने ग्रहण किया है-इस कारण स । तस्स—उसी धर्म को भगवान ने ग्रहण किया है ।

मूलार्थ—मै इस वस्त्र से हेमन्त काल मे शरीर का ढकलूगा, इस आशय से भगवान ने वस्त्र ग्रहण नहीं किया । भगवान तो जीवन पर्यन्त प्रतिज्ञा के पालक, परीषह और ससार के पारगामी है—किन्तु पूर्ववर्ति तीर्थंकरो ने इसे ग्रहण किया है, इसलिए भगवान ने भी स्वीकार किया अर्थात् पूर्व तीर्थंकरो द्वारा आचरित होने से उस इन्द्र प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र को भगवान ने ग्रहण किया ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि दीक्षा लेते समय स्वीकार किए गए देव दूष्य के सम्बन्ध मे भगवान ने यह प्रतिज्ञा की कि मैं इस वस्त्र का अपने शरीर को ढकने के लिए उपयोग नहीं करूगा और भगवान ने जीवन पर्यन्त इस प्रतिज्ञा का पालन किया । वस्त्र स्वीकार करने के प्राय तीन कारण होते हैं— १-हेमन्त, सर्दी मे शीत से बचने के लिए, २-लज्जा ढकने के लिए और ३-जुगुप्सा को जीतने का सामर्थ्य न हो तो । भगवान न इन तीनो कारणों से वस्त्र को स्वीकार नहीं किया था । वे समस्त परीषहों को जीतने मे समर्थ थे और सदा परीषहों पर विजय पाते रहे हे । परीषहों से घबराकर उन्होंने कभी भी वस्त्र का उपयोग नही किया । अत उन्होंने वह वस्त्र अपने उपयोग के लिए स्वीकार नहीं किया । परन्तु पूर्व तीर्थंकरों द्वारा आचरित परम्परा को निभाने के लिए या अपने सघ मे होने वाले साधु-साध्वियो के लिए आचरण का मार्ग स्पष्ट करने के लिए उन्होने देवदूष्य को स्वीकार करके अपने कन्धे पर रख लिया ।

सभी साधकों की बाहरी सहिष्णुता एक समान नहीं होती । सभी साधक महावीर नहीं बन सकते । इसलिए स्थविर कल्प मार्ग की आचार परम्परा क स्पष्ट

करने के लिए उन्होंने वस्त्र ग्रहण किया। क्योंकि भावना का सम्बन्ध आत्मा के विशुद्ध भावों से है, राग-द्वेष को क्षय करने से है। वस्त्र रखने एवं नहीं रखने से इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसलिए भगवान महावीर ने न तो वस्त्र रखने का निषेध किया और न वस्त्र त्याग का ही निषेध किया। उन्होंने तीर्थपरम्परा को अनवरत चालू रखने के लिए वस्त्र को ग्रहण किया।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान ने अभिनव धर्म की स्थापना नहीं की, अपितु पूर्व से चले आ रहे धर्म को आगे बढ़ाया। पूर्व के समस्त तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित त्रैकालिक सत्य का उपदेश दिया, जनता को धर्म का यथार्थ मार्ग बताया। इस प्रकार "अणुधम्मियं" पद से स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर ने पूर्व परम्परा के अनुसार आचरण किया। वृत्तिकार ने भी इसी बात का समर्थन किया है और आगम के पाठ के उद्धरण देकर वस्त्र रखने की परम्परा का समर्थन किया है*।

"अनुधर्मिता" शब्द का अर्थ चूर्णि में गतानुगत किया है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान ने दीक्षा के समय एक वस्त्र रखने की परम्परा का पालन किया चूर्णि में इसका एक दूसरा अर्थ 'अनुकालधम्म' भी दिया गया है और उसका अभिप्राय यह बताया गया है कि तीर्थंकरों को भविष्य में सोपधिक-वस्त्र-पात्र आदि उपधि सहित धर्म का उपदेश देना पड़ता है।

अनुधर्मिता शब्द का प्रयोग संस्कृत कोष में नहीं मिलता, किन्तु पालिकोष को देखने से ज्ञात होता है कि पालि में यह शब्द 'अनुधम्मता' रूप से मिलता है। कोष में इसका अर्थ—Lawfulness (धर्म सम्मतता), Conformity of Dhamma (धर्म के अनुरूप) किया गया है। पालि में 'अनुधम्म' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। उसका भी Conformity or accordance with the Law (नियम के अनुसार), Lawfulness (धर्म सम्मतता), Relation (सम्बन्ध), Essence (सार), Consistansy (दृढ़ता, अनुकूलता) Truth (सच्चाई) अर्थ किया गया है। पालि में 'धम्मानुधम्म' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। उसका अर्थ है— मुख्य-गौण सभी प्रकार का धर्म†।

* से बेमि जे य अईया, जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरहन्ता भगवन्ता जे य पव्वयन्ति जे य पव्वइस्सन्ति ते सोवही धम्मो देसियव्वो त्ति कट्टु तित्थधम्मयाए [illegible]

इन शब्दों के प्रयोग और उनके अर्थों पर ध्यान दिया जाए तो 'अनुधर्मिकता' का अर्थ होता है कि भगवान महावीर ने धर्म के अनुकूल आचरण किया। और चूर्णिकार एव टीकाकार ने भी जो अर्थ किया है, वह भी असगत नहीं है। क्योंकि अब यह प्रश्न उठता है कि धर्म कौन सा? तब उत्तर यही मिलता है— 'जो पूर्व मे आचरण का विषय बना हो।' अत. वह केवल धर्म नहीं बल्कि अनुधर्म-परम्परा से प्रवहमान धर्म है। चूर्णिकार का 'अनकाल धर्म' भी सामर्थ्य लब्ध अर्थ माना जा सकता है। जैसा उन्होंने स्वय आचरण किया, वैसा आचरण दूसरे साधु भी करें। इस अपेक्षा से 'अनुकाल धर्म' भी असगत नहीं कहा जा सकता है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि भगवान महावीर ने अपने उपयोग के लिए या उस से शीत आदि निवारण करने की भावना से वस्त्र को स्वीकार नहीं किया। क्योंकि दीक्षा लेते ही उन्होंने यह प्रतिज्ञा धारण कर ली थी कि मैं इस वस्त्र का हेमन्त मे उपयोग नही करूंगा अर्थात् सर्दी के परीषह से निवृत्त होने के लिए इससे अपने शरीर को आवृत्त नहीं करूगा।

दीक्षा लेने के पूर्व भगवान के शरीर पर चन्दन आदि सुगन्धि पदार्थों की मालिश एव लेपन किया गया था। उस सुगन्ध से आकर्षित होकर भ्रमर आदि जन्तु आकर भगवान को कष्ट देने लगे। उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—चत्तारि साहिए मासे, बहवे पाणजाइया अभिगम्म।
अभिरुज्झ कायं विहिरिंसु, आरुसिया णं तत्थ हिंसिसु॥२॥

छाया—चतुर समधिकान् मासान्, बहवः प्राणिजातयः समागत्य।
आरुह्य काय विजह्रु, आरुह्य तत्र हिंसन्तिस्म॥

पदार्थ—चत्तारि मासे—चार महीनो से। साहिए—अधिक। बहुवे पाणजाइया—अनेक जातियो के प्राणी। आगम्म—आ कर के। अभिरुज्झ काय—शरीर पर बैठ कर। विहिरिंसु—रहने लगे तथा। आरुसिया—मास एव रुधिर का आस्वादन करने के लिए शरीर पर चढ कर। तत्थ—वहा—उस शरीर की। हिंसिसु—हिसा करने लगे, मास-खून आदि चखने लगे, भगवान के शरीर पर डक मारने लगे।

मूलार्थ—भगवान महावीर के शरीर एव देवदूष्य वस्त्र से निकलने वाली सुवास से आकर्षित होकर बहुत सी जातियो के प्राणी उनके शरीर

पर बैठने एव रहने लगे और करीबन साढ़े चार महीने तक उनके शरीर पर डक मारते रहे।

हिन्दी विवेचन

दीक्षा के पूर्व भगवान को सुगन्धित द्रव्यों से मिश्रित जल से स्नान कराया गया था और उनके शरीर पर चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ लगाए थे। उन पदार्थों एवं देव-दूष्य वस्त्र से निकलने वाली सुवास से आकर्षित होकर भ्रमर, मधु-मक्खी आदि अनेक प्राणी उनके शरीर पर बैठने लगे और सुवास का आनन्द लेने के साथ-साथ भगवान के शरीर पर डक भी मारने लगे। कुछ प्राणियों ने तो भगवान के शरीर को ही आवास स्थान बना लिया। इतना कष्ट होने पर भी भगवान उन्हें हटाते नहीं थे। वे शारीरिक चिन्तन से ऊपर उठकर केवल आत्म चिन्तन मे सलग्न रहते थे।

भगवान महावीर की साधना प्रत्येकबुद्ध साधक की विशिष्ट साधना है। सामान्य साधक अपने शरीर पर बैठने वाले मच्छर आदि जन्तुओं को यतना पूर्वक हटा भी देता है। वह इतना ध्यान अवश्य रखता है कि अपने शरीर का बचाव करते हुए दूसरे के शरीर का नाश न हो। इसलिए साधक प्रमार्जनी के द्वारा धीरे से उस प्राणी को बिना आघात पहुचाए अपने शरीर से दूर कर देता है। परन्तु, विशिष्ट साधक उन्हें हटाने का प्रयत्न नहीं करते। वे अपने मन में भी उनको दूर करने की कल्पना तक नहीं करते। क्योंकि वे शरीर पर से अपना ध्यान हटा चुके हैं। उनका चिन्तन केवल आत्मा की ओर लगा हुआ है। इसलिए उन्हें यह अनुभूति ही नहीं होती कि शरीर पर क्या-कुछ हो रहा है। इस तरह भगवान महावीर ने साढ़े चार महीने तक जन्तुओं के परीषहों को समभाव पूर्वक सहन किया।

ध्यान एवं आत्म-चिन्तन मे संलग्न प्रत्येक साधक के लिए यह बताया गया है कि उस समय वह शरीर पर से ध्यान हटाकर आत्म भाव में स्थित रहे। ध्यान को कायोत्सर्ग भी कहते हैं। कायोत्सर्ग का अर्थ है— काय (शरीर) का त्याग कर देना। यहा शरीर त्याग का अर्थ – मर जाना नहीं, किन्तु शरीर से अपना ध्यान हटा लेना होता है। उस समय कोई भी जीव-जन्तु उसके शरीर पर डक भी मारे तब भी वह साधक अपनी साधना से विचलित न होते हुए और उस प्राणी को न हटाते हुए समभाव पूर्वक अपनी साधना एव चिन्तन वृत्ति मे सलग्न रहे। इस प्रकार की आत्म साधना से कर्मों का

। ही नहीं, अपितु

वह देव दुष्य वस्त्र भगवान के पास कब तक रहा इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—संवच्छरं साहियं मासं,जं न रिक्कासि वत्थगं भगवं।
अचेलए तओ चाइ तं वोसिज्ज वत्थमणगारे ।४।

छाया—सम्वत्सरं साधिकं मास यन्न त्यक्तवान् वस्त्र भगवान।
अचेलकः ततः त्यागी, तत् व्युत्सृज्य वस्त्रमनगार ॥

पदार्थ—भगव—भगवान ने। सवच्छर—एक वर्ष। साहिय मास—एक मास अधिक अर्थात् १३ महीने तक। ज—जिस। वत्थग—वस्त्र को। न रिक्कासि—नही छोडा। तओ—तत्पश्चात्। चाइ—वस्त्र के त्यागी हुए। त—उसे। वोसिज्ज—छोड कर। अणगारे—अनगार-भगवान। अचेलए—अचेलक हुए।

मूलार्थ—भगवान १३ महीने तक वस्त्र को धारण किए हुए रहे तत्पश्चात् वस्त्र को छोड़ कर वे अचेलक हो गए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि इन्द्र द्वारा प्रदत्त देव दूष्य वस्त्र भगवान के पास १३ महीने रहा। उसके पश्चात् भगवान ने उसका त्याग कर दिया और वे सदा के लिए अचेलक हो गए। सभी तीर्थंकरों की यही मर्यादा है कि वे देव दूष्य वस्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी वस्त्र को स्वीकार नहीं करते। उसका त्याग करने के बाद वे अचेलक ही रहते हैं। भगवान महावीर ने भी उसी परम्परा का अनुकरण किया।

इस गाथा मे 'चाई' और 'वोसिज्ज' दो पद दिए हैं। पहले पद का अर्थ है त्याग। इसका तात्पर्य यह हुआ कि त्याग करने पर ही त्यागी होता है। और साधक अपनी साधना का विकास करने के लिए या विशिष्ट साधना के लिए सदा कुछ न कुछ त्याग करता ही है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पदार्थ उसकी साधना को दूषित करने वाला है, इसलिए वह उसका त्याग करता है। उसका तात्पर्य इतना ही है कि विशिष्ट साधना के लिए साधक उसका त्याग करता है। जैसे तपश्चर्या की साधना करने वाला साधक आहार-पानी का त्याग कर देता है। इससे यह समझना गलत एव भ्रान्त होगा कि आहार सयम का बाधक है। अस्तु वह सयम पालन के लिए आहार का त्याग नहीं करता, अपितु, तप साधना के लिए आहार का परित्याग करता है। इसी तरह

निस्पृह भाव से वस्त्र रखते हुए भी शुद्ध संयम का पालन हो सकता है। फिर भी कुछ विशिष्ट साधक विशिष्ट साधना या शीत-ताप एवं दंशमशक आदि परीषहों को सहन करने रूप तप की विशिष्ट साधना के लिए वस्त्र का त्याग करते हैं, जैसा कि भगवान महावीर ने किया था।

भगवान ने वस्त्र का कैसे परित्याग किया इसका विस्तृत विवेचन कल्प सूत्र की सुबोधिका टीका में किया गया है। यहां वृत्तिकार ने इतना ही बताया है कि एक बार भगवान सुवर्ण बालुका नदी के किनारे चल रहे थे। उस समय उसके प्रवाह में बहकर आए हुए कांटों में फंसकर वह वस्त्र उनके कन्धे पर से गिर गया। भगवान ने उसे उठाने का प्रयत्न नहीं किया। वे उसे वहीं छोड़कर आगे बढ़ गए। और एक व्यक्ति ने उस वस्त्र को उठा लिया*।

अब भगवान के विहार का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अदु पोरिसिं तिरियं भित्तिं चक्खुमासज्ज अंतसो झायइ।
अह चक्खुभीया संहिया ते हन्ता हन्ता बहवे कंदिंसु ।५।

छाया—अथ पौरुषीं तिर्यग्भित्तिं, चक्षुरासाद्य अन्तःध्यायति।
अथ चक्षुर्भीता संहिता, यो हत्वा हत्वा बहव चक्रदुः

पदार्थ—अदु—आनन्तर्य अर्थ में है। पोरिसिं—पुरुष परिमाण। तिरियं भित्तिं—ऊर्ध्व शकटवत् अर्थात् पीछे से संक्षेप और आगे से विस्तार वाली धुरी की तरह। चक्खुमासज्ज—दृष्टि को आगे रखकर अर्थात् देखकर। अन्तसो—वे अपने मन को। झायइ—ईर्या-समिति में लगाते हुए चलते हैं। अह—अथ। चक्खुभीया—उस समय उनके दर्शन से डरे हुए। ते—वे। संहिया—बहुत से बालक मिलकर। हन्ता २—धूल से भरी हुई मुष्टि को मारते हुए। बहवे—बहुत से बालक। कंदिंसु—कोलाहल करते हैं।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर, पुरुष प्रमाण आगे के मार्ग को देखते हुए अर्थात् रथ की धुरी प्रमाण भूमि को देख कर ईर्यासमिति में ध्यान देकर चलते हैं। उनको चलते हुए देख कर उनके दर्शन से डरे हुए

बहुत मे बालक इकट्ठे होकर भगवान पर धूल फैंकते है और वे अन्य बालको को बुलाकर कहते है कि देखो देखो ! मुंडित कौन है ? वे इस प्रकार कालाहल करते है।

हिन्दी विवेचन

साधना का जीवन निवृत्ति का जीवन है। परन्तु, शरीर युक्त प्राणी सर्वथा निवृत्त नहीं हो सकता। उसे आवश्यक कार्यों के लिए कुछ न कुछ प्रवृत्ति करनी होती हैं। इसलिए साधना के क्षेत्र मे भी निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। अत निवृत्ति की तरह साधना मे सहायक प्रवृत्ति भी धर्म है। फिर भी, दोनों मे अतर इतना ही है कि निवृत्ति उत्सर्ग है और प्रवृत्ति अपवाद है। या यों कहिए कि निवृत्ति के लिए सदा-सर्वदा आज्ञा है, साधक प्रतिसमय निवृत्ति कर सकता है, परन्तु प्रवृत्ति के लिए यह बन्धन है कि आवश्यक य अनिवार्य कार्य होने पर ही उसका उपयोग किया जाए। जैसे मौन रखने के लिए सदा आज्ञा है, उसके लिए कोई बन्धन नहीं है। परन्तु, बोलने के लिए ध्रुव आज्ञा नहीं है। उसके लिए यह विधान है कि बोलने की आवश्यकता होने पर ही साधु निर्दोष एव मर्यादित भाषा का प्रयोग करे।

इस निवृत्ति और प्रवृत्ति के लिए समिति और गुप्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। समिति प्रवृत्ति की प्रतीक है और गुप्ति निवृत्ति परक जीवन की ससूचक है। प्रत्येक साधक की साधना समिति एव गुप्ति से युक्त होती है। भगवान महावीर भी समिति-गुप्ति से युक्त थे। वे जब भी चलते थे तब ईर्यासमिति के साथ चलते थे। वे अपनी दृष्टि को, अपने योगों को सब ओर से हटाकर मार्ग पर संगृहीत कर लेते थे। इससे रास्ते मे आने वाले किसी भी जीव की विराधना नहीं होती थी। वे रास्ते मे आने वाले प्रत्येक प्राणी को बचाकर अपना मार्ग तय कर लेते थे। यदि दृष्टि मे एकाग्रता न हो तो रास्ते मे आने वाले छोटे-मोटे प्राणियों की हिंसा से बच सकना कठिन है। इस लिए यह नियम बना दिया गया कि साधक को अपनी दृष्टि एव, अपने योगों को एकाग्र करके विवेक पूर्वक चलना चाहिए। भगवान महावीर ने इसका स्वय आचरण करके बताया कि साधक को किस प्रकार चलना चाहिए। भगवान महावीर केवल उपदेष्टा नहीं थे। इसलिए उन्होंने उपदेश देने से पहले स्वय आचरण करके साधना के मार्ग को बताया।

भगवान महावीर को पथ से गुजरते हुए देखकर बहुत से बालक डर कर कोलाहल मचाते और अन्य बालकों को बुलाकर भगवान पर धूल फैंकते और हो-हल्ला

मचाते। इससे भगवान का कुछ नहीं बिगड़ता। वे उनकी ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देखते। वे समभाव पूर्वक अपने पथ पर चलते रहते। इस तरह सब परीषहों को सहते हुए भगवान ईर्या समिति को देखते हुए विचरते थे।

पहले महाव्रत—अहिंसा का वर्णन करके अब सूत्रकार चौथे महाव्रत के विषय मे कहते हैं—

मूलम्—सयणेहिं वितिमिस्सेहिं इत्थिओ तत्थ से परिन्नाय।
सागारियं न सेवेइ य, से सयं पवेसिया झाइ।६।

छाया—शयनेषु व्यतिमिश्रेषु, स्त्रियः तत्र स परिज्ञाय।
सागारिकं न सेवेत, स स्वयं प्रवेश्य ध्यायति॥

पदार्थ-वितिमिस्सेहिं—गृहस्थ और अन्य दर्शनीयो से मिश्रित। सयणेहिं—जो वस्ति मे है। तत्थ—वहा पर। इत्थिओ-स्त्रियो से प्रार्थित किए गए। से—वे श्रमण भगवान महावीर परिन्नाय- मैथुन क्रीडा के परिणाम को जानकर। सागारियं—मैथुन क्रीडा का। न सेवेइ—सेवन नही करते थे। य—पुन। से—वे। सयं— स्वय-अपनी आत्मा से वैराग्य मार्ग मे। पवेसिया—प्रविष्ट होकर। झाइ—धर्म वा शुक्ल ध्यान मे निमग्न रहते थे।

मूलार्थ—यदि गृहस्थो एव जैनेतर सन्तो से मिश्रित वस्तियो मे ठहरे हुए भगवान को वहा स्थित देखकर स्त्रिए विषय भोग के लिए प्रार्थना करती तो वे मैथुन के परिणाम को जानकर उसका सेवन नही करते थे। वे स्वय अपनी आत्मा से वैराग्य मार्ग मे प्रवेश करके सदा धर्म एव शुक्ल ध्यान मे ही सलग्न रहते थे।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि भगवान महावीर सदा-सर्वदा आत्म-चिन्तन मे संलग्न रहते थे। वे प्राय गाव के बाहर या जगल मे ही ठहरते थे। फिर भी इधर-उधर से गुजरते समय उनके रूप-सौंदर्य को देखकर कुछ कामातुर स्त्रिया उनके पास पहुचकर भोग-भोगने की इच्छा प्रकट करती थीं। वे अनेक तरह के हाव-भाव प्रदर्शित करके उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती थी। परन्तु भगवान उस ओर ध्यान ही नहीं देते थे। क्योंकि वे विषय-वासना के विपाक्त परिणामों से परिचित थे। वे जानते थे कि ये भोग ऊपर से मधुर प्रतीत होते हैं, परन्तु इनका परिणाम बहुत

भयावना होता है। जैसे किंपाक फल देखने मे सुन्दर लगता है, उसकी सुवास भी बडी सुहावनी होती है, उसका स्वाद भी मधुर होता है और उसका उपयोग करने वाले व्यक्ति को वह बड़ा प्रिय लगता है। परन्तु, खाने के बाद जब उसका असर होता है, तो मनुष्य निर्जीव हो जाता है। इस तरह रूप आदि मे सुन्दर प्रतीत होने वाला वह फल परिणाम की दृष्टि से भयकर है, उसी प्रकार काम-भोग बाहर से सुखद प्रतीत होने पर भी परिणाम की दृष्टि से दुःखद ही हैं। वे अनेक रोगों के जन्मदाता है, शारीरिक शक्ति का ह्रास करने वाले हैं और आत्मा को संसार मे परिभ्रमण कराने वाले हैं। इसलिए भगवान ने न तो उनकी ओर आख उठाकर देखा और न उनकी बातों पर ही ध्यान दिया। वे सद-सर्वदा समभाव पूर्वक अपने आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहते थे।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे के इमे अगारत्था, मीसीभावं पहाय से झाइ।
पुट्ठोवि नाभिभासिंसु गच्छइ नाइवत्तइ अंजू ।७।

छाया—ये केचन इमे अगारस्था मिश्रीभावप्रहाय स ध्यायति।
पृष्टोऽपि नाभ्यभाषत, गच्छति नातिवर्तते ऋजुः॥

पदार्थ—जे—यदि। के—कभी भगवान। अगारत्था—गृहस्थों से युक्त मकान मे ठहरते थे। तब से वे। इमे—इन। मिसी भाव—मिसीभाव को। पहाय—छोडकर। झाइ—धर्म ध्यान ध्याते थे अत। पुट्ठोवि—वे पूछने या न पूछने पर भी। नाभिभासिंसु—नही बोलते थे। वे सदा मोक्ष मार्ग की साधना के लिए ही। गच्छइ—गमन करते थे। नाइवत्तइ—वे किसी के कहने पर भी मोक्ष मार्ग का त्याग नही करते थे। अज—इसलिए वे ऋजु—सरल थे।

मूलार्थ—गृहस्थो से मिश्रित स्थान को प्राप्त होने पर भी भगवान मिश्रभाव को छोडकर धर्म ध्यान मे ही रहते थे। गृहस्थो के पूछने या न पूछने पर भी वे नही बोलते थे। अपने कार्य की सिद्धि के लिए गमन करते थे। और किसी के कहने पर भी मोक्षमार्ग या आत्मचिन्तन का त्याग नही करते थे। अथवा ऋजु परिणामी भगवान सयम मार्ग मे विचरते रहते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर प्राय जगल में या गांव के बाहर शून्य स्थानों मे ठहरते थे। कभी वे परिस्थितिवश गृहस्थों से युक्त स्थान मे अथवा शहर या गाव के बीच भी

ठहरते थे। परन्तु, ऐसे स्थानों में भी वे उनके संपर्क से दूर रहते थे। वे अपने आत्म-चिन्तन में इतने संलग्न थे कि उनका मन गृहस्थों की ओर जाता ही नहीं था। यदि कोई व्यक्ति उन्हें बुलाने का प्रयत्न करता, उनसे कुछ पूछना चाहता तो भी वे नहीं बोलते थे। न उनकी बातों को सुनते थे और न उसका कोई उत्तर ही देते थे। इसका यह तात्पर्य नहीं कि गृहस्थों के शब्द उनके कर्ण-कुहरों में प्रविष्ट हो नहीं होते थे। शब्द तो उनके कानों मे पड़ते थे, परन्तु, उन्हे ग्रहण करने वाला मन या चित्तवृत्ति आत्म चिन्तन में लगी हुई थी, इसलिए उन्हें उनकी अनुभूति ही नही होती थी। क्योंकि मन जब तक किसी विषय को ग्रहण नहीं करता तब तक केवल इन्द्रिएं उसे पकड़ नहीं सकतीं।

भरत चक्रवर्ती के समय की बात है कि उसने सुनार के मन में स्थित संदेह—"भरत चक्रवर्ती मेरे से अल्प परिग्रही कैसे हैं?" को दूर करने के लिए उसे एक तैल का कटौरा भरकर दिया और सुसज्जित बाजार का चक्कर लगाकर आने का आदेश दिया। साथ में यह भी सूचित कर दिया गया कि इस कटोरे से एक भी बून्द नीचे नहीं गिरनी चाहिए। यदि एक बून्द तैल भी गिर गया तो यह साथ में जाने वाले सिपाही ही तुम्हारे मस्तक को धड़ से अलग कर देंगे। वह पूरे बाजार में घूम आया। बाजार खूब सजाया हुआ था। स्थान-स्थान पर नृत्य-गान हो रहे थे। परन्तु, वह जैसा गया था वैसा ही वापिस लौट आया। जब भरत ने पूछा कि तुमने बाजार में क्या देखा? तुम्हें कौन सा नृत्य या गायन पसन्द आया? तो उसने कहा महाराज, मैंने बाजार में कुछ नहीं देखा और कुछ नहीं सुना। यह नितान्त सत्य है कि मेरी आंख खुली थी और कानों के द्वार भी खुले थे। नृत्य एवं गायन की ध्वनि कानों मे पड़ती थी और दृष्टि पदार्थों पर गिरती थी, परन्तु मेरा मन, मेरी चित्तवृत्ति तैल के कटोरे में ही केन्द्रित थी। इसलिए उस ध्वनि को मेरा मन पकड़ नहीं पाया। जैसे समुद्र की लहरें किनारे से टकराकर पुन: समुद्र मे विलीन हो जाती हैं, उसी तरह वह ध्वनि कर्ण कुहरों से टकराकर पुन लोक में फैल जाती थी।

भरत ने उसे समझाया कि तेरी और मेरी चित्त वृत्ति में यही अंतर है। तुम्हारा मन भय के कारण अपने आप में केन्द्रित था। परन्तु मेरा मन बिना किसी भय एव आकांक्षा के अपनी आत्मा मे केन्द्रित है। मैं संसार मे रहते हुए भी संसार से अलग अपनी आत्मा मे स्थित होने के लिए प्रयत्नशील हूं, सदा आत्मा को सामने रख कर ही कार्य करता हूँ। इसलिए भगवान ऋषभदेव ने मुझे आपसे अल्प परिग्रही बताया है।

कहने क

की धारा जुड़ी हुई

जब मन आत्मा के साथ संलग्न होता है, तो हजारों विषयों के सामने आने पर भी हमें उनको अनुभूति नहीं होती। अस्तु, आत्म-चिन्तन मन एव परिणामों की धारा को विषय चिन्तन से रोकने के लिए महत्त्वपूर्ण साधन है। भगवान महावीर का मन अपनी आत्मा मे इतना सलग्न था कि गृहस्थों की वार्तों का उनपर कोई असर नहीं होता था। वे उनके किसी भी प्रश्न का उत्तर-प्रत्युत्तर नहीं देते थे। इससे स्पष्ट होता है कि उनका चिन्तन जगल एवं शहर मे समान रूप से चलता था। किसी भी तरह के बाह्य वातावरण का उनके मन पर असर नही होता था। इस तरह वे गृहस्थों के मध्य मे रहते हुए भी मौन रहते थे और सदा आत्म चिन्तन मे संलग्न रहते थे।

भगवान की सहिष्णुता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—णो सुकरमेयमेगेसिं, नाभिभासे य अभिवायमाणे।
हयपुव्वे तत्थ दण्डेहिं लूसियपुव्वे अप्पुण्णेहिं।८।

छाया—नोसुकरमे तदेकेषा, नाभिभाषते च अभिवादयतः।
हतपूर्वः तत्र दण्डैः लूषितपूर्वं अपुण्यैः॥

पदार्थ—तत्थ – उस अनार्य देश में। अपुण्णेहिं – पुण्यहीन अनार्य मनुष्य। दंडेहिं – दडो से। हयपुव्वे – पहले घायल करते। लूसिय पुव्वे – वालो को खीच कर या अन्य तरह उन्हे कष्ट देते, फिर भी भगवान महावीर। अभिवायमाणे नाभिभासे – अभिवादन करने वाले व्यक्ति पर प्रसन्न होकर उससे बात नही करते। य – और जो व्यक्ति अभिवादन नही करता उस पर क्रोध नही करते, इसलिए। एय – यह भगवान की साधना। एगेसिं—कई एक व्यक्तियो के लिए। णो सुकर–सुगम नही थी।

मूलार्थ—जब भगवान महावीर अनार्य देश मे विहार कर रहे थे, उस समय पुण्यहीन अनार्य व्यक्तियो ने भगवान को डडो से मारा-पीटा एव उन्हे विविध कष्ट दिए, फिर भी वे अपनी साधना मे सलग्न रहे। वे अभिवादन करने वाले व्यक्ति पर प्रसन्न होकर न तो उससे बात करते थे और न तिरस्कार करने वाले व्यक्ति पर क्रोध ही करते थे। वे मान एव अपमान को समभाव पूर्वक सहन करते थे। अतः प्रस्तुत अध्ययन मे उल्लिखित भगवान महावीर की साधना जन साधारण के

लिए सुगम नहो थो अर्थात् सामान्य साधक इतनी उत्कृष्ट साधना नही कर सकता था।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में भगवान महावीर की साधना का उल्लेख किया गया है। इसमे बताया है कि भगवान सदा सभी प्राणियों पर समभाव रखते थे। उनका किसी भी प्राणी के प्रति रागद्वेष नहीं था। वे न तो किसी के वन्दन-अभिवादन आदि से प्रसन्न होते थे और न किसी के द्वारा मान-सम्मान या वन्दन न मिलने पर उस पर क्रुद्ध ही होते थे।

जब भगवान अनार्य देश मे गए तो वहा के लोग भगवान की साधना से परिचित नहीं थे। वे धर्म के मर्म को नहीं जानते थे। अत. वे भगवान की मखौल उड़ाते, उन्हें गालिएं देते, उनके शरीर पर डडे से प्रहार करते और उनके ऊपर शिकारी कुत्तों को छोड़ देते थे। इस तरह वे अबोध प्राणी भगवान को घोर कष्ट देते थे। फिर भी भगवान महावीर उन पर कभी क्रोध नहीं करते थे। वे समभावपूर्वक समस्त परीषहों को सहते हुए विचरण करते थे।

यह स्पष्ट है कि कृत कर्म कभी भी निष्फल नहीं जाते चाहे तीर्थंकर हो, साधु हो या और कोई भी व्यक्ति क्यों न हो अपने किए हुए कर्मों का फल उसे अवश्य भोगना पडता है। यह बात अवश्य है कि कुछ महापुरुष उस फल को समभाव पूर्वक सहन कर लेते हैं और कुछ व्यक्ति हाय-हाय करके उसका वेदन करते हैं। जो व्यक्ति समभाव पूर्वक पूर्व कर्मों का फल भोग लेता है, वह समभाव की साधना से नए कर्मों के आगमन को रोक लेता है और पुरातन कर्म को क्षय करके पथ पर बढ़ जाता है। और जो आर्त-रौद्र ध्यान करता हुआ कृत कर्म के फल का सवेदन करता है, वह नए कर्मों का बन्ध करके ससार में परिभ्रमण करता रहता है। भगवान महावीर इस बात को भली-भाति जानते थे। अत वे परीषहों को अपने कृत कर्म का फल समझकर समभाव पूर्वक भोगते रहे।

ऐसा कहा जाता है कि भगवान महावीर के कर्म इस काल चक्र में हुए सब तीर्थंकरों से अधिक थे, २३ तीर्थंकरों के कर्मों का समूह और भगवान महावीर का कर्म समूह प्राय बराबर था। अत उसे क्षय करने के लिए भगवान महावीर ने कठोर तप एव अनार्य देश मे विहार किया। अनार्य देश के लोग धर्म एव साधु जीवन से अपरिचित होने के कारण उन्हें अधिक परीषह उत्पन्न होने थे और उनको समभाव

पू

का

कष्टों को सहन किया, परन्तु किसी भी व्यक्ति पर क्रोध एवं द्वेष नहीं किया। भगवान महावीर की यह उत्कृष्ट साधना सब के लिए सुगम नहीं है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—फरुसाइं दुतितिक्खाइं, अइअच्च मुणी परक्कममाणे।
अघायनट्टगीयाइं, दंडजुद्धाइं मुट्ठिजुद्धाइं ।९।

छाया—परुषाणि दुस्तितिक्षाणि, अतिगत्य मुनिः पराक्रममाणः।
आख्यात नृत्यगीतानि, दण्ड युद्धानि मुष्टि युद्धानि।

पदार्थ—अघाय—अनार्य पुरुषों द्वारा कहे हुए। दुतितिक्खाइं—अत्यन्त तीक्ष्ण एवं असहनीय। फरुसाइं—कठोर वचनों को। अइअच्च—सुनकर भी उन पर ध्यान नहीं देते हुए मुनि—भगवान महावीर। परक्कममाणे—उन्हें सहन करने का पुरुषार्थ करते थे, और वे। नट्टगीयाइं—नृत्य एवं गीतों को देखते एवं सुनते नहीं थे। दंड जुद्धाइं—दंड युद्ध एवं। मुट्ठि जुद्धाइं—मुष्ठि युद्ध को देखकर विस्मित नहीं होते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर अनार्य पुरुषों के द्वारा कथित कठोर एवं असह्य शब्द प्रहारों से प्रतिहत न होकर, उन शब्दों को समभाव पूर्वक सहन करने का प्रयत्न करते थे। और प्रेम पूर्वक गाए गए गीतों एवं नृत्य की ओर ध्यान ही नहीं देते थे और न दंड युद्ध एवं मुष्टि युद्ध को देखकर विस्मित ही होते थे।

हिन्दी विवेचन

साधक के लिए आत्म चिन्तन के अतिरिक्त सब बाह्य कार्य गौण होते हैं। वह अपनी निन्दा एवं स्तुति से ऊपर उठकर आत्म साधना में संलग्न रहता है। भगवान महावीर भी सदा अपनी साधना में संलग्न रहते थे। कोई उन्हें कठोर शब्द कहता, कोई गालियां देता, तब भी वे उस पर क्रोध नहीं करते थे। वे उसे समभाव पूर्वक सह लेते थे। इसी तरह कोई उनकी प्रशंसा करता या कहीं नृत्य-गान होता या मुष्टि एवं द्वन्द्व युद्ध होता तो भी भगवान उस ओर ध्यान नहीं देते। क्योंकि, इस से राग-द्वेष की भावना उत्पन्न होती है और राग-द्वेष से कर्म बन्ध होता है। अतः भगवान समस्त प्रिय-अप्रिय विषयों की ओर ध्यान नहीं देते हुए तथा अनुकूल तथा प्रतिकूल सभी परीषहों को समभाव पूर्वक सहते हुए आत्म-साधना में संलग्न रहते थे।

उनकी सहिष्णुता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—गढ़िए मिहुकहासु समयंमि, नायसुए विसोगे अदक्खु।
एयाइ से उरालाइं गच्छइ, नायपुत्ते असरणयाए ॥१०॥

छाया—ग्रथित मिथः कथासु समये ज्ञातपुत्र विशोकः अद्राक्षीत्।
एतानि स उरालानि, गच्छति, ज्ञातपुत्रः अशरणाय ॥

पदार्थ—समयंमि—उस समय। नायसुए—ज्ञातपुत्र-भगवान महावीर। गढ़िए मिहु कहासु—लोगो को विषय-विकार से युक्त कथाए करते हुए देखकर भी भगवान। विसोगे—हर्ष एव शोक से रहित होकर। अदक्खु—उन्हे देखते थे, और। से—वह। नायपुत्ते—भगवान महावीर। एयाइ उरालाइ—इन अनुकूल एव प्रतिकूल उत्कृष्ट परीषहो को सहन करते हुए। असरणयाए—दुःखो का स्मरण न करते हुए या दुःखो से घवरा कर दूसरे की शरण न लेते हुए। गच्छइ—संयम मार्ग पर विचरण करते थे।

मूलार्थ—जहा कही लोग शृङ्गार रस से युक्त कथाएं करते थे या स्त्रिए परस्पर कामोत्पादक कथाओ मे प्रवृत्त होती, तो उन्हे देखकर भगवान महावीर के मन मे हर्ष एवं शोक उत्पन्न नही होता था। और अनुकूल एव प्रतिकूल कैसा भी उत्कृष्ट परीषह उत्पन्न हो किन्तु फिर भी वे दीनभाव से या दुःखित होकर किसी की शरण स्वीकार नही करते थे। परन्तु उस समय समभावपूर्वक संयम साधना मे संलग्न रहते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर के सामने कई तरह के प्रसग आते थे। वे जब कभी भी शहर या गाव के मध्य मे ठहरते तो वहा स्त्री-पुरुषों की पारस्परिक कामोत्तेजक बातें भी होती थीं, परन्तु भगवान उनकी बातों की ओर ध्यान नहीं देते थे। वे विषय-विकार बढाने वाली बातों को सुनकर न तो हर्षित होते थे और न विषयों के अभाव का अनुभव करके दुःखित ही होते थे। वे हर्ष और शोक से सर्वथा रहित होकर आत्म-साधना में संलग्न रहते थे। क्योंकि वे भली-भाति जानते थे कि विषय-वासना मोह का कारण है और मोह समस्त कर्मों मे प्रबल है, वह सब कर्मों का राजा है। उसका नाश करने पर शेष कर्मों का नाश सुगमता से किया जा सकता है। यही कारण है कि सर्वज्ञता को प्राप्त करने वाले महापुरुष सबसे पहले मोहनीय कर्म का क्षय करते हैं, उसके बाद शेष तीन

घातिक कर्मों का नाश करते हैं। अत, भगवान महावीर विषय-विकारों को मोह बढ़ाने का कारण समझकर उसमे रस नहीं लेते थे। वे उस समय भी अपनी आत्म-साधना मे ही सलग्न रहते थे।

भगवान की निस्पृहता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अवि साहिये दुवे वासे सीओदं अभुच्चा निक्खंते।
एगत्तगए पिहियच्चे से अहिन्नाय दंसणे संतेण ।११।

छाया—अपि साधिके द्वे वर्षे, शीतोदकमभुक्त्वा निष्क्रान्तः।
एकत्वगतः पिहितार्चः सः अभिज्ञातदर्शनः शान्तः ॥

पदार्थ—अवि—अपि-संभावनार्थक है। साहिए दुवे वासे—दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक। सीओद—शीतोदक—सचित्त पानी। अभुच्चा—पीए विना। निक्खते—दीक्षित हुए। एगत्तगए—जिन्होने एकत्व भावना से अपने अन्त करण को भावित किया। पिहियच्चे—क्रोध की ज्वाला को शान्त कर लिया। से—वह। अहिन्नायदसणे—ज्ञान दर्शन से युक्त भगवान महावीर। सन्ते—इन्द्रिय और नोइन्द्रिय मन को दमन करने के कारण शान्तचित्त—वाले भगवान विचरते थे।

मूलार्थ—जो दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक गृहस्थ जीवन मे रहते हुए सचित्त जल को पिए बिना दीक्षित हुए थे। और जिन्होने एकत्व भावना मे सलग्न रहते हुए क्रोध की ज्वाला को शान्त किया था, वे ज्ञान दर्शन से युक्त, शुद्ध अन्तःकरण वाले और शान्तचित्तवाले भगवान महावीर विचरते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर का जीवन सदा से त्याग निष्ठ जीवन रहा है। जब वे गर्भ मे आए,तब उन्होंने सोचा कि हाथ-पैर आदि के सचारण से माता को पीड़ा होगी। इसलिए अगोपागों को सकोच कर वे स्थिर हो गए। इससे माता को गर्भ के मरने या गलने या गिरने का सदेह हो गया और सुख के स्थान मे दु ख की वेदना बढ़ गई। इस बात को जानकर भगवान ने पुन अपने शरीर का सचरण आरम्भ कर दिया। सारे घर मे खुश एव आनन्द का वातावरण छा गया। उस समय भगवान ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे, तब तक मैं दीक्षा नहीं लूंगा। इस कारण भगवान ने

२८ वर्ष तक दीक्षा की बात नहीं की। २८ वर्ष की अवस्था में माता-पिता का स्वर्गवास हो जाने पर आपने अपने ज्येष्ठ भ्राता से दीक्षा की आज्ञा मागी तो उन्होंने उन्हें कुछ समय तक और ठहरने का आग्रह किया और भाई की बात को मानकर आप दो वर्ष और ठहर गए। परन्तु उन्होंने ये दो वर्ष अपनी साधना में ही बिताए। इन दिनों में सचित्त (सजीव अर्थात् कुएं, तालाब, नदी, वर्षा आदि के) पानी को नहीं पिया।

वे सदा एकत्व भावना में संलग्न रहते थे। इससे आत्मा के साथ सम्बद्ध राग द्वेष आदि विकारों की द्वैतता को क्षय करने मे प्रबल सहायता मिलती है और साधना मे तेजस्विता आती है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप के चिन्तन के कारण ही वे परीषहों को सहन करने में सक्षम बने। क्योंकि, वे आत्मा के अतिरिक्त समस्त साधनों को क्षणिक, नाशवान एव ससार में परिभ्रमण कराने वाले समझते थे। इस कारण भगवान सब साधनों से अलग होकर अपने एकत्व स्वरूप के चिन्तन मे ही सलग्न रहते थे।

प्रस्तुत गाथा मे प्रयुक्त 'पिहिच्चे' का अर्थ है—जिसने क्रोध रूप ज्वाला को शान्त कर दिया है या जिसका शरीर गुप्त है— वस्त्र के अभाव मे भी जो नग्न दिखाई नहीं देते हैं। इससे भगवान की निस्पृहता स्पष्ट होती है। उन्होंने केवल वस्त्र आदि का ही त्याग नहीं किया था, अपितु क्रोध आदि कषायों से भी वे सर्वथा निवृत्त हो चुके थे। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी उनके मन मे क्रोध की, प्रतिशोध लेने की भावना नहीं जगती थी। वे शान्त भाव से सदा आत्मशोधन मे संलग्न रहते थे।

उनके त्यागनिष्ठ जीवन का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—पुढविं च आउकायं च, तेउकायं च वायु कायं च।
पणगाइं वियहरियाइं, तसकायं सव्वसो नच्चा।१२।

छाया—पृथिवीं च अप्काय च, तेजस्कायं च, वायुकाय च।
पनकानि बीजहरितानि, त्रसकायं च सर्वशः ज्ञात्वा॥

पदार्थ—पुढविंच—भगवान महावीर पृथ्वी काय, आउकाय च—अप्काय। तेउकायं च—तेजस्काय। वाउकायं च—वायुकाय। पणगाइ—निगोद-शैवाल के जीव आदि। बीय हरियाइं—बीज और नाना प्रकार की हरी वनस्पति एव। तसकाय च—त्रसकाय को। सव्वसो—सर्व प्रकार से। नच्चा—जानकर इन सब कायो की यतना करते हुए विचरते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर पृथ्वी काय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय

पनक-निगोद, बीज, हरी वनस्पति एवं त्रस काय के जीवों को सर्व प्रकार से जानकर इन सब कायों की रक्षा करते हुए विचरते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर की साधना प्राणी जगत के हित के लिए थी। आगम में बताया गया है कि समस्त प्राणियों की रक्षारूप दया के लिए भगवान ने अपना प्रवचन दिया था॥। वे सब प्राणियों के रक्षक थे। उन्हें समस्त प्राणियों के स्वरूप का परिज्ञान था। क्योंकि जीवों की योनियों का परिबोध होने पर ही साधक उनकी रक्षा कर सकता है।

इसलिए प्रस्तुत गाथा मे समस्त जीवों के भेदों का वर्णन किया गया है। समस्त जीव ६ प्रकार के हैं— १-पृथ्वी काय, २-अप्काय, ३-तेजस्काय, ४-वायुकाय, ५-वनस्पति काय और ६-त्रस काय। पहले पाच प्रकार के जीव स्थावर कहलाते हैं और इनके केवल एक स्पर्श इन्द्रिय होती है। इस अपेक्षा से जीव दो श्रेणियों मे विभक्त हो जाते हैं— १-त्रस और २-स्थावर। स्थावर जीव सूक्ष्म और बादर के भेद से दो प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म जीव समस्त लोक मे व्याप्त हैं और बादर जीव लोक के एक भाग मे स्थित है†। बादर पृथ्वी काय श्लक्ष्ण और कठिन के भेद से दो प्रकार की है। श्लक्ष्ण पृथ्वी काय सात प्रकार की है—१-कृष्ण, २-नील, ३—लाल ४—पीत, ५-श्वेत, ६-पडुक और ७-मटिया और कठोर पृथ्वी काय के शर्करा आदि ३६ भेद बताए हैं‡। बादर अपकाय के शुद्ध उदक (जल) आदि ५ भेद हैं॥। बादर

॥ सव्व जग जीव, रक्खण दयट्ठाए भगवया पावयण कहिय।

—प्रश्न व्याकरण सूत्र।

† सुहुमा सव्व लोगमि, लोगदेसे य बायरा। —उत्तराध्ययन सूत्र, ३६, ७९।

‡ दुविहा य पुढवीजीवा, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो।
बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया।
सण्हा खरा य बोधव्वा सण्हा सत्तविहा तहिं।
कण्हा नीलायरुहिरा य, हालिद्दा सुक्किला तहा
पडुपणगमट्टिया, खरा छत्तीसइविहा।

—उत्तराध्ययन सूत्र ३६, ७१, ७३।

॥ बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया।
सुद्धोदए य उस्से य, हरतणु महिया हिमे।

—उत्तराध्ययन सूत्र, ३६, ८६

तेजस्काय (अग्नि) के भी अंगारा आदि ५ भेद हैं†। बादर वायु काय के भी उत्कालिक आदि ५ भेद हैं‡। बादर वनस्पति काय के ६ भेद हैं—१-अग्रबीज, २-मूलबीज, ३-पर्वबीज, ४-बीजरुह, ५-संमूर्छिम और ६-स्कन्ध बीज। वनस्पति काय प्रत्येक और साधारण शरीर की अपेक्षा से दो प्रकार की है। जिस वनस्पति में एक शरीर में एक जीव रहता हो वह प्रत्येक शरीर वनस्पति कहलाती है और जिस के एक शरीर मे अनन्त जीव रहते हों वह साधारण वनस्पति काय कहलाती है। प्याज, लहसुन, मूली गाजर, शकरकंद आदि जमीन मे पैदा होने वाले कंद मूल साधारण वनस्पति काय या अनन्त काय कहलाते हैं। शेष सभी प्रकार की वनस्पति के जीव प्रत्येक शरीर वनस्पति काय कहलाते हैं*। त्रस काय के ४ भेद हैं— द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। इनके भी अवान्तर भेद अनेक हैं। इन सब का परिज्ञान करके भगवान समस्त प्राणियों की रक्षा करते हुए विचरते थे।

वर्तमान काल में वैज्ञानिक यंत्रों की सहायता से स्थावर जीवों की चेतना को जानने का प्रयत्न करते हैं। जगदीश चन्द्र बोस ने यन्त्रों के द्वारा वनस्पति की सजीवता को स्पष्ट रूप से दिखाया था। परन्तु, इन सब साधनों की सहायता के बिना विज्ञान युग से २५०० वर्ष पहले भगवान महावीर ने अपने दिव्यज्ञान के द्वारा इन जीवों की सजीवता का प्रत्यक्षीकरण किया था।

भगवान की साधना के संबन्ध में वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एयाइं सन्ति पडिलेहे, चित्तमंताइ से अभिन्नाय।
परिवज्जिय विहरित्था, इय संखाय से महावीरे।१३।

---

† बायरा जे उ पज्जता णेगहा ते वियाहिया।
इगाले मुम्मुरे, अगणी, अच्चिजाला तहेव य।
उक्का विज्जू य बोधव्वाणेगहा एवमायओ
एगविहमणाणत्ता, सुहुमा ते वियाहिया।
—उत्तराध्ययन ३६, ११०-१११।

‡ बायरा जे उ पज्जता, पचहा ते पकित्तिया।
उक्कलिया, मडलिया घणगुञ्जा सुद्धवाया य
संवट्टगवाया य णेगहा एवमायओ।

*उत्तराध्ययन सूत्र ६४-१००

छाया--एतानि सन्ति प्रत्युपेक्ष्य, चित्तमंतानि स अभिज्ञाय ।
परिवर्ज्य विहृतवान्, इति संख्याय सः महावीरः ॥

पदार्थ – एयाइं – ये पृथिवी आदि जीव । संति – हैं । पडिलेहे – इस प्रकार विचार कर तथा। चित्तमंताइ – उन्हें चेतना वाले । अभिन्नाय – जानकर । एय – इस प्रकार । संखाय – अधिगत कर । से – वह भगवान । महावीरे – महावीर । परिवज्जिय – इनके आरम्भ का त्याग कर के । विहरित्था – विचरते थे ।

मूलार्थ—भगवान महावीर पृथ्वी आदि के जीवों को सचेतन जानकर ओर उनके स्वरूप को भली-भांति अधिगत करके उनके आरम्भ-समारम्भ से सर्वथा निवृत्त होकर विचरते थे ।

हिन्दी विवेचन

श्रमण भगवान महावीर पृथ्वी आदि पांचों को सजीव मानते थे । उन्होंने अपने ज्ञान के द्वारा उनकी सजीवता का प्रत्यक्षीकरण किया था । आगम एवं अनुमान के द्वारा छद्मस्थ प्राणी भी उनमें सजीवता की सत्ता का अनुभव कर सकता है, परन्तु, वह सजीवता को प्रत्यक्ष नहीं देख सकता । उसे प्रयत्क्ष देखने की शक्ति सर्वज्ञ पुरुषों में ही है ।

जैन दर्शन में पृथ्वी आदि को सचेतन और अचेतन दोनों तरह का माना है । इस सम्बन्ध में हम प्रथम अध्ययन में विस्तार से वर्णन कर चुके हैं । इन स्थावर जीवों में संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त जीव पाए जाते हैं ।

जीवों की विचित्रता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम् – अदु थावरा य तसत्ताए तसा य थावरत्ताए ।
अदुवा सव्व जोणिया सत्ता कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला ।१४।

छाया—अथ स्थावराश्च त्रसतया, त्रसाश्च स्थावरतया ।
अथवा सर्वयोनिकाः सत्त्वाः कर्मणा कल्पिताः पृथक् बालाः ॥

पदार्थ—अदु – अथवा । थावरा – पृथिवी आदि स्थावर । तसत्ताए – त्रसकाय रूप में परिणमन होते हैं । य – समुच्चय अर्थ में है । तसाय – और त्रस जीव । थावरत्ताए – स्थावर पने उत्पन्न होते हैं । अदुवा – अथवा । सव्वजोणियासत्ता – प्राणी सर्व योनियों में आवागमन

करने वाले होते हैं। बाला—अज्ञानी जीव। कम्मुणा—अपने कर्म से। पुढो—पृथक् रूप से। कप्पिया—संसार में स्थित हैं।

मूलार्थ—स्थावर जीव त्रस में उत्पन्न होते हैं और त्रसजीवस्थावर काय में जन्म ले सकते हैं। या यों कहिए, संसारी प्राणी सब योनियों में आवागमन करने वाले हैं। और अज्ञानी जीव अपने २ कर्म के अनुसार विभिन्न योनियों में उत्पन्न होते हैं।

हिन्दी विवेचन

दुनिया में प्रत्येक प्राणी अपने कृत कर्म के अनुसार योनि को प्राप्त करता है। स्थावर काय में स्थित जीव अनन्त पुण्य का संचय करके त्रस काय में जन्म ले लेते हैं और पाप कर्म के द्वारा त्रस जीव स्थावर योनि में उत्पन्न हो जाते हैं। इसी तरह मनुष्य तिर्यञ्च, नरक, देव, मनुष्य आदि किसी भी गति में जन्म धारण कर सकता है। वह अपने कृत कर्म के अनुसार चार गति में से किसी एक गति में उत्पन्न होता है। कुछ लोग यह मानते हैं कि व्यक्ति जिस रूप में मरता है, उसी रूप में जन्म लेता है। जैसे स्त्री सदा स्त्री के रूप में ही रहती है और पुरुष के लिंग में ही जन्म लेता है। परन्तु, यह मान्यता कर्म सिद्धान्त एवं अनुभव के आधार पर सत्य सिद्ध नहीं होती। यदि लैंगिक रूप कभी बदलता ही नहीं या उसका अस्तित्व कभी समाप्त ही नहीं होता, तो फिर ये समस्त कर्म निष्फल हो जाएंगे और यह हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि कर्म कभी निष्फल नहीं जाते। अतः हम कहते हैं कि संसार परिभ्रमण में कभी भी लैंगिक एकरूपता स्थित नही रह सकती। पुरुष स्त्री एवं नपुंसक के लिंग में जन्म धारण कर सकता है। और स्त्री एवं नपुंसक पुरुष के लिग में जन्म ले सकते हैं और वे लैंगिक आधार को समाप्त करके अलिंग सिद्ध स्वरूप को भी प्राप्त कर सकते हैं।

इस तरह लैंगिक आकार एवं योनि आदि की प्राप्ति कर्म के अनुसार होती है। जब व्यक्ति अपने ज्ञान एवं तप के द्वारा समस्त कर्मों का नाश कर देता है; तब वह जन्म मरण एवं लैंगिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जब तक आत्मा में अज्ञान एवं राग-द्वेष है तब तक वह कर्मों का बन्ध करती है और संसार सागर में परिभ्रमण करती रहती है। अतः योनियों में परिभ्रमण करने का मूल कारण कर्म है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

मूल —भगवं च एवमन्नेसिं, सोवहिए हु लुप्पइ वाले।
कम्मं च सव्वसो नच्चा तं पडियाइक्खे पावगं भगवं ।१५।

छाया – भगवान् च एवमन्यतो, सोपधिकं हु लुप्यते बालः।
कर्म च सर्वशः ज्ञात्वा तत् प्रत्याख्यातवान् पापकं भगवान् ॥

पदार्थ—च – पुनः। भगवं – भगवान ने। एव मन्नेसि – इस प्रकार जाना। हु – जिससे। सोवहिए—उपधि सहित ममत्व युक्त। वाले – अज्ञानी जीव। लुप्पइ – कर्म से पीडित होता है। च – पुनः। सव्वसो – सब प्रकार से। कम्मं – कर्म के स्वरूप को। नच्चा – जानकर, भगवं – भगवान ने। तं – उस। पावगं – पापकर्म को। पडियाइक्खे – त्याग दिया।

मूलार्थ—भगवान ने यह जान लिया कि अज्ञानी आत्मा कर्म रूप उपधि से आबद्ध हो जाता है। अतः कर्म के स्वरूप को जानकर भगवान ने पापकर्म का परित्याग कर दिया।

हिन्दी विवेचन

कर्म के कारण ही संसारी जीव सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। वे विभिन्न योनियों में विभिन्न तरह की वेदनाओं का संवेदन करते हैं। अज्ञानी जीव अपने स्वरूप को भूल कर पापकर्म में आसक्त रहते हैं, इससे वे संसार में परिभ्रमण करते हैं। इस लिए भगवान ने कर्म के स्वरूप को समझकर उसका परित्याग कर दिया। इस तरह भगवान ज्ञान, दर्शन एवं चरित्र से युक्त थे। क्योंकि कर्मों के स्वरूप को जानने का साधन ज्ञान है और दर्शन से उस का निश्चय होता है और त्याग का आधार चरित्र है। इस तरह रत्नत्रय की साधना से आत्मा निष्कर्म हो जाती है। आगम में बताया गया है कि आत्मा ज्ञान के द्वारा पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानता है, दर्शन से उस परिज्ञात स्वरूप पर विश्वास करता है, चरित्र से आने वाले नए कर्मों के द्वार को रोकता है और तप के द्वारा पूर्व काल में बन्धे हुए कर्मों को क्षय करता है†। भगवान महावीर भी इन चारों तरह की साधना से युक्त थे और ज्ञान दर्शन चरित्र एवं तप से समस्त कर्मों को क्षय करके उन्होंने निर्वाण पद को प्राप्त किया।

† नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ।
—उत्तराध्ययन २८; ३५।

उपधि द्रव्य एवं भाव के भेद से दो प्रकार की है। आत्मा के साथ पदार्थों का संबन्ध द्रव्य उपधि है और राग-द्वेष आदि विकारों का सम्बन्ध भाव उपधि है। भाव उपधि से द्रव्य उपधि प्राप्त होती है और द्रव्य उपधि भाव उपधि—राग-द्वेष को बढ़ाने का कारण भी बनती है। इस तरह दोनों उपधियें संसार का कारण हैं। दोनों उपधियों का नाश कर देना ही मुक्ति है। संसार परिभ्रमण का मूल कारण भाव उपधि है, भाव उपधि का नाश होने पर द्रव्य उपधि का नाश सुगमता से हो जाता है। इसलिए सर्वज्ञ पुरुष पहले भाव उपधि—राग-द्वेष का नाश करके वीतराग बनते हैं और उसके बाद द्रव्य उपधि का क्षय करके सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—दुविहं समिच्च मेहावी, किरियमक्खायऽणेलिसं नाणी।
आयाण सोयगइवायसोयं, जोगं च सव्वसो णच्चा।१६।

छाया—द्विविधं समेत्य मेधावी, क्रियामाख्यातमनीदृशं ज्ञानी।
आदानं स्रोतः अतिपातस्रोतः योगं च सर्वशः ज्ञात्वा॥

पदार्थ—मेहावि—बुद्धिमान सर्व भाव के ज्ञाता भगवान ने। किरियं—क्रिया कर्मों का नाश करने वाली संयमानुष्ठान रूप। दुविहं—दो प्रकार के कर्म ईर्या प्रत्यय और साम्परायिक को। समिच्च—सम्यक्तया जानकर। अणेलिसं—अनुपम। अक्खाय—कहा है और। नाणी—ज्ञानयुक्त भगवान ने। आयाणसोयं—कर्मों के आने का स्रोत कहा है। अइवाय सोयं—अतिपात हिंसा स्रोत। च—और। जोगं—योगरूप स्रोत को। सव्वसो—सर्व प्रकार से। णच्चा—कर्म बन्धन जानकर उन से निवृत्त होने का उपदेश दिया है।

मूलार्थ—भावज्ञ और ज्ञानी भगवान ने ईर्यापथिक और साम्परायिक क्रिया को जो कि अनुपम और कर्मों का नाश करने वाली संयमानुष्ठान रूप कहा है। तथा कर्मों के आने के स्रोत और हिंसा रूप स्रोत एवं योगरूप स्रोत को कर्म बन्धन का कारण रूप जानकर इनकी शुद्धि के लिऐ संयमानुष्ठान का प्रतिपादन किया है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में दो प्रकार की क्रिया का वर्णन किया गया है— १-साम्परायिक और २-ईर्यापथिक। कषायों के वश जो क्रिया की जाती है, वह साम्परायिक क्रिया कहलाती

है। उससे सात या आठ कर्मों का बन्ध होता है और आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है। राग द्वेष और कषाय रहित भाव से यत्ना पूर्वक की जाने वाली क्रिया ईर्यापथिक क्रिया कहलाती है। इस क्रिया से संसार नहीं बढ़ता है। यह क्रिया आत्मा को निष्क्रिय बनाने में सहायक होती है। भगवान महावीर दोनों प्रकार की क्रियाओं के स्वरूप को भली भांति जानते थे। वे साम्परायिक क्रिया का सर्वथा त्याग कर चुके थे और ईर्या पथिक क्रिया का उच्छेद करने में प्रयत्नशील थे।

क्रिया के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए आगम में कहा है कि अयत्ना—विवेक रहित गमनागमन आदि कार्य करते हुए प्राणी साम्परायिक क्रिया के द्वारा कर्मों का बन्ध करता है और आगम के अनुसार यत्ना-विवेक पूर्वक क्रिया करते हुए ईर्याप्रत्यय कर्म का बन्ध करता है*। इससे स्पष्ट है कि कषाय युक्त भाव से की जाने वाली क्रिया संसार परिभ्रमण कराने वाली है और कषाय रहित अनासक्त भाव से की जाने वाली क्रिया संसार बढ़ाने वाली नहीं, अपितु घटाने वाली है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अइवत्तियं अणाउट्टिं, सयमन्नेसिं अकरणयाए।
जस्सित्थिओ परिन्नाया, सव्व कम्मावहाउ से अदक्खु॥१७॥

छाया—अतिपातिक्राम् अनाकुट्टिं- स्वयं अन्येषां अकरणतया।
यस्य स्त्रियः परिज्ञाताः, सर्वकर्मावहाः सएवमद्राक्षीत्॥

पदार्थ—**अइवत्तियं**—भगवान ने पाप से अतिक्रान्त होने से निर्दोष। **अणाउट्टिं**—अहिंसा। **सयं**—स्वयं आचरण किया और। **अन्नेसिं**—दूसरों को। **अकरणयाए**—हिंसा नहीं

---

* अणगारस्स णं भंते! अणाउत्तं गच्छमाणस्स वा चिट्ठमाणस्स वा णिसीयमाणस्स वा; अणाउत्तं वत्थ परिग्गहं कंबलं पाय पुंछणं गेण्हमाणस्स वा; निक्खवमाणस्स वा, तस्स णं भंते! किं इरिया वहिया किरिया कज्जइ; संपराइया किरिया कज्जइ? गोयमा! नो इरिया बहिया किरिया कज्जइ; संपराइया किरिया कज्जइ। से केणट्ठेणं? गोयमा! जस्स णं कोह माणमाया लोभा वोच्छिन्ना भवंति तस्स णं इरिया वहिया किरिया कज्जइ, जस्स णं कोह मानाया लोभा अवोच्छिण्णा भवंति तस्स णं संपराइया किरिया कज्जइ, अहासुत्तंरियमाणस्स इरिया वहिया किरिया कज्जइ, उसुत्तंरियमाणस्स संपरइया किरिया कज्जइ; से णं उसुत्तमेव रियइ सेतेणट्ठेणं।

भगवती सत्र ७: १

करने का उपदेश दिया। जस्सित्थिओ – जिन्हें स्त्रियों का स्वरूप एवं उनके साथ भोगे जाने वाले भोगों का विपाक। परिन्नाया – परिज्ञात है और। से – उस श्रमण भगवान महावीर ने। अदक्खु – देखा था कि। सव्व कम्मावहाउ – ये भोग सर्व पाप कर्म के आधारभूत हैं।

मूलार्थ—भगवान ने स्वयं निर्दोष अहिंसा का आचरण किया और अन्य व्यक्तियों को हिंसा नहीं करने का उपदेश दिया। भगवान स्त्रियों के यथार्थ स्वरूप एवं उनके साथ भोगे जाने वाले काम-भोगों के परिणाम से परिज्ञात थे.ये काम-भोग समस्त पाप कर्मों के कारण भूत हैं,ऐसा जानकर भगवान ने स्त्री-संसर्ग का परित्याग कर दिया।

हिन्दी विवेचन

साधना का मूल अहिंसा है। हिंसक व्यक्ति साधना में प्रवृत्त नहीं हो सकता है। क्योंकि उसके मन में प्राणियों के प्रति दया भाव नहीं रहता है। अतः भगवान महावीर ने स्वयं अहिंसा व्रत का पालन किया। उन्होंने अपने साधना काल में न किसी प्राणी की हिंसा की और न किसी व्यक्ति को हिंसा करने की प्रेरणा ही दी। उनके हृदय में प्रत्येक प्राणी के प्रति दया एवं करुणा का स्रोत बहता था। उन्होंने अपने समय में होने वाली याज्ञिक हिंसा जैसे क्रूर कर्मों को समाप्त करके जीवों को अभयदान दिया।

साधक के लिए हिंसा की तरह मैथुन भी त्याज्य है। इससे मोह की अभिवृद्धि होती है और मोह से पाप कर्म का बन्ध होता है। इसलिए भगवान ने मैथुन के साधन स्त्री संसर्ग का सर्वथा त्याग कर दिया। साधु के लिए स्त्री का एवं साध्वी के लिए पुरुष-संसर्ग का त्याग करना जरूरी है। क्योंकि दोनों के लिए दोनों मोह को जगाने का कारण हैं और मोह की जागृति से महाव्रतों का नाश होता है। अतः भगवान ने अब्रह्मचर्य का सर्वथा त्याग करके ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार किया।

साधना में प्रथम और चतुर्थ दो महाव्रत मुख्य हैं। दोनो में अन्य तीनों महाव्रतों का समावेश हो जाता है। पूर्ण अहिंसक एवं पूर्ण ब्रह्मचारी साधक न झूठ बोल सकता है, न चोरी कर सकता है और न परिग्रह की आकांक्षा रख सकता है। अतः दो महाव्रतों में पांचों का समावेश हो जाता है।

मूल गुणों की व्याख्या करके अब सूत्रकार उत्तर गुणों का उल्लेख करते हैं—

मूलम् – अहाकडं न से सेवे, सव्वसो कम्म अदक्खू।
जं किंचि पावगं भगवं, तं अकुव्वं वियडं भुंजित्था।१८।

छाया—यथाकृतं न सा सेवते, सर्वशः, कर्म अद्राक्षीत
यत्किंचित् पापकं भगवान् तदकुर्वन् विकटमभुंक्त ॥

पदार्थ—अहाकडं—साधु के वास्ते बनाया हुआ आहार आधाकर्म आहार कहलाता है। से—भगवान उस आहार का। न सेवे—सेवन नहीं करते थे, क्योंकि उस आहार का सेवन करने से। सव्वसो—सर्व प्रकार से। कम्म—आठ प्रकार के कर्म का वन्ध होता है। अदक्खू—भगवान ने ऐसा देखा। जं किंचि—अतः जो आहार थोड़े से। पावगं—पाप का कारण हो। भगवं—भगवान। तं—उसको। अकुव्वं—न करते हुए। वियडं—प्रासुक निर्दोष आहार। भुंजित्था—ग्रहण करते थे।

मूलार्थ—आधाकर्म आहार को सब तरह से कर्मवन्ध का कारण जान कर भगवान ने उसका सेवन नहीं किया। भविष्य में पाप का कारण होने के कारण उसको न करते हुए भगवान ने निर्दोष आहार ही ग्रहण किया।

हिन्दी विवेचन

साधना के लिए शरीर का स्वस्थ रहना आवश्यक है और शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आहार आवश्यक है और आहार के बनने में हिंसा का होना भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में पूर्ण अहिंसक साधक अपनी साधना कैसे कर सकता है। इसके लिए यह बताया गया है कि साधु पाचन क्रिया से सर्वथा दूर रहे। वह न स्वयं आहार आदि बनाए और न अपने लिए किसी से बनवाए और अपने (साधु के) निमित्त बनाकर या खरीद कर लाया हुआ आहार आदि स्वीकार भी न करे। परन्तु गृहस्थ के घर में अपने परिवार के लिए जो भोजन बना है, उसमें से अनासक्त भाव से सब दोषों को टालते हुए थोड़ा सा आहार ग्रहण करे, जिससे उसे पीछे से किसी तरह का कष्ट न हो या अपने खाने के लिए कम रहने से पुनः न बनाना पड़े। इस तरह कई घरों से निर्दोष आहार लेकर साधु अपने शरीर का निर्वाह करे। परन्तु जिव्हा के स्वाद के लिए या शारीरिक पुष्टि आदि के लिए वह आधा कर्म आदि सदोष आहार न ले। जो आहार साधु के लिए बनाया जाता है, उसे आधाकर्म कहते हैं। उस आहार को ग्रहण करने से उसमें हुई हिंसा का पाप साधु को भी लगता है। अतः साधु अनासक्त भाव से निर्दोष आहार की गवेषणा करे।

भगवान महावीर ने केवल यह उपदेश ही नहीं दिया, प्रत्युत उन्होंने स्वयं इस नियम का परिपालन किया। उन्होंने कभी भी आधा कर्म आदि दोषों से युक्त आहार को स्वीकार नहीं किया। इस तरह भगवान सदा निर्दोष आहार की गवेषणा करते और

अपनी मर्यादा के अनुसार निर्दोष आहार उपलब्ध होने पर उसे स्वीकार करते थे। इसी तरह भगवान ने अन्य सावद्य सदोष व्यापार एवं साधनों का भी सर्वथा त्याग कर दिया था। वे सारे पाप कर्मों से निवृत्त होकर सदा निर्दोष साधना में संलग्न रहते थे।

उनकी साधना के संबन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—णो सेवइ य परवत्थं परपाएवि से न भुंजित्था।
परिवज्जियाणं ओमाणं गच्छइ संखडिं असरणयाए।१६।

छाया—नो सेवते च परवस्त्रं, परपात्रेपि स ना भुंक्ते।
परिवर्ज्यायमानं गच्छति, संखंडिं अशरणाय॥

पदार्थ—य—पुनः। परवत्थं—भगवान दूसरे के वस्त्र का। णो सेवइ—सेवन नहीं करते थे। परपाएवि—अन्य व्यक्ति के पात्र में भी। से—वे। न भुंजित्था—भोजन नहीं करते थे। उमाणं—अतः वे अपमान को। परिवज्जियाणं—छोड़कर। संखडिं—संखडी में भोजनशाला में। असरणयाए—किसी के सहारे के विना। गच्छइ—जाते हैं।

मूलार्थ—भगवान ने दूसरे व्यक्ति के वस्त्र का सेवन नहीं किया, और न दूसरे व्यक्ति के पात्र में भोजन ही किया, वे मान अपमान को छोड़ कर बिना किसी के सहारे भिक्षा के लिए जाते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर ने अपने साधना काल में न तो किसी भी व्यक्ति के पात्र में भोजन किया और न दूसरे व्यक्ति के वस्त्र का उपयोग ही किया। यह हम देख चुके हैं कि भगवान ने दीक्षा लेते समय केवल एक देवदूष्य वस्त्र के अतिरिक्त कोई उपकरण स्वीकार नहीं किया था और वह देव दूष्य वस्त्र भी १३ महीने के बाद उनके कन्धे पर से गिर गया। और जब तक वह उनके पास रहा, तब तक भी उन्होंने शीत आदि निवारण करने के लिए उसका उपयोग नहीं किया। आगम से यह भी स्पष्ट है कि वे अकेले ही दीक्षित हुए थे और साधना काल में भी अकेले ही रहे थे। बीच में कुछ काल के लिए गोशालक उनके साथ अवश्य रहा था। परन्तु, अधिकतर वे अकेले ही विचरते रहते थे। ऐसी स्थिति में किसी अन्य साधु के वस्त्र आदि स्वीकार करने या न करने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान ने अपने साधना काल में न किसी गृहस्थ के

पात्र में भोजन किया और न सर्दी के मौसम में किसी गृहस्थ के वस्त्र को ही स्वीकार किया। उस युग में एवं वर्तमान में भी अन्य मत के साधु गृहस्थ के वर्तन में भोजन कर लेते हैं एवं गृहस्थ के वस्त्रों को भी अपने उपयोग में ले लेते हैं। परन्तु जैन साधु आज भी अपने एवं अपने से सम्बन्धित साधुओं के वस्त्र-पात्र के अतिरिक्त अन्य किसी के वस्त्र पात्र को स्वीकार नहीं करते हैं।

भगवान ने भिक्षा के लिए जाते समय किसी भी व्यक्ति का सहारा नहीं लिया, वे सदा मान-अपमान को छोड़कर भिक्षा के लिए जाते थे। वे किसी दानशाला या महा-भोजनशाला के सहारे भी अपना जीवन निर्वाह नहीं करते थे। क्योंकि इससे कई दीन-हीन व्यक्तियों की अन्तराय लगती है और वहां आहार भी निर्दोष नहीं मिलता है। इस लिए वे अदीनमन होकर भिक्षा के लिए जाते और जैसा भी निर्दोष आहार उपलब्ध होता, वही स्वीकार करके अपनी साधना में संलग्न रहते थे।

उनकी साधना के सम्बन्ध में और उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—मायण्णे असणपाणस्स नाणुगिद्धे रसेसु अपडिन्ने।
अच्छिंपि नो पमज्जिज्जा, नोविय कंडूयए मुणी गायं।२०।

छाया—मात्रज्ञः अशनपानस्य, नानुगृद्धः रसेषु अप्रतिज्ञः।
अक्ष्यपि नो प्रमार्जयेत्, नापि च कण्डूयते मुनिः गात्रम्॥

पदार्थ—मुणी—भगवान महावीर। **असणपाणस्स**—अन्न पानी के। **मायन्ने**—परिमाण को जानने वाले। **रसेसु**—रसों में। **नाणुगिद्धे**—मूर्छारहित। **अपडिन्ने**—आज मैं सिंह-केसरादि मोदक लूंगा ऐसी प्रतिज्ञा से रहित—ऐसी प्रतिज्ञा न करने वाला। **अच्छिंपि**—आंख में रज आदि के पडजाने पर भी। **नो पमज्जिज्जा**—उसे दूर करने के लिए प्रमार्जन नहीं करते। **य**—और। **गायं**—गात्र को। **नोविकंडूयए**—खाज आने पर भी खुजवाते नहीं थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर अन्न पानी के परिमाण को जानने वाले थे, रसों में अमूर्च्छित थे, सरस आहार के लेने की प्रतिज्ञा से रहित थे, आंख में रज कण पड़ने पर भी उसे नहीं निकालते थे। तथा खुजली आने पर भी शरीर को नहीं खुजलाते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर का जीवन उत्कृष्ट साधना का जीवन था। वे केवल साधना

को चालू रखने के लिए ही आहार ग्रहण करते थे, स्वाद एवं शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए नहीं। इसलिए उन्होंने कभी भी सरस एवं प्रकाम आहार की गवेषणा नहीं की। वे नीरस आहार ही स्वीकार करते थे और वह भी निरन्तर नहीं लेते थे। कभी चार चार महीने का, कभी ६ महीने का, कभी एक महीने का, कभी १५ दिन का तप तो कभी और कुछ तप कर देते थे। इस तरह उनका जीवन तपमय था। कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान ने कभी सरस एवं स्वादिष्ट आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा नहीं की थी। इस लिए उन्हें अप्रतिज्ञ कहा है।

परन्तु, यह "अप्रतिज्ञ" शब्द सापेक्ष है। क्योंकि सरस आहार की प्रतिज्ञा नहीं की, किन्तु, नीरस आहार की प्रतिज्ञा अवश्य की थी। जैसे उड़द के बाकले लेने की प्रतिज्ञा की थी। इससे उन्होंने साधना काल में आहार के सम्बन्ध में कोई प्रतिज्ञा नहीं की ऐसी बात नहीं है फिर भी सूत्रकार ने जो 'अप्रतिज्ञ' शब्द का प्रयोग किया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि सरस आहार की प्रतिज्ञा न करने या इच्छा न रखने से उन्हें अप्रतिज्ञ ही कहा है। क्योंकि शरीर का निर्वाह करने के लिए आहार लेना आवश्यक है। यदि सरस एवं प्रकाम भोजन ग्रहण करते हैं तो उसमें आसक्ति पैदा हो सकती है और अधिक परिमाण में खाने पर विकृति भी जागृत हो सकती है। परन्तु, नीरस एवं रूक्ष आहार में न आसक्ति होती है और न विकारों को उत्पन्न होने का अवसर मिलता है और नीरस आहार स्वाद पर एवं विकारों पर विजय प्राप्त करने का साधन है। ६ महीने के लगभग लम्बे तप के बाद रूक्ष उड़द के बाकले खाना साधारण बात नहीं है। इसके लिए मन पर बहुत बड़ा अधिकार करना होता है। उस समय हमारा मन दूध आदि स्निग्ध एवं सुखाद्य आहार की इच्छा रखता है। उस समय रूक्ष उड़द के उबले हुए दाने और वह भी नमक-मिर्च से रहित स्वीकार करके समभाव पूर्वक खा लेना जबरदस्त साधक का ही काम है। इस तरह भगवान ने स्वाद एवं अपने योगों पर विजय प्राप्त कर ली थी। इसी कारण उनकी नीरस आहार की प्रतिज्ञा को प्रतिज्ञा नहीं माना है। क्योंकि, वह आहार स्वाद एवं शक्ति बढ़ाने के लिए नहीं, अपितु साधना में तेजस्विता लाने के लिए करते थे। इस अपेक्षा से 'अप्रतिज्ञ' शब्द उपयुक्त ही प्रतीत होता है।

भगवान महावीर का लक्ष्य शरीर पर नहीं, आत्मा पर था। वे सदा आत्मा का ही ध्यान रखते थे। यदि कभी आंख में तृण या रेत के कण आदि गिर जाते तो उन्हें निकालने का प्रयत्न नहीं करते थे और शरीर में खुजली आदि आती थी तो उसे भी नहीं करते थे। वे शरीर की चिन्ता नहीं करते थे। शरीर की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता था। वे सदा आत्म-चिन्तन में संलग्न रहते थे।

उनके विचरण करने की विधि का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अप्पं तिरियं पेहाए अप्पिं पिट्ठओ पेहाए।
अप्पं वुइएऽपडिभाणी. पंथपेहि चरे जयमाणे ।२१।

छाया—अल्पं तिरश्चीनं प्रेक्षते, अल्पंपृष्ठतः प्रेक्षते ।
अल्पं ब्रूते अप्रतिभाषी, पथि प्रक्षी चरेद् यतमानः ।।

पदार्थ—अप्पं—अल्प शब्द अभावार्थक है, अतः भगवान चलते हुए । तिरियं—तिर्यक् मार्ग को । पेहाए—नहीं देखते थे उसी प्रकार । अप्पि पिट्ठओ—खडे होकर पीछे को नहीं । पेहाए—देखते । अप्पवुइए अपडिभाणी—किसी के बुलाने पर नहीं बोलते थे । जयमाणे—यतनाशील । पंथपेहि—मार्ग को देखते हुए । चरे—वे चलते थे ।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर चलते हुए न तिर्यग् दिशा को देखते थे, न खड़े होकर पीछे को देखते थे और न मार्ग में किसी के पुकारने पर बोलते थे । किन्तु मोन वृत्ति से यतना पूर्वक मार्ग को देखते हुए चलते थे ।

हिन्दी विवेचन

साधना का मूल उद्देश्य है—योगों की चंचलता को रोकना । इधर-उधर विषयों में परिभ्रमण करने वाले योगों को आत्म-चिन्तन में केन्द्रित करना । इसके लिए समिति और गुप्ति की साधना बताई है। समिति का परिपालन करते समय साधक अपने आवश्यक कार्य में प्रवृत्त होता है । इसलिए वह जिस कार्य में प्रवृत्त होता है, उसी में अपने योगों को केन्द्रित कर लेता है । योगों को आत्म-चिन्तन में केन्द्रित करने एवं उनका निरोध करने का यह सबसे अच्छा उपाय है कि साधक उन्हें समिति-यतना-पूर्वक किए जाने वाले अपने आवश्यक कार्य में केंद्रित करे । भगवान महावीर ने ऐसा ही किया था । जब वे चलते थे तो अपनी चित्तवृत्ति एवं योगों को ईर्यापथ में केन्द्रित कर लेते थे । उस समय उनका इधर-उधर या पीछे को ध्यान नहीं जाता था । वे न कभी दाएं-बाएं देखते थे और न खड़े होकर पीछे को ही देखते थे और न मर्यादित भूमि से आगे को या ऊपर आकाश में ही देखते थे । और न वे किसी से संभाषण करते थे। किसी के पूछने पर कोई उत्तर नहीं देते हुए अपने मार्ग पर बढ़ते रहते थे ।

उनके विचरण के सम्बन्ध में कुछ और विशेष बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सिसिरंसि अद्धपडिवन्ने तं वोसिज्ज वत्थमणगारे।
पसारित्तु बाहुं परक्कमे नो अवलम्बियाण कंधंमि ॥२२॥

छाया—शिशिरे अध्वप्रतिपन्ने, तद् व्युत्सृज्य वस्त्रमनगारः।
प्रसार्य बाहू पराक्रमते, नो अवलंब्य स्कन्धे (तिष्ठति) ॥

पदार्थ—सिसिरंसि—शीतकाल में—शिशिर ऋतु में। अद्धपडिवन्ने—मार्ग में प्रतिपन्न हुए। अणगारे—भगवान। तं वत्थं—उस वस्त्र को। वोसिज्ज—छोड़ कर, फिर। बाहुं—भुजाओं को। पसारित्तु—पसार कर। परक्कमे—चलते हैं। कंधंमि—स्कन्ध कंधे पर। नो अवलम्बियाण—दोनों हाथ रखकर खड़े नहीं होते थे।

मूलार्थ—शीतकाल में मार्ग में चलते हुए भगवान इन्द्र प्रदत्त वस्त्र को छोड़कर दोनों भुजायें फैला कर चलते थे किन्तु शीत से सन्तप्त होकर अर्थात् शीत के भय से भुजाओं का संकोच नहीं करते थे और न स्कन्ध में हस्तावलम्बन से खड़े होते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर की साधना विशिष्ट साधना थी। भगवान ने अपने साधना काल में अपवाद को स्थान ही नहीं दिया है। वे परीषहों पर सदा विजय पाते रहे, सर्दी के समय शीत के परीषह से घबराकर न तो कभी उन्होंने वस्त्र का उपयोग किया और न कभी शरीर को या हाथों को संकोच कर रखा। जब कि दीक्षा स्वीकार करने के पश्चात् १३ महीने तक उनके कन्धे पर देव दूष्य वस्त्र पड़ा रहा, फिर भी उन्होंने उससे शीत निवारण करने का प्रयत्न नहीं किया। इसके अतिरिक्त वे दोनों हाथों को फैला कर चलते थे और दोनों हाथों को फैला कर ही खड़े होते थे। न चलते समय उन्होंने कभी हाथों को संकोच कर रखा और न खड़े होते समय ही। उन्होंने खड़े होते समय न तो कभी हाथों को कन्धे पर रखा और न किसी अन्य अङ्ग पर ही रखा। वे सदा अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे और साधना में उत्पन्न होने वाले सब परीषहों को समभाव पूर्वक सहते रहे। इससे स्पष्ट होता है कि उनका अपने योगों पर पूरा अधिकार था।

प्रस्तुत उद्देशक का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

ण ममइया।

यंति ॥२३॥ त्तिबेमि

छाया—एष विधिः अनुक्रान्तः, माहनेन मतिमता।
बहुशः अप्रतिज्ञेन, भगवता एवं रीयन्ते ॥

पदार्थ—मईमया—ज्ञानवान। माहणेण—भगवान महावीर ने। एस—इस। विही—क्रियाविधि का। अणुक्कन्तो—स्वयं आचरण किया। बहुसो—अनेक प्रकार से। अपडिन्नेण—निदानकर्म से रहित। भगवया—भगवान ने। एवं—इस प्रकार से स्वयं ही ग्रहण किया और दूसरों के प्रति आचरण करने का उपदेश दिया, अत:। रियंति—मुमुक्षुजन कर्मों का क्षय करने के लिए इस क्रिया विधि का अनुष्ठान करके मोक्षमार्ग में गमन-करते हैं। तिवेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—प्रबुद्ध साधक भगवान महावीर ने इस विहार विचरण चर्या (विधि) को स्वीकार किया था और उन्होंने बिना निदान कर्म—किसी प्रकार के भौतिक सुखों की कामना के बिना इस विधि का आचरण किया और दूसरे साधकों को भी इस पथ पर चलने का आदेश दिया। इस लिए मुमुक्षु पुरुष इसका आचरण करके मोक्ष मार्ग पर कदम बढ़ाते हैं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत उद्देशक में साधक के लिए जो विचरण करने की विधि बताई है, वह केवल भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट ही नहीं है, अपितु, उनके द्वारा आचरित है इस गाथा में यह बताया है कि भगवान महावीर ने जिस साधना का उपदेश दिया है उसे पहले उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधना के द्वारा प्राप्त सर्वज्ञत्व से पहले भगवान महावीर भी एक साधारण प्राणी थे। वे सदा से किसी दैवी या ईश्वरी शक्ति के धारक नहीं थे। उन्होंने भी अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण किया था। अनेकों बार नरक एवं निगोद के अनन्त दु:खों का संवेदन किया था। इस तरह संसार में भटकते हुए ज्ञान को प्राप्त किया और अपने आत्म स्वरूप को समझकर साधना पथ पर आगे बढ़े और उसी के द्वारा आत्मा का विकास करते हुए सर्वज्ञत्व एवं सिद्धत्व को प्राप्त किया। भगवान द्वारा आचरित साधना ही आत्मा को सिद्धत्व पद पर पहुंचाती है। जैन धर्म का पूर्ण विश्वास है कि प्रत्येक आत्मा में सिद्ध बनने की शक्ति है, प्रत्येक आत्मा सिद्धों के जैसी ही आत्मा है और साधना पथ को स्वीकार करके सिद्ध बन सकती है। 'त्तिबेमि' का विवेचन पूर्ववत समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

नवम अध्ययन—उपधान श्रुत

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में भगवान महावीर की विहार चर्या-विधि का उल्लेख किया गया था। साधक चलता है तो उसे विश्राम भी लेना होता है, ठहरना भी पड़ता है। भगवान महावीर को भी अपनी साधना के लिए, आत्म-चिन्तन के लिए स्थान का सहारा लेना पड़ता था। अब प्रश्न यह है कि भगवान महावीर साधना काल में कैसे स्थान में ठहरे थे और वहां कौन सी वस्तुओं का उन्होंने उपयोग किया था और साधक को कैसे मकान में ठहरना चाहिए?

इसका समाधान करते हुए प्रस्तुत उद्देशक में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—चरियासणाइं सिज्जाओ, एगइयाओ जाओ बुइयाओ।
आइक्ख ताइं सयणासणाइं जाइं सेवित्था से महावीरे ।१।

छाया—चर्यासनानि शयनानि एकैकानि यानि अभिहितानि।
आचक्ष्व तानि शयनासनानि यानि सेवितवान् स महावीरः॥

पदार्थ—एगइयाओ—एक बार। बुइयाओ—जम्बू स्वामी के पूछने पर सुधर्मा स्वामी ने। चरियासणाइं—विहार चर्या, आसन एवं। सिज्जाओ—वस्तिओं के सम्बन्ध में। आइक्ख—कहा। जाओ—जिन। सयणासणाइं—शय्या एवं आसन का। जाइं—जो। से—उन भगवान महावीर ने। सेवित्था—सेवन किया।

मूलार्थ—विहार के समय में भगवान महावीर ने जिस शय्या एवं आसन का सेवन किया, उसके संबन्ध में जम्बू स्वामी के पूछने पर सुधर्मा स्वामी ने इस प्रकार कहा।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा प्रतिज्ञा सूत्र है। इसमें सूत्रकार यह प्रतिज्ञा करता है कि इस उद्देशक में मैं यह बताऊंगा कि भगवान ने विहार काल में कैसी वसती एवं शय्या आदि का सेवन किया था। यह गाथा अपने आप में इतनी स्पष्ट है कि इसके लिए व्याख्या

की आवश्यकता ही नहीं है।

चूर्णिकार ने प्रस्तुत उद्देशक की इस गाथा को उद्धृत करके उसके विषय में। "ऐसा पूछा अर्थात् यह प्रश्न है।" ऐसा कहा है। परन्तु, इसकी व्याख्या नहीं की किन्तु, आचार्य शीलांक ने लिखा है कि प्रस्तुत गाथा शास्त्र में उपलब्ध होती है। परन्तु चिरन्तन टीकाकार ने इसकी व्याख्या नहीं की है। इसका कारण गाथा की सुगमता है या उन्होंने इसे मूल सूत्र को नहीं माना। इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते। आचार्य शीलांक ने किसी टीकाकार के नाम का उल्लेख नहीं करके केवल चिरन्तन टीकाकार शब्द का प्रयोग किया है। इससे ऐसा लगता है कि चिरन्तन टीकाकार शब्द से चूर्णिकार अभिप्रेत हो सकते हैं। क्योंकि उन्होंने इस गाथा को उद्धृत तो किया है, परन्तु, उसकी व्याख्या नहीं की और चूर्णिकार के अतिरिक्त अन्य टीकाकार भी अभिप्रेत हो सकते हैं। जिनकी टीका उनके युग में प्रचलित रही हो, और आज उपलब्ध न हो। परन्तु, इतना स्पष्ट है कि शीलांक से भी पूर्व आचाराङ्ग पर टीका लिखी जा चुकी थी। इस तरह जैनागमों पर और भी अनेक टीका, चूर्णि एवं भाष्य आदि लिखे गए हैं। परन्तु, आज उनके अनुपलब्ध होने के कारण आगम के कई पाठों एवं उनके अर्थों में सन्देह सा बना रहता है*। वर्तमान में प्राप्त टीका ग्रन्थ अपने युग में प्रचलित प्राचीन टीका ग्रन्थों के आधार पर ही संक्षिप्त एवं विस्तृत रूप से रचे गए हैं। किसी किसी टीकाकार ने तो अपने पूर्व टीकाकार के भाव ही नहीं, अपितु, श्लोक एवं गाथाएं भी ज्यों की त्यों उद्धृत कर ली हैं। इससे यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि पुरातन टीकाएं कुछ अंश रूप वर्तमान टीकाओं में सुरक्षित हैं।

प्रस्तुत गाथा में शय्या आदि के सम्बन्ध में उठाए गए प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आवेसणसभापवासु पणियसालासु एगया वासो।
अदुवा पलियठाणेसु पलालपुंजेसु एगया वासो ।२।

---

*बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि जैन समाज के प्रमाद, आलस्य एवं ज्ञान और स्वाध्याय की कमी के कारण जैन साहित्य को बहुत बड़ी क्षति पहुंची है। अनेक बहुमूल्य ग्रन्थ तो भंडारों में पड़े पड़े गल-सड़ गए, कुछ ग्रन्थों को दीमकों ने चट कर लिया तो कुछ ग्रन्थ चूहों के पैने दांतों के नीचे आ गए। कुछ ग्रन्थों को मुगलों ने आक्रमण के समय आग में जलाकर एवं जल में प्रवाहित करके नष्ट कर दिया। कुछ श्रेष्ठ ग्रंथों को अर्थलोलुप पुजारियों ने विदेशियों के हाथ बेच डाला। अतः बहुत से ग्रन्थ ऐसे हैं कि आज उनका नाम मात्र ही शेष रह गया है और कतिपय ग्रन्थ छिन्न भिन्न अवस्था में मिलते हैं। वस्तुतः यह सब शोकास्पद ही है।

छाया—आवेशनसभाप्रपासु, पण्यशालासु एकदावासः।
अथवा कर्म स्थानेषु, पलालपुंजेषु एकदा वासः॥

पदार्थ—आवेसण—शून्य घर में। सभा—सभा में। पवासु—पानी के स्थान-प्याउ में। पणियालासु—पण्य शाला-दुकानों में। एगया वासो—किसी समय पर भगवान ने निवास किया। पलियठाणेसु—लुहार आदि की शाला में। पलाल पुंजेसु—पलाल पुंज में-जहां चारों ओर स्तम्भो के सहारे पलाल को एकत्रित करके रक्खा हो, ऐसे स्थान में। एगयावासो—कभी निवास किया था-ठहरे थे।

मूलार्थ—किसी समय भगवान महावीर ने शून्य घर में, सभा भवन में, पानी पिलाने को प्याऊ में, दुकान में, लुहार की शाला में या जहां पलाल का समूह एकत्रित कर रखा हो ऐसे स्थान में निवास किया अर्थात् ऐसे स्थानों में भगवान महावीर ठहरे थे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में उस युग के निवास स्थानों का वर्णन किया गया है जिन में लोग रहते थे या पथिक विश्राम लेते थे।

१-शून्य घर— जिस मकान में कोई न रहता हो तो उसे शून्य घर कहते हैं। आज कई प्राचीन शहरों एवं जंगलों में शून्य खण्डहर एवं मकान मिलते हैं। भगवान महावीर भी कभी ऐसे स्थानों में ठहर जाते थे। ये स्थान एकान्त एवं स्त्री-पशु आदि से रहित होने के कारण साधना एवं आत्मचिन्तन के अनुकूल होते हैं।

२-सभा— गाव या शहर के लोगों के विचार-विमर्श करने के लिए एक सार्वजनिक स्थान होता था। बाहर गांवों से आने वाले यात्री भी उसमें ठहर जाते थे। आज भी अनेक गांवों में पथ से गुजरते हुए पथिकों के ठहरने के लिए एक स्थान बना होता है और शहरों में ऐसे स्थानों को धर्मशाला कहते हैं। उस युग में उसे सभा कहते थे। और भगवान भी कभी सूर्य अस्त हो जाने के कारण ऐसी सभाओं में रात्रि व्यतीत करते थे।

३-प्रपा (प्याउ)— जहां राहगीरों को पानी पिलाया जाता है, उसे प्रपा या प्याउ कहते हैं। रात के समय यह स्थान प्रायः खाली रहता है और चिन्तन के लिए अनुकूल रहता है।

४-पण्यशाला (दुकानें)— जहां लोगों को जीवन के लिए आवश्यक खाद्य

पदार्थ एवं वस्त्र आदि बेचे जाते हैं, उन्हें पण्यशाला कहते हैं। ये स्थान भी रात में खाली रहते हैं। जबकि दुकानदार अपनी दुकान के—जिस में सामान भरा रहता है, ताला लगा देता है, फिर दुकान के आगे का छप्पर या बराण्डा खाली पड़ा रहता है। अतः भगवान कई बार ऐसे स्थानों में भी ठहरे और ये स्थान भी स्त्री-पशु आदि से रहित होने के कारण साधु के लिए ठहरने योग्य है।

५-पणिय शाला— जहां पर कर्मकार लोग मेहनत करते हों, ऐसे स्थानों को पणिय-कर्म शाला कहते हैं। लुहार, बढ़ई आदि के स्थान इसमें आ सकते है। ये स्थान भी एकान्त होने के कारण साधक के ठहरने योग्य हैं।

६-पलाल पुंज— जहां पर पशुओं के लिए चार खंभों के सहारे घास का समूह एकत्रित किया जाता है उसे पलाल पुंज कहते हैं। ये स्थान भी एकान्त होने के कारण साधक के ठहरने योग्य हैं।

इस तरह भगवान महावीर ने अपने साधना काल में ऐसे स्थानों में निवास किया। इससे साधु जीवन की कष्टसहिष्णुता एवं निस्पृहता का तथा उस समय के लोगों की उदार मनोवृत्ति का पता लगता है। प्रत्येक गांव में जाने वाला व्यक्ति भूखा प्यासा, एवं निराश्रित नहीं रहता था। सार्वजनिक स्थानों के अतिरिक्त लुहार एवं बढ़ई आदि श्रमजीवी लोगों की इतनी उद्योग शालाएं थीं कि कोई भी यात्री बिना रोक-टोक के विश्रान्ति कर लेता था। इससे उस युग के ऐतिहासिक रहन-सहन एवं उद्योग-धन्धे का भी पता चलता है। उस युग का रहन-सहन सादा था, मकान भी सादे होते थे। कुछ पूञ्जीपतियों के भवनों को छोड़कर साधारण लोग मिट्टी के बने साधारण घरों में ही रहते थे। औद्योगिक एवं कृषि कार्य अधिक था। गांवों के लोग प्रायः कृषि कर्म पर ही आधारित रहते थे। बड़े-बड़े वैश्य भी कृषि कर्म करते या करवाते थे। आगमों में अरण्यक आदि श्रावकों का वर्णन आता है कि उन्होंने अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार ५०० हल या इससे कम-ज्यादा खेती करने को मर्यादा रखी थी। उस युग में कृषि कर्म को हेय नहीं माना जाता था।

कहने का तात्पर्य इतना ही है कि भगवान ऐसे स्थानों में ठहरते थे कि जहां किसी को किसी तरह का कष्ट न हो और अपनी साधना भी चलती रहे। वे अपने ऊपर आने वाले समस्त परीषहों को समभाव पूर्वक सह लेते थे, परन्तु, अपने जीवन से किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देते थे।

जहां भगवान ठहरे थे, ऐसे और स्थानों को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आगन्तारे आरामागारे तह य नगरे व एगया वासो ।
सुसाणे सुण्णागारे वा रुक्खमूले व एगयावासो ।३।

छाया—आगन्तारे आरामागारे तथा च नगरे वा एकदा वासः ।
श्मशाने शून्यागारे वा वृक्षमूले वा एकदावासः ।।

पदार्थ—आगन्तारे–जहां पर श्रमजीवि लोग आकर ठहरते हों। आरामागारे—बाग में जहां घर हो । तह—तथा । नगरे—नगर में । य—पुनः । व—अथवा । एगया—एकदा । वासो—निवास किया । वा—अथवा । एगया—किसी समय । सुसाणे—श्मशान में । व—अथवा । सुण्णागारे—शून्यागार में । व—अथवा । रुक्खमूले—वृक्ष के नीचे । वासो—निवास किया ।

मूलार्थ—किसी समय भगवान महावीर ने जहां पर नगर और ग्राम से बाहिर प्रसंगवशात् लोग आकर ठहरते हों ऐसे स्थान में उद्यान, गृह में, नगर में, श्मशान, शून्य गृह में और वृक्ष के मूल में निवास किया ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में भी भगवान महावीर के ठहरने के स्थानों का वर्णन किया गया है। जहां श्रमजीवी लोग विश्राम करते हों, या बीमार व्यक्ति स्वच्छ वायु का सेवन करने के लिए कुछ समय के लिए आकर रहते हों, ऐसे स्थानों को 'आगन्तार' कहते हैं। ये स्थान प्रायः शहरों के बाहर होते हैं। क्योंकि शहरों के बाहर ही शुद्ध वायु उपलब्ध हो सकती है। इसके अतिरिक्त शहर के बाहर जो बाग-बगीचे होते हैं, जिनमें लोगों को एवं पशु-पक्षियों को विश्राम-आराम मिलता है, उन्हें आराम कहते हैं और उनमें बने हुए मकानों को आरामागार कहते हैं। इसके अतिरिक्त श्मशान, शून्य मकान एवं और कुछ नहीं तो वृक्ष की छाया तो यत्र-तत्र-सर्वत्र सुलभ हो ही जाती है।

उपरोक्त सभी स्थान एकान्त एवं निर्दोष होने के कारण साधना के लिए बहुत उपयुक्त माने गए हैं। यों तो साधक के लिए सभी स्थान उपयुक्त हैं। जिस साधक का अपने योगों पर अधिकार है वह सर्वत्र अपने चिन्तन में संलग्न रह सकता है और जिसका अपने योगों पर अधिकार नहीं है वह एकान्त स्थान में भी स्थिर नहीं रह

वाले नहीं थे और न अब हैं। उस युग के साधकों की साधना में भी परस्पर अन्तर था और आज के युग की साधना में भी अन्तर रहा हुआ है। इस लिए साधक को व्यवहार शुद्धि के लिए निर्दोष एवं विकारोत्पादक साधनों से रहित स्थान में ठहरना चाहिए। इसी वृत्ति का उपदेश देने के लिए समस्त विकारों एवं परीषहों पर विजय पाने में समर्थ भगवान महावीर चित्त को समाधि देने वाले एवं आत्म-चिन्तन को प्रगति देने वाले स्थानों में ठहरे। भगवान का आचार हमारे लिए जीवित शास्त्र है, जो हमारी साधना में स्फूर्ति एवं तेजस्विता लाने वाला है।

यह भी एक प्रश्न हो सकता है कि भगवान महावीर साधना काल में कब तक रहे? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— एएहिं मुणी सयणेहिं समणे आसि पतेरसवासे।
राइं दिवंपि जयमाणे अपमत्ते समाहिए झाइ ।४।

छाया—एतेषु मुनिः शयनेषु श्रमणः आसीत् प्रत्रयोदशवर्षम्।
रात्रिं दिनमपि यतमानः, अप्रमत्तः समाहितः ध्यायति ॥

पदार्थ—मुणी—श्रमण भगवान महावीर। **एएहिं सयणेहिं**—इन पूर्वोक्त वस्तियों में। **समणे**—तपस्या युक्त होकर। **आसि**—स्थित रहे। **पतेरसवासे**—बारह वर्ष, ६ महीना और १५ दिन। **राइंदिवंपि**—रात-दिन। **जयमाणे**—यतना पूर्वक। **अपमत्ते**—निद्रा आदि प्रमादों से रहित। **समाहिए**—समाधि युक्त होकर। **झाइ**—धर्म और शुक्ल ध्यान में संलग्न रहे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर इन पूर्वोक्त स्थानों में तप साधना करते हुए १२ वर्ष, ६ महीने और १५ दिन तक रात-दिन यत्ना पूर्वक, निद्रा आदि प्रमादों से रहित होकर समाधि पूर्वक धर्म एवं शुक्ल ध्यान में संलग्न रहे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर ने १२ वर्ष ६ महीने और १५ दिन तक पूर्व सूत्रों में उल्लिखित वस्तियों में वर्षावास एवं रात्रिवास किया। इतने समय तक भगवान छद्मस्थ रहे और सदा आत्म-चिन्तन में संलग्न रहे। इतने लम्बे काल तक भगवान ने कभी भी निद्रा नहीं ली और न प्रमाद का सेवन ही किया। प्रमाद साधना का दोष है, इससे

साधना दूषित होती है। इसलिए साधक को सदा सावधानी के साथ विवेक पूर्वक क्रिया करने का आदेश दिया गया है। आदेश ही नहीं, प्रत्युत भगवान महावीर ने अपने साधना काल में अप्रमत्त रहकर साधक के सामने प्रमाद से दूर रहने का आदर्श रखा है।

यहां एक प्रश्न होता है कि भगवान के साधना काल में गोशालक उनके साथ रहने लगा और बाद में भगवान ने भी उसे अपना शिष्य मान लिया था। एक बार विहार करते समय उसने आतापना लेते हुए बाल सन्यासी का मखौल उड़ाया तथा उसका तिरस्कार किया। उस समय बाल तपस्वी को गोशालक पर क्रोध आ गया और उसने उसे जलाकर भस्म करने के लिए उस पर तेजोलेश्या का प्रयोग किया। जब गोशालक ने दूर से ही तेजोलेश्या को अपनी ओर आते हुए देखा तो वह चिल्लाया और अपनी रक्षा के लिए पुकारने लगा। उस समय भगवान ने गोशालक पर अनुकम्पा करके पीछे की ओर शान्त नजर से देखा और शीतल लेश्या फैंकी। उनकी साधना एवं अनन्त शान्ति के शीतल परमाणुओं ने तेजो लब्धि के संतप्त परमाणुओं को निस्तेज कर दिया। इस तरह गोशालक की रक्षा हो गई। कुछ लोगों का कहना है कि इसमें भगवान ने दो गलतियां कीं— १-कुपात्र गोशालक को बचाया जिसने सदा भगवान को परेशान किया और २-लब्धि फोड़कर पाप एवं प्रमाद का सेवन किया। आगम में कहा है कि वैक्रिय लब्धि फोड़ने वाले साधक को ५ क्रियाएं लगती हैं। इसी तरह तेजो लब्धि का प्रयोग करने वाले को भी ५ क्रियाओं का दोष लगता है और भगवान ने भी शीतल लेश्या-तेजो लब्धि के ही दूसरे रूप का प्रयोग किया था*। इसलिए उस समय उन्हें भी ५ क्रियाएं लगीं। अतः फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि भगवान ने साधना काल में प्रमाद का सेवन नहीं किया ?

आचाराङ्ग का यह कथन कि भगवान ने साढ़े बारह वर्ष और १५ दिन तक अप्रमत्त भाव से साधना की, भगवान महावीर के सर्वज्ञ होने के बाद का है और सर्वज्ञ पुरुष कभी भी किसी बात को छिपाते नहीं, घटा-बढ़ाकर या गलत रूप में कहते नहीं। वे अपने द्वारा किए गए दोष का भी उसी रूप में उल्लेख कर देते हैं, उनकी वाणी में अन्यथा बात नहीं होती। इसलिए हम कह सकते हैं कि भगवान ने साधना काल में प्रमाद का सेवन नहीं किया।

भगवान महावीर ने जिस समय गोशालक को बचाया उस समय वे छद्मस्थ तो थे, परन्तु, हम जैसे अल्पज्ञ नहीं थे। उस समय केवल ज्ञान के अतिरिक्त शेष ४ ज्ञान से युक्त थे और कल्पातीत थे। इसलिए उनके लिए कोई कल्प या मर्यादा

---

* भ्रमविध्वंसन पृष्ठ

नहीं थी । वे अपने विशिष्ट ज्ञान में जैसा उपयुक्त देखते वैसा करते थे। अतः उनकी साधना की हम आलोचना करने की योग्यता नहीं रखते । क्योंकि उनमें चार ज्ञान थे और हमारे में दो ज्ञान हैं, वह भी विशुद्ध एवं पूर्ण नहीं हैं। इस लिए उनकी साधना के लिए जिसका उल्लेख उन्होंने सर्वज्ञ होने के बाद किया है, कुछ कहना अपनी अज्ञानता को ही प्रकट करना है।

साधना का मूल सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान एवं चारित्र मिथ्या कहलाता है और सम्यक्त्व के अस्तित्व का पता पांच कारणों से चलता है—१-सम, २-संवेग, ३-निर्वेद; ४-अनुकम्पा और ५-आस्तिक्य। इनमें अनुकम्पा को सम्यक्त्व का चौथा लक्षण बताया है। उसके अभाव में सम्यक्त्व का ही अस्तित्व नहीं रह पाता, तो श्रावकत्व एवं साधुत्व की साधना कैसे रह सकती है। ऐसी स्थिति में भगवान द्वारा की गई गोशालक की रक्षा को दोष युक्त कैसे कहा जा सकता है। क्योंकि भगवान ने किसी स्वार्थवश गोशालक का संरक्षण नहीं किया, अपितु अनुकम्पा एवं दया भाव से उन्होंने उसे बचाया और जब साधक के जीवन में अनुकम्पा का सागर लहराता है, उस समय वह व्यक्ति के मुख को नहीं देखता कि वह बचने वाला मेरा मित्र है या शत्रु है, कपूत है या सपूत है। ये सारे प्रश्न स्वार्थी जीवन में उठते हैं, साधक के लिए सपूत–कपूत, शत्रु-मित्र सब समान होते हैं और भगवान महावीर जैसे महान् साधक के हृदय में भेद की रेखा को अवकाश ही नहीं था। अतः उनकी अनुकम्पा एवं दया युक्त भावना को सदोष बताना साधना के स्वरूप को नहीं जानना है।

वैक्रिय लब्धि एवं तेजोलब्धि का प्रयोग करने में आरम्भ-समारम्भ होता है। वैक्रिय लब्धि करते समय अनेक पुद्गलों को ग्रहण करने में सूक्ष्म हिंसा हो सकती है एवं मन में अहंकार आदि विकार भी जाग सकता है और तेजोलब्धि से तो प्रत्यक्ष रूप से प्राणियों को परिताप होता ही है। जिस व्यक्ति पर उसका प्रयोग किया जाता है, वह व्यक्ति जलकर भस्म भी हो जाता है और उस व्यक्ति तक पहुंचने में पथ में अनेक निरपराध स्थावर एवं त्रस जीवों की भी हिंसा होती है, अतः उसमें ५ क्रियाओं का लगाना स्पष्ट है। परन्तु शीतल लब्धि तेजोलब्धि से भिन्न है। यह ठीक है कि यह तेजोलब्धि का ही एक रूप है, परन्तु इतना मात्र होने से वह सदोष नहीं कही जा सकती। जैसे हिंसा दया एवं अहिंसा का ही एकरूप है, अहिंसा हिंसा का दूसरा बाजू है या यों कहिए हिंसा अहिंसा का विपरीत रूप है। परन्तु, इतने मात्र से दोनों समान नहीं हो जाती हैं। हिंसा की तरह अहिंसा को हम सदोष नहीं कह सकते। हिंसा में दूसरे को परिताप देने की एवं नुकसान पहुंचाने की भावना होने से वह सदोष है, पापमय है। परन्तु अहिंसा में दूसरे की रक्षा करने की भावना रहती है, पर प्राणी को शान्ति पहुंचाने की

तेजोलब्धि मार्ग में ही प्रतिहत-नष्ट कर दी गई। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस आग को नष्ट करना भी तो दोष युक्त है? आग और तेजोलब्धि एक नहीं है; इसलिए यहां आग-पानी का उदाहरण उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। किसी वस्तु में जलाने की शक्ति होने मात्र से वह वस्तु सजीव नहीं मानी जा सकती। सूर्य की प्रखर किरणों को उपयुक्त शीशे पर केन्द्रित कर लिया जाए और उसके नीचे घास या रूई रख दी जाए तो वह तुरन्त जल जाएगी। इसी तरह राजस्थान के रेगिस्तान में ग्रीष्म-ऋतु के दोपहर में नङ्गे पैर चला जाए तो पैरों में फफोले चमक उठेंगे। परन्तु इतने मात्र से सूर्य की किरणां एवं उनसे तप्त रजकणों को— जो जलाने की भी शक्ति रखते हैं, सजीव नहीं कह सकते। इसी तरह तेजोलब्धि भी जलाने की शक्ति रखते हुए भी सजीव नहीं है। आगम में तेजोलब्धि के पुद्गलों को अजीव कहा है। इसलिए उनके प्रतिहत होने में किसी तरह की हिंसा नहीं होती। दूसरी बात यह है कि यहां प्रतिहत शब्द उसके ताप को शान्त करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है न कि किसी प्राणी को नाश करने के अर्थ में। अतः इस शब्द को लेकर उसके प्रयोग को सदोष कहना समझ का अभाव है।

इतनी लम्बी विचार-चर्या के बाद हम इस निर्णय पर पहुंचे कि भगवान ने साधना काल में कभी भी प्रमाद का सेवन नहीं किया। वे सदा धर्म एवं शुक्ल ध्यान में ही संलग्न रहे। और यह वर्णन किसी गणधर या आचार्य द्वारा नहीं किया गया है, प्रत्युत स्वयं भगवान ने इसका उल्लेख किया है॥।

भगवान की अप्रमत्त साधना का और उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—निद्दंपि नो पगामाए, सेवइ भगवं उट्ठाए।
जग्गावेइ य अप्पाणं इसिं साईय अपडिन्ने ।५।

छाया—निद्रामपि न प्रकामतः, सेवते भगवान् उत्थाय।
जागरयति च आत्मानं, ईषच्छायी च अप्रतिज्ञः ॥

पदार्थ—निद्दंपि—भगवान निद्रा का भी। नोपगामाए सेवइ—सेवन नहीं करते। यदि कभी निद्रा आने लगती तो। भगवं—भगवान। उट्ठाए—उठकर। अप्पाणं—अपनी आत्मा को। जगावइय—जागृत करते। इसिंसाईय—थोड़ी सी निद्रा आने लगी कि अपनी आत्मा को

॥इस बात का नवम अध्ययन के प्रारंभ में प्रतिज्ञा सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट कर चुके हैं।

अप्रमत भाव में लाकर उसको उठाते, और। अपडिन्ने—निद्रा लेने की प्रतिज्ञा से भी रहित थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर निद्रा का सेवन नहीं करते थे। यदि कभी उन्हें निद्रा आती भी तो वे सावधान होकर आत्मा को जगाने का यत्न करते। वे निद्रा लेने की प्रतिज्ञा से भी रहित थे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि भगवान ने कभी भी निद्रा नहीं ली। क्योंकि यह भी प्रमाद का एक रूप है। इसलिए भगवान सदा इससे दूर रहने का प्रयत्न करते थे। निद्रा दर्शनावरणीय कर्म के उदय से आती है। उस कर्म का क्षय होने के बाद निद्रा नहीं आती और भगवान उस कर्म को क्षय करने के लिए प्रयत्नशील थे। अतः जब भी निद्रा आने लगती थी तब वे सावधान होकर जागृत होने का प्रयत्न करते। इस से स्पष्ट है कि उन्होंने कभी भी निद्रा लेने का प्रयत्न नहीं किया और कभी आने भी लगी तब भी वे उसमें जागृत ही रहे। द्रव्य से भले ही क्षण भर के लिए निद्रित हो गए हों परन्तु, भाव से वे सदा जागते रहे। क्योंकि ऐसा वर्णन आता है कि एक बार भगवान को क्षण मात्र के लिए झपकी-निद्रा आ गई थी और उसमें उन्होंने १० स्वप्न देखे थे*। परन्तु, उन्होंने निद्रा लेने का कभी प्रयत्न नहीं किया तथा द्रव्य निद्रा लेने की उनकी भावना न होने से इसे अनिद्रा ही कहा गया है। क्योंकि इस तरह आने वाली झपकी को भी वे सदा दूर करने का प्रयत्न करते रहे थे।

वे निद्रा को कैसे दूर करते थे, इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—संबुज्झमाणे पुणरवि आसिंसु भगवं उट्ठाए।
निक्खम एगया राओ बहिं चंकमिया मुहुत्तगं।६।

छाया—संबुध्यमानः पुनरपि, अवगच्छन् भगवान् उत्थाय।
निष्क्रम्य एकदा रात्रौ, बहिश्चंक्रम्य मुहूर्तकम्॥

पदार्थ—पुणरवि—फिर भी। संबुज्झमाणे भगवं—निद्रा को प्रमाद रूप जानने वाले भगवान महावीर। उट्ठाए—संयमानुष्ठान में व्यवस्थित होकर। आसिंसु—अप्रमत भाव से विचरण करते थे। सावधानी रखते हुए भी यदि कभी झपकी आने लगती तो। एगया—कभी

* भगवती सूत्र

सर्दी की। राओ – रात में। बहि – बाहर निकल कर। मुहुत्तगं चंकमिदा – मुहूर्त्त मात्र चंक्रमण करके पुनः ध्यान एवं आत्मचिन्तन में संलग्न हो जाते थे।

मूलार्थ—निद्रा रूप प्रमाद को संसार का कारण जानकर भगवान सदा अप्रमत्त भाव से संयम साधना में संलग्न रहते थे। यदि कभी शीत काल में निद्रा आने लगती तो भगवान मुहूर्त्त मात्र के लिए बाहर निकल कर चंक्रमण करने लगते। वे थोड़ी देर घूम-फिर कर पुनः ध्यान एवं आत्म-चिन्तन में संलग्न हो जाते।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि भगवान महावीर सदा प्रमाद से दूर रहे हैं। उन्होंने कभी भी निद्रा लेने का प्रयत्न नहीं किया। क्योंकि निद्रा दर्शनावरणीय कर्म के उदय से आती है और दर्शनावरणीय कर्म संसार परिभ्रमण का कारण है। वह अनन्त दर्शन शक्ति को आवृत्त किए हुए है। अतः भगवान उसे नष्ट करने के लिए उद्यत हो गए। निद्रा आने के मुख्य कारण हैं—अति भोग विलास और अति आहार। भगवान ने भोगों का सर्वथा त्याग कर दिया था और आहार भी वे स्वल्प ही करते थे। उनके बहुत से दिन तो तपस्या में बीतते थे, पारणे के दिन भी वे रुक्ष एवं स्वल्प आहार ही स्वीकार करते थे। इससे उनकी अप्रमत्त साधना में तेजस्विता बढ़ती गई। फिर भी यदि कभी उन्हें निद्रा आने लगती तो वे खड़े होकर उसे दूर करते थे यदि सर्दी के दिनों में गुफा में या किसी मकान में स्थित रहते हुए निद्रा आने लगती तो वे बाहर खुले में आकर थोड़ी देर चंक्रमण करने-टहलने लगते। इस तरह भगवान सदा द्रव्य एवं भाव से जागृत रहे। द्रव्य से उन्होंने कभी निद्रा का सेवन नहीं किया और भाव से सदा रत्नत्रय की साधना में संलग्न रहे।

भगवान की विहार चर्या में उत्पन्न होने वाले कष्टों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सयणेहिं तस्सुवसग्गा भीमा आसी अणेगरूवा य।
संसप्पगा य जे पाणा अदुवा जे पक्खिणो उवचरंति।७।
अदु कुचरा उवचरंति, गामरक्खा य सत्ति हत्थाय।
अदु गामिया उवसग्गा, इत्थी एगइ या पुरिसा य।८।

छाया—शयनेषु तत्रोपसर्गा भीमाः आसन् अनेक रूपाश्च ।
संसर्पाकाश्च ये प्राणाः अथवा ये पक्षिणः उपचरन्ति ॥
अथकुचरा उपचरंति, ग्रामरक्षकाश्च शक्तिहस्ताश्च ।
अथ ग्रामिका उपसर्गाः स्त्रिय एकाकिनः पुरुषाश्च ॥

पदार्थ—तत्थ सयणेहिं—भगवान को उन वस्तियों में । जे—जो । संसप्पगा—सर्पादि । पाणा—प्राणियों से युक्त हैं । य—और । अदुवा—अथवा । पक्खिणो—गृधादि पक्षी हैं । य—पुनः । उवचरंति—भगवान के निकट मांसादि का भक्षण करते हैं, वहां उन्हें । अणेगरूवा—अनेक तरह के । भीमा—भयंकर उपसर्ग । आसी—हुए ।

एगया—एकाकी विचरण करने वाले भगवान का । कुचरा—चोरादि । उवचरंति—आकर कष्ट देते थे । य—पुनः । अदुवा—अथवा । सत्तिहत्था—सशस्त्र । गामरक्खा—ग्राम रक्षक-कोतवाल । अदु—अथवा । गामिया इत्थी—विषय-वासना से उन्मत्त हुई स्त्रियें । य—तथा । पुरिसा—पुरुष उन्हें । उवसग्गा—उपसर्ग-कष्ट देते थे ।

मूलार्थ—उन शून्य स्थानों में जहां सर्पादि विषैले जन्तु एवं गृधादि मांसाहारी पक्षी रहते थे, उन्होने भगवान महावीर को अनेक कष्ट दिए ।

इसके अतिरिक्त चोर, सशस्त्र कोतवाल, व्यभिचारी व्यक्ति, विषयोन्मत्त स्त्रियों एवं दुष्ट पुरुषों के द्वारा भी एकाकी विचरण करने वाले भगवान महावीर को अनेक उपसर्ग प्राप्त हुए ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथाओं में बताया गया है कि भगवान महावीर को साधना काल में अनेक कष्ट उत्पन्न हुए। भगवान महावीर प्रायः शून्य मकानों, जङ्गलों एवं श्मशानों में विचरते रहे हैं । शून्य घरों में सर्प, नेवले आदि हिंस्र जन्तुओं का निवास रहता ही है । अतः वे भगवान को डंक मारते, काटते और इसी तरह श्मशानों में गृधादि पक्षी उन पर चोंच मारते थे । इसके अतिरिक्त चोर-डाकू एवं धर्म-द्वेषी व्यक्तियों तथा व्यभिचारी पुरुषों एवं भगवान के सौंदर्य पर मुग्ध हुई कामातुर स्त्रियों ने भगवान को अनेक तरह के कष्ट दिए। फिर भी भगवान अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए ।

साधना में स्थित साधक अपने शरीर एवं शरीर संबन्धी सुख दुख को भूल जाता है । ध्यानस्थ अवस्था में उसका चिन्तन आत्मा की ओर लगा रहता है, अतः शुद्ध

जन्तुओं द्वारा दिए जाने वाले कष्ट को वह अनुभव नहीं करता। साधक के लिए बताया गया है कि ध्यान के समय यदि कोई जन्तु काट खाए तो उसे उस समय अपनी साधना से विचलित नहीं होना चाहिए। साधक को उत्पन्न होने वाले कष्ट को पूर्व अशुभ कर्म का कारण या निमित्त समझकर उसे समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। क्योंकि इससे केवल शरीर को कष्ट पहुंचता है और यदि कोई शरीर का ही विनाश करने लगे तब भी यही सोचना चाहिए कि ये मेरे शरीर का नाश कर रहे हैं, परन्तु मेरी आत्मा का नाश नहीं कर सकते। मेरी आत्मा शरीर से भिन्न है, अविनाशी है उसका नाश करने में कोई समर्थ नहीं है। इस तरह आत्मा का चिन्तन करते हुए भगवान सभी कष्टों को समभाव पूर्वक सहते हुए कर्मों का नाश करने लगे।

हिंस्र पशु-पक्षी एवं अधार्मिक व्यक्ति भी एकान्त स्थान पाकर उन्हें कष्ट पहुंचाते और कुछ कामुक स्त्रिएं भी एकान्त स्थान पाकर उनसे विषय पूर्ति की याचना करतीं। भगवान के द्वारा उनकी प्रार्थना के स्वीकार न करने पर वे उन्हें विभिन्न तरह के कष्ट देतीं। इस तरह उन पर अनेक अनुकूल एवं प्रतिकूल कष्ट आए। ऐसे घोर कष्टों को सहन करना साधारण व्यक्ति के सामर्थ्य से बाहर है। प्रतिकूल उपसर्गों की अपेक्षा अनुकूल उपसर्गों को सहन करना अत्यधिक कठिन है। साधारण साधक उनसे घबरा कर भाग खड़ा होता है। परन्तु; भगवान महावीर समभाव से उन सब कष्टों पर विजय पाते रहे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इहलोइयाइं परलोइयाइं भीमाइं अणेगरूवाइं।
अवि सुब्भिदुब्भि गन्धाइं सद्दाइं अणेगरूवाइं ।९।

छाया—ऐह लौकिकान् पारलौकिकान् भीमान् अनेकरूपान्।
अपि सुरभिदुरभि गन्धान्, शब्दान् अनेकरूपान्॥

पदार्थ—इहलोइयाइं—भगवान इस लोक के—मनुष्य एवं तिर्यंच द्वारा दिए जाने वाले एवं। परलोइयाइं—देवों द्वारा दिए जाने वाले उपसर्गों को सहन करते थे और। अपि - संभावनार्थक है। सुब्भिं दुब्भि गंधाइं—सुवासित एवं दुर्वासित अथवा सुगन्धित एवं दुर्गन्धित पदार्थों को सूंघकर तथा। अणेग रूवाइं सद्दाइं—अनेक प्रकार के कटु एवं मधुर शब्दों को सुन कर भगवान हर्ष एवं शोक नही करते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर देव, मनुष्य एवं पशु-पक्षियों द्वारा दिए गए उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करते थे और सुगन्धित एवं दुर्गन्धित

पदार्थों से आने वाली सुगन्ध एवं दुर्गन्ध तथा कटु एवं मधुर शब्द सुनकर उन पर हर्ष एवं शोक नहीं करते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर ने साधना काल में सबसे अधिक कष्ट सहन किए। कहा जाता है कि २३ तीर्थंकरों के कर्म और भगवान महावीर के कर्म बराबर थे। इन्हें नष्ट करने के लिए भगवान साधना पथ पर चल पड़े। जिस दिन भगवान ने दीक्षा ग्रहण की उसी दिन से परीषहों की बिजलियां कड़कड़ाने लगीं। उनके उपसर्गों का प्रारम्भ एक ग्वाले की अज्ञानता से हुआ और अंत भी ग्वाले के हाथ से हुआ। पहला और अन्तिम कष्ट-प्रदाता ग्वाला था। बीच में अनार्य देश में मनुष्यों एवं देवों के द्वारा भी भगवान को अनेक कष्ट दिए गए। ६ महीने के लगभग संगम देव ने भगवान को निरन्तर कष्ट दिया। एक रात्रि में उसने भगवान को २० तरह के कष्ट दिये। फिर भी भगवान अपनी साधना में मेरु पर्वत की तरह स्थिर रहे। भगवान का हृदय वज्र से भी अधिक कठोर था, अतः वह दुःखों की महा आग से भी पिघला नहीं और मक्खन से भी अधिक सुकोमल था। अतः वह पर दुःख को नहीं सह सका, कहा जाता है कि संगम के कष्टों से भगवान बिल्कुल विचलित नहीं हुए। परन्तु जब वह जाने लगा तो भगवान के नेत्रों से भी आंसू के दो बून्द ढुलक पड़े। संगम के बढ़ते हुए कदम रुक गए और उसने भगवान से पूछा कि मैं जब आपको कष्ट दे रहा था तब आपके मन में दुःख का संवेदन नहीं देखा। अब तो मैं जा रहा हूं, न तो आपको कष्ट दे रहा हूं और न भविष्य में ही दूंगा, फिर आप के नेत्रों में पानी की बून्दें क्यों? भगवान ने कहा— हे संगम! मुझे कष्टों का बिल्कुल दुःख नहीं है। मुझे अनेक देव एवं मनुष्यों ने कष्ट दिए और उनसे मैं कभी नहीं घबराया परन्तु, जितने भी व्यक्ति मुझे कष्ट देने आए थे, वे अपने अपराधों को समझकर उनकी क्षमा याचना करके और अपने हृदय में सम्यग् ज्ञान की ज्योति जगा कर गए। परन्तु, तुम अपने दुष्ट कार्यों का बिना पश्चाताप किए और अपराध की क्षमा याचना किए बिना ही जा रहे हो। अभी तो तुम्हें ज्ञान नहीं है कि इसका परिणाम क्या आने वाला है, परन्तु, जब तुम्हें इन कर्मों का फल भोगना पड़ेगा तब तुम्हारी क्या स्थिति होगी, तुम्हारी उस अनागत काल की स्थिति को देखकर मेरा मन दया से भर गया है। यह है भगवान महावीर की साधना, जो घोर कष्टों में भी मुस्कराते हुए साधना के पथ पर बढ़ते रहे। न ग्वाले के प्रहार से घबराए, न चंडकौशिक जैसे महाविषधर से डरे और न संगम जैसे देवों के द्वारा प्रदत्त घोर कष्टों से विचलित हुए। वे सदा दुःखों की संतप्त दुपहरियों में मुस्कराते हुए साधना पथ पर बढ़ते रहे।

उनकी कष्ट सहिष्णुता के विषय में सूत्रकार बताते हैं —

मूलम्—अहियासए सया समिए फासाइं विरूवरूवाइं।
अरइं रइं अभिभूय रीयइ माहणे अबहुवाइ ।१०।

छाया—अध्यासयति सदा समितः, स्पर्शान् विरूपरूपान।
अरतिंरतिं अभिभूयते माहन, अबहुवादी ॥

पदार्थ—विरूवरूवाइं—भगवान महावीर नाना प्रकार के। फासाइं—दुःख रूप स्पर्शों को। अहियासए—सहन करते थे। सयासमिए—वे सदा पांच समिति से युक्त रहते थे। अरइं—अरति और। रइं—रति को। अभिभूय—पराभूत करके। माहणे—भगवान महावीर। अबहुवाई—प्रमाण से बोलने वाले थे और। रीयइ—संयमानुष्ठान में स्थित रहते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर विविध परीषहों को सहन करते थे। वे सदा पांचों समिति से युक्त रहते थे। उन्होंने रति-अरति पर विजय प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार संयमानुष्ठान में स्थित भगवान महावीर बहुत कम बोलते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान साधना काल में समिति गुप्ति से संपन्न थे। न उन्हें भोगों के प्रति अनुराग था और न संयम में अरति थी। ये दोनों महादोष साधक को साधना पथ से भ्रष्ट करने वाले हैं और भगवान ने इन दोनों का सर्वथा त्याग कर दिया था। वे साधना काल में अत्यन्त कम बोलते थे। आहार की याचना करते समय या किसी विहार में मार्ग पूछने के लिए या किसी विशेष परिस्थिति में— जैसे गोशालक द्वारा तिल के पौधे में कितने बीज या जीव हैं के प्रश्न का उत्तर देने तथा तेजोलब्धि के प्राप्त होने की विधि बताने के लिए ही उन्हें बोलना पड़ा था। इसके अतिरिक्त वे सदा मौन ही रहते थे और इस तरह साधना में संलग्न रहते हुए उन्होंने सब परीषहों पर विजय प्राप्त की।

भगवान के ऊपर आए हुए उपसर्गों का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—स जणेहिं तत्थ पुच्छिसु एगचरा वि एगयाराओ।
अव्वाहिय कसाइत्था पेहमाणे समाहिं अपडिपन्ने ।११।

छाया—स जनैस्तत्र (पृष्ठ) पप्रच्छुः एकचरा अपि एकरात्रो।
अव्याहृते कषायिताः प्रेक्षमाणः समाधिमप्रतिज्ञः।

पदार्थ—स भगवान महावीर। जणेहिं—लोगों के द्वारा। पुच्छिंसु—यह पूछने पर कि तुम कौन हो? यहां क्यों खड़े हो, तथा। एगया—कभी। राओ—रात्री में। एगचर वि—अकेले घूमने वाले व्यभिचारी व्यक्तियों के उक्त प्रश्न पूछने पर भगवान। अव्वाहिए—उसका उत्तर नहीं देते, इस कारण वे। कसाइया—क्रोधित होकर उन्हें मारने लगते, फिर भी भगवान। समाहि—समाधि में। पेहमाणे—स्थित रहते। अपडियन्ने—परन्तु, उनसे प्रतिशोध लेने की भावना नहीं रखते।

मूलार्थ—उन शून्य स्थानों में स्थित भगवान का राह चलते व्यक्ति एवं दुराचार का सेवन करने के लिए एकान्त स्थान की खोज करने वाले व्यभिचारी व्यक्ति पूछते कि तुम कौन हो? यहां क्यों खड़े हो? भगवान उनका कोई उत्तर नहीं देते। इससे वे क्रोधित होकर उन्हें मारने-पीटने लगते, फिर भगवान शान्त भाव से परीषहों को सहन करते। परन्तु, वे उनसे प्रतिशोध लेने की भावना नहीं रखते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर साधना काल में प्रायः शून्य घरों में ठहरते और वहीं ध्यान में संलग्न रहते। ऐसे स्थानों में प्रायः चोर या व्यभिचारी या जुआरी आदि व्यसनी लोग छुपा करते थे या छुपकर दुर्व्यसनों का सेवन किया करते थे। इसलिए कुछ लोग उन्हें चोर समझ कर मारते-पीटते एवं अनेक तरह से कष्ट देते। कुछ दुर्व्यसनी एवं व्यभिचारी व्यक्ति वहां अपनी दुर्वृत्ति का पोषण करने पहुंचते और वहां भगवान को खड़े देखकर उन्हें पूछते- कि तुम कौन हो? और यहां क्यों खड़े हो? भगवान उसका कोई उत्तर नहीं देते। तब वे उन्हें अपने दुराचार के पोषण में बाधक समझ कर आवेश में आकर उन्हें अनेक तरह के कष्ट देते। इस तरह अनेक व्यक्ति भगवान को महान कष्ट देते थे। फिर भी वह महापुरुष सुमेरु पर्वत की तरह अपनी साधना में स्थित रहता। वचन और शरीर से तो क्या मन से भी वे कभी विचलित नहीं हुए।

इस तरह कष्ट देने वाले प्राणियों पर भी मैत्री भाव रखते हुए भगवान घोर कष्टों को समभाव से सहते रहे। और इस साधना से भगवान ने कर्म समूह का नाश कर दिया। अतः कर्मों की निर्जरा के लिए यह आवश्यक है कि साधक अपने ऊपर आने वाले परीषहों को समभाव से सहन करे। साधक को सदा-सर्वदा ध्यान रखना

चाहिए कि वह साधना काल में जहां तक संभव हो सके मौन रहे, परीषहों के समय सहिष्णु रहे, उस समय भी समाधि भाव में स्थित रहे और प्रतिशोध लेने की भावना न रखे।

मौन जीवन की बहुत बड़ी शक्ति है। बोलने से मनुष्य की शक्ति का व्यय होता है। वैज्ञानिकों ने अन्वेषण के द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य जितना अधिक बोलता है, वह उतना ही जल्दी मरता है। क्योंकि उसकी शक्ति अधिक नष्ट होती है और शक्ति के क्षय होने का अर्थ है—मृत्यु को प्राप्त करना। जैनागमों में आयुष्य का नाप वर्षों, महीनों दिनों, घड़ियों एवं मिन्टों में नहीं, अपितु श्वासोच्छ्वास में माना गया है। मनुष्य जितना तेज चलता है, जितना अधिक एवं जोर से बोलता है, जितना ज्यादा शयन करता है, जितना ज्यादा भोग-विलास एवं व्यसनों में संलग्न रहता है, उसका सांस उतनी ही तीव्र गति से चलता है और वह अपनी संचित आयु कर्म की पून्जी को थोड़े समय में ही भोगकर आगे के लिए चल पड़ता है। और जो व्यक्ति चलने, बैठने, बोलने, खाने-पीने एवं भोग भोगने में जितना अधिक संयम एवं विवेक रखता है, वह उतने ही अधिक काल तक जीवित रहता है। क्योंकि उसके श्वासोच्छ्वास तेजी से नहीं चलते। इसलिए मौन रखना एवं स्वल्प, धीमे और मृदु स्वर में बोलना जीवन को सम्भाल कर रखना है। अस्तु, वैज्ञानिक एवं आगमिक दृष्टि से अधिक बोलना अहितकर है और मौन रखना या मर्यादित बोलना हितप्रद है।

अधिक बोलने से मनुष्य की शक्ति का क्षय भी होता है और साथ में मानसिक चिन्तन भी बिखर जाता है। और मौन रखने से मनुष्य की वह शक्ति चिन्तन में लगी रहती है और उससे आत्मा का विकास होता है। इस लिए मौन आत्म विकास का सहायक है।

अधिक बोलने से व्यर्थ के झगड़े बढ़ते हैं और फिर मनुष्य किसी भी बात को सहन नहीं कर सकता। और साधक के लिए यह सबसे बड़ा दोष है। क्योंकि इससे सहिष्णुता का नाश होता है। इसलिए मौन सहिष्णुता को बढ़ाने वाला है। सहिष्णुता से संसार के संघर्ष समाप्त हो जाते हैं और मन समाधि भाव में संलग्न हो जाता है। जिससे वैर-विरोध एवं प्रतिशोध की भावना का नाश हो जाता है। इस तरह शुद्ध भाव से रखा गया मौन सर्व गुणों में अभिवृद्धि करने वाला है। यह लोकोक्ति भी बिल्कुल सही है— सब काम सिद्ध करने के लिए 'एक नकार भलो।' अर्थात् मनुष्य किसी भी संघर्ष का उत्तर न देकर आत्म चिन्तन में या अपने दोष देखने में लगा रहे तो उसके समस्त कार्य सहज ही सिद्ध हो जाते हैं। श्रमण भगवान महावीर भी साधना काल में

बहुत कम बोलते थे।

किसी भी व्यक्ति के द्वारा अधिक आग्रहपूर्वक पूछने पर भगवान ने क्या उत्तर दिया; इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अयमंतरंसि को इत्थ ? अहमंसित्ति भिक्खु आहट्टु।
अयमुत्तमे से धम्मे, तुसिणीए कसाइए झाइ ।१२।

छाया—अयमन्तः कोऽत्र ! अहमस्मीति भिक्षुः आहृत्य।
अयमुत्तमः सधर्मः, तूष्णीकः कषायितेऽपिध्यायति।

पदार्थ—**अयमंतरंसि**—इस स्थान में यह। **कोइत्थ ?**—कौन है ? ऐसा पूछने पर भी भगवान मौन ही रहते जब कोई विशेष कारण उपस्थित होता तब वे केवल इतना कहते कि। **अहमंसित्ति भिक्खु**—मैं भिक्षु हूं। **आहट्टु**—यह सुनकर यदि वे कहते कि तुम यहां से चले जाओ तो भगवान उस जगह को अप्रीति का स्थान समझ कर वहां से चले जाते। और यदि वे जाने के लिए न कहकर केवल उन पर क्रोध करते तो भगवान मौन वृति से वहीं पर स्थित रहते और उनके द्वारा दिये गये उपसर्ग को समभाव पूर्वक सहन करते। **से**—वे। **अयमुत्तमे—धम्मे**—यह समझ कर कि आत्म चिन्तन एवं सहिष्णुता सर्व श्रेष्ठ धर्म है, अत: वे। **तुसिणीए**—मौन रह कर। **कसाइए**—उनके क्रोधित होने पर भी। **झाइ**—ध्यान-आत्म चिन्तन से विचलित नहीं होते थे।

मूलार्थ—इस स्थान के भीतर कौन है ! इस प्रकार वहां पर आए हुए व्यभिचारी व्यक्तियों के पूछने पर भगवान मौन रहते। यदि कोई विशेष कारण उपस्थित होता तो वे इतना ही कहते कि मैं भिक्षु हूं। इतना कहने से भी यदि वे उन्हें वहां से चले जाने को कहते तो भगवान उस स्थान को अप्रीति का कारण समझ कर वहां से अन्यत्र चले जाते। और यदि वे उन पर क्रोधित होकर उन्हें कष्ट देते तो भगवान समभाव पूर्वक उसे सहन करते और ध्यान रूप धर्म को सर्वोतम जानकर उन गृहस्थों के क्रोधित होने पर भी वे मौन रहते हुए अपने ध्यान से विचलित नहीं होते थे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में पूर्व गाथा की बात को ही दुहराया गया है। कुछ दुर्व्यसनी व्यक्तियों द्वारा पूछने पर कि तुम कौन हो ? यहां क्यों खड़े हो ? भगवान मौन रहते। यदि वे अधिक आग्रहपूर्वक पूछते और उन्हें उत्तर देना आवश्यक होता तो भगवान इतना ही कहते कि— 'मैं भिक्षु हूं।' यदि इस पर भी वे सन्तुष्ट नहीं होते और भगवान को वहां से चले जाने के लिए कहते तो भगवान शांत भाव से चले जाते। और यदि व जाने के लिए नहीं कहते तो भगवान वहीं अपने ध्यान एवं चिन्तन में संलग्न रहते और उनके द्वारा दिए गए परीषहों को समभाव से सहते। साधक जिस स्थान में स्थित है, यदि वह स्थान अप्रीति का कारण बनता है तो साधक को मकान मालिक के वह कहने पर कि तुम यहां से चले जाओ, साधक को अन्य स्थान में चले जाना चाहिए। और यदि वह स्थान अप्रीति का कारण नहीं बनता है तो उसे वहीं अपनी साधना में संलग्न रहते हुए परीषहों को सहन करना चाहिए।

भगवान की शीतकाल की साधना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— जंसिप्पेगे पवेयन्ति सिसिरे मारुए पवायन्ते।
तंसिप्पेगे अणगारा हिमवाए निवायमेसन्ति ।१३।

छाया—यस्मिनप्येके प्रवेपन्ते (प्रवेदयन्ति) शिशिरे मारुते प्रवाति।
तस्मिनप्येके अनगाराः हिमवाते निवातमेषयन्ति।

पदार्थ—सिसिरे—शीतकाल में। **जं सिप्पेगे**—जिस समय शीत पड़ता है, तब कई एक व्यक्ति वस्त्रादि के अभाव के कारण। **पवेयन्ति** कांपते रहते हैं, और। **मारुए-पवायन्ते**—हिम के पड़ने से शीतल वायु चलता है। **तंसिप्पेगे**—उसमें कई एक। **अणगारा**—साधु। **हिमवाए**—हिम वर्फ के गिरने पर। **निवाय मेसन्ति**—हवा रहित स्थान की गवेषणा करते हैं।

मूलार्थ—जिस समय शीत पड़ता है, तब कई एक साधु काम्पने लगते हैं। शिशिर काल में जब शीतल पवन चलता है उस समय कई एक अनगार हिम के पड़ने पर निवात वायु रहित स्थान की गवेषणा करते हैं।

मूलम्—संघाडओ पवेसिस्सामो एहाय समादहमाणा।
पिहिया व सक्खामो अइदुक्खे हिमग संफासा ।१४।

छाया—संघाटीः प्रवेक्ष्यामः एधाञ्च समादहन्तः।
पिहिताः वा शक्ष्यामः अतिदुःखं हिम संस्पर्शाः

पदार्थ—हिमग संफासा – हिम जन्य शीत स्पर्श । अइदुक्खे – अत्यन्त दुःख देने वाला है, अतः कई साधु सोचते हैं कि । संघाडयो – शीत निवारण के लिए चादर आदि वस्त्र को । पवेसिस्सामो – पहनेंगे । य – और । एहायसमाहमाणा – वे जलाने के लिए काष्ट ढूंढते हैं । पिहिया व सक्खामो – कम्बल आदिवस्त्र पहनते हैं ।

मूलार्थ—शीत काल में जब ठंडी हवा चलती हैं एवं बर्फ गिरती है, उस समय सर्दी को सहन करना कठिन होता है । उस समय कई साधु यह सोचते हैं कि सर्दी से बचने के लिए वस्त्र पहनेंगे या बन्द मकान में ठहरेंगे कई अन्य मत के साधु-सन्यासी शीत निवारणार्थ अग्नि जलाने के लिए इंधन खोजते हैं एवं कम्बल धारण करते हैं ।

मूलम्—तंसि भगवं अपडिन्ने अहे विगडे अहीयासए ।
दविए निक्खम्म एगया राओ ठाइए भगवं समियाए ।१५।

छाया—तस्मिन् भगवान अप्रतिज्ञः अधोविकटेऽध्यासयति ।
द्राविकः निष्क्रम्य, एकदा रात्रौ स्थितो भगवान समतया ।

पदार्थ—भगवं – भगवान । तंसि । तं शीतकाल में । अपडिन्ने – निर्वात वायु रहित स्थान की याचना रूप प्रतिज्ञा से रहित होकर । अहीयासए – शीत परीषह को समता पूर्वक सहन करते । अहे विगडे – चारों तरफ की दीवारों से रहित केवल उपर से आच्छादित स्थान में ठहर कर । भगवं – भगवान । एगया – कभी । राओ – रात्री में । निक्खम्म – बाहर निकल कर । ठाइए – वहां मुहूर्त मात्र ठहर कर । समियाए – फिर निवास स्थान में आकर । समभाव से शीत परीषह को सहन करते और । दविए – संयम साधना में संलग्न रहते थे ।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर शीतकाल में वायु रहित चारों तरफ से बन्द मकान में ठहरने की प्रतिज्ञा से रहित हो विचरते थे। वे चारों ओर दीवारों से रहित केवल ऊपर से आच्छादित स्थान में ठहर कर एवं सर्दी में बाहर आकर शीत परीषह को समभाव पूर्वक सहन करत थे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत तीन गाथाओं में शीत परीषह का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि जब हेमन्त ऋतु का पदार्पण होता है, सर्दी पड़ने लगती है उस समय सब लोग कांपने लगते हैं। जब शीत काल की ठण्डी हवा चलने लगती है तो सब लोग घबरा कर गर्म स्थानों में स्थित होने का प्रयत्न करते हैं। साधारण व्यक्तियों का तो कहना ही क्या। साधु भी बर्फ पड़ने एवं ठण्डी तथा बर्फीली हवा के चलने पर निर्वात अनुकूल स्थानों में चले जाते। उस समय पार्श्वनाथ भगवान के शासन में विचरने वाले मुनि थे। वे सर्दी की मौसम में अनुकूल स्थान ढूंढने का प्रयत्न करते थे। अन्य संप्रदायों या पंथ के साधु भी स्थानों की खोज में फिरते रहते थे।

कई एक साधु शीत से बचने के लिए वस्त्र-चादर-कम्बल आदि रखते थे। कुछ अन्य मत के साधु अग्नि तापते थे। इस तरह वे शीत निवारण के लिए मकान, वस्त्र गर्म कम्बल एवं आग आदि का सहारा लेते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि शीत परीषह को सहन करना कठिन है। कोई मुनि निर्दोष साधनों से यथाशक्य शीत से बचने के प्रयत्न करते हैं, तो जीवाजीव के ज्ञान से रहित अपने आप को साधु कहने वाले कुछ सन्यासी-तापस आदि सदोष-निर्दोष साधनों के विवेक से रहित होकर शीत से बचने का प्रयत्न करते हैं।

परन्तु, ऐसे समय में भगवान महावीर शीत परीषह पर विजय प्राप्त करके अपने आत्म-चिन्तन में संलग्न रहते थे। हेमन्त काल में निर्वात चारों ओर से घिरे हुए मकान में नहीं ठहरते थे। और शीत निवारण के लिए अपने शरीर पर वस्त्र भी नहीं रखते थे दीक्षा ग्रहण करते समय भगवान ने जो देव दूष्य वस्त्र स्वीकार किया था, वह उनके पास १३ महीने तक रहा। परन्तु इस काल में उन्होंने उसे अपने शरीर पर धारण नहीं किया। उसके बाद तो उन्होंने वस्त्र स्वीकार ही नहीं किया। इस तरह भगवान सर्दी से बचने के लिए न तो आवृत्त मकान ही ढूंढते, न बस्त्र धारण करते और न आग ही जलाते एवं तापते थे। भगवान महावीर तो क्या कोई भी जैन मुनि शीत निवारण के लिए अग्नि का आरम्भ नहीं करते हैं।

प्रस्तुत उद्देशक का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एस विहि अणुक्कन्तो माहणेण मइमया।
बहुसो अपडिण्णेण भगवया एवं रीयन्ति ।१६। त्तिबेमि

छाया—एष विधिः अनुक्रान्तः, माहनेन मतिमता।
बहुशः अप्रतिज्ञेन भगवता एवं रीयन्ते।

पदार्थ—मइमया—मतिमान। माहणेण—श्रमण-भगवान महावीर ने। एस—इस। विहि—विधि का। अणुक्कन्तो—आचरण किया। अपडिण्णेण—अप्रतिबन्ध विहारी होने के कारण। भगवया—भगवान ने। बहुसो—अनेकवार इस विधि का पालन किया। एवं—इसी प्रकार अन्य साधु भी। रीयन्ति—आत्मविकासार्थ इस विधि का आचरण करते हैं। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—परम मेधावी भगवान महावीर ने निदान रहित होकर अनेकवार इस विधि का परिपालन किया और अपनी आत्मा का विकास करने के लिए अन्य साधु भी इसका आचरण करते हैं। ऐसा मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत उद्देशक में बताई गई विधि का भगवान महावीर ने स्वयं पालन किया था। प्रथम उद्देशक के अन्त में भी उक्त गाथा दी गई है। अतः इसकी व्याख्या वहां की गई है। पाठक वहीं से देख लें।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत समझें।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

नवम अध्ययन-उपधान श्रुत

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक में भगवान जिन वस्तियों में ठहरे थे उनका वर्णन किया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में उक्त स्थानों में भगवान को जो परीषह उत्पन्न हुए और भगवान ने जिस सहिष्णुता से उन्हें सहन किया, उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तणफासे सीयफासे य तेउफासे य दंसमसगे य।
अहियासए सयासमिए, फासाइं विरूव रूवाइं ॥१॥

छाया—तृणस्पर्शान् शीतस्पर्शांश्च तेजः स्पर्शांश्च दंशमशकांश्च।
अध्यासयति सदासमितः, स्पर्शान् विरूपरूपान्।

पदार्थ—तणफासे—तृण स्पर्श। य—और। सीयफासे—शीत स्पर्श। य—और। तेउफासे—उष्ण स्पर्श। य—और। दंसमसगे—डांस-मच्छरादि के स्पर्श। य—और। विरूवरूवाइं—अन्य विविध प्रकार के। फासाइं—स्पर्शों को। सया—भगवान सदा। समिए—समित- समितियों से युक्त हो कर। अहियासए—सहन करते थे।

मूलार्थ—समिति-गुप्ति से युक्त श्रमण भगवान महावीर तृण स्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श, दंशमशक स्पर्श और नाना प्रकार के स्पर्शों को, सदा समभाव पूर्वक सहन करते थे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि भगवान को तृण स्पर्श, शीत स्पर्श आदि के परीषह उत्पन्न होते थे। भगवान ने दीक्षा लेते समय जो देवदूष्य वस्त्र ग्रहण किया था उसके अतिरिक्त अन्य वस्त्र नहीं लिया। वह वस्त्र भी १३ महीने तक रहा था। उसके रहते हुए भी भगवान उसे शरीर पर धारण नहीं करते थे। वे बैठने के लिए तृण के आसन का उपयोग करते थे। अतः वस्त्राभाव में तृण का चुभना स्वाभाविक है और उससे कष्ट का होना भी सहज ही समझ में आ जाता है। इसी तरह वस्त्र का उपयोग न करने के

कारण भगवान को सर्दी एवं गर्मी का कष्ट भी होता था और मच्छर आदि भी डंक मारते थे। इस तरह भगवान को ये परीषह उत्पन्न होते। फिर भी भगवान अपने ध्यान से विचलित नहीं होते थे। वे समस्त परीषहों को समभाव पूर्वक सहते हुए आत्म-चिन्तन में संलग्न रहते थे।

इतना ही नहीं, अपितु भगवान ने अनेक बार परीषहों को आमंत्रण भी दिया अर्थात् वे कभी भी कष्टों से घबराए नहीं। परीषह सहने के लिए ही भगवान ने लाट-अनार्य देश में भी विहार किया। इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अह दुच्चर लाढमचारी वज्जभूमिं च सुब्भभूमिं च।
पंतं सिज्जं सेविंसु आसणगाणि चेव पंताणि ॥२॥

छाया—अथ दुश्चरलाढं,चीर्णवान् वज्रभूमिं च शुभ्रभूमिं च।
प्रान्तां शय्यां सेवितवान्, आसनानि चैव प्रान्तानि ॥

पदार्थ—अह—अथ भगवान। दुच्चर—दुश्चर दुर्गम्य। लाढं—लाट नामक देश में। अचारि—विचरे थे। वज्ज भूमिंच—उस देश की वज्र और। सुब्भभूमिंच—शुभ भूमि में और। पंतं सिज्जं सेविंसु—प्रान्त शैय्या का सेवन किया। च—और। एव—निश्चय अवधारणार्थ में। आसणगाणि पंतानि—प्रान्त आसन का सेवन किया।

मूलार्थ—भगवान ने दुश्चर लाढ़देश की वज्र और शुभ्रभूमि में विहार किया और प्रान्तशय्या एवं प्रान्त आसन का सेवन किया।

हिन्दी विवेचन

यह हम पहले देख चुके हैं कि भगवान महावीर के कर्म का बन्धन इस काल चक्र में हुए शेष सभी तीर्थंकरों से अधिक था। अतः उसे तोड़ने के लिए भगवान ने अनार्य देश में विहार किया। जिस दिन भगवान ने दीक्षा ली उसी दिन एक ग्वाले ने भगवान पर चाबुक का प्रहार किया था। उस समय इंद्र ने आकर भगवान से प्रार्थना की थी कि प्रभो! साढ़े बारह वर्ष तक आपको देव-मनुष्यों द्वारा अनेक कष्ट मिलने वाले हैं, अतः आपकी आज्ञा हो तो मैं आपकी सेवा में रहूं। उस समय भगवान ने कहा—हे इन्द्र! जितने भी तीर्थंकर एवं सर्वज्ञ हुए हैं वे स्वयं ही अपने कर्म काट कर हुए हैं। अतः प्रत्येक आत्मा को अपने बांधे हुए कर्मों को तोड़ना होगा। दूसरे की सहायता से कर्मों को नहीं तोड़ा जा सकता है। तुम्हारे साथ रहने से तुम्हारे डंडे के भय से लोग मुझे कष्ट नहीं देंगे, इससे मेरी भावना में सहिष्णुता का वेग नहीं आ सकेगा और परिणाम स्वरूप कर्मों को

निर्जरा भी रुक जाएगी। अत: देवेन्द्र कोई भी अर्हन्त अपने कर्मों को तोड़ने के लिए देव या देवेन्द्र या किसी अन्य शक्ति का सहारा नहीं लेते हैं। वे स्वयं अपनी शक्ति से अपने कर्मों का नाश करते हैं।

इस तरह अपने कर्मों का क्षय करने के लिए भगवान धर्म से अपरिचित लाढ़ देश (अनार्य भूमि) में चले गए। यह देश वज्र, कठोर और शुभ्र भूमि वाला है। परन्तु अधिकांश भाग वज्र भूमि वाला ही है। यहां के लोगों का हृदय भी वज्र की तरह ही कठोर था। उस देश में भगवान को स्थान भी तुच्छ ही मिलता था और शय्या-तृण आदि भी तुच्छ ही मिलते थे।

पन्नवणा सूत्र के प्रथम पद में साढ़े पच्चीस आर्य देशों के नाम गिनाए हैं। उन में लाढ़ देश का नाम नहीं होने से यह अनार्य देश ही प्रतीत होता है। इस देश के लिए दिया गया 'दुश्चर' विशेषण और स्थान एवं शय्या के साथ दिया गया प्रान्त तुच्छ शब्द का प्रयोग इस बात की ओर संकेत करता है कि यह देश आर्य देश के निकट एक अनार्य देश था।

प्रस्तुत गाथा में दिए गए लक्षणों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह देश तक्षशिला के निकट था। कल्प सूत्र की एक कथा में बताया गया है कि भगवान महावीर जब 'सेविया' श्वेतविका नगरी में पधारे तो वहां प्रदेशी राजा ने उनकी बहुत भक्ति की थी। संभव है कि उस नगरी के ऊपर के प्रदेश में भगवान पधारें हों, जहां उन्होंने अनेक परीषहों को सहन किया था।

प्रस्तुत गाथा में 'पंत'— प्रान्त शब्द का दो बार प्रयोग किया गया है। उसमें पहले प्रान्त शब्द की व्याख्या अर्धमागधी कोष में इस प्रकार दी है— १-तुच्छ, २-खराब, निकम्मा, निम्न श्रेणि का, बिना रस का, २-भोजन करने के बाद बची हुई जूठन, ३-धर्म भ्रष्ट हुआ व्यक्ति, ४-खराब लक्षण, ५-अपशब्द, ६-अन्तवर्ती, ७-इन्द्रिय प्रतिकूल, ८-दरिद्र निर्धन, ९-जीर्ण, फटा हुआ और, १०-नष्ट हुआ पदार्थ*।

दूसरे प्रान्त शब्द की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने भी यही बताया है कि

*पंत-त्रि (प्रान्त) १ तुच्छ, नठारू, खराब, हलकुं, रस बिना नुं। २ जमता बाकी रहेल खुराक, ३ धर्म भ्रष्ट थयेल, ४ खराब लक्षण, ५ अप शब्द-गा, ६ अन्तवर्ती, ७ इन्द्रिय-प्रतिकूल, ८ दरिद्र निर्धन, ९ जीर्ण, फाटयुः तुटयूं, १० व्यापन्न—विनष्ट।

—अर्धमागधी कोष, पृष्ठ २८८।

जहां तुच्छ भोजन एवं तुच्छ तृण, तख्त आदि का आसन मिलता था[†]।

इन सबसे लाढ़ देश के व्यक्ति अनार्य प्रतीत होते हैं। उस देश में भगवान के विचरण का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लाढेहिं तस्सुवस्सग्गा बहवे जाणवया लूसिसु।
अह लूहदेसिए भत्ते कुक्कुरा तत्थ हिंहिंसु निवइंसु।३।

छाया—लाढेषु तस्योपसर्गाः बहवः जानपदाः लूषितवन्तः।
अथ रुक्षदेश्यं भक्तं, कुर्कुराः तत्र जिहिंसु निपेतुः।

पदार्थ—लाढेहिं—लाढ़ देश में। तस्सुवसग्गा—उस भगवान को अनेक उपसर्ग हुए। बहवे—बहुत से। जाणवया—लोग। लूसिसु—उन्हें दान्त आदि से काटते थे। अह—अन्य। लूहदेसिए—रूक्ष। भंते—अन्न-पानी मिलता था और। तत्थ—उस देश में उन्हें। कुक्कुरा—कुत्ते भी। हिंसिसु—काटते थे और वे भगवान को। निवइंसु—काटने के लिए छोड़े जाते थे।

मूलार्थ—लाढ़ देश में श्री भगवान को बहुत से उपसर्ग हुए बहुत से लोगों ने उन्हें मारा-पीटा एवं दान्तों तथा नखों से उनके शरीर को क्षत-विक्षत किया। उस देश में भगवान ने रूक्ष अन्न-पानी का सेवन किया। वहां पर कुत्तों ने भगवान को काटा। कई कुत्ते क्रोध में आकर भगवान को काटने के लिए दौड़ते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर जब लाढ़ देश में पधारे तो वहां के लोगों ने उनके साथ क्रूरता का व्यवहार किया। उन्होंने भगवान को डंडों से, पत्थरों से मारा, दान्तों से काटा और कुत्तों की तरह उन पर टूट पड़े। इस तरह वहां के निवासियों ने भगवान को अनेक कष्ट दिए। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनका जीवन कितना भयंकर था एवं उनका कर्म कितना क्रूर था। इसी अपेक्षा से वहां के लोगों को अनार्य कहा है।

[†]प्रान्तानि चासनानि पांशूत्करशर्करालोष्टद्युपचितानि च काष्ठानि च, दुर्घटितान्यासेवितानि।
—आचारांग वृत्ति।

अनार्य व्यक्तियों के हृदय में दया, प्रेम-स्नेह एवं आतिथ्य-सत्कार की भावना कम होती है। इस तरह अनेक कष्ट सहने पर भी भगवान को उपयुक्त आहार नहीं मिलता था। यों भगवान तपस्या करते थे, उनका बहुत सा समय तप में ही बीतता था और पारणे के दिन भी तुच्छ एवं रूक्ष आहार उपलब्ध होता था।

इतना कष्ट होते हुए भी भगवान ने कभी दुःख की अनुभूति नहीं की। उन्होंने उसे निवारण करने का प्रयत्न नहीं किया। यदि वे चाहते तो सारे बाह्य कष्टों को भगा सकते थे। उनमें बड़ी शक्ति थी। परन्तु महान् पुरुष वही होता है जो अपनी शक्ति का उपयोग शरीर के क्षणिक सुखों के लिए न करके आत्मा के अनन्त सुखों को प्राप्त करने के लिए करता है या जो सामर्थ्य होते हुए भी आने वाले कष्टों को हंसते हुए सह लेता है।

भगवान महावीर अपने ऊपर आने वाले कष्टों को समभाव पूर्वक सहते हुए लाढ देश में विचरे, इसका उल्लेख करते हुए फिर सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अप्पे जणे निवारेइ लूसणए सुणए दसमाणे।
छुच्छुकारिंति आहंसु समणं कुक्कुडा दसंतत्ति।४।

छाया—अल्पः जनः निवारयति लूषकान् दशतः।
छुच्छुकारंति आहंसु श्रमणं कुर्कुरा दशन्तु इति।

पदार्थ—अप्पे—बहुत थोड़े। जणे—मनुष्य ऐसे हैं, जो। लूसणए—काटते हुए कुत्तों को। निवारेइ—हटाते हैं, प्रायः ऐसे व्यक्ति हैं जो। दसमाणे सुणए—काटते हुए कुत्तों का। छुच्छुकारिंति—छू-छू करते हुए। आहंसु—भगवान के पीछे लगाते हैं और ऐसा प्रयत्न करते हैं कि। समणं—श्रमण भगवान को। कुक्कुरा—ये कुत्ते। दंसत्तुति—काटें।

मूलार्थ—उस प्रदेश में ऐसे व्यक्ति बहुत ही कम थे, जो भगवान को काटते हुए कुत्तों से छुड़ाते थे। प्रायः वहां के लोग काटते हुए कुत्तों को छू-छू करके काटने के लिए और अधिक प्रोत्साहित करते थे। वे ऐसा प्रयत्न करते थे कि ये कुत्ते श्रमण भगवान महावीर को काटें।

हिन्दी विवेचन

पूर्व गाथा में बताया गया है कि अनार्य लोग भगवान पर कुत्तों की तरह दान्तों

का प्रहार करते थे। प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि वे जब किन्हीं कुत्तों को भगवान पर झपटते हुए देखते तो उन्हें दूर नहीं हटाते, अपितु तमाशा देखने के लिए वहां खड़े हो जाते और उन्हें छू-छू करके और अधिक काटने की प्रेरणा देते थे। ऐसे क्रूर हृदय के लोगों में कभी कोई एक-आध व्यक्ति ही ऐसा निकलता, जो कुत्तों को दूर करता था। भगवान स्वयं कुत्तों को हटाते नहीं थे। वे इस कार्य को निर्जरा का कारण समझकर समभाव पूर्वक सहन करते थे। यह उनकी सहिष्णुता एवं वीरता का एक अनूठा उदाहरण है।

उस प्रदेश में दिए गए कष्टों के विषय में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एलिक्खएजणा भुज्जो, बहवे वज्ज भूमि फरुसासी।
लट्ठिं गहाय नालियं, समणा तत्थ य विहरिंसु ॥५॥

छाया—ईदृक्षान् जनान् भूयः बहवः वज्र भूमौ परुषाशिनः।
यष्टिं गृहीत्वा नालिकां, श्रमणाः तत्र विजह्रुः।

पदार्थ—एलिक्खए—वहां इस प्रकार के स्वभाव वाले। बहवे जणा—बहुत से लोग थे। उस देश में श्रमण भगवान महावीर। भुज्जो—पुनः पुनः विचरे और उस। वज्जभूमि—वज्र भूमि में बहुत से लोग। फरुसासि—तामसी भोजन करने के कारण कठोर स्वभाव वाले थे अतः। समणा—बौद्ध आदि भिक्षु। य—अथवा। नालियं लट्ठि गहाए—अपने शरीर से चार अंगुल अधिक। यष्ठि—लकड़ी लेकर। तत्थ—उस देश में। विहरिंसु—विचरते थे।

मूलार्थ—इस प्रकार के अनार्य देश में श्रमण भगवान ने पुनः २ विहार किया था। उस बज्र भूमि में निवसित क्रोधी मनुष्य भिक्षुओं के पीछे कुत्ते छोड़ देते थे। अतः बौद्ध भिक्षु या दूसरे परिव्राजक आदि साधु अपने शरीर से चार अंगुल अधिक लम्बी लाठी या नालिका लेकर उस देश में विचरते थे। जिससे कुत्ते उन पर प्रहार न कर सकें।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में लाढ़ देश के लोगों के खान-पान एवं जीवन व्यवहार का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि वे लोग तुच्छ एवं तामस आहार करते थे। इससे उनकी वृत्ति क्रूर हो गई थी। आहार का भी मनुष्य के जीवन पर असर होता है। तामस पदार्थों का अधिक उपभोग करने वाले व्यक्ति को क्रोध अधिक आता है।

उनका स्वभाव भी अति क्रूर था। वे साधु सन्यासियों के पीछे कुत्ते छोड़ देते थे। इस लिए बौद्ध भिक्षु आदि साधु संन्यासी भिक्षा आदि को जाते समय अपने शरीर से ४ अंगुल ऊंचा डण्डा रखते थे। इस तरह वे कुत्तों से अपना बचाव करते थे। परन्तु, भगवान महावीर पूर्ण अहिंसक थे। वे किसी भी प्राणी को भयभीत नहीं करते थे। इसलिए अपने हाथ में डण्डा आदि कोई भी हथियार नहीं रखते थे। वे किसी भी संकट से भयभीत नहीं होते थे, वे प्रत्येक संकट का स्वागत करते थे एवं समभाव पूर्वक उसे सहन करते थे। भगवान का उस प्रदेश में भ्रमण अपने कर्मों की निर्जरा एवं अज्ञान अंधकार में भटकते हुए प्राणियों के अभ्युदय के लिए होता था।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त समण-श्रमण शब्द यहां बौद्ध भिक्षुओं के लिए भी प्रयुक्त किया गया है। क्योंकि, जैन एवं बौद्ध दोनों संप्रदायों में मुनि या भिक्षु के लिए श्रमण शब्द प्रचलित था। भगवान महावीर एवं बुद्ध दोनों समकालीन थे और तथागत-बुद्ध एवं उनके भिक्षुओं ने भी लाढ़ देश में भ्रमण किया था। वे जब ऐसे प्रदेश में जाते थे तो कुत्ते आदि के भय से बचने के लिए साथ में डण्डा रखते थे। परन्तु भगवान बिना किसी शस्त्र को धारण किए निर्भय होकर विचरते थे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एवंपि तत्थ विहरंता, पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणिएहिं।
संलुञ्चमाणा सुणएहिं, दुच्चराणि तत्थ लाढेहिं॥६॥

छाया—एवमपि तत्र विहरन्तः स्पृष्टपूर्वाः आसन् श्वभिः।
संलुञ्च्यमानाः श्वभिः, दुश्चराणि तत्र लाढेषु।

पदार्थ—एवंपि—इस प्रकार से ही। तत्थ—उस देश में। विहरंता—विचरते हुए बौद्धादि भिक्षुगण। पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणिएहिं—कुत्तों से स्पर्शित हुए। संलुंचमाणा सुणएहिं—कई बार इधर-उधर घूमते हुए उन्हें कुत्तों ने भी काट लिया था। तत्थ—अतः उस। लाढेहिं—लाढ़ देश में। दुच्चराणि—आर्य लोगों को चलना दुष्कर था।

मूलार्थ—उस देश में बौद्धादि भिक्षु लाठी लेकर चलते थे, फिर भी इधर उधर विचरण करते हुए कुत्ते उन्हें काट खाते थे। अतः उस अनार्य भूमि में भिक्षुओं एवं साधु-सन्तों का भ्रमण करना दुष्कर था।

हिन्दी विवेचन

लाढ़ देश के लोग इतने कठोर थे कि वहां साधुओं को अनेक तरह के कष्ट दिए जाते थे। बौद्ध भिक्षु कुत्तों से बचने के लिए अपने साथ डण्डा रखते थे, फिर भी वे पूर्णतया सुरक्षित नहीं रह पाते थे। कभी-कभी कहीं न कहीं से कुत्ते काट ही खाते थे। परन्तु, भगवान महावीर जो अपने आत्म बल पर विचरते थे, उन्हें तो अनेक बार कुत्ते काट खाते थे। फिर भी वे उनका प्रतिकार नहीं करते थे।

प्रश्न हो सकता है कि इतने भयंकर देश में भगवान ने कैसे विहार किया? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—निहाय दंडं पाणेहिं, तं कायं वोसिज्जमणगारे।
अह गामकंटए भगवंते अहियासए अभिसमिच्चा ।७।

छाया—निधाय दंडं प्राणिषु, तं कायं व्युत्सृज्य अनगारः।
अथ ग्रामकण्टकान् भगवान् अध्यासयति अभिसमेत्य।

पदार्थ—अणगारे—भगवान महावीर। पाणेहिं—प्राणियों में। दण्डं—मन, वचन और काया रूप दंड। तं—उनको। निहाय—छोड़कर और उसी प्रकार। कायं—शरीर के ममत्व को। वोसिज्जं—त्यागकर विचरते थे। अह—अतः। भगवं—भगवान। गामकंटए—ग्रामीणों के उन कंटक रूप वचनों को। अभिसमिच्चा—निर्जरा का कारण जानकर। अहियासए—सहन करते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर ने मन वचन और काय रूप दंड एवं शरीर के ममत्व का परित्याग कर दिया था, ग्रामीण लोगों के वचन रूप कंटकों को कर्मों की निर्जरा का कारण समझकर भगवान ने उन्हें समभाव से सहन किया।

हिन्दी विवेचन

यह नितान्त सत्य है कि कष्ट तभी तक कष्ट रूप से प्रतीत होता है, जब तक शरीर एवं अन्य भौतिक साधनों पर ममत्व रहता है। जब शरीर आदि से ममत्व हट जाता है, तब कष्ट दुःख रूप से प्रतीत नहीं होता है। ममत्व भाव के नष्ट होने से आत्मा में परीषहों को सहन करने की क्षमता आ जाती है। फिर उसके अन्दर किसी को दोष देने की वृत्ति नहीं रहती। इस तरह उसमें अहिंसा की भावना का विकास

होता है। इससे वह वैर-विरोध एवं प्रतिशोध की भावना से ऊपर उठ जाता है। वह कर्कश एवं कठोर शब्दों एवं डंडे आदि के प्रहारों को अपने कर्मों की निर्जरा का साधन मानकर सहन करता है।

भगवान महावीर एक महान साधक थ। उनके मन में किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष नहीं था। और न उनके मन में प्रतिशोध की भावना थी। परीषहों को सहन में में वे सक्षम थे। संगम देव द्वारा निरन्तर ६ महीने तक दिए गए घोर परीषहों से भी वे विचलित नहीं हुए थे। वे कष्ट देने वाले व्यक्ति से भी घृणा नहीं करते थे। उसे अपने कर्मों की निर्जरा करने में सहयोगी मानते थे। क्योंकि कष्टों के सहन करने से कर्मों की निर्जरा होती थी। इस अपेक्षा से वह कष्ट दाता कर्म निर्जरा में सहायक हो जाता है। इस तरह भगवान अनार्य मनुष्यों द्वारा कहे गए कठोर शब्दों एवं प्रहारों को समभाव पूर्वक सहन करते थे।

भगवान की सहिष्णुता को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम् — नागो संगाम सीसे वा, पारए तत्थ से महावीरे।
एवंपि तत्थ लाढेहिं, अलद्ध पुव्वोवि एगया गामो ।८।

छाया— नागो संग्राम शीर्षे वा पारगः तत्र स महावीरः ।
एवमपि तत्र लाढेषु अलब्ध पूर्वोपि एकदा ग्रामः ।

पदार्थ — नागो — हस्ती। संगाम सीसे — संग्राम में वैरी को जीत कर। वा — अथवा। पारए — पारगामी होता है। एवंपि — इसी प्रकार। से — वह। महावीरे — भगवान महावीर। तत्थ लाढेहिं — उस लाढ़ देश में परीषह रूप सेना को जीत कर पारगामी हुए तथा। एगया — एक बार। तत्थ — उस लाढ़ देश में। गामो — ग्राम। अलद्धपुव्वोवि — न मिलने पर उन्होंने अरण्य में ही वास किया।

मूलार्थ — जैसे रण भूमि में हाथी वैरी की सेना को जीत कर पारगामी होता है, उसी प्रकार भगवान महावीर भी उस लाढ़ देश में परीषह रूपी सेना को जीत कर पारगामी हुए। एक समय उस लाढ़ देश में ग्राम के न मिलने पर वे अरण्य में ही ध्यानस्थ होगए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि जैसे सुशिक्षित हाथी शत्रु के भालों की परवाह किए बिना उसके सैन्यदल को रौंदता हुआ चला जाता है और शत्रु पर विजय प्राप्त करता है, उसी तरह भगवान महावीर ने लाढ़ देश में परीषह रूपी शत्रु सेना पर विजय प्राप्त की। वे साधना काल में परीषहों से कभी घबराए नहीं।

लाढ़ देश में विचरते समय एक बार भगवान को संध्या समय गांव नहीं मिला। इससे स्पष्ट होता है कि लाढ़ देश में गांव बहुत दूर दूर थे। रास्ते में ही संध्या हो जाने के कारण भगवान जंगल में ही ध्यानस्थ हो गए। इस तरह भगवान जंगल में घबराए नहीं और यह भी नहीं सोचा कि यहां जंगली जानवर मुझे कष्ट देंगे। वे निश्चिन्त होकर आत्म-चिन्तन में संलग्न होगए।

अब लाढ़ देश में अनार्य लोगों द्वारा भगवान को दिए गए परीषहों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उवसंकमन्तमपडिन्नं, गामंतियम्मि अप्पत्तं।
पडिनिक्खमित्तु लूसिंसु, एयाओ परं पलेहित्ति ॥९॥

छाया—उपसंक्रामन्तं अप्रतिज्ञं, ग्रामान्तिकं अप्राप्तम्।
प्रतिनिष्क्रम्य अलूलिषुः इतः परं पर्येहीति।

पदार्थ—अपडिन्नं—प्रतिज्ञा से रहित भगवान को, उवसंकमन्तं—भिक्षा या स्थान के लिए। गामंतियम्मि—ग्राम के समीप जाते हुए। अप्पत्तं—ग्राम के प्राप्त होने पर या अप्राप्त होने पर अथवा। पडिनिक्खमित्तु—ग्राम से बाहर निकलते हुए। लूसिंसु—उन लोगों ने भगवान को मारा और कहा कि। एयाओ—तुम इस स्थान से। परं—दूर। पलेहित्ति—चले जाओ।

मूलार्थ—जब अप्रतिज्ञ भगवान भिक्षा या स्थान के लिए ग्राम के समीप पहुंचते या नहीं पहुंचते अथवा ग्राम से बाहर निकलते हुए अनार्य लोग पहले तो भगवान को पीटते और फिर कहते कि तुम यहां से दूर चले जाओ।

मूलम्—हय पुव्वो तत्थ दण्डेण, अदुवा मुट्ठिणा अदु कुन्तफलेण।

अदु लेलुणा कवालेण हंता हंता बहवे कंदिंसु ।१०।

छाया—हत पूर्वः तत्र दण्डेन, अथवा मुष्टिना अथवा कुन्तफलेन ।
अथवा लोष्टुना कपालेन, हत्वा हत्वा बहवश्चक्रन्दुः ।

पदार्थ—तत्थ—उस लाढ़ देश में विचरते हुए भगवान को उन अनार्य लोगों ने । पुव्वो—पहले किसने मारा ? । दंडेन—डंडो से । अदुवा—अथवा । मुट्ठिणा—मुक्कों से । अदु—अथवा । कुन्तफलेण—कुन्त आदि के अग्रभाग और फलक से । अदु—अथवा । लेलुणा—पत्थरों से । कवालेण—ठीकरों से । हय—मारा, इसके पश्चात् । हन्ताहंता—उन्हें मारते-मारते । बहवे—बहुत से अनार्य लोग । कन्दिंसु—कोलाहल करते कि अरे लोगो ! देखो, देखो यह कौन है ?

मूलार्थ—उस लाढ़ देश में ग्राम से बाहर ठहरे हुए श्रमण भगवान महावीर को अनार्य लोग पहले तो डण्डों, मुक्कों, कुन्त फलक पत्थर और ठीकरों से मारते और उसके पश्चात् शोर मचाते कि अरे लोगो ! आओ, देखो यह शिर मुण्डित नग्न व्यक्ति कौन है ?

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत उभय गाथाओं में अनार्य लोगों के अशिष्ट व्यवहार का दिग्दर्शन कराया गया है। इसमें बताया है कि जब भगवान विहार करते हुए रात को ठहरने के लिए या भिक्षा के लिए गांव में जाते तो उस समय वहां के निवासी भगवान का उपहास करते, उन्हें मारते-पीटते और अपने गांव से बाहर चले जाने को कहते। उनके द्वारा किए गए प्रहार एवं अपमान का भगवान कोई उत्तर नहीं देते, वे मौन भाव से उन परीषहों को सहन करते हुए विचरण करते थे।

जब भगवान एकान्त स्थान में ध्यानस्थ होते तो उस समय लाढ़ देश के अनार्य लोग डण्डा लेकर वहां पहुंच जाते और भगवान को डण्डे से पीटते और इधर-उधर राह चलते लोगों को इकट्ठा करके हल्ला मचाते और कहते देखो यह विचित्र व्यक्ति कौन है ? इस तरह वे अज्ञानी लोग भगवान को अनेक कष्ट देते; फिर भी भगवान उन पर रोष नहीं करते। कितना धैर्य था उनके जीवन में एवं थी कितनी सहन शीलता। वास्तव में सहिष्णुता के द्वारा ही साधक परीषहों पर विजय प्राप्त करके निष्कर्म बन सकता है।

भगवान की कष्ट सहिष्णुता का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं–

मूलम्—मंसाणि छिन्नपुव्वाणि, उट्ठंभिया एगया कायं।
परिसहाइं लुंचिंसु, अदुवा पंसुणा उवकरिंसु ॥११॥

छाया—मांसानि छिन्नपूर्वाणि, अवष्टभ्य एकदा कायं।
परीषहाः च अलुंचिषुः अथवा पांसुना अवकीर्णवन्तः।

पदार्थ—मंसाणि छिन्नपुव्वाणि—वे अनार्य लोग उनके शरीर के मांस को काटते थे। एगया—किसी समय। कायं—शरीर को। उट्ठंभिया—पकड़कर। परिसहाइं—नाना प्रकार के अन्य परीषह भी दिए। लुंचिंसु—उन्हें दुःखित भी किया। अदुवा—अथवा। पंसुणा उवकरिंसु—उन पर धूल भी फैंकी।

मूलार्थ—उस अनार्य देशमें वहां के लोगों ने किसी समय ध्यानस्थ खड़े भगवान को पकड़ कर उनके शरीर के मांस को काटा उन्हें नाना प्रकार के परीषहोपसर्गों से पीड़ित किया, और उन पर धूल फैंकते रहे।

मूलम्—उच्चालइय निहणिंसु, अदुवा आसणाउ खलइंसु।
वोसट्ठकाय पणयाऽऽसी दुक्खसहे भगवं अपडिन्ने ॥१२॥

छाया—उत्क्षिप्य निहतवन्तः, अथवा आसनात् स्खलितवन्तः।
व्युत्सृष्ट कायः प्रणतः आसीत्, दुःखसहः भगवान् अप्रतिज्ञः

पदार्थ—उच्चालइय—वे अनार्य लोग भगवान को ऊपर उठाकर। निहणिंसु—उन्हें नीचे भूमि पर गिरा देते थे। अदुवा—अथवा। आसणाउ—गोदुहादि आसन से बैठे हुए भगवान को। खलइंसु—धक्का मार कर दूर फैंक देते थे। वोसट्ठकायपणयाऽऽसी—परन्तु भगवान अपने शरीर के ममत्व को छोड़ कर परीषहों को सहन करने में सावधान थे। भगवं—भगवान। दुक्खसहे—परीषहजन्य दुःख को सहन करने वाले। अपडिन्ने—प्रतिज्ञा एवं निदान से रहित थे।

मूलार्थ—कभी कभी वे लोग भगवान को ऊंचे उठाकर नीचे फैंकते कभी धक्का मार कर आसन से दूर फैंक देते, परन्तु भगवान काया के ममत्व को त्याग कर परीषहों के सहन करने में सावधान हुए अप्रतिज्ञ और निदान

जन्य वेदनाओं को समता पूर्वक सहन करने वाले श्रमण भगवान महावीर, अपने ध्यान से च्युत नहीं हुए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत उभय गाथाओं में भगवान की सहनशीलता का वर्णन किया गया है। इनमें बताया गया है कि जहां भगवान ध्यानस्थ खड़े थे वहां ये अनार्य लोग पहुंच जाते और उनके शरीर का मांस काट लेते उन्हें पकड़ कर अनेक तरह की यातनाएं—कष्ट देते। उन पर धूल-पत्थर आदि फैंकते। फिर भी उनके चिन्तन में बिल्कुल अन्तर नहीं आता। उनके चिन्तन का प्रवाह उसी रूप में प्रवहमान रहता था।

इससे यह स्पष्ट होता है कि मुमुक्षु पुरुष को कैसी कठिन परीक्षा में उतरना पड़ता है। भगवान महावीर कठोर से कठोर परीक्षा में सफल रहे। वे सदा परीषहों पर विजय प्राप्त करते हुए आत्म विकास की ओर बढ़ते रहे। इसके लिए प्रस्तुत गाथा में उनके लिए 'दुक्खसहे' और 'अपडिन्ने' दो विशेषण दिए हैं। इसमें पहलें विशेषण का अर्थ दुःख पर विजय पाने वाले और दूसरे का अर्थ है—प्रतिज्ञा रहित अर्थात् भौतिक सुखों एवं आराम की कामना से रहित।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करते थे और उन्होंने उनका कभी भी प्रतिकार नहीं किया। यह नितान्त सत्य है कि आत्मा स्वयं ही कर्म का बन्ध करता है और स्वयं ही उन्हें तोड़ सकता है। दुनिया में व्यक्ति जो भी दुःख-सुख भोगता है, वे उसके स्वयं कृत कर्म के ही फल हैं। यह समझकर भगवान महावीर उनसे घबराए नहीं, अपितु समभाव पूर्वक सहकर महावीर उन्हें नष्ट करने में संलग्न रहे। जिससे वे कर्म फिर से उन्हें संतप्त न कर सके। अस्तु भगवान महावीर सदा कर्मों का नाश करने के लिए संयम एवं तप में संलग्न रहे। संयम से वे अभिनव कर्मों के बन्ध को रोकने का प्रयत्न करते रहे और तप से पूर्व कर्मों, को क्षय करते रहे।

इस तरह वे निष्कर्म बनने का प्रयत्न करते रहे। उनकी इस महासाधना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सूरो संगाम सीसे वा संवुड़े तत्थ से महावीरे।
पड़िसेवमाणो फरुसाइं, अचले भगवं रीयित्था ।१३।

छाया—शूरः संग्रामशिरसि वा संवृतः तत्र स महावीरः
प्रतिसेवमानः च परुषान्, अचलः भगवान् रीयते स्म ।

पदार्थ वा—जैसे । संगाम सीसे—संग्राम के आगे । सूरो—शूरवीर । संवुडे—संवृतांग होकर शस्त्रों से भेदन होता हुआ भी विजय प्राप्त करता है । इसी प्रकार । से महावीरे—भगवान महावीर । तत्थ—उन लाढ़ आदि देशों में । पडिसेवमाणे—परीषह रूप सेना से पीड़ित हुए । फरुसाइं—कठिन परीषहों को सहन करते हुए । भगवं—भगवान । अचले—मेरु पर्वत के समान अचल अटल एवं निष्कम्प रहकर । रीयित्था—मोक्षमार्ग में पराक्रम करते अथवा मेरु की भान्ति स्थिर चित्त से विचरते थे ।

मूलार्थ—जैसे कवच आदि से संवृत, शूर वीर पुरुष संग्राम में चारों ओर से शस्त्रादि का प्रहार होने पर भी आगे बढ़ता चला जाता है उसी प्रकार श्रमण भगवान महावीर उस देश में कठिन से कठिन परीषहों के होने पर भी धैर्य रूप कवच से संवृत होकर मेरु पर्वत की तरह स्थिर चित्त होकर संयम मार्ग पर गतिशील थे ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में भगवान महावीर की एक वीर योद्धा से तुलना की गई है । इस में बताया गया है कि जैसे एक वीर योद्धा कवच से अपने शरीर को आवृत्त करके निर्भयता के साथ युद्ध भूमि में प्रविष्ट हो जाता है । उसी प्रकार संवर के कवच से संवृत्त भगवान महावीर परीषहों से नहीं घबराते हुए लाढ़ देश में विचरे । वहां के निवासियों ने उन्हें अनेक तरह के कष्ट दिए, फिर भी वे साधना पथ से विचलित नहीं हुए । ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की साधना में संलग्न रहे ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि साधक को परीषहों से न घबराकर कर्म शत्रुओं को परास्त करने के लिए रत्नत्रय की साधना में संलग्न रहना चाहिए । साधना करते हुए यदि कष्ट उपस्थित हों तो उन्हें समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए ।

अब प्रस्तुत उद्देशक का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एस विहि अणुक्कतो, माहणेण मइमया ।
बहुसो अपडिन्नेणं, भगवया एवं रीयंति ।१४। त्तिबेमि

छाया—एष विधिः अनुक्रान्तः, माहनेन मतिमता।
बहुशः अप्रतिज्ञेन, भगवता एवं रीयंते। इति ब्रवीमि

पदार्थ—अपडिन्ने – प्रतिज्ञा से रहित । भगवया – ऐश्वर्य युक्त । मईमया – मतिमान । माहणेण – भगवान महावीर ने । एस विहि – उक्तविधि का । बहुसो – अनेक बार । अणुक्कंतो – आचरण किया और उनके द्वारा आचरित एवं उपदिष्ट इस विधि का अन्य साधक भी । एवं – इसी प्रकार । रीयन्ति – आचरण करते हैं । त्तिबेमि – इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ— प्रतिज्ञा से रहित, ऐश्वर्य युक्त, परम मेधावी भगवान महावीर ने अनेक बार उक्त विधि का आचरण किया, उनके द्वारा आचरित एवं उपदिष्ट इस विधि का अन्य साधक भी इसी प्रकार आचरण करते हैं। ऐसा मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा का विवेचन प्रथम उद्देशक की अन्तिम गाथा में कर चुके हैं। 'त्ति बेमि' का विवेचन पूर्ववत् समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

नवम अध्ययन—उपधान श्रुत

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में भगवान महावीर के परीषहों का वर्णन किया गया है। और प्रस्तुत उद्देशक में उनके चिकित्सा त्याग का वर्णन किया गया है। भगवान महावीर ने बीमारी के समय कभी भी चिकित्सा नहीं की। उन्होंने शारीरिक एवं आत्मिक दोनों व्याधियों को दूर करने के लिए तप का आचरण किया। तप सारे विकारों को नष्ट कर देता है। जैसे साबुन वस्त्र के मैल को दूर हटाकर वस्त्र को स्वच्छ करता है, उसी तरह तप से शरीर एवं मन शुद्ध हो जाता है। म० गांधी ने उपवास के द्वारा कई रोगों की चिकित्सा की थी। शरीर विज्ञान वेत्ता भी कई रोगों को दूर करने में उपवास का सहारा लेते है।

भारतीय-संस्कृति में आत्म-शुद्धि या शरीर-शुद्धि के लिए तप को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इससे बाह्य एवं आभ्यन्तर विकार नष्ट हो जाते हैं और आत्मा शुद्ध बन जाती है। आगम में बताया है कि ज्ञान से आत्मा पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानता है, दर्शन से उस पर श्रद्धा करता है, चारित्र से अभिनव कर्म के आगमन को रोकता है और तप से आत्मा पूर्वकर्मों को क्षय करके शुद्ध बनता है*। अत: आत्म-विकास के लिए तप अत्यावश्यक है। इसी कारण भगवान महावीर ने साधना काल में कठोर तप साधना की जिसका दिग्दर्शन प्रस्तुत उद्देशक में कराया गया है†।

---

* नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ।

उत्तराध्ययन सूत्र; २८; ३५

†

तपनाम	संख्या	उसके दिन	वर्ष	मास	दिन
(१) छ: मास—	१	६×३०×१=१८०,	०	६	०
(२) पांच दिन कम छ: मास—	१	६×३०—५=१७५,	०	५	२५
(३) चौमासी—	९	४×३०×९=१०८०,	३	०	०

भगवान के तप का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—ओमोयरियं चाएइ, अपुट्ठेवि भगवं रोगेहिं।
पुट्ठे वा अपुट्ठे वा नो से साइज्जई तेइच्छं।१।

छाया—अवमौदर्यं शक्नोति, अस्पृष्टोपि भगवान् रोगैः।
स्पृष्टो वा अस्पृष्टो वा न स स्वादयति चिकित्साम्।

पदार्थ—भगवं—भगवान। ओमोयरियं—उनोदरी तप करने को। चाएइ—समर्थ थे। अपुट्ठेवि रोगेहिं—रोगों के स्पर्श न होने पर भी। वा—अथवा। पुट्ठो—रोगों के स्पर्श होने पर भी। अपुट्ठो वा—न होने पर भी। से—वह श्रमण भगवान महावीर। तेइच्छं—चिकित्सा को। नोसाइज्जइ—नहीं चाहते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर रोगों के स्पर्श होने या न होने पर भी औनोदर्य तप करने में समर्थ थे। इसके अतिरिक्त श्वानादि के काटने पर

(४) तीन मासी—	२	३×३०×२=१८०,	०—६—०
(५) अढ़ाई मासी—	२	२॥×३०×२=१५०,	०—५—०
(३) दो मासी—	६	२×३०×६=३६०,	१—०—०
(७) डेढ़ मासी—	२	१॥×३०×२=९०,	०—३—०
(८) मास क्षमण—	१२	१×३०×१२—३६०,	१—०—०
(९) पक्ष क्षमण—	७२	०॥×३०×७२=१०८०,	३—०—०
(१०) सर्वतो भद्रप्रतिमा	१	१० दिवस की=१०,	०—०—१०
(११) महाभद्रप्रतिमा—	१	४ दिवस की=४,	०—०—४
(१२) अष्टम—	१२	३×१२=३६;	०—१—६
(१३) षष्ठ—	२२९	२×२२९=४५८,	१—३—८
(१४) भद्र प्रतिमा—	१	दो दिन की=२;	०—०—२
(१५) दीक्षा दिवस—	१	एक दिन की=१,	०—०—१
(१६) पारणा—	३४९	३४९ दिन की=३४९,	०—११—१९
(१७) कुल दिवस ४५१५		वर्ष १२ मास ६ दिन १५	

...जैन प्रकाश के उत्थान वीरांक में प्रकाशित
'त्रिभुवन दास महता' के लेख से...

या श्वासादि रोग के स्पर्शित होने पर भी वे औषधि सेवन की इच्छा नहीं करते थे।

हिन्दी विवेचन

शरीर रोगों का घर है। इसमें अनेक रोग रहे हुए हैं। जब कभी वेदनीय कर्म के उदय से कोई रोग उदय में आता है तो लोग उसे उपशान्त करने के लिए अनुकूल औषध एवं पथ्य का सेवन करते हैं। परन्तु, भगवान महावीर अस्वस्थ अवस्था में भी औषध का सेवन नहीं करते थे। वे स्वस्थ अवस्था में भी स्वल्प आहार करते थे। स्वल्प आहार के कारण उन्हें कोई रोग नहीं होता था*। फिर भी कुत्तों के काटने या अनार्य लोगों के प्रहार से जो घाव आदि हो जाते थे, तो वे उसके लिए भी चिकित्सा नहीं करते थे। यदि कभी श्वास आदि का रोग हो जाता तब भी वे औषध नहीं लेते थे। वे समस्त परीषहों एवं कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करते थे और तप के द्वारा द्रव्य एवं भाव रोग को दूर करने का प्रयत्न करते थे।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—संसोहणं च वमणं च, गायब्भंगणं च सिणाणं च।
संवाहणं च न से कप्पे दन्तपक्खालणं च परिन्नाए।२।

छाया—संशोधनं च वमनं च, गात्राभ्यंगनं च स्नानं च।
संवाधनं च न तस्य कल्पते दन्तप्रक्षालनं च परिज्ञाय॥

पदार्थ—च—पुनः अर्थ में है। परिन्नाय—शरीर को अशुचि जानकर। से- भगवान महावीर को। संसोहणं—शरीर का संशोधन करना। च—पुनः। वमणं—वमन। च—और। गायब्भंगणं—शरीर को तेल आदि से मर्दन करना। च—और। सिणाणं—स्नान करना। च—और। दन्तपक्खालणं—काष्ठादि से दान्तों का प्रक्षालन करना। नकप्पे—नहीं कल्पता था, अर्थात् वे इन वातों का आचरण नहीं कर थे।

मूलार्थ—शरीर को अशुचिमय समझ कर भगवान रोग की शान्ति

---

* टीकाकार एवं चूर्णिकार इसमें एकमत हैं कि भगवान अपने शरीर के धातु क्षोभ के कारण प्रायः रोगांतक नहीं होते थे। कभी बाह्य कारणों से हो सकते थे।

आचाराङ्ग चूर्णि, पृष्ठ ३२१; टीका, पृष्ठ २८४।

के लिए शरीर संशोधनार्थ, विरेचन लेना, वमन करना, शरीर पर तैलादि का मर्दन करना, स्नान करना, और दातुन आदि से दान्तों को साफ करना, इत्यादि क्रियाओं का आचरण नहीं करते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर का ध्यान आत्मा की ओर लगा था। शरीर पर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया। वे जानते थे कि यह शरीर नश्वर है। इसलिए वे किसी रोग के उत्पन्न होने पर उसे उपशान्त करने के लिए या भविष्य में रोग न हो इस भावना से कभी विरेचन-जुलाब नहीं लेते थे और उन्होंने साधना काल में अपने शरीर को स्वस्थ करने के लिए किसी भी तरह की चिकित्सा नहीं की। वे शरीर की ओर न देखकर सदा अपनी आत्मा की ओर देखते थे और आत्मा को अनावृत्त करने में ही प्रयत्नशील थे।

उनका चिन्तन किस ओर था। इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—विरए गाम धम्मेहिं रीयइ माहणे अबहुवाई।
सिसिरंमि एगया भगवं छायाए झाइ आसीय।३।

छाया—विरतः ग्रामधर्मेभ्यः, रीयते माहनः अबहुवादी।
शिशिरे एकदा भगवान छायायां ध्यायी आसीत्।

पदार्थ—गामधम्मेहिं—विषय-विकारों से। विरए—निवृत्त हुए। अबहुवाइ—अल्प भाषी। माहणे—भगवान महावीर। रीयइ—संयम में पुरुषार्थ करते हैं। एगया—कभी-कभी। भगवं—भगवान। सिसिरंमि—शीत काल में। छायाए—छाया में। झाइ आसीय—धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याते थे।

मूलार्थ—विषय-विकारों से निवृत हुए अल्पभाषी भगवान महावीर संयम में पुरुषार्थ करते हुए शीतकाल में भी कभी कभी छाया में धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याते थे।

हिन्दी विवेचन

साधना के पथ पर गतिशील भगवान महावीर विषय-विकारों से सर्वथा निवृत्त हो गए थे। वे साधना काल में प्रायः मौन ही रहे थे और किसी के पूछने पर उत्तर देना अत्यावश्यक हुआ तो एक ही बार बोलते थे। वे शीत आदि की परवाह नहीं करते थे।

सर्दी की ऋतु में भी छाया में ध्यान करते थे। इस तरह वे शरीर की चिन्ता न करते हुए सदा आत्म-चिन्तन में ही संलग्न रहते थे।

साधना में योगों का गोपन करना महत्वपूर्ण माना गया है। मन, वचन और काय इन तीनों योगों में मन सबसे अधिक सूक्ष्म और चंचल है। उसे वश में रखने के लिए काय और वचन योग को रोक कर रखना आवश्यक है। वचन का समुचित गोपन होने पर मन को सहज ही रोका जा सकता है और मन आदि योगों का गोपन करने से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करती है।

आगम में बताया है कि मन का गोपन करने से आत्म चिन्तन में एकाग्रता आती है और वह संयम का आराधक होता है। वचन गुप्ति से आत्मा निर्विकार होती है और निर्विकारता से अध्यात्म योग की साधना में संलग्न होती है। काय गुप्ति से संवर की प्राप्ति होती है और उससे आश्रव-पापकर्म का आगमन रुकता है। इसी तरह मन समाधारणा से जीव एकाग्रता को जानता हुआ ज्ञान पर्याय को जानता है और उससे सम्यक्त्व का शोधन करता है और मिथ्यात्व की निर्जरा करता है। वय समाधारणा से आत्मा दर्शन पर्याय को जानता है, उससे दर्शन की विशुद्धि करके सुलभ बोधित्व को प्राप्त करता है और दुर्लभ बोधिपन की निर्जरा करता है। काय-समाधारणा से जीव चारित्र पर्याय को जानता है और उससे विशुद्ध चारित्र को प्राप्त करता है और चार घातिक कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान को प्राप्त करता है और तत्पश्चात् अवशेष चार अघातिक कर्मों को क्षय करके सिद्ध-बुद्ध हो जाता है, समस्त कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है॥। इस तरह योगों का गोपन करने से आत्मा निष्कर्म बन जाता है।

इस तरह भगवान महावीर भाषा का गोपन करते हुए एकाग्र मन से आत्म चिन्तन में संलग्न रहते थे। उनके चिन्तन की एकाग्रता एवं परीषहों की सहिष्णुता का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आयावइय गिम्हाणं, अच्छइ उक्कुडुए अभितावे।
अदु जावइत्थ लूहेणं ओयणमंथुकुम्मासेणं ।४।

छाया—आतापयति ग्रीष्मेषु, तिष्ठति उत्कुटुकः अभितापम्।
अथ यापयति स्म रुक्षेण ओदन मन्थु कुल्माषेण।

॥ उत्तराध्ययन सूत्र, २६, ५३—५८।

पदार्थ—गिम्हाणं—वे ग्रीष्म ऋतु में। आयावइ—आतापना लेते थे। य—पुनः। उक्कुडुए—उत्कुट आसन से। अभितावे—सूर्य के सन्मुख। अच्छइ—स्थित होते थे। अदु—अथवा। लुहेणं—रूक्षाहार एवं। ओयण मंथु कुम्मासेणं—चावल या बेरादि का चूर्ण या कुल्माष-उड़द आदि से शरीर का। जावइत्थ—निर्वाह करते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर ग्रीष्म ऋतु में उत्कट आसन से सूर्य के सन्मुख होकर आतापना लेते थे। और धर्म साधना के कारण रूप शरीर को चलाने के लिए चावल, बेर का चूर्ण एवं उड़द के बाकले आदि रूक्ष आहार लेकर अपना निर्वाह करते थे।

मूलम्—एयाणि तिन्नि पड़िसेवे अट्ठमासे अजावयं भगवं।
अपिइत्थ एगया भगवं अद्धमासं अदुवा मासंपि ।५।

छाया—एतानि त्रीणि प्रतिसेवते, अष्टौ मासानयापयत् भगवान।
अपिबत् एकदा भगवान् अर्द्धमासं अथवा मासमपि।

पदार्थ—एयाणि—ये। तिन्नि—तीनों आहारों का। पडिसेवे—सेवन करके। भगवं—भगवान ने। अट्ठमासे—आठ मास तक। अजावयं—काल यापन किया। एगया—एक वार। भगवं—भगवान। अद्धमासं—अर्द्ध मास। अदुवा—अथवा। मासं—मास तक। अपिइत्थ—निराहार रहे-जल भी नहीं लिया।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर ने उक्त तीनों पदार्थों के द्वारा आठमास तक समय यापन किया! और कभी २ भगवान ने आधेमास या एक मास तक जल पान भी नहीं किया।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत उभय गाथाओं में भगवान महावीर की तपस्या का दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे भगवान शीतकाल में छाया में ध्यान करते थे, उसी तरह ग्रीष्म काल में उत्कट आसन से सूर्य के सम्मुख स्थित होकर ध्यानस्थ होते थे और रूक्ष आहार से अपने जीवन का निर्वाह करते थे।

आहार का मन एवं इंद्रियों की वृत्ति पर भी असर होता है। प्रकाम आहार से मन में विकार जागृत होता है और इन्द्रिएं विषयों की ओर दौड़ती हैं। इस लिए

गिलाय—वासी अन्न का जो रस चलित नहीं हुआ था। भुंजे—आहार किया।

मूलार्थ—भगवान महावीर ने दो मास से कुछ अधिक समय तक ६ महीने अथवा दो महीने से लेकर ६ महीने पर्यन्त विना पानी पिये समय व्यतीत किया। वे पानी पीने की प्रतिज्ञा से रहित होकर रात-दिन धर्म ध्यान में संलग्न रहते थे। भगवान ने एकबार पर्युषित-वासो अन्न भी जिसका रस विकृत नहीं हुआ था, ग्रहण किया।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा से यह स्पष्ट होता है कि भगवान ने सर्वोत्कृष्ट ६ महीने की तपश्चर्या की थी। भगवान ने इतनी लम्बी तपश्चर्या में पानी का भी सेवन नहीं किया। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान ने जितनी तपश्चर्या की थी, उसमें पानी नहीं पिया था। और इस तप साधना के समय एक वार भगवान ने वासी अन्न-पहले दिन का बना हुआ आहार ग्रहण किया था। मूर्तिपूजक समाज का कहना है कि साधु को वासी आहार नहीं लेना चाहिए। परन्तु, जब हम आगम का अनुशीलन करते है तो उसमें उसका कहीं भी निषेध नहीं मिलता। भगवान महावीर ने—जो महान् साधक थे, स्वयं वासी आहार ग्रहण किया है, ऐसी स्थिति में उसे अभक्ष्य कैसे कहा जा सकता है। यह ठीक है कि ऐसा वासी आहार साधु को नहीं लेना चाहिए जिसका रस विकृत हो गया हो। परन्तु, जिसका वर्ण, गंध, रस आदि विकृत नहीं हुआ है, उस आहार को अभक्ष्य कहना आगम विरुद्ध है। कहने का तात्पर्य यह है कि इतने लम्बे तप के बाद भी भगवान इस तरह का रूखा-सूखा एवं वासी अन्न ग्रहण करते थे। इससे उनके मनोबल एवं त्याग निष्ठ तथा अनासक्त जीवन का स्पष्ट परिचय मिलता है।

इस गाथा से यह भी स्पष्ट होता है कि भगवान ने जितना भी तप किया था, वह सब निदान रहित किया था। उनके मन में स्वर्ग आदि की कोई आकांक्षा नहीं थी। उनका मुख्य उद्देश्य केवल कर्मों की निर्जरा करना था। उन्होंने आगम में तप आदि की साधना के लिए जो आदेश दिया है, उस पर पहले स्वयं ने आचरण किया। आगम में कहा गया है कि मुमुक्षु पुरुष को न इस लोक में सुखों की आकांक्षा से तप करना चाहिए, न परलोक में स्वर्ग आदि प्राप्त करने की अभिलाषा से तप करना चाहिए और न यश-कीर्त्ति एवं मान-सम्मान की कामना रख कर तप करना चाहिए, परन्तु केवल कर्मों की

निर्जरा के लिए तप करना चाहिए*। इस तरह भगवान महावीर विना किसी आकांक्षा के तप करते हुए रात-दिन धर्म एवं शुक्ल ध्यान में संलग्न रहते थे।

उनके तप का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—छट्ठेण एगया भुंजे, अदुवा अट्ठमेण दसमेणं।
दुवालसमेण एगया भुंजे, पेहमाणे समाहिं अपडिन्ने।७।

छाया—षष्ठेन एकदा भुंक्ते अथवा अष्टमेन दशमेन।
द्वादशमेनैकदा भुक्तवान् प्रेक्षमाणः समाधिं अप्रतिज्ञः।

पदार्थ—एगया—एक वार। छट्ठेण—दो उपवास के पारने में पर्युषित आहार। भुंजे—किया। अदुवा—अथवा। अट्ठमेण—तीन उपवास के पारने में पर्युषित आहार किया। एगया—एक वार। दसमेण—चार उपवास के पारने में और एक वार। दुवालसमेण—पांच उपवास के पारने में। भुंजे—वासी आहार किया। समाहिं—इस तरह भगवान समाधि का। पेहमाणे—पर्यालोचन करते हुए। अपडिन्ने—निदान रहित क्रियानुष्ठान करते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर कभी दो उपवास के पारने में पर्युषित आहार करते, कभी तीन, कभी चार और कभी पांच उपवास के पारने में पर्युषित वासी आहार करते थे वे इस तरह की कठोर तप-साधना करते हुए भी समाधि का पर्यालोचन करते हुए निदान रहित क्रियानुष्ठान करते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान की तपस्या का वर्णन करते हुए वताया गया है कि भगवान कभी दो उपवास के वाद वासी आहार से पारणा करते थे। इसी तरह कभी तीन, कभी चार और कभी पांच उपवास के वाद वे वासी आहार से पारणा करते थे। इससे भगवान की आहार एवं शरीर आदि के प्रति स्पष्ट रूप से अनासक्ति प्रकट होती है। उनका अधिक समय तप एवं आत्म चिन्तन में ही लगता था।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'छट्ठेण एगया भुंजे' का दो उपवास के वाद अर्थ कैसे

---

* चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ, तंजहा—नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा चउत्थं पयं भवइ। —दशवैकालिक सूत्र ९, ४ तवसमाहि।

हुआ ? इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि वृत्तिकार ने इसका यही अर्थ किया है कि उपवास के पहले दिन के दो वक्त में से एक वक्त आहार करते हैं, उपवास के प्रथम एवं द्वितीय दिन के दोनों वक्त आहार नहीं करते और पारणे के दिन भी दो वक्त में से एक वक्त आहार करते हैं, इस तरह १+२+२+१=६ अर्थात् षष्ठ भक्त या छट्ठं भत्तं का अर्थ दो उपवास के बाद होता है❀ ।

भगवान की जीवन चर्या का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—णच्चा णं से महावीरे, नोऽविय पावगं सयमकासी ।
अन्नेहिं वा ण कारित्था, कीरंतंपि नाणुजाणित्था ।८।

छाया—ज्ञात्वा णं स महावीरः, नापि च पापकं स्वयमकार्षीत् ।
अन्यै वा न अचीकरत् क्रियमाणमपि नानुज्ञातवान् ।

पदार्थ—से—वह । महावीरे—भगवान महावीर । णच्चा—हेय-ज्ञेय और उपादेय रूप पदार्थों को जानकर । सयं—स्वयं । पावगं—पापकर्म । नोऽविय अकासी—नही करते थे । वा—अथवा । अन्नेसिं—दूसरों से । न कारित्था—नहीं करवाते और । कीरंतंपि—पापकर्म करने वाले व्यक्तियों का । नाणुजाणित्था—अनुमोदन भी नहीं करते थे ।

मूलार्थ—हेय, ज्ञेय और उपादेय रूप पदार्थों को जान कर श्रमण भगवान महावीर ने स्वयं पापकर्म का आचरण नहीं किया, न दूसरों से करवाया और पाप कर्म करने वालों का अनुमोदन भी नहीं किया ।

हिन्दी विवेचन

साधना के जीवन में प्रविष्ट होते ही मुनि सब से पहले तीन करण और तीन योग से पाप कार्य से निवृत्त होने की प्रतिज्ञा करता है । वह मन, वचन और शरीर इन तीनों योगों से न स्वयं पापकर्म करता है, न अन्य से करवाता है और न पाप कर्म करने वाले का समर्थन करता है । क्योंकि, पापकर्म से अशुभ कर्म का बन्ध होता है, संसार परिभ्रमण बढ़ता है । इसलिए पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के परिज्ञाता भगवान महावीर

❀ किं च षष्ठेनैकदा भुंक्ते—षष्ठं हि नाम एकस्मिन्नहनिएक भक्तं विधाय पुनर्दिन द्वयमभुक्त्वा चतुर्थेऽन्हि एक भक्तमेव विधत्ते, ततश्चाद्यन्तयोरेक भक्तदिनयो भक्तद्वयं मध्य दिवसयोश्च भक्तचतुष्टयमित्येवं षण्णां भक्तानां परित्यागात् षष्ठं भवति, एवं दिनादि वृद्धयाऽष्टमाद्यायोज्यमिति । —आचाराङ्ग वृत्ति ।

ने दीक्षित होने के बाद कभी भी पापकर्म का सेवन नहीं किया। वे त्रिकरण और त्रियोग से पापकर्म से निवृत्त रहे।

भगवान के त्याग-निष्ठ जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—गामं पविसे नगरं वा घासमेसे कडं परट्ठाए।
सुविसुद्धमेसिया भगवं आयत जोगयाए सेवित्था।९।

छाया—ग्रामं प्रविश्य नगरं वा, ग्रासमन्वेषयेत् कृतं परार्थाय।
सुविशुद्धं एषित्वा भगवान् आयतयोगतया सेवितवान्।

पदार्थ—गामं—गांव। वा—अथवा। नगरं—नगर में। पविसे—प्रवेश करके, वे। घासमेसे—आहार की गवेषणा करते। परट्ठाए—दूसरे के गृहस्थ के द्वारा अपने परिवार के लिए। कडं—बनाए गए आहार में से। सुविसुद्धमेसिया—विशुद्ध आहार की गवेषणा करके। भगवं—भगवान। आयत जोगयाए—ज्ञान पूर्वक संयत योग से। सेवित्था—उस शुद्ध आहार का सेवन करते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर गांव या शहर में प्रविष्ट होकर गृहस्थ के द्वारा अपने परिवार के पोषण के लिए बनाए गए आहार में से अत्यन्त शुद्ध निर्दोष आहार की गवेषणा करते और उस निर्दोष आहार को संयत योगों से विवेक पूर्वक सेवन करते थे।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि साधु सारे दोषों से निवृत्त होता है। वह कोई ऐसा कार्य नहीं करता जिससे किसी प्राणी को कष्ट होता हो। यहां तक कि अपने शरीर का निर्वाह करने के लिए भी वह स्वयं भोजन नहीं बनाता। क्योंकि उसमें पृथ्वी, पानी आदि ६ काय की हिंसा होती है। अतः साधु गृहस्थ के घरों में से निर्दोष आहार की गवेषणा करते हैं।

भगवान महावीर भी जब गांव या शहर में भिक्षा के लिए जाते तो वे गृहस्थ के अपने एवं अपने परिवार के पोषण के लिए बनाए गए निर्दोष आहार की गवेषणा करते। उसमें भी आहार के ४२ दोषों को छोड़कर शुद्ध आहार ग्रहण करते और आहार करने के ५ दोषों को त्याग कर आहार करते। इस तरह ४७ दोषों का त्याग करके वे आहार करते थे। उसमें १६ उद्गमन सम्बन्धी दोष हैं, जो अनुराग एवं मोह वश गृहस्थ

लगा सकता है, १६ उत्पादन के दोष हैं, जो रस लोलुपी साधु द्वारा लगाए जा सकते हैं और १० एषणा के दोष हैं, जो गृहस्थ एवं साधु दोनों द्वारा लगाए जा सकते हैं। ५ आहार करते समय के दोष हैं, जिनका सेवन साधु के द्वारा ही होता है।

प्रस्तुत गाथा में दिए गए विभिन्न पदों से भी इन दोषों की ध्वनि निकलती है। जैसे— 'परट्ठाए' पद से १६ उद्गमन के दोषों का विवेचन किया गया है। 'सुविसुद्ध" से १६ उत्पादन दोष का एवं 'एसिया' पद से १० एषणीय दोषों का वर्णन किया गया है और 'आयत जोगयाए सेविता' पदों से आहार करते समय के ५ दोषों का वर्णन करके समस्त दोषों का त्याग करके आहार करने का आदेश दिया गया है। भगवान महावीर समस्त दोषों से रहित आहार पानी की गवेषणा करते और ऐसे शुद्ध एवं निर्दोष आहार को अनासक्त भाव से ग्रहण करके विचरण करते थे।

इस विषय पर और प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अदु वायसा दिगिंछत्ता जे अन्ने रसेसिणो सत्ता।
घासेसणाए चिट्ठन्ति सयय निवइए य पेहाए।१०।

छाया—अथ वायसा वुभुक्षार्ताः ये चान्ये रसैषिणः सत्वाः।
ग्रासैषणाय तिष्ठंति सततं निपतितान् च प्रेक्ष्य।

पदार्थ—**सययं**—निरन्तर। **निवइएय**—भूमि पर गिरे हुए। **घासेसणाए**—आहार को खाने के लिए। **दिगिंछिता**—बुभुक्षित। **वायसा**—कौवे या। **जे**—जो। **रसेसिणो**—आहार के इच्छुक हैं। **अन्ने सत्ता**—अन्य सत्व-प्राणी। **चिट्ठंति**—मार्ग में बैठे हुए हैं। **पेहाए**—उन्हें देखकर विवेक पूर्वक चलते, जिससे उनके आहार करने में विघ्न न पड़े।

मूलार्थ—भूख से बुभुक्षित वायसादि पक्षियों को मार्ग में गिरे हुए अन्न को खाते हुए देखकर वे उन्हें नहीं उड़ाते हुए विवेक पूर्वक चलते, जिस से उनके आहार में विघ्न न पड़े।

हिन्दी विवेचन

साधु सब जीवों का रक्षक है। वह स्वयं कष्ट सह सकता है। परन्तु, अपने निमित्त से किसी भी प्राणी को कष्ट हो तो उस कार्य को वह कदापि नहीं कर सकता। साधु के लिए आदेश है कि वह भिक्षा के लिए जाते समय भी यह ध्यान रखे कि उसके कारण किसी भी प्राणी की वृत्ति में विघ्न न पड़े। भगवान महावीर ने स्वयं इस नियम का पालन किया था वे उस घर में या उस मार्ग से आहार को नहीं जाते थे जिस घर के

आगे या मार्ग में काग-कुत्ते एवं गरीब भिखारी रोटी की आशा से खड़े होते थे। क्योंकि उनके पहुंच जाने से उन्हें अन्तराय लगती थी। वह दातार उन गरीब भिखारियों को भूलकर भगवान को देने लगता था और इससे उनके मन में द्वेष की भावना उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इसलिए भगवान ऐसे घर में भिक्षा को नहीं जाते थे जिसके आगे अन्य प्राणी रोटी की अभिलाषा लिए हुए खड़े हों।

इसी विषय में सूत्रकार और भी बताते हैं—

मूलम् — अदुवा माहणं च समणं च, गाम पिंडोलगं च अतिहिंवा।
सोवाग मूसियारिंवा, कुकुरंवावि विट्ठियं पुरओ ।११।

छाया—अथवा माहनं च श्रमणं वा ग्रामपिंडोलकं च अतिथिं वा।
श्वपाकं मूषिकारिं वा कुकुरंवापि विस्थितं पुरतः।

पदार्थ—अदुवा – अथवा। माहणं – ब्राह्मण को। च – और। समणं – शाक्यादि भिक्षु। वा – अथवा। गामपिंडोलगं च – और ग्राम के भिखारी। वा – अथवा। अतिहिं वा – अतिथि। सोवाग – चाण्डाल। वा – अथवा। मूसियारिं – बिडाल-बिल्ली आदि। वा – अथवा। कुकुरं – कुत्ता। अवि – समुच्चयार्थक है। विट्ठियं – नाना प्रकार के प्राणी। पुरओ – आगे उपस्थित हों तो उनकी वृत्ति का भंग न करते हुए भिक्षार्थ गमन करते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर ब्राह्मण, श्रमण, गांव के भिखारी अतिथि, चांडाल श्वान और नाना प्रकार के अन्यजीव यदि खड़े हों तो उनकी वृत्ति का भंग न करते हुए भिक्षा के लिए नहीं जाते थे।

हिन्दी विवेचन

इस गाथा में पूर्व गाथा की बात को पूरी करते हुए बताया गया है कि किसी गृहस्थ के द्वार पर यदि कोई ब्राह्मण, बौद्ध भिक्षु परिव्राजक, संन्यासी, शूद्र आदि खड़े होते या बिल्ली, कुत्ता आदि खड़े होते तो भगवान उनको उल्लंघ कर किसी के घर में प्रवेश नहीं करते थे। क्योंकि इससे उनकी वृत्ति का व्यवच्छेद होता था। उनके अन्तराय लगने से उनके मन में अनेक संकल्प—विकल्प उठते, द्वेष-भाव पैदा होता। इसलिए भगवान इन सब दोषों को टालते हुए आहार के लिए घरों में प्रवेश करते थे।

भगवान की भिक्षा वृत्ति पर और प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—वित्तिछेयं वज्जंतो, तेसिमप्पत्तियं परिहरन्तो।
मंदे परक्कमे भगवं, अहिंसमाणो घासमेसित्था ।१२।

छाया—वृत्तिच्छेदं वर्जयन् तेषामप्रत्ययं परिहरन्।
मंदं पराक्रमते, भगवान् अहिंसन् ग्रासमेषितवान्।

पदार्थ—भगवं—भगवान। तेसिं—उन जीवों की। वित्तिच्छेयं—वृत्ति छेदन का। वज्जंतो—त्याग करते हुए तथा उनके। अप्पत्तियं—त्रास एवं अप्रीति को। परिहरन्तो—दूर करते हुए। मंदं—शनैः २। परक्कमे—पराक्रम करते हुए तथा पर जीवों की। अहिंसमाणे—हिंसा न करते हुए। घास मेसित्था—आहार पानी की गवेषणा करते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर, उन जीवों की वृत्ति व्यच्छेद को दूर करते हुए और उनकी अप्रीति का परिहार करते हुए शनैः २ चलते और किसी भी जीव की हिंसा न करते हुए आहार पानी आदि की गवेषणा करते थे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा पूर्व गाथा से संबद्ध है। इसमें बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ के द्वार पर पहले कोई भिक्षु, श्रमण-ब्राह्मण आदि खड़ा होता तो भगवान उस घर में प्रवेश नहीं करते थे और वे इस प्रकार का भी आचरण नहीं करते थे जिससे उन्हें उनके प्रति अप्रीति पैदा हो। क्योंकि इस तरह के कार्य से उनकी वृत्ति का छेदन होता और उनके मन में द्वेष की भावना भी पैदा होती। इस लिए भगवान उनको लांघकर किसी भी घर में नहीं जाते थे। यदि किसी व्यक्ति के द्वार पर पहले से ही कोई व्यक्ति खड़ा हो और वह अपना कार्य समाप्त करके वहां से चला न जाए, तब तक साधक का वहां जाना नीति एवं सभ्यता के अनुकूल भी नहीं है। और यहां तो अन्य भिक्षुओं के वृत्ति-विच्छेद का प्रसंग होने के कारण भगवान पूरी तरह से सावधान रहते थे।

इससे स्पष्ट है कि भगवान सभी प्राणियों के रक्षक थे। वे किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं पहुंचाते थे। इसलिए वे उन सब कार्यों से निवृत्त थे जो सावद्य थे एवं दूषित वृत्ति से किए जाते थे, क्योंकि दूषित वृत्ति से पाप कर्म का बन्ध होता है। आगम में बताया गया है कि क्रिया तीन तरह की होती है-१-प्रदोषिका क्रिया, २-परितापिनी क्रिया और ३-प्राणातिपाति क्रिया। जैसे अपनी आत्मा पर द्वेष करना, दूसरे को परिताप देना और अपनी एवं दूसरे दोनों

की आत्मा को कष्ट देना यह इनका स्वरूप है❀। भगवान महावीर इन दोषों से सर्वथा निवृत्त होकर अपनी साधना में समाहित रहते थे। वे हिंसा से निवृत्त होकर सदा संयम में संलग्न रहते थे।

सूत्रकार फिर से इसी विषय में कहते हैं—

मूलम्—अवि सूइयं वा सुक्कं वा, सीयं पिंडं पुराण कुम्मासं।
अदु वुक्कसंपुलागं वा लद्धे पिंडे अलद्धे दविए।१३

छाया—अपिसूपिकं वा शुष्कं वा, शीत पिंडे पुराणकुलमाषं।
अथ बुक्कसं पुलाकं वा, लब्धे पिंडे अलब्धे द्रविकः॥

पदार्थ—अवि—सम्भावनार्थ में है। सूइयं—भगवान दधि आदि के आर्द्र आहार। वा—अथवा। सुक्कं वा—चणक आदि के शुष्क आहार अथवा। सीयं पिंड—शीत पिंड-वासी आहार तथा। पुराण कुम्मासं—पुराणे कुल्माष का आहार। अदु—अथवा। वुक्कसं—जीर्ण धान्य का आहार। पुलांग वा—जौ का आहार अथवा। लद्धेपिंडे—स्वादिष्ट आहार के मिलने पर हर्षित नहीं होते और। अलद्धे—स्वादिष्ट तथा पर्याप्त आहार न मिलने पर चिन्तातुर नहीं होते। दविए—वे सदा संयम युक्त रहकर अपने साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न शील रहते थे।

मूलार्थ—दधि आदि से मिश्रित आहार, शुष्क आहार, वासी आहार पुराने कुलमाष और पुराने धान्य का बना हुआ आहार, जौ का बना हुआ

❀ कतिणं भंते! किरियाओ पण्णत्ताओ? गोयमा! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ तंजहा—काइया, अहिगरणिया, पादोसिया, परियावणिया, पाणातिवाय किरिया।१। काइयाणं भंते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—अणुवरय काइया य, दुप्पउत्त काइया य।२। अहिगरणियाणं भंते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा-संजोयणाहिगरणिया य निव्वत्तणाहिगरणिया।३। पादोसियाणं भंते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—जेणं अप्पणो वा परस्स वा तदुभयस्स वा असुभं मणं वा धारेति से तं पादोसिया किरिया।४। पारियावणिया णं भंते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—जेणं अप्पणो वा परस्स वा तदुभयस्स वा असायं वेदणं उदीरेति से तं पारियावणिया किरिया।५। पाणाइवाय किरियाणं भंते! कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—जेणं अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा जीविया-ओववरोवइ सेतं पाणाइवाय किरिया।६। —पन्नवणा सूत्र, पद २२

आहार तथा सुन्दर आहार के मिलने या न मिलने पर संयम युक्त भगवान किसी प्रकार का राग द्वेष नहीं करते थे।

हिन्दी विवेचन

साधु का जीवन आत्म-साधना का जीवन है। इसके लिए वह शरीर का ध्यान भी रखता है। क्योंकि साधना के लिए उसका माध्यम भी आवश्यक है। परन्तु वह उसमें आसक्त नहीं रहता है। साधना में सहयोगी होने के कारण वह शरीर को आहार-पानी देता है। परन्तु उसमें वह इतना ध्यान अवश्य रखता है कि अपने शरीर के पोषण में कहीं दूसरे प्राणियों का नाश न हो जाए। इस कारण वह सदा निर्दोष आहार ही स्वीकार करता है और समय पर सरस-नीरस जैसा भी आहार पलब्ध हो उसे समभाव पूर्वक कर लेता है। वह उसमें हर्ष या शोक नहीं करता।

भगवान महावीर भी जैसा निर्दोष आहार उपलब्ध होता था, अनासक्त भाव से कर लेते थे। वे दधि आदि सरस पदार्थ मिलने पर हर्षित नहीं होते थे और कुल्माष आदि नीरस पदार्थ मिलने पर शोक नहीं करते थे। उनका उद्देश्य साधना को चालू रखने के लिए पेट को भरना था। इसलिए यथासमय जैसा भी शुद्ध आहार मिलता उसी से संतोष कर लेते थे। इससे रसना इन्द्रिय पर सहज ही विजय प्राप्त हो जाती है। और इस वृत्ति से एक लाभ यह होता है कि साधु में दाता की निन्दा एवं प्रशंसा करने की भावना उद्बुध नहीं होती। जिसकी रसों में आसक्ति होती है, वह सरस आहार देने वाले की प्रशंसा एवं नीरस आहार देने वाले व्यक्ति की निन्दा करके पाप कर्म का बन्ध कर लेता है। इसलिए साधु को समय पर सरस एव नीरस जैसा भी आहार उपलब्ध हो उसे समभाव पूर्वक करना चाहिए।

टीकाकार ने प्रस्तुत गाथा में आहार के विषय में प्रयुक्त शब्दों का निम्न अर्थ किया है— १-सुइयं दध्यादिना भक्तामार्द्रीकृतमपि तथा भूतम्। २-सुक्कं—वल्लचणकादि। ३-सीयपिंडं-पर्युषित भक्तम्। ४-वुक्कसं—चिरन्तन धान्यौदनम्। ५-पुलागं-यवनिष्पावादि।

इससे यह स्पष्ट होता है कि मुनि स्वाद के लिए आहार नहीं करता, केवल साधना के लिए शरीर को स्थिर रखना होता है और इस कारण वह आहार करता है।

अब साध्य प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अवि झाइ से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं।
उड्ढं अहे तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिन्ने।१४।

छाया—अपि ध्यायति सः महावीरः, आसनस्थः अकौत्कुचः ध्यानम्।
ऊर्ध्वमधस्तिर्यग् च प्रेक्षमाणः समाधिं अप्रतिज्ञः।

पदार्थ—अवि – सम्भावनार्थ में है। से—वे। महावीरे – भगवान महावीर। झाइ – ध्यान करते थे। आसणत्थे – आसनस्थ होकर। अकुक्कुए – मुखादि की चंचलता को छोड़कर। झाणं – धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याते थे। उड्ढं – ऊर्ध्व लोक। अहे – अधोलोक। च – और। तिरियं–मध्यलोक में जो जीवादि पदार्थ हैं। वे उन द्रव्यों और उनकी पर्यायों की नित्यानित्यता का चिन्तन करते थे। और। समाहि – अन्तःकरण की शुद्धि को। पेहमाणे – देखते हुए। अपडिन्ने – प्रतिज्ञा से रहित होकर ध्यान करते थे।

मूलार्थ— श्रमण भगवान महावीर, स्थिर आसन एवं स्थिर चित से धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याते थे। वे उस ध्यान मुद्रा में ऊर्ध्व लोक, अधो लोक और तिर्यग् लोक में स्थित द्रव्य और उनकी पर्यायों के नित्यानित्य रूप का चिन्तन करते थे। वे अपने अन्तःकरण की शुद्धि को देखते हुए प्रतिज्ञा से रहित हो कर सदा ध्यान एवं आत्म-चिन्तन में संलग्न रहते थे।

हिन्दी विवेचन

साधना में ध्यान का महत्वपूर्ण स्थान है। ध्यान के लिए सबसे पहली आवश्यकता आसन की है। ध्यान के लिए उत्कुटुक आसन, गोदुहिक आसन, वीरासन और पद्मासन आदि प्रसिद्ध हैं। इन आसनों से साधक शरीर को स्थिर करके मन को एकाग्र करके आत्म-चिन्तन में संलग्न होता है। भगवान महावीर भी दृढ़ आसन से धर्म एवं शुक्ल ध्यान ध्याते थे। इससे मन विषयों से हटकर आत्म-स्वरूप को समझने में लगता है, इससे कर्मों की निर्जरा होती है। ध्येय वस्तु द्रव्य और पर्याय रूप होती है। अतः वह नित्यानित्य होती है। यह हम पहले बता चुके हैं कि प्रत्येक वस्तु द्रव्य रूप से नित्य है और पर्याय रूप से अनित्य है। अतः ध्यान में उसके यथार्थ स्वरूप का चिन्तन किया जाता है।

पातञ्जल योग दर्शन में भी योग के आठ अंग माने गए हैं— १-यम, २-नियम, ३-आसन, ४-प्राणायाम, ५-प्रत्याहार, ६-धारणा, ७-ध्यान और ८-समाधि। कुछ विचारक प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को योग का अंग मानते हैं। कई साधक उत्साह, निश्चय, धैर्य, संतोष, तत्त्वदर्शन और देश त्याग को ही योग साधना मानते हैं

और कोई मन के निरोध को ही सर्व सिद्धि का कारण मानता है।

प्रस्तुत गाथा में आत्म विकास के लिए ३ साधन बताए हैं— १-आसन, ध्यान और ध्येय—समाधि। आसनों के द्वारा साधक मन को एकाग्र कर लेता है। जैन योग ग्रन्थों में कुछ आसन ध्यान योग्य बताए गए हैं। जैसे— १-पर्यंकासन, २-अर्द्ध पर्यंकासन, ३-वज्रासन, ४-वीरासन, ५-सुखासन, ६-कमलासन और ७-कायोत्सर्ग❀। इसके बाद यह बताया गया है कि जिस आसन से सुख पूर्वक स्थित होकर मुनि मन को एकाग्र कर सके, वही सबसे श्रेष्ठ आसन है†। ध्यान की विधि बताते हुए लिखा है कि अत्यन्त निश्चल सौम्यता युक्त एवं स्पन्दन से रहित दोनों नेत्रों को नाक के सामने स्थिर करे‡। ध्यान के समय मुख ऐसा शान्त हो जैसे कि वह तालाब जिसमें मत्स्य सो रहे हों। भ्रू निश्चल एवं विकार-हीन हों, दोनों ओष्ठ न अधिक खुले हों और न जोर से बन्द किए हुए हों तात्पर्य यह है कि मुख पर किसी तरह की विकृति न हो, वह शान्त एवं प्रसन्न हो।❀

जैन दर्शन में मन, वचन और शरीर को योग कहा है। इन की शुभ वृत्तियों से चित्त की शुद्धि होती है और ध्यान, ध्याता एवं ध्येय इन तीनों की एकरूपता से समाधि प्राप्त होती है। इसी प्रारंभिक विकास को पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ और रूपातीत का नाम देकर इन्हें धर्मध्यान के अन्तर्गत माना है।

यह सत्य है कि धर्म ध्यान आत्म-विकास की प्रथम श्रेणी है और शुक्ल ध्यान चरम श्रेणी है। समस्त कर्मों का क्षय करके योगों का निरोध करते समय सर्वज्ञ पुरुष शुक्ल ध्यान के चतुर्थ भेद का ध्यान करके ही योगों का निरोध करके निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं। उस स्थिति तक पहुंचने के लिए या उस योग्यता को प्राप्त करने के लिए पहले धर्मध्यान अत्यन्त आवश्यक है।

अन्य दर्शनों में राजयोग, हठयोग आदि प्रक्रियाएं मानी हैं। इससे कुछ काल के लिए मन का निरोध होता है। जब तक हठ योग की प्रक्रिया चलती है, तब तक

❀ पर्यंकमर्द्धपर्यंकं, वज्रं वीरासनं तथा।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः। —ज्ञानार्णव, २८, १०

† येन-येन सुखासीना, विदध्युर्निश्चलं मनः।
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम्। —ज्ञानार्णव २८, ११

‡ नासाग्रदेशविन्यस्ते, धत्ते नेत्रेऽतिनिश्चले।
प्रसन्ने सौम्यतापन्ने, निष्पन्दे मन्दतारके। —ज्ञानार्णव २८, ३५

❀ भ्रूवल्ली विक्रियाहीनं,सुश्लिष्टाधरपल्लवम्।
सुप्तमत्स्यह्रदप्रायं, विदध्यान्मुखपंकजम्। —ज्ञानार्णव २८; ३६

और कोई मन के निरोध को ही सर्व सिद्धि का कारण मानता है।

प्रस्तुत गाथा में आत्म विकास के लिए ३ साधन बताए हैं— १-आसन, ध्यान और ध्येय—समाधि। आसनों के द्वारा साधक मन को एकाग्र कर लेता है। जैन योग ग्रन्थों में कुछ आसन ध्यान योग्य बताए गए हैं। जैसे— १-पर्यंकासन, २-अर्द्ध पर्यंकासन, ३-वज्रासन, ४-वीरासन, ५-सुखासन, ६-कमलासन और ७-कायोत्सर्ग❀। इसके बाद यह बताया गया है कि जिस आसन से सुख पूर्वक स्थित होकर मुनि मन को एकाग्र कर सके, वही सबसे श्रेष्ठ आसन है†। ध्यान की विधि बताते हुए लिखा है कि अत्यन्त निश्चल सौम्यता युक्त एवं स्पन्दन से रहित दोनों नेत्रों को नाक के सामने स्थिर करे‡। ध्यान के समय मुख ऐसा शान्त हो जैसे कि वह तालाब जिसमें मत्स्य सो रहे हों। भ्रू निश्चल एवं विकार हीन हों, दोनों ओष्ठ न अधिक खुले हों और न जोर से बन्द किए हुए हों तात्पर्य यह है कि मुख पर किसी तरह की विकृति न हो, वह शान्त एवं प्रसन्न हो।❀

जैन दर्शन में मन, वचन और शरीर को योग कहा है। इन की शुभ वृत्तियों से चित्त की शुद्धि होती है और ध्यान, ध्याता एवं ध्येय इन तीनों की एकरूपता से समाधि प्राप्त होती है। इसी प्रारंभिक विकास को पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ और रूपातीत का नाम देकर इन्हें धर्मध्यान के अन्तर्गत माना है।

यह सत्य है कि धर्म ध्यान आत्म-विकास की प्रथम श्रेणी है और शुक्ल ध्यान चरम श्रेणी है। समस्त कर्मों का क्षय करके योगों का निरोध करते समय सर्वज्ञ पुरुष शुक्ल ध्यान के चतुर्थ भेद का ध्यान करके ही योगों का निरोध करके निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं। उस स्थिति तक पहुंचने के लिए या उस योग्यता को प्राप्त करने के लिए पहले धर्मध्यान अत्यन्त आवश्यक है।

अन्य दर्शनों में राजयोग, हठयोग आदि प्रक्रियाएं मानी हैं। इससे कुछ काल के लिए मन का निरोध होता है। जब तक हठ योग की प्रक्रिया चलती है, तब तक

❀ पर्यंकमर्द्धपर्यंकं, वज्रं वीरासनं तथा।
सुखारविन्दपूर्वं च कायोत्सर्गश्च सम्मतः। —ज्ञानार्णव, २८, १०

† येन-येन सुखासीना, विदध्युर्निश्चलं मनः।
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम्। —ज्ञानार्णव २८, ११

‡ नासाग्रदेशविन्यस्ते, धत्ते नेत्रेऽतिनिश्चले।
प्रसन्ने सौम्यतापन्ने, निष्पन्दे मन्दतारके। —ज्ञानार्णव २८, ३५

❀ भ्रूवल्ली विक्रियाहीनं,सुश्लिष्टाधरपल्लवम्।
सुप्तमत्स्यह्रदप्रायं, विदध्यान्मुखपंकजम्। —ज्ञानार्णव २८; ३६

मन रुका रहता है। उसकी प्रक्रिया समाप्त हुई कि मन फिर इधर-उधर उछल-कूद मचाने लगता है। इसलिए जैन दर्शन ने हठयोग आदि की साधना पर जोर न देकर सहज योग की बात कही। सहज योग कोई आगमिक प्रक्रिया का नाम नहीं है। आगम में योगों को या मन को वश में करने के लिए ५ समिति बताई हैं। इसका तात्पर्य इतना ही है कि साधक जिस समय जो क्रिया करे उस समय तद्रूप बन जाए। यदि उसे चलना है तो उस समय अपने मन को चारों ओर के विचारों से हटाकर चलने में लगा दे,यहां तक कि चलते समय धार्मिक चिन्तन एवं स्वाध्याय आदि भी न करे। इस तरह अन्य क्रियाएं करते समय अपने योगों को उसमें लगा दे। जिस समय हलन-चलन की क्रिया नहीं कर रहा हो, उस समय अपने योगों को स्वाध्याय या ध्यान में लगा दे। इस तरह मन को प्रति समय किसी न किसी काम में लगाए रखे, तो फिर उसे इधर-उधर भागने का अवकाश नहीं मिलेगा। वह सहज ही चिन्तन में एकाग्र हो जाएगा। इसलिए इस साधना के लिए हमने सहज योग शब्द का प्रयोग किया है। क्योंकि इससे योगों को सहज रूप से एकाग्र किया जा सकता है।

इससे ये योग इतने सध जाते हैं कि निर्वाण के समय इनका निरोध करके आत्मा-सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेती है। संसार में रोक रखने के लिए आत्मा के साथ ६ पर्याप्त मानी गई हैं— १-आहार पर्याप्त, २-शरीर पर्याप्त, ३-इन्द्रिय पर्याप्त, ४-मन पर्याप्त, ५-भाषा पर्याप्त और ६-श्वासोच्छ्वास पर्याप्त। इनसे उन्मुक्त होकर ही आत्मा मुक्त हो सकता है। अतः निर्वाण के समय आत्मा इनका भी निरोध कर लेता है। परन्तु, यकायक तो निरोध हो नहीं जाता। इसलिए साधक के लिए बताया गया है कि वह निराहार होने के लिए तप के द्वारा आहार को कम करते हुए शरीर पर से ममत्व हटाते हुए, इन्द्रिय एवं मन को एकाग्र करते हुए मौन भाव को स्वीकार करके आत्म साधना में लीन रहे और समिति-गुप्ति के द्वारा योगों को अपने वश में रखने का प्रयत्न करे। यह प्रक्रिया आत्म विकास के लिए उपयुक्त है। इसमें योगों के साथ किसी तरह की जबरदस्ती न करके उन्हें सहज भाव से आत्म साधना में संलग्न किया जाता है।

भगवान महावीर ने इसी साधना के द्वारा योगों को अपने वश में किया था। या यों कहिए कि अपने योगों को धर्म एवं शुक्ल ध्यान में संलग्न किया था। और आत्म-स्वरूप को पूर्णतया जानने के लिए उन्होंने अपने योगों को लोक के स्वरूप का चिन्तन करने में लगा दिया था। क्योंकि, किसी पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानकर ही आत्मा लोकालोक के यथार्थ स्वरूप को जान सकता है। जो व्यक्ति एक पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ रूप से नहीं जानता, वह संपूर्ण लोक के स्वरूप को भी नहीं जान सकता। अतः लोक के स्वरूप को जानने के लिए एक पदार्थ का संपूर्ण ज्ञान आवश्यक है। प्रत्येक पदार्थ

प्रमाद शुभ कार्य में बाधक है, वह आत्मा को अभ्युदय के पथ पर बढ़ने नहीं देता है। इस लिए भगवान महावीर ने उसका सर्वथा परित्याग कर दिया था। छद्मस्थ अवस्था में भगवान ने कभी भी प्रमाद का सेवन नहीं किया। इसी अध्ययन के दूसरे उद्देशक की चौथी गाथा में भी बताया है कि भगवान ने अप्रमत्त भाव से साधना की और यहां इस बात को और स्पष्ट कर दिया है कि भगवान ने छद्मस्थ काल में कभी भी प्रमाद का सेवन नहीं किया था❀।

छद्म का अर्थ होता है— छिद्र। यहां इसका तात्पर्य द्रव्य छिद्रों से नहीं, भाव-छिद्रों से है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म को भाव छिद्र कहा है। अतः ये भाव छिद्र जिस आत्मा में स्थित हैं, उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। और इनका क्षय कर देने पर व्यक्ति सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाता है। साधना काल में भगवान भी छद्मस्थ थे, इनका नाश करने के लिए वे प्रमाद का त्याग करके सदा आत्म-चिन्तन एवं संयम-साधना में संलग्न रहते थे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सयमेव अभिसमागम्म आयतयोगमाय सोहीए।
अभिनिव्वुडे अमाइल्ले आवकहं भगवं समियासी ।१६।

छाया—स्वयमेव अभिसमागम्य, आयतयोगमात्मशुद्ध्या।
अभिनिर्वृत्तः अमायावी यावत् कथं भगवान् समित आसीत्॥

पदार्थ—सयमेव—स्वात्मा से तत्व को। अभिसमागम्म—जानकर भगवान तीर्थ-प्रवर्तन करने के लिए उद्यत हुए। आयसोहीए—आत्म शुद्धि से। आयत जोगं—सुप्रणिहित मन, वचन और काय योग को धारण करके। अभिनिव्वुडे—वे कषायों के उपशम से अभिनिर्वृत्त हो गए थे। अमाइल्ले—माया से रहित होकर। भगवं—भगवान। आवकहं—जीवन पर्यन्त। समियासी—पांच समिति और तीन गुप्तियों के परिपालक थे।

मूलार्थ—स्वतः तत्व को जानने वाले भगवान महावीर अपनी आत्मा को शुद्ध करके त्रियोग को वश में करके कषायों से निवृत्त हो गए थे और वे समिति एवं गुप्ति के परिपालक थे।

❀ इसकी व्याख्या अ० ९ उ० २ की गाथा ४ के विवेचन में विशेष रूप से की गई है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया है कि भगवान ने किसी के उपदेश से दीक्षा नहीं ली थी वे स्वयं बुद्ध थे, अपने ही ज्ञान के द्वारा उन्होंने साधना पथ को स्वीकार किया और राग-द्वेष, कषायों एवं प्रमाद का त्याग करके आत्म-चिन्तन के द्वारा चार घातिक कर्मों का सर्वथा नाश करके वे सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी बने।

साधना पथ पर चलने वाले साधक के सामने कितनी कठिनाइएं आती हैं, यह भी उनके जीवन की साधना से स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने कह कर ही नहीं, वल्कि स्वय साधना करके यह बता दिया कि साधक को प्राणान्त कष्ट उत्पन्न होने पर भी अपने साधना मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिए। उसे सदा उत्पन्न होने वाले परीषहों को समभाव से सहन करना चाहिए। इस तरह भगवान महावीर समिति-गुप्ति से युक्त होकर साढ़े बारह वर्ष तक विचरे और अपनी साधना के द्वारा राग-द्वेष एवं घातिक कर्मों का क्षय करके सर्वज्ञ बने और आयु कर्म के क्षय के साथ अवशेष अघातिक कर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त हो गए।

प्रस्तुत उद्देशक का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एस विहि अणुक्कंतो, माहणेण मईमया।
बहुसो अपडिन्नेण, भगवया एवं रीयंति त्ति ।१७। त्तिबेमि

छाया—एषः विधिः अनुक्रान्तः माहनेन मतिमता।
बहुशः अप्रतिज्ञेन, भगवता एवं रीयन्ते। इति ब्रवीमि

पदार्थ— अपडिन्ने—प्रतिज्ञा से रहित। भगवया—ऐश्वर्य सम्पन्न। मईमया—मतिमान। माहणेण—भगवान महावीर ने। बहुसो—अनेक बार। एस विहि—उक्त विधि। का। अणुक्कंतो—आचरण किया और उनके द्वारा आचरित एवं उपदिष्ट इस विधि का अन्य साधकों ने भी अपने आत्म-विकास के लिए। एवं—इसी प्रकार। रीयंति—परिपालन किया। त्तिबेमि—मैं इस प्रकार कहता हूं।

मूलार्थ—प्रतिज्ञा से रहित ऐश्वर्य संपन्न, परम मेधावी भगवान महावीर ने उक्त विधि का अनेक बार आचरण किया और उनके द्वारा आचरित एवं उपदिष्ट इस विधि का अपने आत्म विकास के लिए अन्य साधक भी इसी प्रकार परिपालन करते हैं। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा का विवेचन प्रथम उद्देशक की अन्तिम गाथा में किया जा चुका है। यहां इतना ध्यान रखें कि यह गाथा प्रस्तुत अध्ययन के चारों उद्देशकों के अन्त में दोहराई गई है। इसमें 'माहणेण मईमया' विशेषण कुछ गम्भीरता को लिए हुए हैं। यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर क्षत्रिय थे, फिर भी उनको मतिमान माहण-ब्राह्मण कहा है। इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय ब्राह्मण शब्द विशेष प्रचलित रहा है। और इससे श्रमण संस्कृति के इस सिद्धान्त का भी स्पष्ट रूप से संकेत मिलता है कि जन्म से कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण नहीं होता, बल्कि कर्म से होता है। भगवान महावीर की साधना माहण—हिंसा नहीं करने की साधना थी। वे सदा अहिंसा एवं समता के झूले में झूलते रहे हैं। इसी कारण उन्हें मतिमान ब्राह्मण कहा है। कहां वैदिक यज्ञ अनुष्ठान में उलझा हुआ, हिंसा में अनुरक्त, रक्त रंजित हाथों वाला ब्राह्मण और कहा अहिंसा, दया एवं क्षमा का देवता ब्राह्मण। दोनों की जीवन रेखा में आकाश-पाताल जितना अंतर। यही कारण है कि सूत्रकार ने वैदिक परम्परा में प्रचलित ब्राह्मण शब्द का अर्थ विकास करके घोर तपस्वी भगवान महावीर के लिए उसे विशेषण रूप से दिया है। इसके अतिरिक्त आचाराङ्ग सूत्र में कई स्थलों पर आर्य, ब्राह्मण, मेधावी, वीर, बुद्ध, पंडित, वेदविद् आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इससे यह फलित होता है कि भगवान महावीर ने इन शब्दों के प्रयोग में होने वाले हिंसा, शोषण एवं उत्पीड़न के जहर को अमृत के रूप में परिणत करके इन शब्दों को गौरवान्वित किया और आर्य एवं आर्यपथ को भी दिव्य-भव्य एवं उन्नत बनाया।

'त्तिबेमि' का विवेचन पूर्ववत् समझें।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

॥ नवम अययन समाप्त ॥

आचारांग सूत्र का उपसंहार

जैनागम में वस्तु के स्वरूप का परिज्ञान करने के लिए सात नयों का उल्लेख किया गया है। उसमें ज्ञान एवं क्रिया नय प्रमुख हैं। इन दोनों नयों में सातों नयों का समावेश हो जाता है। और दोनों नय अपने-अपने विषय में प्रधान होते हुए भी दोनों सहयोगी हैं। साधना में न तो मात्र ज्ञान की प्रधानता है। और न अकेली क्रिया की। दोनों की सापेक्ष प्रधानता स्वीकार की गई है।

ज्ञान नय—

ज्ञान वादी का कहना है कि ज्ञान से समस्त पदार्थों के स्वरूप का परिबोध होता है। अतः वही मुक्ति का कारण है। कहा भी है कि ज्ञान से समस्त दुःखों से छुटकारा मिल जाता है*। और अन्वय एवं व्यतिरेक से भी यह घटित होता है कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। ज्ञान ही पुरुष को फल दे सकता है, परन्तु क्रिया से कोई फल नहीं मिलता। क्योंकि, मिथ्या ज्ञान युक्त व्यक्ति की प्रवृत्ति का यथेच्छ फल नहीं मिलता†। आगम में भी कहा है— पहले ज्ञान फिर क्रिया‡। इससे ज्ञान की महत्ता स्पष्ट सिद्ध होती है। सम्यक् ज्ञान के अभाव में कठोर से कठोर क्रिया-काण्ड का भी आत्म-विकास की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है। इसलिए ज्ञान ही प्रधान है।

क्रिया नय—

क्रियावादी क्रिया को ही प्रमुख मानता है। उसकी दृष्टि में ज्ञान पङ्गु है, वह कुछ भी नहीं कर सकता है। यदि किसी व्यक्ति को किसी स्थान पर पहुंचना है, तो उस स्थान का ज्ञान उसे वहां नहीं पहुंचा सकता, चलने की क्रिया करके ही वह अपने निश्चित स्थान पर पहुंच सकता है। इस तरह प्रत्येक कार्य में क्रिया की प्रधानता है।

दोनों का समन्वय—

अपने-अपने स्थान पर दोनों का महत्त्व है। साधना के क्षेत्र में दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु विभिन्न रूप में नहीं, समन्वित रूप में। ज्ञान और क्रिया के अलग-अलग रहने से साध्य की सिद्धि नहीं है। साध्य की सिद्धि दोनों के समन्वय में

---

* ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

† विद्याहि फलदा पुंसां, न क्रिया फलदामता।
मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य फलासम्वाद दर्शनात्।

‡ पढमं नाणं तओ दया। —दशवैकालिक सूत्र।

है। जैन दर्शन इस बात को स्वीकार करता है कि ज्ञान और क्रिया के समन्वय से ही मुक्ति मिलती है। जैसे अकेला ज्ञान पङ्ग है, उसी तरह एकाकी क्रिया भी अन्धी है। ज्ञान देख सकता है. परन्तु गति नहीं कर सकता। इस कारण वह अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकता। इसी तरह क्रिया में गति है परन्तु, देखने की शक्ति का अभाव होने से वह भी व्यक्ति को गन्तव्य स्थान पर सकुशल नहीं पहुंचा सकती। कहीं उल्टे राह पर चल पड़ी तो उसे इधर-उधर भटका देगी। इस लिए निश्चित लक्ष्य पर पहुंचने के लिए दोनों के सहयोग की आवश्यकता है।

यदि किसी स्थान में आग लग गई है और वहां एक अंधा और दूसरा पंगु है और दोनों उस स्थान से निकल कर सुरक्षित स्थान में जाना चाहते हैं। परन्तु, वे तब तक वहां से निकल नहीं सकते जब तक दोनों एक दूसरे का आश्रय लेकर न चलें। यदि अंधा व्यक्ति पंगु को अपने कन्धे पर न बिठाए और पंगु व्यक्ति उसे मार्ग न बताए तो दोनों का मार्ग तय नहीं हो सकता। इसी तरह साध्य को सिद्ध करने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों के समन्वय की आवश्यकता है।

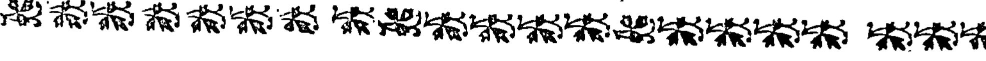
आत्मा केवलज्ञान प्राप्त करके अयोगी गुणस्थान तक पहुंच जाता है। वहां जाकर वह योगों का निरोध कर समस्त कर्मों एवं कर्म जन्य साधनों से मुक्त हो जाता है। परन्तु इस साधना के लिए वहां पर भी शुक्ल ध्यान के चिंतन रूप क्रिया का आश्रय लेना होता है। ज्ञान के साथ उसके संयोग से ही वह सिद्धत्व को प्राप्त करता है अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है। इसलिए आगम में कहा गया है कि ज्ञान और क्रिया दोनों की समन्वित साधना से युक्त साधक अनादि अनन्त एवं दीर्घ मार्ग वाले चार गति रूप संसार सागर से पार हो जाता है*।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि साध्य को सिद्ध करने के लिए या निर्वाण पद पाने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों की समन्वित साधना की आवश्यकता है। प्रस्तुत आचारांग सूत्र में इसी साधना का वर्णन किया गया है। पूर्व के आठ अध्ययनों में जिस ज्ञान एवं क्रिया की साधना का वर्णन किया था, प्रस्तुत अध्ययन में यह बताया गया है कि उसका स्वयं भगवान महावीर ने आचरण किया था। और इस साधना के द्वारा ही भगवान चार घातिक कर्मों का क्षय करके सर्वज्ञ बने थे, और फिर आयु कर्म के साथ साथ शेष अघातिक कर्मों का क्षय करके सिद्ध बने थे। अतः इस भावना के द्वारा प्रत्येक साधक अपने साध्य को सिद्ध करता है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को सदा संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए

॥ श्री आचाराङ्ग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त ॥

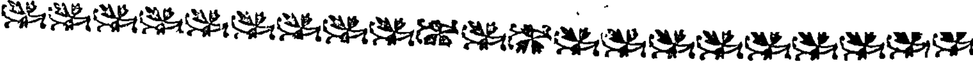
---

* दोहिं ठाणेहिं अणगारे संपन्ने अणादीयं, अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंत संसार कंतारं वितिवतेज्जा तंजहा-विज्जाए चेव, चरणेण चेव। —स्थानाङ्ग सूत्र २, १, ६३।



श्री आचाराङ्ग सूत्र

॥ प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त ॥



पारिभाषिक शब्द-कोष

अकर्मभूमि-मनुष्य—जिस क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले मनुष्य अपने जीवन-निर्वाह के लिए कोई कर्म(काम) नहीं करते। कल्पवृक्षों के द्वारा उनकी अभिलाषाओं एवं इच्छा-ओं की पूर्ति हो जाती है।

अकल्पनीय—ग्रहण करने योग्य नहीं है।

अकुशल—सदोष।

अग्रबीज— जिस वनस्पति के अग्र- आगे के भाग में बीज है, जैसे-नारियलादि

अगीतार्थ —जो साधु १६ वर्ष से कम आयु का है, वह वय-अगीतार्थ है और जो साधु श्रुत में आचार-प्रकल्पागम अर्थात् आचाराङ्ग और व्यवहार एवं निशीथ के अर्थ का ज्ञाता नहीं है, वह श्रुत से अगीतार्थ है।

अचित्त —चेतना से रहित पदार्थ। जड़ पदार्थ अचित्त कहलाते हैं।

अचित्त-योनि—जो उत्पत्ति स्थान जीव प्रदेशों से रहित है।

अचेलक —स्वल्प या मर्यादित वस्त्र-युक्त या वस्त्र रहित मुनि।

अतीरंगम—संसार सागर को तैर कर किनारे पर पहुंचने में असमर्थ व्यक्ति।

अध्यवसाय —परिणाम या भाव-विचार।

अनगार —घर-परिवार से रहित साधु, श्रमण, निर्ग्रन्थ।

अनन्तानुबंधी-क्रोध—जिसके क्रोध का अनन्त-प्रगाढ़ अनुबन्ध-बन्धन है, अर्थात जिसके साथ वैर-विरोध हो गया, वह जीवन पर्यन्त बना रहता है, उसका क्रोध कभी समाप्त नहीं होता, उसे अनन्तानुबन्धी क्रोध कहते हैं।

अन्तर्द्रष्टा – आत्मा को देखने वाला, आत्म-चिन्तन करने वाला।

अन्तराय-कर्म—आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्राप्त करने में रुकावट डालने वाला कर्म।

अन्तेवासी—गुरु की सेवा में संलग्न रहने वाला या सदा गुरु की आज्ञा में विचरने वाला शिष्य।

अनन्त —जिसका कहीं अन्त नहीं आता।

अनन्त चतुष्क—आत्मा में १-अनन्त ज्ञान, २-अनन्त दर्शन, ३-अनन्त सुख और ४-अनन्त वीर्य (शक्ति) की सत्ता (अस्तित्व) रहती है।

अनन्य-आराम— जो मोक्ष-मार्ग या आत्म-साधना के अतिरिक्त अन्यत्र शान्ति या आराम का अनुभव नहीं करता। या जिसे आत्म-साधना में ही आराम या शांति की अनुभूति होती है।

अनन्य दर्शी—यथार्थ द्रष्टा, आत्म-दर्शी।

अन्य-लिंगी—जैनेतर साधु के वेश में।

अनर्थ-गत-जिज्ञासा—संसार के स्वरूप को जानने की अभिलाषा।

कुछ वर्णों की है— अ इ उ ऋ और ऌ के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने समय की। यहां पहुंचते ही आत्मा समस्त कर्मों का क्षय करके कर्म-जन्य मन, वचन और काय (शरीर)योग का निरोध कर लेता है और तुरन्त सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है।

अर्थगत-जिज्ञासा—मोक्ष के अर्थ को जानने की जिज्ञासा-भावना।

अरणक—भगवान महावीर के १० श्रावकों (उपासकों) में से एक श्रावक।

अरिहन्त—कर्म रूपी शत्रुओं का नाश करने वाले महापुरुष।

अवधि-ज्ञान—मन और इन्द्रियों की विना सहायता के मर्यादित क्षेत्र में स्थित रूपी पदार्थों को स्पष्ट रूप से जानना-देखना।

अवमचेलक—स्वल्प एवं मर्यादित वस्त्र से युक्त।

अव्रती—त्याग से रहित।

अवसर्पिणी—यह दस कोटा-कोटि सागरोपम का काल होता है, इसमें ६ आरे-समय का एक माप, होते हैं। इसके प्रत्येक आरे में सुख-समृद्धि, शरीर, संघयन, आयु आदि का ह्रास होता रहता है।

अविनाभाव-सम्बन्ध—जो सम्बन्ध एक-दूसरे के विना रह नहीं सकता। जैसे गुण और गुणी दोनों एक-दूसरे के अभाव में रह नहीं सकते।

असंयत—गृहस्थ या जो संयत-साधु नहीं है।

असंवृत्त—संवर-आते हुए कर्म को रोकने की एक प्रक्रिया, से रहित है।

असदभियोग—झूठा आरोप लगाना।

असम्यक्—तत्त्वों एवं लोक स्वरूप के यथार्थ ज्ञान का अभाव।

असुरकाय—राक्षस, नीच जाति के देव। भवनपति, वाणव्यन्तर जाति के देवों को असुर कहते हैं।

अशाश्वत—क्षणिक, सदा नहीं रहने वाला।

अहिंसा—किसी प्राणी का वध नहीं करना तथा उसे संक्लेश नहीं पहुंचाना

आगम—शास्त्र, सूत्र।

आचार्य हेमचन्द्र—१२वीं शताब्दी के प्राकृत-संस्कृत के विद्वान जैनाचार्य, जिन्होंने जैन शास्त्रों पर टीकाएं एवं जैन दर्शन, योग शास्त्र, व्याकरण, काव्य, जीवन-चरित्र आदि विभिन्न विषयों के अनेक ग्रन्थों के निर्माता।

आचाराङ्ग—भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट १२ अंग शास्त्रों में प्रथम शास्त्र, जिसमें प्रायः साध्वाचार का उपदेश दिया गया है।

आजीविक—मंखली पुत्र गोशालक की सम्प्रदाय, आज उसका अस्तित्व नहीं रहा और न उसका साहित्य ही उपलब्ध होता है।

आर्तकदर्शी— नर्क-तिर्यञ्च आदि गति में मिलने वाले दुःखों एवं आतंक को देखने वाला। या पाप-कर्म करते हुए डरने वाला।

आत्मतुला—आत्मा का तराजू अर्थात् कार्य करने से पूर्व वह उसे अपनी आत्मा की आवाज से परख लेता है।

आत्मवादी—आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला।

आत्मश्लाघा—अपनी आत्म प्रशंसा।

आत्यान्तिक—पूर्ण रूप से।

आधाकर्मी आहार—जो आहार आदि उपभोग के पदार्थ साधु के निमित्त हिंसा करके तैयार किए जाते हैं।

आप्त—पूर्ण पुरुष-जिसमें राग-द्वेष या दोषों की जरा भी कालिमा अवशेष नहीं रही है।

आम—अपक्व पाप कर्म और आधाकर्म-जो आहार-पानी आदि उपभोग के पदार्थ साधु के निमित्त से बनाए जाते हैं, दोष।

आयत—कभी समाप्त नहीं होने वाला स्वरूप, मोक्ष।

आयुकर्म – जिस कर्म के कारण जीव (आत्मा) अपने शरीर में स्थित रहता है और जिसके समाप्त होते ही जीव (आत्मा) शरीर को छोड़ कर दूसरी गति या मोक्ष में चला जाता है।

आर्त—राग-द्वेष एवं विषय-कषाय से आवृत्त घिरा हुआ।

आर्त रौद्र ध्यान—दुःख से पीड़ित होकर सदा दुःख एवं शोक में डूबे रहना तथा रुद्र-दूसरे का समूलतः नाश करने का भाव रखना, सदा अत्यधिक दुर्भावनाओं में डूबे रहना। दूसरे का नाश करने के उपायों को सोचते रहना।

आवृत—ढका हुआ, आच्छादित।

आवर्त—संसार।

आस्तिक्य—यथार्थ देव, गुरु और धर्म पर दृढ़ श्रद्धा-विश्वास होना।

आहार संज्ञा—खाद्य पदार्थों का उपभोग करने की अभिलाषा।

इङ्गित मरण—मृत्यु को निकट जानकर समाधि पूर्वक मृत्यु का आह्वान करना, अथवा जीवन पर्यन्त के लिए अनशन व्रत स्वीकार करके रखी हुई मर्यादित भूमि में ही विचरण करना।

इयता—परिमितता, एक सीमा।

ईर्यापथिक-क्रिया—राग-द्वेष से रहित तीर्थंकरों द्वारा की जाने वाली क्रिया, इससे पुण्य-पाप किसी भी तरह का बन्ध नहीं होता। केवल प्रथम समय में कर्म आते हैं, द्वितीय समय में वेदन-आत्म-प्रदेशों से स्पर्शित होते हैं और तीसरे समय में झड़ जाते हैं।

ईर्या समिति—चलते समय विवेक पूर्वक देखकर चलना। अपने मन,

आदि से युक्त स्थूल शरीर, जो मनुष्य और तिर्यञ्च में पाया जाता है।

औनोदर्य—अल्पाहार, क्षुधा-भूख से कम आहार करना।

औपपातिक—उत्पत्तिशील, जन्मांतर में संक्रमण करने वाला या देव और नारकी। देव और नारकी के जन्म-स्थान को उपपात कहते हैं और पपात से उत्पन्न होने के कारण ये औपपातिक कहलाते हैं।

औपशमिक-सम्यकत्व—जिसमें दर्शन-मोह कर्म की सातों प्रकृतियों को उपशम शांत कर दिया है, दबा दिया है

अंगिरा—एक महान् ऋषि। वैदिक परंपरा की मान्यता है कि ईश्वर ने इन ऋषियों (अङ्गरा आदि) को वेदों का रहस्य बताया था।

अंडज—अंडे से उत्पन्न होने वाले प्राणी।

अंतर्दीपज-मनुष्य— लवण समुद्र में स्थित द्वीपों में जन्मने वाले मनुष्य। ऐसे यह क्षेत्र भी अकर्मभूमि ही है

कटिबन्ध—धोती के स्थान में पहनने का वस्त्र

कर्तृत्व—कर्म-कार्य का करने वाला।

कर्म बद्ध—कर्मों से बन्धी हुई।

कर्मभूमि मनुष्य—जिस क्षेत्र में मनुष्य कृषि, व्यापार, नौकरी एवं शस्त्रास्त्र का काम करके, पुरुषार्थ करके अपना जीवन यापन करता है। उसे कर्म भूमि कहते हैं और उस क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले मनुष्य को कर्मभूमि मनुष्य।

कर्मवादी—कर्म के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाला।

कर्माश्रव—कर्म के आने का द्वार।

कल्प सूत्र—आचार्य भद्रबाहु द्वारा रचित एक शास्त्र, जिस में मुनि-कल्प (मर्यादा), भगवान ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के जीवन का वर्णन, भगवान महावीर के शासन की पाट परम्परा (स्थिवरावली) का वर्णन है।

कल्पातीत—जिनके लिए उनका अपना ज्ञान एवं आचरण ही कल्प या मर्यादा थी।

कषायमूलक—बध्यमान कर्म-कषाय के मूल निमित्त से बंधे हुए कर्म।

कायोत्सर्ग—शरीर के ममत्व का त्याग करना।

कार्मण शरीर—संसार में स्थित आत्मा के साथ लगा हुआ एक सूक्ष्म शरीर जो कर्मों को ग्रहण करता है और सदा काल साथ रहता है। मृत्यु के समय स्थूल शरीर यहीं रह जाता है, परन्तु यह सूक्ष्म शरीर साथ रहता है और यही आत्मा को अपने उत्पत्ति स्थान पर ले जाता है।

काषायिक—कषाय-क्रोध, मान, माया और और लोभ से युक्त भाव।

किंपाक फल—एक प्रकार का फल जो वर्ण रूप, गंध, रस से सुन्दर, सुवासित एवं स्वादिष्ट लगता है

परन्तु स्वभाव से विषाक्त होता है। यह खाने वाले को निष्प्राण बना देता है।

क्रियावादी—क्रिया-आचरण का मार्ग बताने वाला।

कुरान शरीफ—मुसलमानों का धर्म-ग्रंथ।

कुशल—निर्दोष।

कूटस्थ—बिना किसी परिवर्तन के सदा—सर्वदा बने रहना।

कृत-अकृत—करने योग्य हो या न हो।

केवल ज्ञान—इन्द्रिय, मन एवं अन्य किसी भी ज्ञान की बिना अपेक्षा के तीनों लोक में स्थित द्रव्यों एवं उनके त्रिकाल-वर्ती भावों को युगपत् हस्तामलकवत जानना-देखना।

केशी-श्रमण—भगवान पार्श्वनाथ (२३वें तीर्थंकर) के शिष्य, जो भगवान महावीर के शासनकाल में विद्यमान थे और गौतम-स्वामी के साथ विचार-चर्चा करने के बाद भ० महावीर के शासन में सम्मिलित हो गए।

क्षयोपशम—कर्म की कुछ प्रकृतियों को नष्ट कर देना और कुछ को शान्त कर देना अर्थात् उन्हें उभरने नहीं देना।

क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व—जिसमें दर्शन- मोह कर्म की कुछ प्रकृति क्षय एवं कुछ का उपशम होता है।

क्षायिक-सम्यक्त्व—जिसमें दर्शन-मोह कर्म की ७ प्रकृतियों का क्षय कर दिया गया है।

क्षेत्रज्ञ—अग्नि के वर्ण आदि को जानने वाला।

क्षेमंकरी—कल्याणकारी।

ज्ञानावरणीय—ज्ञान को आवृत्त करने—ढकने वाला कर्म।

खुदा—ईश्वर।

खेदज्ञ—अग्नि की दहन शक्ति को जानने वाला।

गजसुकमाल—कृष्ण-वासुदेव के लघु-भ्राता और भगवान अरिष्टनेमिनाथ के सुशिष्य, जिन्होंने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की उसी दिन सिद्धत्व को पा लिया।

गणधर—गण (साधु-साध्वी के समूह) को धारण करने वाले अर्थात् गण की व्यवस्था करने वाले। तीर्थंकरों की अर्थ रूप वाणी को सूत्र रूप में ग्रथित करने वाले। भगवान महावीर के इन्द्र-भूति गौतम आदि ११ गणधर थे।

गणि-पिटक—ज्ञान का पिटारा—ज्ञान-मंजूषा (Treasure of Knowldge)

गति—ऐसे गति का अर्थ होता है—चलना। और नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चार उत्पत्ति स्थानों को भी गति कहते हैं। यहां गति का अर्थ उक्त चार गति रूप संसार है।

गति-आगति—जीव के आवागमन के स्थान।

गति-त्रस—जिन जीवों ने त्रस नाम कर्म एवं गति का बन्ध होने से त्रस-हलन-चलन करने वाले, जीवन को प्राप्त किया है, उन्हें गति-त्रस कहते हैं।

गुण—किसी वस्तु में रहने वाली पर्याय विशेष। और शब्दादि विषय, विषय-विकार को भी गुण कहते हैं।

गुणार्थी—विषय-वासना का अभिलाषी।

गुणी—वह वस्तु विशेष,जिसमें गुण रहते हैं।

गुप्ति—मन, वचन और काय (शरीर) योग का गोपन करना।

गुरुत्व—भारीपन।

गौतम-स्वामी—भगवान महावीर के प्रथम और प्रमुख शिष्य एवं प्रथम—गणधर।

गोशालक—मंखली जाति का एक व्यक्ति, जो भगवान महावीर की प्रतिष्ठा को देखकर उनकी तरह नके साथ रहने लगा और उन्हें अपना गुरु मानने लगा। वह ६ वर्ष तक भगवान महावीर के साथ रहा। उसके बाद अलग होकर उसने अपना आजीवक संप्रदाय चलाया

ग्रन्थि—गांठ।

ग्रामधर्म—काम-वासना या भोगेच्छा।

ग्लान—वृद्ध; रोगी और अस्वस्थ।

घातिक-कर्म—ज्ञान-दर्शन, सुख और वीर्य-शक्ति, आत्मा के इन चार मूल गुणों की घात करने वाले अर्थात इन्हें आवृत्त करने वाले ज्ञाना-वरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म घातिक कर्म कहलाते हैं।

घ्राणन्द्रिय—नाक, नासिका।

चक्रवर्ती—सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर एकच्छत्र राज्य करने वाला शासक।

चण्डकौशिक-सर्प—एक भयंकर विषधर (सर्प) जिसकी फूंकार से मनुष्य तो क्या, पशु-पक्षी तक भी मर जाते थे, पेड़-पौधे पत्र-पुष्प एवं फलों से रहित हो जाते थे, जिस को निर्भयता पूर्वक भगवान महावीर ने उसकी वाम्बी पर जाकर उपदेश दिया और उसे निर्विष बनाकर उसके एवं जनता के जीवन को शान्तिमय बनाया।

चतुरिन्द्रिय—जिन प्राणियों के शरीर, जिव्हा, नाक और-आंख चार इन्द्रिएं हैं।

चवदह-पूर्व—तीर्थंकर भगवान द्वारा उपदिष्ट विशाल ज्ञान, जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

चारज्ञान—१ मति ज्ञान, २ श्रुत ज्ञान, ३ अवधि ज्ञान, ४ मन:पर्यव-ज्ञान और ५ केवल ज्ञान। ये पांच ज्ञान सम्यग् ज्ञान माने गए हैं। इसमें से पहले चार ज्ञान।

चारयाम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह व्रत।

चारित्र—आत्मा में स्थित कर्म-प्रवाह को समाप्त करने की एक साधना-

प्रक्रिया।

चारित्र धर्म—आगम में उपदिष्ट साधना को जीवन में साकार रूप देना।

चारित्र मोहनीय—एक प्रकार का आवरण, जिसके रहते आत्मा त्याग मार्ग को स्वीकार नहीं कर पाता।

चार्वाक—एक भारतीय दर्शन, जो आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व और नरक स्वर्ग को नहीं मानता।

चूलिका—मूल ग्रंथ के विषय में रही हुई कमी को पूर्ण करने या विषय को स्पष्ट करने के लिए मूल ग्रन्थ के साथ जोड़ा गया ग्रंथ या अध्ययन।

चोलपट्टक—धोती के स्थान में पहनने का वस्त्र।

छट्टा गुणस्थान—पूर्णतः त्याग मार्ग स्वीकार करने का स्थान।

छद्मस्थ—जिन प्राणियों को संपूर्ण (केवल) ज्ञान नहीं हुआ है। जिन में अभी तक राग-द्वेष के भाव स्थित हैं।

जम्बू स्वामी—भगवान महावीर के पञ्चम गणधर और प्रथम आचार्य के सुशिष्य तथा भगवान महावीर के शासन के द्वितीय शास्ता—आचार्य।

जयन्ती—भगवान महावीर की ज्ञानवती एवं सेवा-निष्ठ उपासिका जिसने अनेक वार भगवान से प्रश्न पूछे थे।

जरायुज—जेर से आवृत्त उत्पन्न होने वाले प्राणी, गाय-भैंस आदि।

जाति स्मरण ज्ञान—आत्मा की एक शुद्ध अवस्था या भावना, जिसके द्वारा आत्मा इन्द्रिय और मन की सहायता विना अपने निरन्तर सन्नी पञ्चेन्द्रि (मन युक्त पशु-पक्षी या मनुष्य) के किए गए अनेक या ६०० भवों को देख लेता है।

जिनकल्प—साधु जीवन की विशिष्ट साधना संघ से अलग रहकर एकाकी साधना करने वाले, दूसरों को उपदेश न देने वाले, शिष्य न वनाने वाले, अपने शरीर की भी सार-सम्भाल न करने वाले, नग्न रहने वाले साधु की मर्यादा।

जिनेद्र—राग-द्वेष के विजेता।

जिनेश्वर—राग-द्वेष रूप समस्त भाव शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले या मनोविकारों के विजेता।

जिनोपदिष्ट—राग-द्वेष विजेता तीर्थंकर भगवान के द्वारा उपदेशित—प्ररूपित।

जैनदर्शन—जिन भगवान तीर्थंकरोपदिष्ट सिद्धान्त। .:. आप्त पुरुषों द्वारा उपदिष्ट जैनागमों को प्रमाण मानता है।

तप—आहार-पानी, स्वाद, रस एवं कषायों-क्रोध मान्, माया, लोभ तथा राग-द्वेष का त्याग करना।

तादात्म्य-सम्बन्ध—गुण और गुणी की एकरूपता का सम्बन्ध अर्थात् गुणी और गुण का स्वाभाविक या सदा स्थित रहने वाला सम्बन्ध।

तितिक्षा—सहनशीलता, सहिष्णुता।

तीर्थंकर— साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका चतुर्विध चार प्रकार के संघ (समूह) को तीर्थ कहते हैं और इसके संस्थापक को तीर्थंकर। वर्तमान काल चक्र में २४ तीर्थंकर हुए हैं, उनमें भगवान ऋषभदेव प्रथम हैं और भगवान महावीर अन्तिम।

तेजस्काय—जिन जीवों ने अग्नि के शरीर को धारण कर रखा है।

तेजोलेश्या—एक शक्ति, जिसके द्वारा तपस्वी साधक अपने प्रतिद्वन्द्वी पर प्रज्वल्यमान पुद्गल फैंकता है, जिस से वह जलकर भस्म हो जाता है। इसे तेजो लब्धि भी कहते हैं।

तेरहवां गुणस्थान—जहां राग-द्वेष का अभाव होने से कर्म का बन्ध नहीं होता, परन्तु मन, वचन और काय-योग का सद्भाव होने से केवल कर्म आते हैं और तुरन्त झड़ जाते हैं। यहां आत्मा को पूर्ण ज्ञान होता है।

तैजस शरीर—पाचन क्रिया करने वाला एक सूक्ष्म शरीर। यह शरीर भी संसार अवस्था में जीव के सदा साथ रहता है।

त्रस स्थावर—जो प्राणी त्रास पाकर दुःख से बचने के लिए सुख के स्थान में आ जा सकते हैं, वे त्रस और जो कहीं आ जा नहीं सकते, एक जगह स्थिर रहते हैं वे स्थावर। द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के प्राणी त्रस और एकेन्द्रिय प्राणी स्थावर कहलाते हैं।

त्रिकाल वर्ती—तीनों काल में वर्तने वाला।

त्रि-करण – किसी कार्य को करना, करवाना और समर्थन करना।

त्रिपथ—सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों मार्गों का सुमिलन।

त्रि-याम—जीवन की तीन अवस्थाएं-प्रथम याम ८ से ३० वर्ष, मध्यम-याम ३० से ६० वर्ष और अन्तिम याम ६० वर्ष से लेकर अन्तिम-सांस तक का समय। या सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र या हिंसा, झूठ और परिग्रह का परित्याग

त्रि-योग—मन, वचन और काय (शरीर) योग।

त्रीन्द्रिय—जिन प्राणियों के शरीर, जिव्हा और घ्राण-नाक, केवल तीन इन्द्रिएं ही हैं।

त्रैकालिक सत्य—आगत, वर्तमान और अनागत तीनों काल में समान रूप से विद्यमान रहने वाला।

दण्ड रूप—हिंसक।

दर्शनमोहनीय—सम्यक् श्रद्धा पर मोह कर्म का आवरण, जिससे जीव तत्त्वों पर श्रद्धा नहीं कर पाता।

दर्शन सप्तक— अनन्तानुबंधी प्रगाढ़ क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व-मोहनीय, सम्यक्त्व-मोहनीय और मिश्र-मोहनीय इन सात प्रकृतियों को दर्शन सप्तक कहते हैं। जब तक इनका उदय रहता है, तब तक सम्यग् दर्शन की प्राप्ति नहीं होती।

दर्शनावरणीय कर्म— अवलोकन करने की सामान्य दृष्टि को आवृत्त करने वाला कर्म।

दशवैकालिक सूत्र—शयंभवाचार्य द्वारा संकलित और चार मूल शास्त्रों में से पहला मूल शास्त्र जिस में साध्वाचार का वर्णन है।

दुख प्रतिघात—दुःखों का नाश करना या दुःखों से छुटकारा पाना।

दुष्प्रत्याख्यान—बुरा या मिथ्या त्याग।

देवदूष्य वस्त्र—तीर्थंकरों को दीक्षा लेते समय इन्द्र द्वारा दिया जाने वाला एक वस्त्र। तीर्थंकर इस वस्त्र के अतिरिक्त अन्य वस्त्र ग्रहण नहीं करते।

देवर्द्धिगणि-क्षमा श्रमण— भगवान महावीर के लगभग ६०० वर्ष बाद होने वाले आचार्य, इन्होंने ही वी. सं. ६८० में आगमों को सर्व प्रथम लिपिबद्ध किया था।

द्रव-द्रवित—तरल (Liquid) पदार्थ, परन्तु यहां इसका अर्थ है, संयम साधना या राग द्वेष से निवृत्त होना।

द्रविक—रागद्वेष से निवृत्त होने वाला साधक

द्रव्य—वस्तु का मूल स्वभाव। पदार्थ।

द्रव्य-उपधि—कर्म एवं कर्मजन्य साधन-मन, वचन और काय (शरीर) योग।

द्वादशांगी—१२ अङ्ग सूत्र, जिन्हें शास्त्र या आगम भी कहते हैं।

द्वीन्द्रिय— जिन प्राणियों के शरीर और जिव्हा सिर्फ दो इन्द्रियें ही हैं।

धर्म ध्यान—आत्मा एवं लोक के यथार्थ स्वरूप का आत्म ज्योति को विकसित करने के लिए,चिन्तन करना

धर्म संज्ञा—धर्म पथ या साधना मार्ग पर चलने की भावना का उद्बुद्ध होना

धुत—आत्मा पर लगे हुए रागद्वेष के मैल को हटाना।

ध्यान—चिन्तन मनन।

ध्रुवाचारी—मोक्ष प्राप्ति के साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परिपालन करने वाला साधक।

धृति—सहनशीलता।

ध्रौव्य—नित्यत्व, वस्तु का सदा सर्वदा स्थायी रहना।

नव तत्व—जैन दर्शन जीव, अजीव (जड़), पुण्य, पाप, आस्रव (कर्म के आने का द्वार), संवर (आने वाले कर्मों को रोकने की एक प्रक्रिया) निर्जरा (कर्मों को एक देश से क्षय करने की साधना), बन्ध (कर्मों का बन्धना) और मोक्ष

(कर्मों से सर्वथा मुक्त होना), इन नव को मूल तत्त्व (Elements) स्वीकार करता है।

नागासाकी और हिरोशिमा—जापान के दो बड़े शहर, जिन्हें द्वितीय विश्व-युद्ध में अमेरिका ने अणुबम गिराकर नष्ट कर दिया था।

नास्तिक— जिसे आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग, नरक एवं पुनर्जन्मादि में विश्वास नहीं है।

निकाचित—जो कर्म इतने चिकने एवं प्रगाढ़ बन्ध गए हैं कि उन्हें जिस रूप में बन्धे हैं, उस रूप में भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता।

निगोद—जीव के उत्पत्ति स्थान की वह योनि जहां एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं और अनन्त काल तक वहीं जन्म-मरण करते रहते हैं।

निग्रह—दमन।

निदान—कामना-फल की इच्छा एवं वासना।

निधत—कषायों के कारण जिन कर्म वर्गणा के पुद्गलों का आत्म प्रदेशों के साथ बन्ध हो चुका है।

निमज्जित—डूबा हुआ।

नियागप्रतिपन्न—सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त।

निराम— पक्व, निष्पाप और आधाकर्म आदि दोषों से रहित।

निरावरण—आचरण या कर्म एवं अज्ञान के पर्दे से रहित।

निरुक्त—व्याख्या।

निरुपक्रमीआयुष्य—किसी प्रकार का उपक्रम-आघात लगने पर भी जीव का आयुष्य कम नहीं होता।

निर्ग्रन्थ—धन-धान्य आदि द्रव्य परिग्रह और राग-द्वेष, काम, क्रोधादि भाव परिग्रह, की गांठ से रहित साधु।

निर्जरा—आत्मा पर चिपटे हुए कर्मों को तप स्वाध्यायादि साधना के द्वारा आत्मा से अलग करना।

निर्द्वन्द्व—द्वन्द्व संघर्ष रहित।

निर्युक्ति—जैन आगमों (शास्त्रों) पर प्राकृत भाषा में की गई गद्य या पद्यमय व्याख्या (टीका)।

निर्वाण— मुक्ति।

निर्वेद— वैराग्य भाव या वेद-सांसारिक विषय-वासना से निवृत्त होना।

निवृत्ति—अपनी वृत्ति को संसार से हटा लेना।

निष्कम्प—कम्पन रहित, स्थिर।

निष्कर्म-दर्शी — निष्कर्म सिद्ध बनने की दृष्टि (भावना) या सिद्धत्व को प्राप्त करने का अभिलाषी।

निश्चय दृष्टि—वास्तविक एवं यथार्थ दृष्टि।

नैसर्गिक—स्वभाव से या दूसरे के उपदेश के बिना ज्ञान का होना।

पञ्च मुष्ठि लुञ्चन— सिर के सभी बालों का-जो पांच मुष्ठि स्थान में विभक्त हैं, अपने हाथ से लुंचन करना (उखाड़ना),।

पञ्चाचार—१ ज्ञान आचार, २ दर्शनआचार ३ चारित्र आचार, ४ तप आचार और ५ वीर्य पुरुषार्थ आचार।

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र,तय और वीर्य पुरुषार्थ का आचरण करना।

पंचेन्द्रिय—जिन प्राणियों के शरीर, जिव्हा, नाक, आंख और कान पांचों इन्द्रिएं हैं।

पण्डित—ज्ञानी, सम्यग् दृष्टि। सम्यग् ज्ञान से युक्त, पापों से डरने या बचने वाला।

पण्डित मरण—ज्ञान पूर्वक मरण भाव को प्राप्त होना। अर्थात् समस्त पापों एवं ममत्व भाव का परित्याग करके शान्त भाव से मृत्यु का आह्वान करना।

पांच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

पांच याम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय; ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत।

पाँडित्याभिमानी—जिसे अपनी विद्वत्ता का अभिमान है।

पर-प्रकाशक—ज्ञान, अपने ज्ञान से दूसरे पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करता है- परन्तु अपने स्वरूप को प्रकाशित नहीं करता।

परम मेधावी—श्रेष्ठ-पूर्ण ज्ञानी।

परमाणु—पुद्गल का वह सबसे छोटा हिस्सा जिसका एक से दूसरा विभाग न हो सके।

पर-व्याकरण—दूसरे का उपदेश या तीर्थंकर भगवान का उपदेश।

परिग्रह—धन-सम्पत्ति एवं पदार्थों में आसक्ति ममत्व भाव एवं तृष्णा रखना।

परिग्रह संज्ञा—पदार्थों एवं भोगोपभोग के साधनों तथा धन वैभव पर आसक्ति भाव एवं तृष्णा का जागृत होना।

परिणामी—परिवर्तित होने वाला।

परिणामी नित्य—वस्तु का पर्यायों की बदलती हुई स्थिति में भी द्रव्य रूप से स्थायी रहना।

परिदूून—जीर्ण-शीर्ण।

परिताप—विशेष ताप-कष्ट ।

परितापनी क्रिया—दूसरे की आत्मा को परिताप-सन्ताप का कष्ट देना।

परिबोध—ज्ञान।

परिमित—सीमित।

परिवन्दन—अभिनन्दन या प्रशंसा।

परिव्राजक—संन्यासी।

परीषह—शीत उष्णादि का कष्ट।

परेतर-उपदेश—पर का अर्थ यहां तीर्थंकर है। अतः तीर्थंकर से अतिरिक्त किसी अन्य महापुरुष का उपदेश।

पर्युषित—वासी आहार।

पर्व वीज—जिस वनस्पति की गांठों में बीज होता है, गन्ना, बांस आदि।

प्राणातिपातिनी क्रिया—अपनी या अन्य की आत्मा को कष्ट-पीड़ा देना या किसी के प्राणों का नाश कर देना।

पादोपगमन—मृत्यु को निकट जानकर साधक सदा के लिए आहार-पानी का

त्याग करके निश्चेष्ट होकर वृक्ष की टूटी हुई शाखा की तरह निष्कम्प भाव से पड़ा रहता है।

पार्श्वस्थ—शिथिलाचारी या साध्वाचार से गिरे हुए अथवा जिनके पास चारित्र का प्रतीक वेश तो है, परन्तु जीवन में आचरण क्रियान्वित नहीं है।

पुद्गल—जड़ पदार्थ; अणु-परमाणु पुद्गल का शुद्ध रूप है, अनन्त-अनन्त परमाणुओं के मिलने से एक स्कन्ध बनता है, जिसे आत्मा कर्म रूप से ग्रहण करता है और वही स्कन्ध इन्द्रिय एवं मन के द्वारा जाना देखा जा सकता है।

पुनर्जन्म—जब तक कर्मों का पूर्णतः क्षय न हो जाए तब तक मृत्यु के बाद पुनः जन्म ग्रहण करना।

पुरुष—आत्मा। सांख्य दर्शन में आत्मा को पुरुष शब्द से संबोधित किया है।

पुरुष प्रमाण मार्ग—चलते समय अपने सामने का साढ़े तीन हाथ लम्बा क्षेत्र।

पैगम्बर—खुदा (ईश्वर) का सन्देश वाहक।

पोतज—चर्ममय थैली से उत्पन्न होने वाले प्राणी, हाथी आदि।

प्रकृति—जड़ तत्व। सांख्य दर्शन जड़ पदार्थों को प्रकृति मानता है।

प्रकृति बन्ध—कर्मों की प्रकृति-स्वभाव का बंध होना, अर्थात् आने वाले कर्म ज्ञानावरण हैं, दर्शनावरण हैं या अन्य प्रकृति के हैं।

प्रज्ञापना सूत्र—१२ उपांग सूत्रों में से चतुर्थ उपांग शास्त्र।

प्रज्ञावान—पदार्थों के हेय और उपादेय स्वरूप का यथार्थ ज्ञाता, ज्ञानी।

प्रच्छन्न—छिपी हुई।

प्रतिमासंपन्न—विशेष प्रतिज्ञा धारण करने वाला साधक।

प्रतिलेखन—वस्त्र पात्र आदि उपकरणों का सम्यक्तया अवलोकन करने की एक प्रक्रिया।

प्रत्यक्षीकरण—साक्षात अनुभव।

प्रत्याख्यान—त्याग, नियम एवं प्रतिज्ञा ग्रहण करना।

प्रत्येक बुद्ध—अपनी आत्म प्रेरणा एवं आत्मजागृति से साधना पथ पर गतिशील साधक।

प्रदेश बंध—कर्म वर्गणा के पुद्गलों का आत्मा में प्रविष्ट होना।

प्रदेशी राजा—श्वेताम्बिका नगरी का राजा' जो किसी समय नास्तिक था, परन्तु भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य केशी श्रमण के प्रतिबोध से जैन बन गया था।

प्रदोषिका क्रिया—अपनी या अन्य की आत्मा पर द्वेष करना।

प्रबुद्ध—विशिष्ट ज्ञानी, सजग पुरुष।

प्रभूत—अत्यधिक, ऐसा खजाना जो कभी समाप्त नहीं होता।

प्रमादी—विषय, कषाय, मद, अव्रत, मिथ्यात्व आदि विकार प्रमाद हैं। अतः इन विकारों में संलग्न रहने वाला

का नाम । २४ तीर्थंकरों में यह एक ही ऐसे तीर्थंकर हुए हैं, जो स्त्री-लिंग में थे ।

महा-परिज्ञा—विशिष्ट ज्ञान ।

महायान—उत्कृष्ट चारित्र, मोक्षमार्ग ।

मार—कामदेव संसार ।

मिथ्यादर्शन—अज्ञानी व्यक्तियों द्वारा प्ररूपित उपदेश या गलत समझ दृष्टि ।

मुमुक्षु—मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा रखने या मुक्ति के साधना-पथ पर चलने वाला साधक ।

मुहम्मद—मुसलमानों के एक पैगम्बर (धार्मिक नेता) ।

मूल-बीज—जिस वनस्पति के मूल में बीज है ।

मूल-स्थान—कर्म बन्ध या संसार के मूल का कारण ।

मेघकुमार मुनि—राजगृही के महाराज श्रेणिक का पुत्र और भगवान महावीर का शिष्य ।

मैथुन-संज्ञा—स्त्री-पुरुष संयोग की कामना का उदित होना ।

मोहनीय-कर्म—आत्मा की शुद्ध-श्रद्धा एवं त्याग भावना को आवृत करने वाला कर्म ।

मोह संज्ञा—विषय-वासना एवं कषायों में आसक्त रहना ।

भंग—विकल्प ।

भक्त प्रत्याख्यान—मृत्यु को निकट जान कर जीवन-पर्यन्त के लिए अनशन-व्रत स्वीकार करना ।

भगवती सूत्र—भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट पांचवां अंग-शास्त्र । इसे विवाह पण्णत्ति भी कहते हैं ।

भगवान ऋषभदेव—वर्तमान काल चक्र के प्रथम तीर्थंकर (अवतार पुरुष) ।

भगवान महावीर— श्रमण-जैन-संस्कृति के २४वें तीर्थंकर (अवतार) ।

भय संज्ञा—किसी भयंकर वस्तु को देखकर या किसी अज्ञात अनिष्ट की कल्पना से मन में उत्पन्न होने वाले डर या भय का आभास होना ।

भरत—भगवान ऋषभदेव का ज्येष्ठ पुत्र और भरत-क्षेत्र का प्रथम चक्रवर्ती राजा ।

भव्य—जिस आत्मा में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है ।

भोक्तृत्व—अपने कृत कर्म का फल भोगना

भौतिक—सांसारिक ।

यति—साधु ।

याज्ञिक हिंसा—यज्ञ की बलिवेदी पर की जाने वाली पशुओं या मनुष्यों की हिंसा ।

युगपत्—एक साथ ।

योग—मन, वचन और काया (शरीर) की प्रवृत्ति या साधना की एक प्रक्रिया या चित्त की वृत्तियों का निरोध करके समाधिस्थ होना ।

योजन—चार कोस अर्थात् आठ मील की लम्बाई ।

योनि—जहां जीव जन्म ग्रहण करता है।

योनिपद—प्रज्ञापना सूत्र का वह विभाग जिसमें योनि-उत्पत्ति-स्थानों का वर्णन दिया है।

रजोहरण—जीवों की यत्ना एवं मकान आदि को साफ करने के लिए रखा जाने वाला ऊन का गुच्छक, यह साधु की साधुता का चिन्ह भी है।

रत्न-त्रय—सम्यक् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र।

रम्यमान—रमण करने वाला।

रसज—खाद्य पदार्थों में रस के विकृत होने से उत्पन्न होने वाले प्राणी।

रहनेमि—भगवान अरिष्ट-नेमि का लघुभ्राता जिसने राजमति को अपने साथ भोग भोगने का आमन्त्रण दिया था और उससे प्रतिबोध पाकर साधना पथ पर दृढ़ हुआ।

राजमती—मथुरा के महाराज उग्रसेन की पुत्री, जिसका सम्बन्ध भगवान अरिष्ट नेमि के साथ हुआ था और पशुओं की रक्षा के लिए जब अरिष्ट नेमि उसे त्याग कर साधना करने चले गए, उस समय वह भी दीक्षित हो गई।

लोक—संसार, राग-द्वेष एवं कापायिक भाव।

लोकवादी—लोक के स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाला।

लोक-संज्ञा—लोक में प्रचलित रूढ़ियों एवं परम्पराओं पर विश्वास रखना।

लब्धि—शक्ति, आतमा की एक ताकत।

लब्धि-त्रस—स्थावर नाम कर्म के उदय से जो एकेन्द्रिय जाति में उत्पन्न हुए हैं, परन्तु फिर भी उनमें चारों दिशाओं में गति करने की शक्ति है, उन्हें स्थावर होते हुए भी लब्धि-त्रस कहते हैं, जैसे—वायु और अग्नि।

लाघवता—हल्कापन या कमी।

लाढ़-देश—यह बङ्गाल में विहार की सीमा के निकट स्थित है, यहां के लोग अनार्य थे। यहां की भूमि वज्र कठोर होने से इसे वज्र भूमि भी कहते हैं।

लेश्या—परिणामों की शुभाशुभ धारा।

लोकभय—परिवार, समाज एवं राष्ट्र का भय

वज्रऋषभनाराचसंघयण— इसमें शरीर की हड्डिएं वज्र की तरह मजबूत होती हैं, उसमें वज्र सी हड्डी का कील और उसी का मर्कट वन्ध लगा रहता है। इस कारण वज्रऋषभनाराचसंघयण वाले व्यक्ति पर शस्त्र-अस्त्र का जल्दी आघात नहीं लगता।

वज्रवत—वज्र की तरह कठोर।

वनस्पति-काय—जिन जीवों ने हरी-सब्जी, फल-फूल, पत्ते, अनाज के शरीर को धारण कर रखा है।

वात्स्यायन—एक वैदिक ऋषि, जिन्होंने काम-सूत्र (काम-शास्त्र) की रचना की है

वायु-काय—जिन जीवों ने हवा के शरीर को धारण कर रखा है।

विक्षिप्त—पागल।

विचिकित्सा संज्ञा— सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म एवं तत्त्वों में संशय करना।

वितण्डावाद—विचार-चर्चा के समय एक-दूसरे पक्ष को परास्त करने के लिए तर्क के साथ छल-कपट का सहारा लेकर या हो-हल्ला मचाकर प्रतिपक्षी को परास्त करने का प्रयत्न करना।

विरूपरूप—वीभत्स एवं अमनोज्ञ स्वरूपवाला

विवृत्त-योनि—जो उत्पत्ति स्थान अनावृत्त है, खुला है, स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

विहार—पैदल घूमना, पद यात्रा।

वेदनीय कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को सुख-दुःख का संवेदन होता हो।

वेद —वैदिक-ब्राह्मण परम्परा के द्वारा मान्य शास्त्र।

वेदवित्—तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को बताने वाले आगम को वेद कहते हैं और उन आचाराङ्गादि आगमों को जानने वाला वेदवित्।

वेदोदय—स्त्री, पुरुष या नपुसंक वेद का उदय-अस्तित्व में आना।

वैक्रिय—वह शरीर जिस में हड्डी मांस आदि नहीं होता और जो आवश्यकतानुसार विभिन्न रूपों एवं आकारों में बदला जा सकता है। वह नारकी और देवों में पाया जाता है।

वैक्रियलब्धि—एक शक्ति, जिस के द्वारा साधक अपनी इच्छानुसार विभिन्न रूप बना सकता है।

वैदिक-दर्शन — वेद एवं श्रुति-स्मृति को प्रमाण मानने वाला दर्शन।

वैदिक परम्परा—जो दर्शन या संप्रदाय वेदों को ही प्रमाण मानती है।

वैयावृत्य—सेवा।

व्यय—क्षय होना, विनाश को प्राप्त होना।

व्यवच्छेद—छेदन।

संज्ञा—ज्ञान।

संगम देव —एक अज्ञानी देव, जो भगवान महावीर को साधना पथ से भ्रष्ट करने आया और उन्हें ६ महीने तक विभिन्न कष्ट देता रहा, परन्तु अपने उद्देश्य में असफल रहा। भगवान को साधना पथ से नहीं गिरा सका।

संघयण—शरीर की आकृति।

संठाण—शरीर की बनावट।

संयम—अपनी आत्मा को विषय-वासना, विकारों एवं पाप कार्यों से निवृत्त करना। श्रमण, मुनि या सन्त जीवन की साधना।

संलेखना—शरीर आदि पदार्थों एवं आहारादि पर ममत्व को हटाने की एक साधना, जिसमें साधक तप के द्वारा अपनी वृत्तियों का संकोच कर लेता है।

संवृत्त योनि—जो उत्पत्ति स्थान प्रच्छन्न है, ढका हुआ है।